चार्वाक दर्शन

आचार्य आनन्द झा



उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ

हिन्दी समिति प्रभाग ग्रन्थमाला– १७७

चार्वाक-दर्शन

लेखक
आचार्य आनन्द झा



उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान
(हिन्दी समिति प्रभाग)
राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी भवन
६, महात्मा गांधी मार्ग, हजरतगंज, लखनऊ

प्रकाशक :

छेदा लाल

निदेशक

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ।

प्रथम संस्करण : १६६६

द्वितीय संस्करण : १९८३

तृतीय संस्करण : २००५

प्रतियाँ : ११००

मूल्य : रु० १५२=०० (एक सौ बावन रुपये मात्र)

मुद्रक :

अवध पब्लिशिंग हाउस

नव ज्योति प्रेस

पानदरीबा, लखनऊ।

फोन : २४५०७६८

निवेदन

भारतीय मनीषा की सर्वप्रमुख विशेषता, विभिन्न विचारों; यहाँ तक कि परस्पर विरोधी विचारों को भी मान्यता देना, उन्हें अभिव्यक्ति का अवसर देना और अपनी मूलभूत पहचान में शामिल करना इसके स्वभाव में रहा है। इस तरह; हम विभिन्न संस्कृतियों, रीति–रिवाजों, परम्पराओं, भाषाओं और तीज–त्योहारों आदि से बनी अनेकता में एकता की भारतीयता के हम पहचानते हैं; वह न अनायास है न कृत्रिम और न सीमित दायरे में कैद। इससे विविधता में एकता के साथ शान्तिपूर्ण सह–अस्तित्व और जीवन के चरम को पहचानने व समझने की ललक का चरमोत्कर्ष प्रकट होता है। यहाँ वैचारिक–विविधता इस तथ्य की सूचक है कि भारतीयता में ज्ञान और खोज का लक्ष्य सर्वोच्च है। उसने इतनी वैचारिक विविधता के बीच भी कभी यह दावा नहीं किया कि जीवन और और सृष्टि का अन्तिम लक्ष्य पाया जा चुका है। एक निरंतर खोज का नाम भारतीयता है और वैचारिक विविधताएँ इसी का सर्वोत्तम स्वरूप है।

इसी तथ्य के चलते भारतीय संस्कृति में जहाँ सम्पूर्ण सृष्टि के पीछे एक नियंता की अवधारणा विकसित हुई, वहीं ऐसे मनीषियों की भी कमी नहीं रही जो सारी सृष्टि के पीछे सिर्फ प्राकृतिक संतुलन और वैज्ञानिक तथ्यों को वरीयता देते हैं। ये परस्पर विरोधी विचारधाराएँ और आगे बढ़कर जीवन–पद्धति का पर्याय बनती गयी। भारतीयता में इसकी परम्परा पुरानी है। आज जिन छः दर्शनों को हम पहचानते हैं; इनमें भी कई ईश्वर जैसी सत्ता में यकीन नहीं करते। कहा जाता है कि मूलतः यह सभी संख्या में १२ थे और इनमें से आठ सृष्टि के पीछे किसी अलौकिक शक्ति के अस्तित्व में विश्वास नहीं रखते थे। इतिहास के कालचक्र में वैचारिक विविधताओं को मान्यता का दायरा भी घटता–बढ़ता रहा; जिसके तहत समय–समय पर अनेक वैचारिक संकीर्णताएँ भी सामने आयीं।

उक्त वैचारिक विविधता के चलते जो भौतिकवादी चिंतन विकसित हुआ; उसमें चार्वाक दर्शन का प्रमुख स्थान है। कहा जाता है कि चार्वाक दर्शन और लोकायत दर्शन एक ही है। इसी परम्परा में बौद्ध और जैन धर्म भी आते हैं और कई अन्य मत–मतान्तर भी। यह सभी सम्पूर्ण सृष्टि के पीछे किसी अलौकिक सत्ता के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। बहरहाल; इनमें पूरी तरह भौतिकवादी चिंतन से जुड़े दर्शनों में चार्वाक सर्वप्रमुख है। भारतीय मनीषा के कदम–कदम पर इसके तर्क मिलते हैं और महाभारत काल से इनकी चर्चा चरम पर है। चार्वाक दर्शन के अनुसार माना जाता है कि पुरुषार्थ चार नहीं दो होते हैं–अर्थ और काम (इच्छाएँ और ऐन्द्रिक भोग)। वह धर्म और मोक्ष को आडम्बर मानता है और यज्ञादि में बलि आदि का यह कह कर विरोध करता है

कि यदि यजमान द्वारा बलि दिये गये जानवर सीधे स्वर्ग जाते हैं; तो वह निकट सम्बन्धियों की बलि क्यों नहीं दे देता? इसके प्रमुख आचार्य बृहस्पति हुए जिनकी मूलभूत अवधारणा यह थी कि पुनर्जन्म नहीं होता; इसलिए जब तक जियो; सुख से जिओ फिर भी; चार्वाक दर्शन 'ईट ड्रिंक एण्ड बी मैरी' जैसे स्थूल पश्चिमी सोच का पर्याय नहीं है और आध्यात्मिकता पर भी गहरी चोट करता है।

प्रस्तुत पुस्तक दर्शन के मनीषी आचार्य आनन्द झा द्वारा चार्वाक दर्शन पर केन्द्रित कर तैयार की गयी है। पुस्तक की उपयोगिता विद्यार्थियों एवं शोधार्थियों में आज भी बनी हुई है, अतः उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान इसका तृतीय संस्करण प्रकाशित कर रहा है, जो एक गौरव की बात है।

सोम ठाकुर

जून, २००५ कार्यकारी उपाध्यक्ष

प्रकाशकीय

चार्वाक–दर्शन अति प्राचीन है और माना जाता है कि भारत में दार्शनिक विवेचना का यह प्रथम सोपान है, तथा इसके बाद सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा आदि आते हैं। इसकी चरम परिणति वेदान्त अथवा ब्रह्मवाद में होती है। इस दर्शन का सर्वपरिचित संक्षिप्त रूप आज तक के विवेचकों द्वारा बतलाया गया है कि 'प्रत्यक्षम् प्रमाणम् अर्थात प्रत्यक्ष ही प्रमाण है।' पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु चार ही तत्व प्रमेय विषय हैं। शरीर ही आत्मा है। स्वर्ग–परलोक आदि नहीं है। पुण्य और पाप आदि नहीं है। अर्थ और काम ये दो ही पुरुषार्थ हैं। वृहस्पति प्रथम तत्व–द्रष्टा हैं। विषय–सुख और मरण ये दोनों ही मोक्ष हैं। साधारणतया: चार्वाक–दर्शन का लोग सतही अर्थ लगा लेते हैं और प्राय: मनोरंजनार्थ उसे व्याख्यायित करते हुए कहते हैं–

'यावज्जीवेत सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत,
भस्मीभूतस्य देहस्य, पुनर्जन्मों कुत:।'

परन्तु ऐसा नहीं है यह भी जीवन दर्शन है। चार्वाक के संबंध में कहा जाता है कि ये बृहस्पति के शिष्य थे। इनके आचार्य बृहस्पति ने जिस दर्शन का उपदेश दिया, इन्होंने उसका प्रचार मानव समाज में जोरों से किया। जिसका फल यह हुआ कि इनके द्वारा प्रचारित व वार्हस्पत्य–दर्शन 'लोकायत' हो गया और इसीलिये वह 'लोकायत–दर्शन' भी कहलाने लगा। इससे यही निश्चय प्राप्त हाता है कि 'चार्वाक' यह एक व्यक्ति विशेष का नाम है और व्यक्ति विशेष के द्वारा प्रचारित होने के कारण ही एक दर्शन विशेष, चार्वाक दर्शन नाम से कहा जा रहा है।

इस दर्शन के संबंध में यह भी उल्लेखनीय है, कि इसे छोड़कर ऐसा भी कोई दर्शन नहीं है जो किसी देवता के द्वारा प्रवर्तित हो। अधिक से अधिक दर्शन के प्रथम प्रवर्तन के लिये ऋषित्व का ही समादर किया गया है। परन्तु इस दर्शन के प्रथम प्रवर्तक को देवता ही नहीं, सभी देवताओं का गुरु माना गया है।

चार्वाक दर्शन परलोक व ईश्वर में विश्वास नहीं रखता। जो कुछ दिखाई देता है–प्रत्यक्ष है, वही सही है। स्वर्ग व नरक का कोई अस्तित्व नहीं है। कल्पना के आधार पर भविष्य को देखना असत्य है। अत: चार्वाक के अनुसार जो प्रत्यक्ष में उपस्थित हो, वही सत्य है। अत: वर्तमान में जीवन में सुखों का भोग ही मूल उद्देश्य है।

इस पुस्तक में आचार्य आनंद झा ने चार्वाक दर्शन की विशद विवेचना की है और संस्कृत के दर्शन–ग्रन्थों से उद्धरण देकर अपने तर्कों की पुष्टि में बहुत से प्रमाण प्रस्तुत किये है। उनकी व्याख्यायें चिंतन पर विवश करती हैं। मुझे विश्वास है कि दर्शन–शास्त्र के विद्यार्थियों एवं जिज्ञासुओं को इस पुस्तक के अध्ययन से वांछित ज्ञान–लाभ होगा।

छेदा लाल

जून, २००५ — निदेशक

प्राक्कथन

अधिकतर लोगों का विश्वास यह है कि ऐहिक जीवन की सुख-समृद्धि के लिए नितान्त अपेक्षित भौतिक-दृष्टि भारतवासियों में प्राचीन-काल में नहीं थी, अतः भारत अन्य समृद्ध राष्ट्रों की अपेक्षा आज भौतिकतावादी आर्थिक-दृष्टिकोण से पिछड़ा हुआ है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। अति प्राचीनकाल में भारत में जिस लोकायत-दर्शन का विस्तार था उसमें भौतिकता को प्रमुख स्थान प्राप्त था। भौतिकतावादी भारतीय मानव-सम्प्रदाय का नाम ''लोकायत'' इसलिए पड़ा कि उस सम्प्रदाय के लोग, सारे संसार में फैले थे। 'लोक' शब्द का विवक्षित अर्थ है-संसार और 'आयत' शब्द का अर्थ है-दीर्घतात्मक विस्तार। इसके अतिरिक्त और भी दो अर्थ लोकायत शब्द के प्राप्त होते हैं। एक यह कि लोक अर्थात् फल और आयत अर्थात् सुदीर्घकाल-स्थायी अर्थात् सुनिश्चित फलक। विशेषणभूत लोकायत शब्द के इस द्वितीय अर्थ के द्वारा भी, उस भौतिकतावादी सम्प्रदाय का महत्त्व ख्यापित होता हुआ दीख पड़ता है। 'लोकायत' शब्द की निष्पत्ति को 'लोक' और 'आयत' इन दो शब्दों के योग पर आधारित न मानकर कुछ लोगों ने ''लोक'' और ''आयत'' इन दो शब्दों के योग पर आधारित माना है। तदनुसार यद्यपि उस भौतिकतावादी सम्प्रदाय एवं दर्शन की निन्दा व्यक्त होती है; क्योंकि ''आयत'' शब्द का अर्थ होता है असंयत, संयमरहित, फलतः उच्छृंखल। किन्तु गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस निन्दासूचक तृतीय व्याख्या के उद्गम का मूल, उस सम्प्रदाय या दर्शन का भौतिकतावादित्व नहीं था, अपितु, परवर्त्ती काल में आकर वास्तविक रहस्य-ज्ञान के अभाव के कारण, उस सम्प्रदाय के अधिकतर सदस्यों में फैल जाने वाला अनाचार ही उसका मूल था। यह इसलिए, कि भूत-भौतिक तत्वों का महत्त्व भारतीय-संस्कृति के अन्तर्गत सर्वमान्यता-प्राप्त श्रीमद्भागवत, श्रीमद्भगवद्गीता आदि ग्रन्थों में वर्णित है। देखिए श्रीमद्भागवत के स्कन्ध ११ के अध्याय ३ का यह श्लोक-

एभिर्भूतानि भूतात्मा महाभूतैर्ममहाभुजः।
ससर्जोच्चावचान्याद्यः स्वमात्रात्मप्रसिद्धये॥

इसका सरल अर्थ यह है कि पृथिवी, जल, तेज और वायुस्वरूप महान् भुजाओं को धारण कर चतुर्भुज कहलाने वाले भूतात्मा परमेश्वर ने सभी बड़ी एवं छोटी वस्तुओं की सृष्टि इन भूतों से ही इसलिए की कि, सबको, सर्वत्र उन्हीं की सत्ता दृष्टिगोचर हो। यहाँ उस अद्वैत-भूतचैतन्यवाद का कितना स्पष्ट और प्रतिष्ठित रूप में उल्लेख हुआ है? जो कि एकमात्र लोकायत दर्शन की विशेषता है। लोकायतदर्शन-मान्य भूतचैतन्यवाद का

सुस्पष्ट रूप से प्रतिपादन करने वाले श्रीमद्‌भागवत के स्कन्ध ११, अध्याय १४ के दो वचन और सुनिये-

आसीज्ज्ञानमथो अर्थं एकमेवाविकल्पितम्।
वाङ्मनोगोचरं सत्यं द्विधा समभवद्बृहत्॥
तयोरेकतरोह्यर्थः प्रकृतिः सोऽभयात्मिका।
ज्ञानं त्वन्यतमो भावः पुरुष सोऽभिधीयते॥

इन वचनों का अर्थ संक्षेप में यह है कि अतिपूर्वकाल में ज्ञान और उसके विषय ये दोनों आज की तरह पृथक् रूप से अवस्थित या मान्य नहीं थे। दोनों का सम्मिलित वास्तविक वह स्वरूप एक ही था जिसे एक सत्य अर्थात भूतात्मक वृहत्तत्व कहा जाता था। वही भूताद्वैत तत्व जब ज्ञान और विषय इन दो रूपों में पृथक्-पृथक् मान्य हुआ, तो विषय को कार्यकारणात्मक प्रकृति, और ज्ञान को पुरुष कहा जाने लगा। इन भागवत-वाक्यों से भी लोकायत सिद्धान्त की पूर्ण रूप से पुष्टि इसलिए होती दीख पड़ती है कि चैतन्यात्मक ज्ञान को विषयात्मक भूतों में ही सन्निविष्ट अकेला वहीं मानता है।

उपदेष्टा भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में अर्जुन को यह कह कर भी युद्धोद्यत करने के लिए प्रयत्न किया है कि -

अथ चेत् त्वं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो! नैनं शोचितुमर्हसि॥

उससे यह सुस्पष्ट है कि गीता एवं उसके पात्र लोकायत-सम्मत शरीरात्मवाद से असहमत नहीं थे, क्योंकि इस गीता-वाक्य का सरल अर्थ यही है कि हे महाबाहु अर्जुन! यदि तुम नियमतः जन्ममरणशील शरीर को ही आत्मा मानते हो फिर भी तुझे चिन्ता-त्यागपूर्वक युद्ध करना चाहिए। शरीर को आत्मा लोकायत-सिद्धान्त ही मानता है। अन्य कोई नहीं। इतना ही नहीं-

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।

इसकी व्याख्या करते हुए आचार्य शंकर ने "यतचित्तात्मा" का अर्थ "मन और शरीर पर अधिकार प्राप्त करने वाला" किया है और

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।

इसके भाष्य में जो "विजितात्मा" का अर्थ "संयत शरीर" किया है उसे देखते हुए यह मानना आवश्यक हो जाता है कि गीता भी लोकायत-दर्शन के वितत प्रभाव से अछूती नहीं है। लोकायत-सिद्धान्त-अनुगामी जन ही "आजीवक" नाम से इसलिये अभिहित होते थे कि शरीरात्मवादी होने के कारण शरीर के सदुपयोगार्थ, उसकी रक्षा के लिए, आजीवन को, अर्थात् श्रमात्मक आजीविका को, वे, मुख्य-कर्तव्य रूप से अपनाते थे। एतदतिरिक्त यह भी कारण था आजीवक नाम से उनके पुकारे जाने का, कि वे

श्रमोपयोगी स्वास्थ्य के लिए सदा सचेष्ट रहते थे। क्योंकि आजीवक का दूसरा अर्थ, पूर्ण रूप से जीवन का अर्थात् स्वास्थ्य का सम्पादन भी होता है। शरीर को आत्मा मानने वाले अपने स्वास्थ्य-स्वरूप जीवन के सम्पादन में सर्वथा सचेष्ट हों, यह सर्वथा युक्ति-संगत ही हैं। इन सारी बातों की ओर ध्यान देने पर यह स्पष्ट हो उठता है कि यह दर्शन जन-जीवन से घनिष्ठता रखने वाले कृषि पशुपालन वाणिज्य आदि; राजनीतिस्वरूप दण्डनीति और स्वास्थ्यप्रद आयुर्वेद इन तीनों से पूर्ण रूप से सम्बद्ध था। इसका परिचय ब्रह्मद्वैतवाद के महान आचार्य शंकर के द्वारा उनके सर्वसिद्धान्त-संग्रह में, लोकायत-सिद्धान्त वर्णन के अंदर कहे गये-

कृषि-गौरक्ष्यवाणिज्यदण्डनीत्यादिभिर्बुधः।
दृष्टैरेव सदोपायै र्भोगाननुभवेद् भुवि॥

इस वचन से भी प्राप्त होता है। लोकायत वचन के रूप में कहे गये, इस श्लोक का अर्थ यह है कि विवेकी व्यक्तियों को यही चाहिए कि वे खेती, पशुपालन, वाणिज्य व्यवसाय और दण्डनीति का आश्रय लेकर इन प्रत्यक्ष-फलप्रद उपायों के द्वारा इस संसार में सुख का भोग अवश्य करें। आचार्य-शंकररचित इस लोकायत-वाक्य की ओर ध्यान देने पर आज भारतवर्ष में इस दर्शन के वास्तविक स्वरूप के प्रचार की कितनी आवश्यकता है; यह बात भी पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाती है। इतना ही नहीं, ब्रह्मसूत्रकार व्यसदेव एवं भाष्यकार आचार्य शंकर ने जो अन्य दर्शनों के खण्डनार्थ अधिकरणरचना एवं उसके भाष्य की रचना की है यहाँ इस दर्शन के खण्डनार्थ अधिकरण और भाष्य की रचना नहीं है। वह स्पष्ट बतलाता है कि उनकी दृष्टि में मुमुक्षुओं के लिए वेदान्तदर्शन के समान ऐहिक-भोग के इच्छुक व्यक्तियों के लिए यह लोकायत दर्शन भी अवश्य आश्रयणीय है और लोकायत दर्शन का वह निन्दित स्वरूप, जिसका वर्णन हरिभद्र-सूरि आदि जैन विद्वानों और माधवाचार्य आदि वैदिक-विद्वानों ने किया है वह लोकायत-सिद्धान्त का वास्तविक स्वरूप नहीं है। आचार्य शंकर ने जो लोकायत-सम्मत शरीरात्मवाद का उल्लेख करते हुए "प्राकृता लौकायतिकाश्च प्रतिपन्नः" इस कथन के द्वारा लोकायतिकों को अविचारी प्राकृत जनों से बिलकुल अलग कहा है, उससे अनेक लोगों का, यह कथन भी, अनायास खण्डित हो जाता है कि 'लोकायत नामक कोई दर्शन कभी नहीं था, वह केवल खण्डन करने वालों की मनगढ़न्त कल्पना का ही प्रसव है"। उक्त भगवत वचनों के समान "भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धि रेव च" यह गीता-वाक्य भी लोकायत-सम्मत पृथिवी, जल आदि भूतों को भगवान् का स्वरूप बतलाता है। लोकायत-दर्शन में जो प्रत्यक्ष मात्र को प्रमाण माना गया है उसका अभिप्राय यह है कि पृथिवी आदि चारों ही मान्य तत्व प्रत्यक्ष गम्य हैं। दूसरा कारण यह भी है कि यदि मन को ही इन्द्रिय माना जाय तो अनुमिति आदि ज्ञान भी अनायास इन्द्रियजन्य होने के कारण प्रत्यक्ष के ही अन्दर गतार्थ हो उठते हैं। अपने इस निबंध में मैंने भारत के एक अति प्राचीन दर्शन के अनिन्द्य

वास्तविक स्वरूप के निर्धारण का प्रयत्न किया है। यदि दर्शन के विद्यार्थी एवं जिज्ञासु इसे रुचिपूर्वक पढ़ें और समझेंगे तो मैं अपना श्रम सफल मानूंगा।

यह निर्विवाद है कि दार्शनिक विवेचन भारत की विशेषता है। दर्शन क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में मेरी धारणा यह है कि ''किसी भी लोकोपकार को लक्ष्य रख कर प्रवर्त्तित लोकसमादृत-विचारधारा का मूलभूत निर्णय ही दर्शन है। दर्शन शब्द की यही व्याख्या मैंने अपने 'पदार्थ शास्त्र' के प्रथम भाग की भूमिका में भी दी है। दर्शन शब्द की इस व्याख्या के अनुसार ''दर्शन'' शब्द के प्रतिपाद्य अर्थ, लोकोपकारी निर्णय ही होते हैं, जो कि समय-समय पर लोकस्तुत-महापुरुषों के अन्दर किसी एक के द्वारा विहित होते हैं। विभिन्न-कालिक महापुरुषों की अनेकता के कारण उनके निर्णयात्मक दर्शनों का भी अनेक होना सुनिश्चित ही है। सर्व-दर्शन-संग्रह-प्रदर्शित दर्शन-संख्या को मान्यता न देने पर भी भारतीय दर्शनों की संख्या १२ (बारह) होती है। चार्वाक एक, बौद्धों के चार, और जैनों का एक; इस प्रकार छः 'नास्तिक दर्शन' कहे जाते हैं और वैशेषिक-न्याय-मीमांसा-योग-संख्य और वेदान्त, ये छः दर्शन लोगों के द्वारा 'आस्तिक दर्शन' कहे जाते हैं। यदि वैशेषिक और न्याय में, योग और सांख्य में, मीमांसा और वेदान्त में ज्ञान क्रिया काण्ड मात्र रूप में भेद-दृष्टि मानी जाय तो उक्त छः दर्शन तत्वतः तीन ही रह जाते हैं तथा चतुर्विध बौद्ध दर्शनों को मात्र एक मान लेने पर चार्वाक और जैन को उसके साथ जोड़ कर लोगों के द्वारा नास्तिक कहे जाने वाले दर्शन भी तीन ही रह जाते हैं। तदनुसार भारतीय नास्तिक-दर्शनों की संख्या तीन ही हो जाती है। अतः आस्तिक और नास्तिक दोनों को मिला कर भारतीय-दर्शनों की संख्या कुछ अन्य लोगों की दृष्टि में कुल छः ही है। यहाँ बौध-सौकर्य के लिए पूर्वपरिचित दार्शनिक-विभाजन को लेकर बात आरम्भ की जा रही है।

उक्त दोनों विभाजनों को देखते हुए यह मानना ही होगा कि दार्शनिक जगत् में चार्वाक-दर्शन के लिए एक स्थान सर्वथा सुरक्षित है। यह किसी अन्य दर्शन में अन्तर्भुक्त इसलिए नहीं हो पाता कि इसका प्रतिपाद्य विषय, अन्य दर्शनों के प्रतिपाद्य-विषयों से सर्वथा भिन्न है। 'चार्वाक दर्शन' नामकरण परवर्ती प्रतीत होता है। इसका वास्तविक प्राचीन नाम था ''चारवाक्क दर्शन''; जिसका सरल अर्थ होता है, राजदर्शन। इसे ही जगह-जगह 'लोकायत' दर्शन भी कहा गया है। ''आयात'' शब्द विस्तारवाची है, तदनुसार ''लोकायत'' का अर्थ होता है, संसार में सर्वत्र फैला हुआ। इस दर्शन का लोक विस्तार अन्य दार्शनिकों के लिए भी मान्य ही है। क्योंकि तभी तो उनके उपदेश की आवश्यकता खण्डनार्थ सिद्ध होता है। जिस किसी विरलतम व्यक्ति को, वे अन्य दार्शनिक, अपने अमोघ उपदेश से आत्मज्ञानी बना पाते होंगे, वह व्यक्ति भी तो उनके उपदेश सम्बन्धी प्रभाव, उसे ऊपर पड़ने तक शरीरात्मवादी ही रहता है। सर्वत्र उपनिषदों में ''अध्यात्म'' शब्द का प्रयोग ''शरीराभ्यन्तरवर्त्ती'' अर्थ में ही हुआ पाया जाता है। भगवद्गीता आदि में शरीर अर्थक रूप में आत्मन् शब्द का प्रयोग प्रचुर रूप में पाया जाता

है। इससे यह बात अच्छी तरह समझी जा सकती है कि ज्ञात रूप से हो या अज्ञात रूप से इस दर्शन का गहरा प्रभाव अन्य दर्शनों एवं दार्शनिकों पर कितना पड़ा है।

इस दर्शन का सर्वपरिचित संक्षिप्त रूप, आज तक के विवेचकों द्वारा यह जगह-जगह पर बतलाया गया है कि ''प्रत्यक्ष ही केवल प्रमाण रूप से मान्य है। पृथिवी, जल, तेज और वायु ये चार ही तत्त्वत: अमेय विषय हैं। शरीर ही आत्मा है। स्वर्ग आदि परलोक नहीं है। पुण्य और पाप शब्द से कहा जाने वाला अदृष्ट भी मान्य नहीं है। अर्थ और काम ये दो ही पुरुषार्थ हैं। वृहस्पति ही हुये हैं, प्रथम तत्व-द्रष्टा। विषय-सुख और मरण ये दोनों ही हैं मोक्ष''।

सेंध पर ही पकड़ा गया चोर जिस प्रकार वहाँ उपस्थित सभी लोगों द्वारा उद्वेग और घृणापूर्वक पदाहत होता हुआ देखा जाता है, उसी प्रकार यह दर्शन भी अन्य सभी दार्शनिकों द्वारा अल्प रूप में ही सही आहत होता हुआ अवश्य देखा जाता है। मालूम ऐसा पड़ता है कि अन्य सभी दार्शनिकों ने इस दर्शन को, जनता को ऐहिक एवं पारलौकिक-भयरहित एवं अति उच्छृङ्खल बना डालने वाला समझा। अत: सभी ने अपने-अपने दर्शन-शास्त्र में इसका खण्डन किया। यदि इस दर्शन का सचमुच यही दुर्लक्ष्य था, और अन्य दार्शनिकों ने जनता में उच्छृंखलता की विस्तृति के निवारणार्थ इस दर्शन का खण्डन किया तो वह उनका कहना उचित ही था, क्योंकि मानव-समाज में उच्छृंखलता आदि को फैलाने वाला कोई भी दृष्टिकोण, किसी भी सहृदय राष्ट्रहितचिन्त के लिए क्षम्य नहीं हो सकता, फिर उन सामाजिक-हित-चिन्तकों के मूर्द्धन्य तत्तत् आस्तिक-नास्तिक-दर्शनों के प्रणेता एवं व्याख्याता कपिल, कणाद, गौतम जैमिनि, पतंजलि, वादरायण, बुद्ध, महावीर, शंकर आदि महापुरुषों के लिए उच्छृंखलता को प्रश्रय देने वाला दृष्टिकोण अक्षम्य हो तो उचित ही कहा जायगा। परन्तु महान संदेह यहाँ यह उपस्थित होता है कि किसी का वह कुत्सित दृष्टिकोण जो कि समाज में उच्छृंखलता फैलावे, सच्ची सामाजिक नीति का विध्वंसक हो, कभी किसी प्रकार दर्शन कहलाने योग्यता, क्या प्राप्त कर सकता है? कभी नहीं। चोर भी सबके सामने यह कहता हुआ नहीं देखा जाता है कि चोरी अच्छी चीज है, वह कर्त्तव्य है। किसी से ऐसा नहीं सुना जाता है कि लुटेरे भी लूटपाट को सब-सब लोगों के समक्ष अच्छा काम बतलाते हैं। सुराचार्य आदि प्रशस्तता-सूचक शब्दों से सम्बोधित होने वाले इन्द्र के पुरोहित एवं देवताओं के गुरु वृहस्पति इस दर्शन के मूल प्रवक्ता बतलाये जाते हैं। क्या ऐसा महान् व्यक्ति इस प्रकार समाज को गिराने वाले, अशिष्टता को प्रश्रय देने वाले मतवाद को अपने सच्चे अभ्युदय के इच्छुक जनसमाज में प्रसारित कर सकता है? और यदि कोई ऐसा करे भी, तो क्या समाज उसे फिर सुराचार्य, गुरु आदि पदों से अलंकृत रहने दे सकता है? कभी नहीं। इस आख्यायिका से भी इस संदेह का निराकरण नहीं हो पाता है कि वृहस्पति ने शुक्र का स्वरूप धारण करके असुरों के विनाश के लिए उनमें उच्छृंखलता के प्रचारार्थ इस दर्शन का उपदेश दिया, क्योंकि इससे भी तो महत्वविघटक कपट-कलंक

का टीका वृहस्पति को लग ही जाता है? वे महान् कहाँ रह पाते हैं? समाज में जो आदर उन्हें मिलता आ रहा है वह कैसे रह पाता? दूसरी बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि इस दर्शन के प्रचार से तो असुरों के बदले देवताओं का ही अधिक अपकार होने वाला दीख पड़ता है, क्योंकि देवताओं के हव्य भाग पर ही जीने वाला बतलाया जाता है। मंत्री राज-विजय चाहता है यह बात भी सर्वमान्य है। और विजय बलाधीन ही होती है, दुर्बल विजयी होता नहीं, यह भी सर्वमान्य ही है परलोक आदि को न मानने वाले चार्वाक-दर्शन के प्रचार से यज्ञ-विधान आदि का व्यापक अभाव हो जाने पर भोज्य हव्य के अभाव में भोक्ता देवों का दौर्बल्य अनिवार्य सम्भावित माना जाएगा। विरोधी पक्ष के सबल हो उठने पर राजा सहित राष्ट्र की दुर्बलता के कारण, मंत्री का भी पतन निश्चित ही रहता है। शरीर को आत्मा मानने वाले मल्ल लोग शरीर-पोषण के सहारे बलवान् होकर विजयी होते हैं यह प्रत्यक्ष रूप से देखा ही जाता है। ऐसी वस्तुस्थिति के प्रतिकूल बुद्धिमानों के अग्रगण्य रूप से विख्यात देवगुरु वृहस्पति, कैसे इस चार्वाक-पद्धति का आविष्कार कर सकते, जिससे कि उनका अनिष्ट ही सम्भावित प्रतीत होता?

सम्भव है कि कुछ लोग इसके समाधान में यह कहने के लिए उद्यत हों कि हाँ, इस चार्वाक-दर्शन के प्रचार से, देव-विरोधी असुरों के विषय-सुखोपभोग में किसी प्रकार की बाधा नहीं हो सकती थी, परन्तु उनमें इस चार्वाक-दर्शन के प्रचार से शरीर के अतिरिक्त वास्तविक आत्मा का ज्ञान तो न होता? और आत्मज्ञान के अभाव में वे देव विरोधी असुर, परम पुरुषार्थ मुक्ति से तो वंचित हो जाते। यह देव विरोधी असुरों का महान् अनिष्ट होता, इसलिए असुरों को वृहस्पति के द्वारा दिया जाने वाला चार्वाक-दर्शन का उपदेश संगत कहला सकता है। परन्तु यह कथन भी इसलिए संगत नहीं प्रतीत होता है कि असुरों को मुक्ति न मिलने से वृहस्पति या उनके अनुयायी देवों का कोई लाभ तो हो पाता नहीं। प्रत्युत विचार करने पर असुरों की निर्वाण-मुक्ति से ही देवताओं को निष्कण्टक स्वराज्य मिल पाता एवं वृहस्पति को भी अपना मन्त्रिपद सुरक्षित हो पाने की सम्भावना थी। इसलिए ''असुरों की मुक्ति के लिए अपेक्षित होने वाले आत्म-तत्वज्ञान के विघटनार्थ असुरों को देवगुरु वृहस्पति ने देहात्मवादी चार्वाक-दर्शन का उपदेश दिया'' 'यह कल्पना संगत नहीं प्रतीत होती। साथ ही, एक दूसरी भी आख्यायिका उपनिषद् से ही प्राप्त होने के कारण उक्त आख्यायिका को चार्वाक दर्शन के उद्‌गम सम्बन्ध में निर्णायक मानने में कठिनता प्रस्तुत करती है। यह आख्यायिका इस प्रकार पायी जाती है कि इन्द्र और विरोचन दोनों ही आत्मज्ञान के लिए प्रजापति के निकट गये। प्रजापति ने क्रमश: गम्भीर-निर्णयक तक पहुंचाने के अभिप्राय से पहले जल में पड़ने वाली शरीर की छाया को ही आत्मा बतलाया। इन्द्र ने अपनी बुद्धि लड़ा कर शरीर को नश्वर समझते हुए यह निर्णय किया कि प्रजापति के उपदेश में काई रहस्य छिपा हुआ है। तदनुसार वे पुन: प्रजापति के निकट आत्मज्ञान की इच्छा लेकर उपस्थित हुये। किन्तु बिरोचन ने प्रथम उपदेश को ही सही मान कर शरीर को ही सुस्थिर-भाव से आत्मा समझ लिया। इस दूसरी आख्यायिका में शरीरात्मवाद के उद्‌गम के मूल में वृहस्पति तक की चर्चा

नहीं है, उनके कपटपूर्ण उपदेश की तो बात ही क्या? ऐसी परिस्थिति में कैसे प्रथम आख्यायिका को ही ऐतिहासिकता देकर यह निर्णय किया जाय, कि वृहस्पति ने असुरों की मुक्ति में बाधा डालने के लिए कपट शुक्र बन कर शरीरात्मवादी चार्वाक-दर्शन का उपदेश दिया? अत: निश्चित प्रमाण के अभाव में यह संदेह बना रहता है कि ऐसा दर्शन क्यों चलाया गया? इसका प्रवर्तन क्यों हुआ? इत्यादि। बहुत दिनों तक इसके सम्बंध में सोचने पर जो कुछ इसके सम्बंध में मुझे प्रतिभात हुआ उसे ही यहाँ इस ग्रन्थ का रूप दिया गया है। तदनुरूप इसके सम्बंध में मेरी धारणा यह है कि- संसार प्रवाह के अनादि होने पर भी मध्य में सृष्टि और प्रलय दोनों ही समय-समय पर होते रहते हैं। अन्य दार्शनिक लोग भी इसे मानते ही है। प्रलय-निशा के अत्यानन्तर संसारदिन के प्रथम याम में, या यों कहा जाय कि प्रथम चरण में संसारी जीवों की प्रवृत्तियों स्वभावत: सौम्य हुआ करती हैं, एवं उचित विषयों की ओर ही गतिशील हुआ करती हैं। दैनिन्दिन जीवन की ओर दृक्पात करने पर भी इस कल्पना की पुष्टि होती ही है। प्रतिदिन प्रथम याम में प्राय: मानव शान्त दान्त दूसरों से झगड़ने के अनिच्छुक अपने-अपने धर्मांचरण में संलग्न पाये ही जाते हैं। अत: इसके आधार पर संसारात्मक दिन के प्रथम याम में भी इस परिस्थिति की कल्पना अनायास की जा सकती है। अत: उस शान्तिमय समय में दण्डनीति का प्रयोजन नहीं रहता। इसलिए उस समय राज्य, राजा आदि की भी कल्पना नहीं होती। ऐसे ही समय के लिए सम्भवत: महाभारत में यह कहा गया है कि ''न राज्य था और न राजा थे। यह बात युक्ति सिद्ध भी है। क्योंकि सृष्टि के अनन्तर अनेक काल तक भोग्यवस्तु की अधिकता एवं उपभोक्ताओं की'' अल्पता युक्तिसिद्ध ही है। फिर विरोधमय संघर्ष का उस समय अवसर ही कहाँ रह जाता, जिसकी निवृत्ति के लिये, जिसके प्रशमन के लिए, उस शान्तिमय काल में दण्डनीति की आवश्यकता पड़े? परन्तु पीछे जनसंख्या की क्रमिक वृद्धि होने पर पराभिभाव में उन्मुख होने वाले जन-समाज के बीच राग द्वेष और मोह का उद्गम होने पर दण्डनीति का प्रयोजन आता है; राज्य-एवं शासक-राजा की आवश्यकता आ पड़ती है। नीति है पद्धति अर्थात मार्ग। यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है कि मार्ग कोई भी क्यों न हो वह किसी प्राप्तव्य स्थान के लिए ही हुआ करता है और किसी खास दृष्टि से ही लोगों के द्वारा यह अपनाया जाता है। अत: सामाजिक सुव्यवस्था के लिये, समाजगत शान्ति भंग को रोकने के लिये, अपेक्षित होनेवाली दण्डनीति के निर्वाहार्थ भी किसी न किसी दृष्टिकोण का आश्रयण कर्त्तव्य होना उचित होता है। वही दण्डनीति-दर्शन एवं लोकायत-दर्शन एवं चारवाक्क-दर्शन नाम से प्रचलित होता है। राजार्थक चारवाक्क शब्द को ही महाभारतीय चार्वाक राक्षस का नाम देकर सम्भवत: परवर्ती लोगों ने इसे चार्वाक-दर्शक कहना प्रारम्भ किया।

दण्डनीति-दर्शन ही चार्वाक-दर्शन

दण्डनीति-दर्शन को ही चार्वाक-दर्शन कहने एवं मानने में प्रबल युक्ति यह है कि प्रत्यक्षमात्र को प्रमाण मानना, शरीर को अत्मा मानना इत्यादि जिन कतिपय निर्णयों को पिण्डीकृत रूप में चार्वाक-दर्शन कहा जाता है, विचार करके देखने पर उसे मान्यता दिये

बिना वस्तुतः दण्डनीति चल ही नहीं सकती, इस बात को निम्नवर्ती विवेचन से अनायास समझा जा सकता है।

शरीर ही आत्मा है, इसका रहस्य

वृद्धिष्णु राग द्वेष और मोहात्मक दोषों से युक्त मानवों की उत्पथता अर्थात् उच्छृंखलता, फलतः नियत-व्यवस्था का उल्लंघन ही है अपराध। इस अपराध की परिभाषा के अनुसार परिभाष्य के अन्दर आने वाला चोरी व्यभिचार आदि कोई भी अपराध क्यों न हो वह नियमतः चेष्टात्मक ही होता है। चेष्टा-सीमा का उल्लंघन वह भी नहीं कर सकता। चेष्टा नियमतः शरीरगत ही होती है, अन्यगत नहीं। इस प्रकार दण्ड-प्रयोजक सारे अपराध स्थूल-शरीरगत ही होते है अन्यगत नहीं, इसलिए शरीर ही अपराधी हो पाता है और कोई नहीं। और इसीलिए जेल कोड़े आदि दण्डों का विधान भी शरीर के लिये ही होता है। उसे ही दण्ड दिया जाता है। फाँसी पर भी उसे लटकाया जाता है। यह उचित भी है, युक्तियुक्त होने के कारण। क्योंकि अपराध करे कोई और दण्ड दिया जाय किसी और को, यह भला कैसे उचित कहा जा सकता? इसलिए दाण्डिकदृष्टि-कोण में शरीर को ही आत्मा मानना उचित कहा जाएगा। इसी दृष्टिकोण से राजनीति-दर्शनात्मक चार्वाक-दर्शन में शरीर को आत्मा माना गया है। इस शरीर से ही सूक्ष्म भूत का शरीरान्तर में गमन होने के कारण जन्मान्तर आदि भी इस दर्शन में सम्भव है इत्यादि बातें प्रकृतग्रन्थ से ज्ञात होंगी।

प्रत्यक्ष ही प्रमाण

दण्डनीति के लिए प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानना उचित ही है। क्योंकि दण्ड की प्रवृत्ति प्रत्यक्ष-प्रमण की ही आश्रयण करके होती है। न्यायालय में न्यायाधीश के समक्ष साक्षी यदि यह कहता है कि ''इसने मेरे समक्ष यह अपराध किया है'' तभी न्यायाधीश अपराध के अनुसार नियत-दण्ड उस अपराधी को देता है। यदि साक्षी ऐसा कह दे कि मैंने इस अभियुक्त को स्वयं अपराध करते देखा नहीं किन्तु अमुक व्यक्ति से सुना या अनुमापक हेतु से अनुमान किया, तो न्यायाधीश ऐसे साक्षी के साक्ष्य पर अपराधी को दण्ड देता नहीं। क्योंकि अपराध के सन्देह पर दण्ड विधान होता नहीं। अतः संदेह में ''हां'' और ''ना'' दोनों कोटियाँ होने के कारण यदि कदाचित् ''ना'' की परिस्थिति में दण्ड विधान हो जाएगा तो ''अकृताभ्यागम'' दोष आ पड़ेगा। अर्थात अपराधात्मक कारण के न रहते हुए भी दण्डात्मक कार्य आपन्न हो उठेगा जिसके औचित्य का समर्थन किसी प्रकार किया नहीं जा सकता। इसीलिए दण्ड विशेषज्ञों का यह कहना है कि सैकड़ों अभियुक्त भले ही अदण्डित छूट जायँ, परन्तु एक भी निरपराध दण्डित न हो। इसलिए प्रत्यक्षमात्र को चार्वाक दर्शन में प्रमाण कहा गया है। वस्तुतः अनुमान आदि भी प्रत्यक्ष के अंदर ही अन्तर्भुक्त रूप में प्रमाण मान्य हैं, इत्यादि बातें आगे ग्रन्थ में बतलायी जायेंगी।

परलोक न मानने का रहस्य

''जो लोकित अर्थात अवलोकित हो वह है लोक'' इस व्याख्या के अनुसार

दृष्ट एवं अदृष्ट दोनों प्रकार के फल होते हैं लोक शब्द के द्वारा प्रतिपाद्य। उक्त दोनों फलों के अन्दर वे सुख और दुःख जो कि मरण के अनन्तर प्राप्त होते हैं, अथवा सत् असत् आचरणों से साक्षात् निष्पन्न होने वाले पुण्यापुण्य, होते हैं परलोक, और मरण के पूर्व समुचित एवं अनुचित क्रियाओं द्वारा प्राप्त होने वाली समृद्धियाँ या असमृद्धियाँ हैं अपरलोक। इन दोनों फलात्मक लोकों के अंदर परलोक को आश्रयण करके दण्ड की प्रवृत्ति हो नहीं पाती। क्योंकि दण्डनीति के सहारे सामाजिक-व्यवस्था को स्वस्थ रखने के लिए अपराधी, चोर, जुआरी, व्यभिचारी आदि को इसी शरीर में दण्ड दिया जाता है। नहीं तो 'मरण के अनन्तर देखा जाएगा, जो होगा, अभी तो किसी प्रकार मौज मारी जाय? ऐसी दुर्विचार धारा वाले अपराध-स्वभावक व्यक्तियों द्वारा भग्न की जाने वाली शान्ति-दायिनी समाज-व्यवस्था का रक्षण असम्भव हो पड़ेगा।

यह बात नहीं कही जा सकती कि अपराधियों के जेल जुर्माना आदि ऐहिक दण्ड और धर्मशास्त्र के द्वारा प्रतिपादित होने वाले नरक आदि पारलौकिक दण्ड दोनों का होना उचित है, यह मानने में कोई क्षति तो दीख पड़ती नहीं? " फिर दण्डनीतिक-दृष्टिकोण में परलोक न मानने की क्या आवश्यकता है। क्योंकि ऐसा मान लेने पर भी, दण्डनीति की, परलोक की ओर आँख मूंद कर ही, दण्ड-विधाता न्यायाधीश के मन में दण्ड-विधान के समय, यह बात आ सकती है कि "इसे उस लोक में भी इस अपराध का दण्ड मिलना ही है फिर यहाँ भी कठोर दण्ड उचित नहीं"। इस प्रकार न्यायाधीश के मन में करुणा का संचार हो उठने पर दण्ड में शिथिलता का आ जाना अनिवार्य होगा, जिसका निश्चित कुफल यह होगा कि शान्तिमय समाज-व्यवस्था लड़खड़ा उठेगी। इसी अभिप्राय से दाण्डिक चार्वाक-दर्शन में परलोक की अमान्यता ठहरायी गयी है, जिससे दण्ड-व्यवस्था में किसी भी प्रकार शिथिलता न आने पाये।

शासक को ही ईश्वर मानने का रहस्य

दण्डनीति-सम्पृक्त दण्डाधिकार के क्षेत्र में प्रत्यक्षतः निग्रह एवं अनुग्रह का विधायक होने के कारण मानव शासक में परमेश्वर-दृष्टि उचित ही है। क्योंकि अन्यथा अनुमानतः या शब्दतः सिद्ध होने वाले अन्य अधिकारगत परमेश्वर की मान्यता एवं अमान्यता इन दोनों पक्षों में मानव को मानव से कोई भय न रह जाने के कारण राग, द्वेष एवं मोह मूलक दुष्प्रवृत्तियाँ अपना पाँव फैलाना बन्द नहीं करेंगी, जिसके कुफल स्वरूप भी समाज-व्यवस्था सुश्रृंखल एवं शान्ति-प्रचुर नहीं रह पायेगी। यहाँ के शासक एवं अन्य आनुमानिक परमेश्वर दोनों को ही अमान्य ठहराने पर होने वाली उच्छृंखलता के सम्बंध में तो कहना ही क्या है? यहाँ के शासक को ईश्वर न मानते हुए उस परमेश्वर को मानने पर भी समाज व्यवस्था विश्रृंखल हो उठ सकती है। लोगों के मन में यह भाव अनायास उदित हो सकता है कि 'भगवान् तो परम कारुणिक हैं, वे अपनी असीम-करुणा से कुकर्मी से भी कुकर्मी को भी उबार लेते हैं अतः मेरे कुकर्म करने पर भी मेरा उद्धार

अवश्य करेंगे, फिर विषय-सुख क्यों छोड़ा जाय?' इस प्रकार विचार के उदय से दुष्प्रवृत्ति की परम्परा सहस्त्र मुख हो सकती है। इस प्रकार विचार के कारण अनेक ऐसे लोग देखे ही जाते हैं जो कि परमेश्वर के अस्तित्व में पूर्ण श्रद्धा विश्वास रखते हुए भी, उनका भजन पूजन आडम्बर-पूर्वक करते हुए भी अनुचित आचरण करते हैं। यह बात सही है कि इसमें परमेश्वर का कोई दोष नहीं, परन्तु कहने का सारांश यह है कि यदि मानव-प्रशासन का कोई भय न हो तो परमेश्वर को मानने वाले भी दुष्प्रवृत्ति के शिकार बन बैठते हैं अत: सामाजिक सुव्यवस्था के लिए शासक में परमेश्वर-दृष्टि आवश्यक है दाण्डनीतिक दृष्टिकोण से। दण्ड-प्रवृत्ति की विद्यमानता में भी अपराध का अत्यन्त अभाव भले ही न हो पाये, परन्तु अपराध की विरलता तो होती ही है।

अर्थ ही पुरुषार्थ

जो किसी भी प्राणी से अर्थित हो, प्राणी की कामना का अर्थात् प्राप्य रूप में उसकी इच्छा का विषय हो, वह है 'अर्थ'। अर्थ की इस व्यापक परिभाषा के अनुसार सारी इष्ट वस्तुएँ हो जाती हैं अर्थ। अत: धर्म, धन, काम और मोक्ष सभी इस व्यापक अर्थ परिभाषा के अनुसार अर्थ हो जाते हैं। चार्वाक-सिद्धान्त में अर्थ और काम ये दो ही पुरुषार्थ रूप से मान्य हैं, यह जो जगह-जगह पर विवेचकों ने कहा है, वहाँ अर्थ शब्द को सोना, चाँदी आदि कतिपय को धन रूप में 'अर्थ' मानकर वैसा कहा गया है। यहाँ जो 'अर्थ' की व्याख्या की गयी है वह न्यायदर्शनकार गौतम के दो सूत्रों से भी अनुमोदित होती पायी जाती है। क्योंकि उन्होंने यह स्पष्ट रूप से कहा है कि[1] 'जो प्राणी जिस अर्थ (वस्तु) के लिए प्रवृत्तिशील होता है वह होता है उसके लिए प्रयोजन।' फिर एक जगह उन्होंने यह कहा है 'प्रवृत्ति और दोष इनसे उत्पन्न होने वाला अर्थ (वस्तु) है प्रयोजन फल। ये दोनों ही कथन संसार की प्रत्येक वस्तु को 'अर्थ' मान कर ही संगत हो सकते हैं अन्यथा नहीं। दूसरी बात यह कि 'पुरुषार्थ'' इस शब्द की ओर दृक्पात करने पर भी तो यही बात आती प्रतीत होती है। क्योंकि जब तक धर्म, धन, काम और मोक्ष ये चारों 'अर्थ' नहीं कहलायेंगे, तब तक वे पुरुषार्थ ही कैसे कहला पायेंगे? अन्य बातों को इस ग्रन्थ से ही पाठक समझेंगे। इस अल्पकाय भूमिका में सब विषयों का समावेश सम्भव नहीं।

इस ग्रन्थ के लेखारम्भ से कुछ ही पूर्व दार्शनिक विचार के परम प्रेमी दैनिक 'नव-जीवन' (हिन्दी-पत्र) के यशस्वी सम्पादक पं. श्री सत्यदेव शर्मा ने मुझसे मिल कर यह अनुरोध किया था 'कि भारतीय विभिन्न दार्शनिक मतानुयायी ज्ञान-मीमांसाओं की, तुलनात्मक अध्ययन की उपयोगिता की दृष्टि से, यदि हिन्दी में एक ग्रन्थ विवेचकों के समक्ष आप उपस्थित कर देते तो यह एक बहुत अच्छा काम होता'। इस ग्रन्थ को लिखते समय शर्माजी के आग्रह का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। अत: तुलनात्मक रूप में विभिन्न भारतीय मतवादों

---

(१) यमर्थमधिकृत्य प्रवर्त्तते तत्प्रयोजनम् । २४। —न्यायदर्शन अ. १ आ १।
प्रवृत्तिदोषजनितोऽर्थ: फलम् । २०। —न्यायदर्शन अ. १ आ १।

के उपस्थापन एवं आलोचन की ओर यहाँ अधिक ध्यान दिया गया है। इससे ग्रन्थ में गहनता तो कुछ अवश्य अधिक हो गयी होगी किन्तु मेरा यह सुदृढ़ विश्वास है कि विज्ञ विवेचकों की दृष्टि में इससे उपादेयता भी अवश्य अधिक बढ़ गयी होगी।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि इस ग्रन्थ के प्रणयन में प्राप्त कठिनता को विवेचकों का हृदय अवश्य पहचानेगा। क्योंकि चार्वाक-दर्शन-सम्बन्धी स्वतंत्र कोई ग्रन्थ जो कि स्थापना की दृष्टि से सांगोपांग चार्वाक समस्त पदार्थों का विवेचन करे, उपलब्ध नहीं है। पूना से अभ्यंकर की टीका सहित प्रकाशित सर्वदर्शन संग्रह के साथ प्रकाशित, प्रकाशित तथा अप्रकाशित संस्कृत दार्शनिक ग्रन्थों की विस्तृत सूची में चार्वाक-दर्शन सम्पृक्त रूप में दो ग्रन्थों के नाम मिले। किन्तु वाराणसेय-संस्कृत-विश्वविद्यालय वाराणसी के सरस्वती भवन आदि वृहत्संस्कृत-पुस्तकालयों से पत्राचार करने पर भी उनका कोई पता नहीं चला। वे दो ग्रन्थ थे अज्ञात जयन्त रचित न्याय मञ्जरी और गुणरत्नचरित 'तर्करहस्य दीपिका'। इन दोनों को उक्त सूची में शुद्ध मौलिक चार्वाक-ग्रन्थ बतलाया गया है। इस ग्रन्थ के अर्द्धाधिक प्रणयन के अनन्तर अब यह पता चला कि कलकत्ता से एक लोकायत 'नामक' वृहदाकार चार्वाक-दर्शन-सम्पृक्त पुस्तक प्रकाशित हुई है, तो उसे देखने के लिए व्यग्रता हो उठी। तदनुसार मेरे प्रिय विद्या-शिष्य-स्वामी श्रीधरानन्दजी मन्त्री रामकृष्ण मिशन लखनऊ महोदय ने कलकत्ते से मंगाकर उक्त पुस्तक के अंग्रेजी एवं बंगला दोनों ही संस्करणों को मेरे समक्ष उपस्थित किया। कुछ मेरे प्रिय बंगाली बन्धुओं की दृष्टि में मैं भी बंगला जानता हूं इसलिये मैंने उक्त लोकायत ग्रन्थ को आद्यन्त पढ़ा। परन्तु इस ग्रन्थ के अनुकूल कोई साहित्य उससे इसलिए नहीं प्राप्त हुआ कि उसमें परिश्रमी लेखक श्री देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय ने उसे भौतिकवाद के एक इतिहास मात्र रूप में प्रस्तुत किया है चार्वाकीय-दार्शनिक कक्ष में प्रवेश की उन्होंने चेष्ठा नहीं की है। उन्होंने स्वयं जगह-जगह पर यह कहा है कि प्राचीन चार्वाक-दर्शन के शुद्ध मौलिक रूप को उपस्थित करना आज सर्वथा असम्भव है। फिर भी उक्त 'लोकायत' में 'माधवाचार्य' शीर्षक प्रथम लेख में जो आधुनिक विवेचकों की धारणा चार्वाक मत के सम्बंध में बतलायी गयी है वह अवश्य ज्ञातव्य है। चट्टोपाध्याय का भी कहना यह है, कि अति प्राचीन-काल में लोकायत-दर्शन का कोई मान्य स्वरूप अवश्य था परन्तु उस मान्य दार्शनिक स्वरूप का उद्धार, उसे विवेचकों के समक्ष निश्चित रूप से उपस्थित करना, कठिन ही नहीं, असम्भव है। परन्तु इस ग्रन्थ के द्वारा तो प्राथमिक रूप में लोकायत दर्शन के प्राचीनतम प्रतिष्ठित स्वरूप के उद्धारार्थ ही चेष्टा की गयी है। इस काम में सफलता कहाँ तक मिली है यह तो विज्ञ विवेचक ही कहेंगे। चार्वाक-सम्प्रदाय कहिए या लोकायत-सम्प्रदाय कहिए, इसके सम्बंध में आधुनिक विवेचक वैमत्यग्रस्त पाये जाते है। चट्टोपाध्याय के अकथनानुसार डा. राधाकृष्णन के मत में चार्वाक सम्प्रदाय प्राचीनतम अति कठोर वैदिक शासन के प्रतिबंध से ऊबकर ३०० से २०० ईसवीय पूर्व, श्रुतिशासन के विरुद्ध चिन्ता एवं आचरणगत स्वाधीनता की घोषणा करने वाला एक भारतीय मानव-समाज के रूप में गठित हुआ था। किन्तु मूयर साहब का मत इस सम्बंध में डाक्टर राधाकृष्णन के मत से बिलकुल विपरीत पाया जाता है। उनका मत यह है कि चार्वाकीय स्वतंत्र-विचारधारा एवं

तदनुरूप आचरण स्वातन्त्र्य ही पूर्ववर्त्ती थे जिनके विरुद्ध कठोर वैदिक शासन की स्थापना हुई। सारांश यह कि चार्वाकीय-विचार धारा ही पूर्व-प्रस्तुत थी जिससे प्राप्त मानव-उच्छृंखलता को रोकने के लिये वैदिक-विचारधारा व्यवस्थापित हुई। भारतीय-दार्शनिक-इतिहास-विवेचक स्वर्गीय सुरेन्द्रनाथ दास गुप्ता का मत यह बतलाया जाता है कि छान्दोग्य उपनिषत् में वर्णित इन्द्र और विरोचन को प्रजापति के द्वारा दिये गये शरीरात्मवाद के उपदेश की आख्यायिका के अनुसार चार्वाकीय-विचार-धारा का उद्गम विरोचन से हुआ, अतः चार्वाक-सम्प्रदाय को वह आसुर-सम्प्रदाय मानना चाहिये जो कि मृत शरीर का भी सत्कार करने वाला एक भारतीय सम्प्रदाय था। स्वर्गीय महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री, आज भी विरल रूप में वर्त्तमान अनाचारी कापालिक आदि वामाचारी तान्त्रिक-सम्प्रदाय और कामाचारी कुछ वैष्णव-सम्प्रदाय को चार्वाक-सम्प्रदायिक मानते थे। चट्टोपाध्याय के कथनानुसार उन्होंने इस सम्बंध में 'लोकायत' नामक एक लघु पुस्तिका भी लिखी थी। विदेशी विद्वान प्रोफेसर तुच्ची का मत इस सम्बंध में यह है कि चार्वाकीय विचारधारा प्राचीन भारतीय-राजाओं के उपदेशक पुरोहितों की प्रज्ञा के आधार पर प्रचलित हुई थी। फलतः ये भी एक प्रकार से चार्वाक-दर्शन को प्राचीन राज-दार्शन ही मानते हैं जिसका स्थापन यहाँ इस ग्रन्थ में किया गया है। कुछ विदेशी समीक्षकों का यह भी निर्णय पाया जाता है कि चार्वाक-दर्शन या चार्वाक-सम्प्रदाय कभी कुछ नहीं था, अतः वह अन्य दार्शनिकों द्वारा खण्डनीय रूप में उद्भावित मात्र था। भारतीय विवेचकों के अन्दर न्याय-मञ्जरीकार तार्कित जयन्त भट्ट का मत भी कुछ इस अन्तिम मतवाद से मिलता-जुलता सा प्रतीत होता है। क्योंकि यह जयन्त भी स्वतंत्र रूप से चार्वाक नामक एक दर्शन को, एक शास्त्र को, मानने के पक्ष में नहीं देखे जाते हैं। उनका कहना है कि कुछ उच्छृंखल वितण्डावादी ही जगह-जगह पर चार्वाक-लोकायत आदि शब्दों से कहे गये हैं। परन्तु इस ग्रन्थ को पढ़ लेने पर यह धारणा नहीं टिक सकती। सद्धर्म पुण्डरीक; दिव्यावदान, विनयपिटक आदि बौद्ध-ग्रन्थों में भी जगह-जगह पर लोकायत का नाम आया है। इसलिए चार्वाक-दर्शन का अस्तित्व न मानना मेरी दृष्टि में उसके साथ किया जाने वाला एक प्रकार का अन्याय है। मैंने इस ग्रन्थ को ऐतिहासिक रूप देकर वह दार्शनिक रूप दिया है जिसे अन्य विवेचक उद्धरण-सम्भावनानर्ह बतलाते हैं। अस्तु आलोचकों से मेरा विनम्र निवेदन यह है कि वे आलोचना इसकी अवश्य करें, क्योंकि दार्शनिक विकास आलोचना और प्रत्यालोचना पर ही आधारित होता है। परन्तु उचित यह होगा कि वे यहाँ विहित विवेचना की गहराई में पहले उतरें। थेलजि (६४०-५५० ईशापूर्व) का जलमूलतत्त्वतावाद और एनेकस्मेनीज (५६०-५२५ ईशापूर्व) का वायु मूलतत्त्वतावाद तथा पाइथोगोरस (५७०-५०० ईशापूर्व) का समानुपात-मूलतत्त्ववाद यह स्पष्ट बतलाया है कि इस भूताद्वैतवादी चार्वाक-दर्शन का भारत-बाह्य देशों पर अति प्राचीनकाल से ही प्रमुख रूप में पड़ता आ रहा है।

आनन्द झा

विषय सूची

प्रथम प्रकरण

द्वितीय प्रकरण

तृतीय प्रकरण

चतुर्थ प्रकरण

पंचम प्रकरण

षष्ठ प्रकरण

सप्तम प्रकरण

अष्टम प्रकरण

नवम प्रकरण

दशम प्रकरण

एकादश प्रकरण

प्रथम प्रकरण

दर्शन

दर्शन की महत्ता सर्वमान्य है। कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं मिलेगा जो कि पागल या अशिक्षित न हो और यह कहता पाया जाता हो कि 'दर्शन बुरी वस्तु है' या दर्शन उपादेय नहीं।' कोई भी सभ्य देश या कोई भी सभ्य समाज ऐसा नहीं पाया जा सकता जो कि दर्शन के प्रभाव से प्रभावित न हो, वह दर्शन के आगे नतमस्तक न होता हो। कोई भी व्यक्ति किसी भी व्यक्ति के प्रति जब अपना अत्यन्त आदर बतलाना चाहता है तभी वह उसके लिये लोगों के समक्ष यह कहता है कि 'वे दार्शनिक हैं।' प्रत्येक प्रचलित शब्द के सम्बंध में प्राय: यह बात लागू पायी जाती है कि जन-समाज में उसका प्रयोग तो बराबर होता रहता है। अविच्छिन्न भाव से प्राय: लोग उस शब्द का समय-समय पर अपने वाक्यों में उपयोग तो करते रहते हैं परन्तु जब उस शब्द का वास्तविक अर्थ क्या है? वह वस्तुत: किस वस्तु को समझाने का अक्षुण्ण सामर्थ्य रखता है? यह प्रश्न उपस्थित होता है जब उस शब्द और उसके अर्थ के बीच होने वाला 'वाच्य-वाचक-भाव' जिसे अन्य शब्दों में 'प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव' या 'बोध्य-बोधक-भाव' भी कह सकते हैं, विवेचन की उस गहराई में जा छिपता है जहाँ से निकाल कर सही रूप में उसे विज्ञ जन के समक्ष उपस्थित करना असम्भव नहीं तो कुछ जटिल अवश्य प्रतीत होता है। इसका कारण यह है कि उपभोक्ता शब्द को इस प्रकार उपयोग में विभिन्न रूप से लाया करते हैं कि कुछ समय के अनन्तर उस शब्द का वाच्य-वाचक-भाव एकता से विच्युत होकर अनेकता में बिखर जाता है। दर्शन शब्द भी ऐसे ही शब्दों के अन्दर एक है। क्योंकि इसका भी प्रयोग विभिन्न अर्थों में हुआ पाया जाता है। अत: यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि 'दर्शन है क्या?'

इसका उत्तर विवेचकों की ओर से सम्भवत: यही दिया जा सकता है कि 'उस दृष्टिकोण का ही नाम है दर्शन, जो कि लोकहित के लिए अर्थात् समाज के हित के लिए प्रवर्तित, लोकादृत, अवच्छिन्न एवं दीर्घ विचार-धारा का मूल अर्थात् निदान हो।' इस कथन का स्पष्ट अभिप्राय यह है कि जन-समाज के अन्दर जब किसी कारणवश कोई बुरी वृत्ति उदित होकर जड़ जमा लेती है तब तदानीन्तन किसी जनहितचिन्तक आप्त व्यक्ति के हृदय में समाज में फैली हुई उस बुरी प्रवृत्ति को निर्मूल भाव से उखाड़ फेकने का संकल्प उठता है। जिससे प्रेरित होकर वे गम्भीरतापूर्वक अनेक काल तक सोचते हैं।

जिसके फलस्वरूप वे अपना एक ऐसा दृष्टिकोण, ऐसा निर्णय, ऐसा सिद्धान्त स्थिर करते हैं, जिसका प्रभावकर उपदेश जन-साधारण को देकर लोक-प्रसृत उस बुरी प्रवृत्ति को निर्मूल नहीं भी, तो बहुत दिनों तक के लिए अति विरल अवश्य बना देते हैं। जिससे विवेकी समाज पूर्ण प्रभावित होता है और पूर्ण रूप से उस दृष्टिकोण का समादर करता है। फलत: उस लोकादृत दृष्टिकोण के अनुरूप विचार-धारा सदा के लिए नहीं भी, तो बहुत दिनों के लिए अवश्य चल पड़ती है, जब तक कि काल के प्रभाव से वह विचारधारा जर्जर, निस्तेज, फलत: अकर्मण्य नहीं बन जाती है, या उस विचारधारा के अनुगामी अन्य दुष्प्रवृत्ति के शिकार नहीं बन जाते। इस वस्तुस्थिति के अनुसार लोकादृत उक्त विचार-धारा के मूलभूत सिद्धान्तात्मक दृष्टिकोण को ही मुख्य रूप से 'दर्शन' समझना चाहिए।

यह बात सही है कि सामाजिक अपेक्षा के अनुसार अन्य प्रवर्ती प्रबल विचार-धारा के उदयानन्तर-पूर्वोदित विचार-धाराएं क्रमश: पूर्ण शिथिल हो जाती हैं। यहाँ तक कि उनका प्रभाव जनप्रवृत्ति पर बिलकुल नहीं रह जाता। फिर भी उनकी ऐतिहासिकता अक्षुण्ण रहने के कारण उस विचारधारा का मूलभूत वह दृष्टिकोणात्मक दर्शन अत्यन्त लुप्त नहीं हो पाता। वह 'कथाशेष' ही नहीं होता। उसका प्रभाव बल भी विश्रृंखल रूप में कभी-कभी और कहीं-कहीं सूक्ष्म दृष्टिसम्पन्न विवेचकों के दृक्पथपर अवश्य आ गुजरता है।

यद्यपि वे लोग जो कि अपनी बात छोड़ कर औरों की बात सुनना ही नहीं चाहते और यदि कहीं कुछ सुनना ही पड़ा, तो अन्ततः और कुछ नहीं तो सुनाने वाले की आँख में धूल झोकने की चेष्टा करके ही दम लेते हैं, 'दर्शन' की इस व्याख्या को पसन्द नहीं कर सकते। वे प्राय: 'दर्शन' की व्याख्या यहीं करेंगे कि 'तात्त्विक निर्णय ही है दर्शन।' परन्तु इस व्याख्या में कठिनता यह उपस्थित होगी कि दर्शन रूप से ख्यात विविध विभिन्न निर्णयों के अन्दर किसे दर्शन माना जाय, और किसे नहीं माना जाय? क्योंकि कोई भी दर्शन या दार्शनिक पूर्ण रूप से परस्वीकृत तत्त्व को मान्यता देता हुआ नहीं पाया जाता। फलत: तटस्थ की दृष्टि से सारे दर्शन अदर्शन हो उठेंगे।

यदि कोई विवेचक दर्शन की व्याख्या यह करे कि 'मोक्षोपयोगी दृष्टि' ही है दर्शन, तो उसकी इस व्याख्या का आदर तभी सम्भव है जब कि वह अपने 'मोक्ष' की व्याख्या 'दुख की निवृत्ति' मात्र करें और साथ ही 'आत्यन्तिकता' का आग्रह छोड़ दें। कहने का तात्पर्य यह है कि 'आत्यन्तिक दु:ख निवृत्ति' या अन्य कुछ को मोक्ष न मानकर किसी प्रकार की छुटकारा पाने को ही मोक्ष कहा जाय तो दर्शन की यह व्याख्या भी मान्य हो सकती है। क्योंकि प्रत्येक दर्शन का चरम लक्ष्य किसी प्रकार के दु:ख से छुटकारा पाना ही है।

'दर्शन' की दूसरी व्याख्या यह है कि 'जिसके सहारे तत्त्व को देखा जाय, अर्थात

स्पष्ट रूप से समा जाय वह है दर्शन' इसी व्याख्या के आधार पर तत्तत् ग्रन्थात्मक शास्त्रों को दर्शन कहा जाता है। इसलिए अलग-अलग दार्शनिक ग्रन्थ 'न्याय दर्शन' 'वेदान्त दर्शन' आदि नामों से पुकारे जाते हैं। साधारणतया प्रत्यक्षात्मक ज्ञान और ज्ञापक इन्द्रियाँ ये दोनों उक्त द्विविध व्याख्याओं के अनुसार दर्शन कहलाती हैं। इसका कारण यह है कि ज्ञानों को 'स्पष्ट अवभास' और 'अस्पष्ट अवभास' इस प्रकार दो भागों में विभक्त किया जाता है। प्राकृत दर्शन शब्द की प्रदर्शित प्रथम व्र्याख्या के अन्दर आने वाला मौलिक 'दृष्टिकोण' इसीलिए दर्शन कहलाने का अधिकारी होता है कि वह भी इन्द्रियज प्रत्याक्षात्मक ज्ञान की तरह ही 'स्पष्ट अवभास' रूप होता, और शास्त्रात्मक ग्रन्थ भी प्रदर्शित द्वितीय व्याख्या के अनुसार इसलिए 'दर्शन' कहलाते हैं कि वे भी उसी प्रकार प्रतिपाद्य तत्त्वों को स्पष्ट रूप से बतलाते हैं जिस प्रकार इन्द्रियाँ। लोक हितैषी आप्त व्यक्तियों की वे दृष्टियाँ जो कि तत्त्वोपदेश के लिए मूलभूत होती हैं उसी प्रकार दृढ़-निश्चयात्मक चक्षु-आदि-इन्द्रियज प्रत्यक्ष की तरह स्पष्टावभास स्वरूप होता है, यह मानना ही होगा। अन्यथा उसके आधार पर वे लोकहितैषी लोगों को तत्त्व सम्बन्धी उपदेश देने में कभी नहीं प्रवृत्त हो सकते। क्योंकि ऐसा करने पर वे अनुकम्पाशील लोकहितैषी कैसे हो सकते? फिर तो वे बञ्चक हो जायेंगे।

दर्शन-विभाजन

दर्शनों को कुछ लोग 'पाश्चात्य' और 'अपाश्चात्य' इन दो प्रभेदों में विभक्त करते हैं परन्तु गम्भीर भाव से विचार करने पर यह विभाजन उचित नहीं प्रतीत होता। क्योंकि देश भेद के आधार पर दर्शन-विभाजन को मान्यता देने पर विभाजन स्थायी इसलिए नहीं हो सकता कि देशों की सीमा या संख्या सदा एकरूप रहने वाली वस्तु नहीं। प्रकृति भी तो अपरिवर्तनशील नहीं कि प्राकृतिकता के आधार पर दैशिक सीमाओं को सदा एक रूप रहने वाली कहा जा सके?

अन्य कुछ लोग 'नास्तिक' और 'आस्तिक' इन दो भागों में दर्शनों का वर्गीकरण मानते हैं। किन्तु यह भी विभाजन इसलिए संगत प्रतीत नहीं होता कि 'नास्तिक' की कोई एक अनुगत सर्वसम्मत व्याख्या नहीं है। कुछ लोग यदि नास्तिक की व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि 'वेद को प्रमाण रूप से मान्यता नहीं देने वाला कहलाता है 'नास्तिक' तो अन्य कुछ इसके विपरीत नास्तिक की व्याख्या यह करते हैं कि परलोक न मानने वाला है नास्तिक। और अन्य कुछ लोग यह कहते हैं कि 'जो परमेश्वर को न माने वह है नास्तिक।' 'नास्तिक' इन तीनों व्याख्याओं में किसी भी प्रकार सामंजस्य इसलिए नहीं उपस्थित कराया जा सकता कि वेद को सर्वाधिक मान्यता देने वाले कर्ममीमांसक ईश्वर को बिलकुल मानते ही नहीं। और ईश्वर को सर्वाधिक महत्त्व देने वाले आगमानुयायी शैव लोग वेद को मान्यता देते ही नहीं। इस प्रकार नास्तिक की परिभाषा अस्थिर होने के कारण 'नास्तिक' और 'आस्तिक' रूप में दर्शनों का वर्गीकरण किसी प्रकार सम्भव नहीं हो पाता।

'वैदिक' और 'अवैदिक' रूप में भी दर्शन का वर्गीकरण इसलिए होना कठिन प्रतीत होता है कि उपनिषद् मात्र को आधार करके पनपने वाले वैदिक-दर्शन भी कर्मकाण्डात्मक वेद का अनादर करते पाये जाते हैं। ऐसी परिस्थिति में आपस में अति अन्तर्विग्रहशील कर्ममीमांसा और ब्रह्ममीमांसा दोनों को कैसे पूर्ण रूप से 'वैदिक' माना जा सकता? इस प्रकार एक अनुगत 'वैदिकता' के अभाव के कैसे 'वैदिक' और 'अवैदिक' इस प्रकार दर्शन का वर्गीकरण संगत कहला सकता?

यदि कोई इस सम्बंध में यह कहकर अव्यवहित उक्त दर्शन-वर्गीकरण का समर्थन करे कि कर्ममीमांसा कर्मकाण्डात्मक वेद को और ब्रह्ममीमांसा उपनिषद् को आश्रय करके उदित हुई है। अत: इन दोनों दर्शनों को भलीभाँति 'वैदिक' दर्शन कहा जा सकता है, तो वह उनका समर्थन इसलिए मान्य नहीं ठहराया जा सकता कि कुछ वैदिक विषय तो सर्वमान्य होने के कारण अवैदिक रूप से विवक्षित दर्शनों में भी मान्य होते ही हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि को भला कौन दर्शन मान्यता न देगा? ऐसी परिस्थिति में सारे दर्शन कर्ममीमांसा और ब्रह्ममीमांसा की तरह 'वैदिक' ही हो जाते हैं। कोई भी दर्शन अवैदिक नहीं कहला सकता। फिर 'वैदिक' और 'अवैदिक' इन प्रभेदों में कैसे दर्शनों को वर्गीकृत किया जा सकता?

इसी प्रकार 'वैष्णव दर्शन' और 'शैव दर्शन' रूप में भी दर्शनों का वर्गीकरण संगत नहीं कहला सकता। क्योंकि जैन, बौद्ध आदि दर्शन इनके अन्दर अन्तर्भुक्त होते नहीं। यह विभाजन आस्तिक अथवा वैदिक दर्शन का है, यह भी इसलिए नहीं कहा जा सकता कि आस्तिक, नास्तिक और वैदिक, अवैदिक रूप में किये जाने वाले प्राथमिक विभाजन का खण्डन किया जा चुका है।

'भारतीय' और 'अभारतीय' रूप में दर्शनों को प्राथमिक वर्गीकरण के अनन्तर भारतीय दर्शनों का विभाजन 'वैष्णव' और 'अवैष्णव' रूप में क्यों नहीं हो सकता? यह भी प्रश्न इसलिए नहीं उपस्थित किया जा सकता कि सीमा की अनियमितता के कारण देश के आधार पर दर्शन का विभाजन नहीं किया जा सकता, यह बात बतलायी जा चुकी।

अत: यदि दर्शनों का वर्गीकरण या विभाजन अत्यन्त अपेक्षित प्रतीत हो, तो 'द्वैत' और 'अद्वैत' इस रूप में, अथवा 'आरम्भ', 'परिणाम' और 'विवर्त्त' इस प्रकार दर्शनों का वर्गीकरण किया जा सकता है। एतदनन्तर ब्रह्माद्वैत, शून्याद्वैत, प्रकाशाद्वैत, विज्ञानाद्वैत, रसाद्वैत, शब्दाद्वैत, भूताद्वैत आदि रूपों में अद्वैत दर्शन का विभाजन समझना चाहिए। यदि 'क्रियाद्वैत' को मान्यता दी जाय तो बौद्ध ब्राह्यास्तित्ववादी सौत्रान्तिक और वैभाषिक दर्शन भी अद्वैत के अन्दर ही आ जाते है। क्रियाद्वैत की चर्चा मैंने अपने 'पदार्थशास्त्र' के द्वितीय भाग में की है। अत: इसका परिचय वहाँ से प्राप्त करना चाहिए।

इस मान्य रूप में प्रदर्शित दार्शनिक विभाजन या वर्गीकरण की विशेषता यह है

कि विश्व के विभिन्न देशों में अब तक उद्गत हुए एवं अनन्त आगामी काल तक उद्गम पाने वाले सारे दर्शनों को यह विभाजन अपने में अन्तर्भुक्त कर लेने की क्षमता रखता है। अद्वैतों को 'द्वैतासहिष्णु' रूप में वर्गीकृत भी समझना चाहिए। सम्भव है कुछ लोग बहिर्दर्शन, अन्तर्दर्शन और बहिरन्तर्दर्शन एवं आत्मदर्शन, अनात्मदर्शन आदि रूप में विभाजन कहें परन्तु ये विभाजन भी युक्ति संगत नहीं। हाँ, प्रवृत्ति, निवृत्ति, और प्रवृत्ति-निवृत्ति दर्शन रूप में भी एक विभाजन कथञ्चित् कहा जा सकता है, जिसकी चर्चा आगे की जाने वाली है।

दर्शन-संख्या

जब तक भारतीय-विवेचकों को या तो विदेशों का पता न था, या वहाँ के निवासी दर्शनिक विचार-धारा के उद्गमानुरूप सभ्यता नहीं प्राप्त कर पाये थे, अथवा भारत में उद्गत दर्शनों को ही अपना मानते थे एवं भारत में भी सर्वदर्शन संग्रह में परिगणित नवीन-दर्शनों का उद्गम नहीं हो पाया था तब तक के भारतीय विवेचक दर्शन की संख्या १२ मानते थे। क्रमिक उनके नाम न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, वेदान्त, सौत्रान्तिक, वैभाषिक, योगाचार, माध्यमिक, चार्वाक और जैन इस प्रकार आज भी ख्यात है। उस समय तक विवेचकों की यह स्थित धारणा थी कि दर्शन सदा के लिए इतने ही हैं। नवीन कोई दर्शन किसी प्रकार नहीं भी उद्गत नहीं हो सकता। यह निस्सार धारणा आज भी कुछ लोगों के हृदय में इस प्रकार कूट-कूट कर भरी पड़ी है कि वे भूत बहुसंख्यक नवीन-नवीन दर्शनों के उद्गमों को भी नहीं देख पाते। हाँ, उक्त द्वादश-दर्शन के सम्बंध में यह बात ध्यान में रखने योग्य अवश्य है कि उक्त वेदान्त तक के दर्शनों को ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्डगत भेद के कारण ही एक-एक द्विक में अवान्तर भेद मान कर न्याय और वैशेषिक इन दोनों को एक, सांख्य और योग इन दोनों को एक और मीमांसा तथा वेदान्त इन दोनों को एक ही माना जाय, एवं बौद्ध रूप में सौत्रान्तिक आदि चारों को भी एक ही गिना जाय तो प्राचीन रूप में परिगणित द्वादश दर्शनों की संख्या छः में पर्यवसित हो आती है।

यदि कोई बहिर्दर्शन, अन्तर्दर्शन और बहिरन्तर्दर्शन रूप में दर्शन का विभाजन मान कर तदनुरूप संख्या का निर्णय करना चाहे तो यह इसलिए उचित नहीं होगा कि भूतचैतन्य, जिसका स्थापन आगे किया जाने वाला, युक्तिसिद्ध होने के कारण, ब्राह्य और आन्तर रूप में फलतः ज्ञान और ज्ञानेतर रूप में तत्वों का विभाजन सम्भव नहीं। इसी प्रकार आत्मदर्शन, अनात्मदर्शन और आत्मानात्मदर्शन रूप में किये जाने वाले दार्शनिक-विभाजन पर आधारित दर्शन की संख्या भी मान्य नहीं कहीं जा सकती। क्योंकि जिस दर्शन को लोग लोकवादी कहते हैं, विवेचन करने पर वह सर्वाधिक आत्मवादी निकल आता है। उदाहरण के लिए सौगत-दर्शन को उपस्थित किया जा सकता है। उसे जगह-जगह पर आत्मा को मान्यता न देने वाला अनात्मवादी कहा गया है। परन्तु उसकी आत्मख्याति

सिद्धान्त की ओर गहराई के साथ नजर डालने पर क्या उसे अनात्मवादी कहा जा सकता है? कभी नहीं। अत: आत्मदर्शन और अनात्मदर्शन रूप में किये जाने वाले दर्शन-विभाजन पर आधारित संख्या भी दर्शन के लिए मान्य नहीं कहीं जा सकती। नियत दार्शनिक संख्या की मान्यता के विरुद्ध सर्वाधिक बड़ी युक्ति यह है कि यह संसार जब कि अनादि और अनन्त है प्रभाह के रूप में, तब उक्त परिभाषा के अनुसार समाज-हितकर लोक दृष्टियों का भी आनन्त्य अनिवार्य रूप से मान्य होना चाहिए।

सम्भव है कुछ लोग इसके विरुद्ध यह कहें कि दर्शनों की संख्या इस प्रकार नियन्त्रित की जा सकती है कि उक्त परिभाषाक्रान्त क्रमिक अनन्त-दृष्टियों के अन्दर कुछ को ही दर्शन और अन्य सभी को दर्शनाभास कहा जा सकता है, तो यह उनका कथन इसलिए सुस्थिर नहीं रह सकता कि पारस्परिक तार्किक खण्डन-मण्डनों को देखते हुए विनिगमक-विगम-प्रयुक्त यह निर्णय करना संभव नहीं कि ये हैं 'दर्शन' और सभी हैं, एवं होंगे दर्शनाभास।

हाँ, यहाँ यह एक ध्यान रखते की बात अवश्य है कि दृष्टिकोणों के अन्दर अपूर्ण दृष्टिकोणों को दर्शन न कहकर 'वाद' कहना की संगत है। परन्तु साथ ही यह भी ध्यान रखना उचित है कि दृष्टिकोणगत यह अपूर्णता आदि पाश्चात्य हो अर्थात् परवर्ती विविध दर्शनों के सम्मिलित प्रयास से खण्डन-शास्त्र द्वारा खण्डित की गयी हो तो 'द्वितीयाचन्द्र' को प्रतिपच्चन्द्र[२] के समान उसे दर्शन ही मानना उचित है। इस प्रकार की परिस्थिति प्राय: लोगों में उस दर्शन के रहस्य की अनभिज्ञता की वितति के कारण हुआ करती है। उसके रहस्य से अपरिचित अन्य दार्शनिकों का सम्मिलित प्रयास जनता में उस दर्शन के प्रति इस प्रकार घृणापूर्ण भावना फैला देता है कि उसके साहित्य तक उच्छिन्न कर दिये जाते हैं जिसका फल यह होता है कि उसका अस्तित्व उसके विरुद्ध चलाये गये खण्डनात्मक अस्त्रों में ही लगा रह जाता है, उस अनेक काल तक के लिये जब तक कि किसी रहस्यभेदी विवेचक की सूक्ष्म दृष्टि उसकी ओर आ नहीं पड़ती। माध्यकालिक उसकी विषम-परिस्थिति के समय भी तद्‌गत संख्या लुप्त इसलिये नहीं हो पाती कि उसके अस्तित्व की मान्यता के बिना विरोधी दर्शनों के खण्डन ही असंगत हो बैठते हैं। उसे चुनौती देने वाला उसका एक नहीं, अनेक विरोधी हैं, जिसके अस्तित्व को, यद्‌गत संख्या को, मान्यता देता है। उसे तटस्थ विवेचक भला कैसे खपुष्प आदि तुल्य कह सकता? अत: वह साहित्य-विधुरता के कारण प्राप्त-दौर्बल्य क्षीण दर्शन भी दर्शनों के संख्यान के समय संख्यात अवश्य होता है।

चार्वाक-दर्शन

अभी अव्यवहित पूर्व रूप में किये गये विवेचन पर ध्यान देने वाला कोई भी

(२) 'प्रतिपच्चन्द्रमिव प्रजा नृपम्' *-भारवि, किरातार्जुनीय।*

विवेचक अनायास यह समझ सकता है कि यह विवेचन चार्वाक-दर्शन के ऊपर भी लागू है। उसकी भी मध्यकालिक कृशता या क्षीणता उसी प्रकार की पायी जाती है जैसी कि अव्यवहितपूर्व विधि से विवेचन में वर्णित हुआ है। इस दर्शन के रहस्य को मध्यकालिक जनता, जिसके अन्दर इसके खण्डनकारी भी सम्मिलित है, पूर्ण रूप से भूल गयी। जिसका परिणाम यह हुआ कि यह अत्यन्त क्षीणकाय हो गया। परिस्थिति यहां तक आ पहुंची है कि कुछ मनीषियों के हृदय में यहाँ तक सन्देह उपस्थित होने लगा है कि 'वस्तुस्थिति' यह तो नहीं है कि चार्वाक-दर्शन का अन्य दर्शनगत खाण्डनिक अस्तित्व सर्वथा इनके कल्पना मात्र का प्रसव है? कहने का तात्पर्य यह है कि कुछ मनीषी आज ऐसे भी मिलने लगे हैं जो इस चार्वाक-दर्शन के सम्बंध में अपनी धारणा यह बना ली है कि चार्वाक नाम का कोई दर्शन वस्तुत: किसी भी अतीत काल में नहीं था। खण्डन कर्ता अन्य दार्शनिकों ने जो उसका खण्डन किया है वह उनका खण्डन उस मत की सम्भावना मात्र के आधार विहित हुआ है। खण्डन-मण्डन के समय विवेचक लोग प्राय: ऐसा किया ही करते हैं। सम्भावित मत को भी उपस्थित कर उसका खण्डन करके विवेचनगत प्रांजलता का परिचय दिया करते हैं।

परन्तु यह वस्तुस्थिति मान्य नहीं ठहरायी जा सकती। यह कथन तब सत्य ठहराया जा सकता है जब कि कोई एक या दो मात्र दार्शनिक ग्रन्थप्रणेता चार्वाक मत को खण्डनीय रूप से उपस्थित करता। किन्तु ऐसा नहीं हुआ है। भारत के प्राय: सभी दार्शनिक आचार्यों ने अपने-अपने गन्थों में इसके मत को खण्डनीय रूप से उपस्थित किया है। अत: इस दर्शन को सम्भावित मत मात्र नहीं कहा जा सकता। हाँ, यह सही है कि चार्वाक-दर्शन की अति प्राचीनता के कारण सचमुच उसका वास्तव रूप उन खण्डनकारियों के समक्ष स्पष्ट रूप में उपस्थित नहीं था, अत: गम्भीरतापूर्वक विचार के अनन्तर स्थापित होने वाले चार्वाक-दर्शन के स्वरूप के निकट वे खण्डन जो कि तत्तत् आचार्यों के द्वारा किये गये हैं उसके ऊपर लागू नहीं हो सकते।

चारवाक्क--

गिने चुने दार्शनिकों को छोड़ कर ऐसा कोई विरल ही व्यक्ति मिलेगा जो कि 'चार्वाक' इस नाम से परिचित होगा। यह परिस्थिति प्राय: प्राप्त होती रहती है कि अति अप्रसिद्ध इस नाम को सुन कर पढ़े-लिखे व्यक्ति भी पूछ बैठते हैं कि यह चार्वाक क्या है? इसका माने क्या है? इत्यादि। इसका कारण इसकी लोकगत उस अप्रसिद्धि को ही कहना होगा, जो इसके विरुद्ध फैलायी घृणा प्रयुक्त हुई। यह भारत की ही नहीं प्राय: सभी देशों की परम्परा है कि अपनी-अपनी देवता एवं आदरणीय अपने आचार्यों में से किसी एक के नाम को भी जनता अपनी सन्तति के नामकरण के उपयोग में लाया करती है। इसीलिये औरों के अन्दर की तो बात ही क्या? भारतीया आचार्यों और कवियों में से भी अनेक आचार्यों एवं कवियों का नाम एक पाया जाता है। शंकर, वाचस्पति, कालिदास

आदि नामों को अनायास इसके उदाहरण के रूप में उपस्थित किया जा सकता है। परन्तु 'चार्वाक' यही एक ऐसा नाम है जो कि सर्वथा 'अनुच्छिष्ट' है। सर्वथा अनुच्छिष्ट कहने का तात्पर्य यह है कि न यह किसी का उच्छिष्ट है और न इसका कोई। लोकप्रसृति के कारण 'लोकायत', कहलाने वाले दर्शन के सर्वप्रथम आचार्य का नाम इतना अप्रसिद्ध हो यह कम आश्चर्य की बात नहीं।

चार्वाक के सम्बंध में जहाँ तहाँ उल्लेख पाया जाता है कि ये वृहस्पति के शिष्य थे। इनके आचार्य वृहस्पति ने जिस स्वकीय दर्शन का उपदेश दिया इनको, इन्होंने उसका प्रचार मानव समाज में जोरों से किया। जिसका फल यह हुआ कि इनके द्वारा प्रचारित वह वार्हस्पत्य-दर्शन 'लोकायत' हो गया। और इसीलिए वह 'लोकायत-दर्शन' भी कहलाने लगा' इत्यादि। इससे यही निश्चय प्राप्त होता है 'चार्वाक' यह एक व्यक्ति विशेष का नाम है और एतन्नामक व्यक्ति विशेष के द्वारा प्रचारित होने के कारण ही एक दर्शन विशेष, चार्वाक दर्शन नाम से कहा जा रहा है।

इस दर्शन के सम्बंध में यह भी एक आश्चर्यकर बात दृष्टिगोचर हो सकती है विवेचकों को। इसे छोड़ कर ऐसा भी कोई दर्शन नहीं प्राप्त हो सकता जो कि किसी देवता के द्वारा प्रवर्तित माना गया हो। अधिक से अधिक दर्शन के प्रथम प्रवर्तन के लिए ऋषित्व का ही समादार किया गया है। परन्तु इस दर्शन के प्रथम प्रवर्त्तक को देवता ही नहीं, सभी देवताओं का गुरु माना गया है।

मुझे तो इस सम्बंध में यह प्रतीत होता है कि 'चार्वाक', यह 'चारवाक्क' इसका अपभ्रष्ट रूप है। अतः 'चार्वाक' यह शब्द किसी व्यक्ति विशेष का संज्ञावाची नहीं है। सुतरां इसे किसी अन्य का वाचक होना होगा। रूढ़ शब्द भी अपनी प्रथम प्रवृत्ति के समय प्रायः यौगिक ही रहा करते है! 'कुशल', 'पंकज' आदि शब्दों को इसके साक्ष्य के लिए भलीभाँति उपस्थित किया जा सकता है। इस चार्वाक शब्द का कोई भी ऐसा सरल शब्दद्वय-योग-प्रयुक्त हृदयग्राही अर्थ मिलता नहीं। अतः अगत्या इस शब्द को किसी यौगिक शब्द का प्रभ्रष्ट रूप मानना ही होगा। अब आयी बात यह कि वह शब्द कौन सा माना जाय जिसका विकृत रूप इस चार्वाक शब्द को कहा जाय? तो यह शब्द जिस शब्द का निकटतम सादृश्य रखता हो ऐसा ढूंढने पर 'चारवाक्क' यही शब्द उचित प्रतीत होता है। इसका अर्थ यौगिक रूप में प्राप्त हो सकता है। 'चारों अर्थात् गुप्तचरों की वाणी को ही प्रमाण रूप में अवलम्बन करके चलने वाला'। इसके अनुसार 'चारवाक्क' शब्द का अभिप्रेत अर्थ प्राप्त होता है राजा या राज्य-प्रधान। इसके अनुसार चार्वाक दर्शन हो जाता है राजदर्शन या राज्यदर्शन।

इसके अतिरिक्त एक और 'अर्थ चारवाक्क' का यह हो सकता है कि 'चरु'

---

(३) चरोरिदं चारवम्। चारवम् अक्के स्वगृहकोणे यस्य असौ चारवक्कः।

संबंधी भाग को अपने घर के कोने में स्थान देने वाला। फलतः उसकी सुरक्षा या समादर करने वाला।[3] इस व्याख्या पक्ष में 'चार्वाक' शब्द का अभिप्रेत अर्थ प्राप्त होता है 'यज्ञ में भी हिंसा उचित नहीं' यह कहने वाला। किन्तु यह द्वितीय व्याख्या हार्दिक वातावरण को इस प्रकार नहीं आकृष्ट कर रही है कि प्रथम व्याख्या के स्थान में इस बैठाया जाय।

चार्वाक शब्द की इस प्रकार व्याख्या के अनन्तर चार्वाक के गुरु रूप में स्वीकृत वृहस्पति की ओर भी, विवेचनार्थ मन का अग्रसर होना, अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। इस वृहस्पति के सम्बंध में भी यह धारणा निश्चित सी है कि ये वृहस्पति वे नहीं, जो कि स्वर्गाधिप इन्द्र के आचार्य रूप में विख्यात हैं किन्तु वृहस्पति नामधारी कोई राजगुरु को हुए। लौकिक राजाओं को भी 'महीमहेन्द्र' शब्द से कहा ही गया है जगह-जगह पर। ऐसी परिस्थितियों में राजगुरु को 'वृहस्पति' उपाधि से अलंकृत होना भी असम्भव नहीं। फलतः अपने राजगुरु के उपदेश के अनुसार राज्य-संचालन-लग्न राजा ही होते हैं 'चार्वाक' तत्सम्बंधी दर्शन होता है 'चार्वाक दर्शन' कहलाने का अधिकारी।

यदि वृहस्पति को इन्द्र-गुरु, देव स्वरूप ही माना जाय तो प्रदर्शित पद्धति के अनुसार 'चार्वाक' का अभिप्रेत अर्थ प्राप्त होता है इन्द्र। उक्त महीमहेन्द्र आदि शब्दों का प्रयोग राजाओं के लिए होता आ ही रहा है। तत्प्रयुक्त भी राजाओं को चार्वाक कहा जा सकता है। तदनुसार भी 'राजदर्शन' ही प्रास होता है।

चार्वाक दर्शन नैतिक दर्शन-

यहाँ तक पहुंचने पर चार्वाक-दर्शन को 'नैतिक-दर्शन' भी कहा जा सकता है। क्योंकि नीति ही है वस्तुतः नेतृत्व। प्राचीन काल में राजा भी एक नेता ही होता था। इसीलिए तो अच्छा शासक राजर्षि कहलाता था? इस दृष्टिकोण से राजाओं को भी नैतिक कहा जा सकता है।

राजा व्यवस्थास्थापन द्वारा ही लोगों का नेतृत्व करता है इस ओर दृक्पात करने पर चार्वाक दर्शन को 'व्यवस्था-दर्शन' भी कहा जा सकता है किन्तु वह व्यवस्था दण्ड के कारण ही हो और चल पाती है इस ओर ध्यान देकर इस राज-दर्शन को दण्ड-दर्शन भी कहा जा सकता है। यदि दण्ड के कारण होने वाली मानव-सत्प्रवृत्ति को महत्ता दी जाय तो इस दर्शन को 'प्रवृत्ति दर्शन' भी कह सकते हैं।

प्रवृत्ति-दर्शन इसलिए भी इसे कहा जा सकता है कि दर्शनों का वर्गीकरण एक प्रकार, यह भी सम्भावित है कि बौद्ध, वेदान्त आदि दर्शनों को माना जाय निवृत्ति दर्शन, और उनसे तथा चार्वाक से अतिरिक्त दर्शनों को माना जाय 'प्रवृत्ति-निवृत्ति-दर्शन'। ऐसी परिस्थिति में चार्वाक दर्शन ही रह जाता है- 'प्रवृत्ति दर्शन' कहलाने का अधिकारी। लोकायत-दर्शन कहलाने का कारण बतलाया ही जा चुका है।

सत्प्रवृत्तिजन्य उचित चेष्टात्मक सदाचार के स्थापन द्वारा ही राजा राष्ट्र के योग

और क्षेम के लिए समर्थ भी हो सकता है। अत: राजदर्शन को सदाचार-दर्शन भी कहने में संकोच नहीं होना चाहिए। 'यह सदाचार ही है समाज का सच्चा जीवन' इस दृष्टिकोण से इस राजदर्शनात्मक चार्वाक-दर्शन को 'जीवन-दर्शन' कहना भी उचित होगा।

दण्डनीति--

प्राचीन भारतीय-विवेचकों ने जहाँ विद्याओं की चर्चा की है, जहाँ शास्त्रों का परिगणन किया है वहाँ सर्वप्रथम उन्होंने इन्हें आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति इन चार प्रभेदों में विभक्त किया है। इन चार विद्याओं के अन्दर वार्त्ता और दण्डनीति में दो विधाएँ सर्वमानव साधारण हैं। क्योंकि वार्ता शब्द की निष्पत्ति वृत्ति और वृत्त इन दोनों से सम्बंध रखती है। वृत्ति है जीवन का उपायभूत जीविका और वृत्त है इतिवृत्तात्मक इतिहास। यद्यपि वृत्त और वृत्ति इन दोनों से सम्बंध जागतिक प्रत्येक प्राणी को है, फिर भी विशेष रूप से इन दोनों का सम्बंध विकसित प्राणी मानव को ही है। क्योंकि मानव जिस प्रकार वृत्त और वृत्ति इन दोनों को अपने जीवन के उपयोग में ला सकता है अन्य प्राणियों में तदनुरूप क्षमता नहीं पायी जाती है। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो यह स्पष्ट रूप से प्रतीत होगा कि मानवजीवन वार्त्तामय है। इस वार्त्ता के ख्यापक शास्त्र या विद्या को भी वार्त्ता ही कहा जाता है।

इस 'वार्त्ता' की सुस्थिति दण्डनीति के बिना सर्वथा असम्भव है। क्योंकि दण्ड के अभाव में 'मात्स्यन्याय' की प्रवृत्ति अनिवार्य है। 'मात्स्यन्याय' का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक समाज कुछ दुर्बल और सबल प्राणियों का समुदायात्मक ही होता है। स्वार्थवश सबल प्राणी दुर्बल प्राणियों को सताता है, यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। प्राण्यिों की इसी दुष्प्रवृत्ति को प्राचीन विवेचकों ने कहा है 'मात्स्य न्याय' की प्रवृत्ति। एक ही जलाशय में विद्यमान असंख्य छोटी और बड़ी मछलियों के अन्दर बड़ी मछलियाँ मौका पाकर अपने से छोटी मछलियों को धर दबाती हैं। उन्हें निगल जाती हैं, चाहे वे छोटी मछलियाँ उनकी अपनी सन्ततियों के अन्दर ही होने वाली क्यों न हों? यह दुष्प्रवृत्ति सभी प्राणियों में परिलक्षित होने पर भी मछलियों में सर्वाधिक मात्रा में पाई जाती है, अत: उसे दृष्टान्त रूप में ग्रहण करके 'मात्स्यन्याय' कहा जाता है। इस मात्स्यन्याय की दुष्प्रवृत्ति को रोकने के लिए दो उपाय हैं। एक यह कि उन दुष्प्रवृत्ति सम्पन्न पीड़क प्राणियों में पीड्य के प्रति करुणा, प्रेम आदि सात्त्विक हार्दिक भावों का उदय कराया जाय और यदि यह सम्भव न हो तो उनके हृदय में इस प्रकार भय का संचार कराया जाय कि 'इस परपीड़न के फलस्वरूप मुझे भी वह पीड़ा प्राप्त होगी जो कि मेरे द्वारा किये गये परपीड़न से कहीं अधिक होगी।' प्रथम उपाय विवेकियों के लिए ही सम्भव है, अविवेकियों के लिये बिल्कुल नहीं। अत: उनके लिए द्वितीय ही उपाय शेष रह जाता है। इसलिए उक्त भयसंचारात्मक उपाय के उद्‌गमार्थ दण्ड नितान्त आवश्यक है।

यद्यपि कुछ ऐसे भी अपवादभूत व्यक्ति मिलते हैं जो कि दण्ड से डरते नहीं। दण्ड प्राप्ति के अन्तर और भी उस दण्डार्ह कार्य में अभिरुचि लेते हुए पाये जाते हैं जिसके आचरण के फलस्वरूप वे दण्ड भोग चुके हैं। चोरों की हार्दिक परिस्थिति प्रायः इस प्रकार पाई जाती है। फिर वहाँ का दण्ड विधान इसलिए निष्फल नहीं कहा जा सकता कि प्रचारित उस दण्ड से अलग-बगल के बहुसंख्यक लोग इस प्रकार की दुष्प्रवृत्ति से दूर रहते हैं, जिसके कारण पीड़कों की संख्या में वृद्धि नहीं हो पाती। अतः वार्ता की, फलतः लोक यात्रा की, सुव्यवस्था के लिए दण्ड-विधान आवश्यक है। चार्वाक-दर्शन को इससे अव्यवहित पूर्व विहित विवेचन में दण्डनीति-दर्शन कहा जा चुका है। ऐसी परिस्थिति में, विवेचक प्रकृत विचेच्य चार्वाक दर्शन की उपयोगिता को भलीभाँति आँक सकते हैं। इसके ऐकान्तिक महत्त्व को पूर्णरूप से समझ सकते हैं।

दण्ड-

इस राजनीति दण्ड की चर्चा होने पर कुछ लोगों के हृदय में यह जिज्ञासा उदित हो सकती है कि आखिर यह दण्ड क्या है? क्योंकि साधारण रूप से दण्ड का अर्थ होता है वह डंडा जो कि किसी के ऊपर प्रहार में काम आता है। परन्तु उसे प्रकृत दण्ड शब्द से लेने पर यह दण्ड अपराध का साधक बन जाता है जबकि होना चाहिए उसे अपराध का बाधक। अतः प्रकृत दण्ड की परिभाषा यह ज्ञातव्य है कि 'अनुचित परपीड़ादानप्रयुक्त पीड़ाप्रद-उचित-परगत-क्रिया है दण्ड'। कोई भी व्यक्ति जबकि राज-नियम के द्वारा निषिद्ध काम करके दूसरों को कष्ट पहुंचाता है तो उसके फलस्वरूप वह उस अनभिप्रेत कष्ट का भागी बनता है जो कि नियामक अधिकारी द्वारा विहित क्रिया से निष्पन्न होता है। फलतः उस अनभिमत कष्ट का सम्पादक अधिकारियों की क्रिया ही है दण्ड। इस क्रिया को अन्य नामों से न पुकार कर 'दण्ड' नाम से प्रथिति का कारण यह प्रतीत होता है कि दण्ड की प्रथम प्रवृत्ति के समय सभी प्रकार के तात्कालिक अपराधों पर अपराधियों को डण्डे से पीटने का ही विधान था। आज भी असभ्य अपराधियों के लिए दण्ड प्रहारात्मक दण्ड का विधान होता हुआ पाया ही जाता है।

इसके अतिरिक्त इस दण्ड नामकरण का रहस्य यह भी हो सकता है कि अपराधी अपराध के फलस्वरूप प्राप्त दण्ड से अपने आचरणगत वक्रतात्मक अनौचित्य स्वरूप अपराध को छोड़ दे, यही दण्ड प्रवृत्ति का मूल उद्देश्य है और ऐसा होता भी है। प्रकृत दण्ड शब्द उस आचरणगत कुटिलता के विपरीत होने वाली सरलतात्मक औचित्य का रूपापन करता है। इसीलिए दण्डविधान के अनन्तर तत्सजातीय एवं तद्विजातीय अपराधों के आचरण से सर्वथा बर्हिर्मुख हो जाने वाले व्यक्ति के सम्बंध में प्रायः लोग यह कहा करते हैं कि 'अब तो वह बिलकुल सीधा हो गया', वह तो अब डंडे के जैसा सीधा हो गया' इत्यादि।

अनुबन्ध-

किसी भी ग्रन्थ के आरम्भ में तत्सपृक्त 'अनुबन्ध-चतुष्टय' का प्रतिपादन आवश्यक है। क्योंकि इसके बिना अध्येता भ्रमाक्रान्त होकर लक्ष्यच्युत हो सकता है। अत: यहाँ भी अनुबन्धों के सम्बंध में लोगों को जिज्ञासा उदित हो सकता है। ग्रान्थिक चार अनुबन्धों के अन्दर प्रथम होता है प्रकृत ग्रन्थ के द्वारा प्रतिपादित होने वाला 'विषय' फलत: ग्रन्थ प्रतिपाद्य तत्त्व। और द्वितीय होता है 'प्रयोजन'। तृतीय स्थान होता है 'सम्बन्ध' का और चतुर्थ स्थान 'अधिकारी' का। चार्वाक दर्शन को 'दण्डनीति-दर्शन' पहले कहा जा चुका है। अत: यहाँ प्रथम अर्थात् प्रतिपाद्य तत्त्वात्मक विषय उतना ही हो सकता है जिस पर दण्डनीति आधारित हो। प्रयोजन हो सकता है उन दाण्डिक तत्त्वों के ज्ञान द्वारा प्राप्त होने वाला सुखी जीवन। ग्रन्थ और उक्त विषय के बीच सम्बंध होगा 'प्रतिपाद्य-प्रतिपादक भाव' और अधिकारी अर्थात् अध्ययन योग्य होगा वह व्यक्ति जो दाण्डनीतिक तत्त्वों के ज्ञान का होगा इच्छुक।

इस अनुबंध चतुष्टय का ज्ञापन सर्वत्र समान रूप से ग्रन्थ-प्रणयन स्थल में अपेक्षित इसलिए होता है कि इन चार अनुबन्धों को यथावत् न जान कर अध्ययनार्थ प्रवृत्त होने वाला अध्येता कदाचित् अनपेक्षित विषयों के प्रमिपादक ग्रन्थों के अध्ययन में भी संलग्र हो जा सकता है और पूरे ग्रन्थ के अध्ययन में कुछ समय लगाकर, पीछे समये और अपने अध्ययन-परिश्रम की व्यर्थता का अनुभव करके पश्चात्तप्त हो सकता है।

हाँ, यहाँ ध्यान देने योग्य एक बात यह है कि उक्त चारों अनुबन्धों के अन्दर मुख्यता विषय और प्रयोजन इन दोनों की है। क्योंकि विषय की अगवति हो जाने पर उसके साथ ग्रन्थ का होने वाला सम्बन्ध, प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव, अनायास ही अवगत हो जाता है। और प्रयोजन का परिचय प्रास हो जाने पर उसका इच्छुक होने वाला अधिकारी भी अनायास ही ज्ञात हो जाता है। अत: उक्त अनुबन्ध-चतुष्टय के स्थान में अनुबन्धद्वय का ही उल्लेख वस्तुत: प्रयोजनीय है।

आज की ग्रन्थ-लेखन शैली में यद्यपि इन अनुबन्धों को स्थान नहीं प्राप्त होता है। फिर भी व्याख्याता अध्यापकों को ग्रन्थाध्यापन के आरम्भ के अव्यवहित पूर्व प्रारम्भिक कथन के रूप में प्रतिपाद्य विषय और उसके ज्ञान से सम्पन्न होने वाले प्रयोजन इन दोनों का वर्णन किसी न किसी रूप में करना ही पड़ता है। वस्तुत: यदि गम्भीर भाव से विचार करके देखा जाय तो अनुबन्धों के उल्लेख को आज की ग्रन्थप्रणयन-शैली में पूर्व की अपेक्षा और भी अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। क्योंकि अब इसे ग्रन्थ के कलेवर से बाहर करके ग्रन्थ की भूमिका के रूप में एक स्वतंत्र स्थान देकर ग्रन्थ का एक आवश्यक अंग माना जाता है। ग्रन्थ का अध्येता भी ग्रन्थाध्ययन के पूर्व भूमिका को अवश्य पढ़ लेता है जिससे वह प्रकृत ग्रन्थके प्रतिपाद्य 'विषय' और उसके ज्ञान का प्रयोजन उन दोनों का

परिचय पूर्ण रूप से प्राप्त कर लेता है।

तत्त्व-

संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं, जो किसी न किसी पद का अर्थ, अर्थात् वाच्य न हो। अतः प्रत्येक सांसारिक वस्तु को 'पदार्थ' कहा जा सकता है। इसी प्रकार 'तत्' इस सर्वनाम पद से संसार की प्रत्येक वस्तु कथित होने के कारण सभी सांसारिक वस्तुएँ हैं 'तत्'। इसलिए तत्त्व सभी वस्तुओं में तादात्म्य से रहता है जो कि धर्म और धर्मी अभिन्न होने कारण अपने आश्रयभूत समग्र सांसारिक वस्तुस्वरूप ही होता है। अतः सांसारिक सारी वस्तुएं पदार्थ की तरह तत्त्व भी कहलाती हैं। इसी प्रकार सांसारिक सभी वस्तुओं को ज्ञेय एवं प्रमेय आदि शब्दों से भी कहा जा सकता है। क्योंकि ऐसी कोई वस्तु नहीं हो सकती जिसका ज्ञान सांसारिक किसी भी प्राणी को न हो। और ऐसी भी कोई वस्तु नहीं हो सकती जिसका प्रमात्मक ज्ञान किसी भी प्राणी को न हो।

कहने का तात्पर्य यह है कि ज्ञान कभी निर्विषयक होता नहीं। ज्ञान होता है जिसका, वह होता है ज्ञान का विषय, और वह ज्ञान, जिसका कोई होता है विषय, वह होता है उस विषय का विषयी। अतः ज्ञान और विषय इन दोनों के बीच उसी प्रकार 'विषय विषयिभाव' सम्बंध होता है जिस प्रकार पिता और पुत्र इन दोनों के बीच सम्बंध होता है 'पितृपुत्रभाव'। उदाहरण के द्वारा इसे इस प्रकार समझा और समझाया जा सकता है कि कोई भी व्यक्ति यदि किसी फूल को देखता है तो फूल होता है 'देखना' स्वरूप ज्ञान का विषय। क्योंकि वही देखा जाता है और वह 'देखना' स्वरूप प्रत्यक्षात्मक ज्ञान होता है उस फलस्वरूप अपने विषय का विषयी। अतः फूल और देखना इन दोनों के बीच 'विषय-विषयिभाव' सम्बन्ध होता है। उसी प्रकार सर्वत्र ज्ञानस्थल में समझना चाहिए।

किन्तु यहाँ चार्वाक मत में विषय-विषयिभाव को नैयायिक, वैशेषिक आदि द्वैती दार्शनिकों के विषय-विषयिभाव सा विषय और विषयी का धर्म स्वरूप कभी नहीं समझना चाहिए। क्योंकि यहाँ चार्वाक सिद्धान्त में वास्तविक धर्मधर्मिभाव सम्भव नहीं। विषय और विषयी के बीच तादात्म्य ही सम्बन्ध सम्भव है। किन्तु साथ ही यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि यह दातात्म्य वेदान्तियों के तादात्म्य के समान आध्यासिक नहीं। क्योंकि भूतचैतन्य का स्थापन आगे किया जाने वाला है।

इस प्रकार सारी सांसारिक वस्तुएं किसी न किसी प्राणी के ज्ञान का विषय होने के कारण 'ज्ञेय' कहला सकती हैं। इसी प्रकार संसार की सारी वस्तुएं प्रमेय भी कहला सकती हैं। क्योंकि प्रमेयत्व प्रमाविषयता के अतिरिक्त और कुछ हो नहीं सकता। फलितार्थ यह प्राप्त होता है कि पदार्थ, तत्व, वस्तु आदि शब्द पर्यायवाची हैं। साँसारिक किसी भी वस्तु को इन शब्दों के अन्दर किसी शब्द से भी कहा जा सकता है।

चार्वाक मत में भूताद्वैत ही मान्य-

यह सभी दर्शन शास्त्र के लिये आवश्यकत है कि वह, अपनी क्षेत्रसीमा के अन्दर अपेक्षित प्रयोजन की सिद्धि जिन तत्वों को मान्यता दिये बिना न हो सकने वाली हो, उन्हीं तत्त्वों को उस सीमित क्षेत्र के लिये मान्यता दे। और जिन्हें मान्यता देने पर उस सीमित क्षेत्र से सम्बन्धित प्रयोजन की सिद्धि में बाधा सम्भावित हो उसे मान्यता प्रकृत विवेच्य रूप में न दे। एदनुसार सभी दार्शनिक अपने-अपने सीमित क्षेत्र के लिए अपेक्षित तत्त्व का निर्वाचन करते हैं। दार्शनिकों के लिये कुछ ऐसे भी पदार्थ होते हैं जो अन्य क्षेत्र के लिये उनके द्वारा अमान्य न होने पर भी प्रकृत विवेच्य क्षेत्र के लिये उपयोगी न होने के कारण भी वारित होते हैं।

इस वस्तुस्थिति के अनुसार यह जिज्ञासा यहाँ स्वभाविक है कि चार्वाक सिद्धान्त में तत्त्वों की मान्यता कैसी है। अतः यहाँ भी अन्य दर्शनिकों की तरह तत्त्व विवेचन आवश्यक है। गम्भीरता पूर्वक विचार करने पर प्रतीत यह होता है कि चार्वाक सिद्धान्त सर्वप्रथम अद्वैतवादी है। क्योंकि इस सिद्धान्त में भूत के अतिरिक्त और कुछ मान्य नहीं है। भूत [४] शब्द का एक अर्थ है सत्य। फलतः 'भूताद्वैत' का अर्थ होता है सत्याद्वैत। सत्य और सत् में किसी प्रकार का अन्तर किया नहीं जा सकता, अतः यह भूताद्वैतवाद उपनिषत्सिद्ध सदद्वैतवाद ही होकर विश्राम लेता है।

सम्भव है कि यहाँ यह प्रश्न उपस्थित किया जाय कि अन्य अद्वैतवादी लोग द्वैत को तात्त्विक तो मानते नहीं क्योंकि उनके मत में सारी सांस्कृरिक वस्तुएँ मिथ्यात्मक ही होती हैं। किन्तु यहाँ द्वैत को मिथ्या कहा नहीं जा सकता। क्योंकि चार्वाक के दण्डिक क्षेत्र में द्वैत को बिल्कुल अमान्यता देने पर दण्ड की प्रवृत्ति ही असम्भव हो जाती है। तो इस प्रश्न का उत्तर यह समझना चाहिए कि यहाँ का अद्वैत सर्वथा भेदासहिष्णु नहीं किन्तु भेदसहिष्णु मान्य है। सारांश यह कि काश्मीरीशैव सिद्धान्त के प्रकाशाद्वैत की तरह यहाँ भी सांसारिक सारी वस्तुओं को सत्य मानते हुए 'भूताद्वैत' माना जा सकता है।

चार्वाक मत में ब्रह्माद्वैत भी मान्य नहीं-

इस भूताद्वैत को 'ब्रह्माद्वैत' या 'सदद्वैत' कहा जा सकता है सही, परन्तु इन अद्वैतों का जो स्वरूप प्रथित है वह यहाँ बिलकुल मान्य नहीं है। क्योंकि अपने को ब्राह्माद्वैतवादी कहने वालों का दावा यह है कि जगत् का अभिन्न निमित-उपादान ब्रह्य, जो कि सर्वथा निर्गुण और निष्क्रिय होता है केवल वही मात्र सत्य तत्त्व है और यह सारा दृश्य जगत् उसी प्रकार उस निर्गुण, निष्क्रिय, निर्विकार ब्रहमात्मक अधिष्ठान पर अध्यस्त

---

(४) 'कथयामि ते भूतार्थम्' *- कालिदास, अभिज्ञान शाकुन्तल।*

(५) यस्य यस्य हि शास्त्रस्य यावती व्याप्तिरिष्यते। तावत्येव भवेद्विप्राः प्रमाण्यं तस्य तस्य च।
-शैवपरिभाषा और सांख्यप्रवचन-भाष्य-भूमिका।

है जिस प्रकार किसी मोटी रस्सी, डण्डे आदि पर सर्प, या ऊपर से चमकने वाली सीप आदि वस्तुओं पर चाँदी आदि। परन्तु यह जगदध्यास-मूलक मान्यता प्राप्त अद्वैत यहाँ इसलिये मान्य नहीं हो सकता कि इस दाण्डिक चार्वाक-दर्शन क्षेत्र में उक्त अद्वैत सम्भव नहीं। क्योंकि यह दर्शन, प्रवृत्ति-दर्शन है, निवृत्ति-दर्शन नहीं यह बात पहले भी बतलायी जा चुकी है। और 'दर्शन' की व्याख्या के अवसर पर यह भी बतलाया जा चुका है कि कोई भी दृष्टिकोण किसी विशेष क्षेत्र के लिए उपादेय होता है, सारे क्षेत्रों के लिए नहीं।[४]

चार्वाक मत में शून्याद्वैत भी नहीं-

जहाँ दण्डप्रवृत्ति में बाधा की उपस्थिति के भय से सदद्वैत या ब्रह्माद्वैत नहीं माना जा रहा है वहाँ शून्याद्वैत की मान्यता का प्रयोग प्रश्न तो बुद्धिपथ पर बिलकुल अवतीर्ण नहीं होना चाहिए। महाशून्य मात्र की सत्ता मान्य होने पर क्या अपराध होगा और कौन अपराधी? क्या दण्ड होगा और कौन दण्डधर एवं कौन दण्डप्राप्ति का अधिकारी? अतः तरमनिरर्वाणी माध्यमिक बौद्धों का शून्याद्वैत भी यहाँ मान्य नहीं हो सकता। जीते जी ही अपने को शून्य समझने वाला भला कैसे अपने को किसी रूप में दाण्डिक क्षेत्र से सम्पृक्त रख सकता है? यदि शून्याद्वैतियों की चतुष्कोटि-विनिर्मुक्ति तक विवेचक-दृष्टि डाली जाय फिर भी इस दाण्डिक क्षेत्र से उसका सम्पर्क संभव नहीं बतलाया जा सकता क्योंकि दण्डक्षेत्र सर्वथा 'सत्' दृष्टि की अपेक्षा रखने वाला है।

चार्वाक-मत में विज्ञानाद्वैत भी नहीं-

योगाचार साम्प्रदायिक बौद्धों का क्षणिक-विज्ञानाद्वयवाद भी यहाँ इसलिए आदृत नहीं हो सकता कि उस सिद्धान्त में भी बाह्य जगत् आन्तर क्षणिक-विज्ञान मात्र ही है, अतिरिक्त कुछ नहीं। अतः उस क्षणिक-विज्ञानद्वैत के अभ्युपगम पक्ष में भी दाण्डिक-प्रवृत्ति उसी प्रकार असम्भव प्रतीत होती है जिस प्रकार प्रदर्शित अन्य अद्वैत के अभ्पगम पक्ष में। क्षणिक विज्ञानाद्वैत पक्ष के अभ्युपगम में एक जटिल अनुपपत्ति यह प्रतीत होती है कि सन्तानान्तः पाती क्षणिक-विज्ञानों के बीच विद्यमान आपसी भेद भी स्वाश्रय रूप से अभिप्रेत विभिन्न विज्ञान का आकार ही होगा या नहीं? यदि क्षणिक विज्ञानापक्षियों की ओर से यह कहा जाय कि 'हाँ' तो दोनों क्षणिक विज्ञानों के अन्दर स्वीकार्य भेद का क्षणिक विज्ञानों से अभिन्न हो उठने के कारण दोनों विज्ञानों को अलग करने में वह बिलकुल समर्थ नहीं हो सकता। क्योंकि 'तद्व्यक्ति' और उससे अभिन्न होने वाले व्यक्ति से अभिन्न होने वाला व्यक्ति दोनों अभिन्न हो ही जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि भेदात्मक केन्द्र में जाकर जबकि दोनो क्षणिक-विज्ञान एक हो जायेंगे तब उनमें विभिन्नता कैसे रह पायेगी? और विभिन्नता लुप्त हो जाने पर क्षणिक विज्ञानाद्वैतियों के क्षणिकत्व-सिद्धान्त, आकार-सिद्धान्त और सन्तान-सिद्धान्त चौपट हो जायेंगे। जिसका कुफल यह होगा कि क्षणिक-विज्ञानवाद अपसिद्धान्त के गड्ढे में जो गिरेगा। इस अनुपपत्ति की चर्चा सम्भवतः आज तक किसी ने नहीं की है। अतः क्षणिक-विज्ञानवादियों

की ओर से भी इसका निराकरण का कोई मार्ग नहीं सोचा गया है। इस नवीन विवेचन के अनन्तर क्षणिक-विज्ञानपक्षियों की ओर से यह कहकर भी अपने पक्ष में दाण्डिक प्रवृत्ति का उपपादन नहीं किया जा सकता कि आकार-सिद्धान्त की मान्यता के कारण क्षणिक-विज्ञान के आकारभूत बाह्य जगत्गत भेद अक्षुण्ण रहेगा और सारी जागतिक व्यवस्था सरल रूप से उत्पन्न होगी। क्योंकि उक्त अनुपपत्ति की जागरूकता में क्षणिक-विज्ञानाद्वैत कैसे मान्य ठहराया जा सकता है?

चार्वाक मत में क्रियाद्वैत भी मान्य नहीं-

शून्याद्वैत को छोड़कर बौद्धों के सारे सिद्धान्तों को यदि पूर्ण गम्भीरता पूर्वक बौद्ध प्रकाश में देखा जाय तो यह अवश्य प्रतीत होगा कि क्या बाह्यास्तित्ववादी और क्या अबाह्यास्तित्ववादी, सभी बौद्ध क्रियाद्वैती है, क्योंकि ये सभी बौद्ध दार्शनिक निरन्वय विनाश को वस्तुओं का स्वभाव मानते हैं। विवेचन करने पर बौद्ध सम्मत विनाश को क्रिया के अतिरिक्त और कुछ कहा नहीं जा सकता। स्वभाव से स्वभावी को अतिरिक्त माना नहीं जा सकता। आग की दाहकता या प्रकाशकता को भला आग से अतिरिक्त कुछ कैसे कहा जा सकता है? इस प्रकार क्रियाद्वैतीतर बौद्धवाद के क्रिया द्वैत में पर्यवसित हो जाने पर उन बौद्ध मतवादों का समादर इस दाण्डिक-दर्शन-क्षेत्र में इसलिए सम्भव नहीं हो पाता कि क्रिया कभी क्रियाश्रित हो नहीं सकती। इसलिए क्रिया का भी कृत्य क्रिया पर लागू नहीं हो सकता। ऐसी परिस्थिति में क्रियात्मक-दण्ड-की प्रवृत्ति क्रियात्मक जगत के लिए कैसे सम्भव हो सकती? अत: इस दाण्डिक दर्शन क्षेत्र के लिए किसी भी बौद्धवाद को उपयुक्त नहीं ठहराया जा सकता।

चार्वाक मत और प्रकाशद्वैत-

काश्मीरी शैवों के प्रकाशाद्वैत पक्ष में यद्यपि सांसारिक वस्तुएँ सभी सत्य है। वर इस सिद्धान्त की सत्यता इतनी उदार है कि वह अलीक गमन-कुसुम, कूर्मरोम, शशविषाण आदि को भी अपने लिए अछूत नहीं मानती। अत: दाण्डनीतिक व्यवस्था प्रकाशाद्वैत के समादर पक्ष अनुपपन्न नहीं कहीं जा सकती। अत: यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि चार्वाक दर्शन अपने भूताद्वैत का स्थान प्रकाशद्वैत को ही क्यों नहीं दे डालता? किन्तु इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि उक्त प्रकाशाद्वैत सिद्धान्त में प्रकाशात्मक ज्ञान की ही मुख्यता है। सभी सांसारिक पदार्थ उस सिद्धान्त में भी क्षणिक विज्ञानवाद की तरह प्रकाशात्मक ज्ञान ही माने जा सकते हैं। परन्तु भूताद्वैतसिद्धान्त में परिस्थिति ऐसी मान्य नहीं है। इस सिद्धान्त में चैतन्यात्मक प्रकाश भूतों का ही स्वभाव होने के कारण तत्त्वत: भूत से अभिन्न और व्यवहारत: भूत का धर्म है सही, किन्तु प्रधानता है भूत की। कहने का तात्पर्य है यह कि प्रकाशाद्वैत सिद्धान्त में जहाँ भूत को भी प्रकाशात्मक अर्थात ज्ञानात्मक माना जाता है वहाँ भूताद्वैत सिद्धान्त में प्रकाशात्मक ज्ञान को भी भूत ही माना जाता है। दाण्डिक चार्वाक-दर्शन को भूतों को महत्व देना आवश्यक है। क्योंकि सारे

अपराध और दण्ड भूतात्मक विषय पर ही आधारित होते हैं। और विषय सारे ही भौतिक होने के नाते भूतात्मक ही होते हैं। अत: यहाँ प्रकाशाद्वैत को मान्यता न देकर, भूताद्वैत को ही मान्यता देना उचित ही है।

चार्वाक सिद्धान्त शब्दाद्वैत को भी नहीं मान सकता-

व्याकरण कोई क्यों न हो, उसका सम्बन्ध शब्द से ही होता है। अत: वैयाकरण सिद्धान्त में शब्द को ही सर्वाधिक महत्त्व देना अनिवार्य होता है। इसलिए व्याकरण दर्शन अन्याय सम्मत विभिन्न अद्वैतों के स्थान में 'शब्दद्वैत' को ही अभिषिक्त करता है इस शब्दाद्वैत को भूताद्वैत का स्थान यहाँ इसलिए नहीं दिया जा सकता कि शब्दद्वैत सिद्धान्त में शब्दों और उनके अर्थों को माना जाता है अभिन्न। परन्तु यह उचित इसलिए प्रतीत नहीं होता कि शब्द और इसके अर्थ इन दोनों को अभिन्न मान लेने पर आपत्ति यह आ जाती है कि 'लड्डू' शब्द का उच्चारण करते समय मुंह लडुए से भर जाना चाहिए। तलवार कहने पर मुंह कट जाना चाहिए और आग कहने पर मुंह जल जाना चाहिए। किन्तु ऐसा होता हुआ बिलकुल पाया जाता नहीं। अत: शब्दाद्वैतवाद अव्यावहारिक है। ऐसी परिस्थिति में व्यावहारिक सुव्यवस्था सम्पादन का सर्वाधिक अभिमान रखने वाला दाण्डिक चार्वाक दर्शन भला कैसे मान्यता दे सकता है शब्दाद्वैत को अपने क्षेत्र में?

चार्वाक मत और रसाद्वैत-

काव्य के सम्पर्क से लोकोत्तर आह्लाद पाने वाले रसिकों और वेगवान् जल-प्रभाव में भी कमल खिलाने वाले कवियों के लोकोत्तर संसार में रसाद्वैत को ही मान्यता है। इस सिद्धान्त में यह सारा संसार रस का ही परिणाम या विवर्त्त है। यहाँ उस रसाद्वैत को इसलिए नहीं अपनाया जा सकता कि यह दाण्डिक क्षेत्र उस कोमलता का क्षेत्र नहीं जिसकी वह उपज है। हाँ, यदि 'रस' की परिभाषा यह कि जाय कि रसित अर्थात् आस्वादित होने वाला है 'रस', तो फलत: इस शब्द का भी अर्थ भूत ही हो जाता है। सम्भव है कि कुछ लोग यहाँ यह जिज्ञासा उपस्थित करें कि भूतों के अन्दर पार्थिव पदार्थ की उपभोग्यता स्वरूप आस्वाद्यता सुस्पष्ट होने के कारण पृथिवी की, और जलक, आस्वादन होता ही है इसलिए जल को, एवं कुछ प्राणी ऐसे भी पाये जाते हैं, जो वायु को आहार बना कर अनेक काल तक जीवित रहते हैं, अत: वायु को आस्वाद्य होने के कारण भले ही रस कहा जा सके परन्तु तेज को कैसे रस कहा जा सकता?क्योंकि तेज का आस्वादन तो कोई करता नहीं? इसके उत्तर में रसिकों की ओर से चकोरपक्षी को उपस्थित किया जा सकता है। सुना जाता है कि चकोर आग खाता है और उससे अधिक सन्ताप होने पर चन्द्र किरणों का आस्वादन करके वह शान्ति लाभ करता है। अत: सारे भूत अस्वाद्य होते हैं और इसलिए सारे भूत 'रस' कहलाने के अधिकारी भी होते हैं। फलत: रसाद्वैत भूताद्वैत बन सकता है। सही है, जहाँ व्यवहार में छ: मात्र रस

हैं वहाँ नौ या उससे भी अधिक रस जो लोग बतलाते हैं और जिनके घर में अलौकिकता भी दूषण नहीं, भूषण ही है; उनके घर में क्या नहीं हो सकता है भला? परन्तु लौकिकता को ही सत्यता का मापदण्ड मानने वाला लोकायत-दर्शन उनके अलौकिक सिद्धान्त का अनुसरण कैसे और कहाँ तक कर सकता है?

और यदि कोई भूताद्वैत को ही रसाद्वैत कहकर सन्तोष करे तो इसमें किसी को कोई आपत्ति ही क्यों होनी चाहिए?

अस्तु। इन अद्वैतों के इस प्रासंगिक विवेचन से यह बात सुस्पष्ट हो गयी होगी कि ठोस वस्तुओं के ठोस व्यवहार को ही महत्त्व देने वाला और तदनुकूल ही तत्त्व को मान्यता देने वाला यह चार्वाक-दर्शन भूताद्वैत को ही अपना सकता है, अन्य अद्वैतों को कदापि नहीं। द्वैत साध्य दाण्डिक व्यवहार में अद्वैत की मान्यता प्रयुक्त बाधा क्यों नहीं हो पाती? इसका उत्तर यही समझना चाहिए कि यहाँ का अद्वैत अखण्ड नहीं, किन्तु सखंड मान्य है। यह पहले भी कहा जा चुका है। कहने का तात्पर्य यह कि एक वृक्ष यद्यपि एक ही होता है किन्तु उसके पत्ते, उसकी शाखाएं एवं उसके अवयव अनेक होते ही हैं। लोकायतिक तत्त्व 'भूत' भी उक्त वृक्ष आदि के समान अद्वैत अर्थात् एक ही है, परन्तु वृक्ष के अवयव शाखा पल्लव आदि की तरह उसके अवयव भूत पृथिवी, जल आदि एक नहीं अनेक होते हैं और उनके अवयव एवं अवयवावयव भौतिक भी अनेक होते हैं अतः भूताद्वैत तात्त्विक होने पर भी द्वैताश्रित दाण्डिक व्यवस्था में किसी प्रकार की बाधा नहीं उद्भावित हो सकती।

अब यहाँ नवीन प्रश्न यह उठाया जा सकता है कि अद्वैत को मानते हुए भी जब जागतिक व्यवहार-क्षेत्रगत सुव्यवस्था के लिए उस अद्वैत की द्वैतगर्भता को मान्यता देनी पड़ती है, तब किसी प्रकार का द्वैत मत ही क्यों न अपनाया जाय? तो इस सम्बंध में वक्तव्य यह कि द्वैत और अद्वैत इन दोनों के अन्दर विवेचन करने पर अद्वैत ही अधिक वैज्ञानिक प्रतीत होता है। क्योंकि द्वैत या अद्वैत की मान्यता की समस्या है वस्तुतः संख्या की मान्यता की समस्या। तत्त्वगत एकत्व या अनेकत्व पर ही आधारित है अद्वैत या द्वैत की मान्यता। किन्तु गहराई के साथ विचार करने पर यह सुस्पष्ट रूप से समझा जा सकता है कि एकत्व मात्र ही तात्त्विक संख्या है, द्वित्व-त्रित्व आदि नहीं। क्योंकि एकत्व को जिस प्रकार निरपेक्ष भाव से समझा जाता है द्वित्व-त्रित्व आदि को उस प्रकार नहीं समझा जा सकता। किसी वस्तु को 'यह एक है' यह समझते समय हम द्वित्व-त्रित्व आदि संख्याओं या उनके ज्ञान की अपेक्षा नहीं रखते। किन्तु जब किन्ही दो वस्तुओं को 'ये दो हैं' इस प्रकार द्वित्व संख्या का या द्वित्व संख्या युक्त रूप में द्वित्व संख्या के आश्रय का प्रत्यक्ष करने जाते हैं तो उस प्रत्यक्ष के पहले हमें द्वित्व के आश्रय भूत वस्तुओं में अलग-अलग 'एक यह है और एक यह' इस प्रकार एकत्व संख्या का ज्ञान कर ही लेना पड़ता है।

इससे यह स्पष्ट है कि 'एकत्व' है निरपेक्ष और द्वित्य आदि है-सापेक्ष। सत्य कभी सापेक्ष नहीं, अत: निरपेक्ष होने के कारण 'एकत्व' ही है तात्त्विक संख्या। द्वित्व-त्रित्व आदि परपरवर्ती संख्या की उत्पत्ति में पूर्व-सपूर्व संख्या को भी अपेक्षा बुद्धि के साथ कारण वैशेषिक लोग भी मानते ही हैं।

जबकि इस प्रकार किये गये विवेचन के फलस्वरूप यह सिद्ध हो जाता है कि तात्त्विक संख्या केवल एकत्व ही है, तब तत्त्व एक ही मानना पड़ेगा। संख्या की तात्त्विकता के अतिरिक्त तत्त्वनिष्ठता कुछ कहीं नहीं जा सकती। अत: तत्त्व को अद्वैत ही मानना उचित है। इसलिए द्वैत का आदर नहीं किया जा सकता।

चार्वाक मत में सापेक्ष-सत्य-सिद्धान्त मान्य नहीं हो सकता -

अभी ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो आया है कि सत्य सापेक्ष नहीं होता। परन्तु इसके सम्बंध में विप्रतिपत्ति उठायी जा सकती है। क्योंकि आजकल सापेक्ष-सत्य सिद्धान्त जोरों पर है। विदेश के एक सप्रतिभ दार्शनिक के द्वारा पुनरुद्भाचित होने के कारण भारत की तद्देशीय शिष्य-परम्परा में इस सिद्धान्त का प्रचार अधिक है। पुनरुद्भावित कहने का तात्पर्य यह है कि गम्भीर भाव से सोचने पर यह भलीभाँति प्रतीत हो सकता है कि यह भी सिद्धान्त बिलकुल अभारतीय तथा बिलकुल नूतन नहीं है। अद्वैत वेदान्त के प्रधान आचार्य शंकर और स्याद्वाद या अनेकान्तवाद के प्रवर्तक जैन तीर्थंकर ने इसी वाद का उद्भावन करके जागतिक समस्या का समन्वय उपस्थित किया था। इसी प्रकार अति नूतन प्रवर्तित कहा जाने वाला 'संभावना' सिद्धान्त भी, जिसके अन्दर गाणितिक 'दो और दो मिलकर चार ही हो सकते हैं' इस सिद्धान्त के भी परिवर्तन की संभावना बतलाई जाती है, वैसा नूतन तथा बिलकुल अभारतीय नहीं कहा जा सकता क्योंकि यहाँ का मायावादी सिद्धान्त भी तो बहुत दिनों से यही कहता आ रहा है कि मायामय संसार में असंभव को बिलकुल स्थान नहीं है-क्या नहीं हो सकता? माया के स्वभाव-वैचित्र्यवश सब कुछ हो सकता है। क्या इस 'सब कुछ' के अन्दर दो-दो मिलकर चार होने के स्थान में और ही कुछ हो जाना भी नहीं समा जाता है? परन्तु यह अनिश्चय सिद्धान्त आज भले ही मुझे भौतिक अन्वेषण के प्रति अग्रसर करे परन्तु आगे चलकर यह भी 'भाग्य सिद्धान्त' की तरह विपरीत फलप्रद निकल सकता है। यह मानना ही होगा कि भाग्य-सिद्धान्त भी श्रमगत महत्व के ख्यापनार्थ ही प्रवर्तित हुआ होगा। अन्यथा 'कमाने वाला खायेगा' इन्हीं नारों को बुलन्द करने वाला मीमांसा दर्शन उसे अपने घर में प्रमुख स्थान कभी नहीं देता। किन्तु फल उसका विपरीत यह हुआ कि लोगों ने 'भाग्य में होगा तो फल यों ही मिल जायेगा' यह सोचकर श्रम महत्त्व को अवतन कर दिया। अस्तु अब यहाँ इस प्रसंगात विचार को अधिक विस्तृत करने का प्रयोजन नहीं। मैंने जो इससे अव्यवहित पूर्वविहित विवेचन में यह कहा है कि 'सत्य कभी सापेक्ष नहीं होता' उसका अभिप्राय: यह है कि यदि

हम सत्य को सापेक्ष मानते हैं तो इसका अर्थ स्पष्ट यही होता है कि असत्य को भी हम कुछ देर के लिए सत्य मान लेते है। किन्तु यह सर्वथा सत्य पर आश्रित दाण्डिक चार्वाक सिद्धान्त जिसे कि केवल व्यक्ति से ही नहीं, व्यक्ति सम्पर्क द्वारा पूरे समाज में सम्पर्क है, इसे कभी किसी प्रकार नहीं मान सकता।

दूसरी बात यहाँ ध्यान देने की यह है कि वास्तविक रूप से सत्य कहलाने का अधिकारी तो वही हो सकता है जो सदा रहे। विचार करने पर संसार में ऐसी वस्तु केवल भूत ही मिल सकती है और कुछ नहीं। प्रलय काल में भी कम्पनशील अणुओं के रूप में भूत का अस्तित्त्व अक्षुण्ण रहता है[६] यह बात और दार्शनिक भी मानते हैं, अतः भूत ही तात्त्विक सत्य है। इस तात्त्विक सत्य को सापेक्ष सिद्धान्त का निदर्शन नहीं बनाया जा सकता है। प्रदर्शित सापेक्ष सत्य सिद्धान्तों के विरुद्ध आलोचना अपेक्षित होने पर इस प्रकार विवेचन उपस्थित किया जा सकता है कि सापेक्ष सत्यतावादी, अपने सापेक्ष सम्बंधी कथन को भी अर्थात् 'सत्य सापेक्ष ही होता है' इस कथन को भी एवं उसके मूलभूत अपने सिद्धान्त को भी सापेक्ष सत्य ही जानते हैं या नहीं। वे अपने कथन एवं सिद्धान्त को असत्य तो कह नहीं सकते। क्योंकि ऐसा मानने पर उनका तत्सम्बंधी ख्यापन असंगत हो बैठेगा। स्थिर सत्य भी उसे वे कैसे कहेंगे? क्योंकि उनके मत में सत्य तो सापेक्ष ही होगा और उसे सापेक्ष मानने पर वह वास्तविक सत्य नहीं होगा, कथञ्चित्क एवं कादाचित्क ही मान्य होगा। जिसका परिणाम यह होगा कि वे स्वयं अपने कथन एवं अपने सिद्धान्त को पाक्षिक अमान्यता दे बैठेंगे। फलतः उनका कथन एवं उनका सिद्धान्त सर्वथा मान्य नहीं बन पायेगा। अतः अस्थिर सापेक्ष सत्य सिद्धान्त के आधार पर इस स्थिर चार्वाकीय भूत-भौतिक सिद्धान्त की मान्यता को क्षति नहीं पहुँचायी जा सकती।



(६) दोधूयमानास्तिष्ठन्ति प्रलये परमाणवः। -पुराणवाक्य।

द्वितीय प्रकरण

चार्वाक्-दर्शन और प्रमाण

तत्त्व विवेचन के समय यही कहा जा सकता है कि तत्त्व को प्रमेय भी कहा जा सकता है। 'प्रमेय' की व्याख्या होती है 'प्रमा का विषय'।[७] प्रमा नियमत: प्रमाण सापेक्ष ही होती है। अत: लोगों के हृदय में यह जिज्ञासा अवश्य उदित हो सकती है कि दाण्डिक चार्वाक दर्शन में प्रमाण की क्या परिभाषा है एवं प्रमाण कितने और कौन-कौन मान्य हैं?

इसके उत्तर में यह समझ लेना अच्छा होगा कि 'प्रमाण' इस शब्द के अर्थ दो प्रकार होते हैं। एक यह कि 'प्रमा' के प्रति साधकतम अर्थात् असाधारण रूप में कारण होने वाला होता है प्रमाण' और दूसरी व्याख्या यह है कि 'प्रमा ही प्रमाण' इन्हीं दो अत्यन्त दूरवर्ती व्याख्याओं के कारण दर्शनों में जगह-जगह पर [८] वृत्तिप्रामाण्यवाद और अवृत्तिप्रामाण्यवाद का समादर होता हुआ पाया जाता है। प्रमाण की प्रदर्शित प्रथम व्याख्या के पक्ष में भी विवेचकों में एक महान् मतभेद यह पाया जाता है कि एक दल यदि किसी को प्रमाण होने के लिए प्रमाण और प्रभा के बीच एक और प्रमा-कारण का अस्तित्त्व आवश्यक मानता है, तो दूसरा दल ठक इसके विपरीत आग्रह पूर्वक यह कहता हुआ पाया जाता है कि प्रमा और उसके प्रति जिस कारण होने वाले के बीच और कोई नहीं आ टपकता है वही होता है प्रमा के प्रति असाधारण कारण होने के कारण प्रमाण। उदाहरण द्वारा इसे यो समझा और समझाया जा सकता है कि किसी भी वस्तु के चाक्षुष प्रत्यक्षस्थल में कुछ लोग यदि आँख को प्रमाण मानते हैं तो दूसरे कुछ लोग उस चाक्षुषप्रत्यक्ष के विषयभूत वस्तु के साथ होने वाले आँख से सन्निकर्ष को, अर्थात सम्बन्ध कों, प्रत्यक्ष प्रमाण स्वीकार करते हैं। जो लोग यह मानते हैं कि प्रमाण और प्रमा के बीच एक और प्रमा-कारण का अस्तित्व किसी को भी प्रमाण होने के लिए आवश्यक है, वे लोग उक्त प्रत्यक्षस्थल में आंख को प्रमाण मानते हैं क्योंकि सन्निकर्ष वहाँ मध्यवर्ती कारण हो सकता है। और जो लोग प्रमाण और प्रमा के बीच और किसी के होने को किसी की प्रमाणता में बाधक मानते हैं वे लोग आँख को प्रमाण वहाँ न मान कर, विषय के साथ होने वाले उसके

---

(७) प्रमाकरणं प्रमाणम्। ---तर्कसंग्रह। प्रमीयतेऽनेनेति निर्वचनात् प्रमां प्रति करणत्वमवगम्यते। *-सांख्यतत्त्वकौमुदी।*

(८) असन्दिग्धाविपरीतानधिगतविषया चित्तवृत्ति:, बोधश्च पौरुषेय: फलं प्रमा, तत्साधनं प्रमाणम्। *--सांख्यतत्त्वकौमुदी*

सम्बंध को प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं। जैसे किसी फूल को यदि कोई देखता है तो उस 'देखना' स्वरूप प्रत्यक्षात्मक प्रमा के प्रति प्रदर्शित प्रथम मतवाद में आँख होती है प्रत्यक्ष प्रमाण और प्रदर्शित द्वितीय मतवाद में प्रमाण होता है आँख और फूल के बीच होने वाला संयोग।

किन्तु ये सारी बातें उसी पक्ष की हैं जिस पक्ष में 'प्रमात्मक ज्ञान के प्रति असाधारण रूप से कारण होने वालों को माना जाता है 'प्रमाण'। जिस पक्ष में प्रमिति को अर्थात प्रमात्मक ज्ञान को ही प्रमाण माना जाता है उस पक्ष में उक्त उदाहरण स्थल में फूल को देखना ही है प्रमाण। यहाँ चार्वाकीय दाण्डिक दर्शन में प्रमा को ही प्रमाणता मान्य है। अर्थात् प्रमाण शब्द का वाच्य अर्थ प्रमा ही विवक्षित है, प्रमा-करण नहीं। क्योंकि न्यायपति जब साक्षी से प्रमाण माँगता है तब वह यहीं कहता है कि 'मैंने अपनी आँखों देखा' इससे यह स्पष्ट है कि देखना स्वरूप प्रमा ही वहाँ प्रमाण रूप में उपन्यस्त होती है।

प्रमा

प्रमा के करण को प्रमाण माना जाय या प्रमा को, दोनों ही पक्षों में प्रमा का परिचय आवश्यक है। सभी ज्ञानों को प्रथमतः 'प्रमा' और 'अप्रमा' इस रूप से दो भागों में विभक्त समझना चाहिये।[६] जिस पक्ष में प्रमाण प्रमा के प्रति करण होने वाले का माना जाता है उस पक्ष में कोई भी ज्ञान प्रामाणिक इसलिए होता है कि वह 'प्रामाणिक' अर्थात् प्रमाणजन्य होता है। परन्तु इस प्रकार निर्वचन करने पर अन्योन्याश्रय दोष आपन्न होता है। क्योंकि कोई भी ज्ञान प्रमा होगा, इसके लिए जिस प्रमाण वस्तु की अपेक्षा मान्य होगी, वह, प्रमाण होने में उसी ज्ञान के प्रमा होने की अपेक्षा कर बैठगा। अतः विवेचकों ने प्रमा की परिभाषा यह की है कि 'यथार्थ रूप से होने वाला'अनुभवात्मक ज्ञान होता है 'प्रमा'। कहने का तात्पर्य यह है कि ज्ञान का एक प्रकार विभाजन, जिस प्रकार 'प्रमा' और 'अप्रमा' इस रूप में किया गया है उसी प्रकार एक और भी विभाजन ज्ञान का मान्य है। वह विभाजन मान्य है 'अनुभव' और 'स्मरण' के रूप में। फलतः अनुभव का परिचय इस प्रकार अनायास दिया जा सकता है कि 'स्मृत्यात्मक ज्ञान से भिन्न ज्ञान है अनुभव'। यह अनुभव प्रमा कहलाने का अधिकारी होता है तब, जब कि परिस्थिति किंवा तदापन्न को ही वह विषय बनाता है। इसीलिये उक्त परिभाषा के अन्दर 'यथार्थ' शब्द का उल्लेख हुआ। यथार्थ का अर्थ होता है 'अर्थानुरूप'। अर्थ पद से वर्तमान परिस्थिति एवं तदापन्न का ग्रहण कर्त्तव्य है। फलतः अभिप्राय यह प्राप्त होता है कि परिस्थिति और पारिस्थितिक इन दोनों के अनुरूप होने वाला ज्ञान है प्रमा। इसी बात को रूपान्तर से यों भी कहा जा सकता है कि 'जो जहाँ जिस रूप विद्यमान हो उसे वहाँ उसी रूप में समझना है यथार्थ अनुभव। और वहीं है प्रमा। एतदतिरिक्त यह भी परिभाषा प्रमा की की जा सकती है कि 'जिस ज्ञान

---

(६) अप्रमा व प्रमा चेति ज्ञान द्विविधमिष्यते। तच्छून्ये तन्मतिर्यास्यादप्रमा सा निरूपिता॥
-भाषापरिच्छेद।

में विषय होने वाला अपने में अविद्यमान धर्म से युक्त रूप में विषय न हो पाये वह ज्ञान होता है प्रमा।' इन तीन निर्वचनों के अन्दर प्रमा का प्रथम और तृतीय प्रदर्शित निर्वचन हैं निर्विकल्पक साधारण और मध्यवर्ती द्वितीय निर्वचन है प्रमा को सविकल्पक मात्र मान कर किया जाने वाला। यहाँ निर्विकल्पक की अमान्यता के कारण केवल द्वितीय परिभाषा को ही मान्यता देकर भी निर्वाह में किसी प्रकार की बाधा नहीं उपस्थित की जा सकती है। यही प्रमा ज्ञान इस सिद्धान्त में प्रमाण भी कहा जाता है। यदि प्रमाण होने के लिये 'प्रमा के प्रति करण होना अनिवार्य मान्य हो, तब भी विषय-ज्ञान को प्रमाण इस प्रकार बनाया जा सकता है कि उस ज्ञानात्मक प्रमाण के अव्यवहित उत्तर होने वाली हानबुद्धि, उपादानबुद्धि और उपेक्षाबुद्धि इनको प्रमाज्ञान माना जाय।'[10] कहने का तात्पर्य यह है कि किसी भी वस्तु को देखने के बाद द्रष्टा को उस वस्तु के सम्बन्ध में 'यह वस्तु मेरे काम की नहीं है अत: हेय है अर्थात् त्याज्य है' इस प्रकार वस्तुगत त्याज्यता का ज्ञान, या 'यह वस्तु मेरे लिये उपादेय है' इस प्रकार वस्तुगत उपेक्षणीयता अर्थात् अहेयोपादेयता का ज्ञान अवश्य होता है। तदनुसार ही वह द्रष्टा उसके अनन्तर उस वस्तु की ओर अग्रसर होता है उसे लेने के लिये। अथवा उस वस्तु की ओर अग्रसर न होकर विमुख भाव से अन्य और चला जाता है। किंवा ताटस्थ्यात्मक औदास्य का अवलम्बन करके यों ही देखता रह जाता है। ये परिस्थितियाँ सर्वमान्य हैं। क्योंकि इनका प्रत्यक्षात्मक अनुभव सभी को है। इन परिस्थितियों के अनुसार प्रदर्शित विषयगत हानबुद्धि, उपादानबुद्धि और उपेक्षाबुद्धि को प्रमात्मक ज्ञान मान लेने पर अनायास उसके पूर्व होने वाले विषय-ज्ञान को 'प्रमा के प्रति करण अर्थात् असाधारण कारण' होने के नाते प्रमाण माना जा सकता है। इस पद्धति का आश्रयण अन्य दार्शनिकों ने भी स्पष्ट रूप से किया है। अत: इसके विरोध की अधिक शंका नहीं है।

प्रमिति को प्रमाण मानने के पक्ष में प्रबल युक्ति यह है कि 'ज्ञापक' अर्थात् जिसके द्वारा वस्तु का विषयीकरण हो उसी को प्रमाण मानना उचित है। किसी वस्तु को विषय बनाना यह स्वभाव विषयी ज्ञान के अतिरिक्त भला और किसका हो सकता है? अत: ज्ञान को ही प्रमाण मानना उचित है। इसकी पुष्टि शांकर नित्य-विज्ञानाद्वैत, बौद्ध के क्षणिक-विज्ञानाद्वैत एवं शैवों के प्रकाशाद्वैत इन मतवादों से भी प्राप्त होती है। विषय और विषयी के बीच होने वाला सम्बंध तात्विक तादात्म्य होता है यहाँ, यह बात पहले भी बतलायी जा चुकी है।

रही बात इन्द्रिय अनुमान आदि के प्रामाण्य सम्बन्धी प्रसृत लोक व्याहारगत औचित्य की, तो इस सम्बन्ध में ज्ञातव्य यह है कि उनमें होने वाला प्रामाण्य सम्बन्धी व्यवहार उसी प्रकार गौड़ मान्य है, जिस प्रकार आयुष्कर धृत को साक्षात् आयु ही लोग

---

(१०) यदासन्निकर्षस्तदा ज्ञानम्; यदा ज्ञान तदाज्ञानोपादानोपेक्षाबुद्धयःफलम्।

–न्यायदर्शन, वात्स्यायन भाष्य।

कह दिया करते हैं। क्योंकि वह अपेक्षाकृत अन्य वस्तुओं से अधिक आयुष्कर होता है।

सारांश यह कि प्रामाण्य को गौण और मुख्य इस प्रकार दो भागों में विभक्त करके प्रमात्मक ज्ञान में मुख्य प्रामाण्य और इन्द्रिय अनुमान आदि में गौण प्रामाण्य को मान्यता देकर प्रमाण सम्बन्धी वास्तविकता और प्रमाण सम्बन्धी लोक व्यवहार में सामञ्जस्य उपस्थित किया जा सकता है।

सम्भव है कि यहाँ कुछ लोगों द्वारा वह प्रश्न उपस्थापित हो-कि ज्ञान साधन को प्रमाण न मान कर ज्ञान को प्रमाण मानने पर अप्रमाज्ञान भी प्रमाण क्यों नहीं हो जायेगा? तो इसका उत्तर यह समझना चाहिये कि जहाँ ज्ञात यथार्थ अर्थात् परिस्थिति के अनुरूप होता है वहाँ जिस प्रकार उसका विद्यमान वस्तु के साथ ज्ञान का विषय-विषयिभाव होता है वैसा वहाँ नहीं हो पाता है जहाँ ज्ञान परिस्थिति के विपरीत अर्थात् अननुरूप होता है। क्योंकि वहाँ का ज्ञान विद्यमान वस्तु के साथ वास्तविक तादात्म्यापन्न नहीं होता है। वहाँ ज्ञान और विषय के बीच होने वाला तादत्म्यसचमुच। तादात्म्य नहीं किन्तु तादात्म्याभास होता है। यदि यहाँ यह कहा जाय कि धर्म और धर्मों इन दोनों के बीच तादात्म्य सम्बन्ध की मान्यता प्रयुक्त द्रष्टगत फलता: शरीरगतज्ञान को द्रष्टृशरीरतादात्म्य भले ही कदाचित् युक्ति संगत हो किन्तु द्रष्टा से असंश्लिष्ट घट, पट आदि विषय के साथ द्रष्टृशरीरगत ज्ञान का वास्तविक तादात्म्यात्मक विषय-विषयिभावकसे संगत कहा जा सकता है? तो इनका उत्तर यह देना चाहिए कि भूताद्वैत की मान्यता प्रयुक्त उक्त अनुपपत्ति निवारणीय है। कहने का तात्पर्य यह है कि अद्वैत भूततत्त्व का परम्परया तादात्म्य दोनों ओर होने के कारण द्रष्टृशरीरगत ज्ञान का तादात्म्य घट, पट आदि-द्रष्टृ-संशलिष्ट घट-पट आदि विषयों के साथ होना असम्भव नहीं। अप्रमाज्ञान स्थल में विषय वहाँ रहता ही नहीं कि उस पर ज्ञान तादात्म्य जा सकेगा। अत: अप्रमा और प्रमा के विभाजन को भूताद्वैत की मान्यता प्रयुक्त क्षति नहीं पहुंचायी जा सकती। प्रमा के इस विवेचन से अप्रमाएँ तो स्वत: विवेचित हो जाती हैं। क्योंकि 'प्रमा' और "अप्रमा' ये दोनों ही शब्द परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं। यह स्पष्ट मालूम होता है कि ये दोनों परस्पर विरोधी अर्थों के प्रतिपादक है। तदनुसार प्रमात्मक ज्ञान से भिन्न होने वाला ज्ञान है अप्रमाज्ञान। यह निर्वचन अप्रमा का अनायास प्राप्त हो जाता है। अप्रमा शब्द से ही यह मालूम हो जाता है कि 'जो जैसा और जहाँ न हो उसे वैसा और वहाँ समझना अप्रमाज्ञान है।"[११] परन्तु यहाँ एक जटिल प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इस भूताद्वैत सिद्धान्त में, फलत: भूतचैतन्य सिद्धान्त में प्रमा और अप्रमा का भेद होना कैसे सम्भव है? क्योंकि जब कि भूतचैतन्य ही यहाँ सर्वथा मान्य है जिसका विस्तृत विवेचन आगे किया जायेगा तब ज्ञानोदय में आगन्तुक किसी की अपेक्षा तो बतलायी नहीं जा सकती यत्प्रयुक्त प्रमा और अप्रमा रूप से ज्ञान का विभाजन सम्भव हो सके?

---

(११) तच्छून्ये तन्मतियास्यादप्रमा सा निरुपिता।

-भाषा-परिच्छेद गुणनिरूपण।

इसका उत्तर इस भूताद्वैत एवं भूतचैतन्य-वादी की ओर से विस्तृत रूप में यह समझना चाहिए कि प्रमा और अप्रमा इन दोनों में महान् अन्तर होने का कारण यह होता है कि प्रमा के उदय में उसके आश्रय और विषय द्विविध भूत अपेक्षित होते हैं। इन दोनों भूतों के सम्मिलित प्रभाव से प्रमात्मक ज्ञान का उदय होता है। परन्तु अप्रमात्मक ज्ञान के उदय स्थल में यह परिस्थिति होती नहीं। क्योंकि उसका विषयभूत भूत, तत्त्वत: वहाँ होता नहीं। उदाहरण के द्वारा स्प्ष्ट रूप से इसे यों समझा और समझाया जा सकता है कि सामने विद्यमान किसी भूत को जैसे किसी फूल या फल को जब हम देखते हैं तब वहाँ वह फूल या फल-आत्मक भूत एवं ज्ञातृ-भूत शरीर ये दोनों भूत उसे उत्पन्न करते हैं अत: वह ज्ञान प्रमात्मक हो पाता है। किन्तु जब परिस्थिति यह होती है कि फूल या फल सामने होता नहीं किन्तु ज्ञातृ-भूत देह ही केवल उपादान के रूप में सामने अविद्यमान फूल या फल के ज्ञान को उत्पन्न कर लेता है तो प्रमा होने के लिए अपेक्षित निमित्तात्मक विषयभूत वहाँ होता नहीं। अकेला शरीरात्मक उपादान ही उस ज्ञान को उत्पन्न करता है, इसलिए उपादान और निमित्त दोनों की उपस्थिति वहाँ होती नहीं। अत: प्रमा होने के लिए अपेक्षित साधन की पूर्णता न होने के कारण, फूल या फल के न होते हुए भी होने वाला 'यह फूल है' 'यह फल है' इत्यादि ज्ञान प्रमा न होकर, अप्रमात्मक होता है।

इस विवेचन के अनन्तर यह प्रश्न यहाँ उठाया जा सकता है कि अप्रमात्मक ज्ञान जब कि केवल ज्ञातृभूत शरीर से निष्पन्न होता है तब अप्रमात्मक ज्ञान का उदय सदा होना चाहिए। और यदि ऐसा माना जाता है कि प्रमाज्ञान काल से अतिरिक्त सदैव अप्रमा ज्ञान होता ही रहता है तो यह कथन इसलिए संगत नहीं कहा जा सकेगा कि गाढ़ मूर्च्छित एर्व गाढ़ सुषुप्त का कोई ज्ञान होता हुआ नहीं पाया जाता।

तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि ज्ञान 'स्पष्ट' और ' अस्पष्ट' इन दो भागों में विभक्त होते हैं इत्यादि विवेचन आगे किया जाने वाला है तदनुसार अस्पष्ट अप्रमाज्ञान शरीर में सर्वदा माना जा सकता है। ज्ञान की स्पष्टता के लिए शरीरिक अवस्था विशेष, अपेक्षित हुआ करता है और शारीरिक अवस्था विशेष के प्रति नियामक होती है शरीर के ही अवयव विशेष होने वाले मन की विभिन्न गति। जिसका परिचय आगे चल कर किये जाने वाले विंवेचनान्तर से मिलेगा।

चार्वाक मत में प्रमात्व स्वत: या परत:?

अब यहाँ जिज्ञासा यह उदित हो सकती है कि प्रमा और अप्रमा इस प्रकार ज्ञान-द्वैविध्य की मान्यता अन्य दर्शनों की तरह चार्वाक दर्शन में भी मान्य होने पर यह भी विवेचन कर लेना उचित है कि ज्ञानगत प्रमात्व एवं अप्रमात्व स्वत: गृहीत होते हैं या परत:? इस प्रश्न का सरल रूप से अभिप्राय यह समझना चाहिए कि किसी भी वस्तु के सम्बन्ध में ज्ञान होने पर उस ज्ञान में होने वाला प्रमात्व या अप्रमात्व, ज्ञान के लिए निश्चित कारणों से ही हो जाता है या उसके लिए किसी अन्य कारण की भी अपेक्षा होती है? एवं किसी भी विषय

का जब ज्ञान होता है तब ज्ञाता ज्ञान होने के साथ ही अपने ज्ञान को प्रमा अर्थात यथार्थ अथवा अप्रमा अर्थात् अयथार्थ भी समझ लेता है, या परिस्थिति का अध्ययन करके कुछ देर बाद यह निर्णय वह ज्ञाता कर पाता है कि होने वाला मेरा ज्ञान यथार्थ या अयथार्थ हुआ था? इस सम्बन्ध में दार्शनिकों के अन्दर होने वाला विवाद अत्यन्त महान् पाया जाता है।

न्यायिक और वैशेषिक इन दोनों दार्शनिकों में इस सम्बन्ध में भी मतैक्य है।[१२] वे दोनों कहते हैं कि कोई भी ज्ञान, स्वतः प्रमात्मक या अप्रमात्मक नहीं हो जाता है अर्थात् ज्ञानोत्पत्ति के लिए निर्धारित कारणों से ही वह ज्ञान प्रमात्मक या अप्रमात्मक नहीं हो जाता है। ज्ञान के प्रमात्मक होने के लिए ज्ञान के साधारण कारणों के अतिरिक्त 'गुण' की, और ज्ञान के अप्रमात्मक होने के लिए ज्ञान के साधारण कारणों के अतिरिक्त 'दोष' की अपेक्षा होती है। फलितार्थ यह है कि वे दोनों दार्शनिक ज्ञान की प्रमा या अप्रमा रूप से उत्पत्ति में ज्ञान के प्रति साधारण रूप से कारण होने वाली वस्तुओं के अतिरिक्त गुण और दोष इनका भी अस्तित्व अपेक्षित मानते हैं। प्रमारूप से उत्पन्न होने के लिए अपेक्षित होता है गुण और अप्रमारूप से उत्पन्न होने के लिए अपेक्षित होता है 'दोष' ऐसा मानते हैं।

अपने इस मतवाद का विशकलन वे इस प्रकार करते हैं कि–प्रत्यक्ष के प्रति विषय के साथ होने वाला इन्द्रिय का सन्निकर्ष है साधारण कारण और वही सन्निकर्ष यदि विशेषणयुक्त विशेष्य के साथ होता है तब कहलाता है 'गुण'।[१३] इस गुण के अस्तित्व के कारण ही प्रत्यक्षात्मक ज्ञान होता है प्रमात्मक और इस गुण के न होने एवं दोष के होने के कारण ही केवल साधारण विशेष्य–सन्निकर्षात्मक कारण से होने वाला प्रत्यक्षात्मक ज्ञान हो जाता है अप्रमात्मक। उदाहरण के द्वारा इसे यों समझा जा सकता है कि शंख के साथ आँख का संयोग स्थापित होने पर होने वाला 'यह शंख सफेद है' इस प्रकार होने वाला प्रत्यक्षात्मक ज्ञान होता है प्रमात्मक। क्योंकि जिस विशेष्यभूत शंख के साथ आँख जुटती है वह 'यह शंख सफेद है' इस प्रकार होने वाले ज्ञान में विशेषण रूप से विषय होने वाले श्वेत रूप से तत्त्वतः युक्त होता है। अतः वहाँ का चक्षुस्संन्निकर्ष प्रत्यक्ष के लिए निर्धारित 'गुण' हो जाता है। किन्तु वहाँ ही यदि उक्त ज्ञान के स्थान में ऐसा ज्ञान किया जाय कि 'यह शंख पीला है' तो यह ज्ञान प्रमा न होकर अप्रमात्मक हो जाता है। क्योंकि इस ज्ञान में विशेषण रूप से विषय होने वाला पीतरूप तत्त्वतः उस रूप में नहीं होता अतः वहाँ का चक्षुस्संन्निकर्ष तत्त्वतः विशेषणयुक्त शंख के साथ होता नहीं। अप्रमा के प्रति विशेष कारण रूप से निर्धारित 'दोष' वहाँ द्रष्टा की आँख में अवश्य रहता है जिसके कारण वहाँ वह

तत्र ब्रूमः, सत्यं न स्वतः प्रमाण्यं शक्यावधारणम्। परतस्त्वनभ्यासदशापन्नेषु प्रवृत्तिसामर्थ्यादिव तद्गम्यते। *–न्यायव:त्तिक, तात्पर्यटीका।*

(१२) प्रमात्वं न स्वतोग्राह्यं संशयानुपपत्तितः –भाषापरिच्छेद।

(१३) प्रत्यक्षे तु विशेष्येण विशेषणवता समम्। सन्निकर्षों गुणस्तुस्यादथत्वनुमिती पुनः ॥१३२॥ *–भाषापरिच्छेद, गुणनिरूपण।*

द्रष्टा सफेद शंख को पीला देखता है।

'अनुमति' ज्ञान के प्रति 'परामर्श' नाम का ज्ञान होता है साधारण रूप के कारण। क्योंकि उसके बिना क्या प्रमात्मक या क्या अप्रमात्मक किसी प्रकार की अनुमति होती नहीं।

किन्तु वहीं परामर्शज्ञान यदि प्रकृत साध्य से युक्त पक्ष को विशेष्य रूप से स्वीकार करता है, तब वह कहलाता है अनुमिति स्थल के लिए गुण।[१४] अत: ऐसे परामर्श से होने वाली अनुमति होती है प्रमात्मक। और यदि परामर्श उक्त प्रकार न होकर ऐसे पक्षात्मक धर्मी को विशेष्य रूप से स्वीकार कर लेता है जो कि अनुमिति में विधेयभूत साध्यात्मक वस्तु से युक्त नहीं होता तब वह परामर्श मात्र कहला सकता है अनुमिति प्रमा के लिए अपेक्षित गुण नहीं। अत: वहाँ की अनुमिति प्रमात्मक नहीं हो पाती। साध्यरहित पक्ष को विशेष्य रूप से स्वीकार कर लेने वाला परामर्श अवश्य किसी न किसी दोष के कारण ही होता है, अत: अप्रमा के प्रति असाधारण रूप से कारण होने वाला कोई न कोई दोष भी वहां रहता ही है, अत: वहां का अनुमित्यात्यात्मक ज्ञान प्रमा न होकर अप्रमात्मक हो जाता है। उदाहरण के द्वारा इसे यों समझा एवं समझाया जा सकता है कि यदि 'यह पर्वत आग के प्रति व्याप्त अर्थात् उसके बिना न हो सकने वाले धूम से युक्त है' 'एतादृश धूम वाला है' ऐसा परामर्श ज्ञान होता है तब वहाँ होने वाली 'पर्वत आग वाला है' यह अनुमिति प्रमात्मक होती है। क्योंकि उक्त प्रकार अनुमिति के पक्ष रूप से विषय होने वाला पर्वत सचमुच आग स्वरूप साध्य से युक्त होता है। किन्तु यदि आग को साध्य बनाकर की जाने वाली अनुमिति स्थल में उक्त पर्वत की जगह जलाशय को पक्ष बना लिया जाय तो वहाँ 'यह जलाशय आग वाला है' इस प्रकार होने वाली अनुमिति प्रमात्मक नहीं, अप्रमात्मक होगी। क्योंकि इस अनुमिति के प्रति कारण रूप में स्वीकर्तव्य परामर्श होगा 'यह जलाशय आग के प्रति व्याप्त' अर्थात् अविनाभूत होने वाले धूम से युक्त है'। यहाँ पक्ष रूप से गृहीत होने वाला जलाशय तत्त्वत: अग्नि स्वरूप साध्य से युक्त होता नहीं अत: यहाँ का परामर्श गुण हो पाता नहीं। इसलिए प्रमात्मक ज्ञान के प्रति असाधारण रूप से कारण होने वाले गुण के अभाव में होने वाली 'यह जलाशय अग्नियुक्त है' यह अनुमिति भला कैसे प्रमात्मक हो सकती?

उपमिति ज्ञान स्थल में परिचित पदार्थ के सादृश्य का ज्ञान जबकि तत्त्वत: वाच्यभूत धर्मी को विशेष्य बनाता है तब वह सादृश्य का ज्ञान होता है 'गुण'।[१५] अत: ऐसे सादृश्य-ज्ञान के रहने पर होने वाली उपमिति होती है प्रमात्मक। और प्रकृति शब्द के अवाच्यभूत वस्तु को यदि सादृश्य-ज्ञान विशेष्य रूप से स्वीकार करता है तब वह सादृश्य ज्ञान उपमिति प्रमा होने के लिए अपेक्षित गुण हो पाता नहीं, अत: प्रमा होने के लिए

---

(१४) पक्षे साध्यविशिष्टे तु परामर्शों गुणों भवेत् ॥१३३॥ *-भाषापरिच्छेद।*

(१५) शक्ये सादृश्यबुद्धिस्तु भवेदुपमितौ गुण: ॥१३३॥ *-भाषापरिच्छेद।*

अपेक्षित गुण के अभाव के कारण वहाँ की उपमिति प्रमात्मक होती नहीं। उदाहरण के द्वारा इसे यो समझना चाहिए कि किसी एक व्यक्ति को 'मुद्गपर्णी' यह नाम तो श्रुत है परन्तु वह वस्तु कौन-सी है जिसे 'मुद्गपर्णी' नाम से पुकारा जाता है यह मालूम नहीं, उसे यदि किसी विश्वसनीय व्यक्ति ने कहा कि 'मुद्गपर्णी' वन्य बूटी मूँग जैसी अर्थात् मूँग के पौधे-जैसी होती है, तो मुद्गपणी बूटी खोजने वाला वह व्यक्ति उस बूटी को देख कर उक्त विश्वसनीय व्यक्ति के उक्त वाक्य को स्मरण करते हुए इस प्रकार सादृश्य ज्ञान करता है कि 'यह बूटी मूंग के पौधे-जैसी है।' उस व्यक्ति का इस प्रकार होने वाला सादृश्य ज्ञान यदि सचमुच मुद्गपर्णी बूटी के सम्बन्ध में ही होगा। सचमुच मुद्गपर्णी बूटी को ही विशेष्य रूप से अपनायेगा तब वह होगा उममिति-प्रमा के लिए अपेक्षित गुण। इसीलिए तादृश सादृश्य ज्ञानात्मक गुण के रहने के कारण वहाँ होने वाली वह 'यही विषहरणी है' विषहरणी नाम से कही जाने वाली बूटी यही है' यह उपमिति होती है प्रमा। और यदि उपमिति प्रमा के लिए गुण रूप से अपेक्षित वह सादृश्य ज्ञान, मुद्गपर्णी के सम्बन्ध में न होकर अन्य किसी वन्य बूटी के बारे में हो बैठेगी तो वह सादृश्यज्ञान गुण कहलाने का अधिकारी नहीं हो पायेगा। अतः अपेक्षित 'गुण' के अभाव प्रयुक्त वहाँ की 'यह है विषहरणी' यह उपमिति प्रमा नहीं, अप्रमा होगी।

शाब्दबोध स्थल के लिए प्रमात्मक योग्यता-ज्ञान होता है गुण।[१६] उसके रहने पर होने वाला शाब्दबोध होता है प्रमात्मक और उसके न रहने पर होने वाला शाब्दबोध हो जाता है अप्रमात्मक। कहने का तात्पर्य यह कि शाब्दबोध के प्रति 'अर्थाबोध' स्वरूप, योग्यता का ज्ञान होता है साधारण रूप से कारण किन्तु वही जबकि अप्रमात्मक न होकर प्रमात्मक होता है तब वह गुण होने के कारण अपने कार्यभूत शाब्दबोध का प्रमात्मक बना पाता है अन्यथा नहीं। अर्थात् पारस्परिक सम्बन्ध के अयोग्य वस्तुओं में यदि योग्यता का ज्ञान किया जाता है तब वह शाब्दबोध के लिए अपेक्षित गुण हो पाता नहीं, अतः उससे उत्पन्न होने वाला शाब्दबोध अर्थात् वाक्यार्थ का बोध प्रमा नहीं होता, अप्रमा हो जाता है। उदाहरण द्वारा इसे इस प्रकार समझा जा सकता है कि यदि कोई व्यक्ति किसी से यह कहता है कि 'जल से इस पौधे को सींचो तो इस वाक्य से होने वाला शाब्दबोध होता है प्रमा। क्योंकि वहाँ शाब्दबोध होता है प्रमा। क्योंकि वहाँ शाब्दबोध के प्रति कारण रूप से अपेक्षित होने वाला योग्यताज्ञान अर्थात्, 'जल, पौधा और सींचना ये आपस में सम्बंध के योग्य हैं' यह, प्रमात्मक होने के कारण होता है गुण। अतः शाब्दबोधात्मक कार्य के प्रति असाधारण रूप से कारण होने वाले उक्त योग्यताप्रमात्मक गुण के अस्तित्व के फलस्वरूप वहाँ का शाब्दबोध होता हैं प्रमात्मक। किन्तु 'आग से पौधे को सींचो' इस वाक्य से होने वाला शब्दबोध प्रमात्मक होता नहीं। क्योंकि वहाँ अपेक्षित योग्यताज्ञान होगा 'आग',

---

(१६) शाब्दबोध योग्यतायाः तात्पर्यस्याथवा प्रमा। गुणःस्यात्....................॥१३४॥

-भाषापरिच्छेद।

पौधा और सींचना ये आपस में परस्पर संबंध योग्य हैं' यह। यह ज्ञान प्रमात्मक हो सकता नहीं। क्योंकि आग और सींचना इन दोनों का सम्बन्ध सर्वथा बाधित अर्थात असम्भव है। ऐसी परिस्थिति में वह योग्यताज्ञान अवश्य अप्रमा हो जायेगा, प्रमा नहीं हो पायेगा। सुतरां प्रमा के लिए अपेक्षित प्रमात्मक योग्यताज्ञान स्वरूप शाब्दबोध स्थलीय गुण न होने के कारण 'आग से पौधों को सींचो' इस वाक्य से होने वाला शाब्दबोध प्रमा होता नहीं, अप्रमा हो जाता है।

नैयायिक और वैशेषिकों के इस विस्तृत वक्तव्य का सारांश यह होता है कि उक्त चारो प्रकार अनुभवों के प्रमात्मक होने के लिए विभिन्न पारिभाषिक गुण को कारण मानना अनिवार्य है। ऐसी परिस्थिति में ज्ञान प्रमा होने के लिए ज्ञान के प्रति साधारण रूप से कारण होने वालों से अतिरिक्त गुण की उपस्थिति अव्यभिचरित रूप में अपेक्षित होने के कारण प्रमात्व को प्रमोत्पत्ति के सम्बंध में 'स्वतः' नहीं कहा जा सकता। अतः प्रमात्व के सम्बन्ध में उत्पत्तिगत परतस्त्व ही मान्य है।

वेदान्ती आदि अन्य दार्शनिकों का इस सम्बन्ध में कहना यह है कि 'अप्रमा' के प्रति दोष को कारण मानना अनिवार्य है। क्योंकि बुरे फल का कारण बुरा कैसे नहीं हो सकता? ऐसी परिस्थिति में अप्रमा के प्रति कारण रूप से स्वीकृत दोषों के अभाव को ही ज्ञान को प्रमा होने के लिए अपेक्षित मान लेना उचित है।[१७] प्रमा के प्रति गुण की कारण मान्य नहीं है। अतः प्रमात्व का प्रमा का उत्पत्ति के सम्बन्ध में स्वतस्त्व ही मान्य है, परतत्व नहीं। इन विहित मतप्रदर्शनों से यह स्पष्ट है कि प्रमात्व सम्बन्धी उत्पत्तिगत स्वतस्त्य या परतस्त्व सर्वमान्य नहीं। तब एक दार्शनिक होने के नाते चार्वाकियों का भी यह कर्त्तव्य हो जाता है कि इस सम्बन्ध में अपना मत स्पष्ट करें। तो इस सम्बन्ध में मान्य चार्वाकीय दृष्टिकोण यह समझना चाहिए कि ज्ञान प्रमा होने के लिए उपादान और निमित्त उभय रूप में भूत का साहाय्य चाहता है। इत्यादि बातें बतलायी ही गयी हैं। तदनुसार गुण की अपेक्षा मान्य न होने के कारण गुण को लेकर प्रमात्व के सम्बन्ध में उत्पत्तिगत परतस्त्व यहाँ मान्य नहीं हो सकता।

परन्तु यदि चार्वाकीय निमित्तात्मक भूत को नैयायिक एवं वैशेषिक गुण मान लें तो उनका परतस्त्व कथन भी चार्वाक पक्ष से समादृत हो सकता है और यदि निमित्त रूप से अपेक्षित भूत के अभाव को दोष मान लिया जाय तो अन्य वेदान्ती आदि दार्शनिकों के प्रदर्शित मतवाद के साथ उक्त स्वतस्त्ववाद का अनादर भी आदरणीय नहीं हो सकता। यह तो हुआ प्रमात्व सम्बंधी उत्पत्तिगत स्वतस्त्व और परतस्त्व का विवेचन अब ज्ञप्तिगत स्वतस्त्व और परतस्त्व की ओर आया जाय-

प्रमात्व सम्बन्धी ज्ञप्तिगत स्वतस्त्व का अभिप्राय यह है कि जब कोई किसी भी

(१७) तच्च ज्ञानसामान्यसामग्रीप्रयोज्यम् नत्वधिकं गुणमपेक्षते।

-वेदान्तपरिभाषा अनुपलब्धिपरिच्छेद।

वस्तु को देखता है तब उसका वह देखना अर्थात् ज्ञान प्रमा है, यथार्थ है, सही है यह प्रमात्व निश्चय, उस व्यक्ति को उस 'देखना' स्वरूप अपने ज्ञान में तत्क्षण ही हो जाता है या नहीं, इसके सम्बन्ध में भी कुछ दार्शनिकों ने प्रचुर विवेचन किया है। कर्म मीमांसकों का इस सम्बन्ध में कहना यह है कि ज्ञान होते ही प्रत्येक को उस अपने ज्ञान पर प्रमात्व का निश्चय हो जाता है, विलम्ब होता नहीं, अतः प्रमात्व के सम्बन्ध में ज्ञप्तिगत भी स्वतस्त्य ही मान्य है, परतस्त्व नहीं।

उन लोगों का अभिप्राय यह है कि रजतार्थी व्यक्ति चाँदी को या सीप को ही क्यों न 'यह चांदी है' इस प्रकार चाँदी समझे, उसे होने वाला ज्ञान प्रमात्मक या अप्रमात्मक जो कुछ भी क्यों न हुआ हो, वह अपने ज्ञान को तत्क्षण यथार्थ, प्रमात्मक ही समझ बैठता है। इसीलिए वह तुरन्त उस ओर अग्रसर हो उठता है जिसे वह चाँदी समझता है, अतः यही मानना उचित है कि ज्ञानोत्पत्ति के अनन्तर ज्ञाता अपने ज्ञान को, जो चाहे अप्रमात्मक ही क्यों न हो, एक बार तुरन्त प्रमात्मक अर्थात् यथार्थ समझ ही लेता है। अतः प्रमात्व के सम्बन्ध में ज्ञप्तिगत भी स्वतस्त्व का ही मान्य होता उचित है, ज्ञप्तिगत परतस्त्य नहीं।

यहाँ यह ध्यान रखने की बात है कि प्रमात्व के ज्ञप्तिगत स्वतस्त्य के सम्बन्ध में सभी प्रकार के कर्म-मीमांसकों की एकमति समान रूप से होने पर भी उसके आन्तरिक स्वरूप में महान् अन्तर पाया जाता है। सभी मीमांसक इस बात से राजी अवश्य हैं कि ज्ञान में प्रमात्व का ग्रह अर्थात्, ज्ञान, ज्ञानग्राहक-सामग्री से ही हो जाता है। फलितार्थ यह कि हुए ज्ञान का ज्ञान जिस कारण कलापात्मक सामग्री से होता है उस ज्ञान में प्रमात्व का निश्चयात्मक ज्ञान भी हठात् एक बार उस ज्ञानज्ञापक सामग्री से ही हो जाता है। ज्ञान में प्रमात्व को समझने के लिए अर्थात् 'यह ज्ञान प्रमा है' यह समझने के लिए किसी अन्य कारण कलाप की अपेक्षा होती नहीं।[१८] परन्तु ज्ञान ग्राहक के सम्बन्ध में सभी मीमांसक एक मत नहीं पाये जाते हैं।

मीमांसा के अन्दर तीन मत मुख्य रूप से प्रचलित हैं। एक सम्प्रदाय है भट्ट कुमारिल का, दूसरा है प्रभाकर का और तीसरा सम्प्रदाय है मिश्र मुरारि का। इन तीनों सम्प्रदायों में मतभेद यह पाया जाता है कि भट्ट साम्प्रदायिक मीमांसक-प्रत्येक ज्ञान को अतीन्द्रिय अर्थात् प्रत्यक्षागम्य फलयः अनुमेय मानते हैं। उनका कहना है कि किसी भी वस्तु के सम्बन्ध में ज्ञान होने पर उस ज्ञान से उसके विषय में ज्ञातता जिसे अन्य शब्द में प्राकट्य भी कहा जाता है, उत्पन्न होती है। कार्य से होने वाले कारणानुमान के उदाहरण प्रचुर संख्या में होते हुये पाये ही जाते हैं। तदनुसार प्रकृतस्थल में भी विषयगत ज्ञाततात्मक कार्य उसके प्रति कारण होने वाले ज्ञान का अनुमान करा देता है। ज्ञाता विषय को ज्ञात समझ कर यह अनुमान कर लेता है कि मुझे इस विषय का ज्ञान हुआ है।

---

(१८) मीमांसका हि प्रमात्वं स्वतोग्राह्यमिति वदन्ति। *-न्यायसिद्धान्त-मुक्तवाली।*

उदाहरण के द्वारा इसे यो समझा जा सकता है कि किसी व्यक्ति ने अपने सामने विद्यमान किसी वृक्ष को यदि देखा तो वह उसका देखना स्वरूप ज्ञान ने उस अपने विषय-भूत वृक्ष को उस व्यक्ति के लिए ज्ञात बना डाला। अर्थात् उस अपने विषयभूत वृक्ष में एक 'ज्ञातता' नामक धर्म को उत्पन्न कर दिया। वृक्ष में उत्पन्न उस ज्ञातता को वह द्रष्टा जानता नहीं, यह बात कहीं जा सकती नहीं क्योंकि वह भलीभाँति यह समझता है कि यह वृक्ष मुझे ज्ञात हो गया। कोई भी विषय तब तक ज्ञात समझा या कहा नहीं जा सकता जब तक कि उसमें 'ज्ञातता' न उत्पन्न हो जाय। 'यह विषय मेरे लिए ज्ञात हो गया' ऐसी प्रतीति द्रष्टा को हुई ही करती है। इसलिए द्रष्टा के द्वारा किया जाने वाला यह वाक्य-प्रयोग भी होता हुआ पाया ही जाता है कि 'यह विषय मेरे लिए ज्ञात हो गया'[१९] सुतरां ज्ञान-ग्राहक-सामग्री पद से ज्ञाततालिंगक अनुमान-प्रमुख कारण-कलाप को लेना चाहिए।

प्रभाकर का सम्प्रदाय ऐसा न मान कर उक्त ज्ञान-ग्राहक-सामग्री के सम्बन्ध में अपना मत इस प्रकार व्यक्त करता है कि ज्ञान को अतीन्द्रिय मानना उचित नहीं।[२०] क्योंकि वह है। 'स्वप्रकाश' अर्थात् वह प्रदीप या खद्योत की तरह है स्वयं प्रकाशशील। अतः उसे समझने के लिए किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा मान्य नहीं। ऐसी परिस्थिति में ज्ञाततात्मक लिंग से उसका अनुमान होता है, यह नहीं माना जा सकता। किन्तु मान्य यह है कि किसी भी ज्ञान के विषय स्वयं वह ज्ञान, और ज्ञानगत प्रमात्व, ज्ञाता, एवं ज्ञेय वस्तु ये सभी होते हैं। उदाहरण के द्वारा इसे यों समझा जा सकता है कि कोई भी द्रष्टा यदि 'यह वृक्ष है' इस प्रकार ज्ञान करता है तो केवल वृक्ष ही उस ज्ञान का विषय नहीं होता। किन्तु वृक्ष के साथ-साथ उक्त 'यह वृक्ष है' यह ज्ञान स्वयं भी उसका विषय होता है साथ ही ज्ञान का धर्म प्रमात्व एवं ज्ञाता व्यक्ति भी उस ज्ञान का विषय होता है। ऐसी परिस्थिति में ज्ञान-ग्राहक-सामग्री पद से उसी ज्ञान को लेना उचित है, जिसमें प्रमात्व समझने का विचार यहाँ छिड़ा हुआ है।

मुरारि मिश्र का सम्प्रदाय उन दोनों ही मतवादों को अमान्य मानता है।[२१] उसका कहना यह है कि ज्ञान न अनुमेय है, एवं न स्वप्रकाश, किन्तु वह होता है ज्ञानान्तरवेद्य। अभिप्राय यह है ज्ञानातिरिक्त किसी भी वस्तु का ज्ञान कहलाता है व्यवसाय और उसके अनन्तर होने वाला उस ज्ञान का ज्ञान कहलाता है, अनुव्यवसाय। अतः ज्ञान-ग्राहक रूप से अनुव्यवसायात्मक ज्ञान को ही लेना चाहिए। उदाहरण द्वारा इसे यों समझना चाहिए कि कोई भी व्यक्ति यदि किसी वृक्ष को देखता है तो वह उसका देखना अर्थात् उस व्यक्ति

---

(१९) भट्टानां मते ज्ञानमतीन्द्रियं ज्ञानजन्यज्ञातता च प्रत्यक्षा तया च ज्ञानमनुमीयते।
-न्यायसिद्धान्त-मुक्तवली।

(२०) तत्र गुरुणाँ मते ज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वात् तज्ज्ञानप्रामाण्यं तेनैव गृह्मते।
-न्यायसिद्धान्त-मुक्तावली।

(२१) मुरारिमिश्राणां मतेऽनुव्यवसायेन ज्ञानं गृह्यते। *-न्यायसिद्धान्त-मुक्तावली।*

द्वारा किया जाने वाला 'यह वृक्ष है' यह ज्ञान होता है व्यवसाय और उसके अव्यवहित उत्तर होने वाला 'मैंने वृक्ष को समझा' मुझे वृक्ष का ज्ञान हुआ इस प्रकार होने वाला ज्ञान कहलाता है अनुव्यवसाय। इस परिस्थिति के अनुसार ज्ञानग्राहक होगा 'मैंने वृक्ष को समझा' इत्यादि अनुव्यवसायात्मक ज्ञान। उसी से ज्ञानधर्म प्रमात्व का भी विषयीकरण मानना उचित है। इस प्रकार ज्ञानग्राहक के सम्बन्ध में मीमांसकों के बीच अवान्तर मतभेद के होते हुए भी सभी कर्म-मीमांसक इस बात पर एक मत पाये जाते हैं कि ज्ञान-धर्म प्रमात्व का ज्ञान, ज्ञान-ग्राहक-सामग्री से ही ज्ञात हो जाता है। अतिरिक्त सामग्री की अपेक्षा उसे समझने के लिए होती नहीं, यह बात यहाँ पहले भी बतलायी जा चुकी है।

इस प्रमात्व-ग्रह के सम्बन्ध में नैयायिक और वैशेषिक भी अपना अलग-अलग मत रखते हैं। उनका कहना यह है कि प्रमात्व भी स्वतोग्राह्य नहीं परतोग्राह्य ही होता है। विषय ज्ञान के अव्यवहित उत्तर में ही ज्ञानगत प्रमात्व गृहीत नहीं होता है। यह बात सही है कि विषय-ज्ञान का विषयीकरण अनुव्यवसाय ज्ञान से होता है। परन्तु ज्ञान के साथ ज्ञानधर्म प्रमात्व का विषयीकरण अनुव्यवसाय के द्वारा होता नहीं। भट्ट कुमारिल और प्रभाकर सम्मत ज्ञान ग्रहण की प्रक्रिया तो बिलकुल मान्य ही नहीं है। हाँ, मिश्र मुरारि की ज्ञानग्रहणप्रक्रिया मान्य है। क्योंकि व्यवसायात्मक ज्ञान ग्रहण के लिए अनुव्यवसाय की मान्यता मेरे मत में भी है। अनुव्यवसाय ज्ञान होने पर भी प्रमात्व उसके द्वारा विषयीकृत होता नहीं, यह इसलिए मानना आवश्यक है कि जहाँ किसी द्रष्टा को कुछ दूरवर्ती जलाशय का ज्ञान होता है और प्यास के कारण उस ओर जलार्थी होकर वह अग्रसर होता है तो जब तक वह द्रष्टा वहाँ पहुँच नहीं जाता है, जलसाध्य कार्य कर नहीं कर लेता, तब तक रास्ते में जाते समय प्रायः उसे अपने किये जल-ज्ञान पर प्रमात्य का संदेह होता ही रहता है। वह यह संदेह करता ही जाता है कि 'मुझे जल का भ्रम तो नहीं हुआ है' 'कहीं ऐसा न हो कि वहाँ जल न हो' इत्यादि। यदि यह माना जाय कि अनुव्यवसाय के द्वारा ज्ञान ज्ञात होने पर ज्ञान-धर्म प्रमात्व भी उसके साथ गृहीत हो ही जाता है तब ऐसी परिस्थिति, जो कि सर्वथा अनुभव सिद्ध है, कभी नहीं बन सकती। क्योंकि उक्त परिस्थिति में 'मुझे जल का ज्ञान हुआ है' इत्यादि अनुव्यवसाय ज्ञान से जल ज्ञान की तरह उस ज्ञानात्मक धर्मी में प्रमात्वात्मक धर्म का भी निश्चय नियमतः हो ही जाया करेगा। किसी विषयक निश्चयात्मक बाधक के रहते हुए उस विषय में संदेह कभी हो नहीं सकता। किन्तु प्रदर्शित परिस्थिति में संदेह होता है, यह अनुभव सिद्ध है। अतः यह नियम नहीं बनाया जा सकता कि अनुव्यवसाय से व्यवसायात्मक ज्ञान की तरह व्यवसायगत प्रमात्व भी गृहीत हो जाता है। सुतरां यह निर्णय उचित है कि प्रमात्व का निश्चय स्वतः अर्थात् ज्ञान-ग्राहक-सामग्री से ही नहीं होता है किन्तु परतः, अर्थात् विषय के उपभोग अथवा विशेष निर्णय के अनन्तर होने वाले अनुमान प्रमाण से ज्ञानगत-प्रमात्व का ग्रहण होता है। इस प्रमात्वानुमान का आकार इस प्रार कहा जा सकता है कि 'मुझे

पहले होने वाला वह ज्ञान सचमुच' यथार्थ प्रमात्मक हुआ था। क्योंकि उसका विषय मुझे उपलब्ध हो रहा है।

बौद्ध दार्शनिक भी नैयायिक वैशेषिकों के इस कथन से सहमत हैं कि प्रमात्व स्वतः नहीं परतः गृहीत होता है किन्तु देखा जाय तो दोनों दलों में यहाँ एक महान मतभेद भी उपस्थित है। क्योंकि बाह्यास्तित्ववादी बौद्ध हैं परमाणुपुञ्जवादी और अन्य बौद्ध हैं क्षणिक विज्ञानाद्वैत या शून्यद्वैतवादी। तदनुसार बौद्ध सिद्धान्त में सारे घट, पट आदि अवयवियों को ज्ञान फलतः अप्रमात्मक ही हो जाता है, अतः घट, पट आदि विषयक ज्ञान में होने वाला प्रमात्व ज्ञान स्वयं अप्रमात्मक हो जाता है। किन्तु न्याय वैशिषिक मत में ऐसी बात होती नहीं। घट, पट जल आदि अवयविविषयक ज्ञान प्रमात्मक एवं अप्रमात्मक दोनों प्रकार होते हैं। जहाँ अवयवियों के रहते हुए उनका ज्ञान किया जाता है वहाँ वह ज्ञान होता है प्रमात्मक और जहाँ विषय के न रहने पर ज्ञान होता है वहाँ वह ज्ञान होता है अप्रमात्मक। अतः अवयवि-ज्ञान-धार्मिक प्रमात्व-ज्ञान बौद्ध सिद्धान्त की तरह नियमतः अप्रमात्मक ही नहीं होता है।

अनेकान्तवादी जैन सिद्धान्त में तो सारी वस्तुएँ अनेकान्त स्वरूप वाली ही होती हैं, अतः किसी भी ज्ञान को एकान्तः न प्रमा कहा जा सकता है और न अप्रमा।[२२] इसलिए जैन सिद्धान्त में किसी भी ज्ञान में एकान्तः प्रमात्व का निश्चय सम्भव ही नहीं है। अतः वह स्वतः होता है या परतः यह विचार ही व्यर्थ है।

इस प्रकार प्रमात्व निर्णय के सम्बन्ध में विभिन्न दार्शनिक मतवादों के उल्लेख के अनन्तर इस जिज्ञासा का उदित होना स्वाभाविक है कि प्रकृत चार्वाक दर्शन इस सम्बन्ध में अपना क्या निर्णय दे सकता है? तो विवेचन करने पर इस चार्वाक सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से मान्य यह उचित प्रतीत होता है कि ज्ञानगत प्रमात्व की अनैकान्तिकता यहाँ मान्य न होने पर भी प्रमात्वनिश्चय की प्रक्रियागत अनैकान्तिक मान्य है। तदनुसार सर्वत्र ज्ञान धार्मिक प्रमात्व निश्चय स्वतः भी होता है अथवा वह परतः ही होता है ऐसा न मान कर प्रमात्व का निर्णय कहीं ख्वतः भी होता है और कहीं परतः भी, ऐसा मानना चाहिए। कहाँ वह 'स्वतः' मान्य है और कहाँ 'परतः' ऐसी जिज्ञासा उदित होने पर समझना यह चाहिए कि जहाँ विषय निकटवर्ती होगा वहाँ उनके सम्बन्ध में होने वाले ज्ञान में किया जाने वाला प्रमात्व निश्चय होगा स्वतः, और जहाँ इसके विपरीत विषय निकटवर्त्ती न होकर वह दूरवर्त्ती होगा, वहाँ उस दूरवर्त्ती विषय के सम्बंध में किये जाने वाले ज्ञान में किया जाने वाला प्रमात्व निश्चय होगा परतः। जैसे अपने अंगभूत हाथ के सम्बन्ध में होने वाले ज्ञान में होने वाला प्रमात्व निश्चय होगा स्वतः और नैयायिक वैशेषिक द्वारा उपस्थित

---

(२२) अत्र स्त्रर्वत्र सप्तभंगीनयाख्यं न्यायमवतारयन्ति जैनाः। स्यादस्ति स्यान्नास्ति........।
-सर्वदर्शनसंग्रह, आर्हत दर्शन।

किये गये उक्त दूरवर्ती जलज्ञान में होने वाला प्रमात्व निश्चय होगा परत:।

किन्तु यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि यहाँ आदृत स्वतस्त्व-पक्ष का अभिप्राय यह नहीं है कि अनुव्यवसाय के द्वारा ज्ञान की तरह प्रमात्व भी गृहीत होता है। और यह भी अभिप्राय नहीं है कि भट्ट-मत के समान विषयगत रूप में उत्पन्न प्राकटयात्मक लिंग के द्वारा ज्ञान के साथ तद्वद्गत प्रमात्व भी गृहीत हो जाता है। किन्तु अभिप्रेत यह है कि भूताभिन्न ज्ञात हो स्वप्रकाश्यात्मक स्वप्रकाश मानना चाहिए। अत: स्वप्रकाश ज्ञान से स्व का विषयीकरण मान्य होने के कारण स्वगत अर्थात् ज्ञानगत प्रमात्व का भी विषयीकरण हो जाता है। सम्भव है कि इस कथन से कुछ लोग प्रोक्त प्रभाकर-मत का समादर समझें किन्तु यहाँ उस मतवाद का सर्वथा समादर समझना उचित नहीं होगा। क्योंकि यहाँ वह त्रिपुटी मान्य नहीं जिसे प्रभाकर का सम्प्रदाय मानता है। तात्पर्य यह कि प्रभाकर जिस प्रकार ज्ञान का भी विषयीकरण ज्ञान में मानता है वैसा यहाँ व्यर्थ मान्य नहीं है।

चार्वाक दर्शन और प्रमा के प्रभेद-

प्रमा के प्रभेद के सम्बन्ध में भी दार्शनिकों के बीच महान् आपसी मतभेद पाया जाता है। मीमांसकों के अन्दर भट्ट का सम्प्रदाय और शांकर अद्वैत वेदान्ती विभक्त प्रमाओं की संख्या छ: मानता है और प्रभाकर का सम्प्रदाय पाँच। नैयायिक प्रमाओं को चार भागों में विभक्त करते हैं, तो उनके समानतान्त्रिक होते हुए भी वैशेषिक लोग प्रमा के दो ही प्रभेद मानते हैं। सांख्य और योग ये दोनों दर्शन इसके विपरीत प्रमाओं को तीन भागों विभक्त बताते हैं। परन्तु इस दाण्डिक एवं नैतिक चार्वाक सिद्धान्त में प्रमा एक ही प्रकार की मान्य है। कौन किस दार्शनिक को मान्य है। इस जिज्ञासा के उदय पर इस विषय को यो समझना चाहिए कि मीमाँसा का भाट्ट सम्प्रदाय एवं व्यवहार क्षेत्र में उसके ही अनुगमन की घोषणा करने वाला शांकर-अद्वैत-सम्प्रदाय ये दोनों प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति, शाब्दबोध, अर्थापत्ति और आनुपलब्धिक इन छ: प्रकार प्रमाओं को मान्यता देते हैं। मीमांसा का प्रभाकर सम्प्रदाय आनुपलब्धिक रूप से एक स्वतंत्र प्रमा इसलिए नहीं मानता कि उसकी दृष्टि में उसके लिए कोई प्रमैय ऐसा स्वतंत्र रूप से उपलब्ध होता नहीं कि उसके विषयीकरण के लिए एक स्वतंत्र आनुपलब्धिक नामक बोध माना जाय, जो एक स्वतंत्र प्रमिति कहला सके। क्योंकि जो लोग आनुपलब्धिक नामक एक स्वतंत्र प्रमा मानते हैं वे अभाव को भी एक स्वतंत्र पदार्थ मानते हैं और साथ ही वे 'विशेष्य-विशेषण-भाव' को सन्निकर्ष मानते नहीं कि अभाव की प्रमिति प्रत्यक्षात्मक प्रमिति के अन्दर गतार्थ हो सके। अत: आनुपलब्धिक नामक भी स्वतंत्र प्रमिति अवश्य मान्यता प्राप्त करती है।

---

(२३) दृश्यानुपलम्भस्य पक्षधर्मत्वं दर्शयितुमाह- नौपलभ्यते च क्वचित्प्रदेव विशेष उपलब्धिलक्षणप्राप्तो घट इति। *-न्यायबिन्दु, धमौत्तर टीका।*

किन्तु प्रभाकर का सम्प्रदाय अभाव को भाव पदार्थ से अतिरिक्त रूप में मान्यता बिलकुल नहीं देता। ऐसी परिस्थिति में किसके विषयीकरणार्थ वह एक स्वतंत्र 'आनुपलब्धिक' प्रमिति माने?

बौद्ध दार्शनिक लोग अभावात्मक अतिरिक्त तत्त्व तो मानते हैं किन्तु वे 'अनुपलब्धि'[२३] को भी एक प्रकार अनुमापक लिंग मानते हैं। अत: आनुपलब्धिक भी उनके घर में लैगिंक बन जाता है अर्थात् अनायास अनुमिति के अन्दर उसकी गतार्थता हो जाती है फिर वे लोग 'आनुपलब्धिक' को क्यों एवं कैसे स्वतंत्र प्रमिति रूप में मान्यता दें।

न्याय वैशेषिक और सांख्य योग इन सिद्धान्तों में भी अभाव की स्वतंत्र मान्यता है सही। किन्तु इन सिद्धाँतों में ऐन्द्रियक भावों का अभाव प्रत्यक्ष का और अतीन्द्रिय भावों का अभाव अनुमिति या शाब्दबोध का विषय बन जाता है अभाव प्रमिति को इन सिद्धान्तों में स्वतंत्र आनुपलब्धिकता हो नहीं पाती।

सर्वथा और सर्वदा अनेकान्त का समादार करने वाला जन सिद्धान्त तो सर्वत्र 'हाँ' और 'नाँ' दोनों कहने का आदी है, अत: उस सिद्धान्त में भी एकान्तत: 'आनुपलब्धिक' प्रमिति स्थिर ठहरायी नहीं जा सकती।

प्रकृत चार्वाक सिद्धान्त को तो प्रत्यक्ष को छोड़ कर और किसी भी प्रमिति को मान्यता देनी नहीं है, फिर वह आनुपलब्धिक को स्वतंत्र मान्यता कैसे दे? जबकि अतीन्द्रिय व्यवहित और विप्रकृष्ट भी विषय विद्यमान हैं तब प्रत्यक्ष मात्र को प्रमिति रूप में मान्यता देना यहाँ तक और कैसे संगत कहा जा सकता? इस प्रश्न का उत्तर स्वतंत्र रूप से किये जाने वाले प्रत्यक्ष विवेचन से प्राप्त होगा। और साथ ही यहाँ यह भी ध्यान देने की बात है कि यद्यपि दाण्डिक क्षेत्र में भाव और अभाव दोनों विवेच्य होते हैं। दोष और दोष का अभाव ये दोनों ही समान रूप से अवगम्य कहे जा सकते है। व्यावहारिक और नैतिक दृष्टिकोण में भी भाव की तरह अभाव भी प्रयोजनीय होता है। फिर भी अन्य भौतिकों की तरह अभाव को भी भूत तत्त्व के अन्दर समाविष्ट किया जा सकता है। इसलिए भी आनुपलब्धिक नामक स्वतंत्र प्रमिति मानने का स्थान नहीं रह जाता है।

अभाव की प्रमिति को 'आनुपलब्धिक' कुछ दार्शनिक इसलिए कहते हैं कि कहीं भी किसी के अभाव को उसकी उपलब्धि के अर्थात् ज्ञान के न होने पर ही समझा जाता है। यों तो जो लोग आनुपलब्धिक प्रमिति को स्वतंत्र प्रमिति नहीं भी मानते हैं, वे भी अभाव की प्रमिति में उस अभाव के प्रति विरोधी होने वाले भाव की उपलब्धि के अभावात्मक अनुपलब्धि को उपयोगी मानते ही है! इसीलिये नैयायिक लोगों ने जगह-जगह पर यह कहा है कि 'अभाव प्रतीति' के प्रति भावानुपलब्धि को सहायक रूप में कारण तो हम भी मानते हैं, किन्तु स्वतंत्र रूप से अभाव प्रमिति के प्रति उसे एक स्वतंत्र प्रमाण हम लोग नहीं मानते हैं। परन्तु अभाव प्रमिति को जो लोग मान्य अन्य प्रमितियों में गतार्थ कर सकते हैं वे एक स्वतंत्र प्रमिति उसे नहीं मानते हैं और जो लोग ऐसा कर नहीं

पाते वे अभाव-प्रमिति को एक स्वतंत्र आनुपलब्धिक प्रमिति मानते है। चार्वांक दर्शन भी उसे अनायास प्रत्यक्ष के अन्दर गतार्थ कर सकता है जो भला अन्य दार्शनिकों से स्वीकृत अनुमिति आदि सारी प्रमितियों को प्रत्यक्ष के ही अन्दर हजम कर लेने का सामर्थ्य रखता है वह अन्य अधिकतर दार्शनिकों से भी अस्वीकृत आनुपलब्धिक प्रमिति को भी प्रत्यक्ष के ही अन्दर क्यों न हजम कर डालेगा?

जो लोग स्वतंत्र आनुपलब्धिक प्रमिति मानते हैं उनकी तत्सम्बन्धी प्रक्रिया की यदि जिज्ञासा हो तो उसे यो समझना चाहिए कि कोई भी द्रष्टा जब किसी भी स्थान पर दृष्टि डालता है तो वहाँ विद्यमान जिस वस्तु के साथ उस द्रष्टा की आँख जुटती है उसे वह अनायास देख लेता है। और जिस अविद्यमान वस्तु के साथ उसकी आँख जुटती नहीं, क्योंकि वह वस्तु वहाँ रहती नहीं, तो वह द्रष्टा उस अविद्यमान वस्तु की उपलब्धि कर नहीं पाता। अत: उस अविद्यमान वस्तु के सम्बन्ध में द्रष्टा को उपलब्धि के स्थान में अनुपलब्धि ही हाथ रह जाती। उसी अनुपलब्धि के कारण वह द्रष्टा उस वस्तु का वहाँ अभाव अनुभाव करता है। उदाहरण के द्वारा इसे यो समझा जाय- कि यदि श्याम किसी अपेक्षित वस्तु को खरीदने के लिए अपने पास पैसे टटोले और उसे पैसे मिलें नहीं, तो वह उस न मिलना स्वरूप अनुपलब्धि से अपने पास 'पैसे नहीं है' इस प्रकार वह पैसे के अभाव को जो कि विद्यमान रहेगा उसे समझ लेगा। ऐसे सभी स्थलों में 'पैसे नहीं है' इत्यादि होने वाली प्रमितियाँ होती हैं आनुपलब्धिक प्रमिति।

इस पर विपक्षियों की ओर से यदि यह कहा जाता है कि यह कथन तुम्हारा कैसे संगत कहा जा सकता? क्योंकि ऐसी भी तो परिस्थिति होती हुई पायी जाती है कि- वस्तु के विद्यमान होने पर भी उसकी उपलब्धि अनुपयुक्त परिस्थितिवश होती नहीं। परन्तु वहाँ उस उपलब्धि के अभावात्मक अनुपलब्धि से अनुपलभ्यमान वस्तु का अभाव भी तो प्रमित नहीं हो पाता है? फिर कैसे यह माना जा सकता कि भावानुपलब्धि से अभाव की आनुपलब्धिक प्रमिति होती है? अन्धकार में विद्यमान भी कोई वस्तु कहाँ उपलब्ध होती है? तो इसके उत्तर में आनुपलब्धिक प्रमिति की स्वतंत्र सत्ता मानने वाले उत्तर यह देते हैं कि 'आनुपलब्धिक प्रमिति' इस शब्द का अर्थ है 'योग्यानुपलब्धिक प्रमिति'। अन्धकार स्थल में प्रकाशात्मक उपलब्धि हेतु के अभाव प्रयुक्त वहाँ की वस्त्वनुपलब्धि 'योग्यानुपलब्धि' हो पाती नहीं, अत: वहाँ विद्यमान वस्तु के उपलब्धि के न होने पर उस वस्तु की अभाव-प्रमिति होती नहीं। जब विपक्षियों की ओर से फिर उनसे यह पूछा जाता है कि 'योग्यानुपलब्धिक प्रमिति' इसका अवश्य यही अभिप्रेत अर्थ होगा कि 'योग्यानुपलब्धि ' से सम्बंध रखने वाली प्रमिति' फलत: उससे उत्पन्न होने वाली प्रमिति। तो योग्यता किसके विशेषण रूप में विवक्षित है, अर्थात् पहले 'योग्यानुपलब्धि' इस शब्द का अर्थ क्या है? क्या योग्यतापत्र आधार में होने वाली अभाव की अनुपलब्धि, यहाँ योग्यानुपलब्धि? यदि यह कहा जाय कि योग्य आधार में भाव की अनुपलब्धि पद से

विवक्षित है, या योग्य भाव की अनुपलब्धि यहाँ है योग्यानुपलब्धि? यदि यह कहा जाय कि योग्य आधार में भाव की अनुपलब्धि है योग्यानुपलब्धि पद से विवक्षित, पलत: गम्य अभाव के आधार में योग्यता अपेक्षित मानी जाय तो 'इस स्तम्भ पर पिशांच नहीं है' इस प्रकार प्रतीत आपन्न हो उठेगी। क्योंकि आधारभूत स्तम्भ योग्य ही है। इसलिये उसमें होने वाली पिशाच की अनुपलब्धि को 'योग्य आधार में होने वाली अनुपलब्धि' होने के कारण योग्यानुपलब्धि कहने में कोई बाधा तो प्राप्त होती नहीं।

यदि इस पक्ष का परित्याग करके प्रतियोगी को योग्यता से विशेषित माना जाय अर्थात् योग्य प्रतियोगी की अनुपलब्धि को ही योग्यानुपलब्धि पद से लिया जाय तो कठिनता यह प्राप्त होती है कि 'यह स्तम्भ पिशाच नहीं है' यह आनुपलब्धिक प्रमिति भी न हो पायेगी। क्योंकि पिशाचभेदात्मक अभाव का प्रतियोगी होने वाला पिशाच अतीन्द्रिय होने के कारण योग्य कहला सकता नहीं। ऐसी परिस्थिति में वहाँ की अनुपलब्धि योग्यानुपलब्धि नहीं कहीं जा सकेगी।

तो इसके उत्तर में आनुपलब्धिक प्रमितिवादी यह कहते है कि 'योग्यानुपलब्धि' यहाँ पर श्रुत योग्यता, न प्रतियोगी के विशेषण रूप में वह विनक्षित है और न आधार के विशेषण रूप में। किन्तु अनुपलब्धि के विशेषण रूप में वह विवक्षित है। [२४] फलत: न योग्यवस्तु की अनुपलब्धि है योग्यानुपलब्धि पद से विवक्षित, और न योग्य आधार में होने वाली अनुपलब्धि है योग्यानुपलब्धि पद से विवक्षित। किन्तु योग्य होने वाली अनुपलब्धि है प्रकृत में योग्यानुपलब्धि पद से विवक्षित। अब रही बात इस योग्यता की व्याख्या की। क्योंकि अब प्रतियोगी या आधार में विद्यमान योग्यता की तरह इस पक्ष में योग्यता का अर्थ प्रत्यक्ष-योग्यता, फलत: अनतीन्द्रियता, की नहीं जा सकती। तो योग्यता पद को व्याख्या यहाँ पारिभाषिक रूप में यह समझना चाहिए कि 'जिस अनुपलब्धि का उपलब्ध्यात्मक प्रतियोगी ग्राह्य अभाव के प्रतियोगी के अस्तित्वारोप से आपादित हो, वह अनुपलब्धि, कहलायेगी 'योग्यानुपलब्धि'। योग्यानुपलब्धि की यह परिभाषा कर लेने पर अब उक्त आपत्ति या अनुपपत्ति नहीं दिखलायी जा सकती। क्योंकि 'इस समय पर यदि पिशाच होता तो देखा जाता' इस प्रकार आपादन सम्भव नहीं। अत: आपेक्षित स्वरूप योग्यानुपलब्धि न होने के कारण 'इस स्तम्भ पर पिशाच नहीं' इस प्रकार स्तम्भाधिकरणक पिशाचाभाव का प्रत्यक्ष आपन्न नहीं किया जा सकता। और 'यह स्तम्भ पिशाच नहीं' इस प्रकार स्तम्भाश्रित पिशाचभेद की अनुभूयमान प्रतीति इसलिए अनुपपन्न नहीं होगी कि 'यह स्तम्भ यदि पिशाच होता तो स्तम्भरूप से उपलब्ध हो पाता नहीं, जैसा कि उपलब्ध हो रहा है' इस प्रकार की योग्यानुपलब्धि जो कि योग्यता की उक्त पारिभाषिक व्याख्या के अनुसार योग्यतानुपलब्धि कहलाने की सर्वथा अधिकार रखती है, वहाँ रहेगी ही।

---

(२४) तत्र योग्यताप्यपेक्षिता। सा च प्रतियोगिसत्त्व-प्रसजंन-प्रसंजितप्रतियोगिकत्वरूपा।
-न्यायसिद्धान्त मुक्तावली।

जो लोग अभाव की प्रतीति को आनुपलब्धिक न मान कर प्रत्यक्षात्मक मानते हुए भी उस अभाव-प्रत्यक्ष के प्रति योग्यानुपलब्धि को सहकारीकरण मानते हैं उनके लिए भी यहाँ किया गया यह विचार समान रूप से लागू होता है। अतः यह विचार चार्वाक दर्शन से भी पूर्ण सम्पृक्त है। क्योंकि प्रत्यक्ष मात्र प्रमितिवादी चार्वाक सिद्धान्त में भी अभाव का एक प्रकार योग्यानुपलब्धि के साहाय्य से होने वाला प्रत्यक्ष मान्य ही है।

चार्वाक मत में अर्थापत्ति भी कोई स्वतंत्र प्रमा नहीं-

मीमांसक और शांकर अद्वैतियों के मत में अर्थापत्ति[२५] भी एक स्वतंत्र प्रमा मान्य है। उन लोगों का कहना यह है कि 'जिसके बिना जो अनुपपन्न होता है अर्थात् उपपन्न हो पाता नहीं वह अवश्य उससे आक्षिप्त अर्थात् कल्पित होता है। फलतः वह उससे निर्णीत होता है' यह नियम अनुभव सिद्ध है। उदाहरण के द्वारा इसे यो समझा जा सकता है कि भोजन के बिना शरीर की पुष्टि असम्भव है, अनुपपन्न है। अतः यदि कोई व्यक्ति ऐसा देखा जाता है जो कि दिन में तो खाता नहीं किन्तु उसका शरीर पुष्ट होता जा रहा है, तो ऐसी परिस्थिति से अवगत व्यक्ति अवश्य निर्णय करेगा कि 'यह व्यक्ति रात में अवश्य खाता है'। इस प्रकार का निर्णय है अर्थांपत्तिप्रमा। 'अर्थांपत्ति' शब्द प्रमावाची भी है और प्रमाणवाची भी। 'अर्थ की आपत्ति अर्थात् निर्णयात्मक कल्पना है अर्थांपत्ति' यह अर्थापत्ति शब्द की व्याख्या होती है, अर्थांपत्ति शब्द के प्रमावाचकत्व पक्ष में, और 'जिससे कोई आपन्न हो, अर्थात् निर्णयात्मक कल्पना का विषय हो वह है अर्थापत्ति', यह व्याख्या है अर्थापत्ति शब्द के प्रमाणवाचकत्व पक्ष में। इस अर्थापत्ति को अर्थापत्तिप्रमावादी दृष्टार्थापत्ति और श्रुतार्थापत्ति इस प्रकार दो भागों में विभक्त मानते हैं दृष्टार्थापत्ति उसे वे कहते हैं जहाँ परिस्थिति को देखते हुए कोई व्यक्ति किसी वस्तु के सम्बंध में निर्णायात्मक कल्पना करता है। जैसे यदि कोई व्यक्ति किसी वस्तु को स्वयं यह देखता है कि वह दिन में खाता नहीं किन्तु उसकी शारीरिक स्फूति एवं पुष्टि बढ़ती जा रही है तो तो ऐसी परिस्थिति में जो द्रष्टा उक्त परिस्थिति के दर्शनप्रयुक्त यह निर्णय करता है कि 'यह रात को अवश्य खाता है' वह इसका निर्णयात्मक ज्ञान होता है दृष्टार्थापत्ति-प्रमा। और वहाँ ही यदि परिस्थिति को स्वयं न देख कर किसी विश्वनीय व्यक्ति के, 'वह दिन में खाता नहीं किन्तु उसकी स्फूर्ति और पुष्टि घटने के बजाय बढ़ती ही जा रही है' इस वाक्य को सुनता है और उससे यह निर्णय करता है कि 'दिन में न खाते हुए भी स्फूर्ति एवं पुष्टि प्राप्त करने वाला वह व्यक्ति अवश्य रात में खाता है' तो उस श्रोता का वह निर्णयात्मक ज्ञान कहलाता है श्रुतार्थांपत्ति-प्रमा। इस अर्थापत्ति- प्रमा को स्वतंत्र रूप से मान्यता न देने वाले उन दार्शनिकों का, जो कि अनुमिति को स्वतंत्र प्रमा मानते हैं, कहना यह है कि उक्त प्रकार सारी अर्थापत्तिप्रमाओं को अनायास 'अनुमिति' प्रमा में ही अन्तर्भुक्त किया जा

---

(२५) इदानीमथापत्तिर्निरूप्यते। तत्रोपपाद्यज्ञानेनोपपादक कल्पनमर्थापत्तिः।

-वेदान्तपरिभाषा, अर्थांपत्ति-परिच्छेद।

सकता है। क्योंकि लैगिंक ज्ञान ही है अनुमिति। अर्थापत्ति के प्रदर्शित उदाहरण स्थल में यह भलीभाँति कहा जा सकता है कि रात्रि भोजन का निर्णेता व्यक्ति दिन-भोजनवादसहकृत दृष्ट या श्रुत शारीरिक पुष्टि से ही तो यह निर्णय करता है कि 'वह रात में खाता है'? ऐसी परिस्थिति में अर्थांपत्ति प्रमाओं को लैगिंक ज्ञान अर्थात् अनुमिति क्यों न कहा जाय? अत: अर्थापत्ति-प्रमा को अनुमिति प्रमा में अनायास अन्तर्भुक्त किया जा सकता है। जैसे 'यह पर्वत आग वाला है क्योंकि धूम वाला है' इस प्रकार धूमसे आग की अनुमिति की जाती है, इसी प्रकार 'यह व्यक्ति रात में खाता है क्योंकि दिन में न खाते हुए भी पुष्ट होता जा रहा है' यह भी अनुमान अनायास सम्भव है।

अर्थापत्ति-प्रमा के स्वतन्त्र्य पर मुग्ध होने वाले कुछ लोगों का कहना यह है कि अर्थापत्ति एक ऐसे काम का सम्पादन करती है जो कि औरों के वश की बात नहीं। वह काम है तो विरुद्ध निर्णायक प्रमाणों में सामञ्जस्य का स्थापना। इस कार्य का परिचय प्रदर्शित उदाहरण स्थल में भी इस प्रकार समझना चाहिए। इस बात को भलीभाँति समझा जा सकता है कि दृष्टर्थापति स्थल में प्रत्यक्ष प्रमाण से और श्रुतार्थापत्ति स्थल में आगम प्रमाण से यह प्राप्त होता है कि 'वह व्यक्ति खाता नहीं' किन्तु उसकी बर्द्धिष्णु शारीरिक पुष्टि स्वरूप लिंगात्मक अर्थात् अनुमानात्मक प्रमाण से उसके विपरीत यह प्राप्त होता है कि 'वह व्यक्ति खाता है' अत: दृष्टार्थापत्ति स्थल में प्रत्यक्ष और अनुमान इन दोनों के बीच और श्रुतार्थापत्ति स्थल में विरुद्ध अर्थों के ज्ञापक शब्द और अनुमान इन दोनों के बीच होने के कारण विरोध स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है। इस प्रकार दोनों ओर से प्राप्त होने वाले विरोध को हटाकर अविरोधात्मक सामञ्जस्य का स्थापना अर्थापत्ति के बिना और कोई कर ही नहीं सकता। ऐसी परिस्थिति में अर्थापत्ति को मान्यता देना सर्वथा उचित ही नहीं, अनिवार्य भी है।

इस कथन के विरोध में उन लोगों का, जो कि अर्थापत्ति को स्वतन्त्र रूप से मान्यता देना किसी भी प्रकार से चाहते नहीं, कहना यह है कि इस प्रकार भी अर्थांपत्ति प्रमा को स्वातंत्र्य नहीं दिया जा सकता। क्योंकि अर्थापत्ति के उदाहरण स्थलों में कहीं भी विचारपूर्वक देखने पर विरोध प्राप्त ही नहीं होता , जिसके निराकरणार्थ अर्थापत्ति को स्वतंत्र रूप से मान्यता देना अनिवार्य हो।[२६]

विरोध प्राप्त होता नहीं इस बात को उक्त उदाहरण स्थल में यो समझा जा सकता है कि प्रत्यक्ष-प्रमाण दृष्टर्थापत्ति स्थल में और शब्द-प्रमाण श्रुतार्थांपत्ति स्थल में यह उपस्थित करता है कि 'वह व्यक्ति दिन में खाता नहीं', यह नहीं उपस्थित करता है कि 'वह बिलकुल खाता हीं नहीं'। इसी प्रकार शरीर पुष्टिस्वरूप लिंग-प्रमाण यह

इति निरस्तम्। अवच्छिन्नानवच्छिन्नयोर्विरोधाभावत्। एवमुदाहरणान्तराणि च अर्थांपत्तेरेवमनुमानेऽन्तर्भावनीयानि। *-साङ्ख्यतत्त्व कौमुदी, का.५।*

(२६) एतेन विरुद्धयो: प्रमाणयोर्विषयव्यवस्थयाऽविरोधापादनमर्थापत्तेविषय

उपस्थित करता है कि 'वह पुष्ट व्यक्ति खाता जरूर है' यह नहीं उपस्थित करता है कि 'वह दिन में खाता है'। 'खाता जरूर है' और 'दिन में खाता नहीं' इन दोनों निश्चयों में भला विरोध कैसा? यदि एक ओर से यह निर्णय प्रास होता कि 'वह अवश्य खाता है' और दूसरी ओर से यह निर्णय प्राप्त होता कि 'वह बिलकुल खाता नहीं' अथवा एक ओर से यह निर्णय प्राप्त होता कि 'वह दिन में खाता नहीं' और दूसरी ओर से यह प्राप्त होता कि 'वह दिन में अवश्य खाता है' तब विरोध की प्राप्तिमूलक तत्परिहारार्थ अर्थापत्ति की मान्यता कही जा सकती है कि दोनों ओर प्राप्त निश्चयों में प्राप्त होने वाले विरोध के परिहार्य अर्थांपत्ति को मान्यता देनी चाहिए?

चार्वाक-सिद्धान्त तो आगे चलकर प्रत्यक्ष का ऐसा निर्वचन करने वाला है कि यह अर्थापत्ति भी अनायास प्रत्यक्ष के पेट में समा जायेगी। अत: यहाँ भी इनकी स्वतंत्र रूप से मान्यता का प्रश्न बिलकुल निरवकाश रहेगा।

चार्वाक मत में शाब्दबोध भी स्वतंत्र प्रमा नहीं -

नैयायिक, मीमांसक, सांख्यी, योगी, वेदान्ती एवं जैन आदि दार्शनिक शाब्दबोध को भी एक स्वतंत्र प्रमा मानते हैं। इन लोगों का कहना यह है कि शाब्दबोध एक स्वतंत्र प्रमिति इसलिए है कि शाब्दबोध की प्रक्रिया अन्य प्रमात्मक बोध की प्रक्रिया से सर्वथा निराली है। इसकी प्रक्रिया के जिज्ञासुओं को, शाब्दी प्रमा को स्वातन्त्र्य देने वाले वे दार्शनिक, शाब्दबोध की प्रक्रिया इस प्रकार बतलाते हैं कि जिस व्यक्ति को पहले से यह मालूम रहता है कि 'इस वाचक शब्द का वाच्य अर्थ यह वस्तु है,' वह व्यक्ति, तदृश अनेक पदघटित किसी भी वाक्य को सुनने पर उस वाक्य के अन्दर आने वाले प्रत्येक पद के वाच्य अर्थ को अलग-अलग स्मरण या तत्सदृश अनुभव करता है। अभिहितान्वयवादियों के दृष्टिकोण में प्रत्येक पद को सुनने पर गृहीत-शक्तिक व्यक्ति को उस पद से अनुभावात्मक बोध होता है और अन्विताभिधानवादी तथा अन्य दार्शनिकों के मत में प्रत्येक श्रुतपद से उसके वाच्य अर्थ का स्मरण होता है, यह अवान्तर मतभेद है। वाक्य-घटक तत्तत् पद के श्रवण से श्रोता को जब उक्त अर्थानुभव या अर्थ-स्मरण विश्रृंखल रूप में अलग-अलग हो जाते हैं, वाक्य घटक कोई भी पद ऐसा नहीं बच जाता जिसके अर्थ का स्मरण या अनुभव अवशिष्ट रह जाय, तब उन-उन अर्थों के बीच होने वाले पारस्परिक सम्बंध का या तादृश सम्बंधयुक्त रूप में वाक्य-घटक पदों के उन अर्थों का एक बोध श्रोता को हुआ करता है। इसी बोध का शब्दज होने के कारण शाब्दबोध, वाक्यार्थ-विषयक होने के कारण वाक्यार्थबोध और वाक्यघटक तत्तत् पदों के तत्तत् अर्थ, संबद्ध रूप में प्रतीत होते हैं अर्थात् उन अर्थों का पारस्परिक सम्बंध भी शब्दबोध में विषय होता है, अत: अन्वयबोध भी कहा जाता है। विचार करके देखा जाय तो अनुच्छिष्ट रूप में वह सम्बन्ध ही शाब्दबोध का विषय होता है।

परन्तु वाक्यघटक पदों से पदार्थों की उपस्थिति होने पर भी उक्त वाक्यार्थ-बोध

श्रोता को तभी होता है यदि उसके लिए निश्चित सामग्री वहाँ जुट पाती है। सामग्री के सदस्य रूप में जैसे पदों के ज्ञान, एवं पदार्थों के स्मरण शाब्दबोध के लिए अपेक्षित होते हैं तैसे आसत्ति, योग्यता, आकांक्षा और तात्पर्य ये अथवा इनके ज्ञान भी सामग्री के सदस्य रूप में शाब्दबोध के लिए अपेक्षित होते हैं।[२७] इन आसत्ति, योग्यता आदि के स्वरूप की मान्यता के सम्बन्ध में भले ही कुछ दार्शनिक आपस में विप्रतिपत्र हों किन्तु शाब्दबोध के लिए इनकी अपेक्षा की मान्यता के सम्बन्ध में वे सभी दार्शनिक अविप्रतिपन्न पाये जाते हैं, जो लोग शाब्दबोध को भी प्रत्यक्ष आदि की तरह एक स्वतंत्र पमा मानते हैं। हाँ, तात्पर्य ज्ञान के सम्बन्ध में कुछ लोगों का कहना है कि इसे केवल वहाँ के लिए ही अपेक्षित माना जाय जहाँ वाक्यघटक पद में अनेकार्थकता हो। परन्तु यह उनका कथन इसलिए संगत नहीं हो पाता कि कौन पद अनेकार्थ नहीं है, यह निर्णय करना महज नहीं। और पदों की एकार्थकता मान्य होने पर भी उनके अर्थों के बीच होने वाले सम्बन्ध की अनेक प्रकारता के कारण तात्पर्य ज्ञान को नियामक माने बिना निश्चय रूप से वाक्यार्थबोध की सम्पत्ति कठिन है। वाक्य सुनने पर तद्घटक पदों के अर्थ स्मृत हो आते हैं, यह बात इस विचार के आरम्भ में बतलायी गयी है। ऐसा इसलिए होता है कि श्रोता को पद और अर्थों के बीच होने वाले वाच्यवाचक-भाव सम्बन्ध का ज्ञान उससे पहले प्राप्त रहता है, यह भी बतलाया जा चुका है। वहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि यह बात तो सही है कि शब्द श्रुत होने पर उसका अर्थ श्रोता को स्मृत हो आता है, क्योंकि एक सम्बन्धी का ज्ञान अपर सम्बन्धी का स्मारक होता है, यह सर्वानुभवसिद्ध है। किन्तु शब्द और उसके अर्थ इन दोनों के बीच विद्यमान वाच्यवाचक-भाव-सम्बन्ध ही स्वज्ञान द्वारा बोध्य पदार्थ का स्मारक हो पाता नहीं। ऐसे भी वाक्य प्राप्त होते हैं जिनके अंदर आने वाले पद और बोध्य अर्थ इन दोनों के बीच वाच्य-वाचक भाव सम्बन्ध होता नहीं। उदाहरण के रूप में 'गंगा तट पर घर है' इस अर्थ को समझाने के लिए प्रयुक्त 'गंगा में घर है' इस वाक्य को उपस्थित किया जा सकता है। जलप्रवाहात्मक गंगा के बीच घर का होना सर्वथा असम्भव होने के कारण अवश्य ही इस वाक्य के अन्दर आने वाले 'गंगा' पद से गंगा को न लेकर, तट को लेना होगा। परन्तु 'गंगा' पद के साथ तट स्वरूप अर्थ का वाच्यवाचक-भाव सम्बन्ध है नहीं। तभी तो गंगा पद के सुनने पर भी श्रोता सब जगह तट अर्थ का बोध करता नहीं? यदि तट में गंगा पद की वाच्यता होत्ती तो उस पद से जल-प्रवाह विशेष की तरह सर्वत्र तट भी क्यों न समझा जाता? इसलिए यह मानना ही होगा कि 'गंगा' पद और तट अर्थ इन दोनों के बीच वाच्यवाचक-भाव सम्बन्ध है नहीं। परन्तु उससे तट का बोध होता है इसलिए शब्द और अर्थ इन दोनों के बीच प्रथमतः बोध्यबोधक-भाव सम्बन्ध मानना चाहिये। अनन्तर इस बोध्यबोधक-भाव को वाच्यवाचक भाव' और 'लक्ष्यलक्षक-भाव' इन दो

---

(२७) आसत्ति-योग्यताकांक्षा-तात्पर्यज्ञानमिष्यते ॥ ८२ ॥
कारणम् *-भाषापरिच्छेद।*

इन दो प्रभेदों में विभक्त समझना चाहिये। कुछ लोग इन दोनों के अतिरिक्त स्थल-विशेष में शब्द और अर्थ के बीच व्यंग्यव्यंजक-भाव को भी एक तीसरा सम्बंध मानते हैं। दूरवर्ती व्यंग्य अर्थ की उपस्थिति के लिये। अभिर्हितान्वयवादी लोग अन्वयात्मक अर्थ की उपस्थिति के लिए वाक्य के साथ वाक्यार्थ का तात्पर्य नामक एक चतुर्थ सम्बन्ध भी मानते हैं। अत: मत विशेष के अनुसार पद और अर्थ के बीच मान्य उक्त बोध्यबोधक-भाव सम्बन्ध को दो, तीन या चार प्रभेदों में विभक्त समझा जा सकता है।

शब्दाद्वैतवादी आदि कुछ दार्शनिक बोध्यबोधक-भाव और वाच्यवाचक-भाव इन दोनों शब्दों को सर्वथा पर्याय मानते हैं। उनका अभिप्राय यह है कि लक्ष्यलक्षक-भाव आदि सम्बन्ध वाच्यवाचक-भाव सम्बन्ध से अतिरिक्त मान्य नहीं । उनका कहना यह है कि धनुष से मुक्त बाण जैसे कभी दूर न जाकर निकट में ही गिर जाता है और कभी उससे दूर जा गिरता है और कभी उससे भी अधिक दूर जाकर गिरता है, [२८] तैसे शब्द और अर्थ के बीच से विद्यमान एक बोध्यबोधक-भाव-सम्बन्ध ही ज्ञात होकर कभी प्रसिद्धतया निकटवर्ती वाच्य अर्थ को ही समझाकर रह जाता है और कहीं उससे आगे बढ़ कर लक्ष्य अर्थ तक को समझाता है। और कभी उसे भी आगे बढ़ कर व्यंग्य अर्थ तक को समझाता है, ऐसा मान लेना ही उचित है। व्यर्थ अतिरिक्त लक्ष्य-लक्षण-भाव एवं व्यंग्यव्यञ्जक-भाव सम्बन्ध क्यों माना जाय, बोधक पद और बोध्य अर्थों के बीच?

जो लोग लक्ष्यलक्षण-भाव आदि को भी उक्त प्रकार सम्बंध मानते हैं उनका कहना यह है कि उक्त बाणगति दृष्टान्त यहाँ लागू होता पाया जाता नहीं। शब्द, ज्ञान, और क्रिया ये कभी विरत होकर व्यापारशील होते नहीं। [२९] कहने का तात्पर्य यह है कि बाण कभी एक बार चल कर बीच में रुक कर फिर चलता नहीं। एक ज्ञान भी रुक-रुक कर विभिन्न पदार्थों को विषय नहीं बनाता, इसी प्रकार शब्द भी एक ही 'वाच्य-वाचक-भाव' सम्बन्ध के सहारे रुक-रुक कर विभिन्न अर्थों को समझा नहीं सकता। उक्त बाण का दृष्टान्त यहाँ इसलिए लागू नहीं होता कि पद पहले वाच्यवाचक-भाव सम्बन्ध के सहारे वाच्य-अर्थ को उपस्थित करता है परन्तु वह वाच्य अर्थ अन्य पद के वाच्य-अर्थ के साथ समन्वित हो नहीं पाता है। अत: अन्वय बोधात्मक काम, जिसके लिए श्रोता इच्छुक रहता है, हो नहीं पाता है, तब शब्द और अर्थ के बीच लक्ष्यलक्षक भाव का अन्दर करके श्रोता दो पदार्थों को अन्वित कर पाता है, जिसका परिचय 'गंगा में घर है' इस वाक्य द्वारा दिया जा चुका है। अत: उक्त बाण-गति-दृष्टान्त यहाँ औचित्य नहीं प्राप्त करता कि उसके आधार पर लक्ष्यलक्षण-भाव का उच्छेद किया जा सके।

व्यंग्यव्यंजक-भाव सम्बन्ध में आग्रह केवल कुछ रसाद्वैतवादियों का पाया जाता

---

(२८) सोऽयं इषोरिव दीर्घदीर्घतरो व्यापारः। -*काव्यप्रकाश।*

(२९) ....न च शब्दः स्खलद्गतिः ॥१६॥ -*काव्य प्रकाश।*

है। क्योंकि वे अपने रस एवं रसाभास, भाव एवं भावाभास, इनको वाच्यार्थ मानते नहीं।[३०] वे लोग इस सम्बन्ध में युक्ति यह उपस्थित करते हैं कि यदि रस वाच्य होता तो श्रृंगार, वीर, करुण, आदि रसवाची नामों को सुनने पर श्रोता को अनिवार्य रूप से आनन्द की अनुभूति होती, रसास्वाद होता हुआ पाया जाता, किन्तु ऐसा होता नहीं, अतः उसे वाच्य अर्थ नहीं माना जा सकता। व्यग्यव्यंजक-भाव के समर्थकों का प्राचुर्य होने पर ऐसे साहित्यिकों का अभाव नहीं है जोकि इसे बिलकुल मान्यता देते नहीं। महिमा भट्ट ने सारे व्यंग्यों को अनुमेय बतला कर व्यंग्यव्यंजक-भाव का खण्डन किया है। नैयायिक लोग व्यंग्य अर्थ का मानस साक्षात्कार मानते हैं। प्रकृत चार्वाक सिद्धान्त भी इसी पक्ष को मान्यता देने वाला है। वाच्यवाचक-भाव को शक्ति एवं लक्ष्यलक्षक-भाव को लक्षणा कहा जाता है। इस शक्ति के सम्बन्ध में विभिन्न मतवाद पाये जाते हैं। कुछ लोग इसे अतिरिक्त पदार्थ मानते हैं और कुछ लोग इसे संकेतात्मक, फलतः इच्छात्मक मानते हैं। पहले तो नैयायिक लोग 'इस पद से इस अर्थ को समझा जाय' जैसे पट शब्द से तन्तुनिर्मित आवरक, फलतः कपड़ा समझा जाय, अथवा 'यह पद इस अर्थ को समझाये' जैसे 'पट शब्द तन्तु निर्मित' आवरक को समझाये' इत्यादि ईश्वर की इच्छा को शक्ति मानते थे, जिसे वे ईश्वर संकेत कहते थे। परन्तु जब उनकी दृष्टि उन कर्ममीमांसकों की ओर गयी कि वे तो ईश्वर मानते नहीं। किन्तु वाक्यार्थ-बोध करते ही हैं। ईश्वरेच्छा की शक्तित्व यदि होता तो ये एवं अन्य निरीश्वरवादी भी वाक्यार्थ-बोध कैसे कर पाते? क्योंकि पद और वाच्य अर्थ इन दोनों के बीच होने वाले संकेतात्मक शक्ति के ज्ञान के बिना पदार्थों की उपस्थिति नहीं हो सकती, और अनुपस्थित पदार्थों को जोड़ कर श्रोता वाक्यार्थ बोध कैसे कर सकता? इन निरीश्वरवादियों को भी जबकि वाक्यों से अन्वित रूप में अ़र्थ-बोध हो रहा है तब अवश्य ही यह मानना होगा कि इन्हें भी ईश्वर-संकेतात्मक शक्ति का ज्ञान पदार्थों की स्मृत्यात्मक उपस्थिति से पूर्व होता हैं। परन्तु वे तो ईश्वर मानते नहीं, फिर कैसे उन्हें पदार्थोंपस्थिति द्वारक शाब्दबोध हो पाता है? तब उन्होंने स्वसम्मत शक्ति-शरीर से ईश्वर को बाहर निकाल फेंका और यह कहा कि ईश्वरसंकेत नहीं किन्तु संकेत ही शक्ति है। चार्वाकीय-सिद्धान्त में भी इस प्रकार की शक्ति कथञ्चित् मान्य हो सकती है। परन्तु इस शक्ति को भी अतिरिक्त पदार्थता सर्वथा अमान्य है। ज्ञात शक्ति एवं अज्ञात शक्ति दोनों प्रकार शक्तियों का खण्डन आगे विस्तृत रूप से किया जायगा।

वस्तुतः उक्त वाच्यचावक-भाव आदि विभागरहित बोध्यबोधक-भाव ही है चार्वाकीय शक्ति, जिसकी चर्चा यहाँ चल रही है। विश्लेषण करने पर बोध्यबोधक-भाव भी परस्पर निरूप्यनिरूपक-भावापन्न बोध्यता और बोधकता के अतिरिक्त और कुछ हो नहीं सकता। यहाँ धर्म और धर्मी भिन्न माने नहीं जाते। ऐसी परिस्थिति में प्रकृत

(३०) वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यासन्निधेः।......व्यापारों व्यक्तिरेव साः ॥२३॥

-काव्यप्रकाश।

बोध्यबोधक-भाव, बोध्य अर्थ और बोधक शब्द ही होकर विश्राम लेता है। अतः शक्ति को संकेत या अतिरिक्त पदार्थ इन दोनों में कुछ भी नहीं मानना चाहिए।

लक्षणा को नैयायिक एवं वैशेषिक लोग लक्ष्य और शब्द इन दोनों के बीच होने वाला सम्बन्ध मानते हैं।[३१] परन्तु अन्य कुछ लोग उसे भी अभिधा की तरह पदगत व्यापार विशेष या सामर्थ्य विशेष ही मानते हैं। परन्तु पदगत अभिधा से लक्षणा में अन्तर यह मानते हैं कि अभिधा जहाँ पदगत स्वाभाविक शक्ति है, लक्षणा वहाँ वैसी न होकर, लोगों के द्वारा पद में अर्पित एक प्रकार सामर्थ्य है।

यहाँ 'अर्पित' की ओर विशेष रूप से ध्यान देने पर मालूम यही पड़ता है कि पूर्वापरीभावापन्न अनेकव्यक्ति-कर्तृक संकेत को ही लक्षणा[३२] कुछ लोगों ने माना है। चार्वाक-सिद्धान्त में भी लक्षणा का समादार अनिवार्य है। क्योंकि लोक व्यवहार में भी लाक्षणिक प्रयोगों का बाहुल्य पाता जाता है। यों तो इस लक्षणा के प्रभेदों की विस्तृत संख्या साहित्यालोचकों ने बतलायी है। परन्तु दार्शनिकों ने उन विस्तृत प्रभेदों की ओर ध्यान नहीं दिया है। केवल जहल्लक्षण और अजहल्लक्षणा इन दो प्रभेदों में लक्षणा को विभक्त बतलाया है। इनके अन्तर जहल्लक्षणा को साहित्यिकों ने लक्षणलक्षणा कहा है और अजहल्लक्षणा को कहा है उपादान लक्षणा। जिस लक्षणास्थल में पद का वाच्य अर्थ बिलकुल अनादृत हो, छोड़ दिया जाय, बोध के लिए लिया न जाय वहाँ की लक्षणा होती है जहल्लक्षण। क्योंकि वहाँ वाच्य अर्थ का हान अर्थात् त्याग होता है। इसी दृष्टिकोण से इसे लक्षण लक्षणा भी कहा जाता है। क्योंकि 'लक्षण' इसका अर्थ है उपलक्षण अर्थात्- और को बतलाने वाला। फलतः लक्षण-लक्षणा शब्द का भी निर्वचन यही प्राप्त होता है कि और को अर्थात् वाच्य अर्थ से भिन्न वस्तु को बतलाने वाली लक्षणा है 'लक्षण लक्षणा'। अजहल्लक्षणा कहलाती है साहित्यिकों के शब्द में उपादान लक्षणा। फलितार्थ दोनों शब्दों का ही होता है। क्योंकि अजहल्लक्षणा। अभिप्रेत अर्थ होता है जिस लक्षणा-स्थल में वाच्य अर्थ न छोड़ा जाय वह। और उपादान-लक्षण का अभिप्रेत अर्थ होता है जहाँ वाक्य अर्थ भी लिया जाय। दोनों कथनों कथनों में अन्तर केवल विधि-मुख और निषेष-मुख उक्ति रूप में ही प्राप्त होता है। चार्वांक-सिद्धान्त में भी इन द्विविधा लक्षणाओं को मान्यता देनी होगी। जहल्लक्षणा का उदाहरण 'गंगा में घर है' इस वाक्य प्रयोग स्थल को लिया जा सकता है। क्योंकि घर के अस्तित्व का सम्बंध गंगा पद के लक्ष्यार्थभूत तट से ही होता है, गंगा से बिलकुल नहीं। अतः गंगा पद का वाक्य अर्थ जल प्रभाव बिलकुल छोड़ दिया जाता है, और अजहल्लक्षण के उदाहरण में ऐसा वाक्य-प्रयोग स्थल उपस्थित किया जाता है जैसे-'नील हिल रहा है', यहाँ 'नील' का निजी अर्थ है नील रंग, वह है गुण। गुण में स्वतंत्र रूप से चलनात्मक क्रिया होती नहीं, अतः नील

(३१) लक्षणा शक्यसम्बन्धः तात्पर्यानुपपत्तितः। -भाषापरिच्छेद।

(३२) लक्षणाऽऽरोपिता क्रिया। -काव्यप्रकाश।

शब्द का लक्ष्य अर्थ लेना पड़ता है नील रूप वाला फूल आदि कोई द्रव्य, क्योंकि उसमें हिलना-स्वरूप चलन सम्भव होता है।

कुछ साम्प्रदायिक अद्वैत-वेदान्ती इन दो लक्षणाओं के अतिरिक्त एक तृतीय जहदजहल्लक्षणा [३३] भी मानते हैं। जिस लक्षणास्थल में वाक्य अर्थ के अन्दर कुछ छोड़ा भी जाय और कुछ रखा भी जाय वह लक्षणा कहलाती है जहदजहल्लक्षणा। इसके लौकिक उदाहरण के रूप में उन लोगों ने 'यह वही देवदत्त है' इत्यादि वाक्य स्थल को उपस्थित किया है। अभिप्राय यह है कि एक भी वस्तु विभिन्न विशेषणयुक्त रूप में प्रातीतिक क्षेत्र के लिए विभिन्न हो जाती है। तदनुसार एक भी देवदत्त तत्कालात्मक विशेषण और एतत्कालात्मक विशेषण इन दोनों से युक्त रूप में एक नहीं रह पायेगा। इस प्रकार विभिन्नता प्राप्त देवदत्त व्यक्ति में अभिन्नता की अपेक्षित प्रतीत अयोग्यतावश हो नहीं पायेगी। अत: 'यह' इसके अर्थ से भी एतत्कालात्मक अंश को और 'वह' इसके अर्थ से भी तत्कालात्मक अंश को निकाल देने पर अभिन्नता की अपेक्षित प्रतीति बन जाती है। अत: वहाँ की लक्षणा कहलाती है भाग-त्याग लक्षणा। चार्वाक-सिद्धान्त में यद्यपि काल नामक स्वतंत्र एक तत्त्व मान्य नहीं है फिर भी किसी-न-किसी रूप में अर्थात् भ्रम में ही अन्तर्भुक्त होने वाले तत्त्व के रूप में उसका अस्तित्व मान्य ही है। अत: यह उदाहरण चार्वाक-सिद्धान्त में भी असंगति नहीं प्राप्त करता।

कुछ लोग इन लक्षणाओं को अन्य दो प्रभेदों में विभक्त करते हैं। वे प्रभेद होते हैं लक्षित-लक्षणा और अलक्षित-लक्षणा [३४] उक्त सभी उदाहरणों को अलक्षित-लक्षणा को स्थल समझना चाहिए। जहाँ वाक्य और लक्ष्य के बीच होने वाला सम्बन्ध साक्षात् न होकर परम्परात्मक होता है वहाँ की लक्षणा होती है लक्षित-लक्षणा। उदाहरण के रूप में 'द्विरेफ गुनगुना रहा है' इत्यादि वाक्य प्रयोग स्थल को उपस्थित किया जा सकता है। क्योंकि यहाँ द्विरेफ शब्द का अर्थ होता है दो रेफ अर्थात् दो 'र'। उन वर्णों का गुनगुनाना, अस्फुट भाव से शब्द करना, असम्भव है। अत: अपेक्षित अन्वयबोध के लिए द्विरेफ पद का बोध्य अर्थ विवक्षित होता है भ्रमर जन्तु। रेफ-द्वयमात्र का वाचक द्विरेफ पद उसे अभिधा द्वारा तो समझा नहीं सकता। क्योंकि वह उसका वाच्य अर्थ नहीं। 'गंगा में घर है' इत्यादि प्रदर्शित लाक्षणिक-वाक्य-स्थल की तरह वाच्य और लक्ष्य अर्थ के बीच साक्षात् सम्बन्ध तो कहा नहीं जा सकता। अत: अगत्या 'स्वघटित-पद-वाक्यत्व' अर्थात् दो रेफों से घटित पद का वाक्य होना, यही सम्बंध कहना होगा। दो 'र' से घटित पद होगा 'भ्रमर' यह पद, उसका वाच्य भ्रमर कीट होता ही है अत: वाच्य दो 'र' और लक्ष्य भ्रमर

---

(३३) यत्र हि विशिष्टवाचक: शब्द: स्वार्थकदेशं विहायैकदेशे वर्त्तते तत्र जहदजहल्लक्षणा।
-वेदान्त परिभाषा, आगमपरिच्छेद।

(३४) यत्र तु शक्यार्थस्य परम्परासम्बन्धरूपा लक्षण सा लक्षितलक्षणा।
-न्यायसिद्धान्त मुक्तावली, आगमपरिच्छेद।

कीट इन दोनों के बीच सम्बंध स्थापित हो जाता है। तदनुसार 'द्विरेफ' पद परम्परात्मक सम्बंध स्वरूप लक्षणावृत्ति से बोध्य रूप में अपेक्षित भ्रमर को समझा पाता है।

इसके अतिरिक्त पद-लक्षणा और वाक्य-लक्षणा इस रूप में भी लक्षणा का एक विभाजन होता है। साहित्यिकों ने प्रकृति-लक्षणा और प्रत्यय लक्षणा का जो उल्लेख किया है उसका आदर यहाँ इसलिए कर्त्तव्य नहीं है कि प्रकृति लक्षणा एवं प्रत्यय-लक्षणा ये दोनों तत्त्वतः पद-लक्षणा ही है। कहने का अभिप्राय यह है कि सुबन्त और तिङन्त को यहाँ पद नहीं वाक्य ही मानना है।

अर्थों के स्मारक या अभिधायक पदों को कुछ विवेचकों ने रूढ़, यौगिक, योगरूढ़, और यौगिकरूढ़ इस प्रकार चार प्रभेदों में विभक्त किया है।[३५] वे समुदाय-शक्ति को कहते है रूढ़ि और अवयव-शक्ति को योग। समुदाय-शक्ति का अभिप्रेत अर्थ है, पूरे शब्द में रहने वाली एक शक्ति और अवयव-शक्ति का अभिप्रेत अर्थ है शब्द के मूलभूत प्रकृति प्रत्यय आदिगत अनेक शक्तियाँ। इन्हीं दो प्रकार शक्तियों की पृथक् कार्यकारिता और मिलित कार्यकारिता के आधार पर वे लोग यौगिक-रूढ़ि और योग-रूढ़ि इन दोनों का संघटन करते हैं। तदनुसार रूढ़ वह पद कहलाता है जहाँ उसके अन्दर अनेक पदों के सम्बन्ध की कल्पना सम्भव प्रतीत नहीं होती। जैसे 'गाय' यह पद है रूढ़ क्योंकि उस पद के अन्दर किन्हीं दो पदों के सम्बन्ध की कल्पना की नहीं जा सकती। पंकज आदि शब्द इसलिए योगरूढ़ होते हैं कि पंकज शब्द समुदित रूप में भी कमल का बोध कराता है और 'पंक' तथा 'ज' इन दोनों की दो शक्तियों के द्वारा भी। 'पंक' का अर्थ है कीचड़ और 'ज' का उससे जायमान। जबकि 'पंकज' आदि पदों में अलग-अलग दोनों ही शक्तियाँ मानी जाती हैं तब केवल अवयव-शक्ति स्वरूप योगशक्ति के द्वारा 'पंकज' शब्द से कीचड़ से उत्पन्न होने वाली अन्य वस्तुएं भी क्यों न समझी जाती हैं? इस प्रश्न के उत्तर में कुछ लोगों का कहना यह है कि रूढ़ि अर्थात् समुदाय शक्ति का ज्ञान केवल यौगिक अर्थात् अवयवार्थ के ज्ञान के प्रति प्रतिबंधक होता, अतः केवल योग से अर्थात् अवयव-शक्ति के सहारे ज्ञाता पंकज शब्द से कीचड़ से उत्पन्न होने वाली अन्य वस्तु को नहीं समझता है। जिस व्यक्ति को रूढ़ि स्वरूप समुदाय-शक्ति मालूम नहीं रहती उसे पंकज शब्द से कीचड़ से उत्पन्न सारी वस्तुओं का ज्ञान होता ही है।

अन्य कुछ लोग उक्त प्रश्न का उत्तर यह देते हैं कि योगशक्ति अनेकात्मक होने के कारण शाब्द-बोधार्थी व्यक्ति को उसे समझने में समुदाय शक्ति को समझने की अपेक्षा विलम्ब लगेगा और उसकी अपेक्षा एक समुदाय शक्ति को शीघ्र समझ लेना स्वभाविक है। तदनुसार सबल समुदाय-शक्ति के द्वारा जबकि पंकज पद से कमल स्वरूप वस्तु उक्त प्रकार बौद्धों के समक्ष उपस्थित रहती है तब पीछे समझी जाने वाली अवयव-शक्ति भी

---

(३५) शक्तं पदम्। तच्चतुर्विधम्। क्वचिद्यौगिकं, क्वचिद्रूढ़ं, क्वचिद्योगरुढ़ं, क्वचिद्यौगिक रूढ़म्। *-न्यायसिद्धान्त मुक्तावली।*

उस प्रथमोपस्थित कमल के साथ ही इसलिए लिपट जाती है कि इस निकट-प्राप्त कमल अर्थ में भी पंकजन्यता होती ही है। जबकि समान भाव से अपेक्षित अनेकों के अन्दर एक कोई निकट में ही उपलब्ध हो जाता है तो अपेक्षाशील-व्यक्ति उसी के साथ सम्बन्ध जोड़ लेता है, औरों को खोजने अन्यत्र जाता नहीं, यह बात लोकसिद्ध ही है। यौगिक पद वह कहलाता है जो दो पदों को जोड़कर निष्पन्न होता है एवं अंगभूत दो पदों की दो शक्तियों के सहारे बोध्य अर्थ को समझता है। जैसे 'गायक' 'वादक' आदि शब्द होते हैं यौगिक। इन शब्दों के अन्दर आने वाली धातु से गायन, वादन आदि क्रियाएं समझी जाती हैं और प्रत्यय अंश से समझा जाता है कर्ता। दोनों को मिलकर श्रोता 'गान करने वाला' 'बजाने वाला' इत्यादि अर्थों को समझता है। यौगिक रूढ़ उस पदों को कहा जाता है जिसकी शक्तियाँ तो योग रूढ़ पदों की ही तरह एकाधिक होती हैं और उन शक्तियों के अन्दर एक योग-शक्ति अवश्य होती है। इसके उदाहरण के रूप में लोगों ने 'उद्भित' शब्द को उपस्थित किया है। क्योंकि यह शब्द अपनी समुदाय-शक्ति के द्वारा तो एक प्रकार यज्ञ को बतलाता है और अवयव-शक्ति के सहारे उन पेड़-पौधे आदि को बतलाता है जो भूमि को फोड़कर ऊपर निकलते हैं। योगरूढ़ और यौगिक-रूढ़ पदस्थलीय परिस्थितियों पर ध्यान देने पर इन दोनों में मौलिक अंतर इतना ही मालूम होता है कि योगरूढ़ पदों की उक्त द्विविध शक्तियाँ नियमतः एक ही जगह केन्द्रित होकर मिलित रूप में एक ही वस्तु को समझाती है और यौगिक-रूढ़ की उक्त प्रकार द्विविध शक्तियाँ एकत्र केन्द्रित नहीं होतीं। दोनों अलग-अलग वस्तुओं के साथ सम्पृक्त होकर अनियत रूप में अलग अलग वस्तुओं को समझाती है। उद्भित् शब्द वैदिक यज्ञ प्रकरण में श्रुत होने पर वह यज्ञ-विशेष को ही समझाता है लता, पेड़, पौधे, आदि को नहीं। और यज्ञासम्पृक्त काव्यों में श्रुत 'उद्भित' शब्द लता, पेड़, पौधे आदि को ही समझाता है। इसीलिए कुछ विवेचकों ने यौगिकरूढ़ को योगरूढ़ [३६] से अलग नहीं माना है। क्योंकि उक्त द्विविध शक्तियाँ दोनों जगह समान रूप से ही मान्य होती हैं।

उचित तो यह होगा कि यौगिकरूढ़ को योगरूढ़ भी न माना जाय। क्योंकि जब वह केवल समुदाय-शक्ति के द्वारा अपने अर्थ को समझायेगा तब होगा वह केवल रूढ़ और जब केवल अवयव-शक्ति के सहारे अपने अन्य अर्थ को समझायेगा तब होगा वह केवल यौगिक। इस प्रकार वह योग-रूढ़ भी कभी नहीं हो पायेगा।

तत्त्वतः यदि गम्भीर भाव से विवेचन करके देखा जाय तो पदों का यह प्रदर्शित विभाजन ऐसे दार्शनिक के लिए ही उचित प्रतीत होता है जो कि पदों, अर्थों और उनके बीच होने वाले सम्बन्धों को स्वाभाविक अर्थात् नित्य मानते हैं। जो लोग शब्द और अर्थ

---

(३६) रूढ़ं च लक्षकं चैव योगरूढ़ं च योगिकम् ॥१६॥

-शब्दशक्तिप्रकाशिका, नामप्रकरण।

(३७) लाक्षणिकं पदं नानुभावकम्। *-न्यायसिद्धान्त मुक्तावली।*

के बीच होने वाले सम्बंधों को सांकेतिक मानते हैं उनका उक्त विभाजन फलत: संकेत के विभाजन के ऊपर ही जा गिरता है। और संकेत के अव्यवस्थित होने के कारण उसके आधार पर किया जाने वाला पदविभाजन भी व्यवस्थित होने के कारण उसके आधार पर किया जाना वाला पदविभाजन भी व्यवस्थित नहीं हो सकता। यदि पद और अर्थ के बीच होने वाले सम्बंध को सांकेतिक न माना जाय और संकेत की व्यवस्था मानी जाय तो समय-समय पर होने वाला तन्मूलक शब्द विभ्रम बन नहीं पायेगा। किन्तु ऐसा विभ्रम होता हुआ पाया जाता है।

कुछ लोग लाक्षणिक [३७] पदों को अनुभावक अर्थात् शब्द-बोध के प्रति जनक मानते नहीं। उनका कहना है कि शक्तपद ही पूरे वाक्यार्थ-बोध का सम्पादन करते हैं। उदाहरण के द्वारा इसे यो समझा जा सकता है जैसे 'गंगा में घर है' इस लाक्षणिक वाक्य-प्रयोगस्थल में गंगापद, जो कि लाक्षणिक है केवल अपने लक्ष्य अर्थ तट का स्मरण कराता है। वहाँ होने वाले 'गंगा तट में घर है' इस शब्द-बोध के प्रजनन में उसका कोई हाथ नहीं! रही बात शाब्दबोध के सम्पादन की तो उस काम को वाक्यघटक एक या अनेक शक्तपद ही करते हैं। फलत: उक्त उदाहरण स्थल में गृहवाची 'घर' पद ही पूरे वाक्यार्थ बोध का सम्पादन करता है ऐसा उन लोगों का कहना है। ऐसे कहने वालों का सरल अभिप्राय यह है कि पदों में विद्यमान शक्ति के प्रभेद दो हैं अनुभाविका और स्मारिका। शक्त-पदों में ये दोनों शक्तियाँ होती हैं और लक्षक पद में केवल स्मारिका शक्ति होती है। परन्तु यह अनुपपन्न इसलिए भी प्रतीति होता है कि जिस वाक्य में वक्ता सारे पदों का लाक्षणिक रूप में ही उपन्यस्त करेगा वहाँ क्या होगा? वहाँ पूरा वाक्यार्थ-बोध कैसे सम्पन्न हो पायेगा? क्योंकि वहाँ तो कोई एक भी शक्त पद रहेगा ही नहीं। यह कहना भी कैसे संगत कहा जा सकता कि सर्वलाक्षणिक पद-घटित-शब्द, जहाँ वाक्यता के सम्पादक आकांक्षा आदि विद्यमान हो वाक्य नहीं। आकांक्षा आदि युक्त पद समूह ही तो कहलाता है वाक्य? यदि यह कहा जाय कि सर्वलाक्षणिक पदस्थल में योग्यता नहीं रहेगी। क्योंकि लक्षणा के द्वारा योग्यता का सम्पादन वहाँ भी हो ही जायेगा। अन्यथा किञ्चिल्लाक्षणिक-पद-घटित वाक्य स्थल में भी योग्यता कैसे बन पायेगी? अत: शक्पद की तरह लाक्षणिक पदों को भी अनुभावक मानना चाहिए।

वाचक पदों को किसका वाचक माना जाय, जाति का, आकृति का या व्यक्ति का? इस सम्बंध में भी दार्शनिकों के बीच बड़ी विप्रतिपत्ति पाई जाती है। कोई यदि जाति-शक्तिवाद का ही आदर करता हुआ पाया जाता है, तो कोई व्यक्ति-शक्तिवाद का। कुछ लोग एक शक्तिवाद न मानकर सम्मिलित शक्तिवाद का आदर करते हैं। जातिमात्र शक्तिवादी मीमांसकों का कहना यह है कि व्यक्ति-शक्तिवाद का आश्रयण इसलिए नहीं किया जा सकता कि व्यक्तियाँ असंख्य होती है। पदशक्ति को उनके साथ सम्पृक्त करने पर एक पद की असंख्य शक्तियाँ मान्य हो बैठेंगी। जिसके फलस्वरूप महान् कल्पनागत

गौरव होगा। और असंख्य शक्तियों में यदि एक पद की असंख्य शक्तियाँ न मानी जाय। तो एक पद के श्रवण से सारी व्यक्तियों की जो उपस्थिति एवं शाब्दबोध होता है वह न हो पायेगा। 'गाय' पद और गाय अर्थ के बीच वाच्य-वाचक-भाव एक बार समझ लेने पर कहीं की किसी भी गाय के सम्बंध में उस समझदार व्यक्ति को यह संदेह नहीं उठता कि इसे गाय कहा जाय या नहीं? यह गाय शब्द का वाच्य अर्थ है या नहीं? व्यक्ति शक्तिवाद की मान्यता-पक्ष में ऐसी परिस्थिति नहीं हो सकती, यदि सब गायों में अलग-अलग 'गाय' पद की शक्ति न मानी जाय। और ऐसा मानने पर असंख्य व्यक्तिगत असंख्यक शक्तियाँ मान्य हो जाती हैं, यत्प्रयुक्त कल्पना-गौरव अनिवार्य हो जाता है, यह बात पहले भी कहीं गयी है। अतः विश्रृंखल व्यक्ति-शक्तिवाद न मानकर जाति-शक्तिवाद का ही समादर उचित है। जाति-शक्तिवाद के समादर पक्ष में ये आपत्तियाँ इसलिए नहीं आ पाती हैं कि असंख्य गायों में जिनके अन्दर अतीत और अनागत, व्यवहित और विप्रकृष्ट सारी गायें आ जाती है 'गायत्व' कहिए या 'गोत्व' एक ही होता है। उसी में 'गाय' पद की शक्ति मान्य होती हैं। वह सब गायों में समान रूप से रहने के कारण 'सामान्य' होता है। सामान्यों को ही अन्य शब्द में जाति भी कहा जाता है। यह सब गायों में एक अनुगत होने के कारण उसके साथ सम्बद्ध 'गाय' पद की शक्ति भी एक ही होती है। अतः असंख्यता की आपत्ति भी नहीं होती है, अतः जाति-शक्तिवाद ही मान्य है।

बौद्ध-दार्शनिकगण मीमांसक-सम्मत सामान्यात्मक जाति तो मान सकते नहीं। क्योंकि वे यदि ऐसा मानें तो नित्य-सामान्य की मान्यता प्रयुक्त उनका सर्वक्षणिकत्व-सिद्धान्त ही चौपट हो जाय। परन्तु एक गाय पद से सारी गायों को समझने की समस्या उनके समक्ष भी उसी प्रकार उपस्थित है जैसे औरों के समक्ष। अतः इस समस्या को हल करने के लिए वे लोग यह कहते हैं कि भावात्मक सामान्य तो सचमुच मान्य नहीं है, परन्तु अपोहात्मक एक अनुगत सामान्य मुझे भी मान्य है। अपोह का अर्थ होता है 'अतद्व्यावृत्ति' अर्थात् 'तदिभन्न-भेद'। गायों से भिन्न होते हैं गायों को छोड़ कर अन्य सारी वस्तुएँ और उन सबसे भिन्न उलट कर होती है सारी गायें ही। अतः गोभिन्न-भेदात्मक अगोव्यावृत्तिस्वरूप अपोह सब गायों में अनुगत एक होता है। इसी अपोह के साथ पदशक्ति का सम्बन्ध स्थिर समझना चाहिए। इसी कारण व्यक्ति-शक्तिवाद पक्ष में आये दोषों का परिहार बौद्ध-दार्शनिकों के यहाँ भी सम्भव है। क्योंकि सकल गायों में अनुगत उस अपोह के माध्यम से पदशक्ति सारी गायों से सम्बद्ध हो जाती है। अतः अतीत और अनागत, व्यवहित और विप्रकृष्ठ गायों तक को एक 'गाय' पद से समझने में कोई कठिनता नहीं रह जाती।

नैयायिक और वैशेषिक लोग इस सम्बंध में अपना अलग मतवाद उपस्थित करते है। वे कहते हैं कि न केवल जाति में पदशक्ति मान्य है और न केवल व्यक्ति में

(३८) जात्याकृतिव्यक्तयः पदार्थः ॥ ६४ ॥ - *न्यायदर्शन।*

क्योंकि केवल व्यक्ति-शक्तिवाद की मान्यता में दोषों का उद्भावन मीमांसक पक्ष से किया ही जा चुका है। रही बात केवल जाति शक्तिवाद की, तो वह इसलिए मान्य नहीं ठहराया जा सकता कि व्यक्ति में यदि पदशक्ति मानी ही न जायगी तो शब्द-बोध में व्यक्ति का नियत विषयीभवन कैसे संगत हो सकता? यदि लाक्षणिक वाक्य-से अतिरिक्त स्थल में अशक्य वस्तुओं का भी विषयीकरण माना जाय तो शब्द-बोध के अन्तर विषयनियम की कोई व्यवस्था नहीं रह पायेगी। जिसका कुफल यह होगा कि सारा उपदेश्य-उपदेशक-भाव चौपट हो जायेगा। वाग्व्यवहारमूलक सारी शिक्षाएं अस्त-व्यस्त हो उठेंगी। अत: व्यक्तियों में भी जाति की तरह पदों की शक्तियाँ मान्य हैं। यदि जातिमात्र-शक्तिवादी मीमांसक इस पर यह कहें कि जाति और व्यक्तियाँ इन दोनों के लिए तुल्य वित्तिवेद्यता का नियम है। अर्थात् जाति और व्यक्ति इन दोनों के लिए यह नियम है कि ये साथ ही प्रतीत हुआ करते है। अत: जाति के साथ व्यक्ति का भान जातिशक्तिवाद में भी सम्भव है तो उनसे नैयायिकों की ओर से यह पूछे जाने पर कि जाति और व्यक्ति इन दोनों में ऐसी तुल्य-वित्तिवेद्यता का नियम क्यों है? क्या कारण है कि जाति और व्यक्ति दोनों साथ ही शब्दबोध के अन्दर विषय रूप में नियत रूप से भासा करते हैं। हम तो इस प्रश्न के उत्तर में यह कह सकते हैं कि पद शक्ति जाति की तरह व्यक्ति में भी रहती है इसीलिए दोनों साथ ही भासते हैं, परन्तु तुम उस प्रश्न का उत्तर क्या दे सकोगे? क्योंकि तुम तो व्यक्तियों में पदशक्ति मानते नहीं? तो इसके उत्तर में मीमांसकों को सचमुच चुप रहना पड़ेगा।

नैयायिकों ने जाति और व्यक्ति के साथ यद्यपि आकृति को भी पद का वाच्य माना है,[३८] न्याय सूत्रकार गौतम ने स्पष्ट रूप में कहा है कि जाति, आकृति और व्यक्ति इन तीनों में पद की एक शक्ति मान्य है। फिर भी परवर्ती नैयायिकों के अन्दर कुछ ने तो आकृति को छोड़ ही दिया और कुछ ने उसका अर्थ बदल डाला। आकृति शब्द का अर्थ कर डाला सम्बंध। इसका कारण यह हुआ कि उनके दृष्टिपथ पर गुणवाची और क्रियावाची शब्द आ उपस्थित हो गये। आकृति सावयव द्रव्यों के लिए ही सम्भव है, औरों के लिए नहीं। अत: गुणवाची और क्रियावाची शब्दस्थल में आकृति को वाच्यता सम्भव होती नहीं। क्योंकि गुण और क्रिया आकृति होती नहीं।

इन विभिन्न विचारों की उपस्थिति के अनन्तर इस जिज्ञासा का उदित होना स्वभाविक है कि चार्वाकीय-दृष्टिकोण में पदशक्ति कहाँ मान्य हो सकती है? तो इस सम्बंध में ज्ञातव्य है कि यहाँ केवल आकृति शक्तिवाद ही मान्य है। जिसे आकृति और आकृतिमान् की अभिन्नता की दृष्टि से व्यक्ति समूह-शक्तिवाद भी कहा जा सकता है। यद्यपि इस केवल आकृति-शक्तिवाद का खण्डन न्यायसूत्रकार गौतम ने अपने सूत्रों द्वारा किया है। उन्होंने इसके विरुद्ध यह कहा है कि केवल आकृति को पद का शक्य मानने पर गोदान की कर्तव्यता स्थल में मिट्टी की भी गैया दी जाने लगी। क्योंकि गोदान की

विधेयता ख्यापक वाक्य के अन्दर आने वाला 'गो' शब्द आकृति का ही प्रतिपादन करेगा। परन्तु मिट्टी की गाय का दान किया जाता नहीं, अतः आकृति को पद का शक्य नहीं माना जा सकता। परन्तु यह उनका खण्डन इसलिए औचित्य नहीं रखता कि स्वर्णमय गाय की प्रतिमा का दान होता पाया ही जाता है। मिट्टी की गैये का दान तो इसलिए नहीं होता कि लेने वाला उससे क्या लाभ उठायेगा? क्यों लेगा? और लेने वाला उपस्थित न होने पर दान इसलिए नहीं बन पाता कि दाता के स्वत्व की निवृत्ति मात्र ही दान नहीं है, किन्तु तत्पूर्वक परकीय स्वत्व का उत्पादन। इसलिए दाता का देना प्रमाणित होने पर भी गृहीता कर्त्तृक स्वीकार प्रमाणित न होने पर दाता का त्याग कानून की दृष्टि में भी दान नहीं माना जाता है। इसीलिए गैये की मृण्मय सूर्ति का दान नहीं होता है। किन्तु सोने की गैये का दान होता ही है और तात्त्विक दृष्टि से खनिज सोना भी मिट्टी ही है, पार्थिक ही है; इस दृष्टिकोण को अपनाने पर स्वर्णमय गोप्रतिमा का दान भी फलतः मृण्मय गोदान ही है। ऐसी परिस्थिति में उक्त सूत्रकार गौतम का यह कथन कि 'आकृति को पदवाच्य मानने पर गैये को मृण्मूर्ति का भी दान प्रसक्त हो उठेगा'' कहाँ संगत हो पाता है? इससे बढ़ कर आकृतिशक्तिवाद का स्थापक प्रमाण प्रमाणान्वेषियों को और क्या चाहिए कि मर्यादापुरुषोत्तम कहलाने वाले राम ने अपनी धर्मपत्नी सीता के अभाव में उनकी स्वर्णमयी प्रतिमा को अपनी धर्मपत्नी सीता का स्थान देकर विधेय कृत्य का सम्पादन किया? यदि उसके विधायकवाक्यगत पत्नीवाची शब्द को राम आकृतिवाची न मानते तो भला कैसे सीता की स्वर्णमय प्रतिकृति को सीता का स्थान देते?

हाँ, एक बात यहाँ यह नहीं भूलनी चाहिए कि मीमांसक लोग एवं व्यवहारिक क्षेत्र में उनके मतानुगामी आचार्य शंकर ने आकृति शब्द का प्रयोग बहुधा जाति अर्थ में किया है। किन्तु यहाँ आकृति शब्द का अर्थ वहीं विवक्षित है जिसे न्यायसूत्रकार गौतम ने आकृति शब्द का अर्थ माना है। कहने का तात्पर्य यह है कि अवयवों का संघटन की यहाँ आकृति शब्द से विविक्षित है।

अब यहाँ प्रश्न यह उपस्थित हो सकता है कि जिस भय से परवर्ती नैयायिकों ने आकृति को पदाशक्य कोटि से हटा दिया, वह भय यहाँ क्यों नहीं प्राप्त होता है? तात्पर्य यह कि गुणवाची और क्रियावाची शब्दस्थल में आकृति पदवाच्य कैसे हो सकेगी? तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि उस भूताद्वैती सिद्धान्त में धर्म और धर्मी अभिन्न होने के कारण गुण और क्रिया का स्वतंत्र अस्तित्व मान्य नहीं है। ऐसी परिस्थिति में गुणवाची एवं क्रियावाची पद भी फलतः द्रव्यवाची ही हो जाते हैं। अतः यहाँ उक्त भय निरवकाश है।

यदि नैयायिकों की ओर से फिर भी यह प्रश्न उपस्थित किया जाय कि आकाश आदि निरवयव द्रव्यवाची शब्दों के प्रयोगस्थल में बोध कैसे उपपन्न हो पायेगी? क्योंकि निरवयव की आकृति सम्भव नहीं। तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि इस चार्वाक-

सिद्धान्त में न्याय-वैशेषिक-सम्मत आकाश आदि द्रव्य मान्य नहीं है। इसका विस्तृत यौक्तिक विवेचन आगे किया जायेगा।

इस विहित विचार के अन्दर क्रिया के द्रव्याभेद की की गयी चर्चा से यह भी सन्देह स्वतः निवृत्त हो जाता है कि सिद्धार्थक वाक्य भी प्रमाण हैं या नहीं? कहने का तात्पर्य यह है कि मीमांसकों का कहना यह है कि सिद्धार्थक वाक्य निष्प्रयोजन होने के कारण प्रमाण नहीं माने जा सकते। फलतः ऐसे वाक्यों को बोधकता भी मान्य नहीं। चार्वाकीय सिद्धान्त इस सम्बंध में यह समझना चाहिये कि यहाँ क्रिया और क्रियावान् की अभिन्नता मान्य होने के कारण वस्तुओं के अन्दर 'सिद्ध' और साध्य का भेद ही लुप्त हो जाता है। अतः सारे पद सिद्धार्थक ही हो जाते हैं केवल साध्यर्थक कोई रह ही नहीं पाता। अतः वाक्यों को सिद्धार्थक माना जाय या नहीं इस प्रकार सन्देह ही उपस्थित नहीं किया जा सकता।

कुव्ज-शक्तिवादी प्रभाकर का यह अभ्युपगम भी औचित्यपूर्ण प्रतीत होता नहीं कि जाति में ज्ञाता और आकृति में अज्ञाता अर्थात् स्वरूप सती शक्ति मानी जाय। क्योंकि जाति-शक्तिवाद की आलोचना की जा चुकी है और जातिशक्तिवादी भी जाति की आकृतिव्यंगय मानते हैं। फलतः आकृति होती है उनके मत में जाति का प्रकाशक। प्रकाश्य देखा जाय और प्रकाशक अज्ञात रह जाय यह कभी सम्भव नहीं। क्या ऐसा कहना कभी संगत कहला सकता है कि अंधकार-स्थित प्रकाश्य वस्तुएँ तो देखी जाती हैं किन्तु द्वीप आदि का वह प्रकाश, जिसके सम्पर्क-प्रयुक्त अंधकारस्थित वे वस्तुएँ देखी जाती हैं। वह नहीं देखा जाता है? अतः आकृतिगत शक्ति को अज्ञायोपकारक नहीं कहा जा सकता। किन्तु यह सदा ध्यान रखने की बात है कि यह ज्ञात पदशक्ति भी अग्नि आदिगत अज्ञात शक्ति की रह कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं। यह शक्ति संकेतात्मक ही है और कुछ नहीं।

सम्भव है कि यहाँ कुछ लोग यह प्रश्न उपस्थित करें कि आकृति की शक्यता मान्य होने पर लक्षणा, शक्य-सम्बंध कैसे कहलायेंगी? 'गंगा में घर है' इत्यादि वाक्य-प्रयोग-स्थल में तट आदि लक्ष्य अर्थों के साथ सामीप्य आदि सम्बंध, प्रवाह आदि व्यक्ति का ही सम्भव है, आकृति का नहीं। यदि यह कहा जाय कि प्रवाहगत आकृति का तटगत आकृति के साथ प्रवाहतट-घटित सम्बंध जोड़ा जा सकता है, तो यह कथन इसलिए उचित नहीं प्रतीत होगा कि तब सारी लक्षणाएँ लक्षित-लक्षणा हो जायेंगी क्योंकि साक्षात्सम्बंध तो बोध्य और शक्य का कहीं हो ही नहीं पायेगा। तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि आकृति और आकृतिमान् की अभिन्नता पहले भी बतलाई जा चुकी है, अतः फलतः उक्त लक्षणा के उदाहरण स्थलों में सामीप्य आदि साक्षात्-सम्बंध ही प्राप्त हो जायेंगे। दूसरी बात यह भी इस सम्बंध में ध्यान रखने की है कि लक्षित-लक्षणा

---

(३६) शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्य। वाक्यस्य शेषाद्विवृतेवदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः *-न्यायसिद्धान्त-मुक्तावली, शब्दखण्ड।*

स्थल में सम्बंध में केवल परम्परात्व ही नहीं विवक्षित होता है। किन्तु उसके साथ-साथ बोध्य अर्थ के वाचक पद से घटित होना भी विवक्षित होता है प्रसिद्ध लक्षित लक्षणा स्थलीय उदाहरण 'द्विरेफ' पदघटित-वाक्य-प्रयोगस्थल में बोध्य भ्रमर कीट का वाचक भ्रमर पद भी सम्बंध घटक हो जाता है, यह बात बतलायी ही जा चुकी है।

लक्षणा के सम्बंध में यह भी ज्ञातव्य है कि कुछ लोग पद की ही लक्षणा मानते हैं, वाक्य लक्षणा नहीं। उनकी इस सम्बंध में युक्ति यह है कि कोई शक्य, पद का ही होता है वाक्य का नहीं। ऐसी परिस्थिति में वाक्य लक्षणा कैसे मान्य हो सकती? क्योंकि 'शक्य सम्बन्ध ही है लक्षणा' यह बात पहले बतलायी जा चुकी है। परन्तु यह उनका कथन इसलिए संगत नहीं कहा जा सकता कि पदशक्ति की तरह वाक्यशक्ति की मान्यता भी अनिवार्य है। वृद्ध व्यवहार होने वाले शक्तिग्रह स्थल में शक्ति के ग्रहीता बच्चों के समक्ष पहले वाक्य ही उपस्थित होता है और उससे वह पूरे अर्थ को ही समझता है। पश्चात् पदों के आवाप और उद्धाप से टटोल कर पदशक्ति की अवगति प्राप्त करता है, यह सर्वविदित है। अत: पदशक्ति की तरह वाक्यशक्ति भी मान्य ही है।

इस लिये भी वाक्य, शक्ति मान्य है कि बहुत से वाक्य परवर्ती भ्रान्त लोगों के द्वारा पद समझे जा सकते हैं। उदाहरण के रूप में 'इतिहास' पद को भली-भाँति उपस्थित किया जा सकता है। गम्भीरतापूर्वक इस पर दृष्टिपात करने पर यह स्पष्ट मालूम होता है कि यह संस्कृत भाषा का एक पूर्ण वाक्य था। क्योंकि विग्रह करने पर इसका रूप प्राप्त होता है इति, ह, आस। इस रूप में इसे देखने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह क्रियापद घटित एक पूर्ण वाक्य है जिसका अर्थ होता है 'इति' अर्थात् यह (घटना 'ह' किल, अर्थात् निश्चय ही, 'आस'-था, अर्थात् हुआ था। सन्धि के प्रभाव ने लोगों को यह समझा दिया कि यह एक पद है। तदनुसार लोग उसे प्रतिवादिक अर्थांत् नाम, फलत: संज्ञावाची शब्द मान कर उसके आगे प्रत्यय लाकर 'इतिहास' इत्यादि संस्कृत प्रयोग भी करने लगे। पर कोई किसी को और कुछ समझ बैठे तावता वह वस्तु थोड़ी ही बदल जायेगी? अत: परवर्ती लोगों के द्वारा पद समझे जाने पर भी 'इतिहास' शब्द वाक्य ही रहेगा और उसकी शक्ति तो पुरावृत्त अर्थ में कोशकारों ने भी मानी है है। एक यही शब्द ऐसा नहीं है, खोजने पर और भी बहुत से शब्द ऐसे मिलेंगे। 'पुराण' शब्द भी ऐसा ही है जिसकी चर्चा आगे चलकर उपयुक्त स्थान में की जायेगी। अत: पदशक्ति की तरह वाक्य शक्ति भी मान्य है। सुतरां उसके शक्य अर्थ का अभाव नहीं बतलाया जा सकता यत्प्रयुक्त वाक्यलक्षणा की मान्यता ठहराई जा सके।

संकेतात्मक पदशक्ति या वाक्यशक्ति के ज्ञान के अनन्तर ही श्रोता उस पद के वाच्य अर्थ को स्मरण करताहै, यह बात पहले शाब्दबोध की प्रक्रिया बतलाते समय कही जा चुकी है। वह शक्तिज्ञान किस प्रकार किन कारणों से श्रोता को होता है? इसके सम्बंध में भी विभिन्न दार्शनिकों के मत विभिन्न पाये जाते है। मीमांसक लोभ वृद्ध व्यवहार से ही पदशक्ति

का ज्ञान मानते हैं जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है और अन्य कुछ लोग आप्तवाक्य से भी शक्ति का ज्ञान होना मानते हैं। नैयायिक लोग व्याकरण, उपमान, कोश, आप्तवाक्य, वृद्धव्यवहार, वाक्यशेष, विवरण और प्रसिद्ध पदों के सन्निध्य इतने कारणों से पदशक्ति का ज्ञान मानते हैं।[३६] परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि वृद्धव्यवहार आप्तवाक्य और प्रसिद्ध पद का सान्निध्य इन तीन कारणों से वैकल्पिक रूप में पदशक्ति का ज्ञान मान्य है। यह इसलिए कि व्याकरण उपमान कोश वाक्य-शेष और विवरण इन सबको आप्तवाक्य में गतार्थ समझा जा सकता है। जैसे शाब्दिक परिस्थिति के नियामक वाक्यों को ही कहना होगा व्याकरण, वह भी जिस किसी व्यक्ति का वाक्य न होकर शाब्दिक परिस्थिति का नियमन नहीं कर सकता। अत: उसे भी आप्तवाक्यात्मक मानना ही होगा। उपमान स्थल में भी आप्तवाक्य ही मूल रूप में शक्ति का ग्राहक होता है। मूंग जैसे देखे जाने वाले पौधों को 'मुद्‌गपर्णी' समझना इस आप्तवाक्य के आधार पर ही तो उपदिष्ट व्यक्ति मुद्‌गपर्णी का परिचय प्राप्त करता है, यह समझता है कि 'इसी बूटी को कहते हैं मुद्‌गपर्णी'। कोशों को भला आप्तवाक्य के अतिरिक्त क्या कहा जा सकता है? कोशों को ग्रन्थात्मक मानने परभी ग्रान्थिक लिपियों को कोशकारात्मक आप्त व्यक्ति के वाक्यों को ही स्मारक मानना होगा। वाक्य, शेष होता है पूर्व वाक्य से सम्पृक्त परवर्ती वाक्य। वहाँ पूर्व और पर दोनों वाक्यों का आप्तोक्त होना भी आवश्यक ही है। नहीं तो उन्मत और प्रमत्त के वाक्य भी निश्चायक माने जाने लगेंगे। अत: वाक्य-शेष को भी आप्तवाक्य मानना ही होगा। विवरण भी आप्त वाक्यात्मक ही होता है, क्योंकि पूर्वकथित का शब्दान्तर से कथन ही होता है विवरण। वह कथन अवश्य ही आप्त व्यक्ति के वाक्य रूप से निश्चित होकर ही श्रोता के लिए बोधक हो सकता है। अत: विवरणात्मक कथन को भी आप्तवाक्य मानना हो होगा।

सम्भव है कुछ लोग यहाँ यह कह कर इस निर्णय में बाधा उपस्थित करना चाहें कि विवरण सर्वत्र कथनस्वरूप ही होगा, यह निश्चय नहीं किया जा सकता। क्योंकि विवरण इंगित से भी हुआ करता है। तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि इंगित भी श्रोता के हृदय में बोधक वाक्य को उपस्थित करके ही ज्ञाप्य अर्थ का निश्चायक होता है और साथ ही निश्चेता उस इंगित-कर्ता में आप्तत्व का निश्चय करके ही उसके इंगित से अर्थ का निश्चय करता है, अत: वहाँ फलत: आप्तवाक्य ही निश्चायक होता है, अन्य कोई नहीं।

इन निश्चायकों के द्वारा बोधक शब्द और बोध्य वस्तुएँ इन दोनों के बीच विद्यमान संकेतात्मक शक्ति का ज्ञान कैसे होता है? उसकी प्रक्रिया क्या है? यह जिज्ञासा उदित होने पर पारिस्थितिक विभिन्नतावश उसकी अलग-अलग प्रक्रियाएँ समझनी चाहिए। धातु एवं नाम स्वरूप प्रकृति, तथा प्रत्यय इनका अर्थ निश्चय व्याकरण के ज्ञानोपार्जन से होता है। कौन धातु किस अर्थ का बोधक है, किस धातु की शक्ति किस अर्थ में है इसका ज्ञान पूर्ण रूप से

(४०) घटादिपादनाँ कार्यान्वित घटादिबोधे सामर्थ्यांवधारणात्। ....इति केचित्।
– *न्यायसिद्धान्त मुक्तावली।*

व्याकरण ही कराता है, अत: शब्दों की उन अर्थों में होने वाली शक्ति का ज्ञान व्याकरण से होता है, अत: व्याकरण को शक्तिग्राहक माना गया है। परन्तु उस सम्बन्ध में यह ध्यान रखने की बात है कि नामों के अन्दर उन्हीं नामों की शक्ति का ज्ञान व्याकरण से सम्भव है जो व्याकरण-नियम के अनुसार प्रकृति एवं प्रत्यय के सम्बंध में निष्पन्न माने जाते हैं। सर्वथा रूढ़ नामों की शक्ति को बतलाना उसके शक्ति से सर्वथा बाहर है। यह बात सही है कि अधिकतर नाम-शब्द अपने प्रचलन की प्रारम्भिक अवस्थाओं में यौगिक ही होते हैं। वे जब तक अपने प्रकृति और प्रत्यात्मक अंश के अर्थों को अपना अर्थ बनाये रखते हैं तब तक वे व्याकरण से होने वाले शक्तिग्रह की परिधि के अन्दर रहते हैं। किन्तु कालक्रम के अनुसार कुछ लोग जब विभिन्न अर्थों में उसे प्रयुक्त करने लगते हैं और वह प्राचीन अर्थ में यौगिक रहने वाला शब्द नवीन अर्थ में रूढ़ बन जाता है और वह व्याकरण साध्य शक्तिग्रह की सीमा से निकलकर अधिकतर कोशसाध्य शक्तिग्रह की सीमा में चला जाता है।

उपमान से होने वाले शक्तिग्रह के सभी उदाहरण प्रचुर हैं। कोई व्यक्ति यदि किसी आरण्यक व्यक्ति से यह सुनता है कि 'गवय पशु गाय के ऐसा होता है' और अनन्तर कभी जंगल जाने पर ऐसे प्राणी को देखता है, जिसे वह गाय के समान आकृति युक्त भी देखता है। साथ ही संयोगवश उसे पहचान भी याद आ जाती है कि 'गवय पशु गाय के ऐसा होता है,' तो वह उस पशु को देखने वाला व्यक्ति इस प्रकार शक्ति निश्चय करता है कि 'गवय पद का वाच्य पशु यही है' 'इसे ही लोग गवय कहा करते हैं' इत्यादि।

कोश से पदशक्ति का परिचय होता है, यह आज के शिक्षितों के लिए सर्वाधिक परिचित है। जहाँ पढ़ते समय गाड़ी अटकती है, किसी पद का अर्थ पढ़ने वालों को समझ में आता नहीं तो शीघ्र वह उस भाषा के कोशात्मक ग्रन्थ को उलट कर उस शब्द के अर्थ का, फलत: उस अर्थ में विद्यमान उस पद की शक्ति का निर्णय करके आगे बढ़ता है।

आप्त वाक्य से पदशक्ति का ज्ञान होना सर्वाधिक प्रसिद्ध है जहाँ और साधन काम नहीं देते या प्राप्त नहीं रहते, किन्तु किसी पद के अर्थ की जिज्ञासा प्रबल रहती है तो जिज्ञासु व्यक्ति जिसे उस विषय का ज्ञाता एवं आवश्यक समझता है उसके समक्ष अपनी जिज्ञासा व्यक्त करता है और वह पुष्ट आप्त उसे व बतला देता है कि 'इस पद का वाच्य अर्थ यह है' जैसे 'पिक' शब्द का अर्थ है कोकिल। ऐसी परिस्थिति में वह जिज्ञासु व्यक्ति उस समय से सदा के लिए यह समझ जाता है कि 'पिक' शब्द की शक्ति कोकिल में है।

व्यवहार अर्थात् वृद्धव्यवहार से पदशक्ति का ज्ञान वहाँ होता है जहाँ दो गृहीत शक्तिक व्यक्ति के पास अबोध बालक या वहाँ बातचीत में आने वाली भाषा से सर्वथा अपरिचित वयस्क बैठा हो और उन गृहीत शक्ति दो व्यक्तियों के अन्दर एक दूसरे को कुछ करने के लिए आदेश करे और द्वितीय गृहीत-शक्तिक व्यक्ति उसकी आज्ञा के अनुसार काम कर दिखलाये। फिर वह आज्ञापक उस आदेशपालक को ऐसे वाक्यों के द्वारा

दूसरी आज्ञा दे जिसके अन्दर सारे नहीं एक ही पद बदल दिया गया हो। पदशक्ति का जिज्ञासु वह अबोध बालक या वह उस भाषा से अपरिचित वयस्क पहले तो पूरे वाक्य और पूरे वाक्यार्थ में वाच्य-वाचक भाव समझता है। अनन्तर परिवर्तित एक पद अपघटित द्वितीय आज्ञा-वाक्य को सुनकर वह पद विभाजन पूर्वक पद त्याग और पद स्वीकार के आधार पर अलग-अलग पदों के अलग-अलग अर्थों का निर्णय करता है। अलग-अलग अर्थों में अलग पदों की शक्ति को समझता है।

मीमांसक लोग अधिकतर इसे ही शक्तिग्रह रूप में इसलिए पसन्द करते हैं कि इसके द्वारा पदशक्ति का ज्ञान करते समय व्यक्ति प्रथमतः प्रत्येक पद को क्रियान्वित अर्थ में ही शक्त अर्थात् शक्तियुक्त समझता है, क्रियारहित वस्तु को नहीं। मीमांसकों का कहना है कि इसके द्वारा जब कि सर्वप्रथम वह पद-शक्तिज्ञाता व्यक्ति [४०] क्रियान्वितों को ही पद का वाच्य अर्थ समझा करेगा तब उसका संस्कार इस विषय में ऐसा सुदृढ़ होगा कि वह अपने जीवन में कभी भी क्रियारहित वस्तु को किसी पद का वाच्य भूल कर भी नहीं समझेगा। फलतः सिद्धार्थक वाक्य प्रमाण बिलकुल नहीं हो पायेंगे। बोद्धा की दृष्टि में क्रियात्मक श्रम की महत्ता बढ़ेगी। जिसका सुपरिणाम यह होगा कि सभी लोग कर्मी होंगे और कर्म करके सुखी बनेंगे।

परन्तु अन्य दार्शनिक वृद्ध-व्यवहार को शक्ति-ग्राहक एवं उस समय शक्ति जिज्ञासु- व्यक्ति-कर्तुक क्रियान्वित में ही पदशक्ति-ग्रह को मान्यता देते हुए भी मीमांसकों के इस कथन से सहमत नहीं पाये जाते हैं कि वह शक्तिग्रह-कर्ता व्यक्ति सदा क्रियान्वित को ही पद का वाच्य समझता रहेगा। उनका कहना यह है जब वह व्यक्ति प्रबुद्ध हो जायेगा, उस भाषा से पूर्ण परिचित हो जायेगा, तब विश्लेषण करके वह क्रिया मात्र को क्रियापद का और क्रियारहित वस्तुमात्र को नामपद का वाच्य समझेगा। जैसे 'घड़ा ले आओ' इस वाक्य के प्रयोग स्थल में वह पहले यह अवश्य समझेगा कि 'घड़ा पद का वाच्य अर्थ है उधर से इधर किया जाने वाला जलाहरण पात्र' किन्तु पीछे वह यह अवश्य समझेगा कि 'घड़ा' पद का अर्थ है जलाहरण-पात्र मात्र, और 'ले आओ' का अर्थ है 'उधर से इधर करना।'

चार्वाकीय-दृष्टिकोण में यह परवर्ती मतवाद ही, वैज्ञानिक प्रतीत होने के कारण मान्य है। वाक्य-शेष से होने वाले शक्तिग्रह के भी उदाहरण प्रचुर मिल सकते हैं। जैसे एक यह कहा गया है कि 'बार्ली जौ है'। वहाँ किन्तु जो का परिचय नहीं दिया गया कि जौ आखिर क्या चीज है? ऐसी परिस्थिति में वह व्यक्ति जो 'जौ' का परिचय नहीं रखता बार्ली का परिचय नहीं प्राप्त कर सकता, जब तक कि वह 'जौ' का परिचय प्राप्त न कर ले। परन्तु उपदेष्टा बीच में और बात बतलाने लगा। आगे चल कर अन्य बहुत कुछ बातें कर लेने के बाद यदि जौ का परिचय इस प्रकार देता है कि जौ और गेहूं में कोई विशेष अन्तर नहीं दीख पड़ता है परन्तु दोनों अन्नों में बहुत अन्तर दीख पड़ता है। जौ गेहूं से

कहीं अधिक नोकीला सुंगदार अन्न होता है' तो यह परवर्ती वाक्य होता है 'बार्ली जौ है' इस पूर्ववर्ती वाक्य का शेष वाक्य अर्थात् अवशिष्ट वाक्य, अर्थात, अवशिष्ट वाक्य होने के कारण 'वाक्य शेष'। इन वाक्य शेष से 'जौ' इस पद की शक्ति उस अन्न में ज्ञात होती है। अतः वाक्य-शेष को भी शक्ति का ग्राहक माना जाता है।

जहाँ एक वाक्य के अर्थ को विशकलित रूप में वाक्यान्तर से समझाया जाता है वहाँ वाक्यान्तर से अर्थकथनात्मक विवरण से वाक्य की या पद की शक्ति समझी एवं समझायी जाती है। जैसे किसी के सम्बंध में किसी ने किसी से यह कहा कि 'वह परिश्रान्त हो चुका है' श्रोता ने 'परिश्रान्त' का अर्थ समझा नहीं। तो वह वक्ता उसका विवरण अर्थात् स्पष्टीकरण करते हुए कहता है कि समझा नहीं? वह अत्यन्त परिश्रम-युक्त हो चुका है, थक गया है' इस विवरण वाक्य से श्रोता परिश्रान्त शब्द का अर्थ समझ जाता है, उसकी शक्ति को पहचान लेता है।

सिद्ध अर्थात् ज्ञातार्थक, पदों के सान्निध्य से अर्थात् नैकट्य से अर्थात् अगल-बगल विद्यमानता से भी पदशक्ति का परिचय प्राप्त होता है। उदाहरण के द्वारा इसे यों समझा जा सकता है कि किसी वक्ता ने यदि किसी प्रबुद्ध व्यक्ति से जो कि 'मधुकर' शब्द का अर्थ जानता नहीं, यह कहा कि 'विकसित कमलकुसुम में बैठा करता है मधुकर मधुपान' तो मधुकर पद के अर्थ से अपरिचित वह श्रोता अपनी बुद्धि लड़ाता हुआ कमलकुसुम और मधुपान इन दोनों शब्दों के अर्थ की ओर ध्यान देकर मध्यवर्ती 'मधुकर' शब्द भौंरे का वाचक है, इस पद की शक्ति भौरों में है इस प्रकार पदशक्ति का निर्णय कर लेता है अगल-बगल के ज्ञाताशक्तिक पदों के नैकट्य से।

इन अलग-अलग उदाहरणों द्वारा परिचायित पदशक्ति ग्राहकों के अन्दर अधिक शक्ति-ग्राहक आसवाक्य के अन्दर गतार्थ हो जाते हैं, यह बात पहले भी बतलायी जा चुकी है।

इन ग्राहकों से गृहीत होने वाली शक्ति के सम्बंध में एक मतभेद दार्शनिकों के अंदर यह उपलब्ध होता है कि कुछ लोग पदशक्ति को अन्वित शक्ति मानते हैं और कुछ लोग अनन्वित शक्ति। अन्वित शक्ति को भी दो भागों में विभक्त किया जा सकता है जैसे इतरान्वित-शक्ति और क्रियान्वित शक्ति और क्रियान्वित शक्ति का अभिप्राय होता है यह कि वाक्य घटक प्रत्येक पद निकटश्रुत अन्त पद के अर्थ से अन्वित रूप में ही स्वार्थ को बतलाता है, अतः तादृश अन्वित अर्थ में ही पदशक्ति मान्य है। जैसे 'हरा घड़ा है' इस प्रकार वाक्य प्रयोगस्थल में इतरान्वित-शक्तिवादी का कहना यह है कि 'हरा' यह शब्द केवल हरापन को एवं 'घड़ा' यह शब्द केवल घड़े को नहीं कहता यह है किन्तु 'हरा' यह शब्द घड़े के हरापन को और 'घड़ा' यह शब्द हरापन युक्त घड़े को। अतः हरे घड़े में 'घड़ा' पद की और घड़े के हरापन में 'हरा' पद की शक्ति मान्य है। क्रियान्वित शक्ति

का अभिप्राय यह है कि 'कपड़ा ले आओ' इस प्रकार वाक्य प्रयोगस्थल में 'कपड़ा' पद केवल कपड़े को नहीं कहता किन्तु 'ले जाना' क्रियायुक्त कपड़े को। अतः वाक्य घटक सारे नाम पद क्रिया से युक्त स्वबोध्य वस्तु को कहते हैं, केवल को नहीं। इसलिए नामपदों की शक्ति क्रियान्वित में ही विवक्षित है।

क्रियान्वित शक्ति पक्ष में कठिनता यह है कि क्रिया पदों को क्रियान्वित-शक्त माना जा नहीं सकता। क्योंकि एक क्रिया दूसरी क्रिया से सम्पृक्त हो नहीं सकती। अतः केवल नाम पद के लिए इसे लागू मानना होगा। परन्तु तब वहाँ यह निरुत्तर प्रश्न उठ खड़ा होता है कि क्रियान्वित शक्ति जबकि पद भावापन्न क्रियावाची शब्द नहीं हो पाता है तब उसी के समानभावपन्न नाम पदों को क्रियान्वित शक्त क्यों और कैसे माना जाय? अतः उसे छोड़ कर इतरान्वित शक्ति को मान्यता दी जाती है। अब यह क्रियापद और कारक पद दोनों के लिए समान रूप से लागू होने वाली सिद्ध होती है। क्योंकि इतर पद से क्रियापदार्थ और कारक पदार्थ दोनों आ सकते हैं। क्रियान्वित कारक पदार्थ हो जायेगा और कारकान्वित क्रिया-पदार्थ। उस मतवाद पर कुछ लोगों को अधिक आकर्षण इसलिए है कि शाब्दबोध में दो पदार्थों के बीच सम्बन्ध का भान मानना आवश्यक है। अन्यथा वह बोध वाक्यार्थ बोध न होकर पदार्थबोध ही रह जायगा। और अशक्य अर्थो का भी वाक्यार्थ बोध में भान मानने पर अव्यवस्था उपस्थित हो जाती है। वक्ता कहेगा कुछ और श्रोता समझ बैठेगा कुछ का कुछ। अतः दोनों पदार्थों के बीच सम्बन्ध रूप में शाब्दबोध के अंदर भासिक होने वाले अन्वय में भी दोनों पदार्थों के बीच सम्बंध रूप में शाब्दबोध के अन्दर भासित होने वाले अन्वय में भी दोनों पदों की शक्ति विनिगमक के अभाव प्रयुक्त मानते हैं। परन्तु इस युक्ति के अनुसार इतरान्वित में शक्ति न मान कर अन्वित में शक्ति न मान कर अन्वित में शक्ति भी मानी जा सकती है, अतः कुछ लोगों ने इतरान्वित शक्ति के स्थान में अन्वित शक्ति को ही मान्यता दी है।

परन्तु नैयायिक और विशेषिककों ने यह कह कर इस अन्वित शक्ति को अमान्यता दी, कि शाब्दबोध के अन्दर पदार्थों के बीच सम्बन्ध के भान का नियम आकांक्षा से अर्थात् पदों के अव्यवहित पूर्वापरीभाव से फलतः, प्रकरण से ही सम्पादित हो सकता है। ऐसी परिस्थिति में व्यर्थ अन्वित-शक्ति का आदर जो कि गौरव-दोषप्रद है उचित नहीं कहा जा सकता। चार्वाक-सिद्धान्त के समक्ष, यदि इस अन्वित-शक्ति को मान्यता अमान्यता का प्रश्न उठाया जाय तो वह भी अमान्यता पक्ष में ही अपना मत देगा, अन्वित-शक्ति को स्वीकार नहीं करेगा।

अन्विताभिधानवाद और अभिहितान्वयवाद की स्वीकृति भी इसी विचार से निकट सम्बंध रखती है। अन्विताभिधानवाद का अर्थ अन्वित-शक्तिवाद ही है। इस वाद का स्वरूप दार्शनिक ग्रन्थ में यह बतलाया गया है कि वाक्यघटक"[1] पदश्रवण के अनन्तर

शक्तिज्ञानवश विभिन्न अर्थों का स्मरण होता है फिर अन्वित उन अर्थों का शाब्दबोध होता है। कहने का तात्पर्य यह कि पदों में दो तरह की शक्तियाँ होती हैं। अनुभाविका और स्मारिका। शाब्दबोध स्थल में ये दोनों प्रकार की शक्तियाँ इस प्रकार काम में आती हैं कि पदगत स्मारिका शक्ति श्रोता के हृदय में पदार्थों को अलग-अलग अनन्वित रूप में उपस्थित अर्थात् स्मृत कराती हैं और अनुभाविका शक्ति उन स्मृत पदार्थों को अन्वित रूप में अनुभूत कराती है। एक ही पद से स्मरण और शाब्द अनुभव दोनों कार्य होते हैं शक्ति-द्वैविध्य के प्रभाव से। अभिहितान्वयवाद में पदगत दोनों शक्तियाँ अनुभाविका ही होती है, स्मरिका नहीं। कहने का तात्पर्य यह कि पदगत एक शक्ति पहले अलग-अलग रूप में अर्थों को स्मृत नहीं, अभिहित ही कराती है और पीछे दूसरी शक्ति पूर्ण शाब्दबोध कराती है। इस वादी ने 'अभिहित' शब्द के अंदर आने वाले काले अभिधान शब्द के अर्थ को स्मृतिभिन्न बतलाने के लिए 'स्मृतिमय' कहा है। नैयायिकों [४२] ने यहाँ इन दोनों मतवादों के बीच से गुजरने वाले एक तृतीय मार्ग का निर्माण किया है। उनका यह कहनाहै कि पदों से अलग-अलग पदार्थों का स्मरण होता है और अनन्तर उन स्मृत पदार्थों के पारस्परिक अन्वय का भान शाब्दबोध में आकांक्षात्मक प्रकरण के बल से होता है। साराँश यह कि पर्यवसित शाब्दबोधके अंदर पदार्थों का विषयीभवन पद शक्ति प्रयुक्त होता है और अन्वय का विषयीभवन होता है प्रकरणात्मक आकांक्षा से।

साहित्यिकों ने इन दोनों वादों का विभिन्न स्वरूप इस प्रकार बताया है कि अभिहितान्वय-मत में पदशक्ति के सहारे अर्थ अलग-अलग अभिहित होते हैं और स्वतंत्रतया मान्य 'तात्पर्य' [४३] नामक वृत्ति से उन अभिहित पदार्थों के पारस्परिक सम्बंधात्मक अन्वयों का विषयीभवन होता है। और अन्विताभिधान मत में पूरा वाक्यार्थ पदशक्तियों से ही शाब्दबोध का विषय बन जाता है। तात्पर्य नामक, अतिरिक्त शब्द और अर्थ के बीच सम्बन्ध मानने का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता

इस प्रकार वाक्यज बोध स्थल में मतभेद की उपस्थिति पर चार्वाकीय दृष्टिकोण किसे अपना सकता है? यह जिज्ञासा उदित होती है, जिसके उत्तर में ज्ञातव्य यह है कि उक्त मतवादों के अन्दर नैयायिकों का मत ही अधिक वैज्ञानिक प्रतीत होता है, अतः

---

(४१) अभिहितघटना तदा यदानीं स्मृतिसमबुद्धियुगं पदेऽभिधतः। परदृशि पुनरन्विताभिधाने पदयुगलाक् स्मृतियुग्ममेव पूर्वम्। *-संक्षेपशारीरक्।*

(४२) यहां (पदार्थशास्त्र में) जा शाब्दबोध की प्रक्रिया सिद्धान्तरूप में लिखी गयी है वह इन दो वादों की अनुयायिनी नहीं है। क्योंकि..... *पदार्थशास्त्र, प्रथम भाग-*

(४३) ....तात्पर्यार्थोऽपि क्रषु चित् ॥ ६॥
आकांक्षा योग्यता सीत्रधिवशात् वक्ष्यमाणस्वरूपाणां पदार्थानां समन्वये तात्पर्यार्थो विशेषवपुरपदर्थोऽपि वाक्यार्थः समुल्लसतीत्यभिहितान्वय वादिनां मतम्। वाच्य एवं वाक्यार्थ इत्यन्विताभिधानवादिनः। *- काव्यप्रकाश, द्वितीय उल्लास।*

उसका ही समाश्रयण उचित है। इन मतवादों की विस्तृत आलोचना पदार्थ शास्त्र, प्रथम भाग में की जा चुकी है। जिज्ञासुओं को इसके सम्बंध में उदित होने वाली अधिक जिज्ञासा की निवृत्ति वहाँ से करनी चाहिए।

वाक्य से वाक्यार्थ बोध की निष्पत्ति के लिए आकांक्षा, योग्यता, आसत्ति और तात्पर्य इनका ज्ञान अपेक्षित होता है। संक्षेप में यह बात पहले भी बतलायी जा चुकी है। इन अपेक्षित शाब्दबोध-साधनों के अंदर आकांक्षा के सम्बंध में कुछ विवेचकों ने यह कहा कि 'जिस पद के बिना जो पद बोध न करा पाये उस पद के साथ उस पद की आकांक्षा होती है'।[४४] वस्तुत: यदि विचार करके देखा जाय तो इस निर्वचन को साकांक्ष पदों का निर्वचन कहा जा सकता है, आकांक्षा का निर्वचन नहीं। आकांक्षा का प्रकृत अर्थ समझना चाहिए। अपेक्षा शब्द नियमत: होता है इच्छावाची और इच्छा एक पद को अपर पद के लिए सम्भव नहीं। ऐसी परिस्थिति में आकांक्षा को कैसे शाब्दबोध के प्रति कारण माना जा सकता? यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है। तो उसके सम्बंध में ज्ञातव्य यह है कि चार्वाकीय दृष्टिकोण में इच्छा, प्रयत्न आदि भी ज्ञान के ही प्रभेद हैं और चैतन्यात्मक ज्ञान भी भूत धर्म है और शब्द भी भूत धर्म ही है। इस दृष्टिकोण से अपेक्षा को भी पद धर्म कहा जा सकता है। और यदि यह मार्ग अधिक-रुचिकर प्रतीत न हो तो इस सम्बन्ध में यह मार्ग अपनाना चाहिए कि अपेक्षा है जिज्ञासा जो कि शारीरात्मक आत्मा का धर्म है। प्रकृति जिज्ञासा से जिज्ञासाविषयत्व तक का ग्रहण करना चाहिए जो कि अनायास पदों में रह सकता है। क्योंकि एक पद को सुनने के अनन्तर श्रोता जब तक अपेक्षित पदान्तर को सुनता नहीं तब तक उसकी बहपदान्तर विषयक जिज्ञासा निवृत्त होती नहीं। इस प्रकार जिज्ञासा-मूलक सापेक्षता पदों में प्राप्त होती है। यदि इस पर यह कहा जाय कि जहाँ ऐसे तीन व्यक्ति एकत्र होते हैं जिनके अन्दर एक ऐसा व्यक्ति होता है जो कि तटस्थ-भाव से दोनों की आपस में होने वाली बातों को सुनता रहता है, स्वयं किसी प्रकार की जिज्ञासा से युक्त रहता नहीं, उसे भी वहाँ विद्यमान अन्य दो व्यक्तियों के वाक्यों का अर्थबोध होता पाया जाता ही है। किन्तु उस तटस्थ व्यक्ति को उस समय किसी प्रकार की जिज्ञासा रहती नहीं। ऐसी परिस्थति में पदों में जिज्ञासा विषयत्व स्वरूप आकांक्षा उस व्यक्ति के लिए रही नहीं, फिर उस तटस्थ व्यक्ति को होने वाला शाब्दबोध कैसे उत्पन्न हो सकता? तो इस प्रश्न का निराकरण यों करना चाहिए कि जिज्ञासा-विषयता का अभिप्राय है उसकी योग्यता से। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि वह तीसरा व्यक्ति भी उस समय उन बातों से दिलचस्पी रखता तो उसे भी अपेक्षित पद के सम्बन्ध में जिज्ञासा अवश्य होती। अत: जिज्ञासा के विषय होने की स्वरूप-योग्यता उस व्यक्ति के लिए पदों में रहती ही है। परन्तु इस तरह किया जाने वाला आकांक्षा का निर्वचन यह व्यक्त करता है कि यह आकांक्षा शाब्दबोध के प्रति स्वरूपसत् रूप में कारण है, ज्ञात रूप में नहीं। और ऐसा मानने

---

(४४) यत्पदेन बिना यस्याननुभावकता भवेत् आकांक्षा......................॥ ८४॥

-भाषापरिच्छेद।

पर कारण और कार्य के बीच होने वाला सामानाधिकरण-नियम भग्न हो उठता है, जिसे उचित नहीं कहा जा सकता। कारण कहीं रहे और कार्य कहीं और ही जगह हो यह भला कैसे माना जा सकता? अत: आकांक्षा का यहाँ अर्थ समझना चाहिए 'एक पद गत-अपर-पदविरह-प्रयुक्त-बोधाजनकत्व' अर्थात् किसी भी पद का अपर पद के न होने के कारण प्रकृत अन्वय-बोधात्मक कार्य का सम्पादन न करा सकना। सरल शब्दों में इसे कहा जा सकता है कि पदान्तर के बिना प्रकृत प्रतीति के पर्यवसान का अभाव है आकांक्षा। इसे समझ कर श्रोता वाक्यार्थ-बोध स्वरूप शाब्दबोध कार्य के सम्पादन में दक्ष होता है। आकांक्षा के ज्ञान को शाब्दबोध के प्रति कारण न मानने पर आपत्ति इस तरह की प्राप्त हो सकती है कि 'ताजा वाजा राजा' इत्यादि परस्पर में निराकांक्ष पदों के समूह से भी वाक्यार्थ बोध की अर्थात् अन्वित रूप से अर्थ बोध की आपत्ति हो उठेगी। आकांक्षा ज्ञान को कारण मानने पर यह आपत्ति इसलिए प्राप्त नहीं होती कि उक्त पदत्रय में परस्पर की आकांक्षा समझी नहीं जाती ।

योग्यता का निर्वचन समझना चाहिए पदगत प्रतीतिजनन-दक्षता। फलत: श्रुत पदों के अर्थों में सम्भावित सम्बंध का बाधित अर्थात् अनुपपन्न न होना। इसे या इसके ज्ञान को शाब्दबोध के प्रति कारण न मानने पर 'पौधों को आग से सींच डालो' इस वाक्य से भी शाब्दबोध आपन्न हो आता है। योग्यता-ज्ञान को शाब्दबोध के प्रति कारण मानने पर यह आपत्ति इसलिए नहीं आ पाती है कि आग और सींचना इन दोनों का पारस्परिक सम्बंध बाधित होने के कारण उक्त प्रकार बाधा का अभाव रह नहीं पाता। तात्पर्य का ज्ञान भी वाक्यार्थ-बोध के प्रति कारण होता है यह पहले कहीं गयी है। श्रोता वक्ता के तात्पर्य को समझ कर उसके अनुसार वाक्य के अर्थ का निर्णयात्मक बोध करता है, यह इससे प्राप्त होता है। अब यहाँ जिज्ञासा यह उदित हो सकती है कि आखिर वह तात्पर्य है क्या? जिसके ज्ञान से श्रोता को वाक्यार्थ को बोध होता है?

इस तात्पर्य के सम्बंध में भी सभी दार्शनिक एकमत नहीं पाये जाते हैं। नैयायिक और वैशेषिक लोग वक्ता की इच्छा को तात्पर्य मानते हैं।[४५] इसका अभिप्राय यह होता है कि वे लोग 'इस पद से इस वस्तु को समझा जाय' इस प्रकार होने वाली इच्छा को जैसे पद संकेतात्मक शक्ति मानते हैं, तैसे 'इस वाक्य से ऐसा अर्थ समझा जाय यथा 'घड़ा ले आओ' इस वाक्य से 'जलाहरण के लिए श्रम पात्रविशेष को उधर से हटा कर मेरी ओर करो ऐसा अर्थ समझा जाय'' इस प्रकार होने वाली वक्तृ गत इच्छा को वे लोग 'तात्पर्य' कहते हैं। क्योंकि ऐसी स्वगत इच्छा से प्रेरित होकर ही वक्ता उक्त प्रकार 'घड़ा ले आओ' इस प्रकार वाक्य बोलता है और श्रोता भी इसे ही समझने के कारण उससे नियन्त्रित होकर और तरह को बोध नहीं कर डालता है। अनेकार्थक वाक्य के प्रयोग स्थल में श्रोता इस प्रकार होने वाली वक्ता की इच्छा को समझने के कारण उससे नियन्त्रित

(४५) वक्तुरिच्छा तु तात्पर्य परिकीर्तितम् ॥८४॥ -भाषापरिच्छेद।

होकर और तरह को बोध नहीं कर डालताहै। अनेकार्थक वाक्य के प्रयोग स्थल में श्रोता इस प्रकार होने वाली वक्ता की इच्छा को समझ कर ही तदनुरूप बोध करता है, उसके अनुरूप नहीं। यहाँ उदाहरण के रूप में 'सुन्दरतम यह बाल' इस वाक्य को उपस्थित किया जा सकता है। इस वाक्य में 'बाल' शब्द अनेकार्थक है। क्योंकि केश, बच्चा और स्त्री ये तीनों अर्थ इस शब्द के अति प्रसिद्ध हैं। काव्यगत 'श्लेष' अलंकार से अतिरिक्त स्थल में श्रोता उक्त वाक्य के प्रयोग स्थल में अवश्य एक ही प्रकार बोध करता है, यह जानता हुआ कि 'बाल' इस शब्द के अर्थ उक्त प्रकार तीन अति प्रसिद्ध है। इस परिस्थिति का निर्वाहक, फलतः एकमात्र, बोध का नियामक उस श्रोता के लिए 'सुन्दरतम यह बाल' इस मेरे वाक्य से लोग केश की सुन्दरता का बोध करें' यही इस वक्ता की इच्छा है तदनुसार इसने इस प्रकार वाक्य का उच्चारण किया है' इस प्रकार समझ करके ही श्रोता केशगत सुन्दरता मात्र का ही बोध करता है। अतः वक्ता की इच्छा ही है तात्पर्य और उसे ही समझने के कारण श्रोता वाक्य से शाब्द बोध करता है।

परन्तु अन्य कुछ दार्शनिक तात्पर्य के इस इच्छात्मक स्वरूप से असन्तुष्ट होते नहीं। क्योंकि उनके सामने यह भी परिस्थिति कभी गुजरती है कि वक्ता बिलकुल वाक्य के अर्थ से अनवगत है, वह केवल रटे-रटाये वाक्य को बोलता है मात्र। किन्तु ऐसी परिस्थिति में भी पद और अर्थ के बीच विद्यमान संकेतात्मक शक्ति से परिचित श्रोता को उस अर्थज्ञान-रहित वक्ता के ज्ञान से अर्थबोध होता है। वहाँ यह कहना सर्वथा असम्भव है कि वक्ता को ऐसी इच्छा होती है कि 'श्रोता इस वाक्य से ऐसे अर्थ का बोध करें'। क्योंकि वह 'ऐसा अर्थ' ही उसे मालूम नहीं।

सम्भव है कि इच्छा तात्पर्यवादी की ओर से यहाँ यह कहा जाय कि वक्ता को इच्छा हो या न हो इससे क्या? श्रोता भ्रमात्मक रूप से उस वक्ता में इच्छा की कल्पना कर सकता है, और तदनुसार वह वाक्यार्थ बोध कर सकता है। वक्ता को इच्छा हो या न हो श्रोता को उसे इच्छाशील समझने में भला क्या कठिनाई हो सकती? तो यह कथन भी इसलिए अधिक युक्तिसंगत नहीं हो पाता कि जहाँ ऐसी परिस्थिति प्राप्त हो कि श्रोता उस वक्ता को भलीभाँति जानता हो, उसकी मूर्खता का, अनभिज्ञता का, वैसे वाक्यार्थ बोध करने की इच्छा के असम्भव का, पूर्ण परिचय रखते हुए उसके तोतारटन्त वाक्य से उसके अर्थ का बोध कर रहा हो, तो तादृश स्थल में यह भी कैसे कहा जा सकता है कि वक्ता को वाक्यार्थ बोध के सम्बन्ध में इच्छा न होने पर भी श्रोता उसे भ्रमात्मक रूप में समझ लेता है और तदनुसार वाक्य का अर्थबोध कर लेता है? क्योंकि विपरीत निश्चय के रहते हुए भी भ्रम या यथार्थ किसी प्रकार का निश्चय होता नहीं। श्रोता जबकि यह निश्चित रूप से समझेगा कि 'यह वक्ता निरा मूर्ख है,' इसे समझने या समझाने की शक्ति बिलकुल नहीं है, यह इस प्रकार मुझे समझाने की इच्छा नहीं कर सकता' तब कैसे वह भूलकर भी यह समझ सकता है कि 'इस वक्ता ने इच्छा करके वाक्य का प्रयोग किया है

कि 'मैं इसके इस वाक्य से ऐसा अर्थ बोध करूँ?' अत: वक्ता की उक्त प्रकार अर्थबोधन की इच्छा को तात्पर्य नहीं कहा जा सकता। इसलिए अर्थबोधगत 'इच्छा विषयत्त्व योग्यता' अर्थात् अर्थ में बोध होने वाली इच्छाविषय होने की योग्यता को तात्पर्य मानना चाहिए। अर्थानभिज्ञवक्तृक स्थल में वक्ता की उक्त प्रकार इच्छा असम्भव होने पर भी वहाँ के अर्थबोध में इच्छाविषय होने की योग्यता तो रहेगी ही। क्योंकि वहीं वाक्यार्थबोध प्रबुद्ध-वक्तृक स्थल में तादृशवक्तृगत इच्छा विषय होता ही है। वक्ता यह चाहते हुए भी वहाँ वाक्य का प्रयोग करता है कि 'यह श्रोता इसमें मेरे वाक्य से ऐसा अर्थबोध करे'। अत: उक्त विषयत्वयोग्यतास्वरूप तात्पर्य के ज्ञान को शाब्दबोध के प्रति सार्वत्रिक रूप में कारण माना जा सकता है। परन्तु यहाँ तक पहुंचने पर भी कठिनता फिर अनेकार्थ पदघटित वाक्य के प्रयोग स्थल में इसलिए आ गिरती है कि वहाँ अभिप्रेत एवं अनिभिप्रेत दोनों अर्थ सम्भव होने के कारण दोनों ही प्रकार के वाक्यार्थबोध में उक्त प्रकार इच्छा विषयक योग्यता बन आती है। उदाहरण के लिए फिर उस 'यह सुन्दरतम बाल' इस अनेकार्थक वाक्य प्रयोग स्थल को दुहराया जा सकता है। वहाँ केश-सौंदर्य, शिशु सौंदर्य एवं स्त्री-सौंदर्य तीनों ही सम्भव होने के कारण तीनों के बोध अलग-अलग प्रबुद्ध वक्ता को इच्छा के विषय बन सकते हैं अत: तीनों बोधों में उक्त प्रकार इच्छा-विषयत्व स्वरूप तात्पर्य बन सकता है अत: फिर बोध नियम कैसे हो सकता? श्लेषभिन्न स्थल में एक ही प्रकार बोध होना उचित होगा।

इस कठिनता को हटाने के लिए तात्पर्य के स्वरूप-भूत 'इच्छाविषयत्व-योग्यता' के अंदर इच्छा पद से ऐसी ही इच्छा विवक्षित मानी जाय जो कि अनभिप्रेत वस्तु को विषय करने वाली न हो। जबकि एक ही अर्थ विवक्षित होगा तब अन्य अर्थ अनिभिप्रेत ही होगा, अत: उसके बोध की इच्छा उस स्थल के लिए अनभिप्रेत वस्तु को विषय करने वाली ही होगी, विषय नहीं करने वाली नहीं। अत: उक्त आपत्ति नहीं होगी। और जहाँ उक्त वाक्य-प्रयोगस्थल में वक्ता को दोनों अर्थों को समझाने की इच्छा होगी, जैसे श्लेष स्थलों में वहाँ दोनों का बोध सम्पन्न भी हो जायेगा क्योंकि वहाँ दोनों अभिप्रेत ही रहेंगे। वक्ता दोनों के बोध को चाहता ही रहेगा। इसलिए कोई अनुपत्ति भी न हो पायेगी।

इस प्रकार तात्पर्य के स्वरूप के सम्बन्ध में विप्रतिपत्ति की उपस्थिति में चार्वाक सिद्धान्त किधर मत देगा? यह जिज्ञासा उदित होने पर समझना यह चाहिए कि चार्वाक सिद्धान्त वक्ता की इच्छा के पक्ष में ही लाघव वश अपना मत देगा। रही बात इस प्रश्न की कि श्रोता को वक्ता में उस इच्छा के अभाव का निश्चय जहाँ होगा वहाँ होने वाले शाब्दबोध की उपपत्ति कैसे होगी? तो इसका समुचित उत्तर यह दिया जा सकता है कि वह परिस्थिति वहाँ ही होगी जहाँ साक्षात् वक्ता मूल वक्ता न होकर नियमत: अनुवक्ता ही होगा। ऐसी परिस्थिति में 'वक्ता की इच्छा तात्पर्य है' इस तात्पर्य के निवर्चन शरीर में 'वक्ता' पद से मूल वक्ता ही लिया जाय। मूल वक्ता अवश्य उस वाक्य का बुद्धिपूर्वक

प्रयोक्ता होगा। अत: उसकी तदर्थ-विषयक-बोध की इच्छा असम्भव होगी नहीं। श्रोता उसी इच्छा स्वरूप तात्पर्य का ज्ञान करके बोध कर सकेगा। उक्त अनुपपत्ति होगी नहीं।

यह तात्पर्य ज्ञान केवल 'अनेकार्थ-बोधक-वाक्य-स्थल के लिए ही बोध निर्णयार्थ अपेक्षित है सर्वत्र नहीं'[४६] यह कथन इसलिए मान्य नहीं ठहराया जा सकता कि शक्तिमूलक और लक्षणामूलक विविध शाब्दबोधों की सम्भावना सर्वत्र उपस्थित हो सकती है। तदनुसार तात्पर्य-ज्ञान को सर्वत्र शाब्दबोध-निर्णायक न मानने पर उन दोनों बोधों के अंदर अपेक्षित बोध न होकर अनपेक्षित बोध होने की आपत्ति सर्वत्र दी जा सकती।

इसके अतिरिक्त शाब्दबोध स्थल में एक और विचारणीय यह उपस्थित होता है कि शाब्दबोध के प्रति साधकतम किसे माना जाय? यह विवेचनीय है कि इसलिए कि इस सम्बंध में भी विवेचकों में मतभेद पाया जाता है। कुछ लोग यह कहते हैं कि ज्ञायमान पद को ही वह महत्त्व देना चाहिए। क्योंकि 'शाब्दबोध' इसका अभ्रिप्रेत अर्थ होता है शब्दजन्य बोध। अत: कारणों के अंदर शब्द को ही साधकतम होने का महत्त्व देना उचित है। परन्तु अन्य लोग इस विचार से सहमत नहीं पाये जाते हैं, वे कहते हैं कि शाब्दबोध के प्रति उक्त महत्त्व पद को न देकर उसके ज्ञान को देना चाहिए। क्योंकि पद को शाब्दबोध के प्रति साधकतम मानने पर अनुपपत्ति यह होगी कि शब्द न सुनते हुए लेखमात्र को देख कर होने वाला शाब्दबोध उपपन्न नहीं हो पायेगा। क्योंकि ज्ञायमान पदात्मक साधकतम वहां रहेगा नहीं। पद, कभी अनुच्चार्यमाण नहीं होता। अत: लिपिमात्र स्थल में पद की सत्ता का समर्थन किया नहीं जा सकता। पद के ज्ञान को शाब्द-बोध के प्रति साधकतम मानने पर उक्त अनुपपत्ति इसलिए नहीं हो पाती कि लिपि को देख कर पदों के स्मरण द्वारा शाब्दबोध की सम्पत्ति वहाँ हो सकती है।

इस प्रकार मतभेद के अस्तित्व में चार्वाक की ओर से किस पक्ष का अभ्युपगम मान्य हो सकता है? इस सम्बंध में विचार करने पर उचित यही प्रतीत होता है कि लाघववश पदों को ही शाब्दबोध के प्रति साधकतक माना जाय। रही बात उक्त लिपिस्थल की। तो इसके लिए उपाय यह कहा जा सकता है कि पदों को शाब्दबोध के प्रति मान्य साधकतमता का नियामक सम्बंध यदि औरों को न मान कर ज्ञान को मान लिया जाय तो उक्त अनुपपत्ति वारित हो सकती है क्योंकि लिपि को देख कर पद का ज्ञान वहाँ होता है, यह तो मान्य ही है। ऐसी परिस्थिति में उस समय वहाँ पद उच्चार्य माण न होने पर भी अन्यदा उच्चार्यमाण पद वहाँ ज्ञान सम्बंध से श्रोता में अनायास रह सकेगा। इस प्रकार साधकतम रूप से स्वीकर्तव्य पद का अस्तित्व वहाँ भी ज्ञानात्मक सम्बंध से हो सकने के कारण उक्त अनुपपत्ति हो नहीं पायेगी।

इस विस्तृत विवेचन के आधार पर स्वीकृत शाब्दबोध की पूर्वोक्त प्रक्रिया मान्य होने पर भी शाब्दबोध को एक स्वतंत्र प्रमा चार्वांक सिद्धान्त में नहीं मानना है। इसे भी प्रत्यक्ष के अंदर ही गतार्थ समझना चाहिए। गतार्थता कैसे हो सकती? इसका स्पष्ट दिग्दर्शन प्रत्यक्ष

---

(४६) अन्ये तु नानार्थादौ क्वचिदेव तात्पर्यज्ञानं कारणम्।-*न्यायसिद्धान्त मुक्तावली, शब्दखण्ड।*

के विवेचन स्थल में कराया जायगा। सम्भव है कुछ लोंग इस कथन से आश्चर्यान्वित हों कि शब्द से भी प्रत्यक्ष होता है। परन्तु उन्हें चकित इसलिए नहीं होना चाहिए कि शब्द से प्रत्यक्ष शांकर-वेदान्ती भी मानते हैं। इसका भी वर्णन आगे किया जायगा।

चार्वाक मत में उपमिति भी स्वतंत्र प्रमा नहीं-

उपमिति की प्रक्रिया प्रसंगान्तर में बतलायी जा चुकी है अतः इसके सम्बंध में अधिक तो नहीं कहना है, फिर भी कुछ ज्ञातव्य विषय अवशिष्ट हैं ही।। 'किसी की उपमा के सहारे होने वाला किसी वस्तु का निश्चय है उपमिति', उपमिति की यह परिभाषा तो अविप्रतिपन्न रूप से सर्वमान्य हो सकती है परन्तु उपमिति जिस विषय के निश्चय स्वरूर होगी उस विषय के विषय में मतभेद पाया जाता है, विप्रतिपत्ति पायी जाती है। नैयायिक और वैशेषिक दार्शनिक कहते हैं कि पद [४७] और उनके अर्थ इन दोनों के बीच विद्यमान संकेतात्मक शक्ति-सम्बंध का निश्चय, फलतः अर्थगत पद की वाख्यता का निश्चय, जिसकी प्रक्रिया बतलायी जा चुकी है, उपमिति है।

परन्तु मीमांसक वेदान्ती आदि दार्शनिक इस कथन से सहमत नहीं है। उनका कहना यह है कि विपरीत रूप से होने वाला सादृश्य का निश्चय ही है उपमिति। [४८] कहने का तात्पर्य यह है कि प्रदर्शित नैयायिक-पद्धति से उपमेय में उपमान का सादृश्य निश्चय होने पर उसके फलस्वरूप उपमान में भी उपमेय सादृश्य निश्चय हुआ करता है, वह निश्चय है उपमिति, नैयायिकाभिमत उक्त शक्ति-निश्चय नहीं। कहने का तात्पर्य यह है कि उक्त मुद्गपर्णी निश्चय स्थल में 'ये पौधे मूंग के पौधे के समान है' इस प्रकार सादृश्य निश्चय होने पर उसके विपरीत यह भी सादृश्य-निश्चय अवश्य होता है कि 'मूंग के पौधे इन पौधों के ही समान होते हैं।' इसी प्रकार गाय और गवय इन दो पशुओं के उपमान-उपमेय-भावस्थल में 'यह पशु (अपरिचित गवय) गाय के ही समान है' इस प्रकार गवय-पशु में गाय के सादृश्य का निश्चय होने पर अव्यवहित उत्तर ही यह भी निश्चय अवश्य होता है कि 'गाय इस पशु के समान ही होती है।' अतः समस्त उपमान-उपमेय भावस्थल में पीछे होने वाले विपरीत-सादृश्य-निश्चय ही है उपमिति। सभी नैयायिक इस बारे में तो एकमत हैं कि वाचक पद और वाच्य अर्थ इनके बीच होने वाली संकेतात्मक शक्ति का निश्चय है उपमिति। परन्तु फिर भी आपसी अवान्तर मतभेद उन लोगों में पाया जाता है। कुछ लोग यह कहते पाये जाते हैं कि उक्त प्रकार शक्ति-निश्चयात्मक उपमिति के प्रति साधकतम होता है वह आप्तोपदेशज अनुभव, तो कुछ

---

(४७) सम्बन्धस्य परिच्छेदः संज्ञायाः संज्ञिना सह।
प्रत्यक्षादेर साध्यत्वादुपमानफलं विदुः॥ *-न्यायकुसुमांजलि।*

(४८) तथाहि प्रांगणेषु दृष्टगोपिण्डस्य पुरुषस्य वनं गतस्य गवयेन्द्रियसन्निकर्षे सति भवति प्रतीतिरयं षिण्डो गोसदृश इति। तदनन्तर च भविति निश्चयोऽनेन सगृशी भदीया गौरिति। *-वेदान्त परिभाषा-उपमान परिच्छेद।*

लोग यह कहते पाये जाते हैं कि वह तो उक्त प्रकार उपमिति के प्रति अत्यन्त दूर पूर्ववर्ती होता है अतः उसे कैसे उपमिति के प्रति साधकतम अर्थात् करण माना जाय? अतः आप्तोपदेश एवं तज्जन्य बोध आदि उक्त परिस्थितिपूर्वक होने वाला उपमेय-प्रत्यक्ष को उपमिति के प्रति साधकतम, फलतः करण, अर्थात्, उपमान प्रमाण मानना चाहिए। अन्य कुछ लोग यह कहते हैं कि उक्त प्रत्यक्ष को भी इसलिए उपमिति प्रमा के प्रतिकरण नहीं मानना चाहिए कि वह उपमिति-आत्मक कार्य के प्रति व्यवहित रूप में अपेक्षित होता है, अव्यवहित रूप में नहीं। कार्य के प्रति साधकतम तो उस मानना उचित है, जो कि प्रकृत कार्य के प्रति अनव्यहित-रूप से कारण हो। इसके अनुसार पूर्व-प्रदर्शित उदाहरणस्थल में अपरिचित मुड्गपर्णी या गवय में होने वाले मूंग या गाय के सादृश्य-प्रत्यक्ष के अनन्तर होने वाला अतिदेश-वाक्य के अर्थ का स्मरण, जैसे 'मुद्गपर्णी बूटी मूंग के पौधे जैसी होती है' इस आप्तव्यक्ति-कथित-वाक्यार्थ का स्मरण ही उपमान प्रमाण होने के लिए उपयुक्त कहा जा सकता है।

जो सांख्य आदि दर्शन उपमान को अलग प्रमाण नहीं मानते, वे इस प्रकार इसका खण्डन करते है [४६] कि यदि उक्त प्रकार आप्तवाक्यों से होने वाले बोध को उपमिति माना जाय तो उसके लिए वह आप्त-वाक्यात्मक शब्द ही प्रमाण हो जायगा, फिर अलग उपमान प्रमाण मानने का प्रयोजन क्या बतलाया जा सकता है? और यदि अरण्य में उपस्थित होने पर मुद्गपर्णी, गवय आदि उपमेय वस्तु के दर्शन को उपमान कहा जाय तो वह स्थल प्रत्यक्ष-प्रमाण के द्वारा ही आक्रान्त हो जाता है। फिर भी उपमान स्वतंत्र एक अलग प्रमाण रूप से मान्य क्यों माना जाय? उपमेयों में उपमान का सादृश्य भी प्रत्यक्ष से ही गृहीत हो रहा है एवं विपरीत सादृश्य भी प्रत्यक्षतः गृहीत रहता है, अतः तदर्थ भी उपमान-प्रमाण की आवश्यकता नहीं बतलायी जा सकती। यदि यह कहा जाय कि मुद्गपर्णी में मूंग के और अपरिचित गवय-पशुओं में गाय के सादृश्य को देख कर मूंग में होने वाले मुद्गपर्णी के सादृश्य के ज्ञान एवं गाय में होने वाले गवय के सादृश्य के ज्ञान को उपमिति मानना है, इसलिए उपमान को स्वतंत्र रूप में मान्यता देनी चाहिए क्योंकि अरण्य में उस समय विद्यमान उस व्यक्ति के निकट उपमान-भूत मूंग एवं गाय आदि की विद्यमानता नियमतः रहती नहीं कि यह कहा जा सके कि मूंगगत मुद्गपर्णी का सादृश्य एवं गायगत गवय का सादृश्य प्रत्यक्ष रूप से ही गृहीत हो जाता है इत्यादि। तो यह कथन भी इसलिए युक्तिपूर्ण नहीं कहा जा सकता कि सादृश्य दो वस्तुओं में विद्यमान समान अर्थात् एक धर्म के अतिरिक्त और कुछ कहा नहीं जा सकता। अतः मूंग एवं मुद्गपर्णी तथा गाय एवं गवय इन उपमान एवं उपमेय की एक-एक जोड़ियों में विद्यमान सादृश्य

(४६) तथापि उपमानं तावत् यथागौस्तथा गवय इतिवाक्यम्, तज्जनिताधीरागम एव। योऽप्ययं गवयशब्दो गोसदृशस्य वाचक इति प्रत्ययः सोऽप्यनुमानमेव।

- सांख्यत्व कौमदी, का. ५।

एक-एक हुआ करेगा। ऐसी परिस्थिति में यह मानना ही होगा कि वह उपमाता व्यक्ति जो कि मुद्‌गपर्णी या गवय के निकट उपस्थित रहता है यदि मुद्‌गपर्णी में मूंग के सादृश्य को देखता है तो मूंग में विद्यमान मुद्‌गपर्णी के सादृश्य को भी देखता ही है, इसी प्रकार वह उपमाता यदि गवय में गाय के सादृश्य को देखता है तो गाय में विद्यमान गवय के सादृश्य को भी देखता ही है। क्योंकि एक ही वस्तु एक ही व्यक्ति के द्वारा एक ही समय देखी भी जाय और नहीं भी देखी जाय यह हो नहीं सकता? हाँ और ना, ये दोनों जैन-सिद्धान्त को छोड़कर अन्य सिद्धान्त में आपस में अविरुद्ध नहीं, विरुद्ध ही होते हैं। फलितार्थ यह कि उक्त प्रकार उपमान और उपमेय उभयगत सादृश्य आश्रय के भेद से विभिन्न न होने के कारण एकगत रूप में जिस प्रत्यक्षात्मक अनुभूति के द्वारा विषयीकृत होता है अपरगत-रूप में भी उस प्रत्यक्षात्मक अनुभूति का अविषय नहीं कहा जा सकता। अत: उपमेयगत-रूप में प्रत्यक्षीकृत वह अभयगत सादृश्य अप्रत्यक्षीकृत रहता नहीं कि उसकी स्वतंत्र अनुभूति के लिए उपमेयगत प्रथम सादृश्य-दर्शन को एक अतिरिक्त उपमान नामक स्वतंत्र प्रमाण माना जा सके।

इस प्रकार किये जाने वाले उपमान की अतिरिक्त प्रमाणता के खण्डन के साथ अन्य बौद्ध, जैन आदि दार्शनिकों का भी हार्दिक सहयोग और हार्दिक सहानुभूति उचित ही है। परन्तु उपमिति को स्वतंत्र प्रमाण मानने वाले चार्वाक-सिद्धान्त की प्रतिवाद-शैली अपनी अलग होगी। वह यह कि सर्वप्रथम यह निर्णय हो जाना आवश्यक है कि उपमिति माना किसे जाय? प्रथम सादृश्य-दर्शन स्थलीय उपमान में होने वाले पाश्चात्यं पूर्व-विपरीत सादृश्य-दर्शन को? या प्रथम सादृश्य-दर्शन स्थलीय अपरिचित उपमेय और उसके-वाचक नाम के बीच विद्यमान किंतु उस उपमाता के लिए अपरिचित वाच्य वाचक-भाव के फलत: संकेतात्मक शक्ति के, निश्चय को? इन दोनों पक्षों के अन्दर प्रथम पक्ष, जिसकी चर्चा मीमांसा और शाङ्कर अद्वैत-वेदान्त इन दोनों के द्वारा समान रूप में की गयी है, इसलिए उचित नहीं ठहराया जा सकता कि यदि इसे मान भी लिया जाय कि एकगत रूप में ही प्रत्यक्षीकृत सादृश्य को अपर आश्रयगत रूप में भी प्रत्यक्षीकृत नहीं माना जा सकता, तब भी 'सादृश्य' सम्बन्ध में अन्य सम्बन्धों से विलक्षण रूप में अनुभूयमान पारस्परिकता के कारण मूंगगत मुद्‌गपर्णी के सादृश्य का और गायगत गवय के सादृश्य का अनुमित्यात्मक प्रत्यक्ष हो सकता है। 'अनुमित्यात्मक प्रत्यक्ष' यह सुनकर चौंकना नहीं चाहिए। क्योंकि यह बात आगे स्पष्ट होगा ही। अत: उपमान में होने वाले उपमेय के सादृश्य-निश्चय को उपमिति नहीं माना जा सकता। कहने का अभिप्राय यह है कि 'गाय भी गवय के जैसी है क्योंकि उसका सादृश्य गवय में है' इस प्रकार अनुमित्यात्मक प्रत्यक्ष से जब कि गाय में उसके सदृश होने वाले गवय का सादृश्य-निश्चय हो सकता है तब उसके लिए उपमान क्यों अलग प्रमाण माना जाय?

यदि द्वितीय पक्ष का आदर किया जाय, अर्थात् नैयायिक लोग जिस प्रकार उपमेय

एवं उपमेय के वाचक शब्द के बीच होने वाले संकेतात्मक शक्ति के निश्चय को उपमिति कहते हैं तो चार्वाकीय-दृष्टिकोण भी उसका आदर करेगा। किन्तु इस रूप में कि वह संकेत निश्चय भी तत्त्वत: प्रत्यक्ष स्वरूप ही होता है प्रत्यक्ष से भिन्न नहीं। कैसे वह उपमित्त्यात्मक संकेत निश्चय प्रत्यक्ष हो पायेगा? इसका स्पष्टीकरण आगे चल कर प्रत्यक्ष विवेचन से अनायास हो जायेगा। अत: उपमिति को स्वतंत्र प्रमा नहीं माना जा सकता। कुछ लोग साधार्म्य-मूलक उपमिति के समान वैधर्म्योपमिति भी मानते हैं। वह वैधर्म्य बोधक अतिदेश-वाक्य स्थल में होती है। जैसे ऊंट के विषय में यदि कोई वक्ता किसी को उसके सम्बंध में इस प्रकार परिचय देता है कि ऊंट लम्ब ओष्ठयुक्तदीर्घ ग्रीव एवं कठोर-कण्टकभोजी होता है' तो श्रोता अन्य-अन्य पशुओं में ऊँट का वैधर्म्य समझ कर कभी उसे वैसा अर्थात् अन्य पशुओं से उक्त प्रकार विलक्षणता युक्त देख कर यह निर्णय करता है कि 'यही है ऊँट'। यह उपमिति भी उक्त विवेचन पद्धति के अनुसार कोई स्वतंत्र प्रमा नहीं है।

चार्वाक सिद्धान्त में अनुमिति भी स्वतंत्र प्रमा नहीं-

अनुमित्यात्मक प्रमा का स्वातन्त्र्य यद्यपि अन्य सभी दार्शनिक एक मत से मानते हैं फिर भी उसके सम्बंध में अवान्तार मतभेद दार्शनिकों के बीच पाया ही जाता है एक नैयायिकों के घर को ही देखा जाय तो विभिन्न प्रकार अवान्तर मतभेद देखने को मिलेगा। यथा प्राचीन नैयायिक आचार्य उदयन प्रभृति ने अनुमापक लिंग को अर्थात् हेतु को ही अनुमित्यात्मक प्रमा के प्रति करण अर्थात् साधकतम माना है। उनक अभिप्राय यह है कि अनुमाता व्यक्ति इस प्रकार स्पष्ट रूप से अनुभव करता है कि 'मैंने धम से आग का अनुमान किया है।' यहाँ 'धूम से' इसके अन्दर तृतीया विभक्ति करण अर्थांत् 'साधकतम' इस अर्थ का बोधक है। इसलिए अनुमिति के प्रति हेतु को ही करण मानना उचित है। साथ ही इस पक्ष में यह भी एक प्रबल युक्ति है कि नैयायिकों एवं वैशेषिकों ने भी अनुमिति को लैंगिक कहा है। 'लैंगिक' इस शब्द का अर्थ होता है लिंग से अर्थात् हेतु से सम्बन्ध रखने वाला। यहाँ सम्बंध 'साध्य-साधक-भाव' ही हो सकता है अत: अनुमिति को साध्य और लिंगात्मक हेतु को साधक तो मानना ही है 'साध्यसाधक-भाव' के अंदर आने वाले 'साध्य' का अर्थ ज्ञाप्य नहीं समझ कर समझ कर कार्य समझना चाहिए। ऐसा करने पर अनुमिति स्थल में साध्य तो विधेय कहलाता है अर्थात् अनुमित्याक ज्ञान के अंदर पक्षाँश में विधेय रूप से विशेषण होकर विषय होने वाला साध्य कहलाता है। जैसे 'पर्वत आग वाला है, क्योंकि धूम वाला है' इस अनुमितिस्थल में आग कहलाती है साध्य। क्योंकि वहाँ पक्षभूत-पर्वत में विधेय रूप से विषयीकरण आग का ही होता है। फिर अनुमिति को साध्य और हेतु को उसका साधक कैसे कहा जा रहा है? यह संदेह उत्पन्न नहीं होगा। तात्पर्य यह कि साध्यता दो प्रकारों की होती है कार्यता और ज्ञाप्यता। तदनुसार अनुमिति में विधेय होने वाला होता है हेतु का ज्ञाप्यात्मक साध्य। और अनुमिति होती है उसी हेतु का कार्यात्मक साध्य। अत: अनुमिति और हेतु के बीच साध्य साधक-भाव

सम्बन्ध होता है। फलत: अनुमिति होती है इस साध्यसाधम-भावात्मक सम्बंध से अर्थात् 'स्वनिष्ठ साधकता-निरूपित-साध्यता' सम्बंध से लिंगयुक्त होने के कारण लिंग सम्बंधी अत: अनुमिति ज्ञान कहलाता है लैंगिक। इस लैंगिक-नामकारण से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि लिंग अर्थात् हेतु ही, जैसे उक्त पर्वत पक्षक और अग्नि-साध्यक अनुमिति स्थल में धूम ही है अनुमिति का साधकतम।

उक्त 'स्वनिष्ठ-साधकता-निरूपित साध्यता' का स्पष्टीकरण यह समझना चाहिए कि इस तरह के परम्परात्मक सम्बंध स्थल में 'स्व' इस पद से उसका ग्रहण हुआ करता है जिसका सम्बंध किसी में ले जाना हो। जैसे प्रकृत स्थल में अनुमिति को लिंग-सम्बंधी होने के कारण लैंगिग कहना है तो लिंग को अर्थात् हेतु को अपमिति पर ले जाना है। अत: स्वपद से लेना है लिंग को। तनिष्ठ अर्थात् उसमें रहने वाली जो साधकता अर्थात् करणता, उसके द्वारा निरूपित होने वाली अर्थात्, परिचित होने वाली जो साध्यता अर्थात कार्यता वह अनुमिति पर जा धमकती है। क्योंकि लिंग होता है साधकता होने के कारण साधक। अत: मानव में रहने वाली मानवता की तरह साधकता साधक लिंग में उपस्थित होती है। और साध्य अनुमिति होती है। अत: साध्यता रहती है मानव में रहने वाली उक्त मानवता या लिंग में रहने वाली साधकता की तरह अनुमिति में। साधनता और साध्यता ये दोनों आपस में होते हैं। निरूप्य-निरूपक-भावापन्न अर्थात् परिचेय-परिचायक-भावयुक्त अत: 'साधकता-निरूपिता-साध्यता' यह कहा जा सकता है। इसलिए लिंग में रहने वाली जो साधकता, उसके द्वारा निरूपित होने वाली जो साध्यता, वह अनुमिति में चली जाती है इसलिए अनुमिति उक्त 'स्वनिष्ट-साधकता-निरुपित-साध्यता' सम्बंध से लिंग युक्त होती है। इसलिए लिंग के सम्बंध से युक्त होने के कारण वह लैंगिक कहलाती है। साधकता और साध्यता के बीच निरूपक-भाव सम्बंध हुआ करता है, यह जो कहा गया है उसका अभिप्राय यह समझना चाहिए कि जहाँ भी परम्परा सम्बंध काम में लाया जाता है वहाँ उस सम्बंध के शरीर में सम्बन्धान्तर का प्रवेश नियमत: हुआ ही करता है। इसलिए वह साक्षात् सम्बंध न होकर, परम्परा-सम्बंध होता है। कहने का तात्पर्य यह कि प्रकृत सम्बंध के अंदर साध्यता को जो साधकता से निरूपित कहा गया है, उसका कारण है साधकता और साध्यता के बीच निरूप्य-निरूपक-भाव सम्बंध का होना। 'यहाँ निरूप्य-निरूपक-भाव' सम्बंध क्यों उक्त दोनों के बीच स्थापित होता है? यह जिज्ञासा उदित होने पर उसे इस प्रकार समझ कर शान्त करना चाहिए कि असंख्य पदों के अन्दर दो प्रकार के पद पाये जाते हैं साकांक्ष और निराकांक्ष। रूढ़ पद भी वाक्य स्थल में भले ही साक्षांक बन जायं किन्तु वाक्य घटित न होकर स्वरूप में वे नियमत: निराकाँक्ष ही होते हैं। घड़ा, कपड़ा इत्यादि नामों के उच्चारण स्थल में श्रोता को नियमत: किसी प्रकार की आकांक्षा अर्थात् जिज्ञासा उदित होती ही है, यह नहीं कहा जा सकता। यौगिक शब्दों के अंदर भी वे शब्द जो कि कोशों के अन्दर आ जाते हैं अधिकतर निराकांक्ष के समान बन जाते हैं। परन्तु कुछ शब्द ऐसे होते हैं जो नियमत: साकांक्ष ही होते हैं अर्थात् आकांक्षा के उत्थापक ही होते हैं। साधक और साध्य ये पद भी उन्हीं नित्य-साकांक्ष शब्दों के अंदर आते हैं। 'साधक' शब्द सुनते ही

श्रोता के मन में यह जिज्ञासा वेगपूर्वक उठती हैं कि 'किसका'?। यदि कोई वक्ता उसे उस समय यह कह दे कि 'अमुक साध्य का अर्थात् कार्य का' तो श्रोता की वह पूर्व उदित जिज्ञासा निवृत्ति हो जाती है। इसी प्रकार 'साध्य' शब्द सुनने पर भी श्रोता के मन में नियमत: यह जिज्ञासा उदित होती है कि 'किसका?' यदि कोई वक्ता उसे यह कह दे कि अमुक साधक का, तो श्रोता की वह पूर्व उदित जिज्ञासा शान्त हो जाती है।अत: इन दोनों में परस्पर 'निरूप्य-निरूपक-भाव' सम्बंध है। अभिप्राय यह कि साध्य को साधक का निरूपक और साधक को साध्य का निरूपक कहा जा सकता है। इस प्रकार साध्य को साधक से निरूप्य एवं निरूपित और साधक को साध्य से निरूप्य एवं निरूपित भी कहा जा सकता है। साधकता साधक का और साध्यता साध्य का ही धर्म या स्वरूप है अत: साधकता और साध्यता के बीच भी उक्त प्रकार परस्पर निरूप्य-निरूपक-भाव मान्य होता है।इसलिए अनुमिति में रहने वाली साध्यता लिंग में रहने वाली साधकता से निरूपित कही जाती है।सुतरां स्वनिष्ठ-साधकता-निरूपित-साध्यता सम्बंध अनुमिति में लिंग का होने के कारण अनुमिति-ज्ञान लैंगिक कहलाता है, अत: लिंग को ही अनुमिति के प्रति साधकतम होने का महत्त्व देना उचित है।

सम्भव है कुछ लोग यहाँ यह प्रश्न उपस्थित करें कि 'लैंगिक' शब्द के प्रयोग से यह बात तो अवश्य प्राप्त होती है कि अनुमिति लिंग-साध्य है और लिंग अनुमितिका साधक। परन्तु इससे लिंग अनुमिति के प्रति करण है, साधकतक हैं, यह तो नहीं प्राप्त होता है? यहाँ कहना तो यह है कि लिंग अनुमितिके प्रति करण होता है? तो इसका उत्तर लिंगकरणत्ववादी की ओर से यह दिया जा सकता है कि यौगिक नाम निश्चित रूप से नामी के गुणगत एवं क्रियागत अर्थात् कार्यगत विशेषता के आधार पर ही प्रचलित होते हैं। प्रधान क्रिया के आधार पर ही वस्तु का नामकरण प्राय: पाया जाता है। यौगिक शब्दार्थ के अंदर विशेषण की महत्ता आवश्यक होती है। इन दृष्टिकोणों के आधार पर लैंगिक शब्द से कही जाने वाली अनुमिति के प्रति लिंग को ही प्रधान रूप से साधकतम रूप से फलत: करण रूप से अपेक्षित मानना उचित है।

परन्तु परवर्ती नैयायिकों ने यह कह कर इसे स्वीकार नहीं किया हैं कि[५०] लिंगक अनुमिति के प्रति साधकतम मानने पर अनुपपत्ति यह प्राप्त होती हैं कि अतीत और अनागत लिंग से भी अनुमिति होती आती हुई पायी जाती है, जिसका सम्पादन अनुमिति के प्रति लिंग-करणात्ववादी नहीं कर सकते। क्योंकि कार्य की उत्पत्ति के लिए कार्य के अव्यवहित पूर्व में कारण का होना आवश्यक हुआ करता है। अव्यवधान घटित अन्वय और व्यतिरेक के आधार पर ही किसी के प्रति किसी में कारणता का निश्चय हुआ करता है। तदनुसार अतीत और अनागत लिंग को अनुमिति के प्रति साधरण कारण मानना भी कठिन है। उसे अनुमिति के प्रति साधकतम, असाधारण कारण, फलत: करण मानने की

(५०) .....लिगं तू करणं नहि।
अनागतादिलिंगेन न स्यादनुमितिस्तदा।- *भाषापरिच्छेद, अनुमान परिच्छेद।*

बात तो और दूर चली जाती है।

इस लिंग-करणत्व विरोधियों से इसके सम्बंध में उनके निजी मत पूछने पर वे अपना मत यह व्यक्त करते हैं कि अनुमिति के प्रति लिंग को कारण न मान कर लिंग-मार्मिक व्याप्ति ज्ञानको कारण मानना उचित है। इस कथन का विश्लेषित अभिप्राय यह है कि अनुमाता व्यक्ति लिंग से अनुयिति नहीं करता है किन्तु लिंग के ज्ञान से । वह ज्ञान भी केवल लिंग को विषय करने वाला हो, तो उससे अनुमिति कदापि नहीं तो सकती। अनुमित्सु व्यक्ति को यदि यह पता नहीं हो कि 'धूम जहाँ-जहाँ होता है आग वहाँ-वहाँ' अवश्य होती है।' तो क्या यह धूम को देखकर भी इस प्रकार अनुमिति ज्ञान कर सकता है कि 'यह पर्वत अग्नियुक्त है क्योंकि धूमयुक्त है?' कभी नहीं? अतः इस अकाट्य अनुभव के आधार पर यह मानना आवश्यक हो आता है कि केवल लिंग से किसी भी साध्य की अनुमिति होती नहीं किन्तु जिस लिंग को प्रकृत साध्य अर्थात् ज्ञाप्य वस्तु का व्याप्य समझा गया हो ऐसे लिंग से। अनुमित्सु व्यक्ति जबकि यह समझता है कि 'आग और धूम इन दोनों के बीच 'व्याप्य-व्यापक-भाव' सम्बंध कुव्यवस्थित है, आग धूम का व्यापक है और धूम उसका व्याप्य। क्योंकि धूम कभी आग के बिना हो सकता नहीं। जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ आग अवश्य रहती है' तब उस अनुमित्सु व्यक्ति के लिए वह घूमात्मक लिंग आग के प्रति व्याप्य रूप से ज्ञायमान हो जाता है। अर्थात् उस धूम के सम्बंध से उस अनुमित्सु व्यक्ति को यह पक्की धारणा हो जाती है कि कहीं भी धूम के रहने पर वहाँ आग भी अनिवार्य रूप से रहती है। तब वह अनुमित्सु व्यक्ति अग्नि के प्रति व्याप्य रूप से ज्ञात होने वाले धूम से धूम के प्रति व्यापक रूप में ज्ञात होने वाली आग की अनुमिति करता है कि 'यह पर्वत आग वाला है क्योंकि घूम वाला है।'

यहाँ तक विचार किए जाने पर यह विचार करना उचित होगा कि 'व्याप्य रूप से ज्ञायमान लिंग' कहने पर लिंग की एक विशिष्ट परिस्थिति बुद्धि-पथ पर अवतीर्ण होती है। किसी भी विशिष्ट वस्तु की उपस्थिति-थल में दो वस्तुयें नजर आती हैं विशेषण और विशेष्य। अतः किसी भी कार्य के प्रति उस विशिष्टि की मान्यता स्थल में यह विचार भी आवश्यक हो जाता है कि प्रकृत कार्य के लिए मुख्य रूप से अपेक्षित कौन है? विशेषण और विशेष्य इन दोनों के अन्दर प्रकृत-कार्य की सम्पत्ति के लिए कौन अधिक महत्त्वास्पद है? तदनुसार अनुमिति स्थल में अनुमित्यात्मक कार्य के प्रति व्याप्ति के लिए ज्ञानस्वरूप विशेषण और लिंगात्मक विशेष्य इन दोनों के अंदर किसे अधिक महत्त्व दिया जाय? किसे साधकतम अर्थात् करण माना जाय? इस विचार के उदित होने पर उचित यही प्रतीत होगा कि अनुमित्यात्मक कार्य के प्रति लिंगाश में विशेषणोभूत व्याप्ति-ज्ञान को ही अधिक महत्व देना उचित है। क्योंकि उसके बिना अनुमित्सु को केवल लिंग से अनुमित होती नहीं, इसीलिए तो विशेषण रूप में उससे व्याप्ति-ज्ञान की भी अपेक्षा मान्य हुई है? जिसके बिना लिंग अनुमिति करा नहीं सकता था, विवेचक दृष्टि में अनुमिति के प्रति उस विशेषणांश व्याप्ति-ज्ञान को अधिक महत्व देना ही बुद्धिमत्ता होगी अतः अनुमिति के प्रति लिंग को साधकतम, फलतः करण न मनकर लिंग-धार्मिक-व्याप्ति-ज्ञान को ही

साधकतम मानना चाहिए। ज्ञान तो न्याय सिद्धान्त में समवाय सम्बंध से आत्मा में रहता है फिर उसे लिंग का विशेषण कैसे कहा जा सकता? यह यदि प्रश्न उपस्थित हो तो इन लोगों की ओर से इसका उत्तर यय प्रदेय समझना चाहिए कि उक्त प्रकार व्याति-ज्ञान लिंग पर वर्तमान विशेष्यता सम्बंध होता है। क्योंकि व्याप्ति-ज्ञान का संक्षिप्त आकार होता है 'ऐतु साध्य का व्याप्य है' इस प्रकार। इस ज्ञान में हेतु के अंश में साध्य की व्याप्ति विशेषण रूप से भासती है अर्थात् विषयीकृत होती है अतः हेतु इस ज्ञान में विशेष्य रूप से विषय बनता। इस प्रकार ज्ञानीय-विशेष्यता हेतु में आती है। सुतरां उक्त प्रकार व्याप्ति-ज्ञान विशेष्यता सम्बंध से हेतु का धर्म हो जाता है, हेतु पर आ जाता है। इस प्रकार लिंग होता है उक्त प्रकार व्याप्ति-ज्ञान में विशेष्य इसलिए विशेष्यता आ जाती है। लिंग पर । उस 'विशेष्यता' को सम्बंध रूप में ग्रहण करने पर उस सम्बंध से उस प्रकार व्याप्ति-ज्ञान हेतु के अंश में विशेषण बन जाता है। विशेष्य विशेषण की आधारशिला के रूप में भले ही महत्त्वास्पद कहा जाय परन्तु विशेष्य को विशेषित करने पर प्राप्त होने वाली अनुपपत्ति या आपत्ति के निवारक रूप में विशेषण को ही महत्त्व प्राप्त होता है। अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं, इसका उदाहरण यहाँ ही प्राप्त कर लिया जा सकता है। यथा अनुमिति-प्रमा के प्रति यदि लिंग मात्र को कारण माना जाय तो लिंगाभास से होने वाले सारे ज्ञान प्रमात्मक अनुमिति हो जायेंगे। और यदि लिंग में यह विशेषण दे डालते हैं और तदनुसार यह कहते हैं कि 'प्रकृत साध्य के प्रति व्याप्य रूप से प्रमित होने वाला लिंग अनुमिति-प्रमा के प्रति कारण है' तो वह आपत्ति नहीं आ पाती है। क्योंकि असत् लिंग स्वरूप लिंगाभास उक्त विशेषण से युक्त नहीं होता। जिस विशेषण-युक्त रूप में लिंग को प्रमानुमिति के प्रति कारण माना गया उस विशेषण से युक्त वह लिंगाभासभूत असत् लिंग होता नहीं। अतः विशेषण महत्त्व देना अनिवार्य है। व्याप्ति-ज्ञान विशेष्यता सम्बंध सम्बंध से लिंग का विशेषण होता है, यह बात बतलायी जा चुकी है। अतः लिंग को अनुमिति के प्रति साधकतम, करण न मानकर व्याप्ति-ज्ञान को ही अनुमिति के प्रति साधकतम, असाधारण कारण फलतः करण मानना चाहिए।

किन्तु इस भतवाद का भी प्रतिवाद हुआ है। परवर्त्ती नैयायिकों ने इसे भी मान्यता न देकर 'अनुमितिकरण' के सम्बंध में यह कहा कि उक्त प्रकार का व्याप्ति-ज्ञान तब तक अनुमिति के प्रजजन में समर्थ नहीं होता है जब तक तृतीय लिंग परामर्श न हो जाय। अनुमिति उक्त परामर्श ज्ञान के अव्यहित उत्तर क्षण में ही हुआ करती है। अतः [५१] परामर्श ज्ञान को ही अनुमिति के प्रति साधकतम मानकर प्राधान्य देना उचित प्रतीत होता है।

यहाँ परामर्श ज्ञान के सम्बंध में जिज्ञासा उदित होने पर उसका परिचय इस प्रकार प्राप्त करना चाहिए कि जिस धर्मी में अर्थात् आश्रय में ज्ञाप्य की अनुमिति करनी हो, उस आश्रय में होने वाला, प्रकृतज्ञाप्य के प्रति व्याप्य होने वाले लिंग का ज्ञान होता है परामर्श।

---

(५१) तस्माल्लिंगपरामर्शोऽनुमानम्। *-तर्कसंग्रह ।।*

जैसे 'यह पर्वत आग वाला है क्योंकि धूम वाला है' इस अनुमान स्थल में 'यह पर्वत आग के प्रति व्याप्य होने वाले धूम से युक्त है' इस प्रकार होने वाला अथवा 'आग के प्रति व्याप्य धूम इस पर्वत में है' ऐसा होने वाला ज्ञान कहलाता है परामर्श अथवा तृतीय लिंग परामर्श।

सम्भव है कि कुछ लोगों के मन में आशंका यह उपस्थित हो कि परामर्श के प्रदर्शित दो आकारों में भला क्या अंतर है? कुछ तो नहीं। फिर उक्त दोनों आकारों को वैकल्पिक रूप में क्यों अनुमिति के प्रति कारण माना जा रहा है? तो इस प्रकार उठने वाली शंका के समाधान में यह समझना चाहिए कि उक्त दोनों आकार वाले परामर्शों में विषयकी दृष्टि से महान् अंतर है। क्योंकि एक में जो विशेषण रूप में जो विषय होता है वह दूसरे में इसके विपरीत विशेष्य रूप में विषय होता है। जैसे 'यह पर्वत आग के प्रति व्याप्य होने वाले धूम से युक्त है' इस ज्ञान के अंदर पर्वत होता है विशेष्य रूप से विषय और आग के प्रति व्याप्य होने वाले धूम से युक्त होना होता है विशेषण रूप से विषय। परन्तु 'पर्वत में आग के प्रति व्याप्य होने वाला धूम है' इस परामर्शस्थल में यह परिस्थिति नहीं होती। क्योंकि वहाँ पर्वत हो जाता है विशेषण रूप में विषय और आग के प्रति व्याप्य होने वाला धूम हो जाता है विशेष्य रूप से विषय। अत: इन दोनों में अंतर होना स्वाभाविक है। इन दोनों परामर्शों के अंदर किसी एक के होने पर अव्यवहित उत्तरक्षण में अनुमिति अवश्य होती है अत: परवर्त्ती नव्य नैयायिक लोग परामर्श को ही अनुमिति के प्रति साधकतम मानते हैं, करण मानते हैं लिंग को या लिंग धर्मिक व्याप्ति ज्ञान को नहीं।

इस परामर्श ज्ञान एवं इसके कारणत्व का खण्डन अन्य दार्शनिकों ने जोरों से किया है [५२] मीमांसकों ने यह कहकर इसका खण्डन किया है कि जिस व्यक्ति को उक्त आकारयुक्त परामर्श ज्ञान न होकर 'यह धूम आग का व्याप्य है' यह और 'पर्वत धूम वाला है' यह इस प्रकार दो खण्ड ज्ञान होते हैं उसे भी 'यह पर्वत अग्नि युक्त है' क्योंकि धूम युक्त है' इस प्रकार अनुमिति होती है। क्योंकि व्याप्य का रहना ज्ञात होने के कारण ही तो अनुमाता व्यापक वस्तु को पक्ष में समझता है? उक्त खण्ड ज्ञानस्थल में भी तो पक्ष में व्याप्त का रहना होता ही है। फिर व्यापक ज्ञाप्य का ज्ञान क्यों नहीं होगा? और यदि होगा तो वहीं ज्ञान तो कहलाता है अनुमिति। इसलिए परामर्श को अनुमिति के प्रति कारण मानना उचित नहीं। क्योंकि जिसके न रहने पर भी जो कार्य होता है उसके प्रति कारण कहा जा सकता नहीं।

अद्वैत वेदान्तियों का कहना इस सम्बंध में यह है कि नैयायिक लोग जिस 'धूम' आग का व्याप्य है' इस प्रकार स्मरणात्मक ज्ञान को अपने उक्त प्रकार परामर्श ज्ञान के प्रति कारण मानते हैं। मैं तो उसे भी अनुमिति के लिए अपेक्षित नहीं मानता? फिर

---

(५२) व्याप्तिविशिष्टवैशिष्ट्यावगाहि ज्ञानं न सर्वत्र कारणम्। किन्तु व्याप्यतावच्छेदक प्रकारकपक्षधर्मताज्ञानत्वेन कारणत्वस्यावश्यकत्वात्।

-न्यायसिद्धान्त-मुक्तावली, अनुमानखण्ड।

परामर्श की कारणता की न मान्यता के सम्बंध में तो कहना ही क्या है? ऐसा इसलिए कि मुझ वेदान्तियों के मत में प्राथमिक अनुभावात्मक व्याप्ति-ज्ञान और उससे होने वाले संस्कार का प्रबोध तथा पक्ष में हेतु का अस्तित्व का ज्ञान इन तीनों से ही अनुमिति हो जाती है। फिर क्यों निरर्थक परामर्श को अनुमिति के प्रति कारण माना जाय? अन्य दार्शनिक भी इस परामर्श ज्ञान को मान्यता देने के पक्ष में दीख नहीं पड़ते। इस प्रकार जो लोग परामर्श नामक उक्त प्रकार ज्ञान एवं उसमें अनुमिति के प्रति कारणत्व पर विश्वास ही नहीं रखते वे परामर्श को अनुमिति का साधकतम नहीं मानते, परन्तु जो लोग परामर्श और उसमें होने वाली कारणता पर विश्वास रखते हैं उनके अंदर अन्तरर्भुक्त होने वाले परवर्ती नव्य नैयायिकों ने यही अपना निर्णय स्थित किया कि परामर्श को ही अनुमिति के प्रति साधकतम, करण मानना चाहिए।

इस प्रकार विभिन्न मतवाद उपस्थित होने पर चार्वाक-पक्ष से किसे मान्यता दी जाय? यह प्रश्न उपस्थित होने पर उचित उत्तर यही होगा कि लिंग को ही महत्व दिया जाय। उसे ही अनुमित्यात्मक प्रत्यक्ष के प्रति साधकतम माना जाय। रही बात यह कि अतीत और अनागत लिंग से अनुमिति कैसे सम्पन्न हो पायेगी? जिसकी अनुपपत्ति की चर्चा पहले विस्तृत रूप से की जा चुकी है। तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि कार्य और कारण के बीच अपेक्षित सामानाधिकरण्य के नियमरक्षार्थ 'ज्ञान' को संबंध मानना आवश्यक ही है लिंग करणत्व पक्ष में भी। क्योंकि लिंग के अस्तित्व मात्र से अनुमिति होती नहीं। लिंग का ज्ञान होना अनिवार्य है, ऐसा मानने पर यह नियम बन पाता है कि जिसे हेतु का ज्ञान हो उसे ही अनुमिति हो। इस प्रकार अनुमिति के पहले हेतु का ज्ञान आवश्यक सिद्ध होने पर उस ज्ञान को सम्बंध रूप में ग्रहण करने पर अतीत और अनागत भी हेतु अनुमित्सु शरीरात्मा अनुमिति के अव्यवहित पूर्व ज्ञानात्मक सम्बंध में रहेगा ही। इसलिए अनुमिति की प्रदर्शित अनुपपत्ति वारित हो सकती परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं समझना चाहिए कि अनुमित्यात्मक प्रत्यक्ष के लिए लिंग-धर्मिक-व्याप्ति-ज्ञान की बिलकुल अपेक्षा ही नहीं है। क्योंकि अज्ञात लिंग से किंवा व्याप्य रूप से अज्ञात लिंग से कोई अनुमिति मानता नहीं और मानना उचित भी नहीं। क्योंकि लिंग को पक्ष में देखकर उससे सर्वथा अन्य होने वाली आग की अनुमिति इसीलिए हो पाती है कि सर्वत्र व्याप्य की अस्तित्व सीमा व्यापक की अस्तित्व सीमा के अन्तर्गत ही होती है वहिर्गत नहीं, इस बात को अनुमाता जनता है। यदि अनुमिति के निष्पत्यर्थ अनुमित्सु व्यक्ति के लिए ज्ञाप्य लिंगी और ज्ञापक लिंग इन दोनों के बीच होने वाले उक्त सीमागत परिस्थिति स्वरूप व्याप्य-व्यापक-भाव का ज्ञान अपेक्षित न माना जाय तो किसी से किसी को अनुमिति आपन्न हो जायेगी। कहने का तात्पर्य यह कि किन्ही दो सर्वथा असम्बद्धों के बीच एक से दूसरे की अनुमिति आपन्न हो बैठेगी जो कि कभी किसी को होती नहीं।

उक्त प्रकार परामर्श ज्ञान में अनुमिति के प्रति कारणता मान्य है या नहीं? इसके सम्बंध में ज्ञातव्य यह है कि उक्त प्रकार परामर्श कहीं भी अनुमिति के लिए अपेक्षित नहीं होता यह भी नहीं कहा जा सकता है, और यह भी नहीं कि सभी अनुमितियों के लिए

वह अवश्य अपेक्षित है। अनुमिति विशेष के प्रति उसकी अपेक्षा इसलिए मान्य है कि जहाँ अनुमित्सु व्यक्ति को कोई अन्य व्यक्ति यह कहता है कि 'यह पर्वत अग्नि के प्रति व्याप्य होने वाले धूम से युक्त है' तो उस व्यक्ति को जो कि उस वाक्य को सुनता है, यदि वह अनुमित्सु होता है उस लम्बे एक वाक्य से होने वाले शाब्दबोधात्मक परामर्श से ही अनुमिति होती है। क्योंकि वहाँ उस व्यक्ति को 'धूम आग का व्याप्य है' और 'पर्वत धूमयुक्त है' इस प्रकार दो खण्ड ज्ञान होते नहीं। एक ही अखण्ड ज्ञान जो कि पक्षात्मक धर्मी के अंश में प्रकृत लिंग को अर्थात् धूम को विशेषण के रूप में विषय बनता है एवं धूमात्मक लिंग के अंश में साध्यभूत, फलतः प्रकृत ज्ञाप्यभूत अग्नि की व्याप्ति को विशेषण रूप में विषय करता है, उस वाक्य से होता है। यह तो कहा नहीं जा सकता कि उक्त वाक्य जनित शाब्दबोध को परामर्श नहीं मानेंगे। क्योंकि अनुमिति के प्रति परामर्श को कारण मानने वाले नैयायिक लोग पक्ष में साध्य के प्रति व्याप्य होने वाले हेतु के अस्तित्व के ज्ञान को ही परामर्श मानते हैं। तदुनसार उक्त शाब्दबोध को भी परामर्श मानना ही होगा। यहाँ यह भी नहीं कहा सकता कि उस वाक्यार्थ-बोद्धा अनुमित्सु व्यक्ति को पहले भी यह अवगत रहता ही है कि 'धूम आग का व्याप्य होता है' और 'वह धूम से पर्वत में है' - अतः पूर्ववर्त्ती खण्ड ज्ञानों को ही क्यों न वहाँ अनुमिति के प्रति कारण मान लिया जाय? क्योंकि वाक्य जनित अर्थ बोध के लिए विशकलिंत रूप में वाक्य-घटक पदों के अर्थों की उपस्थितियाँ ही अपेक्षित होती हैं अतः यह नियम नहीं लादा जा सकता है कि उक्त प्रकार शाब्द-बोद्धा व्यक्ति को उससे पूर्व-'धूम आग का व्याप्य है' और धूम पर्वत में है' ये दोनों ज्ञान अवश्य रहे। अतः जहाँ उक्त वाक्य से तद्घटक प्रत्येक पदजन्य तत्तत् पदार्थों की उपस्थिति अलग-अलग विशकलित भाव से ही होकर शाब्दबोध होगा और उससे श्रोता को अनुमिति होगी वहाँ उक्त वाक्यज एक शाब्दबोध को ही, जो कि प्रकृत साध्य के व्याप्य रूप में और पक्षभूत पर्वत को तादृश वाप्यभूत प्रकृत हेतु युक्त रूप में विषय करता हुआ उक्त खण्ड ज्ञान रूप से नितरां भिन्न होगा। अतः सर्वत्र अनुमिति के प्रति उक्त खण्ड-ज्ञान रूप को ही कारण नहीं माना जा सकता जिसे मीमांसक लोग सार्वत्रिक रूप में अनुमिति के प्रति असाधारण रूप में कारण मानने के लिए आग्रहशील देखे जाते हैं।

साथ ही नैयायिकों का यह आग्रह भी उचित नहीं जचता कि एक जगह अनुमिति के प्रति कारण रूप में अपेक्षित अखण्ड एक ही साध्य के प्रति व्याप्यभूत हेतु के पक्षगत सम्बंध को विषय करने वाले परामर्श नामक ज्ञान को अनुमिति के लिए सार्वत्रिक रूप में अपेक्षित माना जाय। नैयायिक लोग इस परामर्श ज्ञान को लिंग-परामर्श इसलिए कहते हैं कि साध्य के प्रति व्याप्त होने वाला पक्ष सम्बंध लिंग ही होता है मुख्य रूप से अभिप्रेत विषय। और तृतीय लिंग परामर्श इसलिए उसे कहते हैं कि इस परामर्श ज्ञान के अंदर लिंग का विषयीकरण तृतीयवार होता है। यह कैसे होता है इसका स्पष्टीकरण आगे चल कर वहाँ अनायास हो जायगा जहाँ पर विभिन्न मत सिद्ध अनुमिति की प्रक्रियाएं वर्णित होंगी।

तृतीय प्रकरण

चार्वाक-मतानुकूल व्याप्ति-विवेचक

अनुमिति स्वतंत्र प्रमा मानी जाय या प्रत्यक्ष के अंदर ही उसकी गतार्थता मानी जाय किन्तु उसके लिए यह सर्वमान्य रूप से अपेक्षित होगा कि अनुमाता अनुमापक हेतु को अनुमेय का व्याप्य समझे। 'व्याप्य' शब्द का अर्थ होता है व्यापनीय फलतः व्याप्तियुक्त। अतः प्रकृत ज्ञापक हेतु को साध्य की व्याप्ति से युक्त समझने के लिए 'व्याप्ति' का एक निश्चित स्वरूप आवश्यक रूप में ज्ञातव्य होता है। अतः विभिन्न दार्शनिकों ने ही नहीं, प्रत्युत एक दर्शन के अनुयायी दार्शनिकों के बीच विभिन्न व्यक्तियों ने भी विभिन्न रूप से इस व्याप्ति के स्वरूप का निर्वचन किया है। मीमांसकों का कहना इस सम्बंध में यह था कि हेतुगत साध्य का अव्यभिचार है व्याप्ति। परन्तु उनके व्याप्ति के इस स्वरूप कथन से व्याप्ति के स्वरूप के सम्बंध में जिज्ञासाशील व्यक्तियों की जिज्ञासा समस्या हल नहीं हुई। क्योंकि 'अव्यभिचार' शब्द भी तो उतना लोक प्रसिद्ध नहीं कि उसे अनायास समझ लिया जाय? जनसाधारण में यदि थोड़ी प्रसिद्धि इसकी है भी तो अन्य अर्थ में। परस्त्री और परपुरुष इन दोनों के बीच होने वाला अनुचित सम्बंध कहलाता है- 'व्यभिचार' और उसका उचित अभाव कहलाता है 'अव्यभिचार'। इसलिए साध्य और हेतु अर्थात् ज्ञाप्य और ज्ञापक इन दोनों के बीच जनसाधारण में अल्प प्रसिद्ध व्यभिचार और अव्यभिचार का सम्बंध जोड़ा नहीं जा सकता? सुतरां प्रकृत हेतुगत साध्य का अव्यभिचार और व्यभिचार ये दोनों निर्वचन की अपेक्षा रखते ही है। अतः व्याप्ति के कुछ विवेचकों ने व्याप्ति के सम्बंध में अपनी-अपनी अलग-अलग परिभाषाएं बतलायी हैं। कुछ लोगों का कहना यह है कि 'जहाँ साध्य का अभाव रहे अर्थात् जहाँ साध्य न रहे वहाँ हेतु का रह जाना है हेतुगत साध्य का व्यभिचार।' अतः इसके विपरीत 'जहाँ[५३] साध्य न रहे वहाँ हेतु का भी न रहना है हेतुगत साध्य का अव्यभिचार।' साध्य की एतादृश अव्यभिचारात्मक व्याप्ति से युक्त हेतु होता है प्रकृत साध्य का व्याप्य। इसलिए हेतु का साध्य का व्याप्य होना अथवा अव्यभिचारी होना एक ही बात है। अव्यभिचारी हेतु कहलाता है 'सत्' हेतु और व्यभिचारी हेतु कहलाता है 'असत्' हेतु। 'सत्' का अर्थ है अच्छा और 'असत्' का बुरा। उदाहरण के द्वारा इसे यों समझा जा सकता है कि 'यह पर्वत आग वाला है क्योंकि धूम वाला है' इस प्रकार अनुमान स्थल में धूम हेतु कहलाता है 'सत्' हेतु। क्योंकि प्रकृत

---

(५३) साध्याभाववद्वृत्तित्वम्। *-व्याप्तिपंचक, तत्वचिन्तामणि।*

साध्य अग्नि का उक्त प्रकार अव्यभिचारात्मक सम्बंध धूम हेतु में उपस्थित होता है, हेतु को 'असत्' बनाने वाला व्यभिचारात्मक सम्बंध नहीं। प्रकृत हेतुभूत धूम में साध्य अग्नि का अव्यभिचारात्मक सम्बंध इस प्रकार स्थिर होता है कि साध्य अग्नि की जिन जलाशय आदि आधारों में विद्यमानता नहीं उन आधारों में धूम भी बिलकुल रहता नहीं, अतः घूमात्मक प्रकृत हेतु में अग्नि-आत्मक प्रकृत साध्य का अव्यभिचार ही सम्बंध स्थिर हो पाता है, व्यभिचारात्मक सम्बंध नहीं। व्यभिचारात्मक सम्बंध तब स्थिर हो पाता यदि प्रकृत धूम हेतु वहाँ भी कहीं रह जाता, जहाँ साध्यभूत आग रहती नहीं। परन्तु ऐसी परिस्थिति कभी, और कहीं, होती नहीं। धूम आग को छोड़ कर कभी नहीं रहता नहीं। अतः 'साध्य जहाँ न रहे वहाँ न रहना' एतदात्मक अव्यभिचार साध्यभूत आग का, अविचल रूप में धूम में स्थिर होता है। अतः अनुमित्सु व्यक्ति साध्य अर्थात् ज्ञाप्य आग और साधन अर्थात् ज्ञापक धूम इन दोनों के बीच उक्त अव्यभिचार को यदि समझता है तो धूम से उसके आधारभूत पर्वत आदि में साध्यभूत अग्नि का अनुमान करता है जो अनुमान सही अनुमान होता है। क्योंकि वहाँ के हेतुभूत धूम में उक्त प्रकार साध्य की व्याप्ति तत्त्वतः होती है। और उस तात्त्विक परिस्थिति को समझ कर अनुमित्सु व्यक्ति अनुमान अर्थात् अनुमिति करता है। इसके विपरीत यदि अनुमाता कहीं आग को देख कर उसे हेतु बना कर वहाँ धूम का अनुमान करता है, वह इस प्रकार अनुमिति करता है कि 'तप्त लौहपिण्ड धूम वाला है क्योंकि आग वाला है' तो यह उसका अनुमान इसलिए सही न होकर गलत हो आता है कि हेतु बनायी गयी आग में साध्य रूप से विवक्षित धूम की उक्त प्रकार अव्यभिचारात्मक व्याप्ति होती नहीं। क्योंकि विद्युत तप्त लौहपिण्ड आदि अनेक आधारों में हेतु बनायी गयी आग तो रहती है किन्तु साध्य रूप से विवक्षित धूम वहां रहता नहीं। फलतः साध्य धूम जहाँ रहता नहीं हेतु आग वहाँ भी पायी जाती है। 'साध्य जिस आधार में न रहे उसमें हेतु का रह जाना है 'व्यभिचार' और इसके विपरीत 'साध्य जहाँ रहे नहीं वहाँ हेतु का भी न रहना है अव्यभिचार व्याप्ति' यह बात बतलायी जा चुकी है। तदनुसार 'तप्त लौहपिण्ड धूम वाला है क्योंकि आग वाला है' इस अनुमान में हेतु बनायी गयी आग व्यभिचार-सम्बंध-युक्त हो जाती है। धूमात्मक साध्य के उक्त प्रकार अव्यभिचारात्मक सम्बंध से युक्त होती नहीं।

किन्तु यहां यह एक आवश्यक ध्यान रखने की बात है कि 'पर्वत आग वाला है क्योंकि धूम वाला है' इस अनुमान में जिस धूम को हेतु बनाया गया है उसे अविछिन्न-मूल रूप से ग्रहण करने पर ही घूम आग का व्यभिचारी व्याप्य हो पाता है, 'सत्' हेतु कहलाने का अधिकारी हो पाता है, अन्यथा नहीं। क्योंकि विच्छिन्न मूल धूम तो वहाँ रह ही जाता है जहाँ साध्य आग रहती नहीं। उदाहरण के द्वारा इसे यो समझा जा सकता है कि रेलगाड़ी जबकि चलती रहती है तो इंजन में अवस्थित अग्नि-मूल से मिलने वाली धूम-माला आकाश में अनेक काल तक लटकी हुई देखी जाती है किन्तु इंजन आगे बढ़ जाता है, दूर चला जाता है, अतः आग वहाँ रहती नहीं। धूम वहाँ भी रह जाता है जहाँ पर

साध्यभूत आग रहती नहीं। इस प्रकार अन्य भी अनेक परिस्थितियाँ दिखलायी जा सकती है, जहाँ दूध दुहने के पात्र को आग पर रख कर लोग शुद्ध करते हैं क्योंकि ऐसा करने पर उसमें दुहे दूध के फट जाने की आशंका रहती है, वहाँ आग पर रखे गये उस अल्प-मुख गम्भीर दुग्ध-पात्र में धूम तब भी पाया जाता है, जबकि उस पात्र के नीचे आग रहती नहीं, बुत जाती है, अथवा वह पात्र ही स्थानान्तरित कर लिया जाता है। वहाँ भी धूम हेतु तो रहता है किन्तु साध्य भूत आग नहीं रहती है। अत: हेतु वहाँ भी रहने वाला हो जाता है जहाँ साध्य रहता नहीं। सुतरां जिसे सत् हेतु, अनुमान कहा जाता है उसके भी असत् हो जाने की आशंका प्राप्त हो उठती है। अविछिन्न-मूल धूम को हेतु बनाने पर यह आपत्ति आती नहीं। क्योंकि व्यभिचार स्थल के उदाहरण रूप में उपस्थापित उक्त स्थलों का धूम विच्छिन्न-मूल ही हुआ करता है, अविच्छिन्न-मूल नहीं। 'अविच्छिन्न मूल' इसका अर्थ है 'जिसका अपने मूल से विच्छेद न प्राप्त हुआ हो' इंजन के चले जाने पर भी आकाश में लटकती हुई धूम माला को या उक्त दुग्ध पात्र स्थित उक्त धूम को उक्त अर्थ के अनुसार 'अविच्छिन्न मूल' नहीं कहा जा सकता क्योंकि दोनों स्थलों में धूम का अपने मूल भूत आग से विच्छेद हो ही गया रहता है।

अब यहाँ प्रश्न यह उठाया जा सकता हैं कि उक्त सदनुमान स्थल में पर्वत में आग संयोगात्मक ही सम्बंध से रहेगी। क्योंकि जिन दो द्रव्यों के बीच अंशाशिभाव नहीं होता अर्थात् जिन दो द्रव्यों के बीच आपस में कोई किसी का अवयव नहीं होता, भाग नहीं होता, उन दोनों के बीच संयोग-ही सम्बंध हुआ करता है। जैसे बैठने वाला और बैठने का स्थान या आसन इन दोनों के बीच संयोग ही सम्बंध होता है। बैठने वाला व्यक्ति अपने स्थान या आसन पर संयोग सम्बंध से सम्पृक्त होता है। ऐसा होता है इसलिए कि न बैठने वाला उस स्थान का एक भाग होता है जिस पर वह बैठता है और न वह स्थान उस बैठने वाले का कोई अंग होता है, भाग होता है। आग और पर्वत इन दोनों की भी आपसी परिस्थिति ऐसी होती है न पर्वत होता है आग का अंश और न आग होती है पर्वत का अंश अर्थात् भाग। अत: पर्वत में आग का अस्तित्व संयोगसम्बंध से ही होता है। संयोग में यह स्वाभाविक कमी है कि वह अपने आश्रय को पूर्णरूप से व्याप्त नहीं कर पाता अत: वह 'अव्याप्यवृत्ति' कहलाता है। 'अव्याप्यवृत्ति' इस शब्द का भी अर्थ यही होता है कि अपने आश्रय को पूर्णरूप से व्यास न करता हुआ उस आश्रय में रहने वाला। स्वभाव वह कहलाता है जिसे स्वभावी कभी छोड़े नहीं। जैसे आग उष्णता को छोड़ती नहीं इसीलिए उष्णता आग का स्वभाव कहलाती है। इस वस्तु स्थिति के अनुसार संयोग का सदा अव्याप्यवृत्ति होना अर्थात् अंशत: ही अपने आश्रय के साथ सम्बद्ध होना, यह स्वभाव चाहे वह प्रकार आदि रूप में प्रतीत होता हो अर्थात् किसी वस्तु में विद्यमान रूप में प्रतीत होता है, अथवा 'सम्बंध' रूप में अर्थात् अन्य किसी की विद्यमानता के नियामक के रूप में, सर्वथा एवं सर्वदा उसमें रहेगा ही। और जिसका सम्बंध अव्याप्यवृत्ति होगा वह भी

अव्याप्यवृत्ति होगा ही। इसके अनुसार पर्वत में संयोग सम्बंध से यदि एकदेशत: आग रहेगी तो अपरदेशत: आग का अभाव भी रहता ही है, यह अवश्य मान्य होगा। और ऐसा मानने पर उक्त व्याप्ति के निर्वचन में असंगति आ जाती है। क्योंकि यंदशत: पर्वत में आग रहती नहीं तदंशत: उसमें आग का अभाव भी रह जाता है। किन्तु अविच्छिन्न मूल धूम जो कि साधन रूप से अर्थात् हेतु रूप से, लिंग रूप से, विवक्षित है रहता ही है, नहीं नहीं रहता। कहने का तात्पर्य यह है कि 'साध्य जहाँ न रहे वहाँ हेतु का भी न रहना है हेतु में साध्य की व्याप्ति।' इस व्याप्ति निर्वचन का सार अर्थ यही प्राप्त होता है कि 'साध्य का जहाँ अभाव रहे वहाँ हेतु का न रहना है व्याप्ति' परन्तु 'पर्वत आग वाला है क्योंकि धूम वाला है' इस सदनुमान स्थल में सत् हेतु धूम के लिए यह निर्वचन लागू नहीं हो पाता है। जैसा कि उसे होना चाहिए। क्योंकि संयोगसम्बंध से रहने वाली आग का अभाव पर्वत में भी रह जाता है और धूम भी वहाँ रहता है। फलत: व्याप्ति के उक्त लक्षण में अर्थात् निर्वचन में 'अव्याप्ति' दोष आ पड़ता

तो इसका उत्तर उक्त व्याप्ति-निर्वचनकारियों की ओर से यह समझना चाहिए कि उक्त व्याप्लिनिर्वचन का अभिप्राय यहाँ तक है कि 'साध्य का अभाव जहाँ निरवच्छिन्न भाव से रहे अर्थात् अंशत: न रहे वहाँ हेतु का न रहना है व्याप्ति'। इस प्रकार व्याप्तिनिर्वचन करने पर उक्त दोष इसलिए आपन्न नहीं होता है कि पर्वत में आग के समान उसका अभाव भी अंशत: ही रहता है निरंशत: नहीं; अत: पर्वत में आग का अभाव निरवच्छिन्न-भाव से रहता है नहीं सुतरां निरवच्छिन्न-भाव से आग के अभाव का आधार पर्वत आदि जो कि अंशत: आग का भी आधार होता है होता नहीं। अग्न्यभाव का ऐसा आधार जलाशय आदि ही हो पाते हैं जो कि अंशत: भी आग का आधार होते नहीं। उन जलाशय आदि आधारों में धूम भी नहीं रहता। व्याप्ति का उक्त निर्वचन सही निकलता है। अव्याप्ति दोष हो पाता नहीं।

जनसाधारण के लिए सर्वथा अपरिचित 'अव्याप्ति' शब्द के ऊपर किये प्रयोग के अनन्तर उसके सम्बंध में जिज्ञासा उदित होने पर इसके सम्बंध में इस प्रकार समझना चाहिए कि-किसी के द्वारा किये जाने वाले किसी भी वस्तु के निर्वचन के सम्बंध में तीन प्रकार के दोष संभावित होते है जिनका नाम होता है क्रमश: अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव। किया गया निर्वचन यदि अपने सारे निर्वचनीयों को अपने से व्याप्त न कर पाये अर्थात् अनेक लक्ष्यों के अन्दर फलत: निर्वचनीयों के अंदर कुछ लक्ष्यों में समन्वित हो और कुछ लक्ष्यों में समन्वित ही नहीं, कुछ में तो लागू हो किन्तु कुछ में लागू हो नहीं, तो लक्षण में अर्थात् निर्वचन में 'अव्याप्ति' दोष आपन्न होता है। क्योंकि वह सारे अपने निर्वचनीयों को अपने द्वारा व्याप्ति नहीं कर पाता। उदाहरण के द्वारा इसे यो समझना चाहिए कि फूल का निर्वचन यदि यह किया जाय कि 'फूल उसे समझना चाहिए जिसमें सुगन्ध अवश्य हो,' तो यह निर्वचन अव्याप्ति दोष से आक्रान्त हो पड़ने के कारण फूल

का सच्चा निर्वचन नहीं कहला सकता। अव्याप्ति इसलिए होती है कि सुगन्ध का अस्तित्व सब फूलों में होता नहीं। ऐसे भी फूल पाये जाते हैं जिनमें सुगन्ध न होकर या तो दुर्गन्ध का और नहीं तो 'सु' और 'कु' से भिन्न उपेक्षणीय गंध का अस्तित्व पाया जाता है। फूल का उक्त निर्वचन सारे निर्वचनीय फूलों में लागू होता नहीं। यदि फूल का उक्त प्रकार निर्वचन न करके यह निर्वचन किया जाय कि 'परागयुक्त है फूल' अर्थात् जिसमें 'पराग हो वह होता है फूल' कहलाने का अधिकारी,' तो फूल के इस प्रकार किये जाने वाले निर्वचन में अव्याप्ति दोष आपन्न होता नहीं। क्योंकि सभी पुष्प परागयुक्त ही होते हैं कली की अवस्था में भी उनमें अप्रस्फुट रूप से पराग रहता ही है यह बात नहीं कहीं जा सकती कि पराग उसी फूल में होता है जिसमें सुगन्ध की सत्ता होती है। क्योंकि ऐसे फूलों पर भी रस लेने के लिए भौरों को बैठते हुए देखा जाता है। और यह भी देखा जाता है कि गुलाब और मदार के पेड़ यदि आस-पास हों और दोनों फूले हो तो भौरे मदार के फूल पर ही बैठते हैं, गुलाब के फूल पर नहीं। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि सुगन्धयुक्त फूल में ही पराग भी हुआ करता है। अतः 'परागयुक्त होना' यह स्वभाव सभी पुष्पों के लिए समान है इसलिए कोई भी फूल ऐसा मिलेगा नहीं जिसमें 'परागयुक्तता' स्वरूप फूल का लक्षण नहीं जाये। इस प्रकार यह लक्षण फूल का अव्याप्ति दोष से रहित होता है।

लक्ष्य के अतिरिक्त अलक्ष्य में भी लक्षण का चला जाना अर्थात् निर्वचन का निर्वचनीयों से अन्य में भी लागू हो जाना है लक्षण के लिए, निर्वचन के लिए अतिव्याप्ति दोष। उदाहरण के द्वारा इसे यो समझा जा सकता है कि फूल का निर्वचन यदि कोई इस प्रकार करे कि 'जिसका स्पर्श कोमल हो उसे समझना चाहिए फूल' तो फूल का इस प्रकार किया जाने वाला निर्वचन अतिव्याप्तिदोषयुक्त हो जाता है। क्योंकि कोमलता निर्वचनीय फूलों के अतिरिक्त अन्य भी अनेक वस्तुओं में पायी जाती है। अतः फूल का लक्षण बनाया जाने वाला कोमल स्पर्श लक्ष्यभूत फूलों से भिन्न धुनी रूई आदि में रह जाता है। उक्त 'परागयुक्तता' को फूल का लक्षण करने पर जैसा कि ऊपर बतलाया गया है अतिव्याप्तिदोष इसलिए नहीं हो पाता है कि पराग फूल का ही असाधारण स्वभाव है। वह फूल को छोड़ कर और किसी में रह सकता नहीं। क्योंकि मकरन्द, पुष्परस, पराग, ये सभी शब्द हैं पर्यायवाची अतः पराग पुष्परस ही है और कुछ नहीं। पुष्परस भला फूलों को छोड़कर और किसमें रह सकता है? किसी में नहीं। इसलिए पुष्प के अतिरिक्त अन्य किसी में न जाने के कारण 'लक्ष्यों अर्थात् निर्वचनीयों को छोड़ कर औरों में भी लक्षण का चला जाना है अतिव्याप्तिदोष' यह उक्त 'अतिव्याप्ति का निर्वचन' प्रकृत में लागू होता नहीं, अतिव्याप्ति की आपत्ति नहीं हो पाती। फूल का उक्त परागात्मक लक्षण अव्याप्ति की तरह अतिव्याप्ति दोष से भी ग्रस्त होता नहीं।

लक्षण में असम्भव दोष तब होता है कि जब कि किया गया लक्षण किसी एक भी लक्ष्य में समन्वित नहीं हो पाता। प्रकृत निर्वचन निर्वचनीयों के अंदर किसी एक भी

निर्वचनीय में लागू होता नहीं। उदाहरण के द्वारा इसे यो समझा जा सकता है कि फूल का निर्वचन यदि इस प्रकार किया जाय कि 'तरल पदार्थ है फूल' तो यह फूल का निर्वचन हो जाता है 'असम्भव' दोषग्रस्त। क्योंकि कोई भी फूल कोमल जितना भी क्यों न हो, किन्तु वह जल, दूध, तेल आदि की तरह तरल कभी नहीं होता है। अतः फूल के लक्षणस्वरूप में उक्त तारल्य-स्वभाव किसी एक भी फूल में प्राप्त हो सकता नहीं। 'सारे लक्ष्यों में लक्षण का न जाना, सारे निर्वचनीयों में निर्वचन का लागू न होना है असम्भव' यह बात ऊपर कही जा चुकी है। जबकि पुष्परसात्मक पराग को फूलों का लक्षण माना जाता है तब अव्याप्ति और अतिव्याप्ति की तरह यह असम्भव दोष भी हो पाता नहीं। क्योंकि ऐसा एक भी फूल नहीं बतलाया जा सकता जिसमें कि पराग न हो। असम्भव का निराकरण तो एक किसी लक्ष्य में भी लक्षण के रह जाने पर हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह कि असम्भव दोष तो तभी खतम हो जाता है जबकि लक्षण किसी एक भी लक्ष्य में समन्वित हो जाता है। यह परागात्मक पुष्पलक्षण तो सभी फूलों में विद्यमान पाया जाता है, फिर असम्भव दोष की सम्भावना भी कैसे की जा सकती?

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि असम्भव दोष में कुछ तो अव्याप्ति के साथ सामञ्जस्य देखा जाता है और कुछ अतिव्याप्ति दोष के साथ भी। 'लक्षण का लक्ष्य में न जाना' यह अव्याप्त एवं असम्भूत दोनों प्रकार के लक्षणों में समान रूप से प्राप्त होता है। परन्तु दोनों में भिन्नता इस बात को लेकर होती है कि अव्याप्त अर्थात् अव्याप्तिदोषयुक्त लक्षण जहाँ कतिपय लक्ष्यों में जाता नहीं, वहाँ असम्भूत अर्थात् असम्भवग्रस्त लक्षण किसी भी लक्ष्य में समन्वित होता नहीं। फलतः असम्भूत लक्षण सभी लक्ष्यों में नहीं रहने वाला होता है। उक्त अव्याप्तिदोषग्रस्त पुष्पलक्षण 'सुगन्ध' का अस्तित्व जहाँ कुछ पलाश आदि फूलों में रहता नहीं असम्भवदोष ग्रस्त पुष्पलक्षण उक्त तारल्य किसी एक भी पुष्प में न रहने के कारण सभी पुष्पों में नहीं रहने वाला होता है। अतिव्याप्ति के साथ असम्भव की समानता यह होती है कि लक्ष्य से भिन्न में असम्भूत लक्षण भी रहता है और अतिव्याप्ति लक्षण भी। क्योंकि पुष्प का असम्भूत लक्षण तारल्य लक्ष्यभूत फूल से अन्य जल आदि में जिस प्रकार रहता है अतिव्याप्तिग्रस्त पुष्पलक्षण कोमल स्पर्श भी उसी प्रकार लक्ष्यभूत फूलों से भिन्न धुनी रूई आदि में रह जाता है। अतिव्याप्तिग्रस्त और असम्भवग्रस्त लक्षणों में विषमता पायी जाती है कि अतिव्याप्तिदोषग्रस्त लक्षण लक्ष्य से भिन्न में जिस प्रकार रहता है लक्ष्य में भी उस प्रकार रहता है। परन्तु असम्भवदोषग्रस्त लक्षण लक्ष्य में बिलकुल नहीं रहता। ये अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव लक्षण की परीक्षा के लिए कसौटी हैं। यदि इन तीनों के निकट लक्षण खरा निकला, तीनों दोषों के अंदर एक भी दोष लक्षण में प्राप्त हुआ नहीं तो लक्षण सचमुच लक्षण होता है और यदि इन तीनों दोषों के अंदर एक भी दोष लक्षण से आ सटा तो वह लक्षण सचमुच अपने लक्ष्य का लक्षण न होकर लक्षणाभास हो जाता है।

इन अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव दोषों में दोषता का बीज क्या है? क्यों इन्हें दोष माना जाता है? यह जिज्ञासा उदित होने पर उसे इस प्रकार शान्त करना चाहिए कि अव्याप्ति-दोषस्थल में लक्षणात्मक हेतु 'भागासिद्ध' अर्थात् भागासिद्धि नामक दोष से युक्त होने के कारण सत् हेतु नहीं, हेत्वाभास हो जाता है और अतिव्याप्ति दोषस्थल में अतिव्याप्त लक्षण व्यभिचारी अर्थात् व्यभिचार-दोषयुक्त हो जाने कारण सत् हेतु न रहकर हेत्वाभास हो जाता है और असम्भव दोषस्थल में स्वरूपासिद्धि दोष प्राप्त हो जाने के कारण लक्षणात्मक हेतु स्वरूपासिद्ध हो जाता है। अतः सत् हेतु न होकर हेत्वाभास हो जाता है। इसलिए अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव इनको लक्षण के लिए दोष माना जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि लक्षण का प्रयोजन है 'व्यावृत्ति' एवं 'व्यवहार। 'व्यावृति का अभिप्रेत अर्थ है इतर भेद की अनुमिति और 'व्यवहार' का अभिप्रेत अर्थ होता है व्यवहारणीयता की फलतः वाच्यता की अनुमिति। इन द्विविध अनुमितियों का सम्पादक हेतु लक्षण ही हुआ करता है, और कोई नहीं। इतर भेद की अनुमिति होगी 'फूल-फूल से अन्य होने वाली सारी सांसारिक वस्तुओं से अन्य है अर्थात् उन सारी वस्तुओं से भिन्न है क्योंकि परागयुक्त है' इस प्रकार। इस प्रकार होने वाली अनुमिति सदनुमिति ही नियमतः होगी। क्योंकि हेतुभूत पराग पक्षभूत सारे फूलों में विद्यमान होता है अतः न यहाँ भागासिद्धि दोष उपस्थित होता है और न स्वरूपासिद्धि दोष। क्योंकि पक्षान्तर्गत एक या एकाधिक धर्मी में हेतु का न रहना ही स्वरूपासिद्धि दोष होता है। प्रकृत में हेतुभूत 'पराग' पक्षभूत सारे फूलों में जो कि उक्त परागात्मक पुष्पलक्षण के लक्ष्य भी होते हैं उनमें, रहता ही है। अतः किसी भी पक्षान्तर्गत धर्मी में अर्थांत् फूल में उस परागात्मक हेतु का अभाव रहता नहीं कि उसे पुष्पों में पुष्पों से अन्य सारी सांसारिक वस्तुओं के भेद की अनुमिति स्थल में हेतुभूत उक्त पराग को व्यभिचारी अर्थात् व्यभिचार नामक दोषयुक्त इसलिए नहीं कहा जा सकत कि 'साध्य जिस आधार में रहे नहीं वहाँ हेतु का रह जाना ही होता है हेतुगत व्यभिचार दोष।' जब फूल का लक्षण 'पराग' उन अपने लक्ष्यभूत सारे फूलों में रहता है, जहाँ कि लक्षण के प्रयोजनीभूत पुष्पेतर-भेद की उक्त प्रकार अनुमिति में सांध्यभूत पुष्पेतर-भेद अर्थात् फूलों से अन्य होने वाली सारी सांसारिक वस्तुओं का भेद भी नियमतः रहता ही है। और फूल को जो कि लक्ष्य और उक्त प्रकार अनुमिति का पक्ष भी है छोड़कर अन्यत्र कही भी, जहाँ कि उक्त प्रकार पुष्पेतर-भेदात्मक साध्य रहता नहीं यह लक्षण एवं हेतु होने वाला पराग रहता नहीं तब कैसे उसे व्यभिचारी कहा जा सकता? अतः अतिव्यासि का मूलभूत व्यभिचार दोष भी है नहीं। इसलिए परागात्मक पुष्प-लक्षण सही, निर्देष होता है।

परन्तु ऐसी अपेक्षित उचित परिस्थिति अव्याप्त' अतिव्याप्त एवं असम्भूत लक्षण स्थल में हो नहीं पाती क्योंकि उक्त प्रकार अव्याप्ति-दोषग्रस्त फूल का सुगन्ध-लक्षण जो कि पुष्पेतर भेद की अनुमिति का सम्पाद हेतु बनेगा पक्ष भूत सारे फूलों में रह

नहीं पाता। अत: दुर्गन्ध या निर्गन्ध पलाश आदि फूलों में सुगन्ध का अस्तित्व पाता जाता नहीं। इस पुष्पेतर भेद की अनुमिति करते समय हेतु रूप से विवक्षित होने वाली सुगन्ध पक्षभूत समस्त फूलों के अंदर गृहीत होने वाले पलाश आदि कतिपय फूलों में रहेगी नहीं। अत: 'पक्षान्तर्गत कुछ धर्मियों में हेतु का नहीं जाना है हेतुगत भागासिद्धि दोष' भागासिद्धि के इस निर्वचन के अनुसार उक्त सुगन्धात्मक हेतु सत्-हेतु न होकर हेत्वाभास हो जायेगा। अत: फूलों में अपेक्षित इतर-भेद की उक्त प्रकार अनुमिति के सम्पादन में क्षम नहीं हो पायेगा। अतिव्याप्ति-दोषग्रस्त पुष्पलक्षण उक्त 'कोमल स्पर्श' भी इसी प्रकार अपने लक्ष्य रूप में ग्राह्य फूलों में उक्त प्रकार पुष्पेत्तर भेब की अनुमिति का सम्पादन करने में इसलिए अक्षम हो बैठता है कि वह व्यभिचार-दोषग्रस्त हो जाता है। क्योंकि पुष्पेतर-भेदात्मक साध्य जिन धुनी रूई आदि में जाता नहीं कोमलस्पर्शात्मक हेतु वहाँ भी चला जाता है। 'साध्य जहाँ न जाये वहाँ भी हेतु का चला जाना है' व्यभिचार दोष, यह पहले भी कहा गया है कि और अवसर आने पर विस्तृत रूप से आगे चल कर भी विवेचन किया जायेगा। इसी प्रकार फूल का असम्भव-दोषग्रस्त-लक्षण 'तारल्य' फूलों में पुष्पेतर भेद की अनुमिति के सम्पादन में समर्थ इसलिए नहीं हो पाता है कि लक्ष्यात्मक पक्ष में, फलत: फूलों में बिलकुल न जाने के कारण स्वरूपासिद्ध हो जाता है। सारे पक्षों में हेतु का न जाना ही होता है स्वरूपासिद्ध दोष और उससे युक्त हेतु कहलाता है स्वरूपासिद्ध हेत्वाभाष। अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव इन दोषों के इस प्रासंगिक विवेचन का सार अर्थ यह प्राप्त है इन तीनों को लक्षण-दोष इसलिए माना जाता है कि इनके होते हुए लक्षण की प्रयोजन-सिद्धि ही हो नहीं पाती। क्योंकि प्रयोजनसाधक लक्षण स्वयं दुष्ट हेत्वाभास बन जाता है। अत: प्रत्येक निर्वक्ता को किसी भी वस्तु के निर्वचन के समय इन दोषों से सावधान रहना चाहिए। अन्यथा वह निर्वचन वस्तुत: निर्वचनीय वस्तु का निर्वचन नहीं कहला सकता। उसे निर्वचनाभास ही होना होगा। उस निर्वचनाभास का कुफल केवल यही नहीं होगा कि वह व्यर्थ होगा। यह महान कुफल उससे और प्राप्त होगा कि उस निर्वचनाभाष के आधार पर परवर्ती लोगों के अंदर बहुत लोग अपने क्रियामार्ग पर प्रवृत्त हो सकते हैं और उनकी वे प्रवृत्तियाँ निष्फल या अभिमत-फलक हो सकती हैं। जिसका पूरा दायित्व उस प्रथम निर्वक्ता के ऊपर ही आ गिरेगा।

इस प्रासंगिक अव्याप्ति आदि के विवेचन के पूर्व यह बात बतलायी जा चुकी है कि 'साध्य का अभाव जहाँ निरवच्छिन्न-भाव से रहे वहाँ हेतु का न रहना ही है हेतुगत साध्य की व्याप्यि।' इसी प्रकार अव्यभिचारात्मक व्याप्ति का स्वरूप मान लेने पर पक्ष में साध्य के नियामक सम्बंध संयोग की अव्याप्यवृत्तिता के कारण जो 'पर्वत आग वाला है क्योंकि धूम वाला है' इस प्रकार अनुमिति स्थल में अव्याप्ति-दोष होता था वह निवारित हो गया। क्योंकि संयोग सम्बंध की अव्याप्यवृत्तिता-दोष होता था वह निवारित हो गया। क्योंकि संयोग सम्बंध की अव्याप्यवृत्तिता के कारण जो पर्वत में भी प्रदेश विशेष को लेकर आग का अभाव बतलाया जाता है वह प्रादेशिक होने के कारण पर्वत में निरवच्छिन्न-भाव

से रहने वाला होता नहीं और जो जलाशय आदि आधार निरवच्छिन्न-भाव से आग के अभाव के आधार होते हैं, वहाँ धूम नहीं ही रहता है।

कुछ लोगों का कहना है कि उक्त प्रकार अव्याप्तिदोष के वारण के लिए उपाय रूप में यही क्यों न कहा जाय कि 'साध्यवान् से अन्य में सेतु का न रहना ही है' अव्यभिचारात्मक व्याप्ति।'[५४] व्याप्ति के इस निर्वचन-पक्ष में उक्त दोष इसलिए निवारित हो जाता है कि जो एकदेशत: भी साध्यवान् होगा वह किसी प्रकार साध्यवान् से अन्य नहीं हो सकता। ऐसी परिस्थिति में उक्त पर्वतपक्षक और अग्निसाध्यक तथा धूमहेतुक अनुमान-स्थल में पक्षभूत पर्वत जब कि किसी प्रकार एकदेशत: ही सही अग्निमान् हो जाता है तो उसे अग्निमान् से अन्य किसी प्रकार नहीं कहा जा सकता। अत: अग्निमान् पर्वत आदि से भिन्न रूप से हाथ में जलाशय आदि ही आ सकते हैं जिनमें धूमहेतु भी रहता नहीं। इस कथन का सरल अभिप्राय यह ज्ञातव्य है कि भिन्नता कभी अव्याप्यवृत्ति अर्थात् अंशवृत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि भिन्नता और अभिन्नता ये दोनों इस प्रकार आपस में अत्यन्त विरुद्ध है कि कभी किसी प्रकार एक जगह रह नहीं सकती। इसलिए संयोगसम्बंध से आग पर्वत में रहने के कारण जबकि पर्वत वह्निमान् अर्थात वह्निवाला होता है तो कभी किसी प्रकार वह वह्निमान् से अन्य नहीं कहा जा सकता और जो जलाशय आदि उक्त प्रकार अन्य होते हैं उनमें सचमुच धूम हेतु रहता नहीं।

अन्य कुछ लोग-ज्ञाप्य साध्य और ज्ञापक हेतु इनके बीच विद्यमान अव्यभिचार सम्बंध की व्याख्या इस प्रकार करते हैं कि 'साध्य का अभाव जहाँ-जहाँ रहे वहाँ-वहाँ' अवश्य रहने वाले अभाव का प्रतियोगी होना'[५५] है हेतुगत साध्य की व्याप्ति। जिस वस्तु का अभाव ग्राह्य रूप से लिया जाय वह वस्तु कहलाती है अभाव का प्रतियोगी। प्रतियोगी की यह परिभाषा इसलिए सर्वथा व्यावहारिक है कि 'प्रतियोगी' का अर्थ है विरोधी और प्रतियोगिता का अर्थ विरोध, यह जनसाधारण में भी अति प्रसिद्ध है।

व्याप्ति का यह निर्वचन उक्त अनुमान स्थल में इस प्रकार समन्वित होता है कि साध्यभूत अग्नि का अभाव जहाँ-जहाँ जलाशय आदि में रहता है वहाँ-वहाँ हेतुभूत धूम का भी अभाव रहता है। अत: उक्त निर्वचनगत द्वितीय अभाव पद से ग्राह्य अभाव धूम का अभाव भलीभाँति हो पाता है और उस अभाव का प्रतियोगी धूमहेतु हो जाता है। 'तप्त लौहपिण्ड धूम वाला है क्योंकि आग वाला है' इस प्रकार व्यभिचारी असत् अनुमान स्थल में हेतुभूत आग में घूमात्मक साध्य की यह व्याप्ति इसलिए नहीं जा पाती है कि धूम के अभाव का आधार विद्युत तप्त लौह आदि भी होते हैं किन्तु वहाँ आग रहती ही है, आग का अभाव रहता नहीं। अत: निर्वचन के अंदर आये हुए द्वितीय अभाव पद से आग का अभाव

(५४) साध्यवदिभन्न-साध्याभाववदवृत्तित्वम् ।२। व्याप्तिपंचक।

(५५) सकलसाध्याभावन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वम् ।४। -व्याप्तिपञ्चक।

गृहीत हो पाता नहीं, इसलिए वैसा अभाव होता है कच्ची लकड़ी आदि के संयोग का अभाव, उसका प्रतियोगी आग नहीं हो पाती जिसे कि हेतु बनाया गया होता है। उक्त अन्य व्याप्ति के कथन और ज्ञान के स्वरूप से इस व्याप्ति के कथन और ज्ञान के स्वरूप में अन्तर होने के कारण व्याप्ति के इस प्रकार किये जाने वाले निर्वचन को पूर्वकृत निर्वचनों से अन्य मानना पड़ता है। परिस्थिति तो वही रहती है कि साध्य जहाँ रहे नहीं वहाँ हेतु भी नियमतः न रहे यह हेतु के साध्य-व्याप्त होने के लिए नितान्त आवश्यक है। इसका व्यतिक्रम कहीं भी देखे जाने पर हेतु को साध्य के प्रति व्याप्य नहीं समझा जा सकता। साथ ही साध्य को वैसे हेतु के प्रति व्यापक भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि व्याप्यता और व्यापकता ये परस्पर-निरूप्य अर्थात् सापेक्ष हुआ करती हैं। धूम यदि आग के प्रति व्याप्य-रूप से ज्ञात नहीं होगा तो आग उस धूम के प्रति व्यापक रूप से ज्ञात नहीं हो सकती।

नव्य नैयायिकों ने इस सम्बंध में यह कहा कि उक्त प्रकार अव्यभिचार को व्याप्ति नहीं माना जा सकता। क्योंकि 'घड़ा अभिधेय है क्योंकि प्रमेय है' इत्यादि अनुमान स्थलों में प्रमेयतास्वरूप हेतु में अभिधेयतास्वरूप साध्य की व्याप्ति नहीं बन पायेगी। इसलिए कि उक्त अनुमान स्थल में साध्य है अभिधेयता जो कि संसार में सर्वत्र रहती ही है। 'अभिधेय' को अर्थ होता है किसी-न-किसी शब्द से कहा जाने वाला। संसार में ऐसी भला कौन-सी वस्तु हो सकती, जो कि किसी नाम से पुकारी न जाती हो, कही न जाती हो? अतः संसार की प्रत्येक वस्तु है अभिधेय। इसलिए साध्यभूत अभिधेयता सर्वत्र रहती है। उसका अत्यन्ताभान या उसके आश्रय का अन्योन्याभाव कहीं रह नहीं पायेगा। परिस्थिति यह होगी कि 'जहाँ साध्य न रहे वहाँ हेतु का न रहना है व्याप्ति' इस विहित निर्वचन के अंदर आया हुआ जहाँ साध्य न रहे ऐसा आधार ही अप्रसिद्ध हो उठेगा, इसलिए उक्त निर्वचन के अनुसार प्रमेयतास्वरूप हेतु में उक्त व्याप्ति जा नहीं पायेगी। अव्याप्ति के उक्त निर्वचन के अनुसार अव्याप्ति दोष अनिवार्य हो जाता है। अतः व्याप्ति का उक्त प्रकार निर्वचन करके उसका इस प्रकार निर्वचन करना चाहिए कि 'हेतु[५६] के आश्रय में रहने वाले अत्यन्ताभाव के अप्रतियोगी अर्थात् प्रतियोगी न होने वाले साध्य के आधार में रहना ही है हेतु में साध्य की व्याप्ति। 'पर्वत अग्नि वाला है क्योंकि धूम वाला है' इस प्रकार सत् अनुमान स्थल में हेतुभूत धूम के किसी भी आधार में आग का अत्यन्ताभाव पाया जा सकता नहीं अतः उक्त प्रकार अत्यताभाव गृहीत होगा साध्य भूत अग्नि से भिन्न घड़े, कपड़े आदि का ही अत्यन्ताभाव, जिसका प्रतियोगी साध्य अग्नि कभी होगा नहीं। इसलिए उक्त अप्रतियोगी साध्यरूप में अग्नि का ग्रहण अनायास होगा और ऐसी आग के पर्वत आदि आधार में धूमहेतु रहता ही है। इसलिए व्याप्ति का निर्वचन अव्याप्ति-दोषाक्रान्त होगा नहीं। अतिव्याप्ति दोष की भी सम्भावना इसलिए हो पाती नहीं कि 'यह पर्वत धूम वाला है क्योंकि आग वाला है' इत्यादि असत् अनुमान स्थल में हेतुभूत आग के

---

(५६) अत्रोच्यते। प्रतियोग्यसमानाधिकरण हेतु समानाधिकरणात्यन्ताभाव प्रतियोगितावच्छेवकावच्छिन्नं यत्र भवति तेन सम तड़य समानाधिकरण्यं व्याप्तिः।

-गंगेशोपाध्याय, तत्वचिन्तामणि, सिद्धान्तलक्षण।

आधार तप्त लोह में साध्य धूम का अभाव अनायास पाया जाता है। इसलिए साध्य धूम, हेतु आग के आधार में रहने वाले अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी ही हो जाता है, अप्रतियोगी हो पाता नहीं। अत: तादृश अप्रतियोगी साध्य के आधार में हेतु रह पाता नहीं। हेतुभूत आग में धूम की यह व्याप्ति जा पाती नहीं। सुतरां अलक्ष्य में लक्षण गमन हो पाता नहीं; जिसे कि अतिव्याप्ति का स्वरूप विस्तृत रूप में बतलाया गया है। जहाँ अव्याप्ति दोष होता नहीं असम्भव दोष की सम्भावना वहाँ नियत: रहती नहीं। अत: असम्भव दोष भी नहीं हो सकता इस व्याप्ति के निर्वचन में। इन तीनों दोषों से शून्य असाधारण धर्म ही कहलाता है लक्षण, इसके अनुसार 'हेतु के आधार में रहने वाले अत्यन्ताभाव के प्रतियोगी न होने वाले साध्य के आधार में रहना' लक्ष्यभूत सत् हेतु में जाता है और असत् हेतुस्वरूप अलक्ष्य में जाता नहीं तो इसे ही व्याप्त रूप से विवक्षित हेतु में व्याप्ति मानना चाहिए।

यदि इस व्याप्ति के सम्बंध में भी यह प्रश्न उठाया जा कि संयोगसम्बंध पूर्ववर्णित रूप में होता है अव्याप्यवृत्ती। और सम्बंध अव्याप्यवृत्ती होने पर उस सम्बंध से रहने वाला भी होता है नियमत: अव्याप्यवृत्ती। इसलिए अग्नियुक्त पर्वत में भी हिमावृत शिखर प्रदेश में संयोग सम्बंध से आग न रहने के कारण आग का अभाव रहता ही है, अत: साध्य आग धूम के आधार पर्वत में रहने वाले अपने अभाव का प्रतियोगी ही हो जाती है, अप्रतियोगी हो पाती नहीं। सुतरां निरुक्त अप्रतियोगी साध्य न मिल सकने के कारण उक्त प्रकार व्याप्ति सत् धूम में जा सकती नहीं, अव्याप्ति दोष इस प्रकार अनिवार्य हो जाता है। फिर नव्य नैयायिक कृत वह व्याप्ति का निर्वचन कैसे संगत कहा जा सकता है? तो इसका उत्तर उक्त लक्षणवादी यह दे सकते हैं कि व्याप्ति के उक्त निर्वचन के अंदर आने वाले अत्यन्ताभाव को जहाँ 'हेतु के आश्रय में रहने वाला' होना अनिवार्य बताया गया है वहाँ यह कहना चाहिए कि 'हेतु के आश्रय में निरवच्छिन्न रूप से रहनेवाला।' ऐसा कह देने पर पूरे निर्वचन का स्वरूप यह हो जायेगा कि 'हेतु के आधार में निरवछिन्न रूप से रहने वाले अत्यन्ताव के प्रतियोगी न होने वाले साध्य के आधार में रहना है हेतुगत साध्य की व्याप्ति'। अब उक्त अव्याप्ति दोष इसलिए आपन्न नहीं हो पायेगा कि हेतुभूत धूम के आधार पर्वत में आग का अभाव निरवच्छिन्न रूप से रहेगा नहीं। क्योंकि उस पर्वत में किसी प्रदेश में आग भी रहती ही है फिर निरवच्छिन्न रूप से उस पर्वत में रहने वाला अभाव ऐसी ही वस्तुओं का लिया जा सकेगा जो कि बिलकुल पर्वत में रहेगा ही नहीं। सुतरां वैसे अभाव का अप्रतियोगी साध्य आग हो जायेगी और उसके आधार पर्वत आदि में धूमहेतु रहेगा ही। नव्य-नैयायिक-कृत व्याप्ति के इस निर्वचन का सरल अभिप्राय यह होता है कि हेतु के प्रति व्यापक होने वाले साध्य के आधार में हेतु का रहना ही है हेतु में साध्य की व्याप्ति। जिसके आधार में जिसका अभाव पाया जाता नहीं उसके प्रति वह कहलाता है व्यापक। धूम के आधार पर्वत में उक्त प्रकार निरवच्छिन्न-भाव से आग का अभाव रह पाता नहीं इसलिए धूम के प्रति आग होती है व्यापक और उस व्यापकभूत साध्य आग के आधार में धूम रहता है इसलिए धूम आग का

व्याप्य होता है उसमें आग की व्याप्ति रह जाती है।

इसी को अन्य प्रकार से भी कहा जा सकता है यथा 'हेतु के समग्र आश्रयों में रहने वाले साध्य के आधार में रहना'[५७] ही है व्याप्ति जो कि सत् हेतु में अवश्य रहती है। क्योंकि उसी के रहने के कारण हेतु सत् हेतु होता है। 'पर्वत आग वाला है क्योंकि धूम वाला है' इस सत् अनुमान स्थल में साध्य आग धूम के समग्र आश्रयों में रहती ही हैं और ऐसे साध्यभूत आग के आधार पर्वत आदि में धूम हेतु रहता ही है, अतः उक्त निर्वचन के अनुसार भी धूमहेतु पर साध्य आग की व्याप्ति रहती ही है। इसी प्रकार अन्य सत् अनुमान स्थल में भी इस व्याप्तिनिर्वचन के लागू होने के कारण इस निर्वचन में भी अव्याप्ति या असम्भव दोष नहीं आपन्न किया जा सकता। अतिव्याप्ति दोष की सम्भावना इसलिए नहीं की जा सकती कि 'पर्वत धूम वाला है क्योंकि आग वाला है' इस असत् अनुमान स्थल में हेतु आग में साध्य धूम की व्याप्ति जा पाती है? क्योंकि प्रकृत साध्य धूम, हेतुभूत आग के समग्र आश्रयों में रह कहाँ पाता है? क्योंकि विद्युत तप्तलोह आदि अग्नि के आश्रय में धूम रह पाता नहीं। यदि साध्य धूम, हेतु आग के समग्र आश्रयों में रहता और ऐसे धूम के आश्रय में आग रहती तब आग में धूम की व्याप्ति आपन्न की जा सकती। परन्तु परिस्थिति ऐसी है नहीं। हेतु आग के आश्रय विद्युत आदि में धूम रहता नहीं। फलतः अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव इन तीनों निर्वचन दोषों के न हो सकने के कारण व्याप्ति का यह निर्वचन अनेक नव्य विवेचकों को सुन्दर जँचता है।

हेतु में रहने वाली साध्य की इस व्याप्ति को विवेचकों ने विभिन्न प्रकार से एवं विभिन्न शब्दों से कहा है। किसी एक विवेचक ने इस व्याप्ति को यदि 'नियम' कहा है तो दूसरे ने इसे 'प्रतिबंध' नाम से पुकारा है। अन्य किसी ने यदि व्याप्ति को 'अविनाभाव' कहा है तो और किसी ने कहा है इसे 'अनौपाधिक सम्बंध'। व्याप्ति को नियम कहने वाले का अभिप्राय यहाँ अव्यवहित पूर्वकथित व्याप्तिनिर्वचन के अधिक निकट प्रतीत होता है। क्योंकि उक्त निर्वचन में हेतु के प्रत्येक आश्रय में साध्य के रहने का नियम और इस नियम से आक्रान्त साध्य के किसी न किसी आश्रय में हेतु के रहने का नियम लब्ध होता है। इस व्याप्ति को 'प्रतिबंध' शब्द से कहने वाले का अभिप्राय 'व्याप्य-व्यापक-भाव' का निकटवर्ती प्रतीत होता है। क्योंकि 'प्रतिबंध' शब्द का यौगिक अर्थ होता है प्रत्येक का सम्बंध। फलतः साध्य और हेतु के बीच होने वाला पारस्परिक सम्बंध। हेतु और साध्य इन दोनों के बीच पारस्परिक सम्बंध व्याप्य-व्यापक-भाव होता ही है। क्योंकि सत् हेतुगत व्याप्यता-निरूपित-व्यापकता जाती है सत्हेतुक-स्थलीय साध्य में और साध्यगत-व्यापकता-निरूपिता-व्याप्यता आती है सत् हेतु में। व्याप्य-व्यापक-भाव और निरूप्य-निरूपकभाव आदि का संक्षिप्त परिचय पहले दिया जा चुका है। उसके द्वारा यहाँ

(५७) व्याप्तिश्चाशेषसाधनाश्रयाश्रित साध्यसामानाधिकरण्यरूपा।

–वेदान्त–परिभाषा, अनुमानपरिच्छेद।

भी समझने में सरलता प्राप्त कर लेनी चाहिए। इस अभिप्राय की ओर गहराई से ध्यान देने पर अस्पष्ट रूप में यह भी आभास मिलता हुआ-सा-प्रतीत होता है कि व्याप्ति अर्थ ने प्रतिबंध शब्द के प्रथम प्रचलन के समय प्रचालयिता ने मानों जैसे व्यापकता और व्याप्यता अर्थात् व्याप्ति को एक-एक स्वतंत्र ही पदार्थ मानना चाहा हो। व्याप्ति को अविनाभाव कहते समय सबसे पहले आने वाले 'अ' का अर्थ समझना चाहिए 'न' अर्थात् नहीं और इसका अन्वय अर्थात् सम्बंध 'भाव' के साथ समझना चाहिए। तदनुसार 'साध्य के बिना हेतु का नहीं होना है हेतु में साध्य की व्याप्ति' यह प्राप्त होता है। यहाँ 'भाव' इस शब्द का अभिप्रेत अर्थ बौद्ध-दृष्टिकोण से तादात्म्य और उत्पत्ति ये दोनों विवक्षित होंगे। इसलिए बौद्ध लोग व्याप्ति को तादात्म्य और उत्पत्तिमूलक मानते हैं। किन्तु नैयायिक दृष्टिकोण के अनुसार प्रकृत 'भाव' शब्द का अर्थ उत्पत्ति और अस्तित्व ये दोनों विवक्षित होंगे और प्रकृत 'अस्तित्व' को दातात्म्यमूलक और तद्भिन्न सम्बंध मूलक इस प्रकार दो प्रभेदों में विभक्त समझना होगा। आग से धूम की उत्पत्ति होती है और आग के बिना धूम होता नहीं इसलिए धूम में आग का अविनाभाव सम्बंध सम्पन्न होता है। और 'यह पेड़ है क्योंकि सीशम है' इस प्रकार सत् अनुमान स्थल में हेतु सीशम में साध्य पेड़ का तादात्म्य होता है, अत: वहाँ तादात्म्यस्वरूप अथवा तन्मूलक व्याप्ति बौद्ध सिद्धान्त में हो पाती है। न्यायवैशेषिक सिद्धान्त में अस्तित्वस्वरूप भाव को तादात्म्यस्वरूप और तद्भिन्न सम्बंध स्वरूप इन दो विभागों में विभक्त करने का अभिप्राय यह है कि 'फूल द्रव्य है क्योंकि पार्थिव है' इस प्रकार अनुमान स्थल में साध्य द्रव्यत्व का हेतु पार्थिवत्व में न तादात्म्य है और न द्रव्यत्व से उत्पत्ति ही होती है पृथिवीत्व की। अत: 'अविनाभाव' के अंदर 'भाव' का अर्थ तादात्म्य भिन्न सम्बंध रूप भी मान्य होता है। इसलिए समवायसम्बंध से पार्थिवत्व का अस्तित्व वहाँ ही सम्भव हो सकता है जहाँ समवाय सम्बंध से द्रव्यत्व रहता है। परवर्ती व्याप्तिविवेचकों की विचारधारा की ओर दृक्पात करने पर प्रतीत ऐसा होता-सा लगता है कि वे अविनाभाव के अंदर आन वाले 'भाव' शब्द का अर्थ अस्तित्व मात्र ही मानते हों। इसीलिए कुछ लोगों ने साहचर्य-नियम अर्थात् नियत-साहचर्य को व्याप्ति कहा है। साहचर्य का अर्थ होता है एक आश्रय में अस्तित्व। धूम और आग के बीच भी इसीलिए व्याप्तिसम्बंध स्थापित होता है कि दोनों का अस्तित्व संयोग-सम्बंध से एक पर्वत आदि आश्रय में होता है और उक्त तादात्म्यमूलक स्थल में भी जबकि तादात्म्य को सम्बंध माना जाता है तब दोनों का एकत्र तादात्म्यसम्बंध से अस्तित्व होता ही है। अत: उत्पत्ति और तादात्म्यमूलक न मान कर अस्तित्वमूलक ही मानना उचित है यह उनका गंभीर आशय प्रतीत होता है।

जो लोग 'अनौपाधिक सम्बंध' को व्याप्ति कहते हैं उनका अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि किन्हीं दो वस्तुओं का सामानाधिकरण्य दो प्रकारों से होता पाया जाता है। एक प्रकार तो ऐसा होता है कि दोनों स्वत: एक जगह अवस्थित प्रतीत होते हैं और दूसरा वह

सामानाधिकरण्य पाया जाता है जहाँ समानाधिकरण दोनों के अंदर अन्ततः एक अवश्य किसी अन्य की उपस्थिति के कारण उपस्थित होता है। लौकिक परिस्थिति को सामने रख कर इसे यों समझा जा सकता है–जैसे राम और श्याम यदि स्वतः अपनी इच्छा से कहीं एकत्र उपस्थित हुए हैं तो यह उन दोनों के एकत्रस्थितिस्वरूप उन दोनों का सामानाधिकरण्य स्वतः होने के कारण अनौपाधिक अर्थात् अन्यानपेक्ष फलतः अन्य प्रयुक्त न होने वाला कहा जायेगा और उक्त समानाधिकरण अर्थात् एकत्र अवस्थित राम और श्याम के अंदर कोई एक आदि स्वतः अपनी ही इच्छा से दूसरे के साथ उस एक स्थान पर उपस्थित नहीं होता है किन्तु 'काम' नामक किसी तृतीय प्रभावशाली व्यक्ति की वहाँ उपस्थिति के कारण उपस्थित रहने के लिए बाध्य होता हुआ उपस्थित होता है तो राम और श्याम इन दोनों के बीच होने वाले सामानाधिकरण्य को 'औपाधिक' ही कहना होगा। क्योंकि इस प्रकार होने वाला राम और श्याम का सामानाधिकरण्य अर्थात् एकत्र अवस्थान अन्यप्रयुक्त अर्थात् अन्यव्यक्ति, काम की अवस्थिति के कारण होता है, स्वतः नहीं। तद्वत् 'यह पर्वत आग वाला है क्योंकि धूम वाला है' इस प्रकार अनुमान स्थल में परिस्थिति यह होती है कि धूम के आधारभूत पर्वत आदि में आग की उपस्थिति स्वतः होती है। ऐसा नहीं होता है कि धूम वहाँ रहता है और आग किसी अन्य की उपस्थितिप्रयुक्त उपस्थित होती है। अतः धूम में होने वाला आग का सामानाधिकरण्य होता है स्वाभाविक, औपाधिक नहीं। परन्तु जब कि 'यह पर्वत धूम वाला है क्योंकि आग वाला है' इस प्रकार अनुमान किया जाता है तो आग को प्राप्त होने वाला धूम का सामानाधिकरण्य नियमतः स्वभाविक होता नहीं। क्योंकि तप्त लोह आदि आग के आधार में धूम बिलकुल हो ही नहीं सकता। यह परिस्थिति सार्वदिक न होने पर भी यह मानना ही होगा कि वहाँ धूम तभी होगा जबकि वहाँ किसी प्रकार किसी जलसम्पृक्त लकड़ी, तृण, फूस आदि का सम्पर्क प्राप्त हो। अतः आग के आधार में होने वाला धूम का अस्तित्व और तत्प्रयुक्त होने वाला वह अग्निगत धूम का सामानाधिकरण्य स्वतः न होकर अन्य गीली लकड़ी, कच्चे तृण आदि की उपस्थितिप्रयुक्त ही होने के कारण अन्यप्रयुक्त होगा। इसलिए आग में होने वाला धूम का सामानाधिकरण्य औपाधिक हो जाता है, स्वतः होने वाला नहीं हो सकता है। इसलिए इस सामानाधिकरण्य को अनौपाधिक नहीं कहा जा पाता है। अतः धूम आग का व्याप्य हो पाता है किन्तु आग धूम का व्याप्य नहीं हो पाती। सामानाधिकरण्य अर्थात् दो के एकत्र अवस्थान को ही 'सम्बंध' पद से अभिप्रेत रख कर व्याप्ति को अनौपधिक-सम्बंध कहा जाता है।

संभव है कुछ लोग यहाँ इस प्रकार प्रश्न उपस्थित करें कि पर्वत आदि अग्नि के आधार में धूम जिस प्रकार निजी कारण से उत्पन्न होता है तप्त लौह आदि में भी धूम निजी कारण से ही होता है फिर धूम में होने वाले आग के सामानाधिकरण्य को अनौपाधिक और आग में होने वाले धूम सामानाधिकरण्य को औपाधिक क्यों कहा जाय?

तो इसका उत्तर यह दिया जायेगा कि प्रकृत सामानाधिकरण्य का अर्थ होता है हेतु में साध्य का सामानाधिकरण्य। उसके अंदर देखना यह होता है कि हेतु के आधार में साध्य की उपस्थिति में किसी और का तो हाथ नहीं है? यदि साध्य की उपस्थिति में और का हाथ पाया जाता है जैसा कि 'यह धूम वाला है क्योंकि आग वाला है' इस प्रकार असत् अनुमानस्थल में आग में होने वाले धूम के सामानाधिकरण्य को औपाधिक बतलाया गया है इसलिए कि वहाँ साध्यभूत धूम का अस्तित्व कच्ची लकड़ी आदि अन्य के सहयोग से हेतुभूत आग के अस्तित्वप्रयुक्त होता है और 'पर्वत आग वाला है क्योंकि धूम वाला है' इस सदनुमान स्थल में परिस्थिति ऐसी नहीं होती है। क्योंकि वहाँ धूम के आधारभूत पर्वत में साध्यभूत आग का अस्तित्व अन्य कोई या तत्सहकृत हेतुभूत धूम के अस्तित्वप्रयुक्त होती नहीं। इस प्रकार होने वाले अनौपाधिक-सम्बंध को ही जगह-जगह विधिमुख रूप में 'स्वाभाविक-सम्बंध' भी कहा गया है। सम्भवत: ऐसे कहने वाले सामानाधिकरण्यात्मक सम्बंध को 'स्वाभाविक' और 'अस्वाभाविक' इन दो नामों के द्वारा विभक्त किया है। औपाधिक ही उनकी दृष्टि में 'अस्वाभाविक' कहलाने का अधिकारी होता है। इस प्रकार विस्तृत-भाव से व्याप्ति-विवेचन के अनन्तर हृदय में इस जिज्ञासा का उदित होना अस्वाभाविक नहीं कि चार्वाकीय-दृष्टिकोण इस व्याप्ति के सम्बंध में क्या हो सकता है? तो इस सम्बंध में यही उचित प्रतीत होता है कि 'साध्य जहाँ न रहे वहाँ हेतु का न रहना' इसे ही हेतु में साध्य की व्याप्ति माना जाय। क्योंकि यह सर्वाधिक रूप से व्याप्ति होने के लिए उचित रूप में बुद्धिपथ पर अवतीर्ण होता-सा प्रतीत होता है। यहाँ भी जिज्ञासा उदित होने पर इसे यों समझना चाहिए कि हेतु में साध्य की व्याप्ति के निर्णय से हेतु में साध्य के व्यभिचार का संशय एवं निर्णय दोनों कट जाते हैं। जिसका सुफल यह होता है कि पक्ष में साध्य के निश्चय का कण्टकाकीर्ण मार्ग कण्टकरहित अतएव प्रशस्त हो उठता है यह बात सभी व्याप्तिविवेचकों को मान्य है। और यह भी सभी व्याप्तिविवेचकों को मान्य है कि व्याप्ति का निर्णय व्यभिचार की बुद्धि को 'बाधमुद्रा' से ही रोक डालता है अथवा काट डालता है। अर्थात् किसी वस्तु के सम्बंध में 'हाँ' यह निश्चय जैसे 'ना' इस बुद्धि को रोक अथवा काट डालता है, या 'ना' यह निश्चय जैसे 'हाँ' इस बुद्धि को, व्यभिचार का निश्चय तैसे ही व्याप्ति की बुद्धि को एवं व्याप्ति का निश्चय व्यभिचार की बुद्धि को काटता है। इस वस्तुस्थिति के आधार पर यह भी मानना ही चाहिए कि 'हाँ' और 'ना' की तरह व्याप्ति एवं व्यभिचार इन दोनों के स्वरूप आपस में स्पष्ट विरुद्ध हों। हेतुगत व्यभिचार का स्वरूप लोकप्रसिद्ध 'व्यभिचार दोष' के अनुरूप हो यह अवश्य युक्तिसंगत कहा जायगा। इसलिए 'हेतु का वहाँ भी चला जाना अर्थात् प्राप्त होना,' जहाँ कि उसका अपना साध्य न रहता हो' इसे ही हेतुगत व्यभिचार दोष मानना चाहिए। इस हेतुगत व्यभिचार के स्वरूप को लोकानुगति इसलिए प्राप्त होती है कि अनुचित लौकिक व्यभिचार दोष का भी तो स्वरूप यही होता है कि स्त्री एवं पुरुष इन दोनों के अंदर प्रत्येक एक ऐसे व्यक्ति के साथ सम्पर्क स्थापित कर लेता है जो उसका वस्तुत: अपना होता नहीं।

यदि बारीकी के साथ देखा जाय तो यह अनायास स्पष्ट प्रतीत होगा कि साध्य के हेतुगत व्यभिचारस्थल में भी होने वाली परिस्थिति इसी परिस्थिति से मिलती-जुलती होती है। क्योंकि साध्य के अस्तित्वस्थल को ही अपना उचित स्थान समझकर हेतु को रहना चाहिए। परन्तु वह जब इस औचित्य का उलंघन करके वहाँ भी अपना अस्तित्व स्थापित करता है जो स्थान साध्य का न होने के कारण उसका अपना होता नहीं तब वह व्यभिचारी हो जाता है। यह कहना उचित और युक्ति संगत नहीं कहा जा सकता कि 'प्रकृत विवेच्य बौद्ध अथवा शास्त्रीय व्यभिचार का स्वरूप लौकिक व्यभिचार के स्वरूप से सामंजस्य रखने वाला ही हो यह कोई आवश्यक नहीं है'। क्योंकि शास्त्र या ज्ञान भी कोई लोकातीत वस्तु नहीं, वह भी लोकव्यवहार से ही सर्वथा सम्पृक्त हो, लोकानुगत हो, लोकायत हो, यही उचित होगा। व्यभिचार और व्याप्ति के स्वरूप 'हाँ' और 'ना' की तरह आपस में स्पष्ट विरोधी हो यह आवश्यक है यह बात पहले बतलाई जा चुकी है। तदनुसार 'साध्य जहाँ न रहे वहाँ हेतु का भी न रहना' इसे ही हेतु में साध्य की व्याप्ति मानना उचित है। 'साध्यवान् से अन्य में न रहना' एवं जो-जो साध्य वाला न होकर साध्य का अभाव वाला हो उन सबमें रहने वाले अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी होना' है हेतु में साध्य की व्याप्ति इन सब कथनों में कोई अलग मौलिक तत्त्व नहीं प्रतीत होता है। एक जगह साध्य का अत्यन्ताभाव न लेकर उसके आश्रय का अन्योन्यभाव ग्रहण किया गया है और दूसरी जगह साध्य के अत्यन्ताभाव और हेतु के अत्यन्ताभाव इन दोनों में व्याप्य-व्यापक भाव दिखलाकर प्रकृत मान्य व्याप्तिस्वरूप को ही व्यक्त किया गया है। क्योंकि ऐसा न मानने पर उसे भी अपेक्षित लोकानुगति प्राप्त नहीं हो सकती जिसका उल्लेख अभी-अभी विस्तृतभाव से किया गया है।

अब रही बात उन नब्य नैयायिकों की जिन्होंने व्याप्ति के मान्यस्वरूप के सम्बंध में अपना निर्णय यह बतलाया है कि 'हेतु के आश्रय में रहने वाले अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी न होने वाला जो प्रकृत साध्य, उसके आधार में हेतु का रहना है व्याप्ति'। इस व्याप्तिस्वरूप की मान्यता के पक्ष में व्याप्ति के लिए अनुभवसिद्ध व्याभिचार स्वरूपता स्पष्ट नहीं हो पाती। क्योंकि ऐसी व्याप्ति को मान्यता देने वाले व्यभिचार का स्वरूप यह मानते हैं कि 'साध्य का हेतु के आधार में रहने वाला अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी होना' है व्यभिचार। व्यभिचार का ऐसा स्वरूप मानने पर व्यभिचार साध्य का धर्म बन बैठता है, जहाँ कि होना चाहिए उसे साधक रूप से विवक्षित हेतु का धर्म। क्योंकि व्याप्य की तरह व्यभिचारी भी हेतु ही कहलाता है, साध्य नहीं। और यह होना इसलिए आवश्यक है कि व्याप्ति का ज्ञान और व्यभिचार का ज्ञान ये दोनों 'हाँ' और 'ना' इसी प्रकार बाधमुद्रा से प्रतिबध्य-प्रतिबंधक भावापन्न है। इस प्रकार प्रतिबध्य-प्रतिबंधक-भाव के लिए यह अत्यन्त आवश्यक होता है कि प्रतिबध्य और प्रतिबंधक दोनों ज्ञान समानविशेष्यक हों। यदि ऐसा न माना जाय तो 'राम धनी है' और 'श्याम निर्धन है' ये दोनों ज्ञान भी आपस में प्रतिबंध्य-

प्रतिबंधक-भावपन्न हो उठेंगे। जैसा कि होते नहीं। 'राम धनी है' और 'राम धनी नहीं है' इस प्रकार के ही दो ज्ञान आपस में प्रतिबध्य-प्रतिबंधक-भावापन्न होते हैं। क्योंकि ऐसे दो ज्ञानों में प्रकार विरोध अर्थात् दोनों ओर विशेषण होने वाले दो विषयों में विरोध के साथ विशेष्य की एकता भी रहती है। 'राम धनी है' और 'श्याम निर्धन है' इन दोनों ज्ञानों में धन और धनाभावात्मक निर्धनता इन दोनों विशेषणों में तो विरोध रहता है किन्तु दोनों ज्ञान के विशेष्य एक हो पाते नहीं। इसी प्रकार उक्त प्रकार व्याप्ति का ज्ञान हेतु विशेष्यक और व्यभिचार का ज्ञान साध्यविशेष्यक होने पर इन दोनों में अपेक्षित प्रतिबध्य-प्रतिबंधक भाव जो कि उक्त व्याप्तिलक्षणवादी नन्य नैयायिकों को भी मान्य है बन नहीं सकता। यद्यपि इस व्याप्तिज्ञान और व्यभि चारज्ञान इन दोनों के अंदर अनुभवसिद्ध प्रतिबध्य-प्रतिबंधक-भाव के लिए उक्त व्याप्ति को मान्यता देने वालों ने चेष्टा नहीं की है यह बात नहीं। उन्होंने एतदर्थ यह उपाय अपनाया है कि व्याप्ति के ज्ञान का आकार ऐसा माना जाय कि 'साध्य हेतु के आधार में रहने वाले अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगी है' ऐसा व्याप्तिज्ञान 'साध्य हेतु के आधार में रहने वाले अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी है' इस व्यभिचारज्ञान से विरुद्धविषयक होने के कारण व्याप्तिज्ञान और व्यभिचारज्ञान इन दोनों में अपेक्षित प्रतिबध्य-प्रतिबंधक भाव सम्पन्न हो जाता है यह उन लोगों का आशय है। परन्तु विचारगत औचित्य की कसौटी पर कस कर देखने पर यह उपाय भी सही नहीं जँच पाता। क्योंकि व्याप्तिज्ञान का उक्त आकार मान्य होने पर व्याप्ति वस्तुतः साध्यगत ह8ो उठती है जबकि होना यही उचित हो सकता है कि व्याप्ति हेतुगत हो। क्योंकि 'व्यभिचारी' एवं 'व्याप्य' दोनों ज्ञापक हेतु ही कहे जाते हैं साध्य नहीं, यह बात पहले भी कहीं जा चुकी है।

यदि यह कहा जाय कि 'साध्य हेतु के आश्रय में रहने वाले अत्यन्ताभाव का अप्रतियोगी है' इस प्रकार किये गये व्याप्तिज्ञान से पर्यवसित रूप में यही प्राप्त होता है कि 'हेतु साध्य के ही आधार में रहने वाला है' इसलिए व्याप्ति का आश्रय साध्य न होकर पर्यवसित रूप में हेतु ही हो जाता है? तो उक्त 'साध्य के ही आधार में' यहाँ 'ही' यह इसे सुस्पष्ट व्यक्त करता है कि 'साध्य जहाँ रहता नहीं वहाँ हेतु भी रहता नहीं' और ऐसा पर्यवसित अर्थ मानने पर फलतः वे वहाँ ही पहुंच जाते हैं जिसे न मान कर उन्होंने व्याप्ति का अलग स्वरूप निर्धारण के लिए अग्रतर हुए थे। साथ ही व्यभिचार और व्याप्ति दोनों के सामानाधिकरण्य के लिए उन्हें व्यभिचार का भी स्वरूप यही मानना होगा कि 'साध्य जहाँ रहे नहीं वहाँ भी हेतु का रह जाना है व्यभिचार'। और ऐसा कहने पर उक्त अव्यभिचार ही व्याप्ति है इसे उन्हें पूर्ण रूप से मान्यता देनी होगी। किन्तु वह भी उनके लिए स्वीकार्य होना इसलिए अति कठिन प्रतीत होता है कि उनकी दृष्टि में 'यह अभिधेय है क्योंकि प्रमेय है' इस केवलान्वयीसाध्यक अर्थात् सर्वत्र विद्यमान साध्यक अनुमान स्थल का समाधान कठिन हो आता है। क्योंकि साध्य जहाँ रहता न हो ऐसा आधार वहाँ के लिए असम्भव होता है। चार्वाकीय-दृष्टिकोण में उक्त प्रकार अव्यभिचार

को ही हेतुगत व्याप्ति मानना इसलिए सर्वथा सामंजस्यपूर्ण हो पाता है कि इस दृष्टिकोण में कोई भी वस्तु सर्वत्र विद्यमान मान्य नहीं है। अभिधेयत्व अभिधेय भौतिक वस्तुओं से और प्रमेयत्व प्रमेय भौतिक वस्तुओं से अतिरिक्त, और कुछ मान्य नहीं है अत: यहाँ केवलान्वयीसाध्यक अनुमान को आगे करके मार्ग में रोड़ा नहीं अटकाया जा सकता। चार्वाकीय इस कथन के साथ अन्य अद्वैतवादी भी अपनी सम्मति अवश्य देंगे। कुछ शांकर अद्वैत के विवेचकों ने भी स्पष्ट रूप से यह कहा कि केवलान्वयी अनुमान मान्य नहीं।[५८] सम्भव है कि कुछ लोगों के हृदय में यह प्रश्न उठ खड़ा हो कि जो व्यक्ति किसी को सर्वत्र विद्यमान तक न मानेगा तो वह अद्वैत की मान्यता का प्रतिपादन कैसे कर पायेगा? क्योंकि जो अद्वैत तत्त्व जिस अद्वैतवादी के सिद्धान्त में मान्य होगा उसे उसके मत में व्यापकता से आलिंगित ही मानना होगा और जो व्यापक रूप से मान्य होगा वह कहीं नहीं कैसे माना जा सकेगा? परन्तु इस तरह का प्रश्न इसलिए उचित नहीं हो पाता है कि 'सब जगह रहता है' ऐसा कहने पर निश्चय ही आधार-आधेयभाव की प्रतीत होती है। अद्वैत तत्त्व को सर्वत्र रहने वाला मानने पर सबको उससे अलग उसका आश्रय मानना होगा। जिसका कुफल यह होगा कि अद्वैत बालू के स्तूप के समान विशीर्ण हो पड़ेगा। अत: अद्वैतावादी ऐसा कभी नहीं कह सकते कि 'अद्वैत रूप से मान्य तत्त्व सर्वत्र रहता है' वे इसके स्थान में ऐसा मानेंगे और कहेंगे कि 'वही सब कुछ है'।

सम्भव है कुछ लोग चार्वाकीय-दृष्टिकोण में व्याप्ति के स्वरूप और उसकी मान्यता के विवेचन को अविवेकपूर्ण बतलावें। वे यह सोंचे कि चार्वाक तो अनुमान मानता नहीं फिर उसके लिए अपेक्षित होने वाली व्याप्ति के स्वरूप का विवेचन क्यों करने जाएगा? और यदि करे भी तो उसके लिए यही उचित होगा कि व्याप्ति एवं अनुमान के सम्बंध में वह केवल खण्डनात्मक विवेचन उपस्थित करे, स्वरूपनिर्धारणात्मक नहीं। परन्तु इस प्रकार उनका सोचना इसलिए संगत नहीं होगा कि चार्वाकीय दृष्टिकोण में भी अनुमिति अमान्य नहीं है। केवल उसका स्वतंत्र-प्रमात्व अमान्य है इस सम्बंध में चार्वाकीय सच्चा दृष्टिकोण यह है कि अनुमिति प्रमा भी एक प्रकार प्रत्यक्ष ही है। वह भी प्रत्यक्ष प्रमा से अतिरिक्त प्रमा नहीं है। कोई भी विवेचक सर्वनुभवसिद्ध वस्तु का सर्वथा अपलाप भला कैसे कर सकता है? यह कैसे कह सकता है कि जिस व्यक्ति को धूम और आग इन दोनों के बीच होने वाले व्याप्य-व्यापकभावका निश्चय होता है, वह व्यक्ति भी पर्वत में धूम को देख कर वहाँ आग का निश्चय अथवा अधिक सम्भावित-अग्निकोटिक आग का सन्देह नहीं करता है? यह बात सही है कि चार्वाक मत के ऊपर प्रकार करने वालों ने चार्वाकीय-सिद्धान्त को ऐसा ही समझ रखा है कि वे अनुमान को मानते नहीं, परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है जिसका स्पष्टीकरण आगे चलकर अनायास होगा।

---

(५८) तच्चानुमानमन्वयिरूपमेकमेव न तु केवलान्वयि......

-वेदान्तपरिभाषा अनुमान-परिच्छेद।

अनुमिति के लिए जिस प्रकार अनुमाता को लिंग में साध्य की व्याप्ति का ज्ञान अपेक्षित होता है उसी प्रकार व्याप्य रूप से ज्ञात उस लिंग में पक्षधर्मता अर्थात पक्षनिष्ठता का फलतः पक्ष में अस्तित्व का भी ज्ञान अपेक्षित होता है। क्योंकि पक्ष में जब तक व्याप्य का अस्तित्व अनुमाता नहीं समझेगा तब तक उसके सहारे व्यापक रूप से ज्ञात साध्य को कैसे पक्ष में समझ सकता है? इसका थोड़ा-सा दिग्दर्शन वहाँ कराया जा चुका है जहाँ 'परामर्श' नामक ज्ञान अनुमिति के लिए अपेक्षित है या नहीं इसका विचार करते हुए यह बतलाया गया है कि 'पर्वत आग वाला है क्योंकि धूम वाला है' इस अनुमान स्थल में 'धूम आग का व्याप्य है' और 'पर्वत धूम वाला है' इस प्रकार दो खण्ड ज्ञानों में भी अनुमिति होती है। इस खण्डज्ञान द्वय के अंदर 'पर्वत धूम वाला है' यह ज्ञान पक्षधर्मता का ही ज्ञान है। 'पक्षधर्मता' इस शब्द का अर्थ है 'पक्ष में अस्तित्व' अर्थात् पक्ष में हेतु का रहना। सभी अनुमिति स्थलों में अतः व्याप्तिज्ञान की तरह पक्षधर्मता का भी ज्ञान कारण रूप में अनुमिति के लिए अपेक्षित होता है।

नव्य नैयायिकों [५६] ने अनुमिति के लिए व्याप्तिज्ञान और पधधर्मताज्ञान के अतिरिक्त 'पक्षता' को भी अपेक्षित माना है। जिसके स्वरूप के सम्बंध में उन लोगों में महान् आपसी गृहकलह देखने को मिलता है। कुछ लोग यह कहते हैं कि जिस धर्मी में साध्य का विधान किया जाता है। अर्थात् जिसमें साध्य की अनुमिति की जाती है उसमें साध्य का संदेह रहना अनुमाता के लिए नितान्त आवयक है। क्योंकि अनुमाता उसी अपने संशय के निराकरणार्थ निश्चयात्मक अनुमिति के लिए प्रवृत्त होता है और जिसे साध्य का निश्चय रहता है वह, जहाँ जिसका निश्चय रहता है वहाँ उसकी अनुमिति करने के लिए प्रवृत्तिशील होता नहीं। उदाहरण के द्वारा इसे यों समझा जा सकता है कि राम को यदि 'पर्वत अग्नि वाला है या नहीं' इस प्रकार पर्वत में आग का संदेह रहता है तब वह निश्चय चाहता हुआ उक्त प्रकार व्याप्ति एवं पक्षधर्मता का ज्ञान करके अनुमिति करता है और जब उसे यह निश्चय हो जाता है कि 'पर्वत आग वाला है' तब उसके अनन्तर वह अनुमिति करने के लिए व्याप्ति और पक्षधर्मता को नहीं समझने जाता है। अतः पक्षस्वरूप धर्मी में साध्य का संशय है पक्षता और वह है अनुमिति के प्रति कारण।

दूसरे कुछ लोगों का यहाँ कहना यह है कि यह कोई निश्चय नहीं कि साध्य के संशय रहने पर ही अनुमाता अनुमिति करता है। धनी व्यक्ति घर में बहुत धन के होने पर भी धन चाहता हुआ उसके उपार्जन के लिए प्रवृत्त होता है यह देखा ही जाता है। ऐसे अपरिमित निदर्शनों से यह बात मानती ही होगी कि इच्छा बहुत प्रबल वस्तु है। वह यह नहीं सोचती कि मेरे विषय विद्यमान है, अतः मैं क्यों होऊँ ? अथवा क्यों इस व्यक्ति को उसके लिए प्रवृत्त कराऊँ जो कि इसके पास विद्यमान ही है। इस परिस्थिति के अनुसार पक्ष में साध्य का निश्चय हो जाने पर भी अनुमित्सा अर्थात् अनुमिति के लिए इच्छा लोगों

(५६) 'पक्षता न कारणमिति तु भ्रमः।' – *पक्षता तत्त्वचिन्तामणि।*

को हो सकती है और उस अपनी इच्छा के अनुसार वे अनुमिति कर सकते हैं। अतः अनुमिति के पहले साध्य का संशय सर्वत्र रहेगा ही यह नहीं कहा जा सकता। अतः पक्ष में होने वाले साध्य के संशय को पक्षतारूप से अनुमिति के प्रति कारण न मानकर सिषधयिषा को अर्थात् पक्ष में साध्य निर्णय की इच्छा को फलतः अनुमित्सा को पक्षता के रूप में अनुमिति के प्रति कारण मानना चाहिए। इस प्रकार इच्छा को पक्षता के रूप में अनुमिति के प्रति कारण मानने पर सन्देहस्थलीय अनुमिति का एवं पक्ष में साध्य का निश्चय रहते हुए भी इच्छा के अस्तित्व के कारण होने वाली अनुमिति का भी सम्पादन हो पाता है। इस इच्छा-पक्षतावाद के समर्थन में यह भी एक युक्ति उपस्थित की जा सकती है कि किसी धर्मी में किसी वस्तु का सन्देह होने पर भी यदि उसकी अनुमिति की इच्छा किसी व्यक्ति को न हो तो वह उस धर्मी में उसकी अनुमिति करता नहीं, यह अनुभवसिद्ध है। संशय को पक्षता मानने पर इच्छा के न होने पर भी अनुमिति होनी चाहिए जो कि होती नहीं। अतः संशय को अनुमिति के प्रति पक्षतारूप में कारण न मान कर इच्छा को ही पक्षता मानना चाहिए और उसे ही अनुमिति के प्रति कारण मानना चाहिए।

अन्य कुछ विवेचक इस पर अपना इस प्रकार मत व्यक्त करते हैं कि उक्त प्रकार साध्यसंशय या अनुमित्सा को पक्षता मानना इसलिए उचित प्रतीत नहीं होता है कि परिस्थिति विशेष में इन दोनों के न रहने पर भी अनुमिति होती हुई पायी जाती है। उदाहरण के द्वारा इसे यो समझा जा सकता है कि राम घर मे सुषुप्त रहता है उसके लिए निद्रा का अंधेरा व्याप्त रहता है। न उसे उस समय यह सन्देह रहता है कि 'आकाश मेघाच्छन्न है या नहीं, और न उसे यह इच्छा ही रहती है कि 'मैं आकाश में मेघाच्छन्नता का अनुमान करुँ' फिर भी जीरों से होने वाले मेघगर्जन को सुन कर अनायास वह यह अनुमिति करता हुआ पाया जाता है कि 'आकाश मेघाच्छन्न हो गया है क्योंकि मेघ का शब्द सुनाई दे रहा है'। यदि साध्य संशय या अनुमित्सा को पक्षता मान कर अनुमिति के लिए उसे आवश्यक माना जाय तो मेघगर्जन से उक्त परिस्थिति में होने वाली अनुमिति हो नहीं सकती जो कि होती पायी ही जाती है। अतः पक्ष में होने वाले साध्यसशय को या 'पक्ष में साध्य की अनुमिति मुझे हो' इत्यादि इच्छा को पक्षता के रूप में अनुमिति के प्रति कारण मानना उचित नहीं। हाँ, उक्त प्रकार अनुमित्सा से विरहित सिद्धि के अर्थात् तादृश साध्यनिश्चय के अभाव को पक्षता के रूप में अनुमिति का कारण अवश्य मानना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह कि अनुमाता को पक्ष में साध्य का संशय और अनुमित्सा के रहने पर भी अनुमिति होती है और पक्ष में साध्य का निश्चय रहने पर भी अनुमित्सा होने पर अनुमिति होती है और अनुमित्सा यदि रहती नहीं किन्तु पक्ष में प्रकृत साध्य का निश्चय रहता है तो अनुमाता को अनुमिति होती नहीं यह है वास्तविक परिस्थिति। इन सारी परिस्थितियों की सुरक्षा के लिए उचित उपाय यही हो सकता है कि 'सिषाधयिषा के

विरह से युक्त-सिद्धि के अभाव' को पक्षता[६०] माना जाय। पक्षता के इस अपेक्षित स्वरूप के अंदर 'सिषाधयिषा' का अर्थ प्रकृत पक्ष में प्रकृत साध्य की अनुमिति की इच्छा समझना चाहिए और 'सिद्धि' का अर्थ साध्य का निश्चय समझना चाहिए। तदनुसार फलितार्थ यह होता है कि 'अनुमिति की इच्छा के अभाव से युक्त होने वाले साध्य निश्चय का अभाव' है पक्षता। पक्षता का यह स्वरूप मान लेने पर उस सारी स्थितियों के लिए समस्या हल हो जाती है। जहां साध्य का संशय रहेगा और अनुमित्सा भी रहेगी वहाँ अनुमिति इसलिए हो पायेगी कि वहाँ साध्य का संशयात्मक ही ज्ञान रहने के कारण साध्य का पक्ष में निश्चयात्मक ज्ञान, जिसे कि 'सिद्धि' शब्द से भी कहा जाता है उस संदिग्ध व्यक्ति को रहेगा नहीं अतः साध्य निश्चयात्मक सिद्धि का सामान्यभाव वहाँ अवश्य रह जायेगा। जहाँ सामान्य भाव रहता है वहाँ विशेषाभाव रहता ही है। अतः अनुमित्सा विरहयुक्त साध्यनिश्चय का अभाव स्वरूप पक्षता वहाँ अवश्य रहेगी। इसलिए पक्षता वहाँ बन जायेगी, अतः अनुमिति निर्विघ्न हो पायेगी।

जहाँ अनुमाता को साध्य का निश्चय भी रहेगा और अनुमित्सा भी रहेगी वहाँ भी अपेक्षित अनुमिति का सम्पादन हो पायेगा। क्योंकि वहाँ का साध्यनिश्चय अनुमित्सा से ही युक्त रूप में वहाँ रहेगा, अनुमित्सा-विरह-युक्त रूप में नहीं। अतः अनुमित्सा के अभाव से युक्त साध्यनिश्चय का अभाव जो कि पक्षता के रूप में अनुमिति के लिए अपेक्षित माना गया है रहेगा ही। सुतरां अनुमिति के होने में बाधा नहीं प्राप्त होगी। साध्यनिश्चय के वहाँ होते हुए भी उसका अभाव इसलिए वहां रह पाता है कि विशेष्य के रहते हुए भी विशेषण के न रहने पर विशेषयुक्त रूप में वह विशेष्य वहाँ रह नहीं पाता, विशिष्ट रूप में उसका अभाव वहाँ भी रह जाता है, जहाँ कि केवल विशेष्य विद्यमान रहता है। उदाहरण के द्वारा इसे यो समझा जा सकता है कि जहाँ श्याम विद्यमान है वहाँ भी यदि उसके हाथ में डंडा न हो, तो यह प्रतीति एवं वाचिक प्रमाणिक व्यवहार होता ही है कि 'दण्डधर श्याम यहाँ नहीं है'। क्योंकि दण्डधर रूप में श्याम का अस्तित्व वहाँ तभी सम्भव हो सकता जबकि श्याम के पास डंडा होता। सो तो वहाँ रहता नहीं कि यह कहा या समझा जा सके कि 'यहाँ दण्डधर श्याम है' अतः यह मानना ही पड़ता है कि यहाँ दण्डधर श्याम नहीं है। तद्वत् साध्यनिश्चय के रहते हुए भी वहाँ अनुमित्सा की विद्यमानता के कारण उक्त निश्चय का विशेषणीभूत 'अनुमित्सा विरह' रहता नहीं। अतः तादृश विशेषणयुक्त रूप में साध्यनिश्चय का अस्तित्व वहाँ नहीं कहा जा सकता जहाँ कि अनुमित्सा और साध्य निश्चय इन दोनों का अस्तित्व हो। अतः पक्षता की सम्पत्ति वहाँ भी हो सकने के कारण अनुमिति के होने में कोई बाधा नहीं बतलायी जा सकती।

जहाँ केवल साध्य का निश्चय ही रहेगा पक्ष में, तादृश निश्चेता को सिषाधयिषा अर्थात् अनुमिति करने की इच्छा रहेगी नहीं, वहाँ अनुमिति की आपत्ति भी नहीं होगी।

---

(६०) सिषाधयिषाविरहसहकृतसाधकमानाभावः पक्षता। *-पक्षता तत्त्वचिन्तामणि।*

क्योंकि अनुमित्सा न रहने के कारण उसका अभावात्मक विरहस्वरूप विशेषण भी रहेग। और उसका विशेष्य साध्यनिश्चयात्मक सिद्धि भी विद्यमान रहेगी। इसलिए तादृश स्थल में सिषधयिषा-विरहयुक्त सिद्धि ही रह जायेगी उसका अभाव रह नहीं पायेगा जो कि 'पक्षता' के रूप में अनुमिति के प्रतिकारण माना गया है। कारण के न रहने पर कार्य का न होना स्वाभाविक ही है।

इस मतवाद के अभ्युपगम पक्ष में जब प्रश्न यह उठ खड़ा होता है कि जहाँ ऐसी परिस्थिति होगी कि एक ही व्यक्ति के लिए एक ही समय एक ही विषय में इन्द्रिय सन्निकर्षात्मक प्रत्यक्ष सामग्री भी विद्यमान रहेगी और वर्णित पक्षता आदि अनुमिति की सामग्री भी उपस्थित रहेगी वहाँ उस व्यक्ति को उस विषय का प्रत्यक्ष न होकर उस विषय में अनुमिति ही क्यों न हो उठेगी? यह तो कहा नहीं जा सकता कि उसी विषय में प्रत्यक्ष की सामग्री के रहते हुए भी अनुमिति ही होती है। क्योंकि यह अनुभव सिद्ध नहीं, सर्वथा अनुभव के विरुद्ध है। तब इस पक्ष से उत्तर यह दिया जाता है कि लोकानुभव के आधार पर एक प्रतिबध्य-प्रतिबंधकभाव की कल्पना के द्वारा इस आपत्ति का निराकरण करना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह कि समान विषयक अनुमिति के प्रति समानविषयक प्रत्यक्ष सामग्री को प्रतिबंधक मानना चाहिए। प्रतिबंधक के रहते हुए प्रतिबध्य कार्य का होना लोकानुभव सिद्ध ही है। अत: उक्त परिस्थिति में अनुमिति की आपत्ति नहीं दी जा सकती। किन्तु अन्य कुछ विवेचकों ने ऐसा न मानकर प्रकृत विवेच्य पक्षता के स्वरूप का संगठन करके ही उक्त आपत्ति का निराकरण करना उचित है, यह बतलाया गया है। उसका कहना यह है कि अव्यवहित पूर्व वादी ने अनुमिति के प्रति कारण रूप में स्वीकरणीय पक्षता का स्वरूप जहाँ यह बतलाया है कि 'अनुमित्सा के अभाव से युक्त साध्यनिश्चय का अभाव है पक्षता, वहाँ उतना ही न कहकर पक्षता के स्वरूप का निर्वचन इस प्रकार करना चाहिए कि 'अनुमित्सा के अभाव से विशेषित जो साध्य का निश्चय एवं प्रत्यक्ष की सामग्री अर्थात् प्रत्यक्ष के प्रति कारण होने वालों का एक समुदाय, इन दोनों का अभाव है पक्षता''। पक्षता के इस प्रकार निर्वचन करने के अनन्तर उक्त प्रत्यक्ष-सामग्री के रहते हुए भी दी जाने वाली अनुमिति की आपत्ति इसलिए नहीं आपन्न हो पाती है कि जहाँ अनुमिति की भी सामग्री रहती है और प्रत्यक्ष की भी, और अनुमित्सा रहती नहीं, वहाँ अनुमित्सा के अभाव से युक्त प्रत्यक्ष की सामग्री ही रह जाती है अत: अनुमिति के लिए अपेक्षित होने वाला उस प्रत्यक्ष सामग्री का उक्त प्रकार अभाव मिल पाता नहीं। क्योंकि किसी भाव के रहते हुए उसका अभाव रहता नहीं यह सभी प्राणियों को मालूम है। प्रत्यक्ष सामग्री के अभाव से घटित उक्त प्रकार पक्षता वहाँ न रह सकने के कारण अनुमिति की आपत्ति नहीं दी जा सकती। इस मतवाद में साध्यनिश्चय में जिस प्रकार अनिमित्सा के अभाव को विशेषण बनाया गया है उसी प्रकार अनुमित्सा के अभाव को प्रत्यक्ष सामग्री का भी विशेषण पक्षता के शरीर के अंदर इसलिए बनाया गया है कि जहाँ

प्रत्यक्ष की सामग्री और अनुमिति की सामग्री, एक ही विषय के सम्बंध में उपस्थित होती है। किन्तु उसके साथ व्यक्ति को अनुमित्सा अर्थात् अनुमिति करने की इच्छा भी रहती है तो वहाँ विद्यमान प्रत्यक्ष सामग्री अकिञ्चित्कर हो जाती है अर्थात् अपना काम कर नहीं पाती। क्योंकि प्राणियों की प्रवृत्ति के लिए इच्छा सर्वाधिक प्राबल्य रखती है।

इस प्रकार पक्षता के स्वरूप और उसकी अनुमिति के प्रति मान्य कारणता के सम्बंध में मतानैक्य की उपस्थिति पर चार्वाकीय-दृष्टिकोण इसके सम्बंध में क्या हो सकता है? इस प्रकार जिज्ञासा का उदय स्वाभाविक है। तो इसके सम्बंध में ज्ञातव्य यह है कि स्वतंत्ररूप से पक्षता को अनुमिति के प्रति कारण मानना उचित नहीं प्रतीत होता है। क्योंकि पक्षधर्मता के ज्ञान को जबकि अनुमिति के प्रति कारण मानना ही है तब पक्षता की कारणता भी उसी कारणता में गतार्थ हो जाती है। पक्षता का आश्रय ही तो पक्ष कहला सकता है? 'पक्षधर्मता' इसके अंदर पक्ष का समावेश है ही अत: जिसे भी क्यों न पक्षता माना जाय उसका आश्रय होने वाला ही होगा पक्ष और उस पक्ष में रहना ही होगा पक्षवृत्तित्व अथवा पक्षधर्मता, जिसका ज्ञान अनुमिति के लिए सर्वमान्य रूप में अपेक्षित है। ऐसी परिस्थिति में स्वतंत्र रूप से पक्षता को अनुमिति के प्रति कारण मानने का कोई प्रयोजन दिखाई नहीं देता। यदि यह कहा जाय कि 'पर्वत आग वाला है क्योंकि धूम वाला है' इस प्रकार अनुमान स्थल में पक्षधर्मता ज्ञान का आकार होता है 'पर्वत धूम वाला है' ऐसा। इस ज्ञान के अंदर पर्वत स्वत: विशेष्य रूप से भासता है पक्षतायुक्त रूप में नहीं। अत: यह नियमत: नहीं कहा जा सकता कि पक्षता का प्रवेश पक्षधर्मता ज्ञान के अंदर हो ही जायेगा। अत: पक्षता को अलग अनुमिति के प्रति कारण मानना चाहिए। तो इस पर यह भली-भाँति कहा जा सकता है कि अलग पक्षता को अनुमिति के प्रति कारण मानने की अपेक्षा यही उचित होगा कि पक्षता के आश्रय के रूप में ज्ञात पर्वत आदि धर्मों में हेतु के अस्तित्व को ही पक्षधर्मता माना जाय और उसी के ज्ञान को अनुमिति के लिए अपेक्षित माना जाय। क्योंकि ऐसा मानने में यह महान् लाघव प्राप्त होता है कि पक्षता और अनुमिति इन दोनों के बीच एक स्वतंत्र कार्यकारणभाव मानना पड़ता नहीं। और भी यहाँ ध्यान देने योग्य बात एक यह है कि जहाँ तक संशय या इच्छा को पक्षता मानने की बात की जाती थी वहाँ तक की कथञ्चित् पक्षता की कारणता स्वतंत्र कही भी जा सकती थी। परन्तु जब कि सिषाधयिषा के अभाव से युक्त सिद्धि के अभाव को पक्षता कहा जाने लगा तब तो ऐसा कहने वालों के द्वारा स्वयं उसका स्वतंत्र कारणत्व अपहृत हो गया। क्योंकि साध्य का निश्चय जिसे ही सिद्धिनाम से भी कहा जाता है अनुमिति के प्रति होता है प्रतिबंधक। और प्रतिबन्धक का अभाव होता है सभी कार्यों के प्रति स्वतंत्र रूप से कारण। ऐसी परिस्थिति में जिस सिद्धि के अभाव को अनुमिति के प्रति स्वतंत्र रूप से पक्षता नामकरणपूर्वक अनुमिति के प्रति कारण मानने की बात की जाती है, वह प्रतिबंधक के अभाव रूप में ही अनुमिति के प्रति कारण हो जाता है। फिर उसे स्वतंत्र रूप से कारण मानने का आग्रह कैसे किया जा सकता? तीसरी बात यहाँ ध्यान देने योग्य यह है कि अनुमिति की विशेषता अन्य ज्ञानों से लिए अन्य लोग मानते हैं कि यह ज्ञान लैगिंक अर्थात् लिंग-जन्य होता है, और ज्ञान इस प्रकार लिंगज

होते नहीं। किसी भी वस्तु को किसी भी वस्तु की लिंगता प्राप्त करने के लिए उसे वे लोग भी रूपत्रय से या रूपपञ्चक से उपपन्नता को ही अपेक्षित मानते हैं। ऐसी परिस्थिति में पक्षता का विघटन अवश्य पक्षसत्त्व सपक्षसत्त्व और विपक्षासत्त्व इन तीनों रूपों के अंदर किसी एक का, या अबाधितत्त्व और असत्प्रतिपक्षतत्त्व के अंदर किसी एक का विघटन-स्वरूप मान्य होना चाहिए। विचार करने पर पक्षता के विघटन से यदि किसी का विघटन उक्त पाँच रूपों के अंदर हो सकता है तो वह 'पक्षसत्त्व का ही हो सकता है और किसी का नहीं। और यदि ऐसा मान लिया जाता है तो स्वयं यह निर्णीत हो जाता है कि पक्षता 'पक्षसत्त्व' का ही लिंग में सम्पादन करके अनुमिति के लिए अपेक्षित होती है स्वतः नहीं। ऐसी परिस्थिति में भला कैसे पक्षता को स्वतंत्र भाव से अनुमिति के प्रति कारण माना जाय? अतः स्वतंत्र भाव से अनुमिति के प्रति पक्षता को कारण नहीं मानना चाहिए।

लिंगगत रूप में ज्ञेय रूप से अपेक्षित पक्षसत्त्व के अंदर भी किस पक्षता का समादर उचित कहा जाएगा? इस प्रश्न के उत्तर में चार्वाकीय-दृष्टिकोण से यहाँ मानना उचित प्रतीत होता है कि इच्छा-पक्षता का ही समादर उस रूप में करना चाहिए। क्योंकि इच्छा का प्राबल्य सर्वाधिक रूप से सर्वमान्य है। परन्तु इच्छा का अर्थ इच्छायोग्यता समझना होगा। अन्यथा सुषुप्त व्यक्ति को तीव्र में मेघगर्जन में जग कर होने वाली आकाशधर्मिक मेघानुमिति का सम्पादन कठिन ही रह जायेगा। जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। लिंग में ज्ञातव्य पक्षसत्त्व के घटक रूप में अनुमित्सा-योग्यता को पक्षता मानने पर उक्त आकाशधर्मिक मेघानुमान इसलिए हो पाता है कि उस सुषुप्त व्यक्ति में उस समय अनुमित्सा के न होने पर भी उसकी योग्यता का अस्तित्व कहा जा सकता है। और तदनुसार अनुमित्सा-विशेष्यत्व-योग्यता-स्वरूप पक्षता पक्षधर्म भी बन पायेगी। जिस से उसका नाम भी सचमुच सार्थक हो पायेगा। जिन लोगों ने यह कह कर इच्छा पक्षतावाद को उड़ा देना चाहा है कि योग्यता का निरूपण असम्भव है उनका कथन इसलिए उचित नहीं प्रतीत होता है कि शाब्दबोध स्थल में जिस प्रकार बाधनिश्चय के अभाव को योग्यता माना जाता है उस प्रकार आत्मा में बाधनिश्चय के अभाव को और पक्षता के धर्मी में बाधनिश्चय की विशेष्यता के अभाव को अनुमित्सायोग्यता भली-भाँति कहा जा सकता है। क्योंकि बाध निश्चय रहने पर अनुमित्सा भी नहीं हो सकती। जो व्यक्ति जिसके सम्बंध में बाधनिश्चय रखता है वह उसे असम्भव समझता है, उसे वह चाहता भी नहीं। यदि इस पर यह कहा जाय कि तब तो पक्षता फलतः अबाधितत्त्व का सम्पादक होगी? तो इसके सम्बंध में कहना यह होगा कि लिंग में उक्त रूपत्रय युक्तता ही अनुमिति के लिए अपेक्षित है, युक्त पञ्चरूपयुक्तता नहीं। बाधनिश्चय का अभाव अनुमिति के प्रति प्रतिबंधक के अभाव रूप में भले ही कारण हो, किन्तु लिंग की लिंगता अर्थात् अनुमापकता के लिए उसकी अपेक्षामान नहीं होनी चाहिए। क्योंकि कोई किसी का अनुमापक होने के लिए व्याप्ति और पक्षधर्मता इन दोनों की ही अपेक्षा करता है। ये दोनों ही हेतु के बल माने

जाते हैं। व्याप्ति और पक्षधर्मता के निश्चय के लिए हेतु में पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षासत्त्व इन तीनों के ही ज्ञान अपेक्षित होते हैं और कुछ नहीं। क्योंकि हेतु में पक्ष सत्त्व समझने पर उसमें पक्षधर्मता ज्ञात हो जाती है और सपक्षसत्त्व तथा विपक्षासत्त्व के समझने पर उसमें साध्य की व्याप्ति अवगत हो जाती है। इस प्रकार उक्त तीन रूपों से ही जब कि लिंग बलवान् ही जाता है उसमें साध्य की सिद्धि के अनुकूल बल प्राप्त हो जाता है, तव उसमें अबाधितत्व और असत्प्रतिपक्षितत्व की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती है।

अनुमिति प्रमा के सम्बंध में एक मतभेद विवेचकों में यह भी पाया जाता है कि कुछ [६१] लोग अनुमिति में लिंग से उपहित रूप में लैगिंक का भान मानते थे। अर्थात् अनुमिति के अंदर पक्ष में साध्य के प्रति व्याप्य होने वाले हेतु और प्रकृत साध्य दोनों का ही साथ विषयीकरण मानते थे। किन्तु परवर्ती विवेचकों ने यह कहा कि अनुमिति के अंदर केवल साध्य का ही विषयीकरण होता है सा।व्य के प्रति व्याप्य होने वाले हेतु का नहीं। इन दोनों मतों का सरल तात्पर्य यह होता है कि लिंगोपहित-लैंगिक-भानवादी के मत में जहाँ अनुमिति का आकार ऐसा होता है कि 'आग के प्रति व्याप्य होने वाले धूम से युक्त होने के कारण पर्वत आग वाला है' वहाँ द्वितीय मतवाद में अनुमिति का आकार इतना ही माना जाता है कि 'पर्वत आग वाला है' अनुमिति के आकार के सम्बंध में इस प्रकार प्राप्त होने वाले मतभेद पर चार्वाकीय-दृष्टिकोण से 'लिंगोपहित लैंगिकभान' का आदर ही श्रेयस्कर प्रतीत होता है। यह बात सही है कि 'पर्वत आग वाला है' इसी प्रकार का अनुमिति का आकार मानने में कुछ लाघव प्रतीत होता है' किन्तु अनुभव विरोध के आगे लाघव की कल्पना को अधिक महत्त्व दिया नहीं जा सकता। और फलमुख अर्थात् जिससे कोई लाभ प्राप्त होता हो ऐसा गौरव भी सह्य हुआ करता है, इस बात को सभी लोग मानते हैं। प्रकृत में एक लाभ लिंगोपहित-लैगिंकभान के पक्ष में यह है कि ज्ञान में पूर्णता प्रतीत होती है। और दूसरा महान् लाभ यह होता है कि व्याप्तिज्ञान को भी अनुमिति के प्रति स्वतंत्र रूप से कारण मानने का प्रयोजन नहीं रह जाता। उसमें मान्य अनुमिति कारणता भी विशिष्ट बुद्धिमान के प्रति विशेषण के ज्ञान में स्वीकरणीय कारणता में गतार्थ हो जाती हैं। क्योंकि इस मान्य मतवाद में साध्य-व्याप्य हेतु भी यथा अग्नि-व्याप्य-धूम भी अनुमिति में पक्षांश में विशेषण रूप से प्रतीत होता हुआ मान्य है

वर्णित नानाविध मतवैषम्य के कारण अनुमिति की जनन-प्रक्रिया के सम्बंध में भी विवेचकों में मतभेद पाया जाता है। एक दल जहाँ यह कहता है कि जो व्यक्ति पहले कभी रसोई घर आदि स्थानों में प्रत्यक्षतः यह अनुभव किया होता है कि 'धूम जहाँ-जहाँ होता है वहाँ-वहाँ आग अवश्य रहती है अतः आग है व्यापक और धूम है व्याप्य' वह व्यक्ति जब कालान्तर में किसी पर्वत के पास जाकर उससे उठती हुई अविच्छिन्न-मूल-

---

(६१) केचित्तु......यथाश्रुतपरतानिर्वाहाय लिंगोपधानमतमाश्रयन्ते साध्य व्याप्ये त्यादिना।
-सामान्य निरुक्ति-गादाधरी।

धूममाला को देखता है तो उसे दृश्यमान धूम में होने वाली पूर्वानुभूत अग्नि-व्याप्ति याद आ जाती है। क्योंकि सम्बंध के एक सम्बंधी का ज्ञान अपर सम्बंधी के स्मारक रूप में अनुभव सिद्ध है, जिसकी चर्चा शाब्दबोध के विचार से अवसर पर की जा चुकी है। फलत: वह धूम-द्रष्टा-व्यक्ति व्याप्ति का इस प्रकार स्मरण करता है कि 'धूम आग का व्याप्य होता है'। इसके अव्यवहित उत्तर वह व्यक्ति धूम में विद्यमान आग की व्याप्ति और पर्वत में अस्तित्वात्मक पक्षधर्मता इन दोनों की जोड़ कर एक विशिष्ट वैशिष्ट्यावगाही परामर्श नामक ज्ञान करता है। अर्थात् वह व्यक्ति एक ऐसा ज्ञान करता है जिसमें हेतु में साध्य को व्याप्ति के साथ उस हेतु के पक्षगत अस्तित्वका भी विषयीकरण होता है। फलत: उस व्यक्ति को इस प्रकार ज्ञान धूमहेंतुक और अग्निसाध्यक अनुमितिस्थल में 'यह पर्वत वह्नि की व्याप्ति से युक्त होने वाले धूम से युक्त है' इस प्रकार, पूर्वज्ञान की अपेक्षा एक वृहदाकार ज्ञान होता है और इस के अव्यवहित उत्तर ही 'यह पर्वत आग वाला है' इस प्रकार निर्णयात्मक अनुमिति हो जाती है।

दूसरे कुछ लोग इस प्रक्रिया को पूर्ण रूप से मान्यता देते नहीं। वे परामर्श नामक ज्ञान को अनुमिति के प्रति कारण मानना सर्वथा व्यर्थ [६२] समझते हैं अत: अपनी प्रक्रिया इस प्रकार बनाते हैं कि रसोई घर आदि स्थानों में जिस व्यक्ति ने बारम्बार यह देख रखा है कि 'जहाँ-जहाँ धूम रहता है वहाँ-वहाँ आग रहती ही है' तो इस प्रकार व्याप्ति का निश्चय रखने वाला व्यक्ति जब पर्वत से निकलती हुई अविच्छिन्न-मूल धूममाला को देखता है तो उस अनुभूत व्याप्ति का स्मरण होता है कि 'धूम आग का व्याप्य है'। इसके अनन्तर ही उस व्यक्ति को अव्यवहित पूर्व हुए पर्वत में घूम के प्रत्यक्ष और धूम में हुए व्याप्ति स्मरण के बल से यह निश्चयात्मक अनुमिति हो जाती है कि 'यह पर्वत अग्नि वाला है'।

विवेचकों का तीसरा दल यह कहता है कि अव्यवहित उक्त प्रक्रिया में जो व्याप्ति स्मरण को भी अनुमिति के प्रति अपेक्षणीयता बतलायी गयी है वह मेरे यहाँ मान्य नहीं है। इसके अनुसार ये अनुमिति के प्रजनन के सम्बंध में यह प्रक्रिया उपस्थित करते हैं कि रसोई घर आदि स्थानों में व्यक्ति प्रथमः धूम [६३] और आग के सामानाधिकरण्य का अनुभव करता है जिससे वह इस निश्चय पर उसी समय पहुंच जाता है कि 'धूम वह्नि का व्याप्य है' इस अनुभव का वासनात्मक प्रभाव रह जाता है। अनन्तर जब कि वह व्यक्ति पर्वत से उठने वाली उक्त प्रकार घूममाला को देखता है तो वह उसका सुप्त धूमगत अग्नि व्याप्ति की वासना प्रबुद्ध हो उठती है, जब पड़ती है। जिसका प्रभाव यह होता है कि

(६२) ननु वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वत इति ज्ञान विनाऽपि यत्र पर्वतो धूम्वानिति प्रत्यक्षं ततो वह्निव्याप्यो धूम इति स्मरणं तंत्र ज्ञानद्वयादेवानुमितेदशनात्..................।

न्यायसिद्धान्त मुक्तावली, अनुमानखण्ड।

(६३) अनुमितिकरणं च व्याप्तिज्ञानम्। तत्संस्कारोऽवान्तरव्यापारः। नतुतृतीयलिंगपरामशोऽनुमितौ करणम्। तस्यानुमितिवेतुत्वासिद्धया तत्करणत्वस्य दूरनिरस्तत्वात्।

-वेदान्त परिभाषा, अनुमान-परिच्छेद।

अतिपूर्व होने वाले धूमगत अग्नि व्याप्ति का अनुभव और वर्त्तमान धूमप्रत्यक्ष इन दोनों से ही 'यह पर्वत आग वाला है' यह अनुमिति हो जाती है। मध्य में 'धूम आग का व्याप्य है' इस प्रकार स्मरणात्मक ज्ञान की अपेक्षा अनुमिति को होती नहीं। अति पूर्व सम्पन्न व्यप्ति-अनुभव और वर्तमान धूमप्रत्यक्ष इन दोनों से ही अनुमित हो जाती है।

अनुमिति की प्रक्रिया के सम्बंध में इस प्रकार वैमत्य-वर्णन के अनन्तर चार्वाकीय दृष्टिकोण यहाँ यह हो सकता है कि परामर्श को कारणत्व देने वाली प्रथम प्रक्रिया तो सर्वथा अमान्य है। क्योंकि अलग-अलग व्याप्ति-ज्ञान और पक्षधर्मता के ज्ञान से भी जब कि अनुमिति हो सकती है तब अनुमिति के प्रति परामर्श को कारण मानना भला कैसे उचित कहा जा सकता है? यह बात पहले भी बतलायी जा चुकी है। जो लोग मध्यवर्ती व्याप्ति-स्मरण को बिलकुल महत्त्व देते नहीं और यह कहते कि सर्वप्रथम होने वाले व्याप्ति का अनुभव और पक्षधर्मता का ज्ञान इन दोनों से ही अनुमिति हो जाती है। हाँ, अनुभवजन्य-संस्कार का उद्‌बोध भी सहायक रूप में अपेक्षित होता है। इस पक्ष की मान्यता इसलिए आदरणीय नहीं कहीं जा सकती कि संस्कारोद्वोध होने पर व्याप्ति का स्मरण होना अनिवार्य ही होगा। फिर निकटवर्ती व्याप्तिस्मरण को अनुमिति के प्रति कारण न मानकर अतिदूर-पूर्ववर्ती व्याप्ति के अनुभव को कारण मानना कहाँ तक संगत कहा जा सकता? यदि यह कहा जाय कि उद्‌वुद्ध-संस्कारसम्बंध से वह दूरवर्ती व्याप्ति का अनुभव भी निकटवर्ती हो जाएगा। तो यह भी कथन युक्तिसंगत इसलिए नहीं कहा जा सकेगा कि उद्‌वुद्ध-संस्कार अति दूरवर्ती अनुभव-प्रतियोगिक हो नहीं सकता। क्योंकि संस्कार की उद्‌वुद्धता अनुभव के पररक्षण से ही होती नहीं। किसी की सम्बंधता के लिए उसका प्रतियोगी और अनुयोगी दोनों का स्पर्श नितान्त आवश्यक है। नहीं तो किसी का किसी के साथ कोई भी सम्बंध बन जाएगा। बड़ी अव्यवस्था उत्पन्न हो जायेगी। अत: उद्‌वुद्ध-संस्कार से उत्पन्न होने वाले व्याप्ति स्मरण और पक्षधर्मता का ज्ञान इन दोनों से ही अनुमिति की उत्पत्ति मान्य है। उदाहरण के द्वारा इसे यों समझा जा सकता है कि जिस व्यक्ति को 'जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ आग भी है' इस प्रकार अनुभावात्मक ज्ञान हुआ और अनेक काल के अनन्तर जब उसने पर्वत से अविच्छिन्न भाव से निकलने वाली धूम-माला को देखा तो उस द्रष्टा को 'धूम अग्नि का व्याप्य है' इस प्रकार स्मरणात्मक ज्ञान हो आया। ऐसी परिस्थिति में धूम दर्शनात्मक पक्षधर्मता का ज्ञान और उक्त व्याप्ति-स्मरण इन दोनों से उस धूमद्रष्टा तथा व्याप्ति-स्मर्ता व्यक्ति को 'पर्वत अग्नि युक्त है क्योंकि धूम युक्त है' इस प्रकार अनुमिति हो जाती है। साराँश यह है कि पूर्ववर्ती व्याप्ति का अनुभव एवं उससे होने वाले संस्कार का उद्‌बोध या उद्‌बुद्धसंस्कार व्याप्तिस्मरण के लिए भले ही कारण हो किन्तु अनुमिति के प्रति उन दोनों को कारण नहीं माना जा सकता।

यदि यह माना जाय कि अनुभव ही अन्य भूमिका-ग्रहीता नट के समान स्मरण रूप में पश्चात उदित हुआ करता है। तब भी फलत: व्यासिस्मरण ही अनुमिति के लिए

अपेक्षित होता है। व्याप्तिस्मरण को कारण न मानने का प्रश्न ही नहीं उठता।

अनुमिति के इस विवेचन में पक्ष, समक्ष और विपक्ष की चर्चा अनेकत्र हुई है। अत: इनका स्पष्टीकरण यों समझना चाहिए कि जिसमें किसी साध्य की अनुमिति कर्त्तव्य होती है। जैसे 'पर्व अग्नि वाला है क्योंकि धूम वाला है' इस अनुमान स्थल में पर्वत, होता है पक्ष। क्योंकि अग्निस्वरूप साध्य की अनुमिति उसी में की जाती है। सपक्ष वह कहलाता है जिसमें कि प्रकृत साध्य का निश्चयात्मक ज्ञान पहले से ही विद्यमान होता है। उक्त अनुमिति स्थल में रसोई घर आदि को समक्ष समझा जा सकता है। क्योंकि साध्यभूत आग का निश्चय उस व्यक्ति को, जो कि पर्वत में उठते हुए धूम को देखकर अग्नि का अनुमान करता है, हुआ होता है। विपक्ष वह कहलाता है जहाँ साध्य के अभाव का सर्वथा निश्चय हो। उक्त अनुमान स्थल में जलाशय आदि होते हैं विपक्ष। क्योंकि आग के अभाव का निश्चय वहाँ प्रत्येक अभ्रान्त व्यक्ति पक्ष में करता है। और 'हेतु' अथवा 'लिंग' वह कहलाता है जो कि पक्ष में साध्य का साधक होता है। अर्थात् अनुमित्सु व्यक्ति जिसे साध्य का व्याप्य एवं पक्ष में रहने वाला समझ कर उसके सहारे प्रकृत पक्ष में उसके प्रति व्यापक होने वाले साध्य की अनुमिति करता है वह कहलाता है हेतु या लिंग। 'पर्वत अग्नि वाला है क्योंकि धूम वाला है' इस अनुमान स्थल में आग होती है साध्य और धूम होता है हेतु, लिंग अर्थात् साधक।

हेतु व्याप्य रूप से गृहीत होने पर उससे अनुमिति होती है यह बात बतलायी जा चुकी है। व्याप्य का अर्थ है व्याप्ति का आश्रय और व्याप्ति क्या है? इस प्रश्न पर पूर्ण रूप से विवेचन किया जा चुका है। केवल इस सम्बंध में अधिक यह और समझ लेना चाहिए कि जहाँ व्यतिरेक समाचार का ज्ञान होता है, अर्थात् जहाँ-जहाँ साध्य का अभाव है वहाँ-वहाँ हेतु का भी अभाव है इस प्रकार साध्य का अभाव और हेतु का अभाव इन दोनों में व्याप्य-व्यापकभाव गृहीत होता है, वहाँ भी-उन दोनों अभावों के प्रतियोगी साध्य और हेतु इन दोनों के बीच अन्वय-व्याप्य-व्यापक-भाव समझ कर ही, अर्थात् वहाँ के हेतु में वहाँ के साध्य की उक्त प्रकार अन्वय-व्याप्तिज्ञान करके ही अनुमिति होती है। अत: अर्थापत्ति को प्रमा एवं प्रमाण न मान कर उसे स्थल में व्यतिरेकी अनुमान मानने वालों के दृष्टिकोण में व्यतिरेकी होने वाला अनुमान भी अन्वयी अनुमान ही बन जाता है। केवलान्वयी अनुमान की अमानता पहले बतलायी जा चुकी है और अभी बतलाये गये मार्ग से केवल व्यतिरेकी अनुमान भी मान्य नहीं हो पाता। अत: अनुमान का कोई प्रमेद अर्थात् अवान्तर विभाग चार्वाकीय-दृष्टिकोण में मान्य नहीं।

इस प्रकार विस्तृत-भाव से अनुमिति के सम्बंध में विचार करने के अनन्तर इस सम्बंध में अब ज्ञातव्य यह है कि अनुमिति भी चार्वाकीय दृष्टिकोण से स्वतंत्र प्रमिति नहीं है। यह भी प्रत्यक्ष का ही एक प्रभेद है। अनुमिति कैसे प्रत्यक्ष हो, एवं कहला सकती है? इस जिज्ञासा की निवृत्ति प्रात्यक्षिक विवेचन से हो जायेगी।

चतुर्थ प्रकरण

प्रत्यक्ष-विवेचन

प्रत्यक्ष ज्ञान के उदय के सम्बंध में विभिन्न दार्शनिकों की प्रक्रियाएं विभिन्न पायी जाती हैं। न्याय वैशेषिक और मीमाँसकों की प्रक्रिया प्रत्यक्ष के सम्बंध में एक जैसी पायी जाती है। इन तीनों मतों में ज्ञान का आश्रय शरीर और इन्द्रियों से अतिरिक्त व्यापक आत्मा है और मन अतिरिक्त अव्यापक है। इन दोनों के आगन्तुक संयोग से आत्मा में ज्ञान उत्पन्न होता है। चाहे वह कोई और किसी प्रकार का ज्ञान क्यों न हो। अत: प्रत्यक्ष-ज्ञान-स्थल में आत्मा का प्रथमत: मन से संयोग होता है और मन जाकर इन्द्रिय से जुटता है और इन्द्रिय जाकर उस विषय से जा जुटती है, जिस विषय के सम्बंध में प्रत्यक्षात्मक ज्ञान आत्मा को अपेक्षित होता है। इस प्रकार पारस्परिक रूप से विषय के साथ आँखें आदि इन्द्रियद्वारक सम्बंध आत्मा का व्यवस्थित हो जाने पर आत्मा में प्रत्यक्षात्मक ज्ञान उक्त प्रकार पारम्परिक रूप में सम्बद्ध विषय के सम्बंध में उसी प्रकार उत्पन्न हो जाता है जैसे सम्पर्क ठीक रहने पर कहीं विद्यमान बटन दबाने पर लट्टू में विद्युत्प्रकाश बर उठता है। इसी अपनी प्रात्यक्षिक प्रक्रिया की मान्यता के अनुरूप अपने प्रत्यक्ष का निर्वचन नैयायिकों ने यह किया है कि 'इन्द्रिय और अर्थ के बीच होने वाले सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाला ज्ञान होता है प्रत्यक्ष।'[६४] यहाँ इन्द्रिय पद से वे लोग नाक, जिह्वा, आँख, त्वक् कान और मन इन छह को लेते हैं। अर्थ पद से लेते हैं प्रत्यक्षीकर्त्तव्य विषयों को। उदाहरण के द्वारा इसे यों समझा जा सकता है कि आँख जब सामने विद्यमान फूल एवं उसमें विद्यमान लाली से सम्पृक्त होती है, उससे जा जुटती है, तब उसे सम्पर्क के कारण जो आत्मा में यह ज्ञान उत्पन्न होता है कि 'यह फूल है', अथवा यह ज्ञान उत्पन्न होता है कि 'यह फूल लाल है' तो वह उत्पन्न होने वाला ज्ञान होता है प्रत्यक्षात्मक। इसी प्रकार अन्यत्र भी ज्ञातव्य है। प्रत्यक्ष के इस निर्वचन के सम्बंध में जब इस प्रकार प्रश्न नैयायिकों के समक्ष किया गया कि प्रत्यक्ष का यह आपका निर्वचन तो आपकी प्रात्यक्षिक-प्रक्रिया के अनुरूप नहीं हो पा रहा है? क्योंकि[६५] इस आपके प्रत्यक्ष के निर्वचन में आत्मा और मन के बीच अपेक्षित रूप से मान्य सन्निकर्ष और मन तथा आँख आदि इन्द्रियों के बीच अपेक्षित रूप

---

(६४) इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्।

-न्यायदर्शन।

(६५) नर्तिहदानीमिदं भवति, आत्मा मनसा संयुज्यषते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेनेति।

-न्यायदर्शन, वात्स्यायन भाष्य, प्रत्यक्ष सूत्र।

से मान्य सन्निकर्ष की चर्चा आपके प्रत्यक्ष के इस निर्वचन में हो नहीं पायी है। अतः या तो आपका यह प्रत्यक्ष का निर्वचन अपूर्ण है या वर्णित आपकी प्रत्यक्ष-प्रक्रिया ही गलत है। तो इसके उत्तर में नैयायिक लोग कहते यह हैं कि-न हमारी प्रत्यक्ष की प्रक्रिया गलत है और न प्रत्यक्ष का उक्त निर्वचन ही अधूरा है[६६]। क्योंकि किसी वस्तु के निर्वचन और उसकी जनन-प्रक्रिया इन दोनों में पूरी समानता हो, यह अपेक्षित नहीं। यतः दोनों के प्रयोजन विभिन्न होते हैं। निर्वचन का प्रयोजन जहाँ केवल उस वस्तु का परिचय कराना होता है, प्रक्रिया-वर्णन का प्रयोजन वहाँ उस जिज्ञासा की निवृत्ति होती है जो कि लोगों के मन में इस प्रकार उठा करती है कि यह वस्तु कैसे और किन उपायों से अर्थात किन साधनों से, तथा कैसे उत्पन्न होती है? निर्वचनकर्त्ता की दृष्टि विशेषतः उसी ओर आकृष्ट होती है जो कि उस वस्तु का असाधारण-धर्म, असाधारण स्वभाव हुआ करता है। क्योंकि परिचेय वस्तु का ठीक स्वरूप-परिचय उसी से प्राप्त हो पाता है। इसी वस्तुस्थिति के अनुसार प्रत्यक्ष के निर्वचन में केवल इतना ही कहा गया है कि 'इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से पैदा होने वाला ज्ञान होता है प्रत्यक्ष'। इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष में यह विशेषता है कि वह ज्ञानों के अंदर प्रत्यक्ष के प्रति ही कारण होता है अनुमिति आदि ज्ञानों के प्रति नहीं, अतः प्रत्यक्ष के प्रति वह असाधारण रूप से कारण होता है। इसलिए उससे उत्पन्न होने वाला होना यह प्रत्यक्ष का ही असाधारण स्वभाव होता है, औरों का नहीं। अतः इन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्न कह कर ही प्रत्यक्ष ज्ञान का स्वरूप परिचय दिया गया है। इन्द्रिय और अर्थ के बीच होने वाले सन्निकर्ष की तरह आत्मा और मन के अंदर होने वाले सन्निकर्ष की परिस्थिति नहीं है, क्योंकि वह केवल प्रत्यक्ष के लिए ही असाधारण रूप से अपेक्षित न होकर सारे ज्ञान एवं इच्छा, प्रयत्न आदि के लिए साधारण रूप से अपेक्षित होता है। अतः तज्जन्यता को प्रत्यक्ष का साधारण स्वरूप नहीं कहा जा सकता। जिससे प्रत्यक्ष के निर्वचन में उसे भी स्थान दिया जा सके। इसके अनन्तर जब उक्त प्रत्यक्षनिर्वचनवादी नैयायिकों के समक्ष यह शंका उपस्थित की जाती है कि नैयायिकों के इस प्रत्यक्ष सम्बंधी निर्वचन के अनुसार अपने प्रत्यक्ष-प्रक्रिया के निर्वचन में मन और इन्द्रियों के बीच होने वाले सन्निकर्ष को तो स्थान देना चाहिए? क्योंकि विषय और इन्द्रिय के बीच होने वाले सन्निकर्ष के समान मन और इन्द्रियों के बीच होने वाला सन्निकर्ष भी प्रत्यक्ष के प्रति ही असाधारण रूप से अपेक्षित होता है। ऐसी परिस्थिति में क्या कारण है कि इन्द्रिय और अर्थों के बीच होने वाले सन्निकर्ष में विशेषता, इन्द्रिय और मन के बीच होने वाले सन्निकर्ष की अपेक्षा बतलायी जा सकती है, कि नैयायिक लोग इन्द्रिय अर्थ सन्निकर्ष को ही प्रत्यक्ष निर्वचन के लिए प्रधान समझते हैं? तो इसके उत्तर से नैयायिकों का वक्तव्य यह प्राप्त होता है कि-यह बात सही है कि इन्द्रिय और मन का सन्निकर्ष भी इन्द्रिय-

---

(६६) नेदं कारणावधारणम्, एतावत्प्रत्यक्षकारणमिति। किन्तु विशिष्ट कारणवचनमिति।
-न्यायदर्शन, वात्स्यायन भाष्य।

अर्थ-सन्निकर्ष की तरह प्रत्यक्ष के प्रति ही कारण होता है, प्रत्यक्ष के लिए ही अपेक्षित होता है। परन्तु फिर भी उसकी अपेक्षा इन्द्रिय-अर्थ-सन्निकर्ष में विशेषता यह पाई जाती है कि इन्द्रिय और मन का सन्निकर्ष सभी प्रत्यक्षों के लिए एक-सा होता है। क्योंकि मन और उसके विषय के लिए नियत इन्द्रिय इन दोनों के अंदर कोई भी, प्रत्यक्षभेद होने पर भी, बदलने वाला नहीं। किन्तु इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष ऐसा होता नहीं। वह विभिन्न विषयों के प्रत्यक्ष स्थलों में विभिन्न हो जाया करता है। सारांश यह कि इन्द्रिय और मन का संयोग जहाँ प्रत्यक्ष के प्रति असाधारण कारण होता है, इन्द्रिय-विषय सन्निकर्ष वहाँ उसकी भी अपेक्षा अति असाधारण रूप से अपेक्षित होता है प्रत्यक्ष के लिए। अत: प्रत्यक्ष के निर्वचन में इन्द्रिय-अर्थ-सन्निकर्ष को ही लिया गया है, निर्वाचक असाधारण स्वभाव रूप के, इन्द्रिय और मन के सन्निकर्ष को नहीं। उदाहरण के द्वारा इसे यों समझा जा सकता है कि जब कोई फूल को देखता है तब वहाँ उस पुष्पदर्शन के अब्यवहित पूर्ण क्षण में आँखों का संयोग अवश्य हो लेता है तब वह पुष्पदर्शन होता है। अत: वहाँ के लिए अपेक्षित है आँख और पुष्प इन दोनों में होने वाला संयोग। परन्तु जब वह पुष्प द्रष्टा फल को देखता है तब वहाँ उस फल दर्शन के लिए वह पुष्प के साथ होने वाला आँख का संयोग अपेक्षित नहीं होता है। आँख के साथ होने वाला फल-संयोग अपेक्षित होता है। आँख की एकता के होने पर द्रष्टव्य फूल और फल इनके बदल जाने के कारण दोनों जगहों के वे आँख के साथ होने वाले संयोग एक नहीं, विभिन्न ही होते हैं। इससे यह स्पष्ट रूप से समझा जा पाता है कि दृश्यविषय की विभिन्नता से विभिन्न होने वाले संयोग असाधारणों के अंदर भी असाधारण हो जाता है। जबकि वस्तुओं के ज्ञापनार्थ ज्ञापकगत असाधारणता ही सर्वाधिक महत्व रखती है, तब असाधारणताओं के अंदर आने वाली अति असाधारणता को ही महत्व देना युक्तिसंगत प्रतीत होता है। अत: प्रत्यक्षमात्र के प्रतिकारण होने वाला इन्द्रियमन: संयोग का प्रत्यक्ष निर्वचन शरीर में प्रवेश न कराकर इन्द्रिय-अर्थ-संयोग को उसमें स्थान दिया गया है।

परन्तु प्रत्यक्ष के इस प्रकार किये जाने वाले निर्वचन में आस्था रखने वाले नैयायिकों के अंदर कुछ लोगों का कहना यह है, कि यह निर्वचन समग्र प्रत्यक्षों का निर्वाचन नहीं है। क्योंकि जगत्कर्ता परमेश्वर जो समग्र जगत् को, यहाँ तक कहिये कि प्रत्येक अणु-परमाणु तक को प्रत्यक्ष रूप में देखता है, तत्कर्तृक उस समग्र वस्तु विषयक प्रत्यक्ष के लिए यह निर्वचन मान्य नहीं हो सकता। क्योंकि शरीर रहित परमेश्वर से किया जाने वाला समग्र वस्तु का प्रत्यक्ष तो विषय के साथ होने वाले आँख आदि किसी भी इन्द्रिय के सन्निकर्ष से उत्पन्न नहीं हो सकता? न तो परमेश्वर को कोई इन्द्रिय है और न उनका नित्य ज्ञान किसी भी कारण से उत्पन्न होता है। ऐसी परिस्थिति में परमेश्वरकर्तृक उस प्रत्यक्ष में 'इन्द्रिय और अर्थ अर्थात् दृश्य वस्तु इन दोनों के बीच होने वाले सन्निकर्ष

---

(६७) ज्ञानाकरणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्। -तर्कसंग्रह।

संयुक्त होगा फूल, उसमें समवेत होगा रूप और उसमें समवेत होगा रूपत्व, जिसका विशेष्य होगा रसाभाव। 'शब्द में रूप का अभाव है' इस तरह के प्रत्यक्ष स्थल में 'समवेत-विशेष्यता' सन्निकर्ष काम आयेगा। क्योंकि कान में समवेत होगा शब्द और उसका विशेष्य होगा रूप का अभाव। जबकि 'शब्दत्व रूप का अभाव है' इस प्रकार प्रत्यक्ष किया जायेगा, तब सन्निकर्ष होगा 'समवेत-समवेत-विशेष्यता' क्योंकि कान में समवेत होगा शब्द और उसमें समवेत होगा शब्दत्व, एवं उसका विशेष्य होगा रूप का अभाव। इसी प्रकार अन्यत्र भी न्याय वैशेषिक दृष्टिकोण से अभावग्राहक सन्निकर्ष को समझना होगा। इन सन्निकर्षों को चुनते समय इस ओर नहीं ध्यान देना चाहिए कि ग्राह्य अभाव, है किसका? वरन् ध्यान देना चाहिए उसके आधार की ओर। जैसा कि बतलाया जा चुका है कि द्रव्य में किसी के अभाव का यदि प्रत्यक्ष किया जाय तो 'संयुक्त-विशेषणता' सन्निकर्ष प्रत्यक्ष का जनक होगा इत्यादि।

अवयव और अवयवी, गुण और गुणी, क्रिया और क्रियावान् जाति और व्यक्ति नित्य द्रव्य और विशेष इनके सम्बंध के रूप में जिस समवाय पदार्थ का स्वतंत्र अस्तित्व न्यायवैशेषिक सिद्धान्त में माना जाता है उसके प्रत्यक्ष की मान्यता के सम्बंध में उन लोगों के बीच गृहकलह है। सभी लोग उसका प्रत्यक्ष मानते नहीं। किन्तु जो लोग उस समवाय का प्रत्यक्ष मानते हैं उनके मत में समवाय का प्रत्यक्ष भी अभाव के प्रत्यक्ष की तरह उक्त प्रकार विशेगण विशेष्यभाव से ही होगा।[७०] समवाय को विशेषण बनाकर किये जाने वाले प्रत्यक्ष स्थलों में परिस्थितभेद से उक्त प्रकार सारी विशेषणताएँ सन्निकर्ष बनेंगी और समवाय को विशेष्य रूप में विषय बनाते हुए किये जाने वाले प्रत्यक्ष स्थल में परिस्थिभेद से उक्त विशेष्यताएँ सन्निकर्ष होंगी। अभाव स्थल में समवाय स्थल की विशेषता यह होगी कि वहाँ उक्त विशेषणताओं के अंदर 'संयुक्त विशेष्यता', 'संयुक्त-समवेत-विशेषणता, और समवेत-विशेषणता, संयुक्त-समवेत-विशेष्यता और समवेत-विशेष्यता ये तीन ही सन्निकर्ष उपयोग में आ पायेंगे। क्योंकि सामान्य के ऊपर किसी का समवाय सम्बंध विद्यमान नहीं होने के कारण कैसे पुष्पत्व एवं शब्दत्व को विशेष्य और समवाय को विशेषण बनाकर प्रत्यक्ष किया जा सकेगा? किंवा कैसे समवाय को विशेष्य और उन्हें विशेषण बनाकर प्रत्यक्ष किया जा सकेगा? जबकि उस तरह के प्रत्यक्ष ही न होंगे तथा तदर्थ सन्निकर्ष रूप में 'संयुक्त-समवेत-समवेत-विशेषणता' और समवेत-समवेत-विशेषणता को, एवं संयुक्त-समवेत-समवेत-विशेष्यता को और समवेत-समवेत-विशेष्यता को किसके लिए सन्निकर्ष माना जायेगा?

अलौकिक प्रत्यक्ष लिंग अपेक्षित अलौकिक-सन्निकर्षों को नैयायिकों ने तीन भागों में बाँटा है। यथा सामान्य-लक्षणसन्निकर्ष, ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष और योगज सन्निकर्ष। 'सामान्य-लक्षण' शब्द के अर्थ के सम्बंध में नैयायिकों के अंदर मतभेद पाया जाता है।

---

(७०) प्रत्यक्षं समवायस्य विशेषणतया भवेत्। *-भाषा परिच्छेद।*

एक दल 'लक्षण' शब्द का यहाँ अर्थ मानता है स्वरूप और दूसरा दल उसका अर्थ मानता है विषय। तदनुसार प्रथम मत में 'सामान्य-लक्षण' का अर्थ होता है सामान्य स्वरूप, फलतः सामान्यात्मक सन्निकर्ष। और द्वितीय मत में अर्थ होता है 'सामान्य हो विषय जिसका ऐसा ज्ञान' फलतः इस पक्ष में सामान्य-विषयक ज्ञान होता है सामान्य-लक्षण सन्निकर्ष। प्रथम पक्ष में इस सन्निकर्ष का प्रत्यक्ष में उपयोग इस प्रकार समझना चाहिए- राम की आँख जब कि किसी एक फूल से जा जुटती है, तो वह पहले उसे विशेष रूप से यह फूल है इस प्रकार प्रत्यक्ष करता है, देखता है। और उसके अनन्तर ही उस प्राथमिक 'यह फूल है' इस प्रकार हुए स्वकीय ज्ञान में विशेषणीभूत 'पुष्पत्व' सामान्य को सन्निकर्ष रूप में प्रत्यक्ष-व्यवस्थापक सम्बंध रूप में ग्रहण करके संसार के सारे फूलों को वह सामान्य रूप से समझता है। इस परवर्ती सकल फूल-विषयक ज्ञान में केवल वर्तमान ही सार्वत्रिक फूल नहीं विषयीकृत होते हैं। यहाँ तक कि उनके साथ वे अतीत और अनागत भी सारे फूल उस परवर्ती द्वितीय ज्ञान में विषय बनते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि उस सामान्य सन्निकर्षजनित प्रत्यक्ष के लिए देश और काल का व्यवधान तक बाधक नहीं हो पाता। नैयायिकों के मत में इस प्रकार होने वाले द्वितीय सकल फूल आदि विषयक ज्ञान भी, जिन्हें वे इन्द्रिय कहते हैं उन आँख आदि से ही उत्पन्न होते हैं। अतः उनके निकट- उन अतीत अनागत और व्यवहित विप्रकृष्ट फूल आदि के साथ आँख आदि इन्द्रियों का सम्पर्क स्थापित करने की समस्या उपस्थित होती है। उसे हल करने के लिए नैयायिक लोग 'सामान्य लक्षण' के अंदर आने वाले सामान्य का परिचय इस प्रकार देते हैं कि[७१] उक्त संयोग, संयुक्त-समवाय आदि लौकिक सन्निकर्षों के अंदर किसी एक के द्वारा इन्द्रिय से सम्पृक्त एक वस्तु को विशेष्य रूप से ग्रहण करके किये जाने वाले प्राथमिक ज्ञान का, जो सामान्य विशेषण रूप से विषय हो उसे अलौकिक प्रत्यक्ष के प्रति सन्निकर्ष मानना चाहिए। ऐसा मानने पर इन्द्रिय का सम्पर्क इस प्रकार उन अव्यवहित एवं विप्रकृष्ट वर्तमान सारे फूलों से, एवं अवर्त्तमान अतीत और अनागत फूलों से इसलिए हो जाता है कि आँख से संयुक्त होता है एक निकटवर्ती फूल, उसे विशेष्य रूप से ग्रहण करके किया जाने वाला ज्ञान होता है 'यह फूल है' ऐसा होने वाला ज्ञान, उसमें प्रकारीभूत अर्थात् उस ज्ञान में विशेष्य रूप से गृहीत होने वाले एक फूल में विशेषण रूप से विषय होने वाला सामान्य पुष्पत्व, सभी अतीत अनागत व्यवहित विप्रकृष्ट फूलों में रहता है। एक भी कोई फूल ऐसा नहीं बच जाता है जिसमें उस पुष्पत्व सामान्य का पाँव न जमा हो। अतः इस प्रकार सामान्य-घटित पारम्परिक सम्पर्क आँख आदि इन्द्रियों का सारे फूलों से हो पाता है। अन्य विषय-स्थल में भी इसी प्रकार समझना चाहिए।

---

(७१) यदि लक्षणशब्देन स्वरूपमुच्यते, तदा सामान्यस्वरूपा प्रत्यासत्तिरित्यर्थो लश्यते। तच्चेन्द्रियसम्बद्धविशेष्यकज्ञानप्रकारीभूतं बोध्यम्।

-न्यायसिद्धान्त मुक्तावली, प्रत्यक्ष परिच्छेद।

जो लोग उक्त प्रकार सामान्य अर्थात् सामान्य-घटित उक्त प्रकार पारम्परिक सम्बंध को सामान्य-लक्षण सन्निकर्ष न मानकर सामान्य के ज्ञान को उक्त प्रकार सकल एक जातीय-विषयक प्रत्यक्ष का सम्पादक सन्निकर्ष मानते हैं उनका कहना यह है कि उक्त प्रकार इन्द्रिय से सम्बंध को विशेष्य करके किये जाने वाले ज्ञान में प्रकारीभूत अर्थांत् विशेषणीभूत सामान्य को सन्निकर्ष मानने पर दोष यह आपन्न हो सकता है कि श्याम आदि आज एक फूल को देखता है तो उस प्रत्यक्षात्मक एक पुष्प विषयक ज्ञान में प्रकारीभूत पुष्पत्व सामान्य श्याम के लिए सामान्य-लक्षण सन्निकर्ष बन जाता है। जिसके फलस्वरूप अब सर्वदा श्याम को उक्त प्रकार व्यवहित विप्रकृष्ट दृष्टि-अदृष्टि, अतीत-अनागत सारे फूलों का प्रत्यक्ष हुआ करता रहेगा। परन्तु अनुभव के आधार पर परिस्थिति ऐसी मानी नहीं जा सकती। एक बार एक फूल को देख कर अनन्तर परीक्षण में उक्त प्रकार सामान्य-लक्षण सन्निकर्षजन्य ज्ञान होने पर भी उसके बाद सदा केवल वही ज्ञान श्याम को या किसी को नहीं होता रहता है। फिर कभी वैसा सामान्य-लक्षणज सकल पुष्पविषयक प्रत्यक्षात्मक ज्ञान उसे तभी हो पाता है जबकि वह किसी एक फूल का ज्ञान फिर कर लेता है। अत: उक्त प्रकार सामान्य को सकल एक जातीय प्रत्यक्ष के लिए सन्निकर्ष मानना उचित नहीं, किन्तु सामान्य-ज्ञान को सन्निकर्ष मानना चाहिए। इसीलिए 'सामान्य-लक्षण' इस शब्द को बहुव्रीहिसमासयुक्त पद और तद्घटक 'यक्षण' शब्द का अर्थ 'विषय' मानना चाहिए जैसा कि इस विवेचन के आरम्भ में द्वितीय मत रूप में कहा जा चुका है।

'ज्ञानलक्षण' सन्निकर्ष यहाँ पर 'लक्षण' शब्द का अर्थ 'स्वरूप' ही सर्ववादि सम्मत है। तदनुसार ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष का अर्थ होता है ज्ञानात्मक सन्निकर्ष। सन्निकर्ष का अर्थ होता हैं प्रत्यक्षजनक सम्बंध, अर्थात् ग्राहक इन्द्रिय और ग्राह्य विषय इन दोनों के बीच होने वाला वह सम्बंध, जिसके कारण उस विषय का प्रत्यक्ष द्रष्टा को हो पाता है, यह बात पहले भी बतलायी जा चुकी है। इस ज्ञानलक्षण की सन्निकर्षता का उदाहरण नैयायिक लोग इस प्रकार उपस्थित करते हैं कि जहाँ कोई भी व्यक्ति दूर से किसी एक फूल को देखता है और उसे पहले भी फूल का पूर्ण परिचय प्राप्त हुआ रहता है। वह पहले से ही जानता रहता है इस बात को कि फूल सुगन्धित होते हैं, तो उस व्यक्ति को उस दूरवर्ती फूल के भी सम्बंध में इस प्रकार चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है कि 'वह फूल सुगन्धित है'। यह प्रत्यक्ष ज्ञान लक्षण-सन्निकर्ष-प्रयुक्त ही हो सकता है, अन्य प्रयुक्त नहीं। क्योंकि अन्य प्रकार उक्त प्रत्यक्ष-सम्पादक सन्निकर्षो के अन्दर किसी की भी वहाँ सम्पादना होती नहीं। ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष से उस दूरवर्ती-पुष्पगत-सुगंध की प्रात्यक्षिकता इस प्रकार सम्पन्न होती है कि उस ग्राह्य सुगंध के आश्रयभूत पुष्प के साथ तो आँख का संयोगात्मकसन्निकर्ष होता है, और सुगंध का स्मरण हो आता है। वह स्मरण होता है सुगंध के लिए सन्निकर्ष। इन दोनों प्रकार के सन्निकर्षों से एक प्रकार अलौकिक प्रत्यक्ष होता है पुष्पद्रष्टा व्यक्ति को, कि 'यह फूल सुगन्धित है'। ज्ञान निरवयव होने के कारण यह प्रत्यक्ष ज्ञान एक ही होता है और आँख से ही होता है। यद्यपि सुगंध आँख

से समझने योग्य वस्तु नहीं तथापि इस प्रकार ज्ञानलक्षणसन्निकर्ष से आँख से होने वाले प्रत्यक्ष की अलौकिक-विषयता सुगंध में नैयायिकों के लिए मान्य होती है। क्योंकि उस अंश में उक्त स्मरणात्मक-ज्ञानस्वरूप सन्निकर्ष एक प्रकार अलौकिक सन्निकर्ष होता है।

यहाँ जब कुछ लोग यह प्रश्न उपस्थित करते हैं कि उक्त परिस्थिति में सामान्य लक्षण सन्निकर्ष से भी तो काम लिया जा सकता है? उसके सहारे भी तो सुगन्ध का उक्त प्रकार चाक्षुष प्रत्यक्ष सम्पन्न किया जा सकता है? क्योंकि जिस सुगंध के स्मरण को ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष कहा जा रहा है उसे सुगन्ध के स्मरण के समान सुगन्धत्व का भी स्मरण कहा जा सकता है? कहने का तात्पर्य यह होता है कि सामान्यलक्षण-सन्निकर्ष और ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष इन दोनों के अंदर अन्तर यही होता है कि सामान्यलक्षण के उदाहरण स्थल में धर्म का ज्ञान धर्मी के लिए सन्निकर्ष होता है। जैसे पुष्पत्व का ज्ञान सारे पुष्पों के लिए सामान्यलक्षण-सन्निकर्ष होता है और ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष स्थल में प्रत्यक्ष से अव्यवहित पूर्व में रहने वाला उसी वस्तु का ज्ञानान्तर उसके व्यवहित उत्तर होने वाले उसी वस्तु के प्रत्यक्ष के प्रति सन्निकर्ष रूप से अपेक्षित होता है। जैसे प्रकृत दृष्टान्त स्थल में सुगन्ध के ही प्रत्यक्ष के प्रति सुगन्ध का ही स्मरण सन्निकर्ष होता है।

सामान्यलक्षण सन्निकर्ष और ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष में इस प्रकार अंतर के होते हुए भी प्रकृत सुगन्धस्मरणस्वरूप ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष को ही सामान्यलक्षण सन्निकर्ष भी इसलिए कहा जा पाता है कि उक्त सुगन्ध के स्मरण में सुगन्ध केवल विषय न बन कर सुगन्धत्व धर्मयुक्त रूप में ही विषय बनती हैं। अत: सुगन्ध के स्मरण को सुगन्धत्व का भी स्मरण मानना ही होगा। फलत: उस सुगन्धत्व के स्मरण को सुगन्ध के प्रत्यक्ष के लिए भलीभाँति सामान्यलक्षण सन्निकर्ष कहा जा सकता है। फिर सामान्यलक्षण सन्निकर्ष से ही 'यह फूल सुगन्धित है' इस प्रकार होने वाली प्रत्यक्ष की सम्पत्ति क्यों न मान ली जाय? ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष क्यों माना जाय?

तो इसके उत्तर में ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष वादी यह कहते हैं कि हाँ, सुगन्ध का प्रत्यक्ष यहाँ इस दृष्टिकोण से सामान्यलक्षण सन्निकर्ष से भी होता हुआ दिखाई देता है। परन्तु जैसे सन्निकर्षभूत सुगन्ध स्मरण को सुगन्धत्व का भी स्मरण कहा जा रहा है जैसे 'यह फूल सुगन्धित है' इस कार्यभूत प्रत्यक्ष में को सुगन्ध के प्रत्यक्ष की तरह सुगन्धत्व का भी प्रत्यक्ष कह सकते हैं। क्योंकि इस प्रत्यक्ष में भी सुगन्ध मात्र ही विषय न होकर सुगन्धत्व भी सुगन्ध के अंश में विशेषण रूप से विषय होगा ही। ऐसी परिस्थिति में सुगन्धत्व, सुगन्ध और फूल तीनों का विषयीकरण उक्त प्रकार प्रत्यक्ष स्थल में सम्पादनीय होगा। फूल के साथ तो आँख का संयोगात्मक लौकिक ही सन्निकर्ष होगा और सुगन्ध के साथ उक्त युक्ति से सुगन्धत्व-स्मरणात्मक सामान्यलक्षण सन्निकर्ष भी कहा जा सकता है। परन्तु सुगन्धत्व का प्रत्यक्षीकरण ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष के बिना कथमपि सम्भव नहीं हो सकता। आँख का लौकिक-सन्निकर्ष जब कि सुगन्ध के साथ भी नहीं है तब

से उत्पन्न होने वाला ज्ञान है प्रत्यक्ष' यह निर्वचन लागू नहीं होता। इसलिए यदि ईश्वरकृर्तक और जीवकर्तृक द्विविध प्रत्यक्ष का एक अनुगत निर्वचन अपेक्षित हो तो प्रत्यक्ष का निर्वचन यह समझना चाहिए कि 'जिस ज्ञान का कारण, ज्ञान न हो, वह ज्ञान कहलाता है प्रत्यक्ष।' [६७] इस कथन का तात्पर्य यह है कि अनुमितिज्ञान के प्रति व्याप्तिज्ञान और उपमिति ज्ञान के प्रति उपमान और उपमेय का सादृश्य-ज्ञान और स्मरण-ज्ञान के प्रति अनुभवज्ञान में होते हैं करण। अतः ये प्रमितियाँ ज्ञान को ही अपने करणरूप में वरण करने वाली होती है, वरण नहीं करने वाली नहीं। अतः अवशिष्ट एक प्रत्यक्ष ही ऐसा रह जाता है जो कि इन्द्रिय को कारण रूप से वरण करने के कारण ज्ञानकरणक न हो कर 'ज्ञान न हो कारण जिसका' ऐसा होता है। अतः सार्वत्रिक प्रत्यक्ष का निर्वचन इसे ही समझना चाहिए। मन को शरीर का ही एक अवयव न मान कर एक स्वतंत्र द्रव्य मानने वाले नैयायिक लोग भी मन को इन्द्रिय अवश्य मानते हैं। यह इसलिए कि इन्द्रियजन्य ज्ञान को ही प्रत्यक्ष की मान्यता पक्ष में, सुख या दुःख का प्रत्यक्ष, इच्छा या प्रयत्न का प्रत्यक्ष, आँख आदि से जनित न होने के कारण, इन्द्रियजन्य कैसे हो पायेगा? यदि मन को भी इन्द्रिय न माना जाय? मन को भी आँख आदि की तरह इन्द्रिय मान लेने पर तज्जनित होने के कारण 'मैं सुखी हूं', 'मैं दुखी हूं' इत्यादि प्रत्यक्ष में उक्त प्रत्यक्ष का निर्वचन लागू हो जाता है।

नैयायिक लोग आँख आदि इन्द्रियों को भी शरीर का अवयव मानते नहीं, शरीर से संयोगशील द्रव्य मानते हैं। कर्मेन्द्रियों को वे मान्यता ही नहीं देते। ज्ञानेन्द्रियों के अंदर मनको छोड़ कर आँख आदि सभी इन्द्रियों को नैयायिक लोग भौतिक मानते हैं। जिनके अंदर आँख को तेज और कान को आकाश, नाक को पार्थिव तो रसना को अर्थात् जिह्वा को जल मानते हैं? चार्वाकीय दृष्टिकोण में तो मन ही केवल एक इन्द्रिय है यह बात पहले कहीं जा चुकी है। आँख के सम्बंध में नैयायिकों का कहना है कि जिस अधिपात्रस्थित मध्यकृष्ण श्वेत-पिण्ड को लोग आँख समझते हैं सचमुच वह आँख नहीं है। किन्तु उससे निकल कर द्रष्टव्य तक जाने वाली अदृश्य रश्मियाँ हैं आँख। क्योंकि ऐसा मानने पर ही उसका द्रष्टव्य विषय के साथ सन्निकर्षात्मक सम्पर्क स्थापित हो सकता है। ऐसा मानने पर अति महान् पर्वत आदि दृश्यों का प्रत्यक्ष कैसे हो सकेगा? क्योंकि वह ऋजुरेख रश्मि जिसे नैयायिक लोग आँख मानते हैं सारे पर्वतों को तो व्याप्त कर पायेगी नहीं? इसके उत्तर में नैयायिक विवेचकों ने यह कहा है कि दीप-केन्द्र से निर्गत उसकी प्रकाशधारा के समान ये नयनरश्मियाँ प्रसृमर होती हैं अर्थात् फैलने वाली होती हैं, अतः केन्द्र स्थान से निर्गम के समय ऋजुरेख होंने पर भी उन्नत नासिकास्थि के आगे ज्यो-ज्यों बढ़ती जाती हैं त्यों-त्यों फैलती जाती हैं। अतः बड़ी-से-बड़ी वस्तु भी उन नयनभूत रश्मियों के द्वारा व्याप्त हो पाती हैं। इसी का फल यह होता है कि उस बड़ी-से-बड़ी-वस्तु को भी देखा जा सकता है। हवा के झकोरे से वह नयनरश्मि दीपशिखा की तरह बुत क्यों न हो जाती? इस प्रश्न के उत्तर में नैयायिकों लोग यह कहते हैं कि हवा वेग से उस नयनरश्मि का वेग

कहीं अधिक होता है इसलिए वेगपूर्वक चलती हुई हवा उसकी गति में उसकी अग्रसरता में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित होती नहीं। न वह बुतती और न वह दीपशिखा के समान कम्पन प्राप्त करती। संवेग चन्द्र-सूर्यरश्मियों में यह बात पायी ही जाती है कि केवल वायु से विताड़ित होकर कम्पनशील होती नहीं। आँख के सम्बंध में नैयायिकों ने इस पर भी विस्तृत भाव से विचार किया है कि एक व्यक्ति को आँख एक ही होती है, या दो होती हैं? उन्होंने अपने तर्कपूर्ण विचार के द्वारा बौद्ध-सिद्धान्त के विरुद्ध यह स्थिर किया है कि आँखें दो होती हैं, एक नहीं। कोई काना हो जाय, एक आँख उसकी नष्ट हो जाय यह बात दूसरी है। किन्तु स्वस्थ चक्षुष्क व्यक्तियों को आँख दो ही होती हैं। कान और नाक के सम्बंध में इस प्रकार विचार यद्यपि उन्होंने नहीं किया है फिर भी आँख पर किये गये विचार से नाक और कान के सम्बंध में भी उनका विचार व्यक्त-सा समझा जा सकता है।

इन्द्रियों की बहिर्गति के सम्बंध में नैयायिकों का कहना यह है कि इन्द्रियों के अंदर आँख ही एक ऐसी इन्द्रिय है जो कि अपने केन्द्रस्थान से निर्गत होकर द्रष्टव्य विषय स्थान तक जाती है। अन्य सारी इन्द्रियाँ अपने केन्द्रस्थान में अवस्थित ही रहती हुई आगत विषयों का स्वागत-सत्कार करती हैं। उनका प्रशासन करती है। इस दृढ़ निर्णय के अनुसार कान से किये जाने वाले शब्द के साक्षात्कार स्थल में कान तक धाराक्रम से शब्द की वे उत्पत्ति मानते हैं। उनका इस सम्बंध में कहना यह है कि जहाँ कोई या कुछ बोलता है उस शब्द केन्द्र से उत्पन्न होने वाले प्रथम शब्द से द्वितीय शब्द और द्वितीय से तृतीय शब्द, इस प्रकार आगे-आगे उत्पन्न होने वाले शब्दों के अंदर श्रोता के कान में या उसके अति निकट उत्पन्न होने वाला शब्द श्रोता को सुनाई देता है। गंध, रस और स्पर्श इनके सम्बंध में नैयायिकों की धारणा यह है कि ये अपने गतिशील आश्रय द्रव्य के साथ, मानों गतिशील अपने आश्रय द्रव्यात्मक वाहन पर आरुढ़ होकर, अपने-अपने ग्राहक इन्द्रिय नाक, जिह्वा और त्वक् इन इन्द्रियों के पास आते हैं। जहाँ इन इन्द्रियों के द्वारा मन को मध्य में रख कर आत्मा को भी विषयों का सम्पर्क स्थापित हो जाता है अतः आत्मा को इन विषयों का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान हो जाता है।

अपने-अपने विषयों के साथ होने वाले इन्द्रिय-सम्पर्क के सम्बंध में नैयायिकों का कहना यह है कि ग्राह्यविषय और ग्राहक-इन्द्रियाँ इनके बीच होने वाले सम्बंध को जो कि प्रत्यक्षात्मक ज्ञान के लिए अत्यावश्यक होते हैं प्रथमतः दो भागों में विभक्त समझना चाहिए यथा-लौकिक और अलौकि। उक्त सम्बंध को वे लोग अपने शब्दों में 'सन्निकर्ष' कहते हैं जिसका भी अर्थ सम्बंध ही होता है। तदनुसार नैयायिकों के घर में इन्द्रिय और

---

(६८) द्रव्यग्रहस्तु संयोगात् संयुक्त-समवायतः
द्रव्येषु समवेतानां, तथा तत्समवायतः।
............। *-भाषापरिच्छेद, प्रत्यक्षपरिच्छेद।*

विषय के बीच होने वाले प्रत्यक्षजनक सम्बंध लौकिक सन्निकर्ष और अलौकिक सन्निकर्ष इस प्रकार दो होते हैं। लौकिक सन्निकर्षों को वे पुन: छह भागों में विभक्त मानते हैं यथा[६६] संयोग, संयुक्त-समवाय, संयुक्त-समवेत-समवाय और समवेत-समवाय तथा विशेष्य-विशेषण-भाव। यहाँ का यह विवेचन नैयायिक और वैशेषिक दोनों दार्शनिकों के लिए समान रूप से मान्य है। तदनुसार ये दोनों दार्शनिक प्रत्यक्षग्राह्य वस्तुओं के अंदर द्रव्य, गुण, कर्म और और सामान्य तथा अभाव इन पाँचों के ग्राहक रूप में आँख, त्वक् और मन को ही मान्यता देते हैं अन्य नाक आदि इन्द्रियों को नहीं। और नाक, कान तथा जिह्वा इन्हें केवल गुण, सामान्य और अभाव इन विषयों का ग्राहक मानते हैं। मन द्रव्य, गुण,कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव इन सबका ग्राहक होता है। इसके अनुसार संयोग सन्निकर्ष साक्षात् रूप में आँख, त्वक् और मन इनके लिए ही सन्निकर्ष हो पाता है औरों के लिए नहीं। आगे विद्यमान किसी भी द्रव्यात्मक दृश्य के साथ आँख का संयोग होने पर उस दृश्य द्रव्य का प्रत्यक्ष होता है यदि वह दृश्य अतीन्द्रिय न हो। सामने विद्यमान पेड़, पौधे आदि सभी स्थूल द्रव्य आँख से संयोग-सन्निकर्ष प्राप्त करने के कारण ही आँख से देखे जा पाते हैं। द्रब्यगत गुण क्रिया और सामान्य इनका प्रत्यक्ष होता है 'संयुक्त समवाय' सन्निकर्ष से। जैसे फूल में होने वाले रूप, रस आदि गुण एवं फूल में होने वाले कम्पन तथा फूल में रहने वाले 'पुष्पत्व' सामान्य का प्रत्यक्ष संयुक्त-समवाय सन्निकर्ष से होता हैं। क्योंकि आँख इन्द्रिय भी है द्रव्य, और फूल भी है एक द्रव्य, अत: इन दोनों के बीच संयोग सन्निकर्ष इसलिए उचित है कि इन दोनों के बीच 'अवयव-अवयिभाव' होता नहीं इसलिए आँख से संयुक्त होता है फूल और उसमें समवाय सम्बंध से रहते हैं, उसके सारे गुण, कम्पन एवं सामान्य। द्रव्य में रहने वाले गुण और कर्म इनमें रहने वाले सामान्य का प्रत्यक्ष होता है 'संयुक्त-समवाय' सन्निकर्ष से। क्योंकि उक्त पद्धति के अनुसार आँख से संयुक्त होता है फूल और उसमें समवाय सम्बंध से रहने के कारण समवेत होते हैं उसके रूप, रस आदि गुण और उसमें होने वाले कम्पन, फिर उनमें रहने वाला सामान्य होते हैं गुणत्व, रूपत्व, रसत्व आदि एवं कर्मत्व उत्क्षेपणत्व आदि। कान से होने वाले शब्द प्रत्यक्ष के लिए अपेक्षित होता है-'समवाय' सन्निकर्ष। क्योंकि साधारणत: जिसे लोकदृष्टि में कान कहा जाता है उस चर्म-मांसमय परिधि के द्वारा सीमित आकाश को ही माना जाता है न्यायवैशेषिक दृष्टिकोण में कान और शब्द को माना है आकाश का गुण, इसलिए सुना जाने वाला शब्द उस कर्णात्मक आकाश में समवाय-सम्बंध से रहता है। शब्द में रहने वाला शब्दत्व सामान्य का प्रत्यक्ष माना जाता है 'समवेत-समवाय' सन्निकर्ष से। क्योंकि उक्त प्रकार से कान में समवाय से रहने के कारण समवेत होता है शब्द और उसमें समवाय-सम्बंध से रहता है उसका शब्दत्व सामान्य।

नैयायिक लोग अभाव के प्रत्यक्ष में उसके साथ इन्द्रिय का 'विशेषण-विशेष्यभाव'

---

(६६) विशेषणतया तद्वद्भावानां ग्रहो भवेत्। भाषा परिच्छेद।

सन्निकर्ष को अपेक्षित मानते है[६६]। 'विशेषण-विशेष्यभाव' इसके अंदर 'भाव' का सम्बंध विशेषण एवं विशेष्य के साथ जोड़कर उसका अर्थ विशेषण भाव अर्थात् 'विशेषणता' और 'विशेष्यभाव' अर्थात् विशेष्यता यह विवक्षित है। इन विशेषणता और विशेष्यताओं के प्रभेद यों तो बहुसंख्यक हो सकते हैं फिर भी इन्हें कम-से कम पाँच-पाँच प्रभेदों में विभक्त तो अवश्य समझ लेना चाहिए। यथा संयुक्त-विशेषणा, संयुक्त-समवेत-विशेषणता, संयुक्त-समवेत-समवेत-विशेषणता, समवेत-विशेषणता, और समवेत-समवेत विशेषणता। इसी प्रकार विशेष्यताओं को भी न्यायवैशेषिक दृष्टि में पाँच प्रभेदों में विभक्त समझना चाहिए। उक्त विशेषताएँ तब सन्निकर्ष होती हैं जबकि उनसे होने वाले प्रत्यक्षों में अभाव विशेषण रूप से विषय होता है और विशेष्यताएँ तब सन्निकर्ष बनती हैं जब कि अभाव प्रत्यक्षों में विशेष्य रूप से विषय बनता है। उदाहरण द्वारा इन्हें यो समझना चाहिए कि 'यह घर धनाभाव वाला है' इस प्रकार प्रत्यक्ष स्थल में 'संयुक्त-विशेषणता-सन्निकर्ष' काम में आता है। क्योंकि आँख से संयुक्त होता है घर और उसमें विशेषण अर्थात् रहने वाला होता है घनाभाव। यदि 'इस फूल का रूप रसाभाव वाला है' ऐसा प्रत्यक्ष अपेक्षित होगा तो वहाँ 'संयुक्त समवेत-विशेषणता सन्निकर्ष' काम में आयेगा। क्योंकि आँख से संयुक्त होगा फूल, उसमें समवाय सम्बंध से रहने के कारण समवेत होगा रूप और उसमें विशेषण होगा रसाभाव। जबकि 'पुष्परूपत्व रसाभाव वाला है' ऐसा प्रत्यक्ष किया जाय तो वहाँ 'संयुक्त-समवेत-समवेत-विशेषणता' सन्निकर्ष काम में लाया जाता है। क्योंकि आँख से संयुक्त होता है पुष्प, उसमें समवेत होता है उसका रूप, और उस रूप में समवेत होता है रूपत्व, जिसमें ग्राह्य रसाभाव विशेषण होता है। 'शब्द रूपाभाव वाला है' इस प्रकार प्रत्यक्ष स्थल में 'समवेत, विशेषणना' सन्निकर्ष काम देता है। क्योंकि उक्त पद्धति से कान में समयेत होता है शब्द और उसमें विशेषण होता है रूपाभाव। 'शब्दत्व रूपाभाव वाला है' इस प्रकार प्रत्यक्ष स्थल में 'समवेत-समवेत-विशेषणता सन्निकर्ष' उपयोग में आता है। क्योंकि कान में समवेत होता है शब्द और उसमें समवेत होता है शब्दत्व एवं उन शब्दत्व में विशेषण होता है रूपाभाव।

इस प्रकार नैयायिक सम्मत 'विशेषणाभाव' अर्थात् विशेषणता सन्निकर्ष के उपयोग को उदाहरण द्वारा समझने के अनन्तर विशेष्यता सन्निकर्ष की उपयोगिता उदाहरण द्वारा इस प्रकार समझनी चाहिए कि 'फूल में भ्रमण का अभाव है' इस प्रकार प्रत्यक्ष स्थल में 'संयुक्त-विशेष्यता सन्निकर्ष' कार्यकारी होता है। क्योंकि आँख से संयुक्त होता है फूल और उसका विशेष्य होता है भ्रमर का अभाव। यदि 'फूल के रूप में रसाभाव है' इस प्रकार प्रत्यक्ष कर्त्तव्य होगा तो वहाँ 'संयुक्त-समवेत-समवेत-विशेष्यता' सन्निकर्ष काम में आयेगा। क्योंकि आँख से संयुक्त होगा फूल, उसमें समवेत होगा रूप और उसका विशेष्य होगा रस का अभाव। यदि 'पुष्प-रूपत्व में रसाभाव है' इस प्रकार प्रत्यक्ष कर्त्तव्य होगा तो कार्यकारी होगा 'संयुक्त-समवेत-समवेत विशेष्यता' सन्निकर्ष। क्योंकि आँख से

पक्षी अँधेरे में ही कैसे देख पाते हैं? क्योंकि बाहरी प्रकाश तो वहाँ रहता नहीं? इस प्रश्न का उत्तर नैयायिक लोग यह देते हैं कि ऐसे पशु-पक्षियों के लिए प्रत्यक्षार्थ जितना प्रकाश अपेक्षित होता है उतना प्रकाश उनकी आँख में ही रहता है इसलिए उन्हें बाहरी प्रकाश की अपेक्षा होती नहीं। इस न्याय-सम्मत प्रत्यक्ष-प्रक्रिया से चार्वाकीय प्रत्यक्षप्रक्रिया का कितना सामंजस्य है और कितना असामंजस्य, यह आगे स्पष्ट हो जायेगा।

चार्वाक दृष्टि से खण्डनीय वेदान्तसम्मत प्रत्यक्ष-प्रक्रिया

उक्त न्यायमतसिद्ध प्रत्यक्ष की प्रक्रिया से शांकर-अद्वैत-वेदान्तियों की प्रत्यक्ष की प्रक्रिया बिलकुल अलग है। वे कहते हैं कि इन्द्रियों के अंदर जो इन्द्रियाँ द्रष्टव्य विषय तक जाने वाली हैं जैसे आँखें, वे शरीरस्थित अन्तःकरण के द्रष्टव्य विषय तक पहुंचने के लिए उसी प्रकार अपेक्षित होती हैं जैसे जलाशय से खेत तक जल के पहुंचने के लिए नाली। जलाशय से जल जिस प्रकार नाली के द्वारा खेत तक पहुंचकर खेत यदि त्रिकोण-आकारक रहता है तो वह जल भी वैसा ही आकार वाला हो जाता है और यदि खेत चतुष्कोण आकारयुक्त रहता है तो वहाँ गया वह जलाशय का जल भी चतुष्कोण हो जाता है,[७५] उसी प्रकार अन्तःकरण भी आँख के सहारे वहाँ, जहाँ कि द्रष्टव्य विषय रहता है, जाकर विषय का ही आकार धारण कर लेता है। फलतः वह द्रष्टव्य वस्तु स्वच्छ अन्तःकरण के लेप से लिप्त हो जाती है। इसका फल यह होता है कि अस्वच्छ दीवार आदि पर भी जल छिड़क देने पर या रंगदार पालिश कर देने पर जैसे निकटवर्ती वस्तु का प्रतिबिम्ब पड़ता है, तैसे उस स्वच्छ अन्तःकरण से लिप्त द्रष्टव्य वस्तु पर स्वप्रकाश चैतन्यस्वरूप आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है। वही प्रतिबिम्ब चैतन्य कहलाता है प्रत्यक्ष। उसीसे द्रष्टव्य घट-पट आदि वस्तुएं प्रकाशित होती हैं। आँखस्वरूप नाली के भीतर से द्रष्टव्य वस्तु तक जाते हुए अन्तःकरण को वे लोग कहते 'वृत्ति'। इस वृत्ति का काम वे लोग यह बतलाते हैं कि उस द्रष्टव्य विषय पर एक अज्ञान का आवरण पहले से पड़ा रहता है जिसके कारण प्रकाशस्वरूप आत्मा का उसके साथ सम्पर्क नहीं हो पाता है। इसलिए उन वृत्तिलेप के पहले उस द्रष्टव्य वस्तु का प्रत्यक्षीकरणात्मक प्रकाशन होता नहीं। वृत्ति के द्वारा उक्त अज्ञानात्मक आवरण के नष्ट या अपसारित हो जाने पर, अथवा उस वृत्ति के द्वारा उस द्रष्टव्य वस्तु के स्वच्छ हो जाने पर, उसमें प्रतिबिम्ब ग्रहण करने की योग्यता आ जाने पर उस द्रष्टब्य के साथ प्रकाशात्मक चैतन्यघन आत्मा का प्रकाशनोपयोगी सम्पर्क होता है। इसलिए तब तक उस द्रष्टव्य वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं हो पाता है और इसलिए उक्त प्रकार वृत्ति की तथा उसके वाहक नाली के रूप में आँख की अपेक्षा चाक्षुष प्रत्यक्ष के लिए होती है। नाक, जिह्वा और त्वक् इन इन्द्रियों से गंध, रस और स्पर्श के प्रत्यक्ष स्थल में तत्तत् इन्द्रियों के निकट विषय के आने पर इन्द्रियों के निकट अग्र भाग में

---

(७५) तत्र यथा तड़ागोदकं छिद्रान्निर्गत्य, कुल्यात्मा केदारान् प्रविश्य तद्वदेव चतुष्कोणाद्यकारं भवति। *-वेदान्त-परिभाषा, प्रत्यक्षपरिच्छेद।*

वे विषय अपनी-अपनी ग्राहक इन्द्रियों के सहारे निर्गत अन्तःकरण का उक्त प्रकार स्वच्छ लेप प्राप्त करते हैं। अतः इन्द्रियों से होने वाले विषय प्रत्यक्ष के लिए अन्तःकरण को अधिक दूरी नहीं जाना पड़ता है फिर भी अन्तःकरण स्वस्थान से चल कर निकटवर्ती विषय को अपने स्वच्छ लेप से लिप्त अवश्य करता है। अन्यथा उक्त प्रक्रिया के अनुसार उनका प्रत्यक्षीकरण हो नहीं सकता है। कान से होने वाले शब्द श्रवण स्थल में वेदान्ती लोग नैयायिकों की तरह कान तक शब्द की उपस्थिति नहीं मानते। इनका कहना इस सम्बंध में यह है कि जहाँ शब्द उत्पन्न होता है वहाँ तक कान की ही गति होती है। अतः फलतः आँख से होने वाले प्रत्यक्ष और कान से होने वाले प्रत्यक्ष में प्रक्रिया की अधिक समता होती है। वेदान्तियों का कहना है कि कान के आकाश होने पर भी उसका शब्द-स्थान तक गमन इसलिए सम्भव हो पाता है कि आकाश स्वतः व्यापक होने पर भी कर्णपिण्ड-सम्पृक्त रूप में सीमित हो जाता है। शब्द कान तक नहीं आता। किन्तु कर्णेन्द्रिय ही वहाँ तक जाती है इसके सम्बंध में वे लोग प्रमाण यह उपस्थित करते हैं कि 'शब्द मुझसे सुना गया' इस प्रकार अनुभव श्रोता लोग किया करते हैं। इससे मालूम यह होता है कि शब्द यथास्थान ही रहता है।

वेदान्त-सिद्धान्त में प्रत्यक्ष के चार प्रभेद मान्य होते हैं। प्रथम प्रत्यक्ष तो वह ब्रह्म अर्थात् आत्मा है जिसका प्रतिबिम्बन प्रदर्शित प्रत्यक्ष की प्रक्रिया में बतलाया गया है। दूसरा साक्षी-प्रत्यक्ष और तीसरा प्रत्यक्ष है उक्त इन्द्रिय के द्वारा होने वाली अन्तःकरण की वृत्ति और चतुर्थ प्रत्यक्ष होता है प्रत्यक्षी क्रियमाण घड़ा आदि द्रष्टव्य विषय। आत्मा या ब्रह्म प्रत्यक्षात्मक नित्य ज्ञान है इसके सम्बंध में वे लोग उपनिषद् को प्रमाण रूप से उपस्थित करते हैं। साथ ही इसलिए भी उसे प्रत्यक्ष बतलाते हैं कि उनके सिद्धान्त में आत्मा चैतन्य होने के कारण स्वप्रकाश है। ऐसी परिस्थिति में नित्य विज्ञान को ही अद्वैत तत्त्व मानने वाले के लिए प्रत्यक्ष से बढ़ कर स्वप्रकाश और कौन मिल सकता? इस लिए भी वे लोग ब्रह्मस्वरूप आत्मा को अपरोक्ष अर्थात् प्रत्यक्षस्वरूप मानते हैं। साक्षी को प्रत्यक्ष इसलिए माना जाता है कि अन्तःकरण और उसके धर्म ज्ञान सुख, दुख आदि, इनका प्रकाशन अर्थात् विषयीकरण अन्तःकरण की वृत्तियों द्वारा हो सकता नहीं। क्यों कि एक ही वस्तु ग्राह्य और ग्राहक दोनों कोटियों में एकदा आ नहीं सकती। लौकिक दृष्टान्त के द्वारा इसे यों समझा जा सकता है कि अन्तःकरण या उसकी वृत्ति के द्वारा सीमित प्रकाशात्मक चैतन्य से अन्तःकरण के धर्म, ज्ञान, इच्छा आदि का विषयीकरण अर्थात् प्रत्यक्षीकरण उसी प्रकार असम्भव है जैसे किसी घड़े के अंदर बरते हुए बल्ब को रख कर ऊपर से घड़े के मुंह को बंद करके यदि अंधेरे में रख दिया जाय तो उस अन्तः प्रकाश से घड़े का प्रत्यक्ष होगा नहीं। किन्तु उस घड़े के अंदर एक-दो जगह छोटा भी छिद्र कर दिया जाय तो उसके सहारे वह आवद्ध प्रकाश उस घड़े से बाहर होकर घड़े के निकट अस्तित्व रखता हुआ उस घड़े का प्रकाशन कर देगा। उस निर्गत किन्तु घड़े के निकट विद्यमान प्रकाश से उस घड़े का प्रत्यक्षीकरण हो ही जाता है। इसी प्रकार अन्तःकरण या

उसकी वृत्ति में आबद्ध प्रकाशात्मक चैतन्त से, अन्तःकरण से तत्त्वतः अभिन्न होने वाले ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न आदि का प्रत्यक्षीकरण अन्तःकरण या उसकी वृत्ति में सर्वथा आबद्ध जीवात्मा या प्रमाण इन दोनों से सम्भव नहीं हो पाता। किन्तु प्राणियों को अपने ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न आदि का पता चलता ही है। लोग यह समझते ही हैं कि 'मुझे ज्ञान हुआ है', 'मुझे इच्छा हुई हैं'' मुझे प्रयत्न हुआ है'। अतः यह मानना पड़ता है कि अन्तःकरण से अनाबद्ध फलतः उसके द्वारा असीमितकृत किन्तु उससे उपहित अर्थात् उसके निकटवर्ती अनावृत चैतन्य से अन्तःकरण एवं उसके धर्म ज्ञान, इच्छा आदि का प्रकासन होता है। यह अन्तःकरण एवं उसके धर्मों का प्रकाशक चैतन्य तत्त्वतः अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार शुद्ध व्यापक आत्मचैतन्यस्वरूप ही होने पर भी व्यावहारिक दृष्टिकोण से थोड़ा उससे विलक्षण अवश्य प्रतीत होगा। क्योंकि इस प्रकृत चैतन्य को कहना पड़ता है अन्तःकरण से उपहित चैतन्य। सारांश यह है कि उस सर्वव्यापक महा चैतन्यस्वरूप ब्रह्म या आत्मा को किसी के या किसी से उपहित कहना एक प्रकार से उसे अंकित-सा, चिह्नित-सा होना कहा जायेगा, जो कि उस निर्विकार व्यापक एकरस महाप्रकाशात्मक चैतन्य के लिए अनुचित ही नहीं, असंगत होगा। अतः प्रकृत अन्तःकरणोपहित को तत्वतः कूटस्थ चैतन्य होने पर भी व्यावहारिक दृष्टिकोण से उस महाचैतन्यात्शक ब्रह्म से कुछ अलग मानना वेदान्तियों के लिए आवश्यक हो जाता है। प्रदशित अन्तःकरणोपहित चैतन्य को जीवात्मा या प्रमाण इस लिए नहीं कहा जा सकता कि वे दोनों होतें हैं सर्वथा अन्तःकरण एवं उसकी वृत्ति से कवलित, आबद्ध, उदराभ्यन्तरीकृत। किन्तु यह साक्षी चैतन्य अन्तःकरण के निकट होता हुआ भी उससे कवलीकृत नहीं होता। क्योंकि ऐसा होने पर इसकी मान्यता का प्रयोजन सम्पन्न नहीं हो पायेगा, यह प्रदर्शित घटलट्टू दृष्ठान्त से स्पष्ट किया जा चुका है। इस प्रकार और इसी दृष्टिकोण से वेदान्ती लोग 'साक्षी प्रत्यक्ष' को भी मान्यता देते हैं। यहाँ जो इस प्रकार साक्षी प्रत्यक्ष का परिचय दिया गया उसे 'जीवसाक्षी' से सम्पृक्त समझना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह कि वेदान्ती लोग साक्षी को जीवसाक्षी और ईश्वरसाक्षी इस प्रकार दो प्रभेदों में विभक्त मानते हैं। ईश्वरसाक्षी की भी मान्यता प्रदर्शित युक्ति से ही स्थिर होती है। जैसे अन्तः की परिस्थितियों के प्रकाशनार्थ उससे अकवलित किन्तु उससे उपहित फलतः नैकट्यापन्न जीवसाक्षी मान्य होता है उसी प्रकार मायागत शक्तियों का, उसके स्वभावों का प्रकाशन माया की परिधि में सर्वथा आबद्ध ईश्वर से सम्भव नहीं हो सकता। और व्यापक चैतन्यात्मक ब्रह्म को उस मायागत स्वभाव के प्रकाशन कार्य में संलग्न इसलिए नहीं किया जा सकता कि ऐसा जााने पर उसकी निर्लेपता पर आँच आने का भय रहता है। अतः माया से अनाबद्ध किन्तु उससे उपहित अर्थात् नैकट्यापन्न ईश्वरसाक्षी भी मान्य होता है वेदान्त-सिद्धान्त में। ये दोनों प्रकार के साक्षी अवच्छिन्न अर्थात् सीमित चैतन्य और अनवच्छिन्न अर्थात् सर्वथा असीम चैतन्य के बीच एक कड़ी का काम देते हैं, जिससे जीव और ब्रह्म एवं ईश्वर और ब्रह्म इन दोनों की अभिन्नता भी सुरक्षित होती है एवं स्पष्टीकृत होती है। इन दोनों उपहित चैतन्यों को साक्षी इस दृष्टिकोण

से वेदान्ती लोग कहते है कि इन दोनों ही उपहित चैतन्यों की परिस्थिति ठीक लौकिक घटनास्थलीय साक्षी की तरह होती है। दाण्डिक दृष्टि में विवादस्थलीय साक्षी भी ऐसा ही होता है कि प्रस्तुत घटना से वह भी अपने को लिप्त नहीं समझता और लोग भी उसे उससे लिप्त नहीं समझते। किन्तु उस विवादास्पद घटना से बिलकुल उसे उस प्रकार असम्पृक्त भी नहीं कहा जा सकता जिस प्रकार कि किसी और व्यक्ति को, जिसने उस घटना को बिलकुल देखा न हो। क्योंकि साक्षी को उस घटना का नैकटच अवश्य प्राप्त हुआ रहता है। उस घटना से एक प्रत्यक्ष ज्ञानात्मक सम्बंध अवश्य उसे रहता है। अन्यथा वह साक्षी नहीं माना जा सकता और माना जाता भी नहीं। इन दोनों प्रकार वर्णित उपहित चैतन्यात्मक साक्षी की परिस्थिति ठीक प्रकार की होती है। वह न अन्तःकरण, या माया, या उनके स्वभावों में जीव और ईश्वर की तरह आवद्ध रहता है और न शुद्ध चैतन्यात्मक ब्रह्म की तरह बिलकुल सम्पृक्त। क्योंकि अन्तःकरण और माया तथा इनके स्वभावों की इसे मानों जानकारी रहती है उसके प्रकाशन की क्षमता इन दोनों उपहित चैतन्यों में रहती है। वेदान्त-सिद्धान्त में चैतन्य और प्रत्यक्ष ये तत्त्वतः अभिन्न ही होते हैं इसलिए भी इन दोनों उपहित चैतन्यों को प्रत्यक्ष कहा जाता है और इन दोनों के द्वारा अन्तःकरण और उसके स्वभाव, माया और उसके स्वभाव इनका सुस्पष्ट रूप से प्रकाशन भी होता है, इस दृष्टिकोण से भी साक्षी 'प्रत्यक्ष' कहा जाता है।

तृतीय प्रत्यक्ष है वेदान्तसिद्धान्त में इन्द्रियद्वारक अन्तःकरण की वृत्तियाँ एवं उनसे अवच्छिन्न चैतन्य। इसे ही वेदान्ती लोग प्रत्यक्ष प्रमाण शब्द से कहते हैं। इस प्रत्यक्ष की प्रक्रिया का वर्णन वेदान्ती लोग इस प्रकार करते हैं कि प्रमाण-चैतन्य एवं विषय-चैतन्य दोनों में जब एक प्रकार का आगन्तुक अभेद होता है तब ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। यह आगन्तुक अभेद क्यों और कैसे हो सकता है? इस शंका का समाधान इस प्रकार वेदान्ती लोग करते हैं कि मूलतः आत्मचैतन्य एक होने पर भी औपाधिक रूप में उसे तीन भागों में विभक्त समझना चाहिए। यथा प्रमातृचैतन्य प्रमाणचैतन्य और विषयचैतन्य। प्रमाता, जीव ही माना जाता है अतः प्रमातृचैतन्य का अर्थ होता है जीवचैतन्य। फलतः अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य। और इन्द्रियद्वारक प्रत्यक्ष स्थल में प्रमाण होती है अन्तः करण की वृत्ति। अतः प्रमाणचैतन्य का अर्थ होता है अन्तःकरण की वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य। एवं विषयचैतन्य का अर्थ होता है विषयावच्छिन्न चैतन्य। इन तीनों का आगन्तुक अभेद इसलिए होता है कि कोई वस्तु जिन उपाधियों के कारण विभिन्नता प्राप्त करता है वे यदि आपस में मिलकर एक ही काल में एकदेशस्थ हों अर्थात् एक स्थान में रह जायँ तो वह तत्प्रयुक्त भेद, जो कि आगन्तुक रहता है नष्ट हो जाता है। फलतः फिर एक आगन्तुक अभेद उनमें प्राप्त हो जाता है जो कि उन उपाधियों के कारण मध्य में नहीं रहता है।

---

(७६) तथा चायं घट इत्यादि प्रत्यक्षस्थले घटादेस्तदाकारवृतेश्च बहिरेकत्र देश समवधानात् तदुभयावच्छिन्नां चैतन्यमेकमेव........। *-वेदान्त-परिभाषा, प्रत्यक्ष-परिच्छेद।*

सुगन्धत्व के साथ उसके होने की सम्भावना ही कैसे की जा सकती? सुगन्धत्व के प्रत्यक्षीकरणार्थ सामान्यलक्षण सन्निकर्ष की भी उपस्थिति इसलिए नहीं कही जा सकती कि सुगन्धत्व के प्रत्यक्षीकरण के लिए सामान्यलक्षण-सन्निकर्ष सुगन्धत्व-ज्ञान को ही माना जा सकता। क्योंकि [७२] धर्म का ही ज्ञान धर्मी के प्रत्यक्षीकरणार्थ सामान्य लक्षण सन्निकर्ष होता है। वर्तमान सुगन्ध का स्मरण सुगन्ध और सुगन्धत्व इन दोनों को ही विषय रूप से ग्रहण कर पाता है, सुगन्धत्व को नहीं। ऐसी परिस्थिति में कैसे उस सुगन्ध-स्मरण को सुगन्धत्व के प्रत्यक्षीकरण के लिए सामान्य लक्षण सन्निकर्ष कहा जाय? उस सुगन्ध-स्मरण को सुगन्धत्व के प्रत्यक्षीकरण के लिए इसलिए ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष माना जा सकता है कि 'यह फूल सुगन्धित है' इस प्रत्यक्ष स्थल में सुगन्धत्व का विषयीकरण अन्य सन्निकर्ष से हो नहीं पाता है, और उसका होना उचित है, अनुभव सिद्ध है। सम्पाद्य प्रत्यक्ष और सम्पादक ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष इन दोनों की समानविषयता का नियम बतलाया ही जा चुका है। तदनुसार वह सौरभत्व [७३] का स्मरण जिसे सौरभ-स्मरण भी कहा जा सकता है सुगन्धत्व का प्रत्यक्ष करा सकता है। अतः ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष की मान्यता अनिवार्य है।

इस प्रकार किये जाने वाले विवेचन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि नैयायिक लोगों ने सामान्यलक्षण सन्निकर्षी की मान्यता दिखला कर प्रत्यक्ष के लिए देश और काल की दूरी की बाधकता का खण्डन किया है और ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष को मान्यता देकर संसार के सारे पदार्थों को प्रत्यक्ष योग्य ठहराया है और साथ ही इन्द्रियगत विषय-नियम का भी खण्डन किया है। सभी विषयों को सभी इन्द्रिय का विषय बतलाया है।

अलौकिक-सन्निकर्षों के अंदर तृतीय मानते हैं नैयायिक लोग योग-विशेषजनित पुण्य को। इसकी भी यह विचित्र अलौकिकता नैयायिकों के दृष्टिकोण में है, कि इस सन्निकर्ष के सहारे भी कोई व्यक्ति सारी वस्तुओं का प्रत्यक्ष कर सकता है। उसके लिए, न देखे जाने के कारण कोई भी वस्तु अदृक्य या अदृष्ट होती नहीं। प्रत्यक्ष को घ्राणज, रासन, चाक्षुष, श्रावण और मानस इस प्रकार विभक्त करते हैं। इन प्रत्यक्षों को लौकिक सन्निकर्षज और अलौकिक सन्निकर्षज इस प्रकार दो भागों में फिर विभक्त किया जा सकता है। लौकिक सन्निकर्षजन्य उक्त प्रत्यक्षों को फिर संयोग-सन्निकर्षज, संयुक्त-सभायसन्निकर्षज आदि रूप से विभक्त किया जा सकता है। अलौकिक-सन्निकर्षज प्रत्यक्ष को सामान्यलक्षणाजन्य, ज्ञानलक्षणाजन्य और योगज इस प्रकार तीन प्रभेदों में विभक्त समझना चाहिए। इन तीनों प्रभेदों के अंदर प्रथम सामान्यलक्षणज प्रत्यक्ष को भी फिर घ्राणज, रासज चाक्षुष, श्रावण और मानस इन छः प्रभेदों में विभक्ता होती है। इसी

---

(७२) आसत्तिराश्रकरणां तु सामान्यज्ञानमिष्यते। *-भाषा परिच्छेद।*

(७३) यद्यपि सामान्यलक्षणया सौरभस्य भानं सम्भवति तथापि सौरभत्वस्य भानं ज्ञानलक्षणया। *-न्यायसिद्धान्त मुक्तावली।*

प्रकार ज्ञानलक्षणज प्रत्यक्ष को भी इन्हीं छ: प्रभेदों में विभक्त समझना उचित होगा। योगज ज्ञान इस प्रकार इन छ: प्रभेदों में विभक्त नहीं होगा। क्योंकि योगीज्ञान को योगेज प्रत्यक्ष मानना ही अधिक संगत होगा। यत: योगियों के लिए मनोबल ही सर्वाधिक महत्त्वास्पद मान्य है। यदि यह माना जाय कि योगी अपनी अमोघ इच्छा के अनुसार नाक आदि इन्द्रियों से भी विषयों का ग्रहण करेगा योगज धर्म के सहारे तब योगज प्रत्यक्ष को भी घ्राणज आदि उक्त छ: प्रभेदों में विभक्त समझना होगा। इसके अनन्तर सविकल्पक और निर्विकल्पक इन दो प्रभेदों में सारे वर्णित प्रत्यक्षप्रभेदों का विभाजन समझना चाहिए।

निर्विकल्पक ज्ञानकी परिभाषा[७४] यह है कि जिस ज्ञान के अंदर अनेक वस्तुओं के बीच होने वाले सम्बंध का विषयीकरण न हो, वह ज्ञान कहलाता है निर्विकल्पक। जिस ज्ञान में विषय कोई एक ही हो वह कहलाता है निर्विकल्पक। यह परिभाषा निर्विकल्पक की बनायी नहीं जा सकती। क्योंकि निर्विकल्पक ज्ञान असम्बद्ध भाव से एकाधिक को भी विषय कर सकता है। बौद्वीय-दृष्टिकोण से निर्विकल्पक की वह भी परिभाषा सम्भव होती है कि एकमात्र को विषय करने वाला ज्ञान होता है निर्विकल्पक। क्योंकि वे यदि एक ज्ञान में एकाधिक का विषयीकरण मानेंगे तो अन्तत: उन अनेक विषयों में एक ज्ञान, या तादृश ज्ञान-विषयत्व ही सम्बंध स्थापित हो जाएगा। जिसे बौद्धीय-दृष्टिकोण के लिए सह्य नहीं कहा जा सकेगा। यह इसलिए कि वे लोग निर्विकल्पक ज्ञान का विषय स्वलक्षण को ही मानते हैं और स्वलक्षण उनके सिद्धान्त के अनुसार वे ही कहलाते हैं जिन्हें औरों से किसी प्रकार का सम्पर्क न हो। नैयायिक लोग इस निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को भी सांख्य आदि दर्शनों की तरह आँख आदि इन्द्रियों का धर्म नहीं मानते। क्योंकि न्यायसिद्धान्त में ज्ञाता केवल आत्मा ही है। सविकल्पक हो या निर्विकल्पक सभी ज्ञान आत्मा में ही उत्पन्न होने वाले माने जाते हैं। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की मान्यता नैयायिक लोग इस युक्ति के सहारे स्थिर करते हैं कि सविकल्पक ज्ञान नियमत: विशिष्ट-विषयक हुआ करता है। अर्थात् अनेक विषय सम्बद्ध रूप में, फलत: मिलित रूप में, उसके विषय हुआ करते हैं। सम्बद्ध अथवा मिलित का अभिप्रेत अर्थ होता है एक युक्त अपर। अर्थात् एक से विशेषित दूसरा। इस प्रकार सविकल्पक ज्ञान में नियमत: विशिष्ट ही विषय होने के कारण उसके प्रति कारण रूप में विशेषण के ज्ञान की आवश्यकता मान्य होगी। क्योंकि विशेषण को जाने बिना कोई भी व्यक्ति उस विशेषण से विशेषित रूप में किसी और वस्तु को किसी भी प्रकार समझता नहीं। जो व्यक्ति भला सुगन्ध का ही ज्ञान नहीं रखता वह 'यह फूल सुगन्ध-युक्त है' इस प्रकार सुगन्ध से विशेषित रूप में फूल को कैसे समझ सकता?

इस प्रकार विशिष्ट ज्ञान के लिए अपेक्षित होने वाले विशेषण-ज्ञान को भी यदि

---

(७४) ज्ञानं यन्निर्विकल्पाख्यं तदतीन्द्रियमिष्यते।
प्रकारतादिशून्यं हि सम्बन्धानवगाहि तत्॥ *-भाषा परिच्छेद।*

सविकल्पकात्मक विशिष्ट ज्ञान के लिए अपेक्षित होने वाले विशेषण-ज्ञान को भी यदि सविकल्पक ही माना जाय अर्थात् विशिष्ट ज्ञान ही माना जाय तो उसके लिए भी विशेषणज्ञान की आवश्यकता उसी प्रकार अनिवार्य होगी जिस प्रकार प्रथम विशिष्ट ज्ञान के सम्पादनार्थ इस विशेषण-ज्ञान की आवश्यकता हुई थी। यदि विशेषण-ज्ञानात्मक विशिष्ट बुद्धि के लिए भी तृतीय विशेषण-ज्ञान की मान्यता होगी तो इसी प्रकार आगे-आगे सविकल्पकात्मक नये-नये विशेषण-ज्ञान की मान्यता बढ़ती जायगी। इस प्रकार जो विशेषण-ज्ञान की सविकल्पक धारा बह चलेगी उसका कहीं भी अंत नहीं हो पायेगा। जिसका कुफल यह होगा कि किसी भी एक वस्तु का 'इमित्थम्' रूप में निर्णयात्मक ज्ञान किसी को हो नहीं पायेगा। परन्तु परिस्थिति ऐसी है नहीं लोगों को विभिन्न विषयों के सम्बंध में निर्णयात्मक ज्ञान होता है जिसके आधार पर वे अपने जीवनपथ पर अग्रसर भी होते हैं और उन्हें सफलता भी मिलती हुई पायी जाती है। अतः इस वस्तुस्थिति के अनुसार यह मानना ही होगा कि विशिष्ट बुद्धिस्वरूप सविकल्पक ज्ञान के लिए पूर्वोक्त युक्ति के अनुसार अपेक्षित होने वाले विशेषण-ज्ञान को सविकल्पक न मान कर निर्विकल्पक माना जाय। निर्विकल्पक मानने पर उक्त अनवस्था इसलिए स्वतः बारित हो जाती है कि अपेक्षित विशिष्ट बुद्धि के लिए अपेक्षित होने वाले प्रथम विशेषण-ज्ञान में कोई विशेषणरूप से विषय ही प्रतीत होता है नहीं जिसके लिए ज्ञानान्तर की अपेक्षा आवश्यक हो। इस निर्विकल्पक ज्ञान की मान्यता चार्वाकीय-दृष्टिकोण में होगी नहीं यह बात वहाँ विस्तृत रूप से बतलायी जायेगी जहाँ प्रत्यक्ष की सिद्धान्त प्रक्रिया का वर्णन किया जायगा।

सविकल्पक ज्ञान का स्वरूप नैयायिक लोग ठीक निर्विकल्पक के विपरीत बतलाते हैं। वे कहते हैं कि जिस ज्ञान के अंदर अनेक वस्तुएँ आपस में मिलित रूप में, फलतः विशिष्ट रूप में विषय हों उसको कहा जाता है सविकल्पक। इच्छा और प्रवृत्ति के लिए यही ज्ञान अपेक्षित हुआ करता है। विशिष्ट ज्ञान होने के कारण इसके प्रति विशेषण के ज्ञान की आवश्यकता होती है यह बात अभी निर्विकल्पक की चर्चा करते हुए कही जा चुकी है। नैयायिक लोग अनुमिति आदि सारे ज्ञानों को तो नियमतः सविकल्पक ही मानते हैं। किसी-किसी ने पदों से निर्विकल्पक स्मरण भी माना है, परन्तु अधिकतर नैयायिक उसे मान्यता देते नहीं। अतः पदों से निर्विकल्पक स्मरण की मान्यता नगण्य है। लौकिक प्रत्यक्ष ज्ञान के प्रति इन्द्रिय-अर्थ-सन्निकर्ष के समान विषय गत महत्त्व एवं आलोक के संयोग को भी कारण मानते हैं। उसका कहना यह है कि पार्थिव, जलीय आदि परमाणुओं को कोई इसलिए नहीं देख पाता है कि उनमें महत्त्व अर्थात् बड़ा परिमाण होता नहीं। अंधेरे में घड़े आदि विद्यमान होते हुए भी देखे इसलिए नहीं जा पाते कि आलोक का अर्थात् प्रकाश का संयोग उस समय उनमें होता नहीं। दृश्यों के अंदर उन्हीं दृश्यों का प्रत्यक्ष अधिकतर नैयायिक मानते हैं जिनमें उद्भूत रूप का अर्थात् प्रकट रूप का सम्बंध हुआ करता है। इसी मान्यता के आधार पर वे वायु का स्पार्शन प्रत्यक्ष को अर्थात् त्वच् इन्द्रिय के होने वाले प्रत्यक्ष को भी वे मानते नहीं। शब्द और स्पर्श आदि के आधार पर

उसका अनुमान ही मानते हैं। परन्तु परवर्ती नैयायिकों ने इसका समर्थन नहीं किया है। उनका कहना इस सम्बंध में यह है कि सारे द्रव्यों के प्रत्यक्ष के प्रतिरूप को कारण मानना उचित नहीं कहा जा सकता। और यह भी उचित नहीं कहा जा सकता कि वायु का बिलकुल प्रत्यक्ष ही नहीं होता। क्योंकि हवा के चलने पर लोग इस प्रकार अनुभव किया ही करते हैं कि 'मैं वायु का स्पर्श कर रहा हूं' अत: द्रव्य के चाक्षुष प्रत्यक्ष के लिए उस द्रव्य में उद्‌भूत रूप की अपेक्षा और द्रव्य के स्पार्शन प्रत्यक्ष के लिए अर्थात त्वक् इन्द्रिय से किये जाने वाले प्रत्यक्ष के लिए उद्‌भूत स्पर्श की अपेक्षा मान्य है। वायु के अंदर रूप के न होने के कारण उसका चक्षुष प्रत्यक्ष तो नहीं होता है परन्तु स्पर्श तो उसमें प्रकट ही है, इसलिए उसका स्पार्शन प्रत्यक्ष होता ही है। नैयायिकों के समक्ष जब प्रश्न यह उपस्थित किया जाता है कि न्यायमत में आत्मा तो व्यापक है अत: मन कहीं भी शरीर में क्यों न रहे उसके साथ आत्मा का संयोग बना ही रहेगा। ऐसी परिस्थिति में सोते समय भी आत्मा का या सुषुप्ति से अव्यवहित पूर्वक्षण में होने वाले ज्ञान आदि आत्मधर्म का प्रत्यक्ष होता नहीं क्यों? तो इसके उत्तर में वे लोग यह बतलाते हैं कि पूरीतत् नामक शरीरान्तर्गत नाड़ी के बाहर होने वाला ही आत्मा और मन का संयोग ज्ञान के प्रति कारण रूप से मान्य है। सोते समय मन उस पूरीतत् नामक नाड़ी के अंदर रहता है, अत: आत्मा और मन का पूरीतत् नाड़ी के बाहर होने वाला योग सोते समय हो पाता नहीं इसलिए उस समय किसी प्रकार का ज्ञान हो पाता नहीं। उनके इस कथन का तात्पर्य यह है कि मन जब उक्त पूरीतत् नामक नाड़ी के बिलकुल बाहर रहता है तब प्राणियों की जाग्रत् अवस्था होती है और जब मन उस नाड़ी के मुख में प्रविष्ट होता रहता है, प्रविष्ट हुआ नहीं रहता, तब प्राणियों को स्वप्न अवस्था होती है और जब पूर्णरूप से मन उस नाड़ी में प्रवेश कर जाता है तब होती है सुषुप्ति अवस्था। इसलिए सुषुप्तिकाल में होने वाला आत्मा और मन का संयोग वैसा होता नहीं जैसा कि वह ज्ञानोत्पत्ति के लिए अपेक्षित होता है। सुतरां उक्त प्रकार ज्ञान के आतत्ति का प्रश्न नहीं उठाया जा सकता। जब नैयायिकों के समक्ष यह प्रश्न उपस्थिति किया जाता है कि जब घड़े के अंदर न बुतने वाले प्रकाश को रखकर उसे ऊपर से ढँक कर अँधेरे में रख दिया जाता है तब भी उस घड़े का चाक्षुष प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता तो इसके उत्तर में वे लोग कहते यह हैं कि आँख का संयोग जिसे कि द्रव्य के प्रत्यक्ष के लिए सन्निकर्ष रूप में अपेक्षित बतलाया गया है, दृश्य वस्तु के जिसे प्रदेश में हो वहाँ ही प्रकाश का भी संयोग होना प्रत्यक्ष के लिए अपेक्षित हुआ करता है। उक्त परिस्थिति में वैसा होता नहीं, अत: प्रत्यक्ष की प्रदत्त आपत्ति संगत नहीं कही जा सकती। नैयायिक एवं वैशेषिक लोग द्रव्य, गुण और कर्म इन तीनों को 'सत्' कहते हैं इसलिए उसमें वे लोग घड़े में घटत्व, कपड़े में पटत्व, आदि की तरह द्रव्य, गुण और कर्म इन तीनों पदार्थों में एक सत्त्व या सत्ता नामक जाति मानने हैं और इस सत्ता का सर्वेन्द्रिय प्रत्यक्ष मानते हैं। अर्थात् उस सत्ता को सभी इन्द्रियों से प्रत्यक्ष किया जा सकता है, ऐसा वे लोग मानते हैं। चार्वाक सिद्धान्त में सामान्य नामक कोई अतिरिक्त पदार्थ मान्य नहीं यह आगे विवेचन करके सिद्ध किया जायेगा तदनुसार चार्वाक-सिद्धान्त में ऐसी बात मान्य नहीं है। कुछ पशु और

लौकिक उदाहरण के द्वारा इसे यो समझा जा सकता है कि यदि घड़े को घर से बाहर रखा जाय तो घर के अंदर का आकाश और घड़े के अंदर का आकाश ये दोनों प्रकाश औपाधिक रूप में भिन्न होते हैं। क्योंकि आकाश के भेदक घर एवं घट ये दोनों विभिन्न स्थानों में रहते हैं। मानों उनमें एकत्रस्थित्यात्मक सामंजस्य रहता नहीं। परन्तु जब उस घड़े को बाहर से हटाकर घर में रख दिया जाता है, तब उस घड़े में होने वाले आकाश को घर के आकाश से भिन्न नहीं कहा जा सकता। तदनुसार चैतन्य[७६] के भेदक विषय और अन्तःकरण की वृत्ति अर्थात् प्रमाण, ये विभिन्न देशस्थित चैतन्य के भेदक, जबकि एक देशस्थ हो जायँ तो प्रमाणचैतन्य और विषयचैतन्य इन दोनों चैतन्यों का भी एक हो जाना उचित ही होगा। जिन दो परस्परविरोधी व्यक्तियों के अभिप्राय के अनुसार चलने वाले दो व्यक्ति आपस में मेल नहीं रखते, आपस में झगड़ते रहते हैं वे दोनों लड़ाने वाले यदि आपस में मेल कर लेते हैं तब उनके विचार के अधीन होकर आपस में लड़ने वाले दो व्यक्तियों में भी मतैक्य उपस्थित हो जाता है। उन दोनों का भी विरोध जाता रहता है। इसी प्रकार यहाँ भी अन्तःकरण की वृत्तिस्वरूप प्रमाण और विषय इन दो भेदक तत्त्वों की एक देशस्थिति स्वरूप सामंजस्य के कारण चैतन्यगत आगन्तुक भेद हट कर अभेद का होना उचित ही है। दृष्टान्त द्वारा इसे यों समझना चाहिए कि जब राम के निकट घड़ा विद्यमान है तब उस घड़े के साथ उसकी आँख जुटने पर उस आँख स्वरूप नाली के द्वारा द्रुत पारे के समान स्वच्छ उसका अन्तःकरण उस घड़े तक जा पहुंचा। जिसका फल यह हुआ कि अन्तःकरण की वृत्ति और घड़ा ये दोनों एकदेशस्थ हो गये। इस प्रकार चैतन्य के भेदक उपाधियों की एकदेशस्थता हो जाने पर प्रदर्शित युक्ति के अनुसार घटाकर अन्तःकरण की वृत्ति से अवच्छिन्न चैतन्य और घड़े से अवच्छिन्न चैतन्य ये दोनों एक हो गये। अतः राम की वहाँ की अन्तःकरण वृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्यस्वरूप ज्ञान, एवं अन्तःकरण की प्रतिबिम्ब गर्भवृत्ति ये दोनों प्रत्यक्ष कहलाते हैं।

चतुर्थ प्रत्यक्ष होता है विषय। विषय को प्रत्यक्ष इस दृष्टिकोण से कहा जाता है कि ज्ञान के सम्बंध में जिस प्रकार प्रत्यक्षता का व्यवहार होता है अर्थात तदबोधक वाक्य प्रयोग होता है उसी प्रकार विषय के सम्बंध में भी प्रत्यक्षता का व्यवहार होता हुआ पाया जाता है। जिस प्रकार लोग यह कहते हैं कि 'घड़े का मुझे प्रत्यक्ष ज्ञान है' उसी प्रकार यह भी कहते हैं कि घट तो प्रत्यक्ष है। यहाँ प्रथम वाक्य प्रयोग से ज्ञान की प्रत्यक्षता प्राप्त होती है और द्वितीय वाक्य-प्रयोग से विषयगत प्रत्यक्षता। क्योंकि द्वितीय वाक्य प्रयोगस्थल में घड़े को प्रत्यक्ष कहा जा रहा है जो कि विषय है। ज्ञान कैसे प्रत्यक्ष कहलाता है और क्यों कहलाता है यह बात तो स्पष्ट हो चुकी है किन्तु इसका स्पष्ट होना अभी बाकी है कि विषयगत प्रत्यक्षता का प्रयोजन क्या है? विषय कसे प्रत्यक्ष कहलाता है? तो इसके सम्बंध में वेदान्तियों का कहना यह है कि विषय का प्रमाता से अभिन्न हो जाना है विषय में प्रत्यक्षता का प्रयोजक। यहाँ अभिन्न हो जाने का अर्थ है-विषय का प्रमाता की सत्ता से

अतिरिक्त-सत्ताक न होना। यह यों तो सरसरी नजर से दुर्घट-सी प्रतीत होती है। क्योंकि कहाँ विषय घट-पट आदि ब्राह्य वस्तुएं और कहाँ अन्त: करणावच्छिन्न चैतन्यस्वरूप प्रमाता? इन दोनों की सत्ता अर्थात् इन दोनों का अस्तित्व भला कैसे एक हो? परन्तु विषय और प्रमाता इन दोनों का सत्तैक्य अर्थात् सत्ता की एकता इस प्रकार सम्पादित होती है कि प्रत्येक व्यावहारिक वस्तु स्वावच्छिन्न चैतन्य में अध्यस्त हुआ करती है। इसका अभिप्राय यह है कि जिसे पूर्ववर्त्ती लोग घड़ा कहते आते रहते हैं उसे ही परवर्ती लोग भी घड़ा कहते हैं इसीलिए घड़ा व्यावहारिक भी होता है। ऐसा न होने पर सीप में प्रतीयमान रजत की तरह घट आदि व्यावहारिक भी व्यावहारिक न होकर प्रातिभासिक हो जाते।

सीप में प्रतीयमान रजत इसीलिए तो प्रातिभासिक होता है कि वह उक्त प्रतीतिकारी व्यक्ति के द्वारा रजतावच्छिन्न चैतन्य में अध्यस्त न होकर शक्तिका से अवच्छिन्न चैतन्य में अध्यस्त होता है। सारांश यह कि जिस सीप को पूर्ववर्त्ती लोग रजत नहीं समझते आ रहे थे उसे उसने रजत समझा। इसी प्रकार यदि वह प्रतीतिकारी व्यक्ति घड़ा को घड़ा न समझ कर और किसी को घड़ा समझ बैठता तो वह प्रतीत घड़ा प्रातिभासिक ही होता, व्यावहारिक नहीं। अत: यह मानना ही होगा कि घड़ा इसलिए व्यावहारिक है कि वह ज्ञाता व्यक्ति उसे घड़ा समझता है कि पूर्ववर्त्ती लोगों से घट रूप में प्रतीत होता आ रहा है। वेदान्तसिद्धान्त में किसी का भी अध्यास वस्तुत: होता है चैतन्य में ही। क्योंकि उनकी दृष्टि में अनध्यस्त को ही किसी भी अध्यास का अधिष्ठान होना चाहिए। इसलिए सीप में होने वाले रजतविभ्रम स्थल में भी शुक्ति का रजत का अध्यास नहीं होता है किन्तु शुक्तिका से अवच्छिन्न चैतन्य में। इसका सरल अभिप्राय यह होता है कि जिस चैतन्याँश में सीप का अध्यास होता आ रहा था उसी चैतन्य में सीप का अध्यास न करके इस ज्ञाता व्यक्ति ने रजत का अध्यास कर डाला। व्यावहारिक वस्तु की प्रतीतिस्थल में ऐसी परिस्थिति नहीं होती। वहाँ पूर्ववर्यी लोगों द्वारा जिस चैतन्यांश में घट का अध्यास किया जाता आ रहा था, उसी चैतन्यांश में परवर्ती व्यक्ति द्वारा भी घट का ही अध्यास किया गया। अत: घड़ा व्यावहारिक होता है, प्रतिभासिक नहीं। इस विवेचन से यह बात भली-भाँति स्पष्ट हो गयी होगी कि प्रत्येक व्यावहारिक विषय स्वावच्छिन्न चैतन्य में ही अध्यस्त हुआ करते हैं। इसके साथ यह भी वेदान्त का सिद्धान्त याद रखना चाहिए कि आरोपित वस्तु की सत्ता अधिष्ठान की ही सत्ता हुआ करती है। अधिष्ठान की सत्ता से अतिरिक्त आरोपित की सत्ता होती नहीं। अधिष्ठान वह कहलाता है जिसमें किसी वस्तु का आरोप अर्थात् अध्यास किया जाता है। जैसे प्रकृत में जबकि उक्त विवेचन के अनुसार घट, घटावच्छिन्न चैतन्य में ही अध्यस्त होता है तो यह मानना ही होगा कि अधिष्ठानभूत चैतन्य की सत्ता से अतिरिक्त घट की कोई सत्ता होती नहीं। और प्रमाता है

(७७) निखिलजगदुपादानत्वं ब्रह्मणों लक्षणम्। उपादानत्वं च जगदध्यासा-धिष्ठानत्वम्, जगदाकारेण परिणाममानमायाधिष्ठानत्वं वा। *-वेदान्त-परिभाषा, विषयपरिच्छेद।*

अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य। अन्तःकरण की वृत्ति इन्द्रिय-द्वारा घट आदि विषय तक जाती है और भेदक उपाधियों की एकदेशस्थता के कारण दोनों उपधेय चैतन्य एक हो जाते हैं। यह भी बात ऊपर ज्ञानगत प्रत्यक्षता के विवेचन के अवसर पर कहीं जा चुकी है। अन्तःकरण की वृत्ति यदि विषय के स्थान तक जायेगी तो अपनी वृत्ति के सहारे अन्तःकरण भी जायेगा ही। अतः अन्तःकरण और घटात्मक विषय इन दोनों चैतन्य-भेदक उपाधियों की एकदेशस्थता के कारण घटवच्छिन्न चैतन्य और अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य इन दोनों चैतन्यों का एक हो जाना स्वाभाविक होगा। अब जब दोनों चैतन्य एक हो गये तो स्वावच्छिन्न चैतन्य में अध्यस्त होने वाला घट फलतः अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य में ही अध्यस्त हो उठता है। आरोप्य की सत्ता अधिष्ठान की सत्ता से अतिरिक्त होती नहीं इस पूर्व कथन के अनुसार उस घड़े की सत्ता अन्तःकरणावच्छिन्न-चैतन्यस्वरूप-प्रमाता की सत्ता से अतिरिक्त होगी नहीं। इसलिए प्रमाता की सत्ता से अतिरिक्त सत्तायुक्त न होना, एतदात्मक प्रमाता का अभेद, दृश्य घट आदि में बन जाता है। अतः दृश्यभूत विषय भी प्रत्यक्ष कहलाता है। जहाँ दृश्य प्रतिभासिक होता है वहाँ देखते समय यह परिस्थिति होती नहीं। कहने का तात्पर्य यह है कि वेदान्त-सिद्धान्त के सत् तीन प्रकार के मान्य हैं। एक तो वह जिसे परमार्थ सत् माना एवं कहा जाता है। ब्रह्म कहिए या आत्मा कहिए वह माना जाता है परमार्थ सत्। क्योंकि वही माना जाता है वेदान्त-सिद्धान्त में कालत्रय में भी बाधित न होने वाला। 'सारे अध्यासों का अधिष्ठान, अथवा यह कहा जाय कि जगत् रूप से परिणत होने वाली माया के अध्यास का अधिष्ठान। और जगत् की सारी व्यावहारिक वस्तुयें हैं व्यवहार-सत्। क्योंकि इन्हीं की व्यावहारिक सत्ता के आधार पर सारा जागतिक व्यवहार चलाता है और भेदमूलक सारी सांसारिक समस्यायें समाहित होती हैं। प्रातिभासिक या प्रतिभास-सत् वह कहलाता है जो कि प्रतीत तो होता है किन्तु उसे जीवन के अनुकूल उपयोगात्मक व्यवहार में लाया नहीं जा सकता। जैसे सीप में प्रतीत होने वाला रजत होता है प्रातिभासिक। क्योंकि प्रतीत होकर वह रजतार्थी व्यक्ति को अपनी ओर आकृष्ट तो करता है किन्तु अपने में व्यावहारिकता के अभाव के कारण उस रजतार्थी की प्रवृत्ति को, उसके मनोरथ की, उसकी आवश्यकता को पूर्ण नहीं कर सकता। इस त्रिविध सत् या सत्यत्रितय के अंदर परमार्थ सत् ब्रह्म केवल तत्त्वज्ञान का विषय होता है। अतः उसके सम्बंध में होने वाला अन्तःकरण वृत्यात्मक ज्ञान भी प्रत्यक्ष कहलाता है जो कि अन्तःकरण की शुद्धि के अनन्तर श्रुत-महावाक्यों से होता है। महावाक्यात्मक शब्द से जायमान होने पर भी वेदान्त सिद्धान्त में वह प्रत्यक्ष इसलिए माना जाता है कि वे लोग विषय के सन्निकर्ष स्थल में शब्द से होने वाले ज्ञान को भी प्रत्यक्ष मानते हैं उनका कहना है कि यदि श्याम के आगे फूल विद्यमान हो और कोई उसे यह कहकर ध्यान दिलावे कि 'यह फूल है' तो उस परिस्थिति में श्याम को उक्त वाक्य से प्रत्यक्षात्मक ही बोध होता है। इसका कारण यह है कि उक्त प्रत्यक्ष की प्रक्रिया वहाँ भी लागू होती है। ज्ञानियों को महावाक्य के श्रवण से होने वाले साक्षात्कार में उक्त प्रक्रियापूर्ण रूप से तो लागू नहीं हो

पाती। क्योंकि ब्रह्मकार अन्तःकरण में वहाँ चित् का प्रतिबिम्ब हो नहीं पाता। क्योंकि ब्रह्मात्मक चित् से अन्य कोई चित् तो मान्य नहीं कि उस चिदाकार अन्तःकरण की वृत्ति में चित् का प्रतिबिम्ब हो सके, जैसा कि घट आदि का व्यावहारिक वस्तुओं को देखते समय होता है। जिसका वर्णन किया जा चुका है। फलतः तत्त्वज्ञानात्मक ब्रह्म-प्रत्यक्षस्थल में भी प्रत्यक्ष की पूरी उक्त प्रक्रिया लागू नहीं होती और प्रातिभासिक वस्तु स्थल में भी यह प्रक्रिया लागू नहीं होती। क्योंकि वहाँ द्रष्टा के आगे वह व्यावहारिक विषय विद्यमान नहीं रहता कि आँख उससे जा जुटे और अन्तःकरण उसके सहारे वहाँ जाकर विषय का आकार-ग्रहण कर पाये। सुतरां उक्त पूरी प्रक्रिया पूर्ण रूप से व्यावहारिक वस्तुओं को देखते समय ही लागू हो सकती है। इसीलिए वेदान्ती लोग अन्तःकरण और उसके धर्म, ज्ञान आदि की तरह सारी प्रातिभासिक वस्तुओं का प्रकाशन भी साक्षी के द्वारा ही मानते हैं। साक्षी और उसके द्वारा होने वाली प्रक्रिया का दिग्दर्शन पहले कराया जा चुका है। फिर भी विषय की व्यावहारिकता और प्रतिभासिकतामूलक अंतर के कारण उक्त प्रकाशन के वृत्तिनिर्गम अंश में थोड़ा-सा अंतर अवश्य हो जाता है। वह यह कि वृत्ति का वहिर्निर्गम होता नहीं किन्तु बाह्य प्रतिभासिक रजत आदि के साक्षि-द्वारक प्रकाशन स्थल में बाहर पहले से रजत न होने के कारण विषयाकार ग्रहण के लिए वृत्तिनिर्गम की अपेक्षा न होने पर भी उस प्रातिभासिक रजत और उसके प्रत्यक्षात्मक ज्ञान इस दो समसामयिक वस्तु के लिए अन्तःकरण की परिणामात्मक वृत्ति की आवश्यकता मान्य होती है। इस प्रकार प्रत्यक्ष की प्रक्रिया में विषय की विभिन्न स्वभावता के कारण थोड़ा अंतर होने पर भी प्रत्येक प्रत्यक्ष-स्थल में उक्त प्रक्रिया के अनुसार विषय की सत्ता प्रमाता अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य की सत्ता से अतिरिक्त रहती नहीं अतः विषय प्रत्यक्ष कहला सकते हैं।

विषय प्रत्यक्ष के इस विहित विवेचन के अनन्तर प्रश्न यह उठता है कि 'किसी फल के रूपदर्शन के समय नियमतः उसका परिणाम भी रूप की तरह प्रत्यक्ष क्यों नहीं हो जाता है? क्योंकि वहाँ का रूप और परिमाण दोनों ही एक ही फल में आश्रित होने के कारण चैतन्य के भेदक अन्तःकरणवृत्तिस्वरूप उपाधि के फल देशगमन होने पर भेदक उपाधियों की एकदेशस्थता होने पर उपधेय चैतन्य एक हो जाते हैं' इस पूर्व प्रदर्शित नियम के अनुसार रूपावच्छिन्न चैतन्य और अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य की एकता की तरह परिमाणवच्छिन्न चैतन्य और अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य की भी एकता अनिवार्य होगी। क्योंकि रूप और अन्तःकरण जैसे एकत्र अवस्थित होंगे तैसे परिमाण और अन्तःकरण भी तो एकत्र ही अवस्थित होंगे? अन्तःकरण भी रूप एवं परिमाण के स्थान में इसलिए जा बैठेगा कि अन्तःकरण की वृत्ति और अन्तःकरण ये दोनों भिन्न नहीं होते। अतः अन्तःकरण की वृत्ति के वहाँ जाने पर अन्तःकरण का भी वहाँ गमन मानना ही होगा।

---

(७८) तत्तदाकारवृत्त्युपहितत्वस्यापि प्रमातृविशेषणत्वात्।

-वेदान्त-परिभाषा, प्रत्यक्ष-परिच्छेद।

इस प्रश्न का उत्तर वेदान्ती लोग यह देते हैं कि विषयगत प्रत्यक्षता के लिए जैसे विषयचैतन्य और प्रमातृ-चैतन्य इन दोनों का आगन्तुक अभेद अपेक्षित है, वैसे [७८] अन्तःकरणवृत्ति की विषयाकाराकारिता अतः विषय के आकार का ग्रहण भी अपेक्षित है। प्रदत्त आपत्ति स्थल में जबकि अन्तःकरण की वृत्ति रूपाकार रहेगी, तब वह परिमाणाकार कभी नहीं हो सकती। अतः उक्त चैतन्याभेद रूप और परिमाण दोनों के लिए समान होने पर भी अपेक्षित परिमाणाकार अन्तःकरणवृत्ति के न होने के कारण उक्त आपत्ति वारित समझी जानी चाहिए। इसके अनन्तर भी जब वेदान्तियों के समक्ष यह प्रश्न उपस्थित किया जाता है कि जहाँ कोई किसी को यह कहता है कि 'तुम बड़े भाग्यवान् हो' तो वहाँ उस वाक्य के सुनने से श्रोता को स्वकीय भाग्याकार अन्तःकरण की वृत्ति भी होती है और धर्मात्मक भाग्य अन्तःकरण का ही धर्म होने के कारण दोनों ही नियमतः एकदेशस्थित होंगे अतः दोनों चैतन्यों में अभेद भी रहेगा ही। ऐसी परिस्थिति में 'मैं धार्मिक हूँ' ऐसा प्रत्यक्ष लोगों को होना चाहिए जो कि होता नहीं। तो इसके उत्तर में वेदान्तियों की ओर से यह कहा जाता है कि विषयगत प्रत्यक्षता के लिए विषयगत योग्यता अर्थात् प्रत्यक्ष होने की योग्यता भी अपेक्षित है। भाग्य में वह योग्यता होती नहीं। वह स्वभावतः अतीन्द्रीय होने के कारण प्रत्यक्ष-योग्य नहीं कहला सकता। किसी के स्वभाव के सम्बंध में यह प्रश्न नहीं उठाया जा सकता कि उसका स्वभाव ऐसा क्यों है? अतः भाग्य की स्वाभाविक अतीन्द्रियता पर अविश्वास नहीं प्रस्तुत किया जा सकता कल्पना नियमतः अनुभूयमान फल के अनुरूप ही हुआ करती है। तदनुसार भाग्य को प्रत्यक्ष का अविषय मानना ही होगा। कुछ लोग जब कि यह प्रश्न उपस्थित करते हैं कि अतीत सुख के स्मरणस्थल में सुख को प्रत्यक्षता की आपत्ति अब भी अनिवारित है। क्योंकि उस समय उस व्यक्ति को सुखाकार अन्तःकरण की वृत्ति भी इसलिए अवश्य रहेगी कि सुख का स्मरण रहेगा। सुख योग्य अर्थात् प्रत्यक्ष योग्य भी होता ही है। क्योंकि वर्त्तमान सुख का अनुभव होता ही है। सुख और अन्तःकरण को अलग किया नहीं जा सकता क्योंकि वेदान्त-सिद्धान्त में वह भी अन्तःकरण का ही धर्म माना जाता है। ऐसी परिस्थिति स्मृयमाण सुख प्रत्यक्ष क्यों नहीं कहलाने लगेगा? तो इसका उत्तर वेदान्ती-लोग यह देते हैं कि विषय को प्रत्यक्ष बनने के लिए योग्य के समान वर्तमान भी होना चाहिए। सुख के स्मरण स्थल में सुख अतीत होने के कारण वह वर्तमान होता नहीं।

प्रत्यक्ष को सविकल्पक और निर्विकल्पक इन दो भागों में विभक्त, वेदान्ती-लोग भी करते हैं। [७९] परन्तु नैयायिकों से इन्हें सैद्धान्तिक मतभेद इसके सम्बंध में यह है कि ये लोग वाक्यज-ज्ञान को भी निर्विकल्पक मानते हैं। क्योंकि विषयसन्निकृष्ट होने पर

---

(७९) तत्र सविकल्पकं वैशिष्ट्यावगाहि ज्ञानम्। यथा घटमहं जानामीति ज्ञानम निर्विकल्पकं तु संसर्गांनवगाहि ज्ञानम्। -वेदान्त-परिभाषा।

उक्त प्रत्यक्ष की प्रक्रिया के द्वारा सर्वथा आक्रान्त होने के कारण शब्दज बोध भी परोक्ष नहीं, प्रत्यक्ष ही होता है। इसके सम्बंध में लौकिक उदाहरण यह उपस्थित किया जाता है कि जहाँ दस व्यक्ति कहीं जाते हों तो उनके अंदर कोई एक गणक व्यक्ति अपने को भूलते हुए यदि यह निर्णय करे कि हमलोग दस के बदले अब नौ ही रह गये हैं एक अवश्य ही कहीं सदा के लिए हम लोगों से बिछुड़ गया, और इसके परिणाम में वह अन्यन्त दु:खी हो जाय, और कोई उसे यह याद दिलाये कि 'तुम ही तो दशम हो' तो उस दु:खी व्यक्ति को दशम का अर्थात् दशम रूप में अपना साक्षात्कार ही होता है। क्योंकि परोक्ष ज्ञानस्थल में उस प्रकार से पुनर्जिज्ञासा की शान्ति होती नहीं, जिस प्रकार से प्रत्यक्ष स्थल में। उक्त परिस्थिति में उस अपने को भूलने वाले दशम व्यक्ति को स्वरूप दशम व्यक्ति की अपेक्षा या दशम की जिज्ञासा बिलकुल रह नहीं जाती अत: यह मानना आवश्यक है कि उसे अपने रूप में दशक का प्रत्यक्ष ही, 'तुम ही तो दशभ हो' इस श्रुत वाक्य से होता है। नैयायिक लोग ऐसा कभी नहीं मान सकते। वे वाक्य से परोक्षात्मक शाब्दबोध ही मानते हैं। कुछ नैयायिंक पद से कदाचित् निर्विकल्पक अर्थस्मरण भले ही मान लें परन्तु वाक्य से होने वाले बोध को सभी नैयायिक प्रत्यक्ष से भिन्न ही मानते हैं। परोक्ष ही मानते हैं।[८०]

'तत्त्वमसि' (तुम वही हो) इस महावाक्य के श्रवण से उस श्रोता को जिसका अन्त:करण पहले ही शुद्ध हो गया रहता है, उस व्यक्ति को निर्विकल्पक प्रत्यक्षात्मक बोध कैसे होता है? इस प्रश्न के उत्तर में वेदान्तियों के घर में मतैक्य नहीं पाया जाता है। एक दल का कहना यह है कि तत् अर्थात् 'वह' पद के वाच्य अर्थ और 'त्वम्' अर्थात् 'तुम' के वाच्य अर्थ होते हैं क्रमश: ईश्वर और जीव। ईश्वर होता है माया का अधीश होने के कारण सर्वज्ञ और जीव होता है अत:करण के द्वारा परिच्छिन्न होने के कारण असर्वज्ञ। ऐसी परिस्थिति में इन दो वाच्य अर्थों का अभेद इसलिए सम्भव नहीं कि इन दोनों के अंदर एक में विद्यमान सर्वज्ञता से दूसरे में विद्यमान अल्पज्ञता आपस में सर्वथा विरुद्ध है। विरुद्धस्वभावयुक्त दो वस्तुएँ कभी एक नहीं हो सकतीं। अत: उक्त महावाक्य से जीव और ब्रह्म की एकता समझने के लिए उक्त दोनों पदों के लक्ष्य अर्थ-अर्थ को ही लेना होगा, वाच्य अर्थों को नहीं। लक्ष्य अर्थ की प्राप्ति नियमत: लक्षणा के सहारे ही सम्भव है। इसलिए 'भागत्याग' लक्षणा का आश्रयण कर के दोनों ओर के विरुद्ध अंगभूत सर्वज्ञता और अल्पज्ञता इन दोनों को छोड़ कर अविरुद्ध चैतन्यों को ही दोनों ओर से लेकर 'अभिन्न चैतन्य' को समझा जाता है।

---

(८०) प्राचीनैराकाशपदादाकाशा से तदुपस्थाप्य धर्मा-प्रकारक शाब्दबुद्धे रेवोपगमात्। तदुक्तम् 'अस्तु वा पदादपिनिर्विकल्पकम्' इति। *-शक्तिवाद, आकाश पदविचार।*

(८१) वयं तु ब्रूम:-सोऽयं देवदत्त:, तत्त्वमसीत्यादौ विशिष्टवाचकानां पदानामेकदेशपरत्वेऽपि न लक्षणा। *-वेदान्त-परिभाषा, आगम-परिच्छेद।*

परन्तु दूसरा दल इस बात के लिए राजी नहीं पाया जाता है[८१]। उसका कहना है कि उक्त महावाक्य से अभिन्न चैतन्य को समझने के लिए लक्षणा की आवश्यकता ही नहीं है। क्योंकि वाच्य अर्थ को लेने पर भी अभिन्नता एवं उसकी प्रतीति सम्भव है। इस कथन का तात्पर्य यह है कि जहाँ कोई भी विशिष्ट अर्थात् दो का एक मिलित-रूप एक किसी पद का वाच्य अर्थ होगा वहाँ दोनों अंशों में वाच्यता मान्य होगी ही। क्योंकि ऐसा न मानने पर मिलित में वाच्यता कैसे आ पायेगी? इसलिए 'तत्' पद का वाच्य जबकि 'सर्वज्ञ-चैतन्य' यह है; तो केवल चैतन्य भी वाच्य है ही। इसी प्रकार 'त्वम्' शब्द का वाच्य भी केवल चैतन्य को लेकर दोनों चैतन्यों की अभेद की प्रतीति सरल पद्धति से हो सकती है फिर क्यों 'भागत्याग लक्षणा' का भार सर पर लिया जाय?

यहाँ एक आपसी मतभेद यह भी वेदान्तियों के बीच प्राप्त है कि महावाक्य के श्रवण के अनन्तर ही अभिन्न चैतन्य का निर्विकल्पक साक्षात्कार हो जाता है? या उसके अनन्तर मनन और निदिध्यासन करके? इस प्रश्न का उत्तर दो दल प्रकारों से देते हुए पाये जाते हैं। एक दल का कथन यह है कि मनन और निदिध्यासन अन्तःकरण की शुद्धि के लिए अपेक्षित होने के कारण महावाक्य श्रवण से होने वाले अभिन्न ब्रह्म साक्षात्कार के हो जाने पर मनन और निदिध्यासन कैसे स्थान पा सकता है? किन्तु द्वितीय दल ठीक इसके विपरीत यह कहता है कि क्रमिक श्रवण, मनन और निदिध्यासन से सुसंस्कृत मन से अभिन्न चैतन्य का साक्षात्कार होता है, महाकाव्य से नहीं। इस पर जब यह प्रश्न उठाया जाता है कि उपनिषदों में तो यह कहा गया है कि ब्रह्म मन से जाना नहीं जा सकता, फिर यह कथन कैसे संगत हो सकता कि मन से उस चैतन्यात्मक ब्रह्म का साक्षात्कार किया जाता है? तो इसके उत्तर में वेदान्तियों का यह दल यह कहता है कि उस वेद का अभिप्राय यह है कि अशुद्ध मन से वह देखा जा सकता।[८२] मनन और निदिध्यासन से शुद्ध मन से वह देखा जा सकता है। ऐसा न मानने पर उपनिषद में अन्यत्र जो यह कहा गया पाया जाता है कि 'ब्रह्म को मन से ही' देखा जा सकता है यह कथन असंगत हो जायेगा। दोनों तरह के वाक्य जबकि उपनिषद् के ही हैं तो दोनों की मान्यता समान रूप से होनी चाहिए। इसलिए ब्रह्म को शुद्ध मन से गम्य एवं अशुद्ध मन से अगम्य मान लेने पर ही दोनों औपनिषद् वाक्य संगत हो सकते हैं।

जो दल ब्रह्म का मानस साक्षात्कार न मान कर शब्दज साक्षात्कार मानता है, जिसका उल्लेख यहाँ ही पहले किया गया है वह इस औपनिषद दो वाक्यों के बीच

---

(८२) मनोऽगम्यत्व-श्रुतिश्चासंस्कृतमनोविषया ।............शास्त्रदृष्टिसूत्रमपि ब्रह्मविषयमानसप्रत्यक्षस्य शास्त्रप्रयोज्यत्वादुपपद्यते। तदुक्तम्- अपिसंराधने सूत्राच्छास्त्रार्थध्यानजा प्रमा। शास्त्रदृष्टिमता तां तु वेत्ति वाचस्पतिः परम् ॥ इति॥

-वेदान्त-परिभाषा, प्रयोजन-परिच्छेद।

आपाततः प्रतीत होने वाले पारस्परिक विरोध को हटाकर समन्वय, वृत्तिव्याप्यता और फल व्याप्यता के आधार पर करता है। जिसकी चर्चा पहले भी की गयी है। यहाँ फिर उसे स्पष्ट रूप से इस प्रकार समझना चाहिए कि शुद्ध अन्तःकरण वाले व्यक्ति को जब उपयुक्त गुरु के द्वारा 'तत्त्वमसि' यह महावाक्य प्राप्त होता है तो उसे उस वाक्य से होने वाला साक्षात्कार घट, पट आदि व्यावहारिक वस्तुओं का साक्षात्कार-सा होता नहीं क्योंकि व्यावहारिक वस्तुओं के प्रत्यक्ष स्थलों में व्यावहारिक वस्तुओं में फलव्याप्यता और उसके लिए अपेक्षित होने वाली वृत्तिव्याप्यता ये दोनों ही व्याप्यताएँ उपस्थित होती हैं किन्तु ब्रह्म के वाक्यज बोधस्थल में वृत्तिव्याप्यता तो जाती है ब्रह्म में। किन्तु फलव्याप्यता जा पाती नहीं। वृत्तिव्याप्यता का अर्थ है अत: करणवृत्ति का विषय होना और फलव्याप्यता का अर्थ है वृत्ति में प्रतिबिम्बित चित् का विषय होना। ग्राह्य चित् से अन्य चित् असम्भव होने के कारण ब्रह्माकार अर्थात् चिदाकार अन्तःकरण की वृत्तियों में चित् का प्रतिबिम्ब हो नहीं पाता अतः वृत्ति में प्रतिबिम्बित चित् की विषयतात्मक फलव्यायिता चित्स्वरूप ब्रह्म में जा नहीं पाती। किन्तु अन्तःकरण की ब्रह्माकार वृत्ति होने के कारण वृत्तिविषयतास्वरूप वृत्तिव्याप्यता ब्रह्म में समन्वित हो पाती है। इस वस्तुस्थिति के अनुसार उपनिषद् में कहीं तो यह कहा गया है कि ब्रह्म भी प्रतिपाद्य विषय होता है अर्थात् वह मन का विषय होता है, ग्राह्य होता है, और कहीं इस प्रकार कहा गया है कि ब्रह्म मन का अगम्य है, उसे नहीं समझा जा सकता। सारांश यह कि वृत्तिव्याप्यता के दृष्टिकोण से ब्रह्म को मन का विषय माना गया है और फलव्याप्यता के दृष्टिकोण से उसे मन का अविषय। इस प्रकार किये गये विवेचन के द्वारा प्रदर्शित औपनिषद वाक्यों में समन्वय समझना चाहिए।

प्रत्यक्ष के लिए अपेक्षित सन्निकर्ष के सम्बंध में वेदान्तियों का अभिमत यह ज्ञातव्य है कि उनके मत में भी यह मीमाँसक मत की तरह अनुपलब्धि को अभाव के ग्राहक रूप में एक स्वतंत्र प्रमाण माना गया है, इसलिए अभाव का प्रत्यक्ष मान्य नहीं होता। इसका फल यह होता है कि वेदान्तमत में न्यायमत की तरह 'विशेषण विशेष्यभाव-सन्निकर्ष' प्रत्यक्ष के लिए अपेक्षित होता नहीं। सुतराँ भाव ग्राहक, पाँच ही सन्निकर्ष मान्य होते हैं। स्वीकर्त्तव्य पाँच सन्निकर्षों के सम्बंध में भी नैयायिकों से विशेषता यह होती है कि समवाय अमान्य होने के कारण स्वीकर्तव्य पंचविध सन्निकर्षों के अंदर समवाण का स्थान 'तादात्म्य' ले लेता है। फलितार्थ यह होता है कि संयोग, संयुक्त तादात्म्य और संयुक्त-तदात्म-तादात्म्य, तादात्म्य और तादात्म्यतादात्म्य ये पाँच प्रकार सन्निकर्ष प्रत्यक्ष के उपयोगी होते हैं। उदाहरण क्रमशः नैयायिक मत के समान समझना चाहिए। सन्निकर्ष की यह पंचविधता यहाँ अन्य लेखकों के मतानुसार लिखी गयी है। मैंने वेदान्त-परिभाषा की अपनी संस्कृत-व्याख्या 'भगवती' के अन्दर यह स्थिर किया है कि वेदान्तियों के मत में सन्निकर्ष की संख्या पाँच भी न होकर तीन ही होनी चाहिए। सामान्यलक्षणा और ज्ञानलक्षणा इन दोनों अलौकिक सन्निकर्षों की मान्यता वेदान्त सिद्धान्त

में बिलकुल नहीं है। इसका कारण यह कि बौद्ध-सिद्धान्त की तरह वेदान्त-सिद्धान्त में भी 'सामान्य' पदार्थ की मान्यता है नहीं। ज्ञानलक्षणा सन्निकर्ष से वेदान्तियों को गाढ़ी दुश्मनी इसलिए है कि नैयायिक एवं वैशेषिक वेदान्तियों के सर्वस्व 'अनिर्वचनीय-ख्याति' पर विजय इसी से पाते हैं। ज्ञानलक्षणा सन्निकर्ष के बल पर ही अन्यथा-ख्याति स्थापित पाती है। इसका विशदीकरण ख्यातियों के विवेचन के अवसर पर आगे हो पायेगा। तृतीय अलौकिक सन्निकर्ष योगज को भी वह महत्ता वेदान्ती लोग देते नहीं जो उसे नैयायियों के घर में प्राप्त है। इसका कारण यह है कि योग में मान्य प्राकाम्य को यदि मान लिया जाय तो योगी अपनी इच्छा के अनुसार उस अमेय कहलाने वाले ब्रह्म को घट, पट आदि की तरह आँख से भी देख सकेगा। सारी वृत्तिव्याप्यता और फलव्याप्यता आदि के वेदान्तसम्मत-निर्णय अस्त-व्यस्त हो उठेंगे। इस प्रकार विचार कर देखने पर वेदान्ती लोग सारे अलौकिक सन्निकर्षों की मान्यता से अपने को बिलकुल अलग रखते हैं। यह वेदान्तसम्मत प्रत्यक्ष-प्रक्रिया किस प्रकार आलोच्य है, यह आगे बतलाया जायेगा।

सांख्य की प्रत्यक्ष प्रक्रिया चार्वाक के लिए अमान्य--

सांख्य और योग की प्रत्यक्ष-प्रक्रिया उक्त प्रक्रियाओं से और तरह की हैं। द्रष्टव्य विषय और इन्द्रिय इन दोनों के सन्निकर्षों की अपेक्षा प्रत्यक्ष के लिए यहाँ भी उसी प्रकार मान्य है, जैसे प्रदर्शित-मतसिद्ध प्रत्यक्ष के लिए। यहाँ प्रत्यक्ष का निर्वचन इस प्रकार किया गया है कि द्रष्टव्य विषय के संपृक्त इन्द्रिय के अधीन होने वाला ज्ञान है प्रत्यक्ष। जहाँ तक प्रत्यक्ष के लिए अपेक्षित इन्द्रिय के साथ होने वाले सन्निकर्षों की बात है 'सांख्य सिद्धान्त में भी वेदान्त मत वर्णन के समय वर्णित सन्निकर्षों की ही यहाँ भी मान्यता है। और लक्षण के स्वरूप को देखते हुए ऐसा मालूम पड़ता है कि सांख्य की भी प्रत्यक्ष-प्रक्रिया न्यायमत की जैसी होगी। परन्तु ऐसा है नहीं। क्योंकि जो प्रत्यक्ष की प्रक्रियाएँ यहाँ बतलायी जा चुकी हैं सारी प्रक्रियाएँ विचारपूर्वक देखने पर द्रष्टा की ओर से विषयाभिमुख होने वाली मालूम पड़ती हैं। परन्तु सांख्य की प्रक्रिया को देखेंगे तो ऐसा नहीं देखने को मिलेगा। सांख्य की प्रत्यक्ष-प्रक्रिया विषय की ओर से द्रष्टा के अभिमुख होती हुई दिखाई देती है। प्रक्रिया का स्वरूप यह है कि आँख जब विषय से जब जुटती हैं अर्थात् आँख की रश्मि द्रष्टव्य विषय के साथ जुटती है तब आँख को निर्विकल्पक भाव से उस विषय का ज्ञान होता है। उसके अनन्तर आँखगत निर्विकल्पक के विषय होने वाले उस दृश्य वस्तु को मन अपने संकल्प-विकल्पात्मक व्यापार से व्याप्त करता है। तदनन्तर उसे ही अहंकार अपने अभिमानात्मक व्यापार से व्याप्त कर बैठता है और इसके भी पश्चात बुद्धि अपने निश्चयात्मक व्यापार से उसे व्याप्त करती है। यह निश्चयात्मक बौद्ध व्यापार ही तत्त्वत: कहलाता है उस विषय का प्रत्यक्ष। सांख्यशास्त्री विद्वान ने इस प्रात्यक्षिक प्रक्रिया को समझाने के लिए एक अच्छा प्राचीन कालिक एकतंत्र शासन के अंदर प्रचलित कर ग्रहण

की पद्धति का दृष्टान्त उपस्थित किया है।[८३] वे कहते हैं कि गाँव का मुखिया जैसे कुटुम्बी गृहस्थों से कर अर्थात् शुल्क लेकर इकट्ठा करके परगने के अध्यक्ष के पास उन एकत्र किये गये धनात्मक शुल्कों को दे देता है और अनन्तर वह परगनाध्यक्ष उसे लेकर अपने जिले के अध्यक्ष के पास दे देता है। इसके बाद वह जिलाध्यक्ष उस क्रमागत धन-राशि को लेकर केन्द्राध्यक्ष के पास खजाने में दे देता है और केन्द्राध्यक्ष उस धनराशि का उचित उपयोग राजकीय कार्यों में करता है उसी प्रकार आँख आदि बाह्य इन्द्रियाँ स्वयं ग्रहण करके उस विषय को मन की ओर बढ़ा देती हैं। अनन्तर इसी प्रकार अहंकार के पास होकर वह विषय बुद्धि के पास पहुंच जाता है। बुद्धि उसका निश्चय करती है। जबकि सांख्यसिद्धान्तियों के निकट और ओर से यह प्रश्न उपस्थित किया जाता है कि इन्द्रियों से लेकर बुद्धि तक सभी तो जड़ ही हैं। ऐसी परिस्थिति में विषय का प्रकाशन कैसे सम्भव कहा जाता है? तब उक्त सिद्धान्तियों की ओर से उत्तर यह मिलता है कि बुद्धि और पुरुष इन दोनों में परस्पर छायापत्ति अर्थात् बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव होता है। इसलिए बुद्धि भी प्रकाशशील हो जाती है। इसलिए उसके निश्चयात्मक व्यापार से विषय का प्रकाशन सम्भव होता है।

कुछ आधुनिकों का कहना है कि आँख से होने वाले प्रत्यक्ष स्थल में आँख की रश्मि द्रष्टव्य विषय से जाकर नहीं जुटती है अर्थात् आँख की वृत्ति विषयाभिमुख नहीं होती है। विषय का ही प्रभाव आँख पर पड़ता है। परन्तु सांख्य का सिद्धान्त ऐसा नहीं है। क्योंकि 'प्रत्यक्ष' शब्द की व्याख्या सांख्य मत में इस प्रकार की गयी पायी जाती है कि 'प्रतिगत अक्ष अर्थात् इन्द्रिय है प्रत्यक्ष' यहाँ 'प्रतिगत' का अर्थ अवश्य ही अपने प्रत्येक विषय के साथ संगत अर्थात् सम्बद्ध यह है। इस व्याख्या से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि आँख अर्थात् उसकी रश्मि विषय तक जाती है। जगह-जगह पर प्रत्यक्ष का 'अर्थ सन्निकृष्ट इन्द्रिय' इस प्रकार किया गया पाया जाता में। अर्थसन्निक्रिष्ट' इस शब्द का सहजतः यही अर्थ प्रतीत होता है कि 'अर्थ के साथ अर्थात् द्रष्टव्य विषय के साथ सम्बंध स्थापित करने वाला।'[८४] गतिशील वही प्रतीत हुआ करता है जो कि किसी के साथ सम्बंध स्थापन करता है। इससे भी यहीं मान्य प्रतीत होता है कि आँख ही रश्मि द्वारा

(८३) यथाहि ग्रामाध्यक्षः कौटम्बिकेभ्यः करमादाय विषयाध्यक्षाय प्रयच्छति। विषयाध्यक्षश्च सर्वाध्यक्षाय स च भूपपतये। तथा ब्राह्य इन्द्रियाण्यालोच्य मनसेसमर्पयन्त्रि। मनश्च संकल्प्याहंकाराय, अहंकारश्चाभिमत्य बुद्धों सर्वांध्यक्ष भूतायम्।

-सॉडख्यतत्त्व-कौमुदी, का. ३६।

(८४) विषयं विषयं प्रति वर्त्तते इति प्रतिविषयं इन्द्रियन्। वृतिश्च सन्निकर्यः। अर्थसन्निकृष्टमिन्द्रियमित्यर्थः। *-सांख्यतत्त्व कौमुदी, का. ५।*

प्राप्तार्थ प्रकाशर्लिगाद् वृत्तिसिद्धिः ।१०६।

भागगुणाभ्यां तत्त्वान्तरं वृत्तिः सम्बन्धार्थ सपंतीति ।१०७।

-साडख्यप्रवचनसूत्र अध्याय, ५।

विषय-प्रदेश तक जाकर उस विषय को निर्विकल्पकात्मक अपने व्यापार से आबद्ध करती है। सम्भव है कि कुछ लोगों को यह सुनकर आश्चर्य हो कि प्रकृति की जड़ता के कारण जब कि सारे प्राकृत पदार्थ जड़ ही हैं तो उसी के अंदर आने वाली बुद्धि को कैसे निश्चय-ज्ञान का आश्रय अथवा निश्चय-ज्ञानात्मक समझा जाय? तो इसका उत्तर यह देकर आत्मधर्म न होकर जड़धर्म ही माने जाते हैं। आत्मा सांख्यसिद्धान्त में स्वयं चैतन्य स्वरूप है-चेतना का आश्रय नहीं कि चेतनात्मक ज्ञान का आश्रय आत्मा को माना जाना आवश्यक कहा जा सके। निश्चात्मक प्रत्यक्ष के आश्रय या तदात्मक बुद्धि को सांख्य शास्त्री लीग[८५] अंशत्रय युक्त मानते हैं। इसका कारण है यह कि 'चेतन मैं कर रही हूँ' यही है बुद्धि का स्वरूप। अत: 'चेतन' यह पहला 'मैं' यह दूसरा, और 'करना' यह तीसरा भाग उसका होता है। सांख्यसिद्धान्त के अनुसार बुद्धि के इन तीनों अंशों के अंदर चैतन्य अंश वस्तुत: बुद्धि का होता है नहीं, आत्मा की छायापत्ति के कारण ही उक्त प्रकार बुद्धि के अंश रूप में चैतन्य प्रतीत होता है। और जहाँ तक कुछ करने की बात है वह बुद्धि के लिए निजी है। क्योंकि यह निश्चय-व्यापारक बुद्धि उस मूल प्रकृति की प्रथम पुत्री हैं, प्रथम परिणाम है। निर्विकल्पक और सविकल्पक रूप से प्रत्यक्ष का विभाजन सांख्यसिद्धान्त में भी मान्य है। सामान्यलक्षण सन्निकर्ष और ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष इस सिद्धान्त में मान्य नहीं है। क्योंकि यहाँ भी प्रभाकर सम्प्रदाय की तरह भ्रमस्थल में अख्याति की मान्यता से यह स्पष्ट-सा प्रतीत होता है कि यहाँ भी कोई एक चित्रात्मक ज्ञान मान्य नहीं है जैसा कि न्यायमत में 'यह फूल सुगन्धित है' इत्यादि ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष से होने वाला एक ज्ञान मान्य होता है। और प्रत्येक वस्तु इस सिद्धान्त में प्रतिक्षण परिणामी मान्य होने के कारण बौद्ध-सिद्धान्त की तरह यहाँ भी सामान्य को मान्यता देना कठिन है। सामान्य की मान्यता यहाँ इसलिए भी नहीं कही जा सकती कि ये लोग प्रकृति, पुरुष, महत्तत्व, अहंकार आदि स्वीकरणीय पचीस तत्त्वों से अतिरिक्त कोई तत्त्व मानते नहीं। इन तत्त्वों की संख्यागत आग्रह के कारण ही तो यह दर्शन सांख्य कहलाता है? ऐसी परिस्थिति में सामान्य नामक अलग कोई पदार्थ यहाँ मान्य नहीं हो सकता। अत: सामान्यलक्षण सन्निकर्ष भी यहाँ बन नहीं सकता। यद्यपि यह बात सही है कि नैयायिक और वैशेषिक लोग भी सर्वत्र सामान्यलक्षणा स्थल में 'सामान्य' पद से जात्यात्मक अतिरिक्त पदार्थ का ही ग्रहण नहीं करते द्रव्य, गुण आदि स्वरूप भी सामान्य 'सामान्यलक्षण' शब्द के अंदर आनेवाले 'सामान्य' शब्द से गृहीत होते हैं। क्योंकि 'समानगत भाव अर्थात् धर्म है सामान्य' इस यौगिक व्याख्या के अनुसार द्रव्य, गुण आदि भी सामान्य हो पाते है। जैसे एक ही लम्बी लकड़ी यदि अनेक कोठरियों में लगी होती है तो वह एक लकड़ी जो कि एक पार्थिव द्रव्य है उन अनेक कोठरियों के लिए सामान्य हो जाती है। परन्तु सांख्यसिद्धान्त में इस प्रकार का भी सामान्य गृहीत नहीं हो सकता। क्योंकि आखिर उसे स्वीकरणीय प्रकृति

---

(८५) तेनांशत्रयबती बुद्धिः। तत्परिणामेन ज्ञानेन *-न्यायसिद्धान्त मुक्तवली।*

पुरुष आदि तत्त्वों के अंदर किसमें अन्तर्भुक्त किया जायेगा? इसका उत्तर देना कठिन होगा। और एक बात इस सम्बंध में ध्यान देने योग्य यह भी है कि सामान्यलक्षण-सन्निकर्ष ग्राह्य और ग्राहक सामान्य के बीच एक ठोस धर्मधर्मीभाव की स्वीकृति की अपेक्षा रखता है जो कि सांख्ययोग सिद्धान्त में सर्वथा असम्भव है। क्योंकि वास्तविक धर्मधर्मीभाव तभी हो सकता है जबकि धर्म और धर्मी इन दोनों के बीच तादात्म्य न माना जाय, वास्तविक अभेद न माना जाय। परन्तु ऐसा सांख्यसिद्धान्त में कब सम्भव होने वाला है? रही बात होती हुई सामान्य विषयक प्रतीति की, तो उसका सम्पादन सांख्य और योगसिद्धान्त में 'विकल्प' नामक एक प्रकार अन्तःकरण-वृत्ति की मान्यता के सहारे सम्भव है। कहने का तात्पर्य यह है कि सांख्य एवं योगसिद्धान्त एक प्रकार ऐसा भी ज्ञान मानता है जिसके विषय बिलकुल होते नहीं किन्तु उसके सम्बंध में वह ज्ञान लोगों को हो जाया करता है। जैसे 'वध्यापुत्र', कूर्मं रोम','शशविषाण' आदि शब्द सुनने पर श्रोता को उससे बोध अवश्य हो जाता है परन्तु उस बोध का विषय यदि सारे संसार को भी छान डाला जाय तो कभी मिल सकता नहीं। तदनुसार सामान्य का भी होने वाला ज्ञान सांख्ययोगसिद्धान्त में विकल्पात्मक ही हो सकता है। अतः प्रत्यक्षात्मक ज्ञान के सम्पादनार्थ सन्निकर्ष रूप में ज्ञान लक्षणा को मान्यता दी नहीं जा सकती।

वस्तुतः सांख्य और वेदान्त सम्मत प्रत्यक्ष की प्रक्रियाओं की ओर गहराई के साथ दृष्टि दी जाय तो यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि वेदान्तियों ने सांख्य की प्रत्यक्ष प्रक्रियाओं को ही अधिक अंशों में उसकी व्याख्या करके, उसे स्पष्ट करके, अपनाया है। जहाँ तक अन्तःकरण की वृत्ति एवं विषयाकाराकारिता की बात है पूर्ण रूप से वेदान्तियों ने सांख्य के दृष्टिकोण को अपनाया है। और जहाँ तक अन्तःकरण की विषयकाराकारित वृत्ति में चैतत्य के प्रतिबिम्ब का प्रश्न है उसे भी वेदान्तियों ने सांख्य से ही पाया है। क्योंकि विषयाकार अन्तःकरण की वृत्ति में चित् की छायापत्ति सांख्य लोग भी कहते ही हैं। यदि यह कहा जाय कि सांख्यसिद्धान्त में अन्तःकरण की वृत्ति और चैतन्य स्वरूप आत्मा इन दोनों में पारम्परिक छायापत्ति मान्य होती है किन्तु वेदान्तसिद्धान्त में चैतन्य का ही प्रतिबिम्ब माना जाता है अन्तःकरण की वृत्ति में। तो यह कथन भी उतना सारवान् इसलिए नहीं कहा जायगा कि छायापत्ति कहा जाय अथवा बिम्बप्रतिबिम्ब भाव कहा जाय दोनों का अभिप्रेत अर्थ 'प्रभाव पड़ना' इसके अतिरिक्त कुछ और नहीं कहा जा सकता। छायापत्ति या बिम्बप्रतिबिम्बभाव शब्द का प्रयोग तो इसलिए कहा जाता है कि लोग इससे पूर्ण परिचित है, इसलिए इस शब्द से एवं इसके दृष्टान्त के माध्यम से समझाने पर लोग शीघ्रतया समझ सकते हैं, और प्रभाव पड़ने का जहाँ तक प्रश्न है वह वेदान्तियों के लिए भी इस प्रकार मान्य हो उठता है कि चैतन्य को भी बिम्ब कहने पर विम्बतात्मक प्रभाव उसमें भी मान्य एक प्रकार से हो ही जाता है। इसलिए कुछ वेदान्तियों ने अपने अमेय चैतन्यात्मक तुरीय

---

(८६) प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ।६। *-पातञ्जलयोगदर्शन, समाधिपाद।*

ब्रह्म को बिम्ब भी नहीं माना है। फलतः एक रूप से परस्पर प्रभाव यहाँ भी मान ही लिया जाता है। अब रही सांख्य और वेदान्त की प्रत्यक्ष की प्रक्रियाओं में मौलिक अंतर की बात। तो वह इस अंश में समझा जाना चाहिए कि वर्णित वेदान्तियों की प्रत्यक्ष की प्रक्रिया में जो प्रमाणचैतन्य और विषयचैतन्य का अभेद कहा गया है एवं विषयगत प्रत्यक्षता के लिए प्रमातृचैतन्य और विषयचैतन्य इन दोनों का अभेद अपेक्षित बतलाया गया है वह सांख्यसिद्धान्त में बिलकुल मान्य नहीं है। अतः उस अंश को लेकर सांख्य की प्रत्यक्ष-प्रक्रिया वेदान्त की वर्णित प्रत्यक्ष-प्रक्रिया से अलग हो जाती है। चैतन्यों का अभेद इसलिए सांख्यसिद्धान्त में सम्भव नहीं होता कि उस सिद्धान्त में प्रकृति को जिसे कि सांख्यशास्त्री सत्त्व, रज और तम इन गुणों का एक मिलित रूप मानते हैं एक मान्य होने पर भी पुष्कर पलाश के समान निर्लिप्त आत्मा को एक न मानकर विभिन्न ही माना जाता है। सांख्यशास्त्रियों का इस सम्बंध में कहना यह है कि यह बात बिलकुल सही है कि संघातात्मक अर्थात् उक्त गुणसमष्ट्यात्मक प्रकृति अवश्य ही किसी और के लिए है। क्योंकि सांसारिक प्रत्येक उपभोग्य वस्तु किसी उपभोक्ता के लिए ही होने वाली पायी जाती है। घर, घर के लिए न होकर, रहने वाले के लिए होता है, और कपड़ा भी कपड़े के लिए न होकर पहनने या ओढ़ने वाले के लिए ही होता है। परिणाम और परिणामी इन दोनों में अत्यन्त वैजात्य भी सम्भव नहीं। मिट्टी से बनी हुई सारी चीजें आखिर मट्टी ही रहती हैं। इस वस्तुस्थिति के अनुसार उक्त त्रिगुणात्मक प्रकृति और प्राकृत अर्थात् प्रकृति से उत्पन्न होने वाली सारी वस्तुयें इन दोनों में ऐसा वैजत्य नहीं माना जा सकता कि प्रकृत वस्तुयें तो पदार्थ हों किन्तु मूल प्रकृति परार्थ न हो। इसलिए प्रकृत और प्राकृत इन दोनों को अपने उपभोग में लाने वाली आत्मा-वस्तु अवश्य माना है किन्तु साथ ही उस आत्मा को जिसे दूसरे शब्द में पुरुष [८७] कहा जाता है प्रकृति की तरह एक नहीं माना जा सकता। अनेक ही माना होगा। प्रत्येक शरीर में वह अलग-अलग ही है। क्योंकि ऐसा न मानने पर अनुभूयमान भोगवैचित्र्य बन नहीं पायेगा। एक के सुख-भोग के समय सभी को सुख का उपभोक्ता अर्थात् 'मैं सुखी हूँ' इस प्रकार सुखानुभव का कर्त्ता मानना होगा। जो कि अनुभव विरुद्ध है। साथ ही भेद को अनित्य भी नहीं माना जा सकता। क्योंकि दो किन्हीं वस्तुओं के पारम्परिक मिलन स्थल में भी सूक्ष्य भेदानुभव विद्यमान ही रहता है। अतः विभिन्न आत्माओं का अभेद किसी प्रकार सम्भव नहीं। इस प्रकार चैतन्यात्मक विभिन्न आत्माओं में अभेद सम्भव न हो सकने के कारण वेदान्त की वह प्रत्यक्ष प्रक्रिया जिसमें कि चैतन्यों के अभेद की आवश्यकता मान्य होती है सांख्यसिद्धान्त में मान्य नहीं हो पाती है। इसकी आमान्यता का स्पष्टीकरण निकवटवर्ती विचार में किया जाने वाला है।

चार्वाक मत और मीमांसा की प्रत्यक्ष प्रक्रिया

मीमांसकों का प्रत्यक्ष सम्बंधी निर्वचन और उसकी प्रक्रिया ये दोनों अधिकतर

(८७) तप्परं पुरुषख्यातेर्गुण वैतृष्ण्यम । १६ । -पातञ्जलयोगदर्शन, समाधिपाद।

नैयायिकों के प्रत्यक्ष-निर्वचन और प्रत्यक्ष की प्रक्रिया इन दोनों से सामंजस्य रखने वाले हैं। कर्म मीमांसक भी प्रत्यक्ष ज्ञान को इन्द्रिय और विषय इन दोनों के बीच सम्बंध स्थापना-प्रयुक्त ही होने वाला मानते हैं। मीमांसा-सिद्धान्त में भी ज्ञान आत्मा का ही धर्म माना जाता है इसलिए न्यायमत के अनुसार आत्मा का मन से, और मन का आँख आदि इन्द्रियों के बीच किसी एक से एवं उस इन्द्रिय के साथ विषय का सुश्रृंखलभाव से सम्बंध हो जाने पर आत्मा [८८] में ज्ञानात्मक गुण उत्पन्न होने वाला मान्य है जैसा कि न्यायवैशेषिक समस्त प्रत्यक्ष की प्रक्रिया के वर्णन के अवसर पर बतलाया जा चुका है। यहाँ न्यायवैशेषिक मत से विशेषता यह ज्ञातव्य है कि मीमांस-सिद्धान्त में कान को आकाश न मान कर दिक् स्वरूप [८९] माना जाता है और शब्द को आकाश का गुण न मानकर एक स्वतंत्र द्रव्य माना जाता है। इसलिए शब्द के प्रत्यक्ष के लिए समवाय नामक सन्निकर्ष और शब्दत्व के प्रत्यक्ष के लिए समवेतसमवाय नामक सन्निकर्ष वे मानते नहीं। इनका तात्पर्य यह है कि दो द्रव्यों के बीच संयोग-सम्बंध अनायास स्थापित हो सकने के कारण शब्द-द्रव्य और दिक्-द्रव्य के बीच उसी प्रकार संयोग-सन्निकर्ष बन सकता है जैसे फूल और आँख इन दोनों के बीच संयोग-सन्निकर्ष होता है। एक और विशेषता है न्यायमत से मीमांसामत में अभाव के स्पष्ट ज्ञान के सम्बंध में। मीमांसकों के बीच प्रभाकर का सम्प्रदाय तो अभाव को भाव से अतिरिक्त कोई वस्तु ही नहीं मानता। अत: उसके मत में अभाव के प्रत्यक्ष की चर्चा ही असंगत है। 'भट्ट' का सम्प्रदाय अभाव नामक स्वतंत्र प्रमेय पदार्थ मानता तो है किन्तु उसका प्रत्यक्ष नहीं मानता। यह इसलिए कि वह 'विशेषणविशेष्य-भाव' को जिसकी चर्चा न्यायमतीय प्रत्यक्ष-प्रक्रिया के विहित वर्णन के अवसर पर की जा चुकी है मानते नहीं। वे इस सम्बंध में युक्ति यह उपस्थित करते हैं कि 'विशेष्यविशेषणभाव' शब्द का अर्थ अवश्य ही विशेष्यता एवं विशेषणता करना होगा। इन दोनों के बीच किसी को भी सम्बंध कहना कठिन है। क्योंकि सम्बंध [९०] परस्पर दोनों का हुआ करता है अत: उसे दोनों में समान रूप से आश्रित होना चाहिए। जैसे किन्हीं दो वस्तुओं में होने वाला संयोग-सम्बंध दोनों में समान रूप से अवस्थित होता है किन्तु विशेषणता केवल विशेषण में ही रह सकती है, विशेष्य में नहीं और विशेष्यता केवल विशेष्य में ही रहती है विशेषण में नहीं। यदि अभाव को विशेषण बना कर और घर को विशेष्य बना कर ज्ञान किया जायेगा तो विशेषणता-सम्बंध केवल अभाव पर जायेगा, गृहात्मक विशेष्य पर नहीं। और विशेष्यता सम्बंध यदि लिया जायगा तो वह केवल गृहात्मक-विशेष्य में ही रहेगा विशेषण-भूत

---

(८८) सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात्।४॥

-मीमांसादर्शन, पा. १ सू. ४।

(८९) वयं तु 'दिश: श्रोत्रमि' तिदर्शनात् दिग्विभागमेव कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नं श्रोत्रमाचक्ष्महे।

-शास्त्रदीपिका, पा. १ सू. ४।

(९०) विशेष्यबिशेषणभावश्च सम्बंध एवं न संभवति, भिन्नोभयश्रितै कत्वाभावात्।

-तर्कभाषा।

अभाव पर नहीं। इसलिए न तो अभाव और गृह आदि-आदि आधार इन दोनों के बीच विशेषणता को सम्बंध बनाया जा सकता है और न विशेष्यता को। इसलिए अभाव के साथ आँख आदि इन्द्रिय का सन्निकर्ष 'विशेष्य-विशेषणभाव' नहीं हो सकता। इसे उदाहरण के द्वारा इस प्रकार समझा जा सकता है कि श्याम यदि इस प्रकार ज्ञान करता है कि 'फूल में सुगन्ध नहीं है' तो इस ज्ञान में फूल होता है विशेषण और सुगन्ध का अभाव होता है विशेष्य। अत: विशेषणता केवल फूल में जा पाती है सुगन्ध के अभाव में नहीं। और विशेष्यता केवल गन्ध के अभाव में ही जा पाती है फल में नहीं। ऐसी परिस्थिति में विशेष्यता को या विशेषणता को आधार पुष्प और आधेय गन्धाभाव इन दोनों में आश्रित नहीं कहा जा सकता और उभयाश्रित न होने वाला कोई, दोनों के बीच सम्बंध बन नहीं सकता यह बात कहीं जा चुकी है। सुतरां 'विशेषणविशेष्य भाव' फूल और उसमें विद्यमान गन्धाभाव के बीच ही जबकि सम्बंध नहीं बन पाता है तब उसके सहारे पुष्प-संयुक्त आँख कैसे पुष्पस्थित गन्धाभाव के साथ सम्बंध स्थापित करा पायेगा? इसलिए इन्द्रियों के द्वारा अभाव का ज्ञान सम्भव नहीं है। अत: अभाव अनुपलब्धि नामक प्रमाण से जाना जा सकता है। अनुपलब्धि का स्वरूपनिर्वचन पहले किया जा चुका है। क्योंकि अभाव का स्पष्ट ज्ञान उक्त निर्वचन के अनुसार इन्द्रियाँ और अर्थ के बीच होने वाले सन्निकर्ष से जनित नहीं हो पाता है जैसा कि प्रत्यक्षलक्षण मीमांसक और नैयायिकों दोनों मतों में समानरूप से मान्य है।

प्रत्यक्ष के सम्बंध में एक बात और भी मीमांसक मद की आलोचना के समय ध्यान रखने की यह है कि न्यायमत में जहाँ ज्ञान का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान मान्य होता है वहाँ भी मीमांसकों के अंदर भट्ट के सम्प्रदाय में ज्ञान का प्रत्यक्ष होता नहीं। भट्ट सम्प्रदाय का कहना है कि ज्ञान नियमत: अनुमेय होता है। अनुमान के द्वारा ही उसे जाना जाता है, प्रत्यक्षत: नहीं। निर्विकल्प ज्ञान को अतीन्द्रिय अर्थात् प्रत्यक्ष का आयोग्य नैयायिकों ने भी माना है। परन्तु मीमांसकों के मत में सविकल्पक ज्ञान भी प्रत्यक्ष का अयोग्य ठहराया गया है। इनका कहना यह है कि आत्मा में ज्ञान होने पर उस ज्ञान का विषय होने वाली वस्तु उस ज्ञाता व्यक्ति के लिए ज्ञात हो जाती है। अर्थात् उस वस्तु में ज्ञानात्मक कारण के बल से प्राकट्य नामक एक स्वतंत्र पदार्थ की जिसे 'ज्ञातता' भी कहा जाता है, उत्पत्ति होती है। उसी उत्पन्न प्राकट्यात्मक कार्य से उसके कारण ज्ञान की अनुमिति हो जाती है। कार्य से कारण की अनुमिति लोगों को होती ही रहती है। तदनुसार प्राकट्य से उसके उत्पादक ज्ञान की अनुमिति अनायास हो सकती है। इस कथन का तात्पर्य यह है कि क्रिया कोई भी क्यों न हो वह अपने कर्म में किसी-न-किसी फल का आधान करती ही है। इस नियम में कहीं भी व्यभिचार नहीं दिखलाया जा सकता। उदाहरण के लिए गमन क्रिया को लिया जा सकता है। श्याम जब अपने गांव के लिए चल पड़ता है तब वह चलनात्मक गमन अपने कर्मभूत गाँव में गन्ता श्याम के पाँव का संयोग, उसके यहाँ पहुंचने पर अवश्य

कराता है। श्याम जाते-जाते गाँव के साथ संयुक्त हो उठता है। अपने चरण के संयोग को गाँव पर उत्पन्न कर देता है। इसी प्रकार ज्ञा धातु का अर्थ ज्ञान भी एक क्रिया ही है। क्योंकि विभिन्न धातुओं के अर्थ विभिन्न क्रियाएँ ही होती है। इस प्रकार ज्ञान की अनुमेयता सिद्ध होने के कारण उसका प्रत्यक्ष मान्य नहीं है।

प्रभाकर-साम्प्रदायिक-सिद्धान्त इस सम्बंध में यह है कि यह बात तो बिलकुल सही है कि ज्ञान का उससे भिन्न कोई प्रत्यक्ष होता नहीं। सारांश यह कि किसी वृक्ष के सम्बंध में 'यह वृक्ष है' इस प्रकार ज्ञान के अनन्तर इस व्यवसाय-ज्ञान का इस प्रकार अनुव्यवसाय-ज्ञान कि 'इस वृक्ष को मैंने जाना' अथवा 'यह वृक्ष मेरे द्वारा ज्ञात हुआ।' मान्य नहीं है। परन्तु भट्ट मतानुयायियों द्वारा जो यह कहा गया है कि ज्ञान का अनुमान ही होता है प्रत्यक्ष नहीं यह बात बिलकुल गलत है। क्योंकि प्रत्येक ज्ञान अपने लिए स्वयं अपने ही प्रत्यक्ष बन जाता है। अपने से ही अपना विषयीकरण वहाँ हो जाता है। सरल तात्पर्य यह कि नैयायिक लोग जिन दो व्यवसाय और अनुव्यवसाय-ज्ञान को अलग मानते हैं, प्रभाकर के सिद्धान्त में, उन दोनों ज्ञानों के सारे विषयों को विषय बनाने वाला एक ही प्रत्यक्ष मान्य है। उक्त पुष्प-प्रत्यक्षस्थल में 'यह फूल है और इसे मैं समझ रहा हूं' इस प्रकार एक ही प्रत्यक्ष होता है। उक्त दो प्रत्यक्ष होते नहीं। कहने का तात्पर्य यह है कि ज्ञान की पूर्णता तभी उचित कही जा सकती है तब कि ज्ञान में ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय इन तीनों का विषयकरण माना जाय। और ऐसा मानने पर यह नहीं कहा जा सकता कि ज्ञान अनुमेय है, प्रत्यक्ष नहीं। 'यह फूल है और इसे मैं समझता हूं' इस प्रदर्शित ज्ञान के अंदर 'मैं' इस रूप में विषय होती है आत्मा, और 'यह फूल है' इस रूप में विषय बनता है द्रष्टव्य विषय फूल। एवं 'समझता हूँ' इस रूप में विषय बनता है स्वयं वह ज्ञान। इस प्रकार ज्ञाता, ज्ञान एवं ज्ञेय तीनों ज्ञान के विषय हुआ करते हैं। इस प्रभाकर-सिद्धान्त में इसी लिए ज्ञान को स्वप्रकाश माना जाता है। ज्ञान को स्वप्रकाश वेदान्ती भी मानते हैं और बौद्ध भी। इस साधारण दृष्टिकोण से मालूम तो ऐसा पड़ता है कि इन तीनों दार्शनिकों की स्वप्रकाशता जिसे वे ज्ञान का धर्म मानते हैं, एक ही प्रकार की होगी। परन्तु बात बिलकुल ऐसी नहीं है। क्योंकि वेदान्तियों का कहना यह है कि स्वरूपचैतन्यात्मक ज्ञान केवल प्रकाश ही है, प्रकाश्य नहीं। फलतः वेदान्ती लोग अपनी स्वप्रकाशता को प्रकाश्यता के साथ एक जगह रहने वाली नहीं मानते। इसका पर्यवसित अभिप्राय यह होता है कि ज्ञान अपने द्वारा भी प्रकाशित नहीं होता। वह कभी विषय बन ही नहीं सकता। यदि आध्यात्मिक, व्यावहारिक या प्रातिभासिक उस प्रकाशात्मक ज्ञान के सम्पर्क में आते हैं तो प्रकाशात्मक ज्ञान प्रकाशक कहलाता है और नहीं तो नहीं। इसलिए ज्ञान के सम्बंध में यह भी नहीं कहा जा सकता है कि ज्ञान सर्वदा विषय का प्रकाशक होता है। इसके सम्बंध में वेदान्तियों ने दृष्टान्त यह उपस्थित किया है कि किसी रंगशाला में विद्यमान दीप-प्रकाश वहाँ दृश्यों एवं दर्शकों की उपस्थित के समय उन सबका प्रकाशन करता है। किन्तु उन विषयों की अविद्यमानता के

समय उन सबका प्रकाशन करता है। किन्तु उन विषयों की अविद्यमानता के समय वह दीप का प्रकाश प्रकाशक बन पाता नहीं क्योंकि प्रकाश्य विषय के साथ उस समय उनका सम्पर्क उपस्थित रहता नहीं। परन्तु वह दीप-प्रकाश-प्रकाश उस समय भी बना ही रहता है जिस समय प्रकाश्य दृश्यों और सामाजिकों की बिलकुल उपस्थिति रहती नहीं। इतना ही नहीं, परिस्थिति यहाँ तक रहती है कि उस दीप-प्रकाश को भी कोई भी व्यक्ति देखे या न देखे वह तो उस समय भी प्रकाश ही रहता है। इस प्रकार स्वरूपचैतन्य स्वरूपज्ञान भी सदा प्रकाशरूप ही रहता है। यहीं है ज्ञान की स्वप्रकाशता।

विज्ञानवादी बौद्ध, ज्ञान को स्वप्रकाश इस दृष्टिकोण से मानते हैं कि विषय भी सारे ज्ञान के ही आकार हैं, क्षणिक-विज्ञान से अतिरिक्त नहीं। ऐसी परिस्थिति में ज्ञान के अतिरिक्त और कोई वस्तु ही मान्य नहीं जो कि ज्ञान का प्रकाशक बन सकें और ज्ञान उसके द्वारा प्रकाशित होने के कारण प्रकाश्य कहलावे। सारांश यह कि उनके सिद्धान्त में तात्त्विक दृष्टि से प्रकाश्य कहा जाय या प्रकाशक कहा जाय एक क्षणिक-विज्ञान ही हैं, अन्य कोई नहीं। इसलिए ज्ञान स्वप्रकाश कहा जाता है। प्रकृत-मीमांसक प्रभाकर का सम्प्रदाय इन बौद्ध वर्णित कारणों के कारण ज्ञान को स्वप्रकाश नहीं मानता। क्योंकि प्रभाकर का सिद्धान्त पक्का भेदवादी है, अतः वर्णित बौद्धीय दृष्टिकोण से वह ज्ञान को स्वप्रकाश नहीं कह सकता। और वर्णित वेदान्ती-दृष्टिकोण को अपना करके भी वह ज्ञान को स्वप्रकाश इसलिए नहीं कह सकता कि वेदान्ती लोग ज्ञान को प्रकाश्य बिलकुल नहीं मानते जैसा कि प्रदीप प्रकाश दृष्टान्तरूप से बतलाया जा चुका है। परन्तु प्रभाकर के सिद्धान्त में ज्ञान अपने से सर्वथा भिन्न होने वाले विषयों का प्रकाशन हुआ स्वयं प्रकाश्य भी होता है। किस प्रकार वह स्वप्रकाश्य हो सकता है? यह बात पुष्पज्ञान दृष्टान्त के सहारे स्पष्ट की जा चुकी है।

मुरारि की मीमांसक-सम्प्रदाय जहाँ तक ज्ञान के प्रकाशन का प्रश्न है नैयायिकों के सम्प्रदाय से एकमत है। वह भी व्यवसाय ज्ञान और अनुव्यवसाय ज्ञान इन दोनों को बिलकुल उसी तरह अलग मानता है जिस प्रकार नैयायिक और वैशेषिकों का सम्प्रदाय। 'यह फूल है' यह एक अलग व्यवसायात्मक ज्ञान होता हैं और 'फूल को मैं जानता हूँ' यह अनुव्यवसाय ज्ञान होता है अलग। इतना ही नहीं, व्यवसाय ज्ञान जहाँ परोक्ष और अपरोक्ष दो प्रकार होते हैं वहाँ अनुव्यवसायात्मक ज्ञान कभी अनुमिति आदि परोक्षात्मक होता नहीं मानस प्रत्यक्षस्वरूप ही होता है। इस प्रकार मीमाँसकों के प्रत्यक्ष का स्वरूप एवं प्रक्रिया तथा उसकी विशेषताओं को समझना चाहिए।

एक विशेषता मीमांसक मत में यहाँ यह भी ध्यान रखने की है कि वेदान्ती लोग जहाँ मन को इन्द्रिय नहीं मानना चाहते, वहाँ मीमांसक लोग[६१] उसे सर्वसम्मत रूप में

---

(६१) इन्द्रियार्थ संयोगजत्वं सुखादिज्ञानेष्वव्याप्तेरहेतुरितिचेन्न तेषामपि मनस्संज्ञकेन्द्रियसम्प्रयोगजत्वात्। मनस्सद्भावे च सुखादिज्ञानमेव प्रमाणम्

-शास्त्रदीपिका, पा. १, सू. ४।

इन्द्रिय मानते हैं। यत्प्रयुक्त प्रत्यक्ष के सम्बंध में अंतर यह प्राप्त होता है कि ज्ञानसुख आदि का भी मीमांसक मत में मानसप्रत्यक्ष ही हो जाता है। इसलिए यहाँ भी न्यायमत की तरह 'साक्षी' एवं साक्षिवेद्यता के पचड़े में मीमांसकों को नहीं लगना पड़ता है। 'साक्षी' एवं 'साक्षी-प्रत्यक्ष' का परिचय वेदान्त की प्रत्यक्ष प्रक्रिया के विवेचन क अवसर पर विस्तृत रूप से दिया जा चुका है। मीमांसासिद्धान्त में प्रातिभासिक सत्ता भी मान्य नहीं कि वेदान्त सिद्धान्त की तरह यहां भी अन्ततः प्रातिभासिक पदार्थों के प्रकापनार्थ साक्षी की मान्यता आवश्यक हो।

एक बात यहाँ यह भी ध्यान रखने की है कि मीमांसकों के अंदर प्रभाकर तो आत्मा का प्रत्यक्ष मानते हैं किन्तु भट्ट का सम्प्रदाय आत्मा को अनुमेय ही मानता है, प्रत्यक्षगम्य मानता नहीं। और मीमांसा सिद्धान्त में काल का भी प्रत्यक्ष माना जाता है। जिससे पता यह चलता है कि प्रत्यक्ष के लिए रूप की आवश्यकता मान्य नहीं है। एक बात और यह भी ज्ञातव्य है कि मीमांसा सिद्धान्त में चाक्षुस प्रत्यक्ष स्थल में विषय के साथ आँख के सन्निकर्ष की पद्धिति यह मान्य हैं कि अक्षिपात्रस्थित कृष्णसार गोलक से निर्गत रश्मि स्वतः विषय तक न जाकर बाह्य-चन्द्रसूर्य प्रकाश आदि के साथ घुल-मिल[६२] जाती है। इसीलिए दूरतर ग्रह-नक्षत्र आदि का प्रत्यक्ष आँख खोलंते ही हो जाता है। बिलकुल बिलम्ब होता नहीं। कहने का तात्पर्य यह है कि न्यायमतसिद्ध-प्रत्यक्ष-प्रक्रिया के वर्णन के अवसर पर जो यह बतलाया जा चुका है कि आँख की रश्मि अत्यन्त वेगशीलभाव से दूर से दूरवर्ती विषय के साथ जा जुटती है उसे भट्टानुयायी मीमांसक मानते नहीं। वे इस सम्बंध में अपना स्वतंत्र विचार यह रखते हैं कि बाह्य सौर चान्द्र आदि विषय-सम्पृक्त प्रकाश के साथ यतः चक्षुः- प्रकाश मिल जाता है अतः उस अति दूरवर्ती आकाशीय ग्रह उपग्रह के साथ आँख का सम्पर्क अतिशीघ्र स्थापित हो जाता है। इसीलिए उनकी अति दूरवर्तिता के होते हुए भी द्रष्टा को उनका प्रत्यक्ष तुरन्त हो जाता है, बिलम्ब लगता नहीं। प्रत्यक्ष के लिए अति अपेक्षित होने वाले मन को मीमांसक लोग बहुत छोटा अर्थात् परमाणु के समान सूक्ष्मतम मानते नहीं। उनका कहना है कि मन है तो व्यापक, [६३] परन्तु ज्ञान आदि के लिए उसका वही भाग जो कि शरीर के अंदर ही रहता है, बाहर नहीं, वही काम में आता हैं उस देहस्थित मनोभाग से ही प्रत्यक्ष आदि, मान आदि का सम्पादन होता है। और न्यायमत से एक विशेषता यह भी इस सिद्धान्त में ज्ञातव्य है कि न्याय वैशेषिक एवं प्रभाकर का मत जहाँ सत्तानाम की जाति को जिसकी चर्चा पहले भी की गयी है द्रव्य, गुण और कर्म इन तीनों में मानता है वहाँ भट्ट का मीमांसक सम्प्रदाय सत्ताजाति, द्रव्य,

---

(६२) तत्रोन्मीलनक्षण एव दूरतरशनैश्चरादिदर्शनात् व्याप्यावस्थितेन बाह्य तेजसा निर्गमनसमय एवैकीभादः कल्पनीयः। *-मानमेयोदय।*

(६३) तस्य च विभुत्वं साधयिष्यते। तथापि शरीरावच्छिन्नस्यैव तस्येन्द्रिय त्वमिति तत्प्रदेश एवं कार्यांणि करोति। *-मानमेयोदय।*

गुण, कर्म और सामान्य इन चारों में विद्यमान मानता है। प्रत्यक्ष के सम्बंध में अन्य सभी मतों से यहाँ एक विशेषता यह भी पायी जाती है कि तर्क को यहाँ प्रत्यक्ष का भी सहायक माना गया है। इन मीमासंकों का कहना यह है कि नैयायिक लोग जो केवल अनुमान स्थल के लिए तर्क को अपेक्षित मानते हैं वह उचित नहीं कहा जा सकता। क्योंकि विचार करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि तर्क प्रत्यक्ष आदि के लिए भी उतना ही अपेक्षित है जितना अनुमान स्थल के लिए। उदाहरण रूप में मीमांसकों ने यह कहा है कि 'परमाणु पुंज से अतिरिक्त घट आदि अवयवी का अस्तित्व है' यह नैयायिकों के कहने पर जब कि बौद्धों के पक्ष से यह कहा जायेगा कि घट, पट आदि को अवयवी द्रव्य न मान कर परमाणु पुंज ही मानना उचित हैं। तब नैयायिकों को बौद्धों के समक्ष यह तर्क अपने मत की सिद्धि के लिए उपस्थित करना होगा कि 'यह घड़ा है' इस प्रकार होने वाली प्रतीति का विषय यदि एक घट नाकक अवयवी द्रव्य को न मानकर परमाणु पुंज को ही माना जायेगा तो 'यह एक है', 'यह महान् है' इस प्रकार प्रमाज्ञान उस घड़े के सम्बंध में नहीं हो पायेगा। क्योंकि परमाणु बहुत होने के कारण उन सभी परमाणुओं को एक कहना या समझना कैसे संगत हो पायेगा? इसी प्रकार यह प्रतीति भी उस घड़े के सम्बंध में नहीं हो पायेगी कि 'यह बड़ा है।'

कहने का तात्पर्य यह है कि उस पुंजात्मक परमाणुओं के अंदर एक भी परमाणु जब कि बड़ा नहीं, सभी परम अणु ही होंगे तब यह कथन कैसे संगत हो पायेगा कि 'यह बड़ा है'? इस प्रकार तर्क नैयायिकों की ओर से उपस्थित किए जाने पर बौद्ध यह तो कह नहीं पायेंगे कि 'यह एक है' यह प्रतीति ही होती नहीं। या 'यह बड़ा है' यह प्रतीति ही नहीं होती है। ऐसी परिस्थिति में बौद्धों को यह मानना ही होगा कि 'यह घड़ा है' इस प्रकार होने वाले प्रत्यक्ष का विषय परमाणु पुंज नहीं किन्तु एक स्वतंत्र पार्थिव अवयवी है जिसे घट कहा जाता है। इस उदाहरण से यह सिद्ध होता है कि तर्क शब्द प्रमाण का भी सहायक होता है। इसी प्रकार अन्य प्रमाणों का भी वह सहायक होता ही है।

बौद्धों की प्रत्यक्ष प्रक्रिया भी चार्वाकमतानुकूल नहीं

बौद्ध लोग प्रदर्शित प्रत्यक्ष की विभिन्न प्रक्रियाओं के अंदर किसी को भी अपनाना पसन्द नहीं करते। उनका कहना है कि ये सारी प्रत्यक्ष की प्रक्रियायें जो कि इससे पूर्व बतलायी गयी हैं इसलिए मान्य नहीं हैं कि ये सारी प्रक्रियायें इस बात को मानकर प्रवर्त्तित हुई हैं कि 'इन्द्रिय और विषय इन दोनों के बीच होने वाले सन्निकर्ष की अपेक्षा किसी भी प्रकार प्रत्यक्ष के प्रति अति आवश्यक होता है।' परन्तु हम बौद्ध लोग ऐसा मानते नहीं। क्योंकि आँख वही कृष्णसार गोलक है जिसे आपामर साधारण जनता आँख कहती है। अक्षिगोलक से निकलने वाली रश्मियाँ आँख हैं और वह विषय से जाकर जुटती है। तब विषय का प्रत्यक्ष होता है यह पूर्वोक्तवादियों का कथन इस लिए संगत नहीं प्रतीत होता है कि अत्यन्त दूरवर्ती चन्द्रमा और उसकी अपेक्षा निकटवर्ती वृक्ष की शाखा

का चाक्षुष प्रत्यक्ष साथ ही होता हुआ पाया जाता है, जो कि चक्षुर्गति की मान्यता पक्ष में उपपन्न नहीं किया जा सकता। अतः इन्द्रियों को 'अप्राप्यकारी' अर्थात् सन्निकर्षात्मक सम्बंध की अपेक्षा न करने वाला ही मानना उचित है। अतः उक्त प्रदर्शित प्रक्रियायें संगत नहीं मानी जा सकतीं। इस सिद्धान्त में इस विवेचन के अनुसार जैसे बौद्ध मत में प्रत्यक्ष की सम्पत्ति के लिए सन्निकर्ष की आवश्यकता नहीं, तैसे विषय में महत्त्व की भी आवश्यकता मान्य नहीं है। क्योंकि महत्त्व की आवश्यकता मान्य होने पर परमाणु-पुंज का प्रत्यक्ष सम्पादनीय माना जा पायेगा? कहने का तात्पर्य यह है कि बौद्ध-सिद्धान्त में जो लोग बाह्य दृश्य वस्तुओं की वास्तविक सत्ता मानते ही नहीं जैसे क्षणिक-विज्ञान-मात्र को तत्त्व मानने वाले योगाचार सम्प्रदाय के लोग एवं अद्वैत शून्य को ही तत्त्व मानने वाले माध्यमिक बौद्धों के सम्प्रदाय के लोग, उनके सिद्धान्त में तो बाह्य वस्तुयें तत्त्वतः हैं ही नहीं। एवं इन्द्रियाँ भी तत्त्वतः होती नहीं। अतः विषयों के साथ इन्द्रिय का सम्बंध एवं प्रत्यक्ष के लिए उसकी अपेक्षा इत्यादि बातों की समीक्षा का कोई महत्त्व ही नहीं हो सकता महायानी बौद्ध की दृष्टिकोण से। तब रही बात उन हीनयानी बाह्यास्तित्ववादी दो बौद्धों के मत में विवेच्य प्रत्यक्ष प्रक्रिया की। तो ब्राह्यास्तित्ववादी बौद्धों के अंदर भी सौत्रान्तिक सम्प्रदाय बाह्य वस्तुओं को अनुमेय ही मानता है। उसका कहना यह है कि बाह्य वस्तुयें हैं नहीं यह बात नहीं, बाह्य वस्तुयें हैं अवश्य। क्योंकि उनके सम्पर्क का कुफल-सुफल आन्तर जीवन पर पड़ता ही है परन्तु उन बाह्य वस्तुओं को देखा नहीं जा सकता। किसी भी इन्द्रिय से उन्हें प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता। इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षात्मक ज्ञान का विषय नहीं बनाया जा सकता। सम्भव है इस बाह्य प्रत्यक्षत्व को कहिए या बाह्यानुमेयत्व को दो बाह्यास्तित्ववादी बौद्ध सम्प्रदायों के बीच एक सम्प्रदाय ने इसलिए जोर से अपनाया कि उनका प्यारा बाह्य परमाणुपुंजवाद सुरक्षित रह पाये। क्योंकि सारे बाह्य पदार्थों को अनुमेय मानने पर स्वतंत्र अवयवी की उत्पत्ति एवं स्थिति मनाने के लिए नैयायिक एवं वैशेषिकों के द्वारा परमाणुपुंजवादी बौद्धों के समक्ष उपस्थापित यह तर्क बेकाम हो जाता है कि 'यदि घड़े, कपड़े आदि बाह्य वस्तुयें एक-एक स्वतंत्र अवयवी न माने जायँ, परमाणुपुंजस्वरूप ही माने जायँ तो 'यह घड़ा एक है और बड़ा है'', 'यह कपड़ा एक है और बड़ा है' इस प्रकार प्रत्येक सावयव वस्तुओं के सम्बंध में होने वाला प्रत्यक्ष कैसे उत्पन्न हो सकता है? यह तर्क बिलकुल निराधार होकर स्वतः चूर्णविचूर्ण हो जाता है। क्योंकि जब बाह्य वस्तुओं का प्रत्यक्ष ही अमान्य हो जाता है तब उस अमान्यतावादी के समक्ष यह कैसे कहा जा सकता कि 'यह प्रत्यक्ष कैसे हो पायेगा?' क्योंकि वह कह देगा कि प्रत्यक्ष होता ही नहीं। कैसे हो पायेगा? यह प्रश्न तुम उठा ही नहीं सकते। इसकी मान्यता के पीछे कारण जो कुछ भी हो बाह्यास्तित्ववादी होते हुए भी सौत्रान्तिक बौद्ध सम्प्रदाय बाह्य वस्तुओं का प्रत्यक्ष मानता नहीं यह तो निश्चित ही है। इस बाह्यानुमेयवाद की स्थापक युक्तियों के अंदर एक युक्ति इन लोगों की यह थी कि पूरे वृक्ष या मकान आदि बाह्य वस्तुओं का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान भला उन नैयायिक एवं वैशेषिकों

के सिद्धान्त में भी कैसे सम्पन्न होने वाला माना जा सकता, जो कि प्रत्यक्ष के लिए विषय के साथ होने वाले इन्द्रियसन्निकर्ष की नितान्त आवश्यकता मानते हैं? क्योंकि पूरे वृक्ष या पूरे मकान के साथ तो आँख का सन्निकर्ष न्यायवैशेषिक सिद्धान्त में भी नहीं माना जा सकता। अत: बाह्य विषयों का प्रत्यक्ष नहीं माना जा सकता। यह कहा जा सकता है कि पूरे वृक्ष का अनुमान [६४] किया जाता है। इस विवेचन से यह सुस्पष्ट है कि बौद्धों का सौत्रान्तिक सम्प्रदाय बाह्य वस्तुओं का प्रत्यक्ष ही मानता नहीं अत: उस दृष्टिकोण से यह विचार उठता नहीं कि बाह्य वस्तुओं का प्रत्यक्ष कैसे होता है? उसकी प्रक्रिया क्या है? अत: बौद्धसम्मत प्रत्यक्ष की प्रक्रिया के विवेचन के समय केवल वैभाषिक का सम्प्रदाय ही सामने रह जाता है कि वह सम्प्रदाय बाह्य वस्तुओं को देखने की कैसी प्रक्रिया को अपनाता है। तो इस सम्बंध में पहले कहा गया है यहाँ ही कि बौद्ध लोग इन्द्रिय से प्रत्यक्ष सम्पादनार्थ विषय के साथ सन्निकर्ष की अपेक्षा मानते नहीं। यह इसीलिए सम्भवत: बाह्य-प्रत्यक्षवादी बौद्ध मानते हैं कि उनके सगे भाई बाह्यानुमेयत्ववादी बौद्ध उक्त तर्क के द्वारा यह सिद्ध कर देते हैं कि वृक्ष, भवन आदि किसी भी पूरे दृश्य बाह्य वस्तु के साथ आँख आदि का सन्निकर्ष सम्भव कैसे हो सकता? ये बाह्य प्रत्यक्षतावादी बौद्ध गोलक चक्षुर्वाद को मान्यता देते हुए भी दृश्यमान आँखों के द्वित्व को नहीं मानते। उनका कहना है कि आँख की नाक-पुल की दोनों ओर उपस्थिति शेभार्थ ही है। तत्त्वत: लम्बायमान आँख एक ही है। आँखें प्रत्येक व्यक्ति को दो नहीं होती हैं। नैयायिकों ने विस्तृत विचार करके इसके विरुद्ध यह स्थिर किया है कि एक व्यक्ति को दो आँखे सहजत: होती हैं।

सम्भव है कि यहाँ किसी को यह जिज्ञासा उदित हो कि क्षणिक-विज्ञानवादी एवं शून्याद्वैतवादी बौद्धों के दृष्टिकोण में दृश्य जगत् तात्त्विक भले ही न हो किन्तु व्यावहारिक तो इसे उन्हें किसी-न-किसी रूप में मानना ही होगा। क्योंकि वे वादी भी आखिर औरों की तरह ही अपना दैनन्दिन कृत्य चलाते ही हैं। वे भी सामने विद्यमान दृश्य को आँख से देखते ही हैं? ऐसी परिस्थिति में तात्त्विक नहीं सही, अतात्त्विक ही सही, कुछ-न-कुछ एक उसका क्रम उन्हें मानना ही होगा। वह क्रम आखिर क्या हो सकता है? तो इसके सम्बंध में प्रतीत यह होता है कि क्षणिक-विज्ञानवादी योगाचार-साम्प्रदायिक बौद्धों के मत में इन्द्रियाँ वेदान्त सिद्धान्त के समान उस आन्तर विज्ञान के लिए मानों एक निर्गमन प्रणाली है जिसके सहारे आन्तर विज्ञान बाहर जाता है और तदनुसार उस विज्ञान का एक आकार हो जाता है। आकार होते हुए भी रहता वह आन्तर क्षणिक-विज्ञान ही है। उसी में बाह्यता का आरोप मात्र होता है। अर्थात् आन्तर क्षणिक विज्ञान को ही बाह्य समझ लिया जाता है मात्र। कहने का तात्पर्य यह कि क्षणिक आन्तर विज्ञान का जो क्रम में अथवा यों कहा जाय कि क्रमिक जो क्षणिक विज्ञान है वहीं आँख भी है, आन्तर विज्ञान का आकार भी वही है अत: जिसे देखा जाता है फूल आदि को, वह दृश्य भी क्रमयुक्त

---

(६४) प्रत्यक्षमनुमानमेकदेशग्रहणादुपलब्धे: । ३१। -न्यायदर्शन, अ २।

क्षणिक विज्ञान ही होता है। उसकी बाह्यता भी क्रमिक क्षणिक विज्ञान हो, और उसका देखना भी क्षणिक विज्ञान ही होता है। सब कुछ क्षणिक विज्ञान का ही आकार होने के कारण किसी भी सुव्यवस्थित या अव्यवस्थिति घटना को विज्ञानगत क्रम के अतिरिक्त और कुछ कहा नहीं जा सकता। इस वस्तुस्थिति के अनुसार किसी भी दृश्य को देखना भी यत: एक घटना ही है, किसी फूल को देखना भी यत: एक घटना ही है अत: वहाँ भी सब कुछ विज्ञान क्रम ही है या क्रमिक विज्ञान ही है अत: उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता। इसको भी यदि और स्पष्ट रूप से समझना हो तो उदाहरण के द्वारा इसे यों समझना चाहिए कि 'फूल' ऐसा यदि कोई द्रष्टा समझता है, देखता हैं तो उस क्षणिक विज्ञानात्मक द्रष्टा को केवल पुष्पाकार ग्रहण होता है। और यदि 'फूल है' ऐसा वह समझता है तो उसका वह समझना, देखना, विज्ञान का पुष्पाकार और अस्तित्वाकार का ग्रहणस्वरूप होता है और कुछ नहीं। और यदि 'नीला फूल है' इस प्रकार कोई द्रष्टा देखता है तो वह द्रष्टा क्षणिक-विज्ञान नीलाकार, पुष्पाकार और अस्तित्वाकार तीन प्रकार हो जाता है। जब कि द्रष्टा इस प्रकार सोचता है कि 'मैं नीला फूल देख रहा हूँ' तो वहाँ विज्ञान के पाँच आकार होते हैं। यथा- 'मैं' एतदाकार, नीलाकार पुष्पाकार, दर्शनाकार (देखना आकार) और वर्त्तमान कालाकार। एक विज्ञान एक ही आकार ग्रहण करेगा इसलिए प्रत्येक आकारयुक्त विज्ञान को क्षणिक फलत: क्रमबद्ध मानना होता है। इस प्रकार सोचने पर क्रमिक क्षणिक विज्ञान के अतिरिक्त और कुछ भी तत्त्व मान्य [९५] नहीं होता है और व्यावहारिक ज्ञान की सुश्रृंखलता भी बन जाती है, यह योगाचार साम्प्रदायिक बौद्धों का अभिप्राय है। इसी को उन लोगों ने क्षणिक-विज्ञान की दो धाराओं की मान्यता बतला कर सूचित किया है। उन लोगों ने कहा है कि क्षणिक-विज्ञान दो तरह के होते हैं प्रवृत्तिविज्ञान और आलय-विज्ञान। बाह्याकार अर्थात् नीलाकार, पीताकार विज्ञान फलत: जिस आन्तरविज्ञान को लोग बाह्य समझ बैठते हैं वे सारे विज्ञान कहलाते हैं प्रवृत्तिविज्ञान, और जिसे व्यक्ति 'मैं' इस रूप में समझता है या कहता है वह कहलाता है 'आलय'[९६] विज्ञान। ये दोनों प्रकार के विज्ञान होते एक ही धारा के अन्तर्गत परन्तु भेद इसलिए होता है कि बाह्यकार वस्तु विज्ञान से तदभिमुख प्रवृत्ति अर्थात् एक आगन्तुक कतिपय बाह्य आकारयुक्त विज्ञान की धारा चल पड़ती है परन्तु वह परिस्थिति फिर आगे चलकर रहती नहीं, फिर चलने लगती है आलय विज्ञानधारा। उदाहरण के द्वारा इसे यों समझा जा सकता है कि गति चाहे सूर्य की मानी जाय, पृथ्वी की, परन्तु सूर्य का स्वच्छ प्रकाश जब उदय के समय क्षितिज के निकट दिखाई देता है तब लाल दिखाई देता है। यह लाल

---

(९५) नान्योऽनुभाव्यो बुद्धयास्ति, तत्स्थानानुभवोऽपर:।
ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात् स्वयं सैव प्रकाशते। *-सर्वदर्शन संग्रह, बौद्धदर्शन।*

(९६) तत्स्यादालयविज्ञानं यद्भवेदहमास्पदम्।
तत्स्यात् प्रवृत्तिविज्ञानं यन्नीलादिकमुल्लिखेत्॥ *-सर्वदर्शन संग्रह, बौद्धदर्शन।*

दिखाई देना नैमित्तिक होता हैं, स्वाभाविक नही अत: फिर धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों क्षितिज से वह प्रकाश अलग होता जाता है त्यों-त्यों वह शुद्ध अपने स्वच्छ स्वरूप को प्राप्य करता जाता है। फिर जब अस्त के समय वह क्षितिज के समक्ष दिखाई देता है तो फिर लाल दिखाई देने लगता है। फिर किन्तु सूर्य की वह प्रकाशधारा तत्त्वत: एक प्रकार ही रहता है। उसी प्रकार विज्ञान की आलयस्यभाव ही बीच में मानों प्रवृत्ति स्वभावकान्त हो जाता है। अत: विज्ञान की धारा एक व्यक्ति के लिए एक ही होती है। आगन्तुक प्रवृत्ति या प्रकृति स्वभावक्रान्तता भी विज्ञान से बाहर की चीज नहीं मानी जा सकती, आकार भी विज्ञान के बाहर और कुछ होता नहीं इसलिए क्षणिक-विज्ञान मात्र की तत्त्वता अक्षुण्ण रहती है। गंभीर-भाव से चिन्तन करने पर इस सिद्धान्त में व्यवहार और परमार्थ का अन्तर रहता नहीं। इस प्रकार विज्ञान मात्र को तत्त्व मानते हुए भी दैनन्दिन व्यवहार उस विज्ञान से ही सम्पन्न किया जाता है। सारांश यह कि इस सिद्धान्त में घटना के अतिरिक्त संसार में और कोई वस्तु मान्य नहीं है और विभिन्न रूप से प्रतीयमान सारी घटनाएं तत्त्वत: विज्ञान ही मान्य हैं। विज्ञान में होने वाला क्रम जिसे ही क्षणिकता के रूप में कहा जाता है वह भी उस विज्ञान के अन्दर ही मान्य है। उस सुव्यवस्थित क्रम के आधार पर सारी व्यवस्था बनायी जा सकती है। विज्ञान भी जब यहाँ क्रमसम्पन्न माना जाता है तो उसे भी घटना ही कहना उचित होगा और जब तक हम उसे घटना न कह दें तब तक और सारी व्यावहाहिक घटनाओं को वह आत्मसात् भी नहीं कर सकती। इस प्रकार क्षणिक-विज्ञान को भी क्रिया कह करके मैंने अपने पदार्थ-शास्त्र, द्वितीय भाग में इसे बौद्धवाद को 'क्रियाद्वैत' कहा है और यहाँ भी अद्वैतवादों की चर्चा के समय इसे क्रियाद्वैतवाद कहा है।

शून्यद्वैतवादी[९७] के यहाँ यह वर्णित क्षणिक-विज्ञानवादियों की निर्वचन प्रक्रिया व्यावहारिक है, पारमार्थिक नहीं। उनका कहना यह है कि जो जागरण, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीन परिस्थितियाँ अनुभूत होती हैं उनमें तटस्थ भाव से विचार करने पर सुषुप्त परिस्थिति ही ऐसी मालूम होती है, जिसके सहारे तत्त्व का निर्धारण किया जा सके। वह परिस्थिति शून्य की ही होती है। अत: तत्त्व रूप में शून्य ही मान्य है। रही बात जागरण और स्वप्न की तो इन दोनों परिस्थितियों का निर्वाह क्षणिक-विज्ञानवादी पद्धति से किया जा सकता है। किन्तु वे दोनों परिस्थितियाँ एवं तत्परिस्थितिक घटनाएँ हैं अतात्त्विक। ये अतात्त्विक परिस्थितियाँ क्यों आ जाती हैं ऐसा यदि उनसे पूछा जाय तो वे यह उत्तर देंगे कि यह तो प्रश्न ही निरबकाश है। ऐसा तो प्रश्न ही नहीं उठाया जा सकता। क्योंकि मैंने

---

(९७) देशना लोकनाथानां सत्त्वाशयवशानुगा:।
भिन्न हि देशनाभिन्न शून्यताऽद्वचलक्षणा॥ *-सर्वदर्शन संग्रह, बौद्धदर्शन।*

(९८) कल्पनापोढ़मभ्रान्तं प्रत्यक्षं निर्विकल्पकम्।
विकल्प्यो वस्तुनिर्भासादसम्वादादुपप्लव:।।
ग्राह्यं वस्तु प्रमाणं हि ग्रहणं यदितोऽन्यथा।
न तद्वस्तु न तन्मानं शब्दलिंगेन्द्रियादिजम्॥ *-सर्वदर्शन-संग्रह, बौद्धदर्शन।*

पहले ही कहा है कि परिस्थितियाँ एवं उन परिस्थितियों से सम्पृक्त रूप में प्रतीत होने वाली सारी घटनाएँ उक्त प्रतीतिसहित अतत्त्व हैं। इस प्रकार यदि सोचा जाय तो स्वयं प्रश्न भी अतत्त्व हो जाने के कारण अवकाश पाता नहीं सारांश यह कि जाग्रत् और स्वप्नकालिक व्यवहार के सम्पादनार्थ क्षणिक विज्ञानवादी ने जिस प्रक्रिया को अपनाया है वह शून्याद्वैत तक पहुंचने के लिए सर्वाधिक निकट पड़ता है अतः जागरण और स्वप्न के लिए यदि कोई उसे अतत्त्व समझ बैठे, तो अपना समझे, उससे माध्यमिक के शून्य तत्त्व का कुछ बिगड़ता नहीं। क्षणिक-विज्ञानवाद शून्य तत्त्व के निकट इसलिए है कि जागतिक रूप में विभिन्न रूप से प्रतीयमान सारी वस्तुओं को तो क्षणिक विज्ञान ही आत्मसात् कर लेता है, तब केवल उसे ही उखाड़ फेंकने पर शून्यद्वैत का साम्राज्य जगमगा उठता है। जिसका सम्पादन सुषुप्ति के सहारे माध्यमिक-साम्प्रदायिक-बौद्ध अनायास कर लेते हैं।

बौद्धों के अंदर बाह्य वस्तु का प्रत्यक्ष कौन मानता है यह बात पहले बतलायी जा चुकी है। तदनुसार प्रत्यक्ष का लक्षण उनके घर में यह किया गया है कि जो ज्ञान 'कल्पना पोढ़'[९९] हो अर्थात् कल्पनारहित हो, फलतः निर्विकल्प हो और अभ्रान्त हो वह ज्ञान है प्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष के इस निर्वचन के अंदर 'कल्पनापोढ़' कह कर सविकल्पक का निराकरण किया गया है। क्योंकि कल्पना के कारण ही वह ज्ञान कहलाता है सविकल्पक। और 'अभ्रान्त' कहा है ऐसे भ्रान्त ज्ञान के निराकरणार्थ जो कि निर्विकल्पक होते हुए भी भ्रमात्मक होता है। ऐसे ज्ञान के उदाहरण के रूप में उस ज्ञान को लिया जा सकता है जो कि विषय के न होते हुए भी कभी-कभी वासनावश या और किसी प्रकार से हो जाया करता है। कभी-कभी ऐसा देखा जाता है कि देखते समय आँख के सामने अन्तरिक्ष में चलता-फिरता बिन्दु जैसा दिखाई देता है। तन्मात्र को विषय करने के कारण 'कल्पनापोढ़' तो वह ज्ञान भी होता है, किन्तु विषय के न रहते हुए उस ज्ञान के होने के कारण उसे भ्रान्त अर्थात् भ्रमात्मक ही मानना होगा। अतः अभ्रान्त न हो सकने के कारण वह प्रत्यक्ष नहीं कहला पायेगा। परन्तु प्रकृत चार्वाकीय सिद्धान्त में निर्विकल्प को मान्यता नहीं है। अतः प्रत्यक्ष का यह बौद्धसम्मत लक्षण सर्वथा चार्वाकमत के लिए असम्भवग्रस्त कहा जायेगा। निर्विकल्पक क्यों नहीं यहाँ मान्य होता है? इस प्रश्न का उत्तर यह समझना चाहिए कि इस सिद्धान्त में मन ही एक इन्द्रिय रूप से मान्य हैं, आँख आदि नहीं। और मन का विषय क्या अतीत या क्या अनागत एवं क्या वर्तमान सभी होंगे, इसके अनुसार निर्विकल्पक ज्ञान को भी इन्द्रिय का विषय होना स्वाभाविक होगा। परन्तु निर्विकल्पक ज्ञान होता है उसको मान्यता देने वालों के मत में अतीन्द्रित। अतः निर्विकल्पक ज्ञान प्रकृत चार्वाक-सिद्धान्त में

---

(९९) तत् प्रमाणे। १०। आद्य परोक्षम् ।११। प्रत्यक्षमन्यत् ।१२।
मतिः स्मतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिबोध उत्पनर्थांन्तरम् ।१३।

-तत्त्वार्थ सूत्र, प्रमाणचर्चा।

सुखलालजी संघवी की विस्तृत हिन्दीव्याख्या तथा पादटिप्पणी देखिए।

मान्य नहीं कहा जा सकता। नैयायिकों ने जिस युक्ति से निर्विकल्पक ज्ञान के अस्तित्व की स्थापना की है इसके उत्तर में वक्तव्य यह समझना चाहिए कि शाब्दबोध-स्थल में जिस प्रकार 'खले कपोत' दृष्टान्त के आधार पर यह माना जाता है कि एक ही साथ सारे विशेष्य एवं सारे विशेषण परस्पर अन्वित रूप में प्रतीत हो जाते हैं। विशिष्ट शाब्दबोध के पूर्व विशेषण, शाब्दबोधार्थ अपेक्षित होता नहीं। उसी प्रकार प्रत्यक्ष स्थल में भी सारे विशेष्य एवं सारे विशेषणों का विषयीकरण माना जा सकता है। ऐसी परिस्थिति में विशेषण-ज्ञान रूप में निर्विकल्पक की मान्यता आवश्यक नहीं ठहरायी जा सकती।

चार्वाक मत और जैनमतीय प्रत्यक्ष-

प्रत्यक्ष के सम्बंध में जैन दार्शनिकों के बीच गृहकलह-सा प्रतीत होता है। क्योंकि एक दल न्यायमतसिद्ध प्रत्यक्ष एवं उसकी प्रक्रिया को अवश्य मान्यता देता है। परन्तु दूसरे लोगों का कहना है कि इन्द्रिय और अनिन्द्रिय से उत्पन्न होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता। यह कथन न्यायमत से प्रकृत प्रत्यक्ष के विषय में अवश्य मतिविरोध रखता है। मति, स्मृति, संज्ञा और चिन्ता इन चारों ज्ञानों को जैनमत में 'अभिनिबोध' कहा जाता है। उक्त मतिज्ञान के दो प्रभेद मान्य हैं यथा-'इन्द्रिय निमित्तक' और 'अनिन्द्रिय निमित्तक'। अनिन्द्रिय पद से विवक्षित है मन। तदनुसार आँख, कान आदि और मन से ज्ञान उत्पन्न होगा वह भला जैन सिद्धान्त में कैसे प्रत्यक्ष कहला सकता है? स्मृति का अर्थ तो है स्मरण यह सर्ववादि सम्मत ही है। परन्तु चार्वाक-सिद्धान्त में स्मरण ज्ञान भी प्रत्यक्ष ही हैं यह आगे बतलाया जायगा। जैन दार्शनिक लोग संज्ञा शब्द से कहते हैं उस प्रत्यभिज्ञा को जो पूर्वानुभूत किसी भी विषय को फिर विषय बनाता है। उदाहरण के द्वारा इसे यों समझा जा सकता है कि श्याम ने कभी एक व्यक्ति को देखा था संयोगवश फिर वह व्यक्ति कभी उसके सामने आ गया। ऐसी परिस्थिति में जो श्याम को यह ज्ञान होता है कि 'यह वही व्यक्ति है' वह ज्ञान कहलाता है प्रत्यभिज्ञा। इस प्रकार होने वाले सारे प्रत्यभिज्ञात्मक ज्ञान को जैनदर्शन में कहा जाता है। 'संज्ञा'। चिन्ता वह ज्ञान होता है जो किसी भी आगामी को ही विषय करता है। यदि कोई आने वाला हो, या कहीं से कुछ मिलने वाला हो तो उसके लिए पहले लोगों को चिन्ता होती है यह सर्वविदित है। यहाँ यह भी एक ध्यान रखने की बात है कि जैन सिद्धान्त भी प्रमा को ही प्रमाण मानता है जैसाकि चार्वाकीय दृष्टिकोण में प्रमा को ही प्रमाण रूप में मान्यता है, यह बात पहले बतलायी जा चुकी है।

चार्वाक-मत-प्रकाश में शैवमतीय प्रत्यक्ष-

शैव-सिद्धान्त भी प्रत्यक्ष के सम्बंध में अपना एक अलग मार्ग बतलाता है। सर्वप्रथम उसने इस सम्बंध में यह बतलाया है किसी भी वस्तु की प्रमा जिसके बिना न हो सके वहीं प्रमाण कहलाने का अधिकारी हो सकता है। शैव सम्प्रदाय का कहना है कि साधारण जनता जिन आँख, कान आदि इन्द्रियों एवं अनुमान आदि को प्रमाण मानती है

तत्त्वत: वे प्रमाण नहीं हैं। क्योंकि उनमें परस्पर में व्यभिचार पाया जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि जहाँ आँख काम देती है वहाँ नाक की कार्यक्षमता देखी जाती नहीं। रूप देखते समय तो आँख साधकतम रूप में अपेक्षित होती हुई पाई जाती है। किन्तु वहीं आँख रस चखते समय बिलकुल काम नहीं दे पाती। इस वस्तुस्थिति के अनुसार सामान्यत: प्रमा मात्र के लिए अपेक्षित इन्द्रिय या अनुमान आदि के अन्दर किसी भी एक को अपेक्षित नहीं माना जा सकता। प्रमाण तो वहीं माना एवं कहा जा सकता जो कि सारी प्रमाओं के लिए समान भाव से अपेक्षित हो। ऐसी परिस्थिति में जबकि प्रत्येक इन्द्रिय आदि प्रमाण, प्रमा के लिए समान भाव से अपेक्षित होती हुई नहीं पाई जाती है तब जिन्हें अन्य दार्शनिकों ने प्रमाण माना है उन्हें वस्तुत: प्रमाण नहीं माना जा सकता। इस प्रकार विचार उपस्थित करके शैव-सिद्धान्त ने यह बतलाया है कि सारी प्रमाओं के सम्पादक किसी एक को ही प्रमाण माना जा सकता है विभिन्न आँख, कान आदि इन्द्रियों या अनुमान आदि को नहीं। इसके अनन्तर मानो जब कि शैवों के समक्ष यह प्रस्ताव उपस्थित किया गया कि मन तो प्रत्येक वस्तु के विषयीकरण में सर्ववादि सम्मत रूप में अपेक्षित होता है। अत: मन उक्त शैव युक्ति के अनुसार प्रमाण कहलाने का अधिकारी हो सकता है। इसलिए मन को ही सामान्यत: प्रमा के साधन के रूप में प्रमाण मानना चाहिए। तब शैवों ने मन को भी प्रमाण महासिंहासन पर अभिषिक्त करने का अनुमोदन यह कह कर नहीं किया कि हाँ, मन सर्वत प्रमा स्थल में अपेक्षित होता है इसलिए उसे ही एकमात्र प्रमाण उक्त युक्ति के अनुसार माना जाना औरों की अपेक्षा सम्भावित अवश्य प्रतीत होता है, परन्तु मन को प्रमाण माना इसलिए नहीं जा सकता कि जिन इन्द्रिय अनुमान आदि को प्रमाण के आसन से च्युत किया जा रहा है मन भी उन्हीं के समान प्राकृत अर्थात् जड़ है, प्रकाशात्मक है नहीं, अत: उसे भी प्रमाण महासिंहासन पर बैठाया नहीं जा सकता। दूसरी बात यह है कि मन सुख-दु:ख आदि के समान वेद्य अर्थात् ज्ञेय है। जो स्वयं ज्ञेय है उसे भला कैसे ज्ञापक माना जा सकता है? किसी भी ज्ञेय का ज्ञापन वस्तुत: कोई प्रकाशात्मक ज्ञान ही कर सकता है और कोई नहीं। अत: अद्वैत चित्-पृवरूप प्रकाश को ही प्रमाण मानना उचित है।

इस कथन के अनन्तर शैव-सिद्धान्त के समक्ष विपक्षियों की ओर से जब यह जटिल समस्या उपस्थित की गयी कि प्रकाशाद्वैतवादी शैव-सिद्धान्त के अन्दर तो सब कुछ प्रकाश के ही पेट में पड़ा हुआ प्रकाशात्मक ही है, प्रकाश से बाहर कुछ है ही नहीं और उसी प्रकाश को जिस अपर शब्द में शैव सिद्धान्त चित्, संवित, आदि शब्दों से भी पुकारता है प्रमाण माना जा रहा है तो 'कर्तृकरण विरोध' उठ खड़ा हो रहा है। करण का

---

(१००) साक्षात्कारिप्रमा प्रत्यक्षम्। तच्चद्विविधम्, सविकल्पकनिर्विकल्पकभेदात्। तच्च प्रत्यक्षं प्रकारान्तरेण त्रिविधम्। इन्द्रियप्रत्यक्षं मानसप्रत्यक्षं इन्द्रियान्त:-करणनिरपेक्ष चित्प्रत्यक्षं च। तदुक्तम-- 'प्रत्यक्षं त्रिविधं प्रोक्तमक्षमान सचिद्वशात्' इति॥

-शैव परिभाषा।

कर्ता होना या कर्ता का कारण होना सर्वथा अनुभवविरुद्ध है। कुल्हाड़ी कभी स्वयं लकड़ी काटती हुई पाती नहीं जाती। उस कुल्हाड़ी से अतिरिक्त किसी काटने वाले व्यक्ति के द्वारा सुव्यस्थित रूप में प्रचालित होने पर ही उससे लकड़ी का काटना सम्भव होता है। इस वस्तुस्थिति के अनुसार यह कहना या स्वीकार करना कठिन है कि प्रकाशात्मक चित् ही सारी प्रमाओं को करण है। शैव सिद्धान्ती यह तो कह नहीं सकते कि प्रमाता जीव प्रकाशात्मक नहीं है। क्योंकि ऐसा कहने पर उनका प्रकाशाद्वैत का विशाल भवन अपने ही हाथों गिरा दिया गया, यह माना जाएगा। जबकि जीवात्मा को वे प्रकाझस्वरूप नहीं मानेंगे तो प्रमाण को प्रकाशस्वरूप मनवाने का उक्त प्रबल प्रयत्न उसी प्रकार उपहासास्पद होगा जैसे कोई हाथी देकर अंकुश न देने के लिए झगड़े। अत: प्रकावात्मक संवित् को प्रमाण नहीं माना जा सकता।

इस प्रकार विरोधी दार्शनिकों के द्वारा विरोध उपस्थित करने पर शैव-सिद्धान्तियों ने इस प्रकार सामंजस्य अपनी ओर से उपस्थित किया कि तत्त्वत: प्रकाशाद्वैत होने पर भी उसके अंदर भेद की व्यवस्था भी विद्यमान है अत: उक्त प्रकार आपत्ति अनायास हटायी जा सकती है। उसका मार्ग यह है कि अविद्या राग आदि द्वारा कालुष्य को प्राप्त करने वाली अतएव विषय की ओर अभिमुखता प्राप्त चित्-शक्ति प्रमाण ही होती है, प्रमाता नहीं। और उक्त प्रकार कालुष्य से रहित आत्माभिमुख चित्-शक्ति प्रमाता ही कहलाती है प्रमाण नहीं। इस प्रकार प्रमाता और प्रमाण की व्यवस्था भली-भाँति शैव-सिद्धान्त में की जा सकती है। अत: प्रदर्शित 'कर्तृकरण विरोध' को उपस्थित करना औचित्यपूर्ण नहीं कहा जा सकता। प्रत्यक्ष के सम्बंध में शैवमत का सारांश यह है कि साक्षात्कारात्मक प्रमा है प्रत्यक्ष।[१००] उसे सविकल्पक और निर्विकल्पक भेद से दो भागों में विभक्त समझना चाहिए। प्रत्यक्ष के वे तीन प्रभेद ये हैं- यथा, इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, मानस-प्रत्यक्ष और इन्द्रिय एवं मन इन दोनों की अपेक्षा न रखने वाला चित्प्रत्यक्ष।

इस प्रकार प्रत्यक्ष के विभाजन के अनन्तर प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इन्द्रिय प्रत्यक्ष और मानस-प्रत्यक्ष के सम्बंध में विशेष जिज्ञासा के उदित न होने पर भी तृतीय चित्प्रत्यक्ष के सम्बंध में इस जिज्ञासा का उदय स्वाभाविक ही कहा जायेगा कि चित्प्रत्यक्ष की व्याख्या शैवों को अवश्य ही यही करनी होगी कि स्पन्छशील चित् का इन्द्रिय द्वारा द्रष्टव्य वस्तु के साथ सम्बंध ही है प्रत्यक्ष। यही व्याख्या चित्प्रत्यक्ष की इसलिए करनी होगी कि और कुछ भला उसकी व्याख्या और हो क्या सकती? परन्तु यह व्याख्या भी उचित है यह कहना कठिन प्रतीत होता है क्योंकि व्यापक प्रकाशात्मक स्वाभिमुख चित्

---

(१०१) तथा भासितवस्त्वंशरञ्जना सा बहिर्मुखी।
स्ववृत्तिचक्रेण समं ततोऽपिकलयत्यलम्॥

सा परैव प्रमात्रैकरूपासंम्बित्, बहिर्मुखी स्वस्वातन्त्र्यात् प्रमाणदशामधिशयाना, स्वामार्त्मीयं यच्चक्षुरादीन्द्रियसम्बन्धित रूपाद्यालोचनात्मक वृत्तिचक्र...। *-तन्त्रालोक।*

की विषय की ओर होने वाली अभिमूखता का उपपादन करना सर्वदा कठिन है। तो इसके उत्तर में शैव-सिद्धान्त की ओर से उत्तर यह दिया जाता है कि यह बात सही है कि संवित्, स्वत: स्वप्रतिष्ठ अर्थात् स्वाभिमुख ही होती है परन्तु स्वशक्तिभूत कलात्मक अविद्यास्वरूप व्यंजक के कारण विषय की ओर अभिमुख हो पड़ती है। इच्छात्मक राग से रंजित हो जाने के कारण क्रमश: अन्त:करण और बाह्य इन्द्रिय द्वारा बाह्य द्रष्टव्यवस्तु की ओर प्रवृत्त हो उठती है। फलत: उस द्रष्टव्य वाह्य वस्तु के साथ जा जुटती है। इसलिए उक्त बाह्य विषयसम्बंधात्मक चित्प्रत्यक्ष उपपादित होता है। नैयायिक सम्मत प्रत्यक्ष-प्रक्रिया की ओर इंगित करते हुए शैवों का कथन इस सम्बंध में यह है कि और दार्शनिक जो इन्द्रिय और अर्थ इन दोनों के बीच स्थापित होने वाले सम्बंध के अधीन होने वाला ज्ञान है प्रत्यक्ष ऐसा प्रत्यक्ष का निर्वाचन करते हैं वह कभी मान्य नहीं हो सकता। क्योंकि चित् शक्तिविहीन इन्द्रिय-अर्थ का सन्निकर्ष भला क्या कर सकता? कैसे विषय का प्रकाशन कर सकता?

शैवों के इस कथन की ओर विशेष रूप से दृक्पात करने पर शैवसम्मत[१०१] प्रत्यक्ष की प्रक्रिया यह मान्य मालूम पड़ती है कि गतिशील इन्द्रियाँ विषय तक पहुंच कर उस द्रष्टव्य विषय के साथ जा जुटती हैं यह जुटना है इन्द्रियप्रत्यक्ष। और नालीतुल्य इन्द्रिय के द्वारा अन्त:करण भी उस विषय तक पहुंचता है और उस विषय के साथ सम्बद्ध हो जाता है। यह विषय के साथ होने वाला अन्त:करण का सम्बंध ही होता है विषय का मानस प्रत्यक्ष। और अन्त:करण के साथ चित् का विषयस्थान तक गमन उसी प्रकार होता है, जिस प्रकार नोन या चीनी मिले पानी की धारा के साथ चीनी या नोन भी बहता हुआ वहाँ तक पहुंचता है जहाँ तक जल जाता है। गहराई से देखने पर यह देखने को अवश्य मिलता है कि यहाँ की प्रत्यक्ष-प्रक्रिया वेदान्त की प्रत्यक्ष प्रक्रिया से बहुत कुछ मिलती-जुलती-सी होती है। अन्तर इतना प्रतीत होता है कि वेदान्त का चैतन्य स्पन्दरहित और यहाँ की संवित् स्पन्दशील होने के कारण वेदान्तसिद्ध चैतन्य का विषय सम्बंध कुछ और तरह का होगा। जहाँ तक अन्त:करण की विषय तक गति की बात है साङख्यसिद्धान्त की प्रत्यक्ष-प्रक्रिया से भी यहाँ की प्रत्यक्ष-प्रक्रिया में बहुत कुछ सामंजस्य है।[१०१ख] हाँ, इतना अधिक प्रत्यक्ष-प्रक्रिया के सम्बंध में शैव लोग अवश्य मानते हैं कि बुद्धिकर्तुक निश्चय ही प्रत्यक्ष की अन्तिम सीमा नहीं किन्तु बुद्धिव्यापार के अनन्तर विद्याकर्तृक विवेचन, कलाकर्तृकअनुरंजन और प्रमातृ विश्राम ये तीन भी नियमत: होते हैं।

चार्वाकीय प्रत्यक्ष-प्रक्रिया--

प्रत्यक्ष की चार्वाकीय प्रक्रिया को समझने के लिए दो-चार बातों की ओर पहले ध्यान दे देना सम्भवत: उपकारक होगा। इस सिद्धान्त में, जिसमें कि प्रत्येक भौतिक कण अस्फुट-चैतन्ययुक्त मान्य हैं। और विलक्षण धनीभाव प्राप्त भौतिक प्राणि-शरीर में वह चैतन्यात्मक ज्ञान स्फुट होता है, इन्द्रिय केवल मन ही मान्य है आँख, कान आदि नहीं।

क्योंकि मन सर्व-प्राणि-साधारण है किन्तु आँख आदि सभी प्राणियों के होते नहीं। और मन भी शरीर का एक अवयव ही है उससे अतिरिक्त द्रव्य आदि रूप नहीं। उस शरीर के स्थान-विशेषात्मक मन के साथ विषय का सम्पर्कस्थापन के लिए इन आँख, कान आदि सूत्रों की आवश्यकता होती है। इसीलिए जिस सूत्र के सहारे विषय का मन के साथ सम्पर्क स्थापित होता है उसी सूत्र के नाम उस ज्ञान का नामकरण होता है। जैसे चक्षुसूत्र से जब विषय का सम्पर्क मन के साथ स्थापित होता है तो वह ज्ञान चाक्षुष कहलाता है अर्थात् देखना कहलाता है और कान-सूत्र के विषय का सम्पर्क मन के साथ ख्यापित होने पर ज्ञान 'सुनना' कहलाता है। इसके साथ यह भी अकाट्य नियम है कि सब सूत्रों से सब विषय अपना सम्पर्क मन के साथ नहीं स्थापित कर सकते। इसीलिए कान से कोई रूप नहीं देख सकता और आँख से कोई सुन नहीं सकता। सम्भव है कि कुछ लोग यहाँ यह प्रश्न उपस्थित करें कि साँप को कान होते नहीं वह आँख से ही सुनता भी है और देखता भी। ऐसी परिस्थिति में नियतभाव से प्रत्येक इन्द्रिय सूत्र का विषय-नियम कैसे माना जा सकता? तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि साँप भी जबकि शब्द सुनता हैं जैसा कि शब्दस्थलीय उसकी गतिविधि से भलीभाँति पता चलता है, तब उसे कान नहीं होते यह कथन उपहासास्पद ही होगा। क्योंकि कार्य से कारण का परिचय मिलता ही है। साँप के लिए यह बात कही जा सकती है कि उसके दो इन्द्रियसूत्र अर्थात् अक्षिसूत्र और कर्णसूत्र दोनों आसपास ही होते हैं अत: यह कहा जाता है कि सर्प को कान होते नहीं। साथ ही यह भी इस सिद्धान्त में मान्य है कि ज्ञान भी एक प्रकार क्रिया ही है, गुण नहीं। यों तो क्रिया और क्रियाशील को भी यहाँ अभिन्न ही मानना है। क्योंकि इसके बिना पूर्ववर्णित भूताद्वैतवाद टिक नहीं सकता और इसलिए गुण और गुणी भी यहाँ एक ही होंगे। फलत: क्रिया और गुण अपने आश्रय रूप से प्रतीत होने वाले भूतात्मक केन्द्र बिन्दु पर जाकर एक ही हो जाते हैं। फिर गुण और क्रिया इन दोनों में प्रातीतिक दृष्टिकोण से अन्तर यह होता है कि भूत के गुणात्मक स्वभाव के प्रति क्रियात्मक भूत-स्वभाव कारण होता है। उदाहरण के द्वारा इसे यों समझा जा सकता है कि कम्पनशील तैजस कणों के साथ संयुक्त हो आने के कारण कम्पन-प्राप्त पार्थिव कणों में नवीन रूप प्राप्त होता है। यहाँ किये जाने वाले इस रूप शब्द के प्रयोग को भी केवल पीला, उजला, हरा, काला आदि रंगों के ही अर्थ में प्रयुक्त नहीं समझना चाहिए। वस्तुओं के आकार-प्रकार आदि को भी रूप के अन्तर्गत परिगणित समझना चाहिए। जैसा कि बौद्ध दार्शनिकों ने भी स्वीकार किया है। प्रकृत बात यह है कि ज्ञान भी चार्वाच-सिद्धान्त में एक प्रकार की क्रिया ही है, गुण नहीं। ज्ञाता आत्मा रूप से लोकव्यावहारिक क्षेत्र के लिए यहाँ इस प्राणि-शरीर को ही लेना है, जिसमें ज्ञानात्मक क्रिया परिस्फुट होती है। यही आत्मा यहाँ कर्त्ता एवं भोक्ता भी मान्य है। यह आत्मा भौतिक सूत्रजाल से व्याप्त है और यह सूत्रजाल भी इस आत्मा का एक अवयव ही है, जो कि मन: केन्द्र से लेकर आत्मा के प्रत्येक अंग-प्रत्यंग तक में व्याप्त है। साथ ही इस जाल के अंदर सूत्र दो तरह के हैं। एक वे जो कि बाहर की ओर से मन: केन्द्राभिमुख

हैं, और दूसरे वे जो कि मनः केन्द्र से निर्गत होकर बाहर की ओर विकेन्द्रित होते हैं। इन्हीं बाहर की ओर से मन:केन्द्र की ओर जाने वाले सूत्रों को कहा जाता है ज्ञानेन्द्रिय और मनः केन्द्र से निकलकर बाहर की ओर विकेन्द्रित होने वाले सूत्र कहलाते हैं कर्मेन्द्रिय। इस सूत्रों में होने वाली क्रियाओं को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है यथा- स्फुटक्रिया, अस्फुटक्रिया और स्फुटास्फुट क्रिया। 'स्फुट' वह क्रिया कहलाती है जिसका परिचय अनेक आत्मा को प्राप्त हो। उदाहरण के द्वारा इसे हम यों समझ सकते हैं कि जब कोई भी व्यक्ति चलता है, बोलता है, खाता है, पीता है तो इन क्रियाओं को वह चलने, बोलने, खाने, पीने वाला स्वयं भी समझता है और यदि उसके निकट और भी कोई हो तो वह भी समझता है कि यह खा रहा है, यह पी रहा है, यह चल रहा है और यह बोल रहा रहा है। अस्फुट क्रिया वह होती है जिसका पता उस व्यक्ति को भी चलता नहीं। उदाहरण के लिए शरीरात्मा के अन्दर बिछे हुए उक्त सूत्रजालगत क्रियाओं को ले सकते हैं। क्योंकि उस सूत्रसञ्चलन का पता तब तक इस शरीरात्मा को भी नहीं होता जिसके अन्दर यह सूत्रजाल क्रियाशील होता है, जब तक शरीरात्मा के अवयव-भूतमनस में ज्ञान आदि शब्दों से कहीं जाने वाली स्फुटास्फुट क्रिया न हो जाय। जब इस आन्तर स्फुटास्फुट ज्ञान आदि क्रिया का प्रभाव स्फुट क्रिया के रूप में शरीरात्मगत होता है तो और लोग भी उस शरीरात्मा के स्फुटास्फुट क्रिया इसीलिए कहना आवश्यक है उक्त आन्तर ज्ञान सुख आदि को व्यक्ति स्वयं उस समय भी समझता रहता है जब कि दूसरे उसे नहीं समझते रहते हैं। हाँ, एक बात यहाँ यह भी ध्यान रखने की है कि शरीरात्मगत ऐसी क्रिया को भी स्फुटास्फुट ही कहा जायगा जिसका परिचय औरों को तो होता है किन्तु स्वयं उसे होता नहीं। उदाहरण के लिए हम सोते व्यक्ति के श्वास-प्रश्वास क्रिया को ले सकते हैं। क्योंकि वह तो सोया हुआ व्यक्ति उस अपनी श्वास-प्रश्वास क्रिया को नहीं समझता रहता है किन्तु निकटवर्ती और जागरणशील व्यक्ति अच्छी तरह उसे समझता रहता है। अद्वैत-वेदान्तियों का यह कथन कि सुषुप्त व्यक्ति को तत्त्वत: श्वास-प्रश्वास क्रिया रहती नहीं। अन्य जागरणशील व्यक्ति उस क्रिया के अस्तित्व के सम्बंध में भूल समझता है कि 'यह सोता हुआ व्यक्ति श्वास-प्रश्वास ले रहा है' उनके विचारधारा के लिए अनुकूल पड़ने के कारण भले ही उनके लिए उचित हो, किन्तु विवेचक की दृष्टि में तो यह उपहासास्पद ही कहा जाएगा। इस विवेचन से यह भी अनायास सम्भवत: स्पष्ट हो गया होगा कि अन्य दार्शनिक लोग जो ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय के रूप में इन्द्रियों का तात्त्विक वर्गीकरण मानते हैं वह उनकी मान्यता विवेचक दृष्टि में अमान्य है। क्योंकि इस विवेचन से यह स्पष्ट ही प्रतिभात हो जाता है कि जिन्हें ज्ञानेन्द्रिय कहा जाता है वे भी तत्त्वत: कर्मेन्द्रिय ही हैं। क्योंकि ज्ञान भी एक क्रिया ही है, क्रिया से अतिरिक्त गुण नहीं।

यहाँ किये गये क्रिया के विवेचन से यह भी स्पष्ट हो उठता है कि भौतिक परमाणुओं से लेकर विराट ब्रह्माण्ड तक को, और यदि ब्रह्माण्ड को भी अनेक माना जाय तो उसके एक समष्टयात्मक रूप तक को अलग-अलग एक यंत्र कहा जा सकता है।

जिनके अंदर प्रत्येक में उक्त स्फुट, अस्फुट और स्फुटास्फुट भाव से क्रियाएँ चलती रहती हैं। अत: सभी अलग-अलग एक-एक यंत्र हैं। क्योंकि गम्भीर भाव से विचार करने पर उक्त त्रिविध क्रियाओं के आधार का ही नाम यंत्र होता है। चिन्तनपूर्वक दृष्टि डालने पर यह अवश्य विवेकियों को प्रतीत होगा कि कभी कोई भी वस्तु निष्क्रिय होती नहीं। परन्तु साथ ही यह भी नहीं भूलना चाहिए कि यह क्रिया भी तत्त्वत: तात्त्विक भूत से अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकती। क्योंकि उसके आश्रय रूप से प्रतीत होने वाले भूत की परिस्थितिविशेष के अतिरिक्त उसे और क्या कहा जा सकता? जिन्हें सर्वमान्य रूप में 'यंत्र' कहा जाता है उनमें भी खोजने पर अवश्य उक्त तीन प्रकार क्रियाएँ चलती रहती हैं जब वे क्रियाशील रहते हैं। सम्भव है कि कुछ लोग इस पर यह प्रश्न उपस्थित करें कि क्या ये भौतिक-यंत्र जिनसे जीवनोपयोगी साधनों का निर्माण होता है या जो किसी भी प्रकार से प्राणियों के प्रयोजन से चलनशील होते हैं, उसी प्रकार चेतनायुक्त हैं? जिस प्रकार प्राणी चेतनायुक्त होता है? परन्तु इस प्रश्न के उत्तर में यह भलीभाँति कहा जा सकता है कि इस प्रश्न के मूल में जड़ और चेतन की विभिन्नता सम्बंधी दृढ़ धारणा काम करती है। सारांश यह कि यह प्रश्न उक्त धारणा पर ही आधारित है। किन्तु यह धारणा कि जड़ और चेतन एक नहीं हो सकते दोनों आपस में अत्यन्त भिन्न हैं, चार्वाकीय-दृष्टिकोण में बिलकुल स्थान पाती नहीं। क्योंकि यह बात स्पष्ट बतलायी जा चुकी है कि इस सिद्धान्त में ज्ञान भी क्रिया के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जो लोग चेतन और जड़ को अत्यन्त भिन्न मानते हैं वे भी चेतनात्मक ज्ञान को महत्ता अवश्य ही इसीलिए देंगे कि आनन्तर एवं बाह्य सारी सुश्रंखल क्रियायें उसी के कारण प्रवृत्त होती हैं। परन्तु आज इस भूत वैज्ञानिक विकास के युग में मानवों की अधिकतर सुश्रंखल क्रियाओं को यंत्रों ने अपने हाथों में ले लिया है। अत: उन यान्त्रिक सुश्रंखल क्रियाओं के मूल में होने वाले उसके प्राथमिक सुव्यवस्थित एवं सुव्यवस्थात्मक चलन को प्राणिगत चेतना से कम महत्त्व कैसे दिया जा सकता? सुश्रंखल अतएव सफल क्रियाओं के मूलभूत क्रिया को ही चेतना मान लेने पर सुश्रंखल क्रियाओं के प्रति मूलभूत यान्त्रिक प्राथमिक क्रिया को भी चेतना क्यों नहीं कहा जा सकता?

इस प्रकार जड़ और चेतनगत पारस्परिक भेद के निराकरण के अनन्तर एवं प्रत्येक सुव्यवस्थित क्रियाशील वस्तु को यंत्र मानलेने पर प्राणि-शरीर को भी एक प्रकार यंत्र ही मानना होगा। इसीलिए कर्मठ व्यक्ति की प्रशंसा करते हुए लोग यह कहते हुए पाये जाते हैं कि 'आप तो बिलकुल यंत्र बनगये हैं'। निष्काम कर्म की बड़ी महत्ता जगह-जगह पर बतलायी गयी है, और है भी वह सचमुच महत्वशील वस्तु। परन्तु वह निष्काम कर्म तभी सम्भव हो सकता है जबकि मानव-शरीर को एक यन्त्र मान लिया जाय। जब कि एक तरह की भी अनेक क्रियायें एक नहीं हो सकती हैं तब प्राणि-शरीरगत चेतनात्मक क्रिया एवं गमन आदि स्वरूप सारी चेष्टात्मक क्रियायें एक ही हैं अथवा

प्राणि-शरीरगत चेतना तथा अन्य गमन आदि क्रियायें एवं प्राणि शरीर से भिन्न भौतिक यन्त्रगत क्रियायें एक ही हैं, अथवा सर्वथा एक ही तरह की हैं, कहने का यह अभिप्राय नहीं है। कहना यह है कि चेतना एवं अन्य क्रियाओं में उतना अन्तर नहीं है जितना लोग समझते हैं और उस अपने समझने के आधार पर जड़ और चेतन के बीच इतना दूरत्व उपस्थित कर देते हैं कि मानो शरीर को आत्मा अर्थात चेतन माना ही नहीं जा सकता। अत: चार्वाकीय प्रत्यक्ष-प्रक्रिया यह सिद्ध होती है कि विभिन्न विषयों के लिए नियत स्थान पर विषय की ओर से सम्बंध प्राप्त होने पर ज्ञानेन्द्रियात्मक सूत्र के द्वारा उस विषय का सम्पर्क शरीर के ही अवयवभूत मन तक हो जाता है जिसकी विलक्षण क्रियाशीलता के कारण शरीर में चेतनात्मक क्रिया उत्पन्न हो जाती है। यदि वह चेतना सापेक्षता को भी विषय करती है तो कहलाती है इच्छा। और उसके अनन्तर आन्तर उन्मुखता स्वरूप प्रवृत्ति का उदय उन बहिर्मुखसूत्रों में होता है जिसके फलस्वरूप हाथ-पाँव आदि में फलानुकूल क्रिया हो उठती है। उक्त प्रवृत्ति को ही अपर शब्दों में प्रयत्न कृति इत्यादि कहा जाता है। और हाथ-पाँव आदिगत क्रिया को ही शब्दान्तर में चेष्टा भी कहा जाता है। उक्त ज्ञान की प्रक्रिया सभी ज्ञानों के उदय-स्थल में एक जैसी ही होती हैं। इसीलिए इस चार्वाकीय-सिद्धान्त में अनुमिति आदि ज्ञान को भी प्रत्यक्ष माना जाता है। सम्भव है कि यहाँ कुछ लोगों को यह जिज्ञासा हो कि अनमिति को भी प्रत्यक्ष मानने पर अपरोक्षगत अनुभूयमान स्पष्टता और परोक्षगत अनुभूयमान अस्पष्टता का कारण क्या दिखलाया जा सकता? तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि उक्त मन: कम्पन से होने वाली चेतना जबकि धूमात्मक हेतु को अपना विषय बनाते समय धूमगत आग की उक्त प्रकार व्याप्ति को भी विषय करती है तब मन: केन्द्र में ही कम्पन होकर आग को भी विषय करने वाली चेतनात्मक क्रिया उदित हो जाती है यह चेतना-आत्मक क्रिया जो कि अन्य चेतना-आत्मक क्रिया से स्वरूप में कोई अन्तर न रखने कारण होती है तत्त्वत: प्रत्यक्ष ही। किन्तु उसके अव्यवहित होने वाली मनसगतक्रिया यत: व्याप्ति को भी विषय करती है अत: वहाँ की शरीरात्मगत क्रिया अनुमिति कहलाती है। तत्त्वत: वहाँ की भी वह चेतना-आत्मक क्रिया होती है प्रत्यक्ष ही।

यह इसलिए भी उचित प्रतीत होगा कि 'अनुमिति' शब्द और 'अन्वीक्षा' शब्द इन दोनों शब्दों को विवेचकों ने समानार्थक माना है वह समानार्थकता तभी बन सकती है जबकि अनुमिति को भी प्रत्यक्ष माना जाय। न्यायदर्शन के भाष्यकार वात्स्यायन ने [१०२] आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्त्ता और दण्डनीति इन चार विद्याओं की चर्चा करते हुए आन्वीक्षिकी शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है कि 'फिर देखने को कहा जाता है अन्वीक्षा, और उसे लेकर चलने वाली विद्या कहलाती है आन्वीक्षिकी। इसी आन्वीक्षिकी को न्याय विद्या

(१०२) ईमास्तु चतस्रो विद्या: पृथक्प्रस्थाना: प्राणभृतामनुग्रहायेहोपदिश्यते। यासां चतुर्थीयमान्वीक्षिकी। न्यायविद्या न्यायशास्त्रम्। *-न्यायदर्शन, वात्स्यायनभाष्य।*

तथा न्यायशास्त्र भी कहा जाता है' भाष्यकार की यह आन्वीक्षिकी शब्द की व्याख्या इस निर्णय में बहुत साहाय्य पहुंचा रही है कि अनुमिति भी प्रत्यक्ष ही है, प्रत्यक्ष से अतिरिक्त स्वतंत्र एक प्रमिति नहीं। क्योंकि ईक्षति, ईक्षण और ईक्षा ये शब्द भी पर्याय हैं। ईक्ष धातु का अर्थ देखना ही है और देखना प्रत्यक्ष के अतिरिक्त और कुछ हो नहीं सकता। संस्कृत में 'ईक्षते' इस क्रियापद का प्रयोग 'देख रहा है' इसी अर्थ में होता हुआ पाया जाता है। न्याय, अनुमान, नीति अनुमिति आदि शब्द भी एक ही अर्थ के बोधक रूप में प्रयुक्त होते हुए पाये जाते हैं। ऐसी परिस्थिति में कैसे अनुमिति को प्रत्यक्ष नहीं माना जा सकता? ईक्ष धातु का अर्थ प्रत्यक्ष ज्ञान क्यों और कैसे माना जाय? यह जिज्ञासा यदि किसी के हृदय में उदित हो तो उसको शान्ति यों करनी चाहिए कि उपनिषद में जहाँ यह कहा गया है कि 'उस ब्रह्म ने ईक्षण किया' वहाँ अवश्य ही यह मानना होगा कि उस औपनिषद कथन का अर्थ यही है कि 'ब्रह्म ने देखा'। देखना साक्षात्कारात्मक प्रत्यक्ष को ही कहा जाता है। और दूसरी बात यह कि जो लोग अनुमिति आदि को परोक्ष ज्ञान मानते और ब्रह्म या ईश्वर की भी भौतिक सत्ता से अतिरिक्त एक स्वतंत्र सत्ता मानते वे भी ब्रह्म या ईश्वर को होने वाले जागतिक वस्तुविषयक ज्ञान को परोक्ष नहीं अपरोक्ष ही मानते है। ऐसी परिस्थिति में अन्वीक्षा, वीक्षा, अन्वीक्षण, वीक्षण, आन्वीक्षिकी आदि शब्द के प्रयोगस्थल में ईक्ष का अर्थ प्रत्यक्ष ही है। न्याय को अन्वीक्षा और अन्वीक्षिकी को न्यायविद्या स्वयं वात्स्यायन उद्योतकर और वाचस्पति मिश्र आदि नैयायिक मूर्द्धन्यों ने कहा है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि अनुमिति भी प्रत्यक्ष ही है उससे अतिरिक्त कोई स्वतंत्र प्रमिति नहीं। इस प्रकार अनुमित की प्रत्यक्षता सिद्ध हो जाने पर उपमिति और अर्थापत्ति ये दो प्रमितियाँ भी फलतः प्रत्यक्ष के अन्दर गतार्थ हो जाती है। उनका भी स्वतंत्र अस्तित्व रह पाता नहीं। और इस चार्वाकीय-सिद्धान्त को तो बौद्ध वैशेषिक और साङ्ख्य इन दार्शनिकों का भी सहयोग प्राप्त होता है। क्योंकि कि इन दार्शनिकों ने अपनी-अपनी युक्तियों के द्वारा यह सिद्ध कर दिखलाया है कि उपमिति और अर्थापत्ति अनुमिति से अतिरिक्त कोई स्वतंत्र प्रमिति नहीं है। चार्वाकीय सिद्धान्त जब कि उस अनुमिति को भी उक्ति युक्ति से प्रत्यक्ष सिद्ध कर देता है तब अनायास उपमिति और अर्थापत्ति भी जिन्हें कुछ दार्शनिक स्वतंत्र प्रमिति मानते हैं प्रत्यक्ष प्रमिति के अंदर ही गतार्थ हो जाती हैं। अब रही बात आनुपलब्धिक प्रमिति और शाब्दबोध की। तो इन दोनों के अंदर आनुपलब्धिक अभाव-प्रतीति कि प्रत्यक्षता में नैयायिकों का और शाब्दबोध का प्रत्यक्षता में अद्वैत-वेदान्तियों का पूर्ण साहाय्य चार्वाकीय-सिद्धान्त को प्राप्त होता है। आनुपलब्धिक अभाव-प्रतीति किस प्रकार प्रत्यक्ष ही है इसका विस्तृत विवरण न्यायमतीय प्रत्यक्ष विचार के अवसर पर दिया जा चुका है। और वेदान्त सिद्धान्त के विहित प्रात्यक्षिक विवेचन के अवसर पर यह भी बतलाया जा चुका है कि वेदान्ती लोग किस प्रकार 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों से साक्षात्कारात्मक ज्ञान मानते हैं। परन्तु यहाँ उससे अन्तर होगा प्रत्यक्ष की प्रक्रिया में। अभाव की आनुपलब्धिक प्रतीति

स्थल में किसी भाव से रहित किसी भी वस्तु का प्रभाव आँख आदि इन्द्रिय सूत्र के बाह्य मूल स्थान पर पड़ने पर इन्द्रियसूत्र में कम्पन्न होकर मन: केन्द्र में भी तदनुरूप कम्पन हो उठता है जिसके फलस्वरूप शरीरात्मा में उक्त राहित्यस्वरूप अभाव का चेतना-आत्मक क्रिया हो जाती है। अभाव का परिचय हो जाता है। और शाब्दबोध स्थल में वाक्य से उसके अर्थ का बोध इस प्रकार होता है कि नैयायिकों के कथानुसार कर्ण-छिद्र में उत्पन्न होने वाले शब्द के कारण श्रोत्रसूत्र कम्पनशील हो उठता है जिससे मन: केन्द्र में भी चलन होता है उससे शरीरात्मा में चेतनास्वरूप क्रिया उत्पन्न हो जाती है। उसी चेतनास्वरूप क्रिया को शाब्दबोध कहा जाता है। यहाँ अन्य बोध से अंतर यह होता है कि उक्त मनस् के चलन के साथ शाब्दबोध के लिए अन्य दार्शनिकों द्वारा भी अपेक्षित माने जाने वाले पाच्य-वाचक-भाव, आकांक्षा, योग्यता और तात्पर्य इनको विषय करने वाली चेतना भी मध्य में सहायक रूप में अपेक्षित होती है। इसलिए जिसे वाच्य-वाचकभाव आदि की चेतना मध्य में उदित होती नहीं उसे शब्द चेतना के होते हुए भी अर्थचेतना हो पाती नहीं। वेदान्ती लोग जब कि किसी भी वाक्य से प्रत्यक्षात्णक बोध मानते हैं तब उसके समान सभी वाक्यों से अर्थ का ही प्रत्यक्ष होता है ऐसा क्यों न माना जाय? हाँ, विभिन्न प्रत्यक्ष की सम्पत्ति में सहायक रूप में जिन साधनों की अपेक्षागत विभिन्नता को देखते हुए जितना अन्तर प्रतीत होता है उतना तो मान्य है ही। परन्तु कुछ सहायक गत विभिन्नता के कारण ही शारीरिक चेतना को अत्यन्त विभिन्न प्रकार मानना बुद्धिमत्ता नहीं कही जा सकती। श्याम यदि कभी राम की सहायता से और कभी 'काम' की सहायता से एकजातीय ही क्रिया का सम्पादक होता है तो वहाँ क्या सहायक के भेद से दोनों एकजातीय क्रिया को एकजातीय न मान कर विभिन्नजातीय माना जाता है? कभी नहीं। और स्पष्ट रूप से इसे यों समझा जाय कि श्याम एक दिन राम के कहने पर उसके साथ सिनेमा देखने जाता है और दूसरे दिन 'काम' के कहने पर उसके साथ सिनेमा देखने जाता है तो एक दिन का जाना जाना और दूसरे दिन का जाना, जाना न होकर उससे अतिरिक्त खाना आदि और कुछ थोड़ा ही हो जाता है? दोनों दिनों की उक्त दोनों ही क्रियाएँ गमन ही होती हैं। और कुछ नहीं। उसी प्रकार व्याप्तिज्ञान, पदज्ञान आदि सहायक से विभिन्न होने पर भी मन और शरीरात्मा की एकैकता के कारण सभी ज्ञानों को प्रत्यक्ष ही मानना उचित है। हाँ, प्रत्यक्षों के अंदर अनुमित्यात्मक प्रत्यक्ष, शाब्दात्मक प्रत्यक्ष इस प्रकार प्रत्यक्ष का ही विभाजन किया जाय तो यह युक्तियुक्त होगा।

सम्भव है कि कुछ लोगों के मन में यहाँ यह शंका उदित हो कि प्रत्यक्ष रूप से सर्वमान्य ज्ञानस्थल में उस ज्ञान का विषय वर्त्तमान होता है और अनुमिति आदि परोक्ष रूप से सर्वमान्य ज्ञानस्थल में विषय की वर्तमानता नियमत: नहीं रहती। कहीं अनुमिति का विषय वर्तमान होता है तो कहीं अनुमिति का विषय होता है अवर्तमान, अत: प्रत्यक्ष और अनुमिति को विभिन्न ही ज्ञान मानना उचित है ऐसा क्यों न कहा जाय? तो इसका उत्तर

यह समझना चाहिए कि परोक्ष ज्ञान के विषय यदि नियमतः अवर्त्तमान ही होते एवं प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय नियमतः वर्तमान ही तब ऐसा कहना कुछ सगत-सा भी कथञ्चित् कहा जा सकता। परन्तु ऐसी बात तो नहीं है। वर्तमान अग्नि आदि की भी धूम आदि को देख कर अनुमिति होती ही है। और भी इस सम्बंध में ध्यान देने योग्य बात यह है कि नैयायिक लोगों ने जबकि सामान्य-लक्षणा और ज्ञानलक्षणा सन्निकर्ष को भी विषय के साथ इन्द्रियों का सन्निकर्ष माना है, जिनकी विस्तृत रूप से चर्चा की जा चुकी है तब प्रत्यक्ष के लिए विषय की विद्यमानता एवं इन्द्रिय के साथ अव्यवधान की अपेक्षा न्यायमत में भी कैसे मान्य कहीं जा सकती? क्योंकि किसी एक घड़े को देख कर सामान्यलक्षण सन्निकर्ष के सहारे दृश्य-अदृष्ट, अतीत-अनागत, व्यवहित, विप्रकृष्ट सारे घड़ों को प्रत्यक्ष रूप से समझा जाता है। ऐसा नैयायिक लोग मानते हैं यह बात भली-भाँति पहले बतलायी जा चुकी है। ऐसी परिस्थिति में नैयायिकों को यह मानना ही होगा कि सर्वत्र प्रत्यक्ष स्थल में विषय की वर्तमानता अपेक्षित होता नहीं। और द्रष्टा व्यक्ति तथा द्रष्टव्य वस्तु इन दोनों का अव्यवधान भी अपेक्षित होता नहीं। ज्ञानलक्षण की मान्यता तो इन्द्रिय के विषय नियम को भी काट डालती है। क्योंकि ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष के अभ्युपगन्ता नैयायिक लोग 'यह पुष्प सुगन्धित है' इस प्रकार प्रत्यक्ष स्थल में आँख से सुगन्ध का भी प्रत्यक्ष मानते हैं। फिर प्रत्यक्ष के लिए विषय की सर्वत्र वर्तमानता की अपेक्षा बतलाकर अनुमिति आदि ज्ञानों को अप्रत्यक्ष अर्थात् परोक्ष मानना कैसे संगत कहा जा सकता?

किये गये उक्त प्रकार विवेचन के आधार पर स्मरण को भी प्रत्यक्ष ही समझना चाहिए। क्योंकि अनुमिति, प्रत्यक्ष आदि की तरह-मनस् और शरीरात्मा की ही अपेक्षा स्मृति के लिए भी प्रधान रूप से होती है। यदि यह कहा जाय कि स्मृति और अनुभव में अंतर की प्रतीति क्यों होती है? तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि स्मृति में पूर्व काल एवं नियमतः व्यवहित देश का भी विषयीकरण होता है और अनुभव स्थल में यह नियम लागू नहीं होता। इसीलिए दोनों ज्ञानों में अंदर प्रतीत होता है किन्तु इसलिए वैसा अंतर नहीं प्रतीत होता है कि स्मरण प्रत्यक्ष नहीं है। स्मरण की प्रक्रिया आन्तर सुख-दुख आदि के अनुभव की प्रक्रिया से मिलती-जुलती होती है। अन्तर यह होता कि सुख-दुःख आदि के अनुभवस्थल में स्मरणस्थल के समान काल एवं आधार का विषयीकरण होता नहीं और जब आन्तर सुख-दुःख आदि का भी स्मरण होता है तब वहाँ अतीत काल एवं दूर देश का भी विषयीकरण होता है।

अब यहाँ प्रश्न उठ खड़ा हो सकता है कि इस भूताद्वैत-सिद्धान्त में जब कि प्रत्यक्ष को ही केवल ज्ञान माना जाता है। सारे ज्ञानों को प्रत्यक्ष के अंदर ही गतार्थ किया जा रहा है और यह भी पहले बारम्बार कहा गया है कि यह दर्शन दाण्डिक-दर्शन है तो इसका परिणाम यह होना चाहिए कि दण्डक्षेत्र में जो प्रत्यक्ष को महत्ता दी जाती है वह उसे प्राप्त नहीं होनी चाहिए। दण्डक्षेत्र में साक्षी जब यह कहता है कि मैंने प्रत्यक्षतः इस

घटना को देखा है तभी उसके आधार पर न्यायाधीश दण्ड का विधान करता है। यदि साक्षी यह कहे कि मैंने इस घटना को देखा नहीं किन्तु अमुक हेतु से अनुमान किया, अथवा यह कहे कि मैंने अमुक व्यक्ति से इसे सुना तो उस साक्षी के साक्ष्य के आधार पर अभियुक्त को न्यायाधीश दोषी मानता नहीं, अपराधी स्थिर करके उसके लिए दण्डविधान करता नहीं। ऐसी परिस्थिति की विद्यमानता में यदि अनुमिति आदि परोक्ष ज्ञानों को भी प्रत्यक्ष मान लिया जाय तो उक्त परिस्थिति असंगत हो उठेगी। साक्षी के यह कहने पर भी कि मैंने इसका अनुमान किया या मैंने इसे सुना तो उसके अनुसार भी अभियुक्त के लिए दण्ड-व्यवस्था उचित कहलानी चाहिए। तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि सभी ज्ञान प्रत्यक्ष होने पर भी उनमें विद्यमान तारतम्य अर्थात् बलाबल-भाव अवश्य मान्य है इसलिए अनुमित्यात्मक प्रत्यक्ष और शाब्दात्मक प्रत्यक्ष की अपेक्षा घटना की सत्यता के निर्णय के लिए उन प्रत्यक्षों को जिन्हें कि अन्य दार्शनिक लोग भी प्रत्यक्ष मानते हैं दण्डक्षेत्र में अपराध-निर्णय-स्थल में महत्ता दी जाती है।

इस दाण्डिक चार्वाक-सिद्धान्त में प्रत्यक्षात्मक ज्ञान को ही मान्यता देने के कारण और एक यह भी है कि राजनीति सिद्धान्त में राजा और राष्ट्र को एक ही शरीर माना जाता है इसलिए राष्ट्र का कोई भी व्यक्ति जिस घटना को या जिस परिस्थिति को देखता है वह उस वस्तु का देखना राजा का भी देखना मान लिया जाता है। इसलिए ऐसी संसार की कोई भी वस्तु नहीं रह जाती जो किसी-न-किसी प्राणी के द्वारा साक्षात्कृत होती नहीं है। अतः इस दृष्टिकोण से भी यह कहा जाता है कि सारे ज्ञान प्रत्यक्ष ही हैं। इसी सिद्धान्त के आधार पर राजा 'चारचक्षु' भी कहलाता है। राजा का अभिप्राय न्यायाधीश से है। प्राचीन समय में राजा ही न्यायाधीश भी होता था इसलिए उसे ही 'चारचक्षु' भी कहा जाता था। चार का अर्थ होता है गुप्तचर, फलतः गुप्तभाव से अभियोगसम्पृक्त घटनाओं का पता लगाने वाला। वह औरों की आँखों को अपनी आँख मान कर कर्तव्य का निर्धारण करता था। आज भी अन्य रूप में समाज में यह प्रचलित ही है। औरों की आँखों को अपनी आँख बनाने या मानने की यह प्रक्रिया समाज में पूर्ण रूप से फैली हुई है। तभी तो जिस व्यक्ति के ऊपर जिस व्यक्ति को अविश्वास नहीं रहता वह उस व्यक्ति की देखी घटना को अपनी देखी जैसी ही मानता है। उस घटना पर संदेह बिलकुल नहीं रखता। सारे ज्ञानों को प्रत्यक्ष इस युक्ति से भी कहा जा सकता है कि साक्षात् या परम्परा से प्रत्येक जिज्ञासा प्रत्यक्ष से ही उदित होती है और उस जिज्ञासा की परम निवृत्ति भी प्रत्यक्ष से भी होती है और अन्य सारे ज्ञान भी उक्त प्रकार दो प्रत्यक्षों के बीच आ जाते हैं इसीलिए सारे ज्ञानों को प्रत्यक्ष मानना उचित है। जो जिसके अंदर ही रहते उन्हें वहीं मानना युक्तिसंगत है। इसी को 'सन्दंश' या 'सन्दंश न्याय' जगह-जगह पर कर्ममीमांसक-दार्शनिकों ने कहा है। सन्दंश कहते हैं सँड़सी को। पकड़ते समय उसके दो दाढ़ों के बीच जो कुछ आ जाता है वह उससे बाहर निकल पाता नहीं। मीमांसकों ने इसे दृष्टान्त बनाकर ऐसे स्थलों में क्रियागत अङ्गाङ्गि-भाव का निर्णय किया है, जहाँ दो विभिन्न क्रियाओं की चर्चा के बीच

एक किसी क्रिया की चर्चा वेद में की गयी है। मध्यचर्चित क्रिया को आगे और पीछे दोनों ओर चर्चित क्रिया का अंग माना गया है। मीमांसकों ने सन्दंश न्याय उपस्थित करते हुए बतलाया है कि दोनों ओर होने वाली एक ही क्रिया की दो चर्चाएँ सँड़सी के दाँत के समान है अत: उनके बीच होने वाली क्रिया की चर्चा स्वतंत्र नहीं बन सकती। उस मध्यवर्ती अन्य क्रियाचर्चा को भी दोनों ओर हुई क्रियाचर्चा का अंग ही मानना होगा। इसलिए मध्यचर्चित क्रिया अगल और बगल दोनों और चर्चित क्रिया का ही अंग है। साधारण जननिर्णय भी इस सन्दंश न्याय से कम काम नहीं लेता है। उदाहरण के लिए किसी भी लौकिक क्रिया को लिया जा सकता है। पाकार्थ प्रवृत्ति व्यक्ति की पाकक्रिया के बीच होने वाली सारी विभिन्न प्रकार की क्रियाएं इसी न्याय से पाक-क्रिया के अंग बनती हैं और समझी जाती हैं। अत: इसके अनुसार भी अनुमिति आदि को प्रत्यक्ष कहा जा सकता है। क्योंकि न्यायदर्शन के प्रवर्त्तक अक्षपाद गौतम ने अपने सूत्र में यह कहा है कि सारे ज्ञान प्रत्यक्षपूर्वक होते हैं और उनके सूत्र के भाष्यकार वात्स्यायन ने यह कहा है कि सारी प्रमितियाँ 'प्रत्यक्ष पर है' अर्थात् प्रत्यक्ष सबके पीछे है। इसी बात को फिर उन्होंने स्पष्ट करते हुए यह कहा है कि 'किसी भी वस्तु को प्रत्यक्ष रूप में देख लेने पर जिज्ञासु व्यक्ति की जिज्ञासा सर्वथा निवृत्त हो जाती है। नैयायिकों के अनुव्यवसाय ज्ञान की मान्यता की ओर ध्यान देने पर भी यह बात सिद्ध होती है कि किसी भी वस्तु का अन्तिम निर्णय प्रत्यक्ष से ही होता है। क्योंकि अनुव्यवसाय ज्ञान के अन्दर जिसे नियमत: न्याय-सिद्धान्त में मानस-प्रत्यक्ष रूप में ही मान्यता दी जाती है ज्ञान की तरह ज्ञान के नियम का भी पुनर्विषयीकरण होता है। अनुमिति आदि को स्वतंत्र प्रमिति मानने वालों की दृष्टि में भी अनुमिति आदि ज्ञान के अनन्तर विषयसहित अनुमिति को विषय करने वाला अनुव्यवसाय मान्य होता है। ऐसी परिस्थिति में यह मानना ही होगा कि संसार के अंदर ऐसी कोई भी वस्तु नहीं दिखलायी जा सकती जिसका मानस-प्रत्यक्ष मान्य न हो। न्यायमत में यह भी नहीं कहा जा सकता कि मन इन्द्रिय नहीं है। उक्त अनुव्यवसाय ज्ञान नियमत: व्यवसाय ज्ञान के अव्यवहित उत्तर क्षण में ही होता है और होता ही है। अत: यह भी नहीं कहा जा सकता है कि 'अनुव्यवसाय ज्ञान अनुमिति आदि पूर्वज्ञान के विषय को अपना भी विषय भले ही बनावे किन्तु वह ज्ञान-प्रवर्त्तक होता नहीं, इसलिए उसे प्रमाण भी नहीं मानना चाहिए'। क्योंकि द्वितीय बार विषय का विषयीकरण अनुव्यवसाय-ज्ञान के द्वारा ही होने के कारण अनुव्यवसाय ज्ञान को व्यवसाय ज्ञान को व्यवसाय ज्ञान की अपेक्षा और भी अधिक पुष्ट मानना उचित होगा। ऐसी परिस्थिति में उसे अप्रवर्त्तक नहीं कहा जा सकता। वरन् प्रवृत्ति के प्रति अव्यवधान-घटित कारणता उसी में सम्भव होगी, और यह भी कोई नियम नहीं है कि प्रवर्त्तक ज्ञान ही प्रमा हो। अन्यथा इतिहास के अध्ययन स्थल में ज्ञान प्रमा नहीं कहला पायगा, जो कि उचित नहीं।

'अव्यवधान घटित कारणता' का अभिप्राय यह है कि अव्यवहित पूर्व क्षण में जिसके रहे बिना जो कार्य न हो वह उसके प्रति कारण माना जाता है। कहने का तात्पर्य यह कि कारण का कार्य के अव्यवहित पूर्व क्षण में रहना आवश्यक है तदनुसार प्रवृत्ति-

कारणीभूत इच्छा के अव्यवहित पूर्वक्षण में अनुव्यवसाय ही रहेगा, व्यवसाय नहीं। अत: प्रवर्त्तक ज्ञान अनुव्यवसाय को ही मानना उचित है, व्यवसाय को नहीं, अनुमिति की तरह शब्द बोध के भी अव्यवहित उत्तर क्षण में अनुब्यवसाय होता ही है जो लोग अन्य भी अर्थापत्ति आदि प्रमिति मानते हैं उनके मत में उन प्रमितियों के अव्यवहित उत्तर क्षण में तदनुरूप अनुव्यवसाय ज्ञान मान्य होता ही है। सभी प्रकार के व्यवसाय ज्ञान स्थल में उनके विषयों का मानस प्रत्यक्ष मानना ही होगा। इस दृष्टिकोण से फलत: नैयायिक मत में भी प्रत्यक्षमात्र को प्रामाण्य अर्थात् विषय प्रकाशकता की मान्यता उचित प्रतीत होती है।

मीमांसकों के अंदर प्रमाकर का सम्प्रदाय व्यवसाय और अनुव्यवसाय इन दोनों ज्ञानों को मिलाकर एक ज्ञान सभी प्रकार की मान्य प्रमितियों के अव्यवहित उत्तर क्षण में मन्नता ही है। जिसकी चर्चा मीमांसकमतीय प्रत्यक्ष-विवेचन के अवसर पर विशद रूप से की जा चुकी है। अत: प्रभाकर मत में भी नैयायिकों के लिए कथित युक्ति के अनुसार यही उचित होगा कि सर्वत्र प्रत्यक्ष को ही प्रमाण माना जाय।

वेदान्त मत में भी वस्तुत: प्रत्यक्ष से ही विषय का प्रकाशन माना जाता है। यहाँ तक कि अन्त:करण और उसकी विषयाकार वृत्ति का भी उपयोग वेदान्ती लोग वस्तु के प्रकाशन में मानते नहीं। उसका उपयोग केवल प्रकाशात्मक चैतन्य और द्रष्टव्य विषय के बीच पड़े हुए अविद्या-पट के अपसारण अथवा विनाश में ही वेदान्ती लोग मानते हैं। विषय के प्रकाशन में बाधक होने वाले अज्ञानात्मक आवरण के भंग में ही अन्त:करण की वृत्ति का उपयोग स्वीकार करते हैं, विषय के प्रकाशन में नहीं। वेदान्तियों से जब यह पूछा जाता है कि प्रत्यक्ष क्या है तो वे कहते हैं कि चैतन्यात्मक प्रकाश ही प्रत्यक्ष है। जब कि प्रत्येक विषय का प्रकाशन वे चैतन्यात्मक प्रकाश से ही मानते हैं और चैतन्य को ही प्रत्यक्ष रूप में स्वीकार करते हैं। तब कैसे कोई यह कह सकता है कि वेदान्ती लोग प्रत्यक्ष को ही सचमुच प्रमाण नहीं मानते? क्योंकि प्रकाशक ही होता है प्रमाण, इस बात से सभी दार्शनिक, सभी विवेचक, सहमत हैं। कोई भी इस बात से असहमत कैसे हो सकता?

यद्यपि वेदान्तियों ने अनुमिति आदि प्रमितियों के निजी विवेचन के अवसर पर यहाँ तक विवेचन नहीं किया है, जैसे कि उन्हें करना चाहिए था कि वहाँ भी अज्ञान विषय का प्रकाशन चैतन्यात्मक प्रत्यक्ष से ही होता है। परन्तु गहराई में जाकर उनसे पूछने पर उन्हें यही कहना होगा। सारांश यह कि अनुमेय विषय का प्रकाशन तुम किससे मानते हो? विषयाकार अन्त:करण की वृत्ति से या उस वृत्ति में प्रतिबिम्बित होने वाले चैतन्यात्मक प्रत्यक्ष से? वेदान्तियों से यह पूछने पर यदि वे कहें कि विषयाकार अन्त:करण की वृत्ति से ही अनुमिति आदि परोक्षज्ञान स्थल में विषय का प्रकाशन हो जाता है वृत्ति प्रतिबिम्बित, चैतन्य से नहीं, तो उनके लिए इसका उत्तर कठिन हो जायेगा कि तब इन्द्रियद्वारक वृत्ति स्थल में भी विषयाकार अन्त:करण वृत्ति मात्र से ही क्यों नहीं विषय का प्रकाशन हो जाता है? वृत्ति-प्रतिबिम्बित-चैतन्य से विषय का प्रकाशन क्यों मान्य है? और यदि वे यह कहें

कि अनुमिति आदि परोक्ष स्थल में भी अन्तःकरण की वृत्ति मात्र से विषय का प्रकाशन नहीं होता, किन्तु उस वृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य से ही विषय का प्रकाशन होता है, तब वे यह नहीं कह सकते कि सर्वत्र प्रत्यक्ष से ही विषय का प्रकाशन होता नहीं। क्योंकि परोक्ष और अपरोक्ष सभी प्रकार के ज्ञान स्थलों में फलतः वे स्वमतसिद्ध चैतन्यात्मक प्रत्यक्ष को ही विषय का प्रकाशन मान बैठे रहेंगे। कहने का तात्पर्य यह कि वेदान्ती लोग अनुमिति से विषय के प्रकाशन-स्थल में अनुमिति किसे मानेंगे? पक्षात्मक धर्मी में व्याप्यभूत-हेतु-ज्ञानमूलक साध्यकार-अन्तःकरण वृत्ति को या उसमें प्रतिबिम्बित चैतन्यात्मक प्रत्यक्ष को? यदि वेदान्ती लोग उक्त अन्तःकरण की वृत्ति को ही अनुमिति कहें तो वृत्यात्मक जड़ से ही जड़ का प्रकाशन उनके लिए मान्य हो जाएगा। जिसका कुफल उनके लिए यह होगा कि उन्हें रूपान्तर में चार्वाक-सिद्धान्त को मान्यता देनी होगी। उनके लिए अपसिद्धान्त दुर्निवार हो उठेगा। और यदि वे अग्नि आदि आकारक अन्तःकरण की वृत्ति को ही अनुमिति न मानकर उसमें प्रतिबिम्बित चैतन्य को वे अनुमिति कहें तो स्वयं उन्हें मानना पड़ेगा कि अनुमिति भी फलतः प्रत्यक्ष ही है। रही यह बात कि तब परोक्ष और अपरोक्ष की परिभाषा अलग किस प्रकार की जाय? तो उसके लिए वृत्तिकी इन्द्रियद्वारकता एवं आगन्तुक चैतन्याभेद को ही विभिन्न परिभाषाओं के निर्णायक मापदण्ड रूप में उन्हें कहना होगा। जिसकी विस्तृत आलोचना वेदान्तसम्मत प्रत्यक्ष की प्रक्रिया के विवेचन के अवसर पर की जा चुकी है। अतः विचारपूर्वक देखने पर वेदान्तसिद्धान्त भी प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मान सकता है औरों को नहीं।

सांख्य-सिद्धान्त की ज्ञान सम्बंधी मान्यता की ओर ध्यान देने पर वहाँ भी कुछ ऐसी ही परिस्थिति देखने को मिलती है। क्योंकि वहाँ भी निश्चयात्मक निर्णय का भार बुद्धितत्त्व [१०३] के ऊपर ही न्यस्त है। वह निश्चय किसी भी प्रकार का क्यों न हों उसका सम्पादन करने का भार बुद्धितत्तव को ही है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्षात्मक निश्चय जैसे बुद्धितत्त्व का ही कृत्य है अनुमित्यात्मक निश्चय और शाब्दात्मक निश्चय भी उसी का कृत्य है। साथ ही सांख्यसिद्धान्त धर्म और धर्मी इन दोनों को अभिन्न तत्त्व समझता है। ऐसी परिस्थिति में परोक्ष कहे जाने वाले एवं अपरोक्ष कहे जाने वाले सभी निश्चय अपने आश्रयभूत बुद्धितत्त्व-केन्द्र में जाकर एक ही हो जाते हैं। सारांश यह है कि विवेचकीय तात्तिवक दृष्टि में क्या प्रत्यक्षात्मक क्या अनुमित्यात्मक निश्चय और क्या आगमात्मक निश्चय सभी तत्त्वतः एक ही हैं। सांख्यशास्त्री यदि सांख्य शास्त्र के इस सिद्धान्त से डिगें नहीं, इस पर अटल रहें तो उन्हें मानना ही होगा कि निश्चयात्मक ज्ञान प्रत्यक्ष ही है। सुतरां प्रत्यक्षात्मक निश्चय ही प्रमिति है यह भी उन्हें मानना ही होगा। फलतः प्रत्यक्ष ही केवल प्रमाण है यह चार्वाकीय-सिद्धान्त सांख्यसिद्धान्त से पुष्ट होता है। सांख्य का सिद्धान्त चार्वाकीय-सिद्धान्त के और अधिक निकट इसलिए देखा जाता है

---

(१०३) अध्यवसायो बुद्धिः.......सांख्यकारिका । २३।
अध्यवसाय इति। 'अध्यवसायो बुद्धिः' क्रियाक्रियावतोरवभेदविवक्षया। -सांख्यतत्व कौमुदी।

कि विषय का प्रकाशक ज्ञान उसके सिद्धान्त में प्राकृत अन्तःकरण का ही धर्म माना जाता है। साथ ही धर्म और धर्मी की अभिन्नता की मान्यता के कारण विषय का प्रकाशन-ज्ञान जिसे वे जड़ कहते उसी के पेट में समा जाता है, अलग उससे बाहर स्थान पाता नहीं। सम्भव हैं, यहाँ साँख्य की ओर से कुछ लोग यह कहें कि सांख्य ज्ञान को जड़ का धर्म तो मानता है सही। क्योंकि आत्मा को प्रकाशक मानने पर भी उसमें कर्त्तृत्व के संस्पर्श का उन्हें भय उपस्थित होता है। परन्तु फिर भी सांख्यसिद्धान्त में चार्वाकीय सिद्धान्त से महान् अन्तर यह पाया जायगा कि चार्वाक ज्ञान को भूत-धर्म फलतः भूत से अभिन्न मानता है। किन्तु साँख्यसिद्धान्त ऐसा मानता नहीं है क्योंकि वहाँ बुद्धि-तत्त्व, जो कि प्रकृति की सर्वप्रथम परिणति होती है, वह भूत नहीं है। क्योंकि वहाँ बुद्धितत्त्व के प्रथम परिणाम अहंकार के परिणाम माने जाते हैं सारे भूत। अतः सांख्यसिद्धान्त में ज्ञान को भूत धर्म नहीं कहा जा सकता। प्रकृत चार्वांक-सिद्धान्त की ओर से इस पर यह भलीभाँति कहा जा सकता है कि गम्भीर-भाव से विचार करने पर यह कथन भी सांख्यशास्त्रियों का टिक नहीं पायेगा। क्योंकि साँख्य है पक्का सत्कार्यवादी। उसकी दृष्टि में बिलकुल नया आरम्भ कोई हो ही नहीं सकता। अतः यह उससे मानना ही होगा कि मूल प्रकृति के गर्भ में जो नहीं होगा वह उसके साक्षात् या परम्परा से होने वाले किसी भी परिणाम में नहीं हो सकता। और जो उस मूल प्रकृति के अंदर होगा वह उसके साक्षात् एवं परम्परा से होने वाले प्रत्येक परिणाम में होगा ही। ऐसा नहीं हो सकता कि उसकी परिणामधारा के किसी भी सदस्य में वह न हो जो कि प्रकृति में विद्यमान हो। ऐसी परिस्थिति में निश्चयात्मक-बुद्धि-धर्म का अस्तित्व मूल प्रकृति में तथा बुद्धितत्त्व की परिणाम-धारा के प्रत्येक सदस्य में भी अवश्य होगा। साक्षात् नहीं अहंकार के द्वारा ही सही, भूततत्त्व आखिर परिणाम तो होगा उसी बुद्धितत्त्व का या मूलतः उस मूलप्रकृति का? ऐसी परिस्थिति में सांख्यसिद्धान्ती लोग कैसे भूततत्व को चेतनावान् अपने सिद्धान्त के अनुसार नहीं मानेंगे?

यदि सांख्य की ओर से इस पर यह कहा जाय कि ज्ञान सत्त्वगुण का परिणाम है तमोगुण का नहीं। सांख्यसिद्धान्त के अनुसार भूत की सृष्टि अहंकार के तमस् अंश से होता है। इसलिए भूत में ज्ञान सांख्यसिद्धान्त के अनुसार स्थिर नहीं किया जा सकता। तो यह भी कथन इसलिए उनका अनायास कट जाता है कि वे सत्त्व, रजस् और तमस्, इन तीनों गुणों को सर्वथा अविनाभूत मानते हैं। उक्त तीनों गुणों के अंदर कोई भी एक अपर दोनों को छोड़ कभी-किसी प्रकार रह नहीं सकता। सुतराँ अहंकार के केवल तमस् अंश से भूत की उत्पत्ति होती है यह वे कभी नहीं कह सकते। ऐसी परिस्थिति में भूतव्यंजक अहंकार के अंश में अपेक्षाकृत सत्त्व की मात्रा अल्प भले ही हो और उस अल्पता के कारण भूत में ज्ञान की मात्रा की अल्पता भले ही कही जाय सांख्यसिद्धान्तियों की ओर से, परन्तु इस प्रकार भूत में ज्ञान का अत्यन्त अपलाप नहीं किया जा सकता कि 'भूत' सर्वथा निर्ज्ञान है। साधारणतया भूत में चार्वांक-सिद्धान्त भी अस्फुट चैतन्य ही मानता है स्फुट

चैतन्य नहीं। इसलिए सांख्य की ओर से यदि भूतगत ज्ञान की मात्रागत अल्पता कही जाय तो इस सम्बंध में चार्वांक-सिद्धान्त विरोध करने के लिए नहीं उठेगा। क्योंकि उसे दिखलाना यही है कि गम्भीर-भाव से विचार करने पर सांख्य को भी भूत में चेतना मान्य है, अमान्य नहीं। अतः इस सम्बंध में साख्य और चार्वाक मतों में अंतर इतना ही होता है प्रधानतया, कि सांख्यशास्त्री जहाँ मूल तत्त्वारम्भ त्रिगुणात्मक प्रकृति से जिसे अव्यक्त प्रधान आदि शब्दों से भी वे पुकारते हैं, मानते हैं और चार्वांक सिद्धान्त में वैसा मान्य न होकर भूत से ही तत्त्वारम्भ मान्य होता है।

प्रत्यक्ष के सम्बंध में जैनों का सिद्धान्त जो पहले बतलाया जा चुका है उस पर गम्भीर भाव से दृष्टिपात करने पर वह चार्वाक-सिद्धान्त का अनुकूल-सा इसलिए होता हुआ प्रतीत होता है कि वहाँ भी आत्म-मात्रजन्य-ज्ञान को ही प्रत्यक्ष माना जाता है। ऐसी परिस्थिति में आत्मा को यदि भूतात्मा सिद्ध कर दिया जाय तो चार्वाक-सिद्धान्त उसके लिए अवश्य निकट हो जायगा।

प्रत्यक्ष प्रक्रिया के सम्बंध में शैव-सिद्धान्त चार्वाक सिद्धान्त के निकट

शैव सिद्धान्त की विवेचना करने पर वह चार्वाक-सिद्धान्त का प्रत्यक्ष के सम्बंध में अति निकटवर्ती इसलिए प्रतीत होगा कि वह जब चित्प्रत्यक्ष को ही वास्तविक प्रत्यक्ष मानता है तो उस मत में भी फलतः केवल प्रत्यक्ष ही प्रमाण रह जाता है। चित्प्रत्यक्ष को वे लोग इन्द्रिय और मन इन दोनों के अंदर किसी की भी बिलकुल अपेक्षा न रखने वाला मानते हैं। तदनुसार अनुमिति आदि स्थल भी चित्प्रत्यक्ष से अवश्य आक्रान्त होगा। इसलिए जिस प्रकार इन्द्रिय प्रत्यक्ष शैव सिद्धान्त में गौणरूप से ही प्रत्यक्ष कहलाता है मुख्य रूप से नहीं, उसी प्रकार अनुमिति आदि को भी मुख्यतया प्रमाणरूप से मान्य नहीं कहा जा सकता। ऐसी परिस्थिति में चार्वांकसम्मत प्रत्यक्ष-मात्र-प्रमाणता शैव-सिद्धान्त में भी मान्य दीख पड़ती है। चार्वांक-सिद्धान्त को प्रतिवाद, शैवों के उस कथन का, विशेष रूप से करना है, जिसके द्वारा उन्होंने यह स्वमत व्यक्त किया है कि 'मन भी इन्द्रिय की तरह वस्तुतः प्रमा का कारण नहीं है' क्योंकि यहाँ जो चार्वाकीय-प्रत्यक्ष की रूपरेखा स्थिर की गयी है, उसमें यह मान्य बतलाया गया है कि मन है सभी ज्ञानों का कारण और वह ज्ञान उत्पन्न होता है शरीरात्मा में।

न्यायदर्शन के जन्मदाता गौतम ने जो सूत्रद्वारा प्रत्यक्ष का लक्षण यह बतलाया है कि 'इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से होने वाला भ्रम-भिन्न ज्ञान है' 'प्रत्यक्ष', उससे भी

(१०४) सर्वग्राहकं किञ्चित् प्रमाणमेष्टव्यम्। तच्चिच्छाक्तिरेव। तुदुक्तम्न चक्षुः शब्दसम्वितत्तौ न श्रोत्रं रूपवेदने।
सर्वत्र ग्राहिका सम्वित् सैव मान मतो मातम्। *-शैव परिभाषा।*

(१०५) इन्द्रियार्थ सन्निकर्योत्पन्नं ज्ञानयव्यपदेश्यमव्यभिचारि-व्यवसत्यात्मकं प्रत्यक्षम्। ४।
-न्यायदर्शन, अ. १ आ १।

चार्वाकीय इस मत की पुष्टि होती है कि प्रमित्यात्मक ज्ञान ही है प्रमाण। क्योंकि विषय का प्रकाशन अर्थात् विषयीकरण उस प्रत्यक्षात्मक ज्ञान से ही होता है। यद्यपि मिश्र वाचस्पति ने 'यत:' इस पद का सूत्र में अध्याहार मानकर यह स्थिर किया है कि प्रत्यक्ष ज्ञान प्रमा है, प्रमाण नहीं। अत: प्रत्यक्ष प्रमाण इन्द्रिय या उसके सन्निकर्ष को मानना चाहिए परन्तु यह उनका कथन प्रमा को प्रमाण का कार्य मानने के आधार पर आधारित है। भाष्यकार वात्स्यायन ने यद्यपि इन्द्रिय और द्रष्टव्य विषय इन दोनों के बीच होने वाले सन्निकर्ष को भी मतभेद से प्रत्यक्ष प्रमाण कहा किन्तु फिर भी वे गौतम की सौत्रसम्मत्ति की ओर से बिलकुल अपनामुंह मोड़ न सके। इसलिए उन्होंने कहा कि हान बुद्धि, उपादान बुद्धि और उपेक्षा बुद्धि को यदि प्रमा माना जाय तो विषय के प्रत्यक्षात्मक ज्ञान को ही प्रमाण मानना चाहिए। सुतरां विचारपूर्वक देखने पर प्रत्यक्ष मात्र ही एक प्रमिति मानी जानी चाहिए और उसे ही एकमात्र प्रमाण मानना चाहिए। भाष्यकार वात्स्यायन ने न्यायदर्शन के भाष्यारम्भ में जो यह कहा है कि 'प्रमाण से अर्थ निश्चय के अनन्तर होने वाली प्रवृत्ति की सफलता' को देखते हुए यह मानना उचित है कि 'प्रमाण सार्थक ही होता है' उसकी व्याख्या करते हुए मिश्र वाचस्पति ने 'प्रमाण सार्थक है' इस अंश की व्याख्या यह की है कि 'प्रमाण अर्थात् प्रमा' सार्थक है अर्थांत् विषय के व्यभिचार से सर्वथा रहित है'। तात्पर्य टीकाकार वाचस्पति मिश्रा का कहना है कि प्रमा ज्ञान नियमत: विद्यमान विषयक ही होता है, यह भाष्यकार वात्स्यायन के उक्त कथन का अभिप्राय है। इससे भी यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन नैयायिक-दार्शनिक भी विषय-प्रकाशकता के कारण प्रमिति-ज्ञान को ही प्रमाण मानते थे। उस प्रमा-ज्ञान के प्रति करण होने वाले को प्रमाण गौण रूप से ही मानते थे। इस प्रकार विभिन्न दार्शनिक मतों का गम्भीरतापूर्वक विवेचन करने पर यही निर्णय प्राप्त होता है कि प्रत्यक्ष ही प्रमा है और वही सममुच प्रमाण है। प्रशस्तदेव 'अपने पदार्थ धर्म संग्रह' में जो निर्णय के प्रामाण्य का खण्डन किया है उससे भी यह प्रतीत होता है कि उनके भी पूर्ववर्ती प्राचीन लोग प्रमिति को ही प्रमाण मानते थे। जिसका स्थापन यहाँ किया जा चुका है।

□□□

पंचम प्रकरण

चार्वाक-मतानुकूल अप्रमा-विवेचन

यों तो संक्षिप्त रूप में अप्रमा ज्ञान का विवेचन किया जा चुका है। फिर भी प्रमा के किये गये विस्तृत विवेचन को देखते हुए उसका भी विस्तृत विवेचन अपेक्षित प्रतीत होता है। क्योंकि अप्रमा ज्ञान के सम्बंध में भी दार्शनिकों के बीच महान् वैमत्य पाया जाता है। अप्रमा के कारण, उसके प्रभेद एवं उसकी प्रक्रिया इन सारी बातों में मतभेद पाया जाता है दार्शनिकों के बीच। अन्य सभी दार्शनिक प्राय: इस बात से सहमत पाये जाते हैं कि अप्रमा-ज्ञान किसी-न-किसी दोष की अस्तिता के कारण हुआ करता है। परन्तु चार्वाकीय-दृष्टिकोण से इसका समर्थन तभी किया जाता है जब कि विषय की अविद्यमानता को भी दोष मान लिया जाय। पहले यह बतलाया जा चुका है कि ज्ञान अप्रमा इसलिए होता है कि आश्रयात्मक भूत के अतिरिक्त विषयात्मक भूत का साहाय्य उस ज्ञान के उदय में हो पाता नहीं। इस सिद्धान्त में भी प्रत्यक्ष के प्रति विषय को उसी प्रकार कारणता मान्य है जिस प्रकार न्याय वैशेषिक और बौद्ध सिद्धान्त में। अप्रमा-ज्ञान के विभाजन में मतभेद यह पाया जाता है कि नैयायिक एवं वैशेषिक दार्शनिक अप्रमा ज्ञान को संशय, विपर्यय और तर्क इस प्रकार तीन भागों में विभक्त मानते हैं। परन्तु मीमांसकों ने तर्क को ज्ञान रूप न मान कर कथनात्मक, फलत: शब्दस्वरूप माना है। अत: उनके मत में तर्क अप्रमा ज्ञान का एक प्रभेद नहीं मान्य हो पाता। इस चार्वाकीय दृष्टिकोण में सारे संशय ज्ञान भी अप्रमा के ही प्रभेद नहीं माने जा सकते जिसका विशदीकरण आगे होगा। मीमाँसकों के अंदर प्रभाकर का सम्प्रदाय तो सारे ज्ञानों को प्रमात्मक ही मानता है। उसके सिद्धान्त में कोई भी ज्ञान अप्रमात्मक होता नहीं। अत: विपर्यय जिसे कि अन्य सभी दार्शनिक अप्रमा मानते हैं, प्रभाकर के मत में अप्रमा न होकर, ज्ञान-द्वयात्मक प्रमास्वरूप ही होता है। इसी प्रकार कोई दार्शनिक यदि विपर्यय-ज्ञान को जिसे भ्रान्ति, भ्रम आदि शब्दों से भी कहा जाता है आत्मख्याति मानता है, तो दूसरा कोई दार्शनिक उसे ही 'आत्मख्याति' न मान कर 'असत्ख्याति' मानता है। तीसरा कोई दार्शनिक उसी विपर्यय को उक्त दोनों प्रकार न मान कर 'अनिवर्चनीय ख्याति' मानता है तो चौथा कोई विपर्यय को वह भी न मान कर उसके स्थान में अख्याति मान डालता है। और पाँचवाँ दार्शनिकों का दल अख्याति का भी खण्डन करता हुआ विपर्यय को अन्यथा ख्याति मानता है। इस प्रकार विपर्ययात्मक अप्रमा ज्ञान के सम्बंध में विभिन्न प्रकार मतवाद की उपस्थिति के कारण इसके सम्बंध में भी विशेष जिज्ञासा का उदय अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता एवं उस जिज्ञासा के

निवृत्त्यर्थ अपेक्षित विस्तृत विवेचन को अनपेक्षित नहीं कहा जा सकता।

आत्मख्याति और चार्वाक दृष्टि में उसकी अमानता--

कोई रजतार्थी कभी चमकती सीप में 'यह चाँदी है' इस प्रकार रजत का ज्ञान कर बैठता है, यह निर्विवाद है। इसी प्रकार प्रत्येक प्राणी अपने जीवन में एक या एकाधिक बार अन्य किसी वस्तु को उससे अन्य रूप में प्रायः देखता ही है। वह देखना भ्रमज्ञान है, उसे ही भ्रांति, भूल आदि शब्दों से भी कहा जाता है। इस बात को कुछ अख्यातिवादी प्रभाकर और सांख्य आदि को छोड़ कर और सभी लोग मानते हैं। यहाँ तक कि साधारण जनता भी उसे भ्रम-ज्ञान ही मानती है। उसके सम्बंध में वह इस प्रकार वाक्य-प्रयोग करती है कि 'भूल हो गयी' भ्रम हो गया इत्यादि। इस भ्रमात्मक ज्ञान को शून्याद्वतवादी को छोड़कर तीनों बौद्ध-दार्शनिक 'आत्मख्याति' मानते हैं। इस 'आत्मख्याति' शब्द के अंदर आत्म-शब्द का अर्थ है धारावाही क्षणिक-विज्ञान और ख्याति शब्द का अर्थ है ज्ञान। इन दार्शनिकों का कहना यह है कि सीप को जहाँ चाँदी के रूप में देखा जाता है वहाँ वह दृश्यमान चाँदी आन्तर क्षणिक-विज्ञान का ही आकार होता है, अतः वह वस्तुतः बाह्य न होकर आन्तर ही होता है परन्तु देखने वाला उस तत्त्वतः आन्तर विज्ञानात्मक चाँदी को बाह्य समझ बैठता है बाहरी वस्तु समझ बैठता है यही उस द्रष्टा के द्वारा की जाने वाली गलती होती है। इसीलिए उस रजत-दर्शन को भूल माना एवं कहा जाता है। देखा जाने वाला रजत तत्त्वतः तात्विक आन्तर-विज्ञानस्वरूप आत्मा ही होता है। उसी की ख्याति होती है अर्थात् उस आन्तर क्षणिक-विज्ञानस्वरूप आत्मा का ही ज्ञान होता है। इसलिए सीप में होने वाली उक्त प्रकार रजत-बुद्धि एवं उसके समान होने वाली अन्य सारी बुद्धियों को आत्मख्याति मानना, एवं इसी नाम से पुकारना ही उचित है। यहाँ यद्यपि उक्त प्रकार ज्ञान को उक्त तीनों बौद्ध दार्शनिक-आत्मख्याति मानते हैं परन्तु इन बाह्यास्तित्व-वाद का आदर और अनादर के आधार पर अवान्तर मतभेद यह होता है कि बाह्यास्तित्ववादी सौत्रान्तिक और वैभाषिक सम्प्रदाय के बौद्ध दार्शनिक, जिनकी मतपरिचयपूर्वक प्रत्यक्ष-प्रक्रिया पहले भी बतलायी जा चुकी है, विज्ञानकार रजत में वे जिस बाह्यता का आरोप करते हैं वह बाह्यता उनके मत में आन्तर क्षणिक विज्ञान का आकार होती नहीं। क्योंकि वे आन्तर-क्षणिक विज्ञान-स्वरूप आत्मा से अतिरिक्त बाह्य दृश्य जगत् को नैयायिक एवं वैशेषिक की तरह ठोस बाह्य वस्तु रूप में स्वीकार करते हैं अतः बाह्यवस्तुगत बाह्य भी उनके सिद्धान्त में तात्त्विक[१०६] बाह्य वस्तु ही होती है। कहने का सरल तात्पर्य यह कि बाह्यास्तित्ववादी उक्त दोनों बौद्धों के मत में चाँदी में होने वाली 'यह चाँदी है' यह बुद्धि और सीप में होने वाली 'यह चाँदी है' यह बुद्धि, इन दोनों बुद्धियों में अन्तर होता है। दोनों बुद्धियाँ एक तरह की प्रतीत होती हुई भी तत्त्वतः एक तरह की होती नहीं। क्योंकि बाजार

(१०६) अन्यधर्मस्य ज्ञानधर्मस्य रजतस्य। ज्ञानाकारस्येति यावत्। अध्यासोऽन्यत्र बाह्ये। सौन्त्रान्तिक नये तावद्वाह्यमस्ति वस्तु सत्। तत्र ज्ञानाकारस्यारोपः *-अध्यास भाष्य भामती।*

में क्रय-विक्रय के लिए रखी हुई चाँदी आन्तर क्षणिक-विज्ञान का आकार मात्र होती नहीं उसका आन्तर-क्षणिक-विज्ञान स्वरूप आत्मा एवं उसके आकारभूत शुक्ति रजत से पृथक् स्वतंत्र बाह्य अस्तित्व होता है।

क्षणिक-विज्ञान मात्र को तत्त्व मानने वाले योगाचार-साम्प्रदायिक बौद्धों के मत में किन्तु यह बात होती नहीं। उनके मत में चाँदी में होने वाली 'यह चाँदी है' यह रजत बुद्धि और सीप में होने वाली 'यह चाँदी है' यह रजत बुद्धि, इन दोनों में बिलकुल किसी प्रकार का अन्तर मान्य होता नहीं। क्योंकि इस सम्प्रदाय के मत में उक्त बाजारू रजत और शुक्ति-रजत में किसी प्रकार का अन्तर मान्य होता नहीं। सम्भव है कि इस बात को सुन कर अधिक लोग अत्यन्त आश्चर्यान्वित हों, क्योंकि साधारणतया लोगों की दृष्टि में शुक्ति-रजत और बाजारू रजत में यह अन्तर स्पष्ट देखा जाता है कि बाजारू चाँदी से पात्र आदि बनाये जा सकते हैं, बनाये जाते हैं, किन्तु शुक्ति-रजत को कूटा-पीटा जा सकता नहीं अतः उससे पात्र आदि का निर्माण सम्भव नहीं कहा जा सकता। किन्तु उक्त योगाचार-साम्प्रदायिक बौद्ध विज्ञानों के लिए यह बिलकुल आश्चर्य की बात नहीं होगी क्योंकि उनके मत में उक्त कूटना-पीटना, पात्र एवं उसका बनना सब तो तो आन्तर-क्षणिक-विज्ञान का ही आकार होगा? वे कहेंगे यह, कि जहाँ कूटने-पीटने आदि की प्रतीति होगी, यथा स्वप्न में, तो वहाँ कूट-पीट कर पात्र निर्माण भी होगा ही। अतः आश्चर्य का कोई स्थान नहीं रह जाता। अतः सर्वत्र आत्मख्याति ही मान्य है। ये बाह्य रूप से प्रतीत होने वाली वस्तुओं को भी आन्तर विज्ञान मात्र इस युक्ति से सिद्ध करते हैं कि किसी से किसी को अलग, स्वतंत्र वस्तु, तभी कहा जा सकता जबकि उन दोनों का पृथक अस्तित्व प्रतीत हो। तो, सो प्रतीत होता नहीं। ज्ञाता व्यक्ति के निकट, बाह्य वस्तुएँ, जिन्हें बाह्मास्तित्ववादी बौद्ध एवं अन्य लोग विज्ञान से पृथक् अस्तित्वशील मानते हैं ज्ञाता व्यक्ति के निकट जब उपस्थित होती हैं, उनके मन में आती है, तब ज्ञान के साथ ही आती हैं। क्योंकि मन में आना ज्ञान से अतिरिक्त और कुछ है नहीं। परन्तु प्रकृत चार्वाक-सिद्धान्त उनके इस कथन का प्रतिवाद इस प्रकार करेगा कि जहाँ तक विषय और ज्ञान इन दोनों का अपृथक् अस्तित्त्व की बात है वह तो चार्वाकीय-दृष्टिकोण में भी मान्य है क्योंकि ज्ञान को चार्वाकीय दृष्टिकोण में भौतिक ही माने जाने के कारण उसका पृथक् अस्तित्व यहाँ भी मान्य नहीं होता। परन्तु इन दोनों के अन्दर एक शेष करते समय ज्ञान का ही तात्त्विक अस्तित्व माना जाय भूत का नहीं, इसका कोई भी निर्णायक, उक्त क्षणिक-विज्ञान-मात्र-तत्त्वतावादी की ओर से उपस्थित नहीं किया जा सकता। चार्वाक की ओर से भूत के ही एक शेष की मान्यता के औचित्य में यह युक्ति उपस्थित की जा सकती है कि प्रत्येक प्रामाणिक व्यक्ति 'मैं समझता हूँ', 'मेरा ज्ञान' इत्यादि प्रतीति तदनुरूप वाक्य-प्रयोग करता हुआ पाया जाता है। इसके विपरीत 'ज्ञान का मैं' इत्यादि प्रतीति कोई भी प्रामाणिक व्यक्ति कभी करता हुआ पाता नहीं। इस परिस्थिति के आधार पर 'मैं', 'मेरा'

आदि पदों से विवक्षित होने वाली आत्मवस्तु को, फलतः शरीर को, मुख्य और 'ज्ञान' आदि शब्द से कहीं जाने वाली ज्ञान-वस्तु को उसकी अपेक्षा गौण मानना ही उचित होगा। किन्हीं दो के अंदर एक शेष करते समय अवश्य मुख्य का ही अवशिष्ट रह जाना उचित होगा इसलिए ज्ञान को वास्तविक तत्त्व न मान कर उसके आश्रयभूत भूत को ही वास्तविक तत्त्व मानना उचित होगा। अतः धारावाही-क्षणिक-विज्ञान को ही वास्तविकता देकर तदनुकूल मान्यता प्राप्त-आत्मख्याति जिसका कि स्वरूप-वर्णन किया जा चुका है मान्य नहीं ठहरायी जा सकती।

जगह-जगह पर कुछ विवेचकों ने इस आत्मख्याति की, जिसकी अमान्यता चार्वाकीय दृष्टिकोण से बतलायी गयी है असत्ख्याति भी कहा है। इसका कारक यह है कि क्षणिक-विज्ञान-मात्र तत्त्वतावादी की दृष्टि में ज्ञान के विषय घट पट आदि वस्तुएँ सत् अर्थात् तात्त्विक हैं नहीं। अतः सभी विगयभूत वस्तुओं को 'असत्' ही मानना होगा। किन्तु उन असत् वस्तुओं की प्रतीतिस्वरूप ख्याति होती है अतः आत्मख्याति की जगह असत्ख्याति शब्द अधिक उपयुक्त होगा। इसके विरुद्ध चार्वाक पक्ष से यह कहा जा सकता है कि 'असत्' शब्द से सर्वथा असम्भूत का ही ग्रहण उचित कहला सकता है। और सर्वदा असम्भूत की कभी प्रतीति होती नहीं। ऐसी परिस्थिति में प्रतीयमान जागतिक वस्तुओं को कैसे 'असत्' कहा जा सकता? और कैसे उनकी ख्याति को असत्-ख्याति कहना उचित कहा जायेगा?

चार्वाक-मत में असत्ख्याति भी मान्य नहीं--

क्षणिक-विज्ञानवादी जहाँ सीप में होने वाली रजत की प्रतीति को आत्मख्याति मानते हैं वहाँ नागार्जुन का बौद्ध-सम्प्रदाय, जिसे कि माध्यमिक भी कहा जाता है आत्म-ख्याति न मान कर 'असत्ख्याति' मानता है। वह यह सोचता है कि जब प्रतीयमान प्रत्येक जागतिक वस्तु के दूर तक चलने वाले विश्लेषण के अन्त में शून्य ही अवशिष्ट रह जाता हैं तब शून्य को ही तथ्य मानना उचित है। इस शून्य की व्याख्या वे लोग यह करते हैं सत्, असत् और सदसत् तथा उन सबसे भिन्न इन चारों कोटियों-के परे। फलतः सारे प्रतीयमान को तुल्य-युक्तिप्रयुक्त प्रकार शून्य मानना उचित होने पर वह ख्याति भी सत् नहीं असत् ही है। यही असत् ख्याति की उन असत्ख्यातिवादियों की व्याख्या है। इसक अनुसार इसके अनुयायियों के दृष्टिकोण में सीप में होने वाली 'यह चाँदी है' यह प्रतीति जो कि एक प्रकार ख्याति ही है कैसे असत् नहीं हो सकती? एवं उस ख्याति के विषयों को भी कैसे नहीं असत् कहा जायेगा? सुतराँ 'असत् की ख्याति' इस व्याख्या के अनुसार तथा 'असत् जो ख्याति' इस व्याख्या के भी अनुसार उक्त शुक्तिका में होने वाली रजत की प्रतीति को असत्ख्याति मानना उचित है। क्षणिक-विज्ञानवादी जहाँ कम से कम अपने को बचा रखा था। क्षणिक विज्ञान रूप में ही सही, आत्मा का अस्तित्व मान कर भाववस्तु की सत्ता को उन्होंने मान्यता दी थी, वहाँ इस असत्ख्यातिवादी ने आत्महत्या का उदाहरण

उपस्थित किया। अपने को भी शून्य मान लिया। इसलिए माध्यमिक-साम्प्रदायिक-बौद्धों का यह शून्यद्वैतवाद एवं शून्यख्याति अथवा असत्ख्याति का उपदेश, व्याहत अतएव असम्बद्ध-प्रलाप-सा प्रतीत होता है। क्योंकि कहाँ ख्यापक की शून्यता का निर्णय और कहाँ अपने द्वारा निर्णयात्मक रूप से शून्यता का ख्यापन? दोनों आपसे सर्वथा विरुद्ध होते हैं। यदि ख्यापक बिलकुल है नहीं तो शून्यता का ख्यापन कैसे? क्योंकि ख्यापक के बिना ख्यापन कहा नहीं जा सकता। कर्त्ता के बिना भला कोई भी क्रिया कैसे सम्भव पर हो सकती? और यदि ख्यापन का कर्ता मान्य हो तो सर्वशून्यता संगत कैसे।

यह भी कहना संगत नहीं कहा जा सकता, कि उक्त ख्यापक को सम्वृत्ति सत् मान कर सामंजस्य उपस्थित किया जा सकता है। कर्त्ता की सत्ता यदि साम्वृतिक होगी? तो सम्वृत्ति की सत्ता कैसी होगी? यदि यह कहा जाय कि सम्वृत्ति की सत्ता भी साम्वृतिक होगी? तो या तो कोई-न-कोई एक ऐसी सम्वृत्ति अवश्य मान्य होगी जो कि साम्वृतिक न होने के कारण तथ्य मान्य हो उठेगी। ऐसी परिस्थिति में शून्य की तथ्यता नहीं मान्य कहीं जा सकती। और एक बात यह कि 'शून्य तथ्य है' यह कथन इसलिए भी असंगत प्रतीत होता है कि शून्यता और तथ्यता ये दोनों परस्पर अत्यन्त विरुद्ध है। इसलिए 'शून्य तथ्य है' यह कहा ही नहीं जा सकता।

कहने का तात्पर्य यह है कि शून्याद्वैतवादी के मत में प्रमाण-प्रमेयभाव बिलकुल मान्य नहीं है। ऐसी परिस्थिति में अपने शून्याद्वैत पक्ष का स्थापना अथवा विरोधी पक्ष का खण्डन चैसे शून्याद्वैती कर सकते? यद्यपि जगह-जगह पर उन्होंने इसका समाधान इस प्रकार दिया है कि तात्त्विक प्रमाण-प्रमेयभाव के न होते हुए भी कुछ देर के लिए मानकर शून्याद्वैत का या अन्य किसी और का भी ख्यापन हो सकता है। परन्तु इसमें भी भारी कठिनता यह उपस्थित होती है कि आखिर मानने वाले के लिए मानने वाला तो मान्य होना चाहिए। यदि वह मान्य होता है तो वही बलिवेदी बन जाता है शून्याद्वैत के बलिदान के लिए। और यदि वह भी मान्य नहीं माना जाता है तो मानने वाले के बिना मानना असम्भव होने के कारण यह भी नहीं कहा जा सकता जैसा कि कहा गया है कि 'कुछ देर के लिए प्रमाण-प्रमेयभाव मानकर शून्यख्यापन किया जा सकता है।'

प्रमाण-प्रमेयभाव का खण्डन वे लोग एक और प्रकार से भी करते हैं-वे प्रमाण-प्रमेय-भाववादी से पूछते यह हैं कि प्रमेय की प्रमिति प्रमाणाधीन मानने पर प्रश्न उपस्थित यह होता है कि प्रमाण की प्रमिति कैसे होगी? यदि यह कहा जाय कि प्रमाणान्तर से उस प्रमाण की प्रमिति हो जायेगी तो-उस स्वीकृत प्रमाण की प्रमिति के लिए भी प्रमाणान्तर [१०७] की आवश्यकता होगी इसलिए अनवस्था दुर्वार हो उठेगी। और

(१०७) प्रमाणान्तरतः सिद्धेः प्रमाणानां प्रमाणान्तरसिद्धिप्रसंगः । १७ ।

-न्यायदर्शन, अ २ आ १।

यदि यह कहा जाय कि प्रमाण की प्रमिति, बिना प्रमाण की ही हो जायगी, इसलिए अनवस्था होगी नहीं। तो ऐसा मानने पर प्रमेय की भी प्रमिति यों ही बिना प्रमाण की ही क्यों न मान ली जाय? अतः प्रमाण-प्रमेयभाव की स्थापना असम्भव है।

प्रमाण-द्वैतगर्भ भूताद्वैत को मान्यता देने वाले चार्वाक-सिद्धान्त में इस प्रकार से प्रमाण-प्रमेयभाव की अनुपपत्ति नहीं दिखलायी जा सकती। क्योंकि अद्वैत की द्वैतगर्भता प्रयुक्त यहाँ प्रमाण-प्रमेयभाव बन सकता है। और एक मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण की मान्यता होने पर भी अनुमिति-प्रत्यक्ष, आदि रूप में विहित प्रत्यक्ष विभाजन के आधार पर एक विध प्रत्यक्ष से अपरविध-प्रत्यक्ष का विषयीकरण सम्भव हो जाता है एवं प्रमाणान्तर की मान्यता प्रयुक्त अनवस्था का भी अवकाश रहता नहीं।

प्रमाण-प्रमेयभाव के खण्डन में इनके अतिरिक्त उन्होंने और यह एक मार्ग अपनाया है कि प्रमाण और प्रमेय इन दोनों के बीच पूर्वांपरी भाव या सहभाव कहा जाना कठिन होने के कारण वास्तविक प्रमाण-प्रमेयभाव माना नहीं जा सकता। कहने का तात्पर्य यह है कि संसार की किन्हीं भी दो वस्तुओं के अंदर नियत-रूप से कोई पहले और उसके अंदर होने वाला दूसरा उसके पीछे होता है। और यदि ऐसा नहीं होता है तो वे दोनों सहभावी होते हैं अर्थात् समान काल वाले होते हैं। भूत, वर्तमान और भविष्य इन तीनों कालों के अतिरिक्त और कोई काल होता नहीं। और साथ ही यह भी सर्वमान्य नियम है कि कोई भी वस्तु कालसम्पर्क रहित हो सकती नहीं। ऐसी परिस्थिति में प्रमाण और प्रमेय यदि मान्य होंगे तो उन दोनों के अंदर पूर्वभाव या पर भाव किवा सहभाव का नियम होना चाहिए, जो कि बन पाता नहीं। प्रमाण पहले और प्रमेय उसके पीछे इस प्रकार पूर्वांपरीभाव नियत रूप से इसलिए नहीं माना जा सकता कि 'प्रमाण' शब्द का अर्थ होता है प्रमा का कारण अर्थात् प्रमात्मक ज्ञान के प्रति असाधारण कारण। इसके अनुसार प्रमा को सामने रखकर ही किसी को प्रमाण कहा जा सकता है और प्रमा होती है यथार्थ निश्चय। वह निश्चय अवश्य ही उसी वस्तु को अपना विषय बनाता हुआ मान्य होगा जिसे कि दूसरे शब्दों में प्रमेय कहा जा सकेगा। इस वस्तुस्थिति के अनुसार प्रमेय वस्तु को पहले लिए बिना हम उसके निश्चय को प्रमा नहीं कह सकते हैं और उस प्रमा को लेकर उसके करण रूप में, फलतः असाधारण कारण रूप में ही किसी को प्रमाण कहा जा सकता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार प्रमेय और प्रमा को ही प्रमाण पहले होना चाहिए। क्योंकि ज्ञानक्रम से अतिरिक्त कोई वस्तुक्रम मान्य हो नहीं सकता। यदि ऐसा ही मान लिया जाय, अर्थात् प्रमेय को ही पहले और प्रमाण को नियमतः उसके पीछे होने वाला माना जाय, अर्थात् ऐसा ही पूर्वांपरीभाव प्रमाण और प्रमेय इन दोनों के अंदर माना जाय, तो यह मानना भी कठिन इसलिए होगा कि तब किसी को प्रमाण मानने और कहने का उपयोग ही क्या रहेगा? क्योंकि प्रमा के द्वारा किसी भी वस्तु में प्रमेयता लाने के लिए ही तो कोई, प्रमाण रूप में अपेक्षित होता है? कोई प्रमाण रूप से अवश्य मान्य होता है? जबकि प्रमेय वस्तु

पहले ही रहेगी तो इसका अर्थ यह होगा कि प्रमा भी पहले होगी ही। क्योंकि प्रमा का विषय होने वाला ही होता है प्रमेय कहलाने का अधिकारी। वह जबकि प्रमाण से पहले ही हो जायगा प्रमेय, तो प्रमाण की प्रमाणता ही व्यर्थ हो उठेगी। पीछे प्रमाण का अस्तित्व मानने का कोई उपयोग ही नहीं रह जायगा। इसलिए प्रमेय पहले और प्रमाण पीछे इस तरह का भी पूर्वापरी भाव का नियम मान्य नहीं हो सकता। यदि यह कहा जाय, कि यदि प्रमाण और प्रमेय इन दोनों में किसी प्रकार का पूर्वापरीभाव बन नहीं पाता है इसलिए इन दोनों का सहभाव ही मान लिया जाय अर्थात् प्रमाण और प्रमेय दोनों एक ही काल में रहते हैं ऐसा ही मान लिया जाय, तो यह कथन भी इसलिए संगत नहीं कहा जा सकता कि दो सहभूतों के अंदर मान्य प्रमाण-प्रमेयभाव नियत नहीं कहा जा पायेगा। उन दोनों के अंदर कौन किसका प्रमाण है और कौन किसका प्रमेय यह नहीं कहा जा पायेगा। इसीलिए किसी सींगदार एक पशु के दो सहभावी सींगों के बीच प्रमाण-प्रमेयभाव की मान्यता नहीं पायी जाती है। अतः प्रमाण-प्रमेयभाव की मान्यता सर्वथा असंगत है।

असत्-ख्यातिवादियों के द्वारा इस प्रकार किये जाने वाले प्रमाण-प्रमेयभाव के खण्डन का खण्डन न्याय दर्शन के प्रणेता अक्षपाद गौतम एवं उनके न्यायसूत्र के भाष्यकार वात्स्यायन ने इस प्रकार किया है कि शून्याद्वैतवादियों [१०८] का यह प्रमाण-प्रमेयभाव का खण्डन, नियम के ऊपर जोर देकर प्रवृत्त होने वाला है। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। प्रमाण और प्रमेय के बीच नियत पूर्वापरीभाव [१०९] मान्य नहीं है। जहाँ जैसा देखा जाता है वहाँ वैसा ही पूर्वापरीभाव मान्य है। उदाहरण के द्वारा इसे यों समझा जा सकता है कि बजती हुई वीणा के मधुर शब्द को सुन कर जहाँ वीणा वाद्य का अनुमान कोई अनुमाता करता है, वहाँ अनुमापक होने के नाते शब्द होता है प्रमाण और वीणा यन्त्रात्मक वाद्य होता है प्रमेय। वहाँ ऐसा पूर्वापरीभाव अनुमेय और अनुमापक में, फलतः प्रमेय और प्रमाण में पाया जाता है कि प्रमेय वीणायन्त्र रहता है पहले से ही है। और उससे उत्पन्न होने के नाते उससे पीछे होने वाला वह मधुर शब्द जो कि उस वीणा का अनुमापक होने के नाते प्रमाण कहलाने का अधिकारी होता है, होता है पीछे। परन्तु जहाँ किसी वितत प्रकाश के बीच कोई वस्तु उत्पन्न होती है वहाँ उस पीछे उत्पन्न होने वाला प्रमेय वस्तु का ज्ञापक होने के नाते प्रमाण होने वाला वह वितत प्रकाश उस प्रमेय भूत पीछे उत्पन्न होने वाली वस्तु का पूर्ववर्ती होती है। फलतः ऐसी परिस्थिति में प्रमाण पहले और प्रमेय पीछे हुआ करता है। इनके अतिरिक्त जहाँ यह परिस्थिति होती है कि किसी एक अवयवी के एक अवयव को देख कर उसी के दूसरे अवयव का कोई अनुमान यदि करता है तो अनुमेय, फलतः प्रमेय अवयव, अनुमापक, फलतः प्रमाणभूत अवयव का सहभावी अर्थात् समान कालिक होता है। न पूर्वभावी और न पश्चाद्भावी। इसलिए पूर्वभाव, परभाव या सहभाव का नियम

---

(१०८) त्रैकाल्याप्रतिषेधस्य शब्दादातोधसिद्धिवत् तत्सिद्धेः १५ *-न्यायदर्शन, अ २, आ १*

(१०९) अनियमदर्शी खल्वयमृषिर्नियमेन प्रतिषेधं प्रत्याचष्टे। *-वात्स्यापन भाष्य।*

प्रमाण और प्रमेय के बीच मान्य ही नहीं है। अत: अमान्य नियम को मान्यता देकर उक्त प्रकार से किया जाने वाला प्रमाण-प्रमेयभाव का खण्डन वास्तविक खण्डन नहीं खण्डनाभास ही कहा जायगा।

इसके अतिरिक्त उक्त प्रमाण-प्रमेयभाव खण्डन के विरुद्ध यह भी प्रबल युक्ति उपस्थित की जा सकती है कि जिस प्रकार पूर्वापरीभाव एवं सहभाव के नियम को लेकर प्रमाण-प्रमेयभाव का खण्डन शून्याद्वैतवादी करते हैं तदनुसार 'निषेध्य निषेधक भाव' का भी खण्डन उसी प्रकार किया जा सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि शून्यद्वैतवादी यदि प्रमाण-प्रमेयभाव का खण्डन करते हैं तो अवश्य वे 'निषेध्य-निषेधक भाव' स्वीकार करते है यह उन्हें मानना होगा। परन्तु प्रमाण-प्रमेयभाव के खण्डन में जिस पूर्वापरीभाव या सहभाव के नियम को अपना कर अपना उद्देश्य उन्होंने सिद्ध किया है उसके आधार पर यह भी प्रश्न उठाया जा सकता है उनके समक्ष कि निषेध्य और निषेधक इन दोनों के बीच किसे पूर्ववर्ती और किसे पश्चाद्वर्ती माना जायगा? प्रतिषेधक को पहले और प्रतिषेधक को पीछे होने वाला इसलिए नहीं कहा जा सकता कि प्रतिषेधक एवं प्रतिषेध को रख कर ही किसी को प्रतिषेध्य कहा जा सकता है, अन्यथा नहीं। प्रतिषेधक को पहले और प्रतिषेध्य को पीछे होने वाला भी इसलिए कहना कठिन है कि प्रतिषेध्य एवं प्रतिषेध के बिना कोई प्रतिषेधक कैसे कहला सकता? क्योंकि प्रतिषेधक के द्वारा प्रतिषेध का प्रतियोगी होने वाला ही कहला सकता है प्रतिषेध्य। प्रतिषेध्य और प्रतिषेधक इन दोनों का सहभाव भी इसलिए मान्य नहीं हो सकता कि जब दोनों साथ ही रहेंगे तो उक्त पशुश्रृग दृष्टान्त के आधारपर यह निर्णय करना कठिन होगा कि कौन किस का प्रतिषेधक है? फलत: जिस प्रकार कन्याद्वैतवादी लोग प्रमाण-प्रमेयभाव का खण्डन प्रस्तुत करते हैं उसी प्रकार उस खण्डन के लिए अपेक्षित होने वाला निषेध्यनिषेधकभाव अर्थात् खण्ड्य-खण्डकभाव भी स्वत: खण्डित हो जायगा। और उसकी अमान्यता प्राप्त हो जाने पर कैसे शून्याद्वैतवादी प्रमाण-प्रमेयभाव का खण्डन कर सकते?

यहाँ और एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि शून्याद्वैतवादी अपने द्वारा किये गये प्रयाण-प्रमेयभाव के खण्डन को प्रामाणिक मानेंगे या अप्रमाणिक? यदि वे यह कहें कि मेरे द्वारा किया जाने वाला प्रमाण-प्रमेयभाव का खण्डन अप्रामाणिक है तो फिर उनके द्वारा किये जाने वाले उक्त खण्डन का कोई मूल्य नहीं रह जाएगा। क्योंकि वक्ता यदि स्वयं अपनी बातों को अप्रमाणिक, अतथ्य, सारहीन कहे, तो दूसरा कोई उसे क्यों और कैसे मानेगा? और यदि शून्याद्वैतवादी अपने द्वारा किये गये उक्त प्रमाण-प्रमेयभाव के खण्डन को प्रामाणिक कहें तो स्वयं उन्हें प्रमाण-प्रमेयभाव मान लेना होगा। क्योंकि

---

(११०) शून्यवादिपयक्षस्तु सवंप्रमाणविप्रति षिद्ध इति.........।

-वेदान्तदर्शन, शांकरभाष्य।

उसकी मान्यता के बिना कोई भी प्रामाणिक कैसे कहला सकता? सारांश यह कि प्रमाण-प्रमेयभाव को मान्यता न देने वाला व्यक्ति स्वयं अपने को फरेबी, धोखेबाज फलतः अविश्वासपात्र सिद्ध कर डालेगा। फिर उसे और कोई कैसे मान सकता। अतः प्रमाण-प्रमेयभाव का खण्डन नहीं किया जा सकता। और ऐसा होने पर असत् ख्याति नहीं कही जा सकती क्योंकि प्रामाणिक वस्तु को असत् नहीं कहा जा सकता। सुतरां चार्वाकीय दृष्टिकोण में जहाँ सारी लौकिक, दाण्डिक-व्यवस्था एवं उसके औचित्य को मान्यता प्राप्त है, भेदघटित पूर्वोक्त भूताद्वैत ही मान्य है, असत्-ख्याति मान्य नहीं हो सकती।

चार्वाक मत में अनिर्वचनीय-ख्याति भी मान्य नहीं

ब्रह्माद्वैतवादी वेदान्ती लोग असतख्याति को तो मान्यता नहीं देते हैं क्योंकि असत्ख्यातिवादियों के खोखले शून्य के स्थान में ये भरा शून्य मानते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि ब्रह्माद्वैत सिद्धान्त में समग्र दृश्यों के अध्यास के अधिष्ठान रूप में सत् अर्थात् त्रिकालाबाध्य ब्रह्म को इसके अनुयायी मानते हैं। परन्तु उस ब्रह्म की बात यदि अलग कर दी जाय, तो रूपान्तर में यहाँ भी कुछ असत्ख्याति-जैसी ही बात मान्य होती हुई नजर आती है। क्योंकि दृश्य जगत् को पारमार्थिक यहाँ भी नहीं माना जाता है। संसार यहाँ भी असार ही है। इस सिद्धान्त में सीप में होने वाली रजत की प्रतीति को अनिर्वचनीयख्याति कहा जाता है। अभिप्राय यह है कि कोई द्रष्टा जब सीप को देखते हुए भी सीप नहीं समझता है एक चमकयुक्त वस्तुमात्र देखता है तब चमकयुक्त चाँदी से भिन्न उसे न समझने के कारण वह द्रष्टा-व्यक्ति उसे चाँदी समझ बैठता है। इस सिद्धान्त में सीप के स्थान में देखा जाने वाला रजत अनिर्वचनीय होता है, इसलिए उसके ज्ञान को अनिर्वचनीय-ख्याति कहा जाता है। अनिर्वचनीय वह कहलाता है जिसे कि सत् भी न कहा जा सके और असत् भी न कहा जा सके एवं सत् और असत् इन दोनों का एक मिलित रूप भी न कहा जा सके। सीप में प्रतीयमान रजत में यह बात पूर्ण रूप से लागू है क्योंकि उस प्रतीयमान रजत को असत् इसलिए नहीं कहा जा सकता कि उसकी प्रतीति होती है। वह प्रतीयमान होता है। असत् 'खपुष्प' आदि कभी प्रतीयमान होते नहीं। और उस रजत को सर्वथा सत् भी इसलिए नहीं कहा जा सकता कि द्रष्टा उसी सीप के पास जाकर जब देखता है कि सीप है तब वह उसके द्वारा अव्यवहित पूर्व प्रतीत रजत बाधित हो जाता है, रहता नहीं। इस प्रकार जब कि वह रजत अलग-अलग सत् भी नहीं हो पाता और असत् भी नहीं हो पाता तो उसे मिलित 'सत् असत्' रूप भला कैसे कहा जा सकता? इसलिए 'सत्-असत्' रूप भी नहीं कहा जा सकता। इसलिए किसी भी प्रकार सत् या असत् या सदसत् रूप में निर्वचनानर्ह होने के कारण उस रजत को अनिर्वचनीय मानना एवं कहना पड़ता है। यद्यपि वेदान्त की दृष्टि में सभी जाग्रत्कालिक दृश्य एवं स्वप्न-दृश्य अनिर्वचनीयता की दृष्टि से समान ही होते है अर्थात् दृश्य सभी अनिर्वचनीय ही होते है फिर अवान्तर अन्तर यह है कि सारे स्वाप्न दृश्य एवं जागरणकालिक शुक्तिरजत आदि दृश्य होते हैं

प्रातिभासिक। वेदान्तियों का कहना है कि व्यावहारिक घड़े, कपड़े आदि दृश्य हैं मूल अविद्या के, जिसे अन्य शब्द में माया भी कहा जाता है, कार्य, अर्थात् परिणाम। और समस्त स्वाप्नदृश्य तथा जागरणकालिक शुक्तिरजत आदि दृश्य होते हैं तूल [111] अविद्या के कार्य अर्थात् परिणाम। यद्यपि इसके सम्बंध में वेदान्तियों के घर में कुछ आपसी मतभेद भी पाया जाता है फिर भी अधिकतर प्रचलित मत यही है जो कि यहाँ कहा गया है। 'मूल-अविद्या' यहाँ पर 'मूल' का अर्थ कारण और 'तूल अविद्या' यहाँ पर 'तूल' का अर्थ कार्य मानते हैं वेदान्ती लोग। उनका अभिप्राय यह है कि जिस महान् अज्ञान के द्वारा एकमात्र परमार्थ सत् ब्रह्म का आवरण होता है, जिससे आवृत होने के कारण प्राणियों को ब्रह्म का साक्षात्कार नहीं होता, अथवा यों कहा जाय कि जो ब्रह्मविषयक अज्ञान समग्र व्यावहारिक जगत् रूप में परिणत होता है, वह अज्ञान समग्र दृश्य-प्रपंच का मूल है, और अज्ञान होने के कारण अविद्या है। और सहजत: उसका परिचय लोगों को प्राप्त नहीं होता, इसलिए उसको माया भी कहा जाता है। और इसी को जगह-जगह पर वेदान्त में कारण-शरीर भी कहा जाता है। शरीर इसे इस दृष्टि से कहा जाता है कि इसी के कारण, शुद्ध ब्रह्म, ईश्वर अर्थात् सर्वकर्त्ता बन पाता है। बिना शरीर का कोई कर्त्ता होता हुआ पाया नहीं जाता।

तूल-अविद्या उस खण्ड-अज्ञान को कहा जाता है जिसके कारण मूल-अविद्या के कार्यभूत किसी व्यावहारिक वस्तु के द्वारा परिच्छिन्न अर्थात् सीमिती कृत चैतन्य, आवृत होता है अर्थात् वह किसी व्यावहारिक वस्तु से परिच्छिन्न-चैतन्य, द्रष्टा के लिए प्रकाशित नहीं होता है। फलत: उस वस्तुभूत अपरिच्छन्न-चैतन्य-विषयक खण्ड अज्ञान, दृष्टा की दृष्टि में अन्य रूप में उपस्थित होता है। वहीं अन्यस्वरूप दृश्य कहलाता है प्रातिभासिक। और ऐसी प्रातिभासिक वस्तु की ख्याति भी वेदान्तसिद्धान्त में अनिर्वचनीय ख्याति ही कहीं जाती है। इसलिए सीप में देखे जाने वाले रजत को भी अनिर्वचनीय कहा जाता है। क्योंकि मूल अविद्या कहिए या माया कहिए उसके कार्यभूत अर्थात् परिणामभूत सीप के द्वारा परिच्छिन्न चैतन्य को न समझने के कारण द्रष्टा उसके स्थान में चाँदी को देखता है। अत: यह मानना पड़ता है कि उक्त सीप का, फलत: तदवच्छिन्न चैतन्य का, आवरक खण्ड अज्ञान रूप, तूल-अविद्या रजत रूप में परिणत हो जाती है। इसीलिए द्रष्टा सीप की विद्यमानता होते हुए भी सीप न देखकर उसके स्थान में चाँदी देखता है। इस प्रातिभासिक चाँदी का अस्तित्त्व तभी तक होता है जब तक वह देखा जाता रहता है। बाजारू व्यावहारिक चाँदी से इस चाँदी का यही अन्तर होता है। व्यावहारिक चाँदी आगे-पीछे होने वाले अन्य व्यक्तियों के द्वारा भी चाँदी रूप में गृहीत होती है। किसी एक ही व्यक्ति के द्वारा वही दृष्ट होती है। वेदान्तदर्शन की इस मान्यता के आधार पर सीप में होने वाली रजत-बुद्धि-स्थल में अनिर्वचनीय-ख्याति की सरल प्रक्रिया यह होती है कि वह

(१११) एवं च शुक्ति-रजतस्थस्य शुक्त्यवच्छिन्न चैतन्यनिष्ठ-तूलाविद्या कार्यर्त्वपक्षे.....।
-वेदान्त-परिभाषा, प्रत्यक्ष-परिच्छेद।

द्रष्टा अपने आगे विद्यमान सीप को चमकती हुई वस्तु के रूप में देखता है किन्तु यह सीप है यह जब नहीं समझता है-तब वह उस द्रष्टा-व्यक्ति का शुक्तिविषयक अज्ञान अथवा यों कहा जाय कि शुक्तिविषयक अज्ञानात्मक अन्त:करण जिसे बुद्धि शब्द से भी जगह-जगह पर कहा गया है उस दृश्य अव्यवहारिक रजत और उसकी ख्याति दोनों रूपों में एक साथ ही परिणत हो जाता है। उसी वैयक्तिक-अन्त:करण-परिणामात्मक रजत की वैयक्तिक-अन्त:करण-परिणामात्मक-ख्याति होती है अनिर्वचनीय-ख्याति। इसी प्रकार सर्वत्र भ्रमस्थल में समझना चाहिए। सारांश यह है कि अनिर्वचनीय-ख्याति को वेदान्ती लोग दो भागों में विभक्त समझते हैं। व्यावहारिक अनिर्वचनीय-ख्याति और प्रातिभासिक अनिर्वचनीय-ख्याति। लौकिक दृष्टि में भी जिस ज्ञान को लोग भ्रम मानते हैं जैसे सीप में होने वाले उक्त रजत-ज्ञान को, वह ज्ञान कहलाता है प्रातिभासिक अनिर्वचनीय-ख्याति। और जिस ज्ञान को लोकदृष्टि में भ्रम नहीं समझा जाता है जैसे क्रय-विक्रय योग्य बाजारू रजत के ज्ञान को, वह होता है व्यावहारिक अनिर्वनीय-ख्याति। परन्तु कुछ वेदान्ती व्यावहारिक-अनिर्वचनीय-ख्याति को भी प्रातिभासिक अनिर्वचनीय-ख्याति ही मानते हैं उनका कहना यह है कि पारमार्थिक सत्ता और प्रातिभासिक सत्ता ये दोनों सत्तायें ही मान्य है। तृतीय व्यावहारिक-सत्ता मान्य नहीं है। इस मतभेद के मूल में यह वैमत्य काम करता है कि ये सत्ताद्वयमात्रवादी जगत् के कारण उससे स्वीकर्त्तव्य अविद्या को मूलाविद्या और तूलाविद्या इन दो प्रभेदों में विभक्त मानते नहीं, अत: परिणामी भी। कारण में किसी प्रकार का वैचित्र्य प्राप्त न होने के कारण, कार्य वस्तुओं में भी वैचित्र्य कैसे प्राप्त होगा? अत: पारमार्थिक ब्रह्मचैतन्य को छोड़कर और सभी प्रातिभासिक ही हैं। इसलिए इस सत्तामात्रद्वयवादी वेदान्तियों की दृष्टि में घट, पट आदि दृश्यों के ज्ञान भी शुक्तिरजत-ज्ञान से बिलकुल वैलक्षण्य रखते नहीं। जहाँ लौकिक किसी एक वस्त्ववच्छिन्न चैतन्य में अपर वस्तु का आरोप किया जाता है वहाँ की अनिर्वचनीय-ख्याति के लिए आरोप के प्रति अधिष्ठानभूत चैतन्य के अवच्छेदक और आरोप्य वस्तु इन दोनों में सादृश्य का ज्ञान भी उस व्यक्ति के लिए अपेक्षित होता है जो कि अनिर्वचनीय ख्याति का कर्त्ता होता है। इसलिए कोई भी व्यक्ति एक मच्छर को हाथी या हाथी को मच्छर नहीं समझता है। सीप को चाँदी कोई समझ बैठता है क्योंकि सीप और चाँदी दोनों चमकते हुए दीखते हैं। फलत: अनिर्वचनीय-ख्याति की सरल प्रक्रिया यह प्राप्त होती है कि द्रष्टा की आँख जब सीप के साथ जुटती है तब उस व्यक्ति का अन्त:करण इदमाकार और चमक का आकार धारण करता है। जिसकी विस्तृत प्रक्रिया वेदान्त सम्मत प्रत्यक्ष की प्रक्रिया के वर्णन के अवसर पर बताया जा चुका है। दूरत्व चमक आदि दोष और उस सीप में जायमान रजत-सादृश्य का दर्शन इनके साहाय्य से उस द्रष्टा व्यक्ति का अन्त:करणाश्रित सीप का अज्ञान उस प्रातिभासिक रजत एवं उस रजत का ज्ञान इन दोनों रूपों में परिणत हो जाता है। अर्थात् उस द्रष्टा का अन्त:करणाश्रित अज्ञान या यों कहा जाय कि उक्त अज्ञानात्मक अन्त:करण

ही प्रातिभासिक रजत एवं उसके ज्ञान इन दोनों स्वरूपों वाला एक साथ ही बन जाता है। उस प्रातिभासिक रजत का उसी समय होने वाला वह ज्ञान कहलाता है 'अनिर्वयीय-ख्याति।'

इस अनिर्वचनीय ख्याति के सम्बंध में चार्वाकीय-दृष्टिकोण से प्रतिवाद के रूप में कहना यह है कि वेदान्ती लोग प्रकृत प्रातिभासिक रजत आदि को एक प्रकारप्रतिभास-सत् भाव मानते हैं और उसे सीप या तदच्छिन्न चैतन्य के अज्ञान का परिणाम अर्थात् रूपान्तर मानते हैं, जो कि संगत नहीं कहा जा सकता। क्योंकि अज्ञान कोई भाव-पदार्थ नहीं। उसे ज्ञानात्मक भाव के अभाव से अतिरिक्त और कुछ बिलकुल नहीं कहा जा सकता। अभाव ही यदि भावरूप में परिणत हुआ करे तो संसार का सारा उद्यम और श्रम व्यर्थ सिद्ध हो जाय। क्योंकि जिसके लिए श्रम किया जाता है, उद्यम किया जाता है उसका अभाव पहले रहता ही है। वह अभाव अनायास उस वस्तुत: श्रमसाध्य-वस्तु रूप में स्वत: परिणत हो जायगा। फिर उस वस्तु के लिए जो श्रम की आवश्यकता होती है वह नहीं होनी चाहिए। सम्भव है कि वेदान्ती लोग इस पर यह कहना चाहें कि अज्ञान ज्ञान का अभाव नहीं किन्तु वह एक आन्तर अंधकार है। बाहरी अंधकार जैसे अभाव नहीं, आवरक एक प्रकार भाव पदार्थ है उसी प्रकार आन्तर अज्ञानात्मक अंधकार भी अभाव नहीं भावात्मक ही है। अत: उसका भावात्मक रजत बनना एवं उस रजत का ज्ञान बनना असंगत नहीं कहला सकता। तो इस पर चार्वाकीय दृष्टिकोण से यह कहा जाएगा कि बाह्य अंधकार भी भावात्मक नहीं अभावात्मक ही है। तदनुसार आन्तर-अज्ञान को भी भावात्मक नहीं किन्तु ज्ञान का अभाव ही माना होगा। ऐसी परिस्थिति में वेदान्तियों का यह कथन कैसे उचित ठहराया जा सकता कि अज्ञान प्रातिभासिक रजत और उसका ज्ञान दोनों रूपों में साथ ही परिणत हो जाता है। इसके अतिरि्क्त और भी इस सम्बंध में ध्यान देने योग्य एक बात यह है कि वेदान्त सिद्धान्त में जबकि परमार्थ सत् रूप में वही मान्य होता है जो कि त्रिकालाबध्य होता है, तब यह अवश्य ही मानना होगा कि व्यावहारिक घट, पट आदि वस्तुऐं एवं प्रातिभासिक शुक्तिरजत आदि, इसलिए परमार्थ सत् नहीं हो पाते, कि वे त्रिकाल-बाध्य होते हैं। और इसीलिए वे मिथ्या होते हैं, और अत: अद्वैत-सिद्धान्त के समक्ष यह समस्या नहीं उपस्थित की जा सकती कि 'जब व्यवहार-सत् और प्रतिभास-सत् ये दो प्रकार के सत् पदार्थ और भी मान्य हैं वेदान्त सिद्धान्त में, तो फिर अद्वैत मान्य है कि प्रकार?'

किन्तु रूपान्तर में यह समस्या इस प्रकार खड़ी हो उठती है कि घट पट आदि व्यावहारिक सत् शुक्तिरजत आदि प्रातिभासिक सत् भी जब कि व्यवहारकाल एवं प्रतिभासकाल के लिए सत् रूप से मान्य हैं तो फिर उनका त्रैकालिक निषेध कैसे कहा जा सकता? और यदि त्रैकालिक निषेध इन व्यावहारिक एवं प्रातिभासिकों का नहीं हो पाता है तो ये त्रिकालबाध्य नहीं कहला पाते। फिर इन्हें मिथ्या कैसे कहा जाय? यद्यपि वेदान्तियों ने इस प्रश्न को स्वयं

भी उठाया है और इसका उत्तर इस प्रकार दिया है कि यह बात सही है कि व्यवहारकाल में व्यावहारिक घट, पट आदि वस्तुओं की सत्ता और प्रतिभास-काल में प्रातिभासिक शुक्तिरजत आदि की भी सत्ता कुछ-कुछ समय के लिए मान्य होती है परन्तु वे व्यावहारिक घट, पट आदि स्वगत व्यावहारिकता धर्म से एवं प्रातिभासिक शुक्तिरूप आदि स्वगत प्रातिभासिकता धर्म से ही युक्त रूप में उस समय भी रहते हैं, अद्वैतब्रह्मगत पारमार्थिकता धर्म से युक्त रूप में उस समय भी वे रहते नहीं, जिस समय उनके रहने की बात की जाती है। अत: ब्रह्ममात्रगत-पारमार्थिकत्व धर्म से पुरस्कृत रूप में वे व्यावहारिक एवं प्रातिभासिक वस्तुएँ भूत, वर्त्तमान एवं भविष्य इन तीनों कालों के अन्दर किसी भी काल में रह नहीं पाती, इसलिए पारमार्थिकत्व धर्म से पुरस्कृत रूप में सभी व्यावहारिक एवं सभी प्रातिभासिक वस्तुओं का निषेध त्रैकालिक हो पाता है। अत: सारे व्यावहारिक एवं प्रातिभासिक त्रिकालबाध्य हो जाते हैं। त्रिकालाबाध्य हो पाते नहीं। सुतरां मिथ्या हो जाते हैं। परन्तु वेदान्तियों की ओर से कहे गये इस कथन के अनन्तर भी प्रश्न यह उठ खड़ा होता है कि किसी भी निषेध को समझने के लिए अर्थात् किसी भी अभाव को समझने के लिए यह आवश्यक हो उठता है कि उस निषेध के समझने का इच्छुक व्यक्ति, उस अभाव के ज्ञान का इच्छुक व्यक्ति, पहले निषेध्य वस्तु का अर्थात् जिसका अभाव ज्ञातव्य हो उसका ज्ञान प्राप्त कर ले। क्योंकि ऐसा कभी होता हुआ पाया जाता नहीं कि जिस व्यक्ति को दण्डयुक्त किसी व्यक्ति का ज्ञान नहीं, वह 'यहाँ दण्डी नहीं है' ऐसा ज्ञान कर पाता हो। अत: यदि अद्वैतवादी व्यक्ति को व्यवहार काल में यह प्रतीति करनी है कि 'पारमार्थिकता-पुरस्कृत व्यावहारिक-पदार्थ कभी रहता नहीं' एवं 'पारमार्थिकता-पुरस्कृत-प्रातिभासिकों पदार्थ कभी रहता नहीं' तो उस अद्वैतवादी को सभी व्यावहारिकों एवं प्रातिभासिकों को पारमार्थिकता-पुरस्कृत रूप में समझना आवश्यक होगा। ऐसी परिस्थिति में यह भी प्रश्न अनिवार्य रूप में उठ खड़ा होगा, कि वह व्यावहारिक एवं प्रातिभासिक वस्तु को समझना स्वरूप, पूर्वोक्त युक्ति के अनुसार अपेक्षित होने वाला उक्त अद्वैती-व्यक्तिकर्त्तक ज्ञान, अनिर्वचनीय-ख्याति होगा या अन्यता ख्यातिस्वरूप? यदि वेदान्तियों की ओर से यह कहा जाय कि वह द्वैत-निषेध-ज्ञान के लिए अपेक्षित होने वाला ज्ञान, अनिर्वचनीय ख्याति नहीं, अन्यथा-ख्याति रूप होगा, तो वहाँ मान्य उस अन्यथा-ख्याति को ही सर्वत्र मान्यता दे देनी होगी। क्योंकि अन्त में जाकर जब कि उस अन्यथा-ख्याति को मान्यता देनी ही होगी तब उचित यही कहा जायगा कि वे अद्वैत वेदान्ती जहाँ-जहाँ अनिर्वचनीयख्याति मानते हैं वहाँ-वहाँ सर्वत्र आग्रह छोड़ कर उस मान्य अन्यथा-ख्याति को ही मान्यता दें। परन्तु ऐसा करना भी उनके लिए कठिन सर्वथा इसलिए होगा कि तब उनका सर्वाधिक प्रिय एवं मान्य ब्रह्मविवर्त्तवाद ही चौपट चला जायगा। क्योकि तब उन्हें ब्रह्म से अन्यत्र दृश्य-जगत् की वास्तविक सत्ता माननी होगी।

यदि वेदान्ती लोग यह कहें कि उक्त ब्रह्मगत-पारमार्थिकता-युक्त रूप में अपेक्षित होने वाले व्यावहारिक-वस्तु के ज्ञान, एवं प्रातिभासिक वस्तु के ज्ञान को भी

अन्य कोई ख्याति न मान कर अनिर्वचनीय-ख्याति ही मानेंगे तो यह कहना भी उनके लिए कठिन इसलिए हो आयेगा कि ऐसा मानने पर उन्हें यह भी मानना ही होगा कि निषेध्य व्यावहारिक एवं प्रातिभासिकों पर प्रतीत होने वाली 'ब्रह्मपारमार्थिकता-पुरस्कृतता' भी प्रतिभास सत्, अर्थात् प्रातिभासिक है। तब तक वह पुरस्कृतता व्याववहारिक एवं प्रतिभासिक वस्तुओं में रहेगी, जब तक उसका प्रतिभास अर्थात् ज्ञान व्यावहारिक वस्तुओं एवं प्रतिभासिक वस्तुओं में होता रहता है। किन्तु ऐसा मानने का अर्थ यह हो आयेगा, कि अपने प्रतिभास काल भर के लिए वह पारमार्थिकता-पुरस्कार भी 'सत्' होता है। कुछ ही क्षणों के लिए सही, किन्तु उसकी भी विद्यमानता अवश्य होती है। जबकि इस बात को वेदान्ती मान लेता है तब उसे यह भी मानना अनिवार्य हो उठता है कि तब वह उक्त पुरस्कृतता से युक्त रूप में भी व्यावहारिक एवं प्रातिभासिक वस्तुओं का त्रैकालिक निषेध न माने। क्योंकि जो वस्तु जिस धर्म से युक्त रूप में जब विद्यमान होती है तब उस वस्तु का उस धर्म से युक्त रूप में निषेध किया नहीं जा सकता। सुतरां ऐसी वस्तु का निषेध त्रैकालिक भी नहीं कहला सकता। इस प्रकार व्यावहारिक एवं प्रातिभासिक वस्तुओं के निषेधों को त्रैकालिक न कह सकने पर उसे यह कह कर कि उसकी सत्ता भूत, वर्तमान एवं भविष्य इनके अंदर किसी भी काल में न हो सकने के कारण वह मिथ्या है यह नहीं कहा जा सकता। ऐसी परिस्थिति में व्यावहारिक घट, पट आदि की तो बात ही क्या शुक्तिरूप्य आदि प्रतिभासिक भी मिथ्या नहीं सिद्ध हो पायेंगे।

इसके अतिरिक्त यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि इस अनिर्वचनीय ख्याति सिद्धान्त में मिथ्यात्व का निर्वचन यह होता है कि 'लौकिक दृष्टि में जो जिसका आश्रय रूप से प्रतीत होता है, उसमें उसका न रहना, फलत: वहाँ उसके वाले अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी होना है' मिथ्यातत्व। उदाहरण के द्वारा इसे वे लोग इस प्रकार समझाते हैं कि कपड़ा वेदान्त की दृष्टि में इसलिए मिथ्या है कि लोकव्यवहार में उसके आश्रय रूप में परिगृहीत होने वाले धागों में वह तत्त्वत: है नहीं वहाँ उसका अत्यन्ताभाव है। अत: वह कपड़ा धागों में तत्त्वत: होने वाले अपने अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी होता है। फलितार्थ यह कि धागों में कपड़ा तत्त्वत: रहता नहीं। वेदान्तियों के इस कथन का अभिप्राय यह है कि विलक्षण संयोग में आबद्ध धागे ही तो हैं कपड़े? अत: लोकसिद्धि आश्रय धागों में कपड़ा रहता नहीं, यही है कपड़े का मिथ्यात्त्व। परन्तु प्रश्न यहाँ यह उठ खड़ा हो जाता है कि व्यवहारिक एवं प्रतिभासिक भी सत्ता जब वेदान्त सिद्धान्त में दृश्य जगत को शून्याद्वैतवादी की असत्ता या शून्यता से बचाने के लिए मान्यता प्राप्त है तब व्यवहार-सत् या प्रतिभास-सत् रूप में धागे आदि लोकव्यवहारसिद्ध आश्रयों में पट आदि को सत्ताशील मानना ही होगा। ऐसी परिस्थिति में व्यवहार एवं प्रतिभासकाल में कपड़े आदि का अत्यन्ताभाव उनके आश्रयों में रहता है यह कैसे कहा जा सकता? फलत: उक्त मिथ्यात्व-निर्वचन को गत मानना होगा, या दृश्य जगत् को परमार्थ-सत् मानना पड़ेगा इसका उत्तर क्या है?

तो इसके उत्तर में वेदान्तियों की ओर से यह कहा जाता है कि व्याधिकरण धर्म से पुरस्कृत रूप में भी वस्तु का अभाव मान्य है। जैसे 'घट रूप में पट नहीं है' इस प्रकार प्रतीति का विषय होने वाला अभाव है व्याधिकरण धर्म से पुरस्कृत रूप में वस्तु का अभाव। इस प्रकार के अभावों की मान्यता के कारण व्यावहारिक दृष्टिकोण से धागों में पट के रहते समय भी पारमार्थिक रूप से धागों में कपड़ा रहता नहीं यह भलीभाँति कहा जा सकता है। अत: उस अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी कपड़ा हो जाता है। इसलिए मिथ्यात्व का उक्त निर्वचन सही है, जो कि सारे व्यावहारिक सत् एवं सारे प्रातिभासिक सत् के लिए अच्छी तरह लागू है। किन्तु चार्वाकीय दृष्टिकोण से अब कहना यहाँ यह है कि इस प्रकार ब्यधिकरणधर्म-पुरस्कृत-रूप में वस्तुओं के अभावों को मान्यता देने पर उक्त मिथ्यात्व-निर्वचन के अनुसार ब्रह्म भी मिथ्या हो जाना चाहिए। क्योंकि पारकार्थिक रूप में सर्वथा सत् होने पर भी व्यावहारिक या प्रातिभासिक रूप में ब्रह्म कहीं रहता नहीं, उसका अत्यन्ताभाव सदा मिलने वाला हो जायेगा। अत: उस अत्यन्ताभाव का अर्थात् 'व्यावहारिक रूप में ब्रह्म नहीं है' 'प्रातिभासिक रूप में ब्रह्म नहीं है' इस प्रकार तृतीयमान अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी, ब्रह्म हो ही जायगा। और इसका परिणाम यह होगा कि माध्यमिक-साम्प्रदायिक बौद्धों का शून्यद्वैतवाद स्थिर हो जायेगा। लिसे कि वेदान्ती लोग सहन नहीं कर सकते।

अन्य एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि इस अनिर्वचनीय-ख्यातिसिद्धान्त में भ्रम-ज्ञान को भी भ्रम विषयांश में ही माना जाता है स्वांश में नहीं। परन्तु उस सिद्धान्त में यह युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता। क्योंकि ज्ञान अमूर्त होने के कारण सावयव, फलत: सभाग नहीं हो सकता और जो भागयुक्त नहीं हो सकता उसके सम्बंध में यह कथन कैसे संगत कहला सकता कि वह अमुक अंश में भूल है और अमुक अंश में ही नहीं? यदि वेदान्ती लोग यह उत्तर इसका देना चाहें कि वृत्त्यात्मक-ज्ञान अन्त:करण रूप ही हो जायगा। और अन्त:करण वेदान्त सिद्धान्त में सावयव ही मान्य होता है। तो इस पर चार्वाकीय-दृष्टिकोण से वक्तव्य यह होगा कि ऐसा कहने पर फलत: चार्वाकीय भूत-चैतनिक सिद्धान्त रूपान्तर में वेदान्तियों के लिए भी मान्य हो उठता है। क्योंकि सावयव कोई भूत ही हो सकता है इसलिए अन्त:करण को भी जिसे कि वेदान्तियों ने सावयव माना है भूतात्मक ही मानना होगा। और अन्त:करण की ही वृत्ति को वेदान्तियों की ओर से कहा गया है ज्ञान। यदि वेदान्तियों की ओर से यह कहा जाय कि अन्त:करण की वृत्ति तत्त्वत: ज्ञान-रूप से मान्य नहीं है किन्तु उस अन्त:करण की वृत्ति में प्रतिबिम्बित होने वाला चैतन्य है ज्ञान। उक्त अन्त:करण की वृत्ति को ज्ञान औपचारिक रूपमें कहा जाता है अनौपचारिक रूप में नहीं। जो अन्त:करण की वृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य ज्ञान कहलाता है वह अज्ञान और आज्ञानिक से सर्वथा विलक्षण है। इसलिए वेदान्त-सिद्धान्त के ऊपर यह कलंक नहीं लगाया जा सकता कि वह भी रूपान्तर में भूत-चैतनिक बन जाता है। तो

इस पर वक्तव्य यह समझना चाहिए कि तब फिर वह प्रश्न उपस्थित हो उठेगा कि चैतन्यात्मक ज्ञान तो और भी सावयव नहीं हो सकता। फिर कैसे वेदान्तियों का यह कथन संगत होगा कि ज्ञान, विषय-अंश में भ्रम होता है।

'यह पर्वत आग वाला है क्योंकि धूमवाला है' इत्यादि अनुमान स्थल में भी वेदान्ती लोग यह कहते हैं कि यह ज्ञान आग के अंश में ही[११२] परोक्ष होता है, सर्वथा नहीं। ज्ञान स्वयं अपरोक्ष ही होता है। वहाँ भी यह यहाँ विहित-विचार समानरूप से लागू होताहैं। यदि वृत्ति को ज्ञान मानकर उक्त ज्ञानगत आंशिक-परोक्षत्व एवं अपरोक्षत्व का सम्पादन किया जाय तो भूत-चैतनिक चार्वाक-सिद्धान्त को मान्यता प्राप्त हो जाती है और यदि वृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य को ज्ञान माना जाय तो यह कथन वेदान्तियों का असंगत हो जाता है कि एक ही ज्ञान एक अंश में परोक्षात्मक और अपर अंश में अपरोक्षात्मक होता है। क्योंकि चैतन्य कोई सावयव वस्तु, वेदान्त के सिद्धान्त में है नहीं कि वेदान्तियों का उक्त कथन किसी प्रकार संगत हो पाये।

चार्वाक-मत अख्यातिवाद को भी नहीं अपना सकता

मीमांसकों के अंदर भट्ट की सप्रदाय तो अन्यथा-ख्याति को ही मान्यता देता है नैयायिकों और वैशेषिकों की तरह। परन्तु प्रभाकर का दल उसे पसन्त नहीं करता। उसका कहना है कि भ्रम शब्द का वाक्यों में प्रयोग लोग प्रचुर रूप से करते हैं सही, किन्तु वैवेचनिक दृष्टिकोण से भ्रम नाम का कोई ज्ञान सिद्ध होता नहीं, इसलिए भ्रम-व्यवहार स्थल में किसी प्रकार की ख्याति को मान्यता न देकर अख्याति मानना एवं तन्मूलक प्रवृत्त्यात्मक एवं निवृत्त्यात्मक व्यवहार का सम्पादन उचित प्रतीत होता है। तात्पर्य यह कि कोई भी रजतार्थी व्यक्ति जो चमकते हुए काँच खण्ड या सीप को देख कर चाँदी पाने की इच्छा से उस सीप या काँच खण्ड की ओर अग्रसर होता हुआ पाया जाता है, सो इसलिए नहीं कि वह उस सीप या काँच खण्ड को चांदी समझता है और समझकर उस ओर प्रवृत्त होता है। किन्तु वह व्यक्ति देखी जाती हुई सीप और तदानी स्मृत चाँदी में विद्यमान भेद को अर्थात् विभिन्नता को पहचान नहीं पाता। इसलिए रजतार्थी होते हुए भी वह व्यक्ति चमकती हुई सीप की ओर दौड़ पड़ता है। अख्यातिवादी मीमाँसकों का विशद अभिप्राय यह है कि द्रष्टा व्यक्ति की आँख जबकि सीप या काँच खण्ड से जुटती है तब वह 'यह' इस प्रकार प्रत्यक्षात्मक ज्ञान करता है और उसमें चमक के अवलोकन से पूर्व अनुभूत चांदी को विषय करने वाला संस्कार जग पड़ता है। जिसका फल यह होता है कि वह द्रष्टा जो कि ठीक उसके पहले 'यह' इस प्रकार सामान्य रूप से उस सीप या काँच खण्ड को

---

(११२) तच्च व्याप्तिज्ञानं बहिर्विषयक्रज्ञानांश एवं करणं न तु पर्वतविषयक ज्ञानाशे, इति पर्वतों वह्निमानिति ज्ञानस्य वहनचंश एवनुमितित्वम्। न पर्वतांशे। तदंशे' प्रत्यक्षत्वस्योपपादितत्वात। -वेदान्त-परिभाषा, अनुमान-परिच्छेद।

प्रत्यक्ष किये रहता है उसे 'रजत' इस प्रकार चांदी का स्मरणात्मक ज्ञान हो उठता है। ये दोनों ज्ञान,[113] जिनके अंदर एक 'यह' प्रत्यक्षात्मक हुआ रहता है और दूसरा 'रजत' यह स्मरणात्मक। अत्यन्त विभिन्न होते हुए भी इस प्रकार व्यवधानरहित-भाव से होते एवं प्रतीत होते हैं कि उस ज्ञाता व्यक्ति को भी यह पता नहीं चलता कि उक्त 'यह' और 'रजत' ये दोनों ज्ञान भिन्न हैं। इन दोनों ज्ञानों के अंदर होने वाले भेद को वह बिलकुल नहीं समझ पाता। इसीलिए उस निकटवर्ती सीप या काँच खण्ड में विद्यमान रजतभिन्नता को भी नहीं समझ पाता। इसलिए वह द्रष्टा एवं स्मर्ता व्यक्ति जो कि रजत को चाहता रहता है अपने उपयोग के लिए, उस सीप या काँच खण्ड की ओर दौड़ पड़ता है। सारांश यह कि उस व्यक्ति को 'यह चाँदी है' इस प्रकार 'यह' और 'चाँदी' दोनों को विशेष्य-विशेषणभावापत्र रूप में विषय करने वाला कोई एक ज्ञान होता ही नहीं, कि उसे किसी प्रकार की 'ख्याति' की संज्ञा दी जा सके। अतः उक्त प्रकार व्यक्ति के लिए प्रवर्त्तक रूप में कोई भी एक ख्याति मान्य नहीं है, अख्याति ही मान्य है। इस अख्याति-सिद्धान्त में जीवनगत किसी प्रकार की भी प्रवृत्ति के लिए किसी भी इष्ट या अनिष्ट में इष्ट वस्तुगत असाधारण धर्म को विशेषण रूप में विषय करने वाला या इष्ट अथवा अनिष्ट वस्तु में इष्ट वस्तु का अभेद का ज्ञान अपेक्षित नहीं होता है किन्तु भेद का ज्ञान न हो पानी ही प्रवर्त्तक होता है।

चार्वाकीय-दृष्टिकोण से इस अख्यातिवाद की आलोचना इस प्रकार की जा सकती है कि भेद की अख्याति से प्रवृत्ति होती है, ऐसा मानने पर सुषुप्त-व्यक्ति को भी प्रवृत्ति आपन्न होना चाहिए। क्योंकि सुषुप्तिकाल में किसी प्रकार का भी ज्ञान मान्य न होने के कारण भेद की ख्याति का भी अस्तित्व नहीं बताया जा सकता। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि सुषुप्त व्यक्ति को इष्टभेद की ख्याति रहती है, अतः वह प्रवृत्ति होता नहीं। यदि अख्यातिवादियों की ओर से यह कहा जाय कि केवल भेद की अख्याति को प्रवर्त्तक नहीं मानना है किन्तु साथ ही इष्ट का ज्ञान भी प्रवृत्ति के लिए अपेक्षित मान्य होता है सुषुप्तिकाल में जिस प्रकार भेद की ख्याति नहीं रहती उसी प्रकार इष्ट की ख्याति भी रहती नहीं, इसलिए प्रवृत्ति होती नहीं, और प्रदर्शित स्थल में या अन्य जागरणीय-स्थलों में इष्ट वस्तु की ख्याति और भेद की अख्याति ये दोनों रहते हैं, अतः प्रवृत्ति हो पाती है। तो इसके विरुद्ध इस चार्वाकीय-दृष्टिकोण से यह कहा जा सकता है कि ऐसा मानने पर जहाँ सुषुप्ति के अव्यवहित पूर्व क्षण में इष्ट का ज्ञान हुआ होगा वहाँ सौषुप्त-द्वितीय क्षण में अर्थात् उस इष्ट-ख्याति के तृतीय क्षण में प्रवृत्ति की आपत्ति अनिवार्य होगी। क्योंकि सुषुप्ति-प्रथम क्षण में जो कि प्रकृत आपाद्य प्रवृत्ति की अव्यवहित पूर्व क्षण होगा, भेद की

---

(११३) तथा च रजतं इदमिति चद्वे विज्ञाने स्मृत्यनुभवरूपे। तत्रेदमिति पुरोवर्त्ति-द्रव्यमात्रग्रहणम्। दोषवशात्तदगत-शुक्तित्व-सामान्य-विशेषस्याग्रहात्। तन्मात्रं च गृहीतं सदृशतया संस्कारोद्बोधभ्रमेण स्मृतिं जनयति। *-अध्यासभाष्य, भामती।*

अख्याति भी रहेगी और इष्ट की ख्याति भी। यह कहना अख्यातिवादियों के लिए सर्वथा कठिन है कि इष्ट ख्याति को कार्यसहभूत रूप में अर्थात् कार्यकाल तक स्थायी रूप में कारणता मान्य है। ऐसा मानने पर उक्त आपत्ति का निराकरण अनायास इसलिए हो जाता है कि उक्त इष्ट ख्याति अपने अग्रिम तृतीय क्षण में नष्ट होने के कारण उस क्षण में अपाद्य प्रवृत्ति की सहभूत बन नहीं पायेगी। अत: इस प्रकार अख्याति को प्रवत्तक माना जा सकता है। क्योंकि निमित्त करण की अपेक्षा कार्य के लिए कार्य सहभावत: फलत: कार्य-सहभूत रूप में कहीं पायी जाती नहीं। तुरी और तन्तु के बीच होने वाला संयोग पट-कार्य के लिए अपेक्षित होते हुए भी ऐसा नहीं होता कि वह पट-कार्य का सहभूत होकर उसके लिए अपेक्षित माना जाय। क्योंकि तुरी और तन्तु का संयोग तब तक रह नहीं पाता जब तक कि पट-कार्य विद्यमान रहता है। अत: यह नहीं कहा जा सकता कि इष्ट-ख्याति को प्रवृत्ति के प्रति-सहभूत कारण मान कर अख्यातिवाद का समर्थन किया जा सकता है।

एतदतिरिक्त यहाँ इस अख्यातिवाद के विरुद्ध यह भी एक ध्यान देने योग्य बात है कि अख्यातिवादी-प्रभाकर के सिद्धान्त में ज्ञान को अपने मत के अनुसार स्वप्रकाश माना जाता है' यह बात पहले भी बतलायी जा चुकी है। तदनुसार केवल 'यह' और 'रजत' इस प्रकार प्रत्यक्ष और स्मरण स्वरूप दो ज्ञान हो ही नहीं सकते। उनके मत में प्रकृत दो ज्ञानों का आकार यह होना चाहिए कि 'यह, इसे प्रत्यक्ष कर रहा हूँ' और 'रजत' इस रजत को मैं स्मरण कर रहा हूँ'। ऐसी परिस्थिति में उनकी ओर से यह कहा जा सकता है कि 'यह' और 'रजत' इस प्रकार दो ज्ञान होते हैं और इन दोनों में स्वत: तथा विषयत: होने वाले भेदों को न जानने के कारण ही वह रजतार्थी ज्ञाता सीप की ओर अग्रसर हो उठता है। यदि प्रभाकर-साम्प्रदायिक लोग इस प्रकृत स्वकीय अख्यातिवाद को बचाना चाहेंगे तो उनका उक्त प्रकार का ज्ञानगत स्वप्रकाशत्व का सिद्धान्त नष्ट हो जायेगा, और यदि वे ज्ञानगत उक्त प्रकार स्वप्रकाशत्व की रक्षा करना चाहेंगे तो उक्त प्रकार अख्यातिवाद उनका ध्वस्त हो जायेगा क्योंकि उक्त दोनों ज्ञानों के अंदर 'प्रत्यक्ष कर रहा हूँ' और 'स्मरण कर रहा हूं' इनके द्वारा 'यह' और 'रजत' इन दोनों ज्ञानों में विद्यमान भेद का स्फुटी-भाव होकर ही रहेगा। और भेद स्फुट-रूप से प्रतीत हो जाने पर यह कथन किस प्रकार संगत कहला पायेगा कि भेद की ख्याति होती नहीं अत: उक्त प्रकार ज्ञाता प्रवृत्त हो उठता है? अत: गम्भीरतापूर्वक विवेचन करने पर अख्यातिवाद टिक नहीं पाता। यह यहाँ प्रत्यक्ष-स्थलीय प्रवृत्ति की लेकर विचार किया गया है। इसी प्रकार प्रभाकर-सम्मत अनुमिति उपमिति, आदि भ्रमस्थलीय प्रवृत्ति स्थल में भी इस प्रकार कठिनता, फैला कर दिखलायी जा सकती है।

इसके अतिरिक्त अख्यातिवादियों से यह भी पूछा जा सकता है कि 'पर्वत अग्नियुक्त है' इत्यादि अनुमिति आदि स्थलों में भी क्या 'पर्वत' इस ज्ञान को अलग प्रत्यक्षात्मक और 'अभियुक्त है' इस ज्ञान को अलग स्मृत्यात्मक वे मानेंगे? यदि हाँ तो

'यह पर्वत' अग्नियुक्त है ऐसा मैं अनुमान कर रहा हूँ' ऐसा ज्ञान उनके मत में नहीं हो पायेगा जैसा कि उनके सिद्धान्त के अनुसार होना चाहिए। इसके स्थान में होगा इस प्रकार का ज्ञान कि 'यह पर्वत है इसे मैं प्रत्यक्ष कर रहा हूँ' और 'अग्नियुक्त है यह मैं अनुमित कर रहा हूँ'। और ऐसा मानने पर उस अग्न्यर्थी-आग के अनुमाता की प्रवृत्ति नियमतः पर्वताभिमुख नहीं हो पायेगी जिस प्रकार हुआ करती है। क्योंकि पर्वत में अग्नियुक्तता न तो 'यह पर्वत है इसे मैं प्रत्यक्ष कर रहा हूँ' इस ज्ञान का विषय हो पायेगी। यदि अख्यातिवादी यह कहे कि वहाँ भी अग्न्यर्थी की प्रवृत्ति भेदाग्रह से ही होती है, तो जहाँ अग्निपर्वत के सम्बंध में 'यह पर्वत है मुझे ऐसा प्रत्यक्ष हो रहा है' और अग्नियुक्त है ऐसा अनुमान कर रहा हूँ' इस प्रकार ज्ञान-द्वय होगा वहाँ की प्रवृत्ति को भी भेदाग्रह-मूलक ही मानना होगा। और ऐसा होने पर पर्वत में आग की विद्यमानता और अविद्यमानता दोनों परिस्थितियों में या तो प्रवृत्ति का साफल्य ही होना चाहिए या प्रवृत्ति का वैफल्य ही होना चाहिए। क्योंकि भेद की अख्याति तो दोनों स्थलों में ज्ञाता व्यक्ति के समान ही रहेगी।

यदि अख्यातिवादी यह कहें कि जहाँ पर्वत में तत्त्वतः आग रहेगी वहाँ प्रवर्तमान व्यक्ति की प्रवृत्ति होगी 'यह पर्वत अग्नियुक्त है इसे मैं जानता हूँ' इस प्रकार होने वाले एक विशिष्ट ज्ञान से। और जहाँ पर्वत में आग रहेगी नहीं वहाँ व्यक्ति की प्रवृत्ति होगी 'पर्वत' और 'अग्नियुक्त' इन दोनों ज्ञानों के बीच विद्यमान भेदाग्रह से। तो यह उनका कथन इसलिए युक्तिसंगत नहीं कहा जा पायेगा कि पर्वत की तात्त्विक अग्नियुक्तता एवं तात्त्विक अग्निराहित्य का पूर्ण निर्णय तो पाश्चात्य-प्रवृत्ति की सफलता या विफलता को देख कर ही हो पाता है। ऐसी परिस्थिति में वह व्यक्ति कैसे पहले यह निर्णय कर पायेगा कि यहाँ प्रवृत्ति के लिए विशिष्ट ज्ञान को न अपना कर भेदाग्रह को ही प्रवृत्ति के कारण रूप में अपनाना चाहिए। यदि यह कहा जाय कि उस प्रवर्त्तमान स्थिति को इस प्रकार समझने की आवश्यकता प्रवृत्ति के लिए मान्य नहीं है। स्वतः ऐसा हो जाता है कि जहाँ पर्वत में आग रहती है वहाँ विशिष्ट ज्ञान होता है और जहाँ पर्वत में आग रहती नहीं वहाँ ज्ञान एक विषिष्टात्मक होता नहीं किन्तु दो खण्ड ज्ञान होते हैं और उनके विषय और ज्ञानों में विद्यमान भेद को न समझ कर कोई भी व्यक्ति ज्ञानविषय वस्तु के लिए प्रवृत्त होता है। तो यह कथन सर्वथा अयुक्त और असंगत इसलिए प्रतीत होगा कि कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति इसे भला कैसे स्वीकार कर सकता कि उक्त विभिन्न परिस्थिति में नियमित रूप से एकत्र विशिष्ट-ज्ञान स्वतः हो जाता है प्रवृत्ति के लिए और अन्यत्र नियमित रूप से भेदाग्रह स्वतः रहता है प्रवृत्ति के लिए। इसलिए विशिष्ट ज्ञान को ही सर्वत्र प्रवर्त्तक मानना उचित कहा जायगा। और ऐसा मान लेने पर सीप को चाँदी समझना आवश्यक होगा, रजतार्थी की सीप की ओर होने वाली प्रवृत्ति के लिए। यदि सीप को चाँदी समझ कर रजतार्थी की प्रवृत्ति सीप की ओर होती है यह बात मान ली जाय तो फिर

वहाँ किसी-न-किसी ख्याति को ही स्वीकार करना होगा। भेद का अख्याति-मूलक अख्यातिवाद मान्य नहीं ठहराया जा सकता।

इस अख्यातिवाद के विरुद्ध यह भी एक ध्यान देने योग्य विषय है कि प्रवृत्ति के प्रति यदि भेदाग्रह को कारण माना जायगा तो निवृत्ति के प्रति भी भेदाग्रह ही कारण मान्य होगा। सारांश यह कि किसी भी वस्तु में यदि किसी भी व्यक्ति को अपने किसी इष्ट से अर्थात् अपनी इच्छा के विषयभूत किसी वस्तु से विभिन्नता ज्ञात नहीं होगी तो उस व्यक्ति की उस ओर होगी प्रवृत्ति और किसी व्यक्ति को किसी वस्तु में यदि अपने अनिष्ट वस्तु की अर्थात् जिसे वह चाहता न होगा उस वस्तु की अभिन्नता ज्ञात होगी तो उस व्यक्ति को उस वस्तु की ओर से होगी निवृत्ति। अर्थात् वह व्यक्ति जो कि किसी वस्तु को ऐसी वस्तु से भिन्न नहीं समझता होगा जिसे कि वह अपने लिए अनिष्ट समझता होगा तो वह व्यक्ति उस वस्तु की ओर उसे पाने के लिए अग्रसर होगा नहीं, यह नियम मानना होगा। किन्तु ऐसा मानने पर आपत्ति यह होगी कि किसी भी वस्तु में जबकि व्यक्ति विशेष को अपने इष्ट वस्तु के भेद एवं अनिष्ट वस्तु के भेद दोनों का आग्रह रहेगा अर्थात् उस वस्तु को वह व्यक्ति न अपना इष्ट समझता होगा और न अनिष्ट, तब उस वस्तु की ओर उस व्यक्ति की प्रवृत्ति और उस वस्तु की ओर से उस व्यक्ति की निवृत्ति ये दोनों एक ही समय आपन्न हो उठेंगी। क्योंकि वहाँ इष्ट-भेदाग्रहस्वरूप प्रवृत्ति का कारण भी विद्यमान होगा और अनिष्ट-भेदाग्रह स्वरूप निवृत्त का कारण भी विद्यमान रहेगा। एक ही व्यक्ति की एक ही वस्तु की ओर एक ही समय प्रवृत्ति और निवृत्ति मान्य हो नहीं सकती [११४]। एक ही व्यक्ति एक ही समय किसी भी एक ही वस्तु की ओर बढ़ भी रहा है और उस ओर से मुड़ भी रहा है ऐसा कभी देखा नहीं जाता। ऐसा होना सर्वथा असम्भव है। अत: इस आपत्ति को कोई भी व्यक्ति सह्य नहीं करार दे सकता। विशिष्ट ज्ञान को प्रवर्त्तक मानने पर यह आपत्ति इसलिए नहीं हो पाती कि कोई भी व्यक्ति एक ही समय एक ही किसी वस्तु का अपना इष्ट एवं अनिष्ट भी समझ नहीं सकता। क्योंकि इष्टत्व और अनिष्टत्व आपस में हैं परस्पर अत्यन्त विरुद्ध। दो विरुद्ध धर्म एक ही किसी धर्मी में एक ही व्यक्ति के द्वारा एक ही समय यदि समझे जायें तो धर्मों का विरोध ही समाप्त हो जाय। इसलिए इष्ट-भेदाग्रह को प्रवृत्ति के प्रति कारण नहीं माना जा सकता। सुतरां विशिष्ट-ज्ञान को ही प्रवर्तक मानना होगा। सीप को चाँदी समझ कर लोग उसे प्राप्त करने के लिए सीप की ओर प्रवृत्त होते है, यह निर्विवाद है। अत: यह भी मानना ही होगा कि उस प्रवृत्ति का सम्पादक ज्ञान है अज्ञान नहीं। इसलिए यह बिलकुल नहीं कहा जा सकता कि

---

(११४) अपि च यत्र रंगजतयोरिमे रजतरंगे इतिज्ञानं तत्रोभतत्र युगपत्प्रवृत्तिनिवृत्ति स्याताम्। रंगरंग-भेद-ग्रहे रजते रजतभेद-ग्रहे चान्यथाख्यातिभ। यात् त्वन्मते दोषादेव रंगे रजतभेदाग्रहस्य रजते रंगभेदाग्रहस्य च सत्त्वात्।

-न्यायसिद्धान्त-मुक्तावली, गुणनिरूपण।

अख्याति ही मान्य है, किसी प्रकार की ख्याति नहीं।

अन्यथा-ख्याति-

न्याय और वैशेषिक सिद्धान्त यह मानता है कि जहाँ सीप की ओर किसी रजतार्थी की प्रवृत्ति होती हुई पायी जाती है वहाँ उस प्रवृत्ति की सम्पादिका न तो उक्त ख्यातियाँ हो सकती हैं और न उक्त अख्याति। अतः उक्त परिस्थिति में [११५] अन्यथा-ख्याति मान्य है। कहने का तात्पर्य यह है कि वहाँ रजतार्थी व्यक्ति आगे विद्यमान चमकती सीप को चांदी समझ बैठता है अतः उस ओर प्रवृत्त होता है। क्योंकि प्रवृत्ति के प्रति कृतिसाध्यता का अर्थात् अपने द्वारा किये जाने योग्य होने का ज्ञान एवं इष्ट साधनता का अर्थात् उससे होने वाले किसी अपने लाभ का ज्ञान ये दोनों होते हैं कारण। सीप को चाँदी देखने वाला व्यक्ति यह सोचता है कि आगे बढ़ कर इसे मैं ले सकता हूँ, और इससे मुझे लाभ होगा। इसे मैं अपने उपयोग में ला सकता हूँ। अतः कृतिसाध्यता एवं इष्ट-साधनता के ज्ञान की विद्यमानता के कारण उस व्यक्ति को सीप की ओर अग्रसरता स्वरूप प्रवृत्ति होती है। रजतार्थी के लिए सीप को रजत समझना और इष्ट समझना ये दोनों एक ही बात हैं। अतः अन्यथा ख्याति ही मान्य है। 'अन्यथा-ख्याति' इसका अर्थ है अन्य-रूप से अन्य की ख्याति अर्थात् ज्ञान। फलतः अन्यगत-धर्मयुक्त रूप में अन्य का ज्ञान। यह पहले भी कहा जा चुका है।

इस अन्यथा-ख्याति के विरुद्ध अन्य दार्शनिकों के द्वारा अनुपपति यह उपस्थित की जाती है कि प्रत्यक्ष उसी वस्तु का हो पाता है जिसके साथ इन्द्रियका सम्बंधात्मक सन्निकर्ष स्थापित हो पाता है। आँख का संयोगात्मक सन्निकर्ष जबकि सीप के साथ ही रहता है चाँदी के साथ रहता नहीं तब चाँदी का प्रत्यक्ष वहाँ कैसे हो सकता है? सीप में होने वाले चाँदी के ज्ञान को कैसे प्रत्यक्ष कहा जा सकता है? इसका उत्तर अन्यथा-ख्यातिवादियों की ओर से यह दिया जाता है कि लौकिक-सन्निकर्ष तो वहाँ चाँदी के साथ होना नहीं यह बात बिलकुल सही है परन्तु अलौकिक सन्निकर्ष का अस्तित्व दिखलाया जा सकता है। सामान्यलक्षण, ज्ञानलक्षण और योगज ये तीन, प्रत्यक्ष-स्थल में अलौकिक-सन्निकर्ष होते हैं यह बात विस्तृत रूप से न्याय-वैशेगिक-मत-सिद्ध प्रत्यक्ष-प्रक्रिया के विवेचन के अवसर पर बतलायी जा चुकी है। और यह भी बतलाया जा चुका है कि दूर से किसी फूल को देखते समय द्रष्टा व्यक्ति को जो 'यह फूल सुगन्धयुक्त है' इस प्रकार फूल के साथ उसके सुगन्ध का भी चाक्षुष-प्रत्यक्ष होता है ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष के सहारे, तदनुसार सीप को चाँदी देखा जाता है। सारांश यह कि सीप के साथ आँख का तो संयोगात्मक लौकिक ही सन्निकर्ष विद्यमान रहता है। रही बात दूरवर्ती चाँदी के साथ सन्निकर्ष के अस्तित्त्व की, तो सो, इस प्रकार ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष समस्या हल कर देता है कि किसी प्रकार की अनुपपत्ति अन्यथा-ख्याति की मान्यता में रह नहीं जाती। चमकती हुई सीप को देखकर चमकती हुई चाँदी का स्मरण हो आना अस्वाभाविक नहीं कहा जा

(११५) तदभाववति तत्प्रकारकोऽनुभवोऽयथार्थः। -तर्कसंग्रह।

सकता। इसके अनुसार वह चाँदी का स्मरणात्मक-ज्ञान, प्रत्यक्ष-ज्ञान के द्वारा चाँदी के विषयीकरण के निमित्त, सन्निकर्ष हो जाता है। अतः उस परिस्थिति में, सीप की अन्यथा-ख्याति होती है अर्थात् रजतगत रजतत्व धर्म से पुरस्कृत रूप में सीप का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान होता है इस प्रकार मानने पर न तो कोई अनुपपत्ति दिखलायी जा सकती है और न आपत्ति।

कुछ ऐसे भी अन्यथा-ख्याति के स्थल मिलते हैं जहाँ कि किसी के विषयीकरणार्थ ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष का आश्रयण नहीं करना पड़ता है। उदाहरण के रूप में ऐसा स्थल भलीभाँति उपस्थित किया जा सकता है कि [११६] जहाँ राँगे और चाँदी के दो टुकड़े आसपास द्रष्टा के सामने विद्यमान हों और द्रष्टा असावधानतावश राँगे को चाँदी और चाँदी को राँगा समझे, तो वह उसका समझना स्वरूप अन्यथा-ख्याति के लिए ज्ञानलक्षण सन्निकर्ष की कोई आवश्यकता नहीं होती। क्योंकि वहाँ राँगा और चाँदी दोनों के साथ आँख का संयोगात्मक लौकिक ही सन्निकर्ष विद्यमान रहता है। और उसी के सहारे राँगे को चाँदी और चाँदी को राँगा समझा जा सकता है। इसलिए जो लोग यह सोचते हैं कि अन्यथा-ख्याति की मान्यता के लिए ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष की मान्यता सर्वथा अनिवार्य है, वह उनका सोचना सर्वथा सही नहीं कहा जा सकता। क्योंकि सर्वत्र अन्यथा ख्याति-स्थल में उसके सम्पादनार्थ ज्ञानलक्षण-सन्निकर्ष अपेक्षित होगा ही, यह दावा नहीं किया जा सकता। जैसा कि प्रदर्शित उदाहरण से सर्वथा स्पष्ट है।

इस अन्यथा-ख्याति की मान्यता, इसलिए भी गरिमायुक्त प्रतीत होती है कि उक्त अनिर्वचनीय-ख्यातिवादी ब्रह्माद्वैती-वेदान्तियों को भी स्थल विशेष में इस अन्यथा-ख्याति को अपनाना पड़ता है। क्योंकि जब उनके सामने यह प्रश्न उपस्थित होता है कि प्रातिभासिक वस्तुयें भी जब वेदान्त-सिद्धान्त के अनुसार प्रतिभास के समय कुछ देर के लिए विद्यमान मान्य हैं तब प्रातिभासिक वस्तुओं का जो त्रैकालिक निषेध किया जाता है वह कैसे संगत कहा जा सकता? शुक्तिरजत के सम्बंध में जो पीछे, सीप को पहचान लेने पर सामान्यतः त्रैकालिक रूप से निषेध की इस प्रकार प्रतीति होती है कि 'यह चाँदी नहीं है' वह कैसे संगत बन सकती? 'यह अब रजत नहीं है' इस प्रकार कालपरिछिन्न रूप में अर्थात् सीमित-काल के लिए यदि निषेध किया जाय, तो उचित कहा जा सकता है। क्योंकि सीप को पहचान लेने पर 'यह चाँदी है' यह रजत का प्रतिभास लोगों को होता नहीं। अतः उस समय शुक्तिरजत का बाधित होना, उस समय के लिए उसका निषेध प्रतीत होना, तो उचित कहा जा सकता है, परन्तु तीनों कालों के लिए अर्थात् 'भूत, वर्तमान और भविष्य तीन काल में यह रजत नहीं' इसको सूचित करने वाला 'यह रजत नहीं है' यह सामान्यतः प्रतीत होने वाला निषेध कैसे उत्पन्न हो सकता? तो इस प्रश्न के उत्तर में अनिर्वचनीय-ख्यातिवादी ब्रह्माद्वैती वेदान्तियों को कहना यह पड़ता है कि प्रातिभासिक

---

(११६) किंच यत्र रंजरजतयरिमें रजते रंगे वेति ज्ञानं जातं तत्र न कारणबाधोऽपि।

-न्यायसिद्धान्त-मुक्तावली, गुणनिरूपण

वस्तुयें प्रतिभाष-काल में स्वतः भले ही रहें किन्तु परतः उस समय भी रहते नहीं। इसलिए उक्त-प्रकार त्रैकालिक-निषेध सर्वथा उपपन्न होता है। कहने का तात्पर्य उनका यह होता है कि जिस समय सीप में चाँदी की प्रतीति होती रहती है उस समय अविद्या-परिणाम, प्रातिभासिक-रजत के रहते हुए भी उस रजत के व्यावहारिक न होने के कारण, व्यावहारिकत्व धर्म से पुरस्कृत रूप में, वह प्रातिभासिक-रजत उस समय भी रहता नहीं। अत: 'यह चाँदी नहीं है' यह त्रैकालिक निषेध सर्वथा उपपन्न है। परन्तु प्रश्न की लरी यहाँ ही समाप्त होती नहीं। अनिर्वचनीय ख्यातिवादियों के समक्ष फिर प्रश्न यह उपस्थित होता कि अप्राप्त का निषेध भी नहीं होता है, इसलिए अलीक वस्तुओं का निषेध होता नहीं। ऐसी परिस्थिति में 'प्रातिभासिक-रजत' व्यावहारिक रूप में अर्थात् व्यवहारिकत्व-धर्मयुक्त-रूप में न कभी था और न अभी है और न कभी होगा' इस प्रकार प्रातिभासिक-रजत के त्रैकालिक-निषेध की प्रतीति के लिए उस प्रातिभासिक-रजत को, जिसका कि निषेध करना है, व्याःवहारिकत्व-धर्मयुक्त रूप में प्रतीति आवश्यक हो पड़ेगी। अत: निषेध्य प्रातिभासिक-रजत के ऊपर, कुछ देर के लिए प्रातिभासिक व्याववहारिकत्व भी उक्त प्रकार त्रैकलिक निषेध के सम्पादनार्थ मान्य अवय होगा। और ऐसा होने पर फिर उक्त त्रैकालिक-निषेध इसलिए नहीं बन पायेगा कि वह प्रातिभासिक रजत, जिसका कि त्रैकालिक निषेध सम्पाद्य है, मध्य में कुछ समय के लिए, अथवा यों स्पष्ट कहा जाय कि जिस समय उस प्राति-भासिकरजत पर व्यावहारिकत्व का प्रतिभास किया जायगा उतने समय के लिए, उस निषेधप्रातिभासिक-शुक्तिरजत को प्रातिभासिक-व्यावहारिकत्व से युक्त प्रातिभासिक मानना नितान्त आवश्यक होगा। ऐसी परिस्थिति में प्रातिभासिक-व्यावहारिकता-युक्त रूप में भी उस प्रतिभासिक शुक्तिरजत का त्रैकालिक निषेध फिर असम्भव हो आता है। क्योंकि कुछ काल के लिए उक्त व्यावहारिकत्वात्मक प्रातिभासिक-धर्म उस प्रातिभासिक शुक्तिरजत पर रह जाता है। इस विकट परिस्थिति की उपस्थिति में आखिर अनिर्वचनीय-ख्यातिवादी उक्त ब्रह्माद्वैतियों को यही कहना पड़ता है, कि यह बात सही है कि प्रातिभासिक शुक्तिरजत के त्रैकालिक-निषेध की प्रतीति के सम्पादनार्थ व्यावहारिकता-युक्त-रूप में उस प्रातिभासिक-रजत की, जो कि निषैध्य होता है, प्रतीति आवश्यक होती है। परन्तु वह प्रातिभासिक-शुक्तिरजत-धर्मिक व्यावहारिकत्व की प्रतीति अनिर्वचनीय-ख्याति-स्वरूप मान्य न होकर अन्यथा-ख्यातिस्वरूप मान्य है। कहने का तात्पर्य यह कि सीप, जिसमें या जिससे अवच्छिन्न चैतन्य में रजत का अध्यास होता है, व्यावहारिक ही होता है। अत: उस शुक्तिगत-व्यावहारिकता से युक्त रूप में प्रातिभासिक-रजत को समझ लेना कठिन नहीं। इस प्रकार व्यावहारिकत्व-धर्मयुक्त रूप में प्रातिभासिक-रजत की प्रतीति होने के कारण, उसका निषेध अप्राप्त का निषेध नहीं, प्राप्त का ही निषैध होता है। प्रातिभासिक-मुक्तिरजत में व्यावहारिकता की प्रतीति इस प्रकार होगी कि 'यह दृश्यमान रजत व्यावहारिक है'। इस प्रतीति के अंदर पश्चात्-निषेध्य-शुक्तिरजत स्वगत-धर्म प्रातिभासिकत्व से युक्त रूप में प्रतीत न होकर उस व्यावहारिकत्व-धर्म से युक्त रूप

में प्रतीति होता है, जो कि उसका निजी धर्म न होकर व्यावहारिक सीप का धर्म होता है। अतः उस प्रतीति को अन्यथा-ख्याति मानना उसके लिए भी अति आवश्यक हो उठता है जो कि अनिर्वचनीय-ख्याति के मोह को फिर भी न छोड़ पाते।

इस प्रकार जब कि उनकी इच्छा के विरुद्ध अनिर्वचनीय-ख्यातिवादियों को भी, स्थल विशेष में अन्यथा-ख्याति को मान्यता देनी पड़ती है, तब उनके समक्ष समस्या यह एक उठ खड़ी होती है कि दोनों ख्यातियों को मान्यता दे देने पर कहाँ अर्थात् कैसी परिस्थिति में अनिर्वचनीय-ख्याति स्वीकृत हो और कहाँ कैसी परिस्थिति में अन्यथा-ख्याति? तो इस सम्बंध में ब्रह्माद्वैत-वेदान्ती यह निर्णय उपस्थित करते हैं कि जहाँ आरोप्य एवं आरोप के स्थान दोनों ही इन्द्रिय से सन्निकृष्ट हों वहाँ होगी अन्यथा-ख्याति और जहाँ आरोप्य इन्द्रिय से सन्निकृष्ट न हो वहाँ होगी अनिर्वचनीय-ख्याति। इस निर्णय के अनुसार आदि द्रष्टा के आगे निकट में ही रक्त-जवापुष्प और स्वच्छ-स्फटिक-खण्ड दोनों आँख से सम्बंध रूप में विद्यमान हों, और रक्त-जवापुष्प के सान्निध्य से स्फटिक-खण्ड लाल दिखाई दे, तो स्फटिक में देखी जाने वाली प्रातिभासिक नहीं होगी, अनिर्वचनीय, आविद्यक [117] नहीं होगी, अतः वहाँ की स्फटिक-खण्डगत-रक्तता की प्रतीति, जो कि वहाँ विद्यमान द्रष्टा को होगी, अनिर्वचनीय-ख्याति न होकर, अन्यथा-ख्याति ही होगी। क्योंकि वहाँ द्रष्टा की आँख जवापुष्पगत-रक्तिमा एवं स्फटिक खण्ड दोनों से सम्बद्ध रहेगी। किन्तु वहाँ ही यदि ऐसी परिस्थिति हो कि द्रष्टा की आँख और जवापुष्प के बीच व्यवधान हो किन्तु रक्तजवा के सान्निध्य के कारण द्रष्टा स्फटिक को लाल देखे तो वहाँ के उस स्फटिकगत-रक्ततादर्शन को अनिर्वचनीत-ख्याति ही ब्रह्माद्वैत-सिद्धान्त में माना जायगा, अन्यथा ख्याति नहीं। ब्रह्माद्वैतवादी-वेदान्तियों के इस निजी सिद्धान्त से ऐसा मालूम पड़ता है कि वे लोग विपर्ययात्मक-भ्रम-ज्ञान को दो भागों में विभक्त मानते हैं, जैसे अन्यथा-ख्याति और अनिर्वचनीय-ख्याति। अनुमिति, शाब्द आदि परोह-विभ्रम स्थल में वे नियमतः अनिर्वचनीय-ख्याति ही मानते हैं, अन्यथा-ख्याति बिलकुल नहीं। और अपरोक्ष-विभ्रम-स्थल में आरोप्य के साथ भी इन्द्रिय का सन्निकर्ष रहने पर मानते हैं अन्यथा-ख्याति और उसके साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष न रहने पर मानते हैं अनिर्वचनीय ख्याति। जैसा कि ऊपर वर्णित हुआ है।

परन्तु वेदान्तियों का यह सिद्धान्त उचित इसलिए नहीं कहा जा सकता कि जब अन्यथा-ख्याति भी उन्हें माननी ही पड़ती है तब केवल उसे ही क्यों नहीं सर्वत्र मान्यता दी जाय भ्रम स्थल में? वे क्यों नहीं ऐसा ही मानते, इसका कारण तो स्पष्ट है। क्योंकि अनिर्वचनीय-ख्याति को बिलकुल मान्यता न देने पर उनका पूरा जगन्मिथ्यात्व ही चौपट

---

(११७) यत्रारोप्यमसन्निकृष्टं तत्रैव प्रातिभासिक वस्तूत्पत्तेरंगीकारात्। अत-एवेन्द्रिय सन्निकृष्टतया जपा-कुसुमगत-लौहित्यस्य स्फटिके भान-सम्भवत् न स्फटिकेऽनिर्वचनीयलौहित्योत्पत्तिः। *-वेदान्त परिभाषा, प्रत्यक्ष परिच्छेद।*

चला जायगा। इसलिए स्थलविशेष में अन्यथा-ख्याति को भी मान्यता देने के लिए बाध्य किये जाने पर भी वे सर्वत्र भ्रम-स्थल में उसे मान्यता दे नहीं सकते। किन्तु उनका जगन्मिथ्यात्व बिगड़ जायगा इसलिए अनिर्वचनीय-ख्याति को मान्यता अवश्य देनी चाहिए इस बात से अन्य विवेचक भला क्यों सहमत होगा जो कि दृश्य-जगह को स्थिर, पूर्ण-सत्य मानता है। अत: तटस्थभाव से भी विवेचन करने पर यही उचित प्रतीत होता है कि जब अन्यथा-ख्याति को भी मान्यता उन्हें देनी ही पड़ती है तब उसके साथ अनिर्वचनीय-ख्याति को भी मान्य ठहराना सही नहीं।

चार्वाक-मत भी अन्यथा-ख्याति का ही उपासक--

उक्त प्रकार ख्याति-अख्याति आदि की मान्यता के सम्बंध में विभिन्न प्रकार के मतों को देखते हुए यह प्रश्न विवेचकों के अन्तस्तल में उठना स्वाभाविक है कि चार्वाकीय-दृष्टिकोण इनके अंदर किसे पसन्द करता है? तो चार्वाकीय-मतवाद की प्राचीनता एवं दृश्य-जगत् के सम्बंध में इसकी मान्यता की ओर ध्यान देते हुए, प्रतीत यह होता है कि भ्रम स्थल में अन्यथा-ख्याति का सिद्धान्त सर्वप्रथम चार्वाकीय-दृष्टिकोण ने ही सम्भवत: उपस्थित किया था। जिसे परवर्ती वैशेषिक एवं नैयायिकों ने दृश्य-जगत् की वास्तविक के अनुकूल पाकर अपनाया। चार्वाक-मत की प्राचीनतमता का निरूपण आगे किया जायगा। उक्त बौद्ध-सम्मत आत्मख्याति को मान्यता देना चार्वाकीय-दृष्टिकोण में इसलिए भी कठिन प्रतीत होता है कि ज्ञान का निरूपण विषय के सहारे ही हुआ करता है विषय को अमान्य कर देने पर ज्ञान का पता भी नहीं चल सकता। अथवा यों कहा जाय कि ज्ञान हो ही नहीं सकता। इसीलिए नैयायिकों के मूर्द्धन्य आचार्य उदयन ने इस बात को माना है कि ज्ञान निराकार होने के कारण उसका वैलक्षण्य अर्थ के द्वारा अर्थात् स्थायी विषय के द्वारा ही सम्भ है।[११८] जो भला भूतात्मक-तत्त्व के बिना न उदित हो सकता और न प्रतीत हो सकता उसे ही अकेले मौलिक तत्त्व मान कर उसकी आधारशिला का स्थान लेने वाले भूतात्त्मक विषयों को न मानना कैसे बुद्धिमत्ता कहीं जा सकती? बाह्य सारी वस्तुएँ जो कि दृश्य रूप में सबके समक्ष उपस्थित हैं आन्तर क्षणिक विज्ञान के ही आकार हैं, यह बौद्ध विद्वानों का कथन भला कैसे संगत कहा जा सकता? क्योंकि आकार कहने पर लम्बाई-चौड़ाई, निचाई-ऊँचाई इत्यादि की ही प्रतीति होती हुई पायी जाती है। ऐसा आकार कभी किसी भी प्रकार अमूर्त आन्तर विज्ञान का सम्भव नहीं कहा जा सकता। उक्त प्रकार का आकार भूततत्त्व में ही सम्भव है स्वतंत्र आन्तरविज्ञान में नहीं। ऐसी परिस्थिति में आन्तर-क्षणिक-विज्ञान ही तथ्य है और बाह्य सारे दृश्य उसी के आकार हैं, यह कथन संगत नहीं कहा जा सकता। ऐसी परिस्थिति में क्षणिक विज्ञान मात्र की तत्त्व रूप में मान्यता पर आधारित आत्मख्याति मान्य नहीं हो सकती।

---

(११८) अथनैव विशेषो हि निराकारतया धियाम्। -कुसुमाञ्जलि।

और भी एक बात यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि तत्त्वभूत आन्तर-विज्ञान जब कि क्षणिक अर्थात् बिलकुल क्षणमात्र स्थायी होगा तो उसे आकार ग्रहण करने का समय कैसे प्राप्त हो पायेगा? जो स्वयं स्वाभाविक क्षणनाश्यता के पंजे में फँसा होगा, अपनी उत्पत्ति के क्षण के अनन्तर क्षण में ही चल बसेगा, वह नट की तरह विभिन्न आकार परिग्रह करके विश्व रंगमंच पर कैसे दृश्य बनकर उपस्थित हो पायेगा? इसलिए भी क्षणिक-विज्ञानमात्र-तत्त्वतावादी पर आधारित आत्मख्याति को मान्यता नहीं दी जा सकती।

सबसे बड़ी जो कठिनता क्षणिक-विज्ञान-मात्र-तत्त्वतावादी आत्मख्याति-सिद्धान्त में प्राप्त होती है वह है जागतिक व्यवस्था का विलोप। जब कि श्रद्धा और विश्वासपूर्वक यह मान लिया जाय कि क्षणिक विज्ञान के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं तब भक्ष्य, भक्षण और भक्षक, शास्य, शासन एवं शासक, उपदेश्य, उपदेश और उपदेष्टा, प्रमेय, प्रमा और प्रमाता इत्यादि सभी सर्वथा मिथ्या मान्य होंगे। और यदि ये सभी मिथ्या ही हों तो किसी भी प्रकार की व्यवस्था जो कि सभी लोगों की दृष्टि में नितान्त आवश्यक है उचित रूप से चल नहीं सकती। सम्भवतः इसी कमी के कारण बौद्ध लोग अव्यवस्थित उच्छृखल-प्रवृत्ति के हो गये थे जिसके फलस्वरूप उनका सिद्धान्त एवं उनकी विचारधारा का अस्तित्व यहाँ लुप्तप्राय हो गया। दृष्टिकोण तो ऐसा होना चाहिए जिससे कि स्वराष्ट्र एवं परराष्ट्र की व्यावहारिक सुव्यवस्था स्थिर हो। इस क्षणिक-विज्ञान मात्र को ही तात्त्विक मान कर किसी भी राष्ट्र की सुव्यवस्था स्थिर नहीं की जा सकती।

यह बात यद्यपि अवश्य मान्य है कि कोई भी दृष्टिकोण, कोई भी नया विचार किसी आवश्यकता के अनुसार ही उदित होता है। तदनुसार उक्त बौद्ध विचारधारा भी अवश्य ही किसी आगन्तुक समस्या के हल के लिए उदित हुई होगी किन्तु ऐसी विचारधारा अधिक दिनों तक टिकाऊ नहीं हो सकती। जो विचारधारा पाणिजीवन के दैनन्दिन उपयोग में न आ पाये उसे जनता सदा के लिए कैसे अपना सकती है? जो सिद्धान्त, यह तथ्य लोगों के समक्ष उपस्थित करे कि तुम और तुम्हारे इनमें कोई अंतर ही नहीं है, वह भला क्योंकर किसी भी वस्तु को अपने से अन्य किन्तु अपना समझ कर उसके लिए प्रवृत्त होगा? क्यों उसके लिए चेष्टाशील होगा? और प्रवृत्ति एवं चेष्टा के बिना कोई भी व्यक्ति अपने अभिप्रेत पदार्थ को कैसे पा सकता? इसीलिए तो नीतिकारों ने जगह-जगह पर यह कहा है कि परोसी हुई थाली से कवल उठाकर मुंह में नहीं ले जायेगा तब तक अपने हाथ को नहीं चलायेगा, उस परोसी हुई थाली से कवल उठाकर मुंह में नहीं ले जायेगा तब तक स्वयं वह खाद्य पदार्थ मुंह में नहीं जा घुसेगा। यदि कोई व्यक्ति खाद्य मुंह में भी दे दे फिर भी जब तक वह व्यक्ति मुंह नहीं चलायेगा तब तक खाद्य उस व्यक्ति के पेट में नहीं जा सकता। इसलिए उक्त बौद्ध-दृष्टिकोण किसी निर्वाण मात्र के इच्छुक व्यक्ति के लिए भले ही उपयुक्त हो सके किन्तु सांसारिक वस्तुओं एवं उनसे प्राप्त होने वाले उपभोगों के लिए इच्छुक व्यक्ति के लिए उपयुक्त नहीं कहा जा

सकता।

सम्भवत: इसीलिए कुछ बौद्ध विवेचक बाह्यास्तित्वाद के उपासक बन गये। परन्तु क्षणिकत्व की वासना ने उन्हें भी छोड़ा नहीं। साथ ही वे परमाणुपुञ्जवाद को मान्यता दे बैठे। करते क्या? इस हरे-भरे जगत् को उन्हें निस्सार जो सिद्ध करना था। अत्यधिक अनुचित-प्रवृत्तिशील जनता को निवृत्ति की ओर जो उन्हें मोड़ना था। परन्तु विवेचना की कसौटी पर कसने के अनन्तर उन बाह्यास्तित्ववादी बौद्धों का सिद्धान्त भी जागतिक अपेक्षित सुव्यवस्था के लिए उपयुक्त नहीं कहा जा सकता। क्योंकि कभी सांसारिक वस्तुओं को यदि परमाणुपुञ्ज रूप ही मान लिया जाय तो पथ्य-अपथ्य, खाद्य-अखाद्य, हेय-उपादेय आदि की वास्तविक सुव्यवस्था नहीं की जा सकती। उक्त दृष्टिकोण को वास्तविक प्राणिजीवन का उपयोगी नहीं कहा जा सकता। बौद्ध दार्शनिकों के निर्वाण-मार्ग पर उन्हें अग्रसर करने में उसका भले ही कुछ उपयोग हो सके। अत: चार्वाकीय-दृष्टिकोण में जो कि जागतिक उद्देश्यों को ठोस सत्य एवं प्राणिजीवन के लिए नितान्त उपयोगी मानता है उक्त बौद्ध दृष्टिकोण को उपादेय नहीं कहा जा सकता है।

जब कि बाह्म परमाणुपुञ्जात्मक दृश्य को मान्यता देने वाले बौद्धदृष्टिकोण में यह बल नहीं पाया गया कि उसके आश्रयण के सहारे जागतिक सुव्यवस्था बनायी जा सके,तब वह शून्याद्वैतवादी माध्यमिक-सिद्धान्त कैसे मान्य हो सकता जो कि जगत् को सर्वथा शून्य करार देकर अपने को भी शून्य ही सिद्ध कर दिखलाता। जो भला अपने को बिलकुल शून्य कहता हुआ कर्त्तव्य मार्ग भी दिखलाये उसकी बात पर वैसा ही व्यक्ति विश्वास कर सकता है, और कोई नहीं। सम्भव है कुछ लोग यहाँ यह कहने के लिए तत्पर हों कि व्यावहारिक जीवन तो जैसा लोगों का चलता आ रहा है वह चलता ही रहेगा। जो बौद्ध लोग क्षणिक-विज्ञान मात्र को तत्त्व मानते या परमाणुपुञ्जवाद का ही समादर करते हैं अथवा शून्य को ही तत्त्व मानते हैं उनकी जीवन-यात्रा क्या स्थगित रहती है? जिस प्रकार जागतिक वस्तुओं को स्थिर सत्य मानने वालों की जीवन-यात्रा निरन्तर भाव से चालू रहती है उक्त सभी बौद्ध विचारकों को भी जीवनयात्रा उसी प्रकार अबाधित गति से चलती ही है। इसलिए केवल उक्त प्रकार उपहास मात्र से उक्त प्रकार बौद्धवाद को अनुपयुक्त ठहराना उचित नहीं ठहराया जा सकता। तो इसके उत्तर में कहना यह है कि यही तो नितान्त अनुचित है कि दर्शन और आचरण में बिलकुल सामंजस्य न हो। दैनन्दिन जीवन जब कि उनका भी उसी प्रकार होगा जैसा कि प्रत्येक जागन्तिक वस्तुओं को स्थिर सत्य मानने वालों का, तब उस दर्शन को सर पर उठाकर क्या लाभ उठाया जा सकेगा? दर्शन है ज्ञान, अत: उसका उपयोग इच्छा के द्वारा जीवन की दैनन्दिन प्रवृत्ति या निवृत्ति में ही अवश्य होना उचित है।

बाह्यास्तित्ववादी बौद्धों का परमाणपुञ्जवाद इसलिए भी उचित प्रतीत नहीं होता कि प्रत्यक्ष के प्रति महत्व की कारणता अनुभवसिद्ध है। उड़ते हुए एक परमाणु को कोई

क्यों नहीं देख पाता? इसलिए तो, कि उसमें महत्त्व होता नहीं? ऐसी परिस्थिति में सभी दृश्य वस्तुओं को परमाणुपुञ्जात्मक मानने पर उनका प्रत्यक्ष नहीं होना चाहिए। किन्तु ऐसा होता नहीं। प्रत्यक्ष होता ही है। अतः परमाणुपुञ्जवाद को मान्यता नहीं दी जा सकती। यदि उक्त पुंजवादियों की ओर से यह कहा जाय कि एक दूरस्थ केश को कोई देखता नहीं किन्तु केशपुँज को दूरस्थिति के होते हुए भी लोग देखते हैं। तदनुसार एक परमाणु दृश्य न होने पर भी परमाणुपुञ्ज दृश्य हो सकता है। अतः दृश्यों की अदृश्यता की आपत्ति नहीं दी जा सकती। तो यह कथन इसलिए सही नहीं माना जा पायेगा कि दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में तुल्यता नहीं है। एक भी केश निकटस्थ होने पर तो देखा जाता है परन्तु एक परमाणु को निकटस्थित होने पर भी कहाँ कोई देख पाता? दूसरी बात यह कि घड़े को यदि एक स्वतंत्र अवयवी पार्थिव-द्रव्य न मानकर पार्थिव-परमाणुपुञ्ज माना जाय तो उसमें होने वाली एकता की बुद्धि उपपन्न नहीं हो सकती। कहने का तात्पर्य यह है कि बुद्धियाँ दो तरह की होती हैं यथार्थ एवं अयथार्थ। घड़े, कपड़े आदि एक-एक दृश्य में होने वाली एकत्व की बुद्धि को यथार्थ बुद्धि इसलिए नहीं कहा जा पायेगा कि इस पुंजवाद की मान्यता-पक्ष में घड़े, कपड़े आदि दृश्यों के अंदर कोई भी, एक नहीं हो पायेगा। अनेक में होने वाली एकता की बुद्धि को भला कैसे यथार्थ कहा जा सकता? अयथार्थ भी उक्त एकत्व की बुद्धि को इसलिए नहीं कहा जा सकता कि अयथार्थ बुद्धि नियमतः यथार्थ बुद्धिपूर्वक ही हुआ करती है। जो व्यक्ति सच्ची चाँदी को बिलकुल जानता नहीं उसे कभी सीप में 'यह चाँदी है' इस प्रकार अथार्थ बुद्धि नहीं होती। प्रकृत में इसके अनुसार परमाणुपुञ्जात्मक-घड़े में अयथार्थ एकत्व बुद्धि करने के लिए कहीं-न-कहीं एकत्व की यथार्थ बुद्धि कर लेनी होगी। परन्तु वह सर्वथा असम्भव होगी। क्योंकि सारे दृश्य जब कि पुंजात्मक ही होंगे तो सचमुच एक कौन होगा? जिसमें होने वाली एकत्व की बुद्धि यथार्थ होगी? यदि यह कहा जाय कि किसी द्रव्य में एकत्व की बुद्धि यथार्थ न होने पर भी द्रव्यगत गुणों एवं क्रियाओं के अंदर एक गुण में, जैसे घड़े के रूप में एवं किसी एक पल्लव के एक कम्पन में, होने वाली एकत्व की बुद्धि यथार्थ होगी। अतः तत्पूर्वक अयथार्थ एकत्व-बुद्धि घड़े, कपड़े आदि में हो सकती है। तो यह कथन भी चार्वाकीय दृष्टिकोण से इसलिए संगत नहीं हो सकता कि यहाँ गुण और गुणी, क्रिया और क्रिया का आश्रय, इनमें भेद मान्य होता नहीं। ऐसी परिस्थिति में घड़ा पुंजात्मक होने पर उससे अभिन्न होने वाला रूप या कम्पन कैसे तत्त्वतः एक हो सकता? और यदि नहीं हो सकता तो उसमें होने वाली एकत्व की बुद्धि को यथार्थ बुद्धि कैसे कहा जा सकता? अतः परमाणु पुँजवाद मान्य नहीं हो सकता। पुंज के अन्तर्गत एक परमाणु में होने वाली एकत्व को बुद्धि यथार्थ होगी और उसके आधार पर पुंजात्मक घट-पट आदि में एकत्व की यथार्थ बुद्धि होती है, यह इसलिए नहीं कहा जा सकता कि अणुत्व के कारण परमाणु का प्रत्यक्ष ही दुर्लभ है, फिर उसमें एकत्व की बुद्धि कैसे की जा सकता? नहीं की जा सकती। अतः इस प्रकार पुंजात्मक घट-पट आदि प्रत्येक में होने वाली एकत्व की बुद्धि का सम्पादन नहीं

किया जा सकता।

इसी प्रकार बौद्धों को पुंजवाद की मान्यता पक्ष में घट-पट आदि में होने वाले महत्व सम्बंधी प्रत्यय का भी उपपादन असम्भव है। क्योंकि पुंज को पुंजी से अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता। ऐसी परिस्थिति में परमाणु का पुंज परमाणु ही होगा और अणु में महत्त्व रह नहीं सकता। अतः घट-पट आदि में महत्त्व न रहने के कारण 'यह घड़ा बड़ा है' इत्यादि महत्त्व का प्रत्यय यथार्थ हो सकता नहीं। रही अयथार्थ प्रत्यय की बात। तो वह भी उक्त युक्ति से अनायास असम्पाद्य प्रतीत होगा। कहने का तात्पर्य यह कि कहीं भी किसी का अयथार्थ प्रत्यय तब तक नहीं हो सकता जब तक कि उसका कहीं यथार्थ प्रत्यय न हो ले, यह बात पहले भी बतलायी जा चुकी है। इसलिए कहीं घट-पट आदिगत महत्त्व-प्रत्यय के पूर्व महत्त्व का प्रत्यय यथार्थ होना चाहिए। किसी द्रव्य में होने वाले महत्त्व-प्रत्यय को यथार्थ माना जायेगा तो वहाँ ही मान्य पुंजवाद खण्डित हो उठेगा। क्योंकि तब उस द्रव्य को परमाणुपुंज न मान कर एक स्वतंत्र ही द्रव्य मानना होगा और किसी गुण या क्रिया में वास्तविक महत्त्व का प्रत्यय होता ही नहीं कि उसे मुख्य बना कर तदनुरूप घट-पट आदि में महत्त्व का प्रत्यय औपचारिक, अयथार्थ माना जा सके। और गुण एवं गुणी इन दोनों में चार्वाकीय-दृष्टिकोण के अनुसार मान्य अभेद के कारण भी गुणगत महत्त्व-प्रत्यय को मुख्य प्रत्यय रूप में नहीं अपनाया जा सकता।

अपने मान्य परमाणुपुंजवाद के साधक रूप में बौद्धों ने जगह-जगह पर यह युक्ति उपस्थित की है कि किसी भी एक कहे जाने वाले द्रव्य को, यया एक कहे जाने वाले वृक्ष को, तत्त्वतः एक इसलिए नहीं माना जा सकता कि वहाँ दो विरुद्ध धर्म पाये जाते हैं। उदाहरण के द्वारा इसे यों समझना चाहिए कि एक ही वृक्ष एक ही समय एक ही व्यक्ति के द्वारा सकम्प अर्थात् कम्पन-युक्त भी देखा जाता है और निष्कम्प अर्थात् कम्पन-रहित भी। कम्पसाहित्य एवं कम्पराहित्य ये दोनों धर्म आपस में अत्यन्त विरुद्ध हैं यह सर्वानुभव-सिद्ध है। किन्तु वृक्ष आदि अवयवी में एक ही समय एक ही व्यक्ति द्वारा उक्त दोनों धर्म देखे जाते हैं। शाखा-टहनियाँ एवं पत्ते जो कि हिलते डुलते दीख पड़ते हैं तभी वृक्ष के मोटे मूल भाग में, जड़ में बिलकुल कम्पन देखा नहीं जाता। विरुद्ध दो धर्म एक समय में एक वस्तु में रह नहीं सकते। क्योंकि ऐसा होने पर दोनों में प्रातीयमान विरोध ही लुप्त हो जायेगा। किसी प्रकार विरोध बन नहीं पायेगा। अतः वृक्ष को जिसे कि लोग एक कहते हैं तत्त्वतः एक नहीं मानना चाहिए। इस प्रकार एकता का नियम खण्डित होने पर अन्तिम रूप में पुंजवाद स्थिर होकर ही विश्राम लेगा। किन्तु यह उनका कथन इसलिए संगत नहीं कहला सकता कि वृक्ष को निरवयव एक एवं महान् मानने पर यह अनुपपत्ति भले ही दिखलायी जा सके किन्तु सावयव एक मानने पर उक्त अनुपपत्ति नहीं दिखलायी जा सकती। क्योंकि एक ही काल में एक ही वृक्ष आदि अवयवी के विभिन्न अवयवों में कम्पन-राहित्य दोनों विद्यमान हो सकते हैं। आश्रयभूत अवयवों की विभिन्नता के कारण

कम्पन और कम्पन-रोहित्य इनमें प्रतीयमान विरोध भी सुरक्षित रह जाता है। इसी प्रकार गुणगत विरोध को लेकर प्रतीयमान विरुद्ध धर्म की अनुपपत्ति दिखलाकर भी पुंजवाद को नहीं स्थिर किया जा सकता। कहने का तात्पर्य यह कि बौद्ध लोग चित्र-पट स्थल को लेकर जो उसकी एकता के विरुद्ध पुंजता की सिद्धि इस प्रकार कह कर करते हैं कि रक्तता और अरक्तता ये दोनों धर्म आपस में सर्वथा विरुद्ध हैं, यह, 'रक्त' और 'अरक्त' इन दोनों शब्दों के सुनने पर अनायास प्रतीत होता है। चित्र पट यदि एक हो तो प्रतीयमान रक्तता और 'अरक्तता' ये दोनों धर्म कैसे उस एक चित्रपट में रह सकते? अत: चित्रपट को एक नहीं कहा जा सकता। बौद्धों का यह कथन भी उक्त सकम्पता और अकम्पता को लेकर किये गये कथन की खाण्डनिक युक्ति से अनायास खण्डित हो जाती है। तात्पर्य यह कि एक पट के भिन्न अवयवों में रक्तता और अरक्तता इन दोनों प्रतीयमान धर्मों का अस्तित्व जबकि चार्वाक-सिद्धान्त में उपपन्न हो सकता है तब रक्ता और अरक्तता इन विरुद्ध धर्मों का अस्तित्व दिखला कर बौद्धों के द्वारा परमाणुपुंजवाद का स्थिरीकरण सम्भव नहीं।

यहाँ यह भी ध्यान रखने की एक बहुत बड़ी बात है कि व्यवस्थित जनजीवन के प्रवाहगत आनन्त्य को अक्षुण्ण बना रखने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि ज्ञानों को अर्थात् व्यवहार से सम्पर्क रखने वाले ज्ञानों को सही और गलत इन दो भागों में विभक्त माना जाय। क्योंकि ज्ञानगत इस विभाजन को मान्यता न देने का अर्थ यही होगा कि सारे व्यावहारिक ज्ञान या तो सही ही हैं, या गलत ही हैं। इस मान्यता का फल यह होगा कि संसार के सारे प्राणी या तो सर्वथा भ्रान्त होंगे या सर्वथा अभ्रान्त। यदि सभी को भ्रान्त मान लिया जाय तब भी दण्ड-व्यवस्था नहीं चल सकती क्योंकि दण्ड व्यवस्थापक भी भ्रान्त ही मान्य होगा। कोई भी व्यक्ति किसी भी व्यवस्थापक पद पर तभी आरुढ़ एवं स्थिर रह सकता है यदि उसे जनता अभ्रान्त एवं अपने अभ्रान्त-ज्ञान के अनुरूप उचित निर्णय देने वाला मानती है। परमाणु पुंजमात्र की यथार्थता मानने पर लौकिक व्यवहार से सम्पृक्त सभी प्राणियों के अन्तर्गत होने वाले सारे मानवों को एक जैसा ही भ्रान्त मानना होगा अत: कभी किसी भी विषय के सम्बंध में वह निर्णायक नहीं बन पायेगा। व्यवस्था करने वाला नहीं मान्य होगा। जिसका कुफल यह होगा कि वर्त्तमान को अतीत से और अनागत को वर्त्तमान से यथासम्भव समानता को, यों कहा जाय कि सुसन्तुलन को, सुरक्षित रखने वाली दण्डव्यवस्था खतम हो जायेगी और दण्डव्यवस्था के उच्छेद के कुफल के रूप में जो उच्छृंखलता समाज में फैल सकती है उसकी कल्पना भी भयानक हो सकती है।

सम्भव है कि कुछ लोग शीघ्रतापूर्वक यहाँ यह पूछ बैठे कि 'तो परमाणु पुंजवादी बौद्धों का जब भारत में बोलबाला था तो क्या दण्डव्यवस्था यहाँ नहीं थी? शासन यहाँ नहीं चल रहा था? बौद्ध ग्रन्थों को देखते हुए तो ऐसा कहना कठिन है। क्योंकि

अपराधी भिक्षुकों एवं भिक्षुणियों के लिए भी दण्ड एवं प्रायश्चित की व्यवस्था उन ग्रन्थों में पाई जाती? तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि यही तो कहना है कि वे पुंजवादी भी सचमुच अपने इस कपोलकल्पित पुंजवाद को अपने जीवन में नहीं उतार पाये थे। उनका यह सिद्धान्त केवल उस कागजी घोड़े पर ही आरूढ़ था जो कि चलाने पर भी नहीं चल पाता था। यहाँ तक कि उनके अपने छोटे-से व्यावहारिक जीवन के आँगन में भी नहीं-डुल पाता था। तभी तो वे व्यावहारिक जीवन में इष्ट का उपादान और अनिष्ट का ज्ञान कर पाते थे। उपेक्षणीय उनके सिद्धान्त में भले ही न मान्यता हो, क्योंकि उसे भी वे हेय ही मान लेते थे। परन्तु हेय और उदादेय तो मान्य थे? क्या वे हान और उपादान से बिलकुल परे थे? ऐसा तो सम्भव नहीं। क्योंकि यदि विचार की कसौटी पर कसके देखा जाय तो यही तो है जीवन। मृत शरीर किसे कहा जाता है? उसी को तो, जो कि हान और उपादान बिलकुल नहीं करता? उस मृत शरीर के अन्दर भी जो कीट या कीटाणु हान और उपादानयुक्त रहते हैं वे जीवित ही कहलाते हैं। फलतः जीवन की इस परिभाषा के अनुसार यदि वे परमाणु-पुंजमात्रवादी जीवित थे तो वे भी औरों की तरह ही व्यावहारिक जीवन बिताते थे, यह मानना ही होगा। अतः उनका यह कल्पित परमाणु-पुंजवाद उनके जीवन में नहीं उतरा था। उनके जीवन से वह सदा और सर्वथा असम्पृक्त ही था। वह दर्शन क्या जो कि उसके प्रवर्त्तक के जीवन में भी न उतर पाये? अतः यह मानना ही होगा कि वह पौंजिक-विचारधारा या तो गलत थी या उसके मूल में कोई तत्कालिक उद्देश्य, रहस्य रूप में छिपा था।

यहाँ इस प्रकार उपन्यस्त होने वाला यह विचार केवल हीनयानी ब्राह्यास्तित्वादी बौद्धों की ही दार्शनिक विचारधारा से सम्पर्क नहीं रखता अपितु महायानी बौद्धों की क्षणिक-विज्ञान-सत्ता-मात्र विचारधारा और शून्याद्वैत-विचार-धारा भी उसी प्रकार इससे सम्पृक्त होती है जिस प्रकार उक्त हीनयानी बौद्धों की पारमाणविक-पुंज-विचार-धारा। क्योंकि गम्भीर-भाव से विचार करने पर वे बौद्धविचारधारायें भी व्यावहारिक जीवन स्तर पर बिलकुल पाँव नहीं रख पाती। वे प्रयत्न चाहे कितनी भी क्यों न करें उन विचार धाराओं में बहने वाले, परन्तु उनका परिश्रम व्यर्थ चला जायगा। वे सच्ची ठोस दाण्डिक-व्यवस्था का उपपादन कर नहीं सकते। अपने दृष्टिकोण को लेकर अपना भी जीवन नहीं चला सकते? जब वे तत्त्वतः सभी वस्तुओं को समान रूप से क्षणिक-विज्ञान ही समझेंगे तो अपनी प्रवृत्ति और निवृत्ति का कुछ भी कारण बतला सकेंगे? कभी नहीं। यदि वे सचमुच सबको शून्य ही समझें, यहाँ तक कि अपने को भी शून्य ही समझें तो क्या वे एक पग भी आगे-पीछे हो सकते? कभी नहीं। यह बात बिलकुल सही है कि वैसा मानना या वैसा कहना सर्वथा मिथ्याचार होगा जिसे कि मानने एवं कहने वाला अपने जीवन के साथ कुछ भी सम्बंध न जोड़ सके। अतः यह अनिच्छापूर्वक भी मानना ही होगा कि बौद्धों की उक्त ख्यातियाँ एवं उन पर आधारित विचारधारायें या तो सही नहीं थी या उनके प्रवर्त्तन

का भी रहस्य कुछ और था।

अनिर्वचनीय-ख्याति की परिस्थिति कुछ और तरह की है सही, क्योंकि सम्भवतः इसी ओर ध्यान देकर ब्रह्मद्वैतवादी वेदान्तियों ने पारमार्थिक और प्रातिभासिक इन दो सत्ताओं के बीच तीसरी एक व्यावहारिक सत्ता भी मानी, चार्वाक-दर्शन का मानों उन पर प्रभाव पड़ा।[११६] उन्होंने देखा कि इस दृश्य-जगत् को शून्याद्वैतवादी बौद्धों की तरह आकाश-कुसुम-तुल्य कहकर सर्वथा असत् या क्षणिक-विज्ञान-मात्र-तत्त्वतावादी योगाचार-साम्प्रदायिक बौद्धों की तरह स्वाप्न-दृश्य-तुल्य या जाग्रद्-दृश्य-शूक्तिरजत आदि तुल्य नहीं कहा जा सकता। क्योंकि आशा-मोदक और वास्तविक व्यावहारिक मोदक इन दोनों में कुछ अंतर अवश्य होना चाहिए। आशामोदक कोई भी व्यक्ति निरन्तर जीवनभर खाता रहे उसे उसे रुकने के लिए बाध्य होने की परिस्थिति नहीं आयेगी। मानसिक चिन्तामात्र की बात ठहरी। परन्तु वास्तविक व्यावहारिक मोदक को कोई निरन्तर खाता नहीं रह सकता। पेट भर जाने पर वह खाने वाला व्यक्ति किसी भी प्रकार और खा नहीं सकता। ऐसी परिस्थिति में उक्त दोनों प्रकार के मोदकों को एक कैसे कहा जा सकता? आग में प्रवेश करने का चिन्तन कोई निरन्तर कर सकता है किन्तु व्यावहारिक प्रज्वलित आग में कोई प्रवेश नहीं कर सकता। ऐसी परिस्थिति में चैन्तनिक-अग्नि-प्रवेश और व्यावहारिक अग्निप्रवेश दोनों को एक कैसे कहा जा सकता? इस प्रकार की अगणित पारिस्थितिक अन्तरों ने ब्रह्माद्वैतवादी वेदान्तियों को भी यह मानने के लिए बाध्य करके ही छोड़ा कि जागतिक दृश्य प्रातिभासिक नहीं, वे अपेक्षाकृत प्रातिभासिक दृश्यों से कहीं अधिक सत्य हैं। इसीलिए इन वेदान्तियों ने यहाँ तक कहा कि 'यह दृश्य जगत तब तक बिलकुल सही, सर्वथा प्रामाणिक हैं, जब तक अद्वैत-ब्रह्म का साक्षात्कार न हो जाय। अद्वैत-ब्रह्म का साक्षात्कार तो हुआ किसी को, और हो रहा है? फिर क्या है? व्यावहारिक दृश्य जगत् सर्वथा ठोस, सर्वथा सत्य ही रह गया। सचमुच तरीका अच्छा निकला। इतना ही नहीं, अद्वैतब्रह्म मीमांसा का अधिकारी भी ऐसे लोगों को करार दिया कि कोई भी व्यक्ति ऐसा मिले या न मिले इसका बिलकुल ठिकाना नहीं। वेदान्त-दर्शन के आरम्भ में ही यह कहा गया कि नित्य-अनित्य वस्तु का विवेक, ऐहिक एवं पारलौकिक फल के उपभोग में पूर्ण वैराग्य, शम, दम, तितिक्षा आदि अर्थात् आन्तरिन्द्रिय का निग्रह एवं बहिरिन्द्रि का निग्रह, सहनशीलता इत्यादि तथा मुमुक्षा अर्थात् मोक्ष के लिए प्रबल इच्छा ये चार जिस किसी व्यक्ति को अविच्छिन्न-रूप से प्राप्त हो, वही है वेदान्त सुनने एवं पढ़ने का अधिकारी। सोचिये कितनी बड़ी अग्नि-परीक्षा है वेदान्तदर्शन की विचारधारा में प्रवेश के लिए? क्या कोई भी एक व्यक्ति इस परीक्षा में खरा उतरेगा? कभी नहीं। एक नित्य-अनित्य वस्तुओं के विवेक को ही लिया जाय। सचमुच नित्य और अनित्य वस्तु का

---

(११६) यद्वा त्रिविधं सत्त्वम्। पारमार्थिकसत्त्वं ब्रह्मणः। व्यावहारिकं सत्त्वमाकाशादेः प्रातिभासिक सत्त्वं शुक्तिरजतादेः। -वेदान्त-परिभाष, अनुमान-परिच्छेद।

विवेक तो तभी हो पायेगा जब कि अद्वैत-ब्रह्म को ही तात्त्विक और अन्य वस्तुओं को अतात्त्विक समझेगा। क्योंकि वेदान्तियों के घर में नित्यता और अनित्यता की सच्ची परिभाषा तात्त्विकता और अतात्त्विकता के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकती। यह इसलिए कि वेदान्त का यह अटल सिद्धान्त है कि जो है वह कभी नष्ट नहीं हो सकता और जो है नहीं वह कभी हो नहीं सकता। यदि सिद्धान्त रूप में इसे पूर्ण रूप में मान न लिया जाय तो अद्वैत-निष्ठा हो भी तो नहीं सकती? क्योंकि ऐसा न मान लेने पर यह निर्णय कैसे सम्भव हो पायेगा कि अनन्त-भविष्य में भी कोई और तात्त्विक पदार्थ नहीं निकल आयेगा? ऐसी परिस्थिति में जबकि किसी व्यक्ति को नित्य एवं अनित्य वस्तु का विवेक होगा, तो उसका आकार अर्थात् विविक्त रूप में ज्ञान यही होगा कि ब्रह्म ही वस्तु अर्थात् त्रिकाल में अबाधित है और सभी कुछ यहाँ तक कि जगत् का परिणामी उपादान अज्ञान जिसे अन्य शब्दों में माया, अविद्या आदि शब्दों से भी कहा जाता है त्रिकालबाध्य है अर्थात् तात्त्विक वस्तु नहीं है। परन्तु किसी भी व्यक्ति को यदि ऐसा ज्ञान पहले ही हो जायेगा, जिसे कि वेदान्त ज्ञान के लिए सर्व प्राथमिक अधिकार बतलाया गया है, तो फिर उसे ब्रह्म को समझने के लिए प्रवृत्ति क्या होगी? श्रवण, मनन आदि के पचड़े में क्यों पड़ने जायगा? अद्वैत-वेदान्त के विवेचकों ने इस प्रश्न को संक्षेप में उठा कर जो इसका उत्तर दिया है वह अन्य दार्शनिकों के समक्ष भले ही अमोघ उत्तर सिद्ध हो, परन्तु चार्वाकीय-दृष्टिकोण के निकट वह किञ्चित्कर नहीं हो सकता। कहने का तात्पर्य यह है कि वेदान्तियों ने उक्त प्रश्न के उत्तर में यह कहा है कि ज्ञान दो तरह के होते हैं परोक्ष और अपरोक्ष। तदनुसार जिस व्यक्ति को परोक्ष रूप में ब्रह्म की अबाध्यता स्वरूप नित्यता का ज्ञान हो लेगा वह अपरोक्ष रूप में अद्वैत ब्रह्म मात्र को त्रिकालाबाध्य समझने के लिए वेदान्त की शरण में आयेगा। श्रवण, मनन और निदिध्यासन करेगा। परन्तु यह उत्तर चार्वाकीय-विचारधारा के समक्ष कारगर इसलिए नहीं हो पायेगा कि यहाँ विस्तृत विचारपूर्वक यह सिद्ध कर दिया जा चुका है कि ज्ञान अपरोक्ष ही होता है, परोक्ष नहीं। अतः परोक्ष का सहारा उत्तर में नहीं लिया जा सकता।

इसके अतिरिक्त और ध्यान देने योग्य यह है कि ब्रह्माद्वैतियों के समक्ष जबकि अन्य दार्शनिकों की ओर से यह पूछा जाता है कि जब अद्वैत-ब्रह्म ही त्रिकालाबाध्य सत् है तब उसे जीवभाव कैसे मिला? दृश्य जगत्स्वरूप परिणाम की वेदान्तसिद्धान्त सिद्ध परिणामिनी माया कैसे, कहाँ से आ टपक पड़ी? उस अधिष्ठेय माया का अधिष्ठाता ईश्वर कहाँ से कैसे आ गया? तत्त्व की अद्वैतता के होते हुए इनमें आपसी भेद भी कहाँ से कैसे आ टपका? तो इन प्रश्नों के उत्तर में ब्रह्माद्वैती लोग कहते यह हैं कि 'जीव ईश्वर विशुद्ध चैतन्यस्वरूप-ब्रह्म और इनके बीच होने वाले भेद, अविद्यास्वरूप माया और उसके साथ

---

(१२०) जीव ईशो विशुद्धा चित् तथा जीवेशयोर्भिदा।
अविद्या तच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः। –अद्वैतसिद्धि।

चैतन्यात्मक ब्रह्म का योग अर्थात सम्बंध ये छः हम वेदान्तियों के सिद्धान्त में अनादि है'।[१२०] इस कथन का स्पष्ट तात्पर्य यह है कि जिनके सम्बंध में यह प्रश्न किया गया है कि ये कहाँ से आ टपकते अकस्मात्, वे ये, हम वेदान्तियों के मत में सर्वथा अनादि हैं। अतः इनके आदि के सम्बंध में प्रश्न निरवकाश है। प्रश्न किया ही नहीं जा सकता?

कहाँ तो ब्रह्माद्वैती लोग ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ सत् मानते ही नहीं, अपनी श्रुति के शब्दों में यह डिण्डिमघोषपूर्वक घोषित करते हैं कि 'पहले केवल सत् ब्रह्म ही था और कुछ भी नहीं' और जब उक्त प्रश्न उनके सामने रखा गया तो यह कहने लगे कि 'ये छः चीजें अनादि हैं।' क्या पहले एक सत् मात्र का होना, और उक्त छः का भी होना ये दोनों परिस्थितियाँ विरुद्ध नहीं? अवश्य विरुद्ध हैं। ऐसी परिस्थिति में अद्वैतवेदान्तियों के कथन को कैसे मान्यता दी जाय?

अन्य एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि उस दृश्य जगत् वेदान्ती लोग यह कह कर मिथ्या सिद्ध करते हैं कि पारमार्थिक रूप से यह दृश्य जगत् न कभी था, और न अभी है, एवं न कभी रहेगा, अतः त्रिकालबाधित है, और इसीलिए मिथ्या है।[१२१] परन्तु यहाँ सोचना यह भी तो चाहिए कि जिस प्रकार पारमार्थिक रूप में दृश्य जगत् का अभाव लिया जाता है उसी प्रकार व्यावहारिक एवं प्रतिभासिक रूप में ब्रह्म का भी तो अभाव लिया जा सकता है? ऐसी परिस्थिति में जगत् की तरह ब्रह्म भी बाध्य क्यों न हो जाय? और यदि ऐसा मान लिया जाय तो माध्यमिक बौद्ध सम्प्रदायसिद्ध शून्यवाद को मान्यता देनी होगी जो कि वेदान्तियों के लिए सर्वथा अपसिद्धान्त कहा जायगा।

वेदान्त श्रवण-मनन आदि के लिए अधिकारभूत ऐहिक एवं आमुष्मिक फल के बारे में वैराग्य होने को उक्त साधन-चतुष्टय के अंदर द्वितीय रूप से विवक्षित माना जाता है। परन्तु इसे द्वितीय-रूप में अपेक्षित मानने पर चतुर्थ साधन रूप से विवक्षित मुमुक्षुत्व के साथ विरोध उपस्थित होता जाता है। क्योंकि मुमुक्षुत्व मोक्ष की इच्छा के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। इच्छा कहा जाय या राग कहा जाय बात एक ही है फलतः चतुर्थ साधन मुमुक्षुत्व और द्वितीय साधन ऐहिक और आमुष्मिक फल में वैराग्य ये दोनों आपस में अत्यन्त विरोधी प्रतीत होते हैं। क्योंकि वैराग्य राग के अभाव के अतिरिक्त और कुछ हो नहीं सकता, और मुमुक्षुत्व राग ही है यह कहा ही जा चुका है। राग और राग का अभाव ये परस्पर विरोधी नहीं कैसे हो सकते? मोक्ष भी तो इस जीवन काल में मिलता नहीं। अतः मरण के अनन्तर ही मिलने वाले मोक्ष को भी स्वर्ग आदि की तरह 'आमुष्मिक फल' मानना ही होगा। ऐसी परिस्थिति में ऐहिक आमुष्मिक फलों में वैराग्य और

---

(१२१) नहि तत्र रजतत्वावच्छिन्न-प्रतियोगिताकाभावो निषेधधी-विषयः। किन्तु लौकिक-पारमार्थिकत्वावच्छिन्न प्रतियोगिताकः। व्यधिकरण-धर्मावच्छिन्न-प्रतियोगिताकाभावाभ्युपगमात्। *-वेदान्त-परिभाषा, प्रत्यक्षपरिच्छेद।*

मोक्षस्वरूप आमुष्मिक फल की इच्छा इन दोनों में विरोध मानना अनिवार्य होगा। अतः परस्पर विरुद्ध होने वाले ये दोनों एकदा एक ही व्यक्ति को कैसे हो सकते? और यदि नहीं हो सके तो उक्त साधन-चतुष्टय की सम्पत्ति कैसे हो सकती? और यदि साधनचतुष्टय की सम्पत्ति किसी को न हो, तो श्रवण,मनन और निदिध्यासन करके अद्वैत ब्रह्म का साक्षात्कार कैसे कोई कर पायेगा।

शम, दम आदि की सम्पत्ति जो वेदान्तियों के घर में तृतीय साधन के रूप में अपेक्षित बतलायी गयी है उसकी प्राप्ति कैसे होगी? श्रवण, मनन आदि से उसकी प्राप्ति होगी यह बात तो कही नहीं जा सकती। क्योंकि कार्य कभी अपने कारण का कारण नहीं हो सकता। ऐसी परिस्थिति में अवश्य ही उक्त तृतीय साधन की सम्पत्ति के लिए योगदर्शन के द्वार खटखटाना पड़ेगा। और ऐसा करने पर फिर योगदर्शन की ही पद्यति को अपनाकर क्यों न वह मुमुक्षु परम पद प्राप्त करेगा?

और एक बात यह भी सोचने की है कि-चार्वाकीय-दृष्टिकोण की जिन बातों को लेकर लौकिक महत्त्व है उनमें यह भी एक अन्यतम है कि 'ज्ञान वस्तुतंत्र होता है'। इसे अद्वैत वेदान्तियों ने भी पूर्ण रूप से माना है। इस सिद्धान्त के अनुसार ज्ञान-जगत् पर, वस्तु-जगत् का फलतः विषयजगत् का अथवा और कुछ स्पष्ट करके यों कहा जाय कि भूत-जगत् का अधिपत्य स्थिर होता है। बात भी सही है। व्यक्ति सावधान हो उसकी आँखें खुली हों तो आगे उपस्थित दृश्य, उसे उस दृश्य की परिस्थिति के अनुसार ही दीख सकता है। ऐसा कभी नहीं हो पाता कि वह दृश्य वस्तु को लम्बी और देखने वाला देख पाये अपनी इच्छा के अनुसार गोल। अतः यह मानना सर्वथा उचित है जैसा कि वेदान्तियों ने भी माना है। इस मान्य सिद्धान्त की ओर ध्यान देने पर वेदान्तियों को यह मानना ही पड़ेगा कि उनका सिद्धान्त उनके मान्य मोक्ष के लिए जिस पूर्ण वैराग्य एवं पूर्ण औदास्य तथा पूर्ण नैष्कर्म्य की अपेक्षा बतलाता है कभी होने वाला सम्भव नहीं। कहने का तात्पर्य यह कि जहाँ तक व्यावहारि जीवन की सुश्रृंखलता एवं सुव्यवस्था के लिए शम और दम की अपेक्षा है सुदृढ़ प्रत्यत्न एवं सुदृढ़ चेष्टा के अनन्तर यदि उतना भी शम और दम लोगों को प्राप्त हो तो वही बहुत बड़ी बात होगी। उससे अधिक उसके सम्बंध में आशा करना व्यर्थ है। इतिहास इसका साक्षी है। जिन वेदव्यास को वेदान्त का सर्वाधिक प्रवर्त्तक माना जाता है, वेदान्तदर्शन का प्रणेता कहा जाता है क्या उन्हें वह हार्दिक परिस्थिति प्राप्त थी जिसे वेदान्त सिद्धान्त में मोक्ष के लिए अति आवश्यक माना जाता है? क्या वे अपने पुत्र शुकदेव के गृहत्याग के अवसर पर रोते हुए, पुत्र-पुत्र पुकारते हुए उनके पीछे-पीछे दौड़ नहीं पड़े थे? क्या श्रीमद्भागवत में लिखित यह बात झूठ है? सही नहीं है? वह झूठ है सही नहीं है यह बात तो वेदान्ती लोग भी नहीं कहेंगे। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह वैराग्य, वह नैष्कर्म्य सर्वथा असम्भव है जिसकी अपेक्षा वेदान्ती लोग परम मुक्ति के लिए बतलाते हैं। तभी तो शून्याद्वैतवादियों ने यह कहा कि जब तक आत्मा के अस्तित्व

का मोह न छोड़ेंगे; शून्यता को नहीं अपनाओगे तब तक निर्वाण नहीं प्राप्त हो सकता। अत: संन्यास और नैष्कर्म्य सर्वथा असम्भव है जिस पर वेदान्त का सिद्धान्त आधारित है।

साथ ही यह कहना भी एक गम्भीरतापूर्वक विवेचनीय है कि निवृत्ति भी तत्त्वत: एक प्रकार की प्रवृत्ति ही है। यदि ऐसी बात न होती तो किसी यंत्र को कार्यार्थ प्रवर्त्तन के लिए जिस प्रकार यान्त्रिक-व्यक्ति को कुछ करके उस यंत्र को प्रवृत करना पड़ता है, उसे रोकने के लिए, निश्चल बनाने के लिए भी व्यक्ति को कुछ करना नहीं पड़ता, वह स्वत: बन्द हो जाता। किन्तु ऐसा होता नहीं। किसी यन्त्र की निष्क्रियता में भी मौलिक रूप से प्रवृत्ति का हाथ रहता ही है और प्रवृत्ति के प्रति इष्टसाधनता ज्ञान को ही वेदान्ती लोग कारण मानते हैं। अत: निवृत्ति-स्थल में भी काम्यात्मक इष्ट एवं उसका साधन इन दोनों से छुटकारा नहीं लिया जा सकता और सर्वथा प्रवृत्ति-राहित्य नहीं बतलाया जा सकता। तभी तो मोक्ष की इच्छास्वरूप मुमुक्षा को समादर साधन चतुष्टय के अंदर वेदान्ती लोग करते हैं। ऐसी परिस्थिति में यह कैसे कहा जा सकता कि पूर्णनैष्कर्म्य, पूर्ण त्याग, पूर्ण औदास्य, सम्भव है?

वेदान्त के सम्बंध में यह भी एक ध्यान देने योग्य बात है कि ब्रह्माद्वैत-वेदान्तियों के अंदर भी जीव की एकता और अनेकता को लेकर गृहकलह है। जो लोग जीव को एक मानते हैं उनके सामने जब यह प्रश्न उठाया जाता है कि एक जीववाद में बंद और मोक्ष की व्यवस्था कैसे बनेगी? तब वे एकजीववादी वेदान्ती सोच-समझ कर उक्त प्रश्न का हल यह निकालते हैं कि जब जीव एक है तो उसकी मुक्ति भी एक ही होगी। अत: एक जीववाद में व्यवस्था का प्रश्न ही नहीं उठाया जा सकता। इस कथन का सारांश यह निकलता है कि आज तक अनादि काल से चलते आये इस संसार में किसी को मुक्ति मिली नहीं? अभिप्राय यह हुआ कि व्यास, शंकर आदि वेदान्त के प्रवर्त्तक आचार्य भी मुक्त हुए नहीं। और यदि वे मुक्त हुए नहीं तो यह भी मानना ही पड़ेगा कि उन्हें भी अद्वैत-ब्रह्म का सच्चा ज्ञान हुआ नहीं और वे भी सचमुच निष्कर्मा नहीं थे। जब ऐसे महापुरुषों को इस वेदान्त-सिद्धान्त के अन्दर सफलता नहीं मिली, तो फिर और कोई कैसे विश्वास करे कि मैं मुक्त हो पाऊँगा, वेदान्त के श्रवण, मनन, निदिध्यासन मार्ग पर चल कर?

आचार्य शंकर ने अपने वेदान्त-दर्शन के प्रसन्न-गम्भीर भाष्य में यह स्पष्ट कहा है कि 'पढ़े-लिखे ज्ञानी व्यक्ति भी सांसारिक, व्यावहारिक क्षेत्र में अज्ञ प्राणी [१२२] पशु, कृमि आदि के समान ही देखे जाते हैं'। इस कथन का अवश्य तात्पर्य यहीं है कि व्यवहार-क्षेत्र से सम्पर्क रखने वाला व्यक्ति ब्रह्माद्वैत का सच्चा ज्ञान तब तक नहीं प्राप्त कर सकता जब तक कि व्यावहारिक-जीवन से अपना नाता न तोड़ ले। परन्तु क्या यह जीते-जी कभी भी सम्भव है? कभी नहीं। वेदान्त के प्रवर्तक लोग इसके उदाहरण रूप में

---

(१२२) पश्वादिभिश्चाविशेषात्। *-वेदान्तदर्शन शांकरभाष्य। अ. १ पा.१ अ. १-सू. १।*

उपस्थित किये जा सकते हैं, जिसका दिग्दर्शन ऊपर कराया जा चुका है।

इसके अतिरिक्त यह भी एक अवश्य ध्यान देने योग्य बात है कि व्यावहारिक-जीव से अतिरिक्त और जीवन हो ही क्या सकता? सचमुच सोचा जाय तो व्यवहार ही तो जीवन है, जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है। ऐसी परिस्थिति में व्यावहारिक से अतिरिक्त और कुछ पारमार्थिक हो ही कैसे सकता? व्यावहारिक सत्ता से अतिरिक्त पारमार्थिक सत्ता हो कैसे सकती? वेदान्ती लोग अद्वैत ब्रह्म ही तथ्य है इस अपने सिद्धान्त के साधक-रूप में यह प्रबल तर्क उपस्थित करते हुए पाये जाते हैं कि 'घर है', 'घड़ा है,' 'कपड़ा है' इत्यादि सारी व्यावहारिक प्रतीतियों में 'है' इस प्रकार सत्ता का अर्थात् अस्तित्व का विषयीकरण अव्याहारिक रूप से अर्थात् नियमित रूप से होता है। अत: सत् ब्रह्म है पारमार्थिक और घड़े, कपड़े आदि विषयीकृत होते हुए भी अव्यभिचरित रूप से विषयीकृत होते नहीं। क्योंकि जहाँ 'घड़ा है' इस प्रकार प्रतीति होती है वहाँ कपड़े का विषयीकरण होता नहीं और जहाँ 'कपड़ा है' इस प्रकार प्रतीत होती है वहाँ घड़ा का विषयीकरण होता नहीं। परन्तु सत्ता का विषयीकरण इस प्रकार कहीं भी व्यभिचरित होता नहीं। ऐसी कोई प्रतीति नहीं दिखलायी जा सकती है जिसमें 'है' इस प्रकार सत्ता का विषयीकरण होता नहीं। ऐसी परिस्थिति में सचमुच सत्ता ब्रह्मा की ही माननी चाहिए और 'घड़ा है', 'कपड़ा है' इत्यादि सारी जागतिक वस्तु-विषयक प्रतीतियों के विषयभूत घड़े कपड़े आदि में प्रतीयमान सत्ता सचमुच ब्रह्म की ही होती है, उन विषयों की निजी नहीं। परन्तु वेदान्तियों का यह कथन कैसे संगत कहला सकता? क्योंकि वेदान्ती लोग भी जिस ब्रह्म को विषय तक नहीं मानते सर्वथा अहेय एवं अनुपादेय मानते, सर्वथा क्रियामात्र से, सर्वदा असम्पृक्त मानते, उसे लेकर व्यावहारिक जीवन में भला क्या लाभ उठाया जा सकता? ज्ञान कहीं भी स्वत: फल होता हुआ नहीं दिखाई देता कि यह समाधान उपस्थित किया जा पायेगा कि जिज्ञासुओं को ब्रह्म का ज्ञान होगा यही फल कहा जा सकता है, अत: ब्रह्म की सत्ता अपेक्षित है। इस पर यदि यह कहा जाय कि ज्ञान स्वत: फल न हुआ तो क्या हुआ सफल तो होता ही है? यदि कोई भी व्यक्ति संकीर्ण मार्ग पर पड़ी हुई रस्सी को साँप समझ कर डर से काँपता हुआ खड़ा हो, आगे बढ़ न पाता हो, और पीछे या अगल-बगल मुड़ने की भी परिस्थिति न हो, ऐसी परिस्थिति में किसी विश्वस्त व्यक्ति के कथन से यदि उस डरे खड़े व्यक्ति को यह ज्ञान हो जाय कि 'यह साँप नहीं, रस्सी है' तो उसका भय, कम्प आदि हट जाते हैं या नहीं? अवश्य हट जाते है। ऐसी परिस्थिति में ब्रह्मज्ञान स्वत: फल नहीं होने पर भी मुक्ति सम्पादक रूप में सफल तो होगा। अत: ब्रह्मज्ञान अपेक्षित होने पर उसके विषयरूप में ब्रह्म भी अपेक्षित होगा। तो यह कथन इसलिए उचित नहीं हो पायेगा कि वेदान्त सिद्धान्त में ब्रह्म विषय कहाँ माना जाता है? जो विषय ही न हो पाये उसका ज्ञान कैसा? दूसरी बात यह भी कि मुक्ति होगी कैसे? क्योंकि वेदान्त सिद्धान्त में नयी कोई भी वस्तु तो होती नहीं। न सत् का अभाव हो सकता है और न असत् का भाव। ऐसी परिस्थिति में कैसे यह कहा जा सकता कि 'ब्रह्म के ज्ञान

से मुक्ति मिलेगी? क्योंकि यदि मुक्ति कोई वस्तु है तो अवश्य पहले से ही है। और यदि पहले से नहीं है तो कोई भी शक्ति उसे बना नहीं सकती। यदि कहा जाय कि यह नियम भावात्मक वस्तु के लिए है, अभावात्मक के लिए नहीं। मुक्ति तो वेदान्त-सिद्धान्त में अविद्या की निवृत्तिस्वरूप है। वह निवृत्ति भावात्मक नहीं, अभावात्मक है। अत: उसके लिए सत्कायवाद लागू नहीं हो सकता। वह ब्रह्म के ज्ञान से निष्पन्न हो सकती है। तो यह कथन भी इसलिए संगत नहीं कहा जा सकता कि अरोप जैसा निराधार नहीं हो सकता निवृत्ति भी उसी तरह निराधार नहीं हो सकती। अत: उस अविद्या-निवृत्ति का भी आश्रय ब्रह्म को ही मानना होगा। फलत: वह अविद्या-निवृत्ति ब्रह्म ही होकर रहेगी। और उसे ब्रह्मस्वरूप हो जाने पर फिर वह कथन असंगत हो बैठता कि 'ब्रह्म के ज्ञान से मुक्ति मिलती है।' सुतरां ब्रह्मज्ञान का कोई फल नहीं बतलाया जा सकता। ऐसी परिस्थिति में निष्फल ब्रह्मज्ञान का विषय होने वाला ब्रह्म किस प्रकार प्राणिजीवन से अथवा मानवजीवन से सम्पृक्त हो सकता है? अत: वेदान्त-सिद्धान्त यौक्तित प्रतीत न होने के कारण या तो मान्यता नहीं प्राप्त कर सकता या उसका कोई ऐसा रहस्य है, जो कि प्रकाश में नहीं है।

अख्यातिवादी-सिद्धान्त मान्य इसलिए भी नहीं हो सकता कि इस सिद्धान्त में भूल नाम की कोई वस्तु ही नहीं रह जाती है। सारे ज्ञान यथार्थ ही माने जाते हैं। यथार्थ ज्ञान से होने वाली कोई भी प्रवृत्ति निष्फल होनी नहीं चाहिए। किन्तु करोड़ों प्रवृत्तियों की निष्फलताएँ बराबर देखी जाती हैं। अत: मानना होगा कि भ्रमात्मक भी ज्ञान है। जिनसे होने वाली प्रवृत्तियाँ सफल नहीं होती। भ्रमज्ञान और उसकी प्रवर्त्तकता मान लेने पर उक्त अख्यातिवाद स्वत: शीर्ण-विशीर्ण हो जाता है। क्योंकि अलग-अलग होने वाले 'यह' और 'रजत है' ये प्रत्यक्षात्मक एवं स्मरणात्मक क्रमिक दोनों ज्ञान प्रवर्त्तक इसलिए नहीं कहे जा सकते कि रजतार्थी की प्रवृत्ति अवश्य रजत के ज्ञान से ही होगी अन्य से नहीं। स्मरणात्मक ज्ञान से भी प्रवृत्ति हो सकती नहीं। क्योंकि स्मरण में नियमत: अतीत काल एवं अधिकतर दूरदेश भी विषय होता है, जिससे प्रवृत्ति में बाधा पड़ सकती है। 'यह' यह प्रत्यक्षात्मक ज्ञान इसलिए प्रवर्त्तक नहीं हो सकता कि वह तो अनिष्ट व्यक्ति या वस्तु के सम्बंध में भी होता है। किन्तु वहाँ प्रवृत्ति होती नहीं। जब कि 'यह' और 'रजत है' ये दोनों ज्ञान प्रवर्त्तक नहीं हो पाये तब उन दोनों के अन्दर होने वाले भेद के आग्रह को भी कैसे प्रवर्त्तक माना जा सकता? अत: दो ज्ञानों और उनके दो विषयों में विद्यमान भेद को न जानने के कारण प्रवृत्ति होती है यह बात नहीं कहीं जा सकती। प्रवृत्ति जब होती है तब उसका कारण कुछ होना ही चाहिए। निर्बीज और निष्प्रयोजन तो कभी कुछ होता नहीं। सुतरां वह कारण इष्ट वस्तु का ज्ञान ही होगा और वह ज्ञान इष्ट वस्तु के न होते हुए भी होगा। तादृश स्थल में उसी ज्ञान से प्रवृत्ति का होना मान्य होगा। वह प्रवर्त्तक ज्ञान अन्यथा ख्याति के अतिरिक्त और कुछ हो सकता नहीं यह बात बतलायी जा चुकी है। इसका विस्तृत विवेचन पदार्थशास्त्र, प्रथम भाग में किया जा चुका है। वहाँ से अवगत किया जा सकता है।

षष्ठ प्रकरण

चार्वाक्-मत और अप्रमा के प्रभेद

विवेचित अप्रमा ज्ञानों को नैयायिक एवं वैशेषिक दार्शनिक लोग तीन प्रभेदों में वर्गीकृत मानते हैं। उनका कहना यह है कि [१२३] संशय, विपर्यय और तर्क इन तीन प्रभेदों में अप्रमा ज्ञान को विभक्त समझना चाहिए। परन्तु यहाँ चार्वाक सिद्धान्त में तर्क को अप्रमाज्ञान का प्रभेद नहीं मानना है। कहने का तात्पर्य यह कि नैयायिक लोग तर्क की परिभाषा यह करते हैं कि 'व्याप्य के आरोप से होने वाला व्यापक का आरोप है तर्क। वे कहते हैं कि धूम और अग्नि इन दोनों के बीच कार्यकारण-भाव समझने वाला व्यक्ति पर्वत में धूम को देखते हुए यह सोचता है कि यदि इस पर्वत में आग न हो तो आग से ही उत्पन्न होने वाला धूम कैसे यहाँ देखा जा सकता? अर्थात् यह पर्वत यदि अग्नियुक्त न मान्य हो, तो धूमयुक्त भी नहीं हो सकता यह ज्ञान लोगों को होता है। यह ज्ञान एवं अन्यस्थलीय एतत्सदृश अन्य भी सारे ज्ञान होते हैं तर्क। तर्क का काम यह होता है कि ज्ञापक में ज्ञाप्य के व्यभिचार की शंका को वह मिटा डालता है। जैसे धूम अग्नि की उक्त प्रकार व्याप्ति से युक्त है या नहीं? इस प्रकार उदित होने वाली शंका का वह निराकरण करता है। यह इसलिए कि धूमार्थी व्यक्ति अग्नि चाहता है यह लोकप्रसिद्ध ही रहता है। यदि अग्नि धूम का उत्पादक न हो, उन दोनों के बीच कार्यकारण-भाव सम्बंध स्थापित न हो, तो यह लौकिक-स्थिति क्यों हो कि धूमार्थी व्यक्ति पहले अग्नि-संग्रह करे। अतः इन दोनों के बीच कार्यकारण-भाव अवश्य है। अग्नि है धूम का जनक और धूम है अग्नि-जन्य। ऐसी परिस्थिति में वह धूमद्रष्टा यह सोचता है कि जहाँ आग न हो वहाँ धूम भी नहीं होना चाहिए। एतदनुसार वह धूमद्रष्टा इस विषय पर सदा के लिए निर्णय प्राप्त कर लेता है कि धूम अवश्य ही आग का व्याप्य है। अतः तर्क से ज्ञापक में ज्ञाप्य के व्यभिचार की शंका हटायी जाती है, यह है तर्क का प्रयोजन। और वह है ज्ञानात्मक। नैयायिक एवं वैशेषिकों को इस तर्क के सम्बंध में यह भी कहना है कि इसके द्वारा वास्तविक व्याप्यव्यापक-भाव का यथार्थ निश्चय होता है। अतः है तो यह प्रमात्मक ज्ञान का सम्पादक, परन्तु स्वयं यह प्रमात्मक नहीं, अप्रमात्मक ही होता है। क्योंकि परिस्थिति के विपरीत धर्मी में अविद्यमान अभाव को विषय करता है। 'यह जलाशय अग्नियुक्त है' इत्यादि विपर्यात्मक ज्ञान जिस प्रकार जलाशय आदि धर्मी में अविद्यमान अग्नि आदि को

---

(१२३) अयथार्थस्तु अर्थव्यभिचारी, अप्रमाणजः। स त्रिविधः--
संशय स्तर्कों विपर्यय श्चति। -तर्कभाषा।

विशेषण रूप से विषय बनाता हुआ पाया जाता है 'यह पर्वत यदि अग्नि का अभाववान् हो तो इसे धूम का भी अभाववान् होना चाहिए' इत्यादि तर्कात्मक ज्ञानों में भी पर्वत आदि धर्मियों में अग्नि का अभाव एवं धूम का अभाव आदि अविद्यमान धर्म विशेषण रूप से विषय होते हुए पाये जाते हैं। इस प्रकार विपर्यय ज्ञान से तर्क को समानता होने पर भी नैयायिक लोक तर्क को विपर्यय से अलग एक स्वतंत्र अप्रमाज्ञान इसलिए मानते हैं कि यह आरोपात्मक फलतः आपत्तिस्वरूप होता है। क्योंकि उक्त उदाहरण के अनुसार इस तर्क का आकार यह होता है कि 'यदि यह ऐसा हो तो इसे ऐसा भी होना चाहिए' अथवा 'ऐसा भी होगा'। यहाँ विशेषणभूत वस्तु सम्भावित रूप में प्रतीत होती हैं। जैसा कि विपर्यय में होता नहीं।

यद्यपि चार्वाकीय-दृष्टिकोण में उक्त पद्धति के अनुसार अनुमिति को भी प्रत्यक्षरूप में ही मान्यता है। अनुमिति कोई स्वतंत्र प्रमा नहीं है फिर भी प्रत्यक्षात्मक अनुमिति के लिए ही सही व्याप्ति निर्णय की आवश्यकता अवश्य मान्य है। अतः व्याप्तिनिर्णायक रूप में तर्क का आदर तो यहाँ भी कर्त्तव्य अवश्य है। परन्तु नैयायिकों के इस कथन से यहाँ सहमति नहीं है कि तर्क एक प्रकार अप्रमाज्ञान है। क्योंकि तर्क को ज्ञानात्मक न मान कर वाक्यात्मक, फलतः शब्दात्मक मानना ही उचित प्रतीत होता है। यतः इसे ज्ञानात्मक मानने पर इसमें अनुभूयमान 'परोद्भावितत्त्व' अर्थात् विपक्षी के द्वारा उद्भावित होना बन नहीं पाता। यह बात सही है कि विपक्षी के द्वारा उपस्थापित वाक्यात्मक तर्क से श्रोता को ज्ञान होता है और उस ज्ञान के बल पर वह श्रोता व्याप्य-व्यापक-भाव का निर्णय करता है परन्तु उस ज्ञान को तर्क न मानकर ज्ञापक-वाक्य को ही तर्क मानना अधिक संगत प्रतीत होता है। कर्म मीमांसकों के अन्दर यह सम्प्रदाय भी तर्क को ज्ञानात्मक न मानकर वाक्यात्मक ही मानता है।[१२४] और उसका कहना यह भी है कि तर्क की अपेक्षा अपने द्वारा किये जाने वाले तथ्य निर्णय के लिए केवल अनुमान प्रमाण को ही नहीं होती। प्रत्यक्ष यदि अन्य प्रयाण भी स्वार्थ की सिद्धि के लिए उसी प्रकार तर्क की अपेक्षा रखते हैं जिस प्रकार अनुमान प्रमाण। तर्क क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में उक्त मीमांसकों ने यह कह है कि 'किसी भी प्रमाण के द्वारा सिद्ध की' जाने वाली किसी भी वस्तु के सम्बंध में उसके विपरीत शंका के उदय होने पर उसके निरासार्थ उक्त वैपरीत्य के सम्बंध में किया जाने वाला दोष कथन है तर्क' यह निर्वचन 'पर्वत अग्नियुक्त है क्योंकि धूमयुक्त है' इस प्रकार अनुमान स्थल में इस प्रकार लागू होता है कि जो व्यक्ति इस अनुमान के विपरीत यह सन्देह उपस्थित करेगा कि धूमगत जिस अग्नि-व्याप्ति के आधार पर तुम पर्वत में अग्नि का अनुमान करते हो वही सन्दिग्ध है, अनिर्णीत है। अतः उक्त अनुमान सही नहीं कहा जा सकता कि पर्वत अग्नियुक्त है। तो इसके विपरीत पर्वत

---

(१२४) कस्तर्कः? उच्यते। प्रमाणेन साध्यमानस्यार्थस्यान्यथात्व शंकायं, तन्निरासार्थमन्यथात्वे दोषकथनं तर्कः। --*मानमेयोदय।*

में अग्नि का निर्णय रखने वाला व्यक्ति उसे कहेगा कि 'यदि पर्वत में आग न हो तो वहाँ धूम भी नहीं होगा' यह कथन ही होगा तर्क। यह तर्क यह बतलायेगा कि धूमार्थी व्यक्ति जब कि अग्नि के लिए प्रवृत्त होता हुआ पाया जाता है तो धूम कभी आग के बिना हो नहीं सकता। फलतः जहाँ आग नहीं होगी वहाँ धूम भी नहीं हो सकता। ऐसी परिस्थिति में यदि पर्वत में आग का अस्तित्व नहीं माना जायेगा तो धूम का अस्तित्व, जो कि प्रत्यक्षसिद्ध है नहीं बन पायेगा। यह तर्क प्रत्यक्ष का भी साहाय्य करता है इसके उदाहरण के रूप में उक्त कर्म मीमांसकों ने यह कहा है कि न्याय-वैशेषिक एवं मीमांसा आदि दर्शनसिद्धान्त में घट-पट आदि स्वतंत्र अवयवी द्रव्य मान्य हैं। वहाँ यदि बाह्मास्तित्ववादी बौद्धों की ओर से यह कहा जाय कि घट-पट वृक्ष आदि की जो प्रतीतियाँ हुआ करती हैं उनके विषय परमाणुपुञ्ज ही होते हैं स्वतंत्र अवयवी द्रव्य नहीं। तो इसके विरुद्ध यह तर्क ही उपस्थापित होकर घट-पट आदि के प्रत्यक्षों का साहाय्य करता हुआ घटपट आदि अवयवी द्रव्य का निर्णय करायेगा कि 'यदि घट-पट आदि को स्वतंत्र अवयवी द्रव्य न मान कर परमाणुपुञ्ज रूप ही माना जायेगा तो घट-पट आदि का प्रत्यक्ष जो कि सभी को होता है उपपन्न नहीं हो पायेगा' इस तर्क-वाक्य का अभिप्रेत अर्थ यह होगा कि घड़े, कपड़े आदि प्रत्येक वस्तु को 'यह एक है और बड़ा है' इस रूप से प्रत्यक्ष किया जाता है। यह प्रत्यक्ष तभी सम्भव हो सकता है जबकि स्वतंत्र अवयवी माना जाय। परमाणु में महत्त्व न होने के कारण वह चाहे एक हो या उसका पुञ्ज हो उक्त प्रकार प्रत्यक्ष बन नहीं सकता। अतः अवयवी मानना चाहिए। इस प्रकार तर्क प्रत्यक्ष प्रमाण का भी सहकारी बनता है। फलतः तर्क की उपादेयता मान्य होने पर भी उसे ज्ञानात्मक न होकर शब्दात्मक होने के कारण अप्रमात्मक ज्ञान का प्रभेद नहीं माना जा सकता।

नैयायिक एवं वैशेषिक लोग तर्क के अतिरिक्त संशय को भी अप्रमाज्ञान मानते हैं। संशय ज्ञान के सम्बंध में प्राचीन नैयायिकों का कहना यह है कि संशय ज्ञान को [१२५] साधारण धर्मज्ञानजनित, असाधारण-धर्मज्ञानजनित, विप्रतिपत्तिजनित, उपलब्धि की अव्यवस्थाजनित और अनुपलब्धि की अव्यवस्थाजनित, इस प्रकार पाँच प्रभेदों में विभक्त किया जा सकता है। साधारण-धर्मजनित-संशय वह कहलाता है जो कि संशयज्ञान में विशेषण भूत दोनों कोटियों में रहने वाले किसी एक धर्म को देखने से उत्पन्न होता है। जैसे लम्बाई व्यक्ति एवं मानव-प्रतियां दोनों में पायी जाने के कारण दोनों के अंदर किसी एक की विद्यमानता स्थल में यदि किसी द्रष्टा को मंद अंधकार या दूरी के कारण यह ज्ञान उत्पन्न होता है कि 'यह मूर्ति है या जीवित व्यक्ति?' तो यह संशयात्मकज्ञान होता है साधारण-धर्मज्ञानजनित। क्योंकि व्यक्ति और मूर्ति दोनों में विद्यमान लम्बाई आदि को देखकर ही द्रष्टा को उक्त संशय होता है। किन्हीं दो में विद्यमान एक धर्म ही कहलाता है

(१२५) समानानेक-धर्मोपपत्तेविप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्धि-व्यवस्थातश्चविशेषापेक्षों विमर्शः संशयः २३। *-न्यायदर्शन।*

साधारण-धर्म। असाधारण-धर्मज्ञानजनित संशय वहाँ होता है जहाँ पर सन्देह के अन्दर विशेष्य-रूप से विषय होने वाली वस्तु में प्रतीयमान-धर्म असाधारण अर्थात् अन्य किसी से भी उस द्रष्टा व्यक्ति के द्वारा ज्ञात होता नहीं जो कि सन्देह करता है। जैसे शब्द के सम्बंध में यदि किसी व्यक्ति को इसलिए यह सन्देह उत्पन्न हो कि 'शब्द नित्य है या नहीं' क्योंकि शब्दत्व-धर्म, जो कि शब्दमात्र में प्रतीत होने वाला होता, किसी भी नित्य या अनित्य होने वाले अन्य में उस व्यक्ति के द्वारा गृहीत होता नहीं। अतः उस शब्दत्वात्मक असाधारण धर्म को शब्द में देखने वाले उस व्यक्ति को होने वाला वह 'शब्द नित्य हैं या अनित्य?' इस प्रकार का सन्देह होता है-असाधारणधर्मज्ञानजनित संशय अपरिचित स्थान में अपरिचित वस्तु के सम्बंध में होने वाला संशय प्रायः अधिकतर असाधारणधर्मज्ञानजनित ही हुआ करता है। तृतीय विप्रतिपत्तिजनित संशय वहाँ होता है जहाँ दो वक्ता किसी एक ही वस्तु के सम्बंध में अपना-अपना विरुद्ध मत का प्रदर्शन वाक्य द्वारा करते हैं। श्रोता वहाँ यदि अपना कोई स्वतंत्र निर्णय रखने वाला नहीं होता तो उन विरुद्ध-भाषी दो व्यक्तियों के परस्पर विरोधी वाक्यों को सुन कर उस श्रोता का संशय ज्ञान हो उठता है। जैसे एक व्यक्ति यह कहता है कि 'आत्मा शरीर से अतिरिक्त है' और दूसरा यह कहता है कि 'आत्मा शरीर से अतिरिक्त और कुछ नहीं है' तो सुनने वाले को यह सन्देह उपस्थित हो उठता है कि 'सचमुच आत्मा शरीर से अतिरिक्त है या नहीं?'। इस संशय की विप्रतिपत्तिजनित इसलिए कहा जाता है कि विरुद्ध प्रतिपत्तियाँ अर्थात् प्रतीतियाँ जिन वाक्यों से हों वे अनेक वाक्य मिलित रूप में कहलाते हैं विप्रतिपत्ति। जैसे उक्त 'आत्मा शरीर से अतिरिक्त है' और 'आत्मा शरीर से अतिरिक्त है नहीं', ये दोनों वाक्य कहलाते है 'विप्रतिपत्ति' इनसे उत्पन्न होने के कारण 'आत्मा शरीर से अतिरिक्त है या नहीं' यह संशय कहलाता है विप्रतिपत्तिजनित। उपलब्धि की अव्यवस्था से संशय इस प्रकार होता है कि दूरवर्ती किसी वस्तु को देखकर उसके बारे में संशय इसलिए उत्पन्न होता है कि उपलब्धि अर्थात् प्रतीति कहीं तो सत् अर्थात् विद्यमान वस्तु की होती है और कहीं वस्तु न रहने पर भी उस वस्तु की भ्रमात्मक प्रतीति हो जाती है। अतः इस वस्तुस्थिति की ओर ध्यान जाने पर द्रष्टा को दृष्ट वस्तु के सम्बंध में यह सन्देह हो उठता है कि 'सचमुच वह वस्तु वहाँ है या नहीं?' जैसे श्याम का ध्यान यदि इस बात की ओर चला जाता है कि कभी तो जलाशय में सचमुच विद्यमान जल 'यह जल है' इस रूप में प्रतीत होता है और कभी जल के न होते हुए भी मरुमरीचिका में ' यह जल है' इस प्रकार जल की प्रतीति होती है। तो श्याम को 'वह जल है' इस प्रतीति के होते हुए भी यह सन्देह अवश्य हो उठता है कि 'वह सचमुच जल है या नहीं?' अतः इस प्रकार होने वाला संशय कहलाता है 'उपलब्धि की अव्यवस्थाजनित संशय'। उपलब्धि की अव्यवस्था है उसकी अनियतता। इसी प्रकार अनुपलब्धि की अव्यवस्था से भी संशय होता है। क्योंकि कहीं सचमुच वस्तु के न होने के कारण उसकी उपलब्धि अर्थात् प्रतीति होती नहीं और कहीं वस्तु के रहते हुए भी किसी अन्य प्रतिबंधक की विद्यमानता-प्रयुक्त उसकी

उपलब्धि होती नहीं। अतः अनुपलब्धि की इस अनियमितता की ओर जब अनुपलब्धा व्यक्ति की दृष्टि जाती है तब किसी अपेक्षित वस्तु को ढूढ़ने वाला वह व्यक्ति उस वस्तु को न पाता हुआ भी इस प्रकार सन्देह करता है कि 'क्या वह वस्तु सचमुच यहाँ नहीं है या होते हुए भी नहीं पायी जा रही है?' प्राचीन-नैयायिक लोग संशय के कारण गत उक्त पञ्चविधता के आधार पर संशय को पञ्चविध माना है। परन्तु परवर्ती नैयायिकों ने इसमें कटौती की है। उन्होंने यह कहा कि संशय के प्रति कारण साधारण-धर्मज्ञान, असाधारण-धर्मज्ञान और विप्रतिपत्ति इन तीनों को मानना चाहिए। उनका हृद्‌यगत आशय यह है कि उपलब्धि, की अव्यवस्था स्थल में उपलब्धि, और अनुपलब्धि की अव्यवस्था स्थल में अनुपलब्धि, ये दोनों फलतः साधारण ही धर्म हो जाते हैं। अतः उन दोनों स्थलों में होने वाले संशय भी साधारण-धर्मज्ञान-प्रयुक्त ही हो जाते हैं। न्यायदर्शन के भाष्यकार वात्स्यायन ने संशय की उक्त पञ्चविधता की मान्यता में यह युक्ति दी है कि साधारण एवं असाधारण धर्म ज्ञेयस्त होते हैं किन्तु उपलब्धि एवं अनुपलब्धि ज्ञेयस्थ न होकर ज्ञातृस्थ होते हैं। अतः महर्षि गौतम ने संशय को पञ्चविध माना है। परन्तु परवर्ती न्यायिकों को यह युक्ति कोई ऐसी प्रबल जँची नहीं। अतः उन्होंने तीन को ही मान्यता दी।

किन्तु वैशेषिक लोग इस मतवाद से भी सहमत हुए नहीं। उन्होंने यह कहा कि साधारण धर्मज्ञान और विप्रतिपत्ति इन दोनों से ही संशयज्ञान की उत्पत्ति होती है। अतः यदि कारणगत भेद के आधार पर संशय का विभाजन अभीष्ट हो, तो संशय-ज्ञान को दो भागों में ही विभक्त समझना चाहिए। वैशेषिकों के इस कथन के मूल में रहस्य यह छिपा है कि ये लोग असाधारण-धर्मदर्शन से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को संशय नहीं माानते। उस ज्ञान को संशय से अलग एक 'अनध्यवसाय'[१२६] नामक स्वतंत्र ज्ञान मानते हैं। उस अनध्यवसाय नामक ज्ञान का स्वरूप यह मानते हैं कि 'यह क्या है' वैशेषिकों का दृष्टिकोण यहाँ यह कि संशय ज्ञान नियमतः एक धार्मिक तथा विरुद्ध भाव और अभाव एतद्वय प्रकारक ही होता है। कहने का तात्पर्य यह कि 'पर्वत अग्नियुक्त है या नहीं' इस प्रकार किसी एक ही धर्मी में किसी एक ही वस्तु अस्तित्व और उस अस्तित्व का अभाव, इन दोनों को विशेषण रूप से विषय करने वाला ज्ञान ही है संशय। संशय के इस निर्वचन के अनुसार 'यह क्या है' इस अनध्यवसाय को संशय नहीं कहा जा सकता। क्योंकि इस प्रकार होने वाले ज्ञान में किसी वस्तु के अस्तित्व और नास्तित्व को किसी एक धर्मी के प्रकार रूप में अर्थात् विशेषण रूप में विषय नहीं किया जाता। सुतरां उक्त संशय की परिभाषा के अनुसार भला कैसे अनध्यवसाय को संशय कहा जा सकता?

नैयायिक लोग वैशेषिकों की संशय की उक्त परिभाषा को मान्यता देते नहीं।

---

(१२६) अनध्यक्सायोऽपि प्रत्यक्षानुमान-विषय एवं सञ्जायते। नारिकेलद्वीपवासिनः सास्नामात्रदर्शनात्' को नुखल्वयं प्राणीस्या-दित्यनध्यवसायो भवति।

-प्रशस्तपादभाष्य, अनध्यवसाय प्रकरण।

उनका कहना यह है कि संशय की परिभाषा या तो उक्त प्रकार कारणमूलक मान्य है और नहीं तो यह परिभाषा संशय की मान्य है कि निश्चय से भिन्न ज्ञान है संशय। कारण घटित संशय परिभाषा का समन्वयन पहले बतलाया जा चुका है। दूसरी परिभाषा भी सहजत: अनध्यवसायात्मक उक्त ज्ञान को इसलिए स्वाक्रान्त कर डालती है कि 'यह क्या है' इस ज्ञान को निश्चय तो कहा जा नहीं सकता। ऐसी परिस्थिति में निश्चय भिन्न ज्ञान वह होगा ही। और संशय की यही परिभाषा की गयी है कि निश्चय से भिन्न होने वाला ज्ञान है संशय।

अब यहाँ तटस्थ चार्वाकीय-दृष्टिकोण से संशय के सम्बंध में विचार करने पर वैशेषिकों के साथ कुछ विषयों में मतैक्य इस प्रकार नहीं है कि वे लोग [१२७] एक धर्मिक विरुद्ध भाव एवं अभाव एतद्वय प्रकारक-ज्ञान को जो संशय मानते हैं वह इसलिए संगत नहीं कहा जा सकता कि भावद्वय कोटिक भी तो संशय पाया जाता है? यह स्थाणु है या मानव? इस प्रकार भी तो संशय होता है? यदि इस पर यह कहा जाय कि 'यह स्थाणु है या मानव? यह एक संशय नहीं है। यहाँ दो संशय होते हैं। सारांश यह कि 'यह स्थाणु है या नहीं?' यह मानव है या नहीं?' इस प्रकार दो संशय मान लेने पर परस्पर विरुद्ध भाव और अभाव कोटिद्वय-प्रकारक ज्ञान उक्त दोनों ही ज्ञान हो जाते हैं अत: संशय की उक्त वैशेषिक परिभाषा अनुचित नहीं कही जा सकती, तो यह कथन इसलिए नहीं होगा कि 'यह स्थाणु हैं या पुरुष' इस आकार से युक्त भाव और अभावकोटिक संशयद्वय स्वरसत: प्राप्त नहीं होता। और कथञ्चित् इस प्रकार कह सकने पर भी जहाँ काव्यात्मक वाक्यों के अंदर ऐसा कहा जायगा कि 'यह चन्द्र है या कमल है या रमणीमुख?' तो इससे होने वाली प्रतीति अवश्य संशय होगी। यहाँ 'चन्द्र है या नहीं', 'यह कमल है या नहीं', 'यह रमणी मुख्य है या नहीं?' इस प्रकार भाव और अभाव-कोटिक संशयत्रय इसलिए नहीं बनाया जा सकता कि उक्त वक्ता का अभिप्राय प्रत्येक कोटिगत -सौन्दर्य को विषय करता हुआ प्रतीत होता है। संशयत्रय बनाने पर अभावकोटि में सौन्दर्य का विषयीकरण सम्भव नहीं हो पाता।

नैयायिकों की संशयीय-परिभाषा के सम्बंध में कहना यह है कि 'निश्चयभिन्न ज्ञान है संशय' इस परिभाषा के अंदर निश्चय की परिभाषा के सम्बंध में प्रश्न उपस्थित करने पर यह भी कहा जा सकता कि 'संशय से भिन्न ज्ञान है निश्चय'।

और ऐसा कहने पर परिस्थिति यह प्राप्त होगी कि संशय और निश्चय दोनों के उक्त निर्वचन असंगत हो उठेंगे। क्योंकि जब तक निश्चय का निर्वचन नहीं हो पायेगा तब तक तद्भिन्न रूप में संशय का उक्त निर्वचन नहीं बन पायेगा। और जब तक संशय का निर्वचन नहीं हो पायेगा तब तक तद्भिन्न रूप में निश्चय का भी निर्वचन नहीं हो पायेगा। फलत: इस पद्धति से संशय और निश्चय दोनों ही अनिर्वचनीय हो उठेंगे। साधारण आदि

---

(१२७) एकधर्मिकविरुद्ध-भावाभाव-प्रकारकं ज्ञानं संशय:। *-तर्कसंग्रह।*

उक्त धर्मों के ज्ञान से होने वाला ज्ञान है संशय, यह भी संशय की परिभाषा इसलिए उचित नहीं हो पायेगी कि साधारण धर्म का ज्ञान तो एक कोटि का निश्चय हो जाने पर भी होता ही है, अतः उस कारण के रहने के कारण संशय की धारा अविच्छिन्न हो उठेगी जिसे कि इष्ट नहीं कहा जा सकता। क्योंकि वस्तुस्थिति यही है कि जिस वस्तु का निश्चय हो जाता है उस निश्चय के परवर्ती क्षण में उस वस्तु का सन्देह नहीं होता। इस पर यदि यह कहा जाय कि ज्ञान को संशय होने के लिए साधारण आदि उक्त धर्मज्ञानजन्यता के समान विशेषापेक्षा भी आवश्यक होती है। कहने का तात्पर्य यह कि साधारणधर्म का ज्ञान हो और साथ ही विशेष धर्म का निश्चय उस धर्मी में न होने के कारण विशेष धर्म की जिज्ञासा हो तब संशय होगा। विशेष धर्म का निर्णय हो जाने पर उसके सहारे वस्तु का निश्चयात्मक ज्ञान हो जाने के कारण संशय हो पाता नहीं। इसलिए निश्चय हो जाने के अनन्तर साधारण धर्म के ज्ञान के रहने पर भी संशय होता नहीं। क्योंकि विशेष धर्म-जिज्ञासात्मक विशेषापेक्षा रह जाती नहीं। तो यह कथन भी युक्त इसलिए प्रतीत नहीं होगा कि तब तो 'विशेषापेक्ष ज्ञान है संशय' इतना ही संशय की परिभाषा का आकार प्रर्याप्त होगा। अतः साधारणधर्म का ज्ञान संशय विशेष की उत्पत्ति के लिए भले ही अपेक्षित हो किन्तु संशय की परिभाषा के अंदर उसका प्रवेश व्यर्थ हो उठेगा। क्योंकि विशेषापेक्षा की आवश्यकता कहने से ही यह व्यक्त हो उठता है कि उस विशेष-जिज्ञासु व्यक्ति को सामान्य-धर्म का ज्ञान पहले रहेगा ही।

यदि यह कहा जाय इस पर, कि रहे यही संशय की परिभाषा कि विशेषापेक्ष ज्ञान है संशय' तो यह कथन भी इसलिए नहीं उचित हो पायेगा कि ऐसा मानने पर वस्तु का निश्चय हो जाने पर भी तद्गत विशेष की अपेक्षा रहने पर निश्चित वस्तु के सम्बंध में भी सन्देह की आपत्ति हो उठेगी। क्योंकि विशेषापेक्षा तो रहेगी ही। साधारण-धर्म का ज्ञान भी रहेगा ही। उदाहरण के द्वारा इसे यों समझना चाहिए कि 'यह आम है' इस प्रकार आम फल का निश्चय होते हुए भी वह मीठा है या नहीं यह जिज्ञासा भली-भाँति हो सकती है। उस जिज्ञासा को विशेषापेक्षा के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता? साधारण धर्मज्ञान और विशेषापेक्षा दोनों उक्त परिस्थिति में रह जाने के कारण, 'यह आम है' इस निश्चय के रहते हुए भी 'यह आम है या नहीं' इस प्रकार सन्देह अनिवार्य हो उठेगा। जैसा कि होता नहीं। अतः संशय का निर्वचन यहीं उचित प्रतीत होता है 'जिज्ञासा को उत्पन्न करने वाला ज्ञान है संशय'। इसका अभिप्राय यह है कि जिस वस्तु के सम्बंध में लोगों को पूर्ण रूप में निर्णयात्मक ज्ञान हो जाता है उस वस्तु के सम्बंध में जिज्ञासा फिर होती नहीं। उस विषय को जानने की उत्सुकता उस निश्चयवान् व्यक्ति को होती नहीं यह अनुभवसिद्ध है। साथ यह भी अनुभवसिद्ध है कि जिस व्यक्ति को जिस वस्तु के सम्बंध में संशयात्मक ज्ञान होता है उस व्यक्ति को उसके सम्बंध में जिज्ञासा होती है अर्थात् वह व्यक्ति उस सन्दिग्ध वस्तु को निर्णयात्मक रूप में जानने के लिए उत्सुक हो उठता है। सुतरां इस वस्तुस्थिति के आधार पर संशय का इस प्रकार निर्वचन भलीभाँति

किया जा सकता है कि 'जिज्ञासा का अर्थात् निर्णयात्मक ज्ञान की इच्छा का जनक ज्ञान अर्थात् उक्त निर्णयात्मक ज्ञान की इच्छा को उत्पन्न करने वाला ज्ञान है संशय। इस निर्वचन को मान्यता देने पर उक्त 'यह क्या है' इस प्रकार होने वाला अनध्यवसायात्मक ज्ञान भी संशय लक्षणाक्रान्त हो जाने के कारण संशय ही हो जाता है। उसकी अतिरिक्त ज्ञानता का प्रश्न ही नहीं रह जाता है। क्योंकि 'यह क्या है' इस आकार की इच्छास्वरूप जिज्ञासा 'यह क्या है' एतदाकारक ज्ञान से उत्पन्न होती ही है। संशय के सम्बंध में इस प्रकार विवेचन करने पर यह भी एक नयी बात निकल आती है कि संशय ज्ञान को लोगों ने तो अप्रमाज्ञान कहा है वह भी सहीं नहीं है। क्योंकि यह 'यह क्या है' इस प्रकार होने वाला अनध्यवसायात्मक संशय ज्ञान तद्भाववान् में तत्प्रकारक होने वाला होता नहीं। किन्तु जिज्ञासा विषयता स्वरूप जिज्ञासितत्व को विशेषण करने वाला होता है। तदभावयुक्त में तत्प्रकारक होने वाला ज्ञान अर्थात् लो जहाँ न हो वहाँ होने वाला उसका ज्ञान होता है। अप्रमात्मक, यह बात पहले कहीं जा चुकी है। 'यह क्या है' यह ज्ञान जब कि तद्भाववान् में तत्प्रकारक नहीं है तब अप्रमा लक्षण से आक्रान्त न होने के कारण इसे अप्रमाज्ञान नहीं कहा जा सकता।

अब यहाँ प्रश्न यह उठ खड़ा होगा कि 'तो क्या संशय ज्ञान को प्रमात्मक मानना उचित होगा? तो इसके उत्तर में वक्तव्य यह है कि नहीं, संशय को अप्रमा की तरह प्रमा भी नहीं मानना है। उचित यही प्रतीत होता है कि संशय ज्ञान को प्रमात्व और अप्रमात्व इन दोनों धर्मों से रहित एक प्रकार तृतीय ज्ञान ही मानना उचित प्रतीत होता है। इसलिए दाण्डिक-क्षेत्र में न्यायाधीश को जब अभियुक्त के सम्बंध में अपराध का न तो निर्णय हो पाता है और न अपराध के अभाव का, तब वह अपने निर्णयपत्र में अपने अपराधानध्यवसाय का ज्ञापन करके दण्डनिर्णय में अपनी असमर्थता बतलाता है। इस लिए संशय को प्रमा और अप्रमा दोनों से परे ज्ञान मानना ही उचित प्रतीत होता है। इस सम्बंध में एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि 'यह पर्वत अग्नियुक्त है या नहीं' इत्यादि भाव और अभावकोटिक संशय स्थल में दोनों कोटियों के अंदर एक किसी-न-किसी कोटि को लेकर वह ज्ञान अवश्य ही तदभावयुक्त में तत्प्रकारक होगा। क्योंकि अग्नि और अग्नि का अभाव ये दोनों आपस में विरुद्ध होने के कारण दोनों तो एकदा एकत्र रह सकते नहीं। ऐसी परिस्थिति में संशयात्मक ज्ञान को अप्रमाज्ञान मानना उचित है यह यदि कोई व्यक्ति कहे तो उसके उत्तर में यह भी तो कहा जा सकता है कि तब उस ज्ञान को प्रमा ही क्यों न माना जाय? क्योंकि विरुद्ध दो कोटियों के अंदर एक कोटिक परिस्थिति तो सही निकलेगी ही। उस कोटि को लेकर तद्वान् में तत्प्रकारक भी होने के कारण उस ज्ञान को उक्त प्रकार से जैसे अप्रमाज्ञान कहने का दावा किया जाता है उसी प्रकार उसे प्रमाज्ञान कहने का भी दावा भलीभाँति कोई कर सकता है। परन्तु यह भी कहना कठिन इसलिए प्रतीत होता है कि प्रमात्व और अप्रमात्व ये दोनों आपस में अत्यन्त विरोधी होने के कारण एक ही ज्ञान में एकदा रह नहीं सकते। प्रमात्व और अप्रमात्व ये दोनों संयोग और उसके अभाव की तरह अव्याप्यवृत्ति

अर्थात् अपने आश्रय के कुछ अंश में ही रहने वाले नहीं हैं कि एक वृक्ष में कपिसंयोग और कपिसंयोग के अभाव इन दोनों की तरह एक संशयात्मक ज्ञान में एकदा दोनों को रखा जा सके। यह इसलिए भी कहना कठिन है कि आश्रय की सावयवता स्थल में ही उसमें विभिन्न अवयव को लेकर विभिन्न विरोधी वस्तुओं को रखा जा पाता है। वृक्ष यदि सावयव न होता, उसके मूल शाखा आदि विभिन्न प्रदेश न होते, तो उस वृक्ष में भला कैसे कपिसंयोग और कपिसंयोग का अभाव ये दोनों रह पाते। विभिन्न वृक्षावयवों को लेकर ही मूल देश में कपिसंयोग का अभाव और शाखा देश में कपि-संयोग विद्यमान है यह कह कर एक ही वृक्ष को कपिसंयोग और कपिसंयोग का अभाव दोनों से युक्त बतलाया जा पाता है। प्रकृत में ज्ञान कोई सावयव वस्तु नहीं कि उसके विभिन्न अवयवों को लेकर प्रमात्व और अप्रमात्व इन दोनों परस्पर विरोधी धर्मों को लेकर एक ही संशय ज्ञान को प्रमात्मक और अप्रमात्मक दोनों बतलाया जा सके। अतः संशय ज्ञान को अप्रमाज्ञान नहीं ठहराया जा सकता। फलतः अप्रमाज्ञान निर्भेद है उसके प्रभेद मान्य नहीं है। सम्भवतः इन्हीं सब बातों की ओर ध्यान देते हुए संशय को स्वतंत्र अप्रमाज्ञान मानने में विभिन्न प्रकार की कठिनाइयों को देखकर मिश्र वाचस्पति ने गौतम के प्रत्यक्ष सूत्र के विवेचन के अवसर पर अपनी 'वार्तिक-तात्पर्य टीका में' संशय के सम्बंध में अपना यह नवीन दृष्टिकोण उपस्थित किया है कि 'संशय भी नियत को अनियत रूप में विषय करने के कारण व्यभिचारी ही ज्ञान हो जाता है, अतः सूत्रगत व्यभिचारी' इस पद से ही उसकी प्रत्यक्षता निराकृत हो जाती है अतः संशय में प्रत्यक्षता की आपत्ति के निराकरणार्थ निष्चयात्मक अर्थक 'व्यवसायात्म' यह विशेषण सूत्रकार गौतम ने अपने सूत्र में दिया है यह बात नहीं कहीं जा सकती। वाचस्पति के इस कथन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे संशय को अप्रमा मानते हुए भी विपर्यय के ही अर्न्भुक्त मानते हैं। परन्तु विपर्यय के अन्दर उसे तभी अन्तर्भुक्त किया जा सकता यदि सारे संशय तदभावन् में तत्प्रकारक ही होते। किन्तु ऐसे होते नहीं। तद्वान् में तत्प्रकारक भी होते ही हैं यह बात बतलायी जा चुकी है। इसलिए संशय को प्रमा और अप्रमा दोनों से बहिर्गत ही मानना उचित प्रतीत होता है। अब सम्भव यहाँ यह है कि कुछ लोग यह प्रश्न यहाँ उठायें कि यह बात कैसे संगत कही जा सकती है? क्योंकि आचार्य उदयन ने अपनी कुसुमांजलि में यह कहा है कि 'परस्पर दो विरुद्ध वस्तुओं की उपस्थिति स्थल में प्रकारान्तर स्थिति होती नहीं' [१२८] इसीलिए तो नैयायिक एवं वैशेषिक लोग भाव और अभाव इन दो वस्तुओं से अतिरिक्त कोई वस्तु मानते नहीं? प्रमात्व और अप्रमात्व भी तो इसी प्रकार परस्पर विरोधी हैं ऐसी परिस्थिति में प्रत्येक ज्ञान को प्रमा और अप्रमा इन्हीं दो के अन्दर किसी एक में गतार्थ होना चाहिए। इन दोनों से बाहर कोई भी ज्ञान कैसे मान्य हो सकता? तो यह कथन इसलिए संगत नहीं कहा जा सकता कि नैयायिक एवं वैशेषिक लोग निर्विकल्पक ज्ञान को न तो प्रमात्मक मानते हैं

---

(१२८) परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तर-स्थिति। —न्यायकुसुमाञ्जलि।

और न अप्रमात्मक। दोनों से अतिरिक्त ही मानते यह बात प्रसिद्ध है। ऐसी परिस्थिति में संशय के सम्बंध में ही ऐसा प्रश्न क्यों संगत हो पायेगा? सच बात तो यह है कि उक्त भाव और अभाव का दृष्टान्त यहाँ लागू नहीं हो पाता। क्योंकि 'हाँ' और 'ना' इनके अतिरिक्त अथवा माध्यमिक कोई परिस्थिति सम्भव नहीं। परन्तु प्रमा और अप्रमा के अतिरिक्त करोड़ों पदार्थ विद्यमान हैं। क्योंकि प्रमात्व और अप्रमात्व ये केवल ज्ञान-धर्म हैं विषय-धर्म नहीं। अत: यह कथन संगत नहीं कहला सकता कि प्रमा भी न हो, अप्रमा भी न हो ऐसी वस्तु अप्रसिद्ध है। यदि इस पर यह कहा जाय कि यह बात और कोई दार्शनिक भले कह पाये किन्तु भूताद्वैतवादी चार्वाकीय-दृष्टिकोण को अपनाने वाला यह नहीं कह सकता कि प्रमात्व और अप्रमात्व ये ज्ञान के धर्म है विषय धर्म नहीं। क्योंकि भूत से अतिरिक्त जब कोई चार्वाकीय-दृष्टिकोण में है ही नहीं, तब सारे धर्म और धर्मी वहाँ जाकर अभिन्न ही हो जायेंगे। तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि चार्वाकीय-भूताद्वैत भेद-सहिष्णु मान्य है, यह बात पहले भी कही जा चुकी है। अत: अवान्तर सारे भेद सही रह जाते हैं कोई अनुपपत्ति रहती नहीं।

अथवा संशय को केवल प्रमा एवं केवल अप्रमा से अतिरिक्त प्रमा और अप्रमा एतदुभयात्मक भले ही मान लिया जाय किन्तु सर्वथा अप्रमात्मक ही नहीं माना जा सकता। युक्ति पहले कहीं जा चुकी है। कहने का तात्पर्य यह है कि संशयों को प्रथमत: निष्कोटिक और सकोटिक इन दो भागों में विभक्त समझना चाहिए। जिनके अन्दर 'यह क्या है' इस प्रकार होने वाला संशय होता है निष्कोटिक और अन्य संशय होते हैं सकोटिक। सकोटिक संशयों को फिर भावमात्र-कोटिक एवं भावाभावोभय-कोटिक रूप में दो भागों में विभक्त समझना चाहिए। भावमात्रकोटिक संशयों को फिर कोटिद्विय-युक्त, कोटित्र यादि-युक्त रूप में विभक्त समझा जा सकता है। इसी प्रकार भावाभावोभय-कोटिक संशयों को भी कोटिगत-द्वित्य एवं त्रित्वादि के आधार पर विभक्त किया जा सकता है। सभी सकोटिक संशयों को प्रबलैक कोटिक और समबल-सकलकोटिक इन दो भागों में विभक्त समझना चाहिए। इन दोनों प्रभेदों के अन्दर प्रबलैक-कोटिक संशयों को फिर इष्ट-प्रबल कोटिक और अनिष्ट-प्रबल-कोटिक-इन दो प्रभेदों में वर्गीकृत समझना उचित है। इष्ट-प्रबल-कोटिक संशय स्थल में प्राणियों को इष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिए प्रवृत्ति होती है और अनिष्ट-प्रबल-कोटिक संशय स्थल में प्रवृत्ति होती नहीं। निष्कोटिक संशय स्थल में प्रवृत्ति तभी होती है जबकि उसके साथ उत्सुकता भी होती है। अन्यथा प्रवृत्ति होती नहीं।

किये गये इस विस्तृत विचार से यह स्थिर हो गया कि नैयायिक वैशेषिक आदि दार्शनिकों ने जो संशय ज्ञान को बिलकुल अप्रमात्मक माना है उसे उचित नहीं कहा जा सकता। [१२६] या तो संशय को प्रमा और अप्रमा दोनों ज्ञान-प्रभेदों से अलग उसी प्रकार मानना चाहिए जैसे वे लोग निर्विकल्पक ज्ञान को अपने सिद्धान्त में प्रमा और अप्रमा दोनों

से परे मानते है। या प्रमा और अप्रमा उभय रूप मानना चाहिए। इससे फलितार्थ यह प्राप्त होता है कि सर्वथा अप्रमा होने वाला ज्ञान केवल एक विपर्यय ही है मान्य कोई नहीं। वाचस्पति मिश्र ने जो संशय को भी व्यभिचारी ज्ञान कह कर एक प्रकार से विपर्यय ज्ञान में ही गतार्थ माना है उसे मान लेने पर भी यद्यपि इस निर्णय में कोई बाधा नहीं उपस्थित होती कि अप्रमा ज्ञान सर्वथा निर्भेद है। विपर्यय ही केवल सर्वथा अप्रमाज्ञान है। क्योंकि प्रतिपादित पद्धति से संशय को प्रमाप्रमात्मक मानने पर भी वह एक प्रकार से नृसिंहकल्प हो जाता है। नृसिंह को जैसे केवल नर या केवल सिंह नहीं कहा सकता तैसे प्रमाप्रमात्मक संशय को भी केवल अप्रमा नहीं कहा जा सकता। अतः अप्रमा ज्ञान निष्प्रभेद है। केवल विपर्यय ही अप्रमाज्ञान है यह निर्णय सर्वथा अक्षुण्ण है। यहाँ संशय विशेष की निष्कोटिकता के ख्यापन से नव्यनैयायिकों का वह संशय निर्वचन भी अनायास आलोचित हो जाता है कि कोटिताख्य-विषयताशाली ज्ञान है संशय। और भी उसके सम्बंध में अधिक वक्तव्य यह हो सकता है कि यदि कोटिता नामक विषयता संशय की ही होगी तो विषयता, ज्ञान निरूप्य होने के कारण अवश्य ही उस कोटिताख्य विषयता को संशय निरूप्य मानना होगा। फलतः उस कोटिता से संशय का निरूपण और संशय से उस कोटिता का निरूपण मान्य होगा इसलिए ज्ञप्तिगत अन्योन्याश्रय दोष अनिवार्य हो उठेगा। क्योंकि कोटिता को समझे बिना संशय को नहीं समझा जा पायेगा और संशय के बिना कोटिता को नहीं समझा जा सकेगा।

चार्वाक-मत और अप्रमात्व का परतस्त्व-

प्रमात्मक ज्ञानगत प्रमात्म के उत्पत्ति एवं ज्ञप्तिगत स्वतस्त्व एवं परतस्त्व सम्बंधी विचार पहले किया जा चुका है। तदनुसार विवेचित अप्रमाज्ञान गत अप्रमात्व स्वतः होता एवं ज्ञात होता या नहीं? यह जिज्ञासा स्वाभाविक है। तो इसके सम्बंध में अधिकतर दार्शनिकों का यही मत है कि अप्रमात्व होता भी है परतः और जाना भी जाता है परतः। नैयायिक, वैशेषिक और वेदान्ती तथा कर्ममीमांसक सभी लोग इस बात पर राजी हैं कि ज्ञान में अप्रमात्व होता है दोष प्रयुक्त। और वह ज्ञात भी होता है प्रवृत्ति की निष्फलता के अनुभव के अनन्तर ही। कुछ बौद्धों का कहना यह है कि अप्रमात्व, ज्ञान में स्वतः होता भी है और गृहीत भी होता है। उनका अभिप्राय यह है कि आन्तर विज्ञानाकार में जब कि बाह्यता की प्रतीति होती है तब यह मानना ही होगा कि बाह्य रूप में होने वाली सारी प्रतीतियाँ अप्रमा ही होती हैं। एवं उन अप्रमाओं में होने वाला अप्रमात्व जो कि आन्तर विज्ञान के आकार से अतिरिक्त और कुछ हो सकता नहीं, वह गृहीत भी होता है स्वतः। क्योंकि इस सिद्धान्त में किसी का ग्रहण एवं गृहीत होने वाली वस्तुएँ सभी विज्ञानाकार ही हैं तदतिरिक्त नहीं। अतः यदि विचार कर देखा जाय तो 'पर' है ही नहीं फिर प्रमात्व

---

(१२६) तच्छन्ये तन्मतिर्यांस्यादप्रमा सा निरुपिता। तत्प्रपञ्चो विपर्यासः संशयोऽपि प्रक्रीर्तितः॥

-भाषापरिच्छेद, गुण-निरूपण

परतः होता एवं गृहीत होता है यह भला कैसे कहा जा सकता? अतः अप्रमात्व न परतः होता है और न परतः उसका ग्रहण ही होता है।

किन्तु इस भेद-सहिष्णु भूताद्वैतवादी चार्वांकीय-दृष्टिकोण में ज्ञानगत अप्रमात्व स्वतः न होता है और न गृहीत ही होता है। क्योंकि ज्ञान में अप्रमात्व को यदि स्वतः माना जाय तो सारे ज्ञान अप्रमा-ज्ञान ही हो उठेंगे। अन्यथा-ख्याति ही अन्यथा-ख्याति हो जायेगी। परन्तु यह भी सम्भव इसलिए नहीं कि अन्यथा-ख्याति कहीं सत्ख्याति को मान्यता देकर ही हो सकती है। अब रही बात कि वह 'पर' कौन है यत्प्रयुक्त ज्ञान में अप्रमात्व होता है? तो इस सम्बंध में समझना यह चाहिए कि ब्राह्यभूत के साहाय्य से ज्ञान प्रमात्मक होता है यह बात पहले कहीं जा चुकी है। तदनुसार यहाँ यह समझना चाहिए कि विषयात्मक बाह्यभूत का साहाय्य प्राप्त नहीं होने के कारण ज्ञान अप्रमात्मक हो उठता है। अतः 'परतः' पद घटक 'पर' पद से उक्त बाह्यभूत से साहय्य की अप्राप्ति को लिया जा सकता है। इसलिए ज्ञानगत अप्रमात्व में उत्पत्तिगत परतस्त्व मान्य होता है और ज्ञप्तिगत परतस्त्व इसलिए अप्रमात्व में मान्य है कि उक्त नैयायिक वैशेषिक आदि मत के समान यहाँ भी चेष्टा की विफलता का अनुभव भूत-ज्ञान को अप्रमात्मक समझा जाता है।

चार्वाकीय-दृष्टिकोण में प्रमाता और अप्रमाता

प्रमा और अप्रमा इन दोनों का विवेचन अवसित होने पर प्रमाता और अप्रमाता के स्वरूप के सम्बंध में जिज्ञासा का उदय स्वाभाविक है। सभी दार्शनिक इस बात से तो सहमत पाये जाते हैं कि प्रमाता एवं अप्रमाता है आत्मा। परन्तु वह आत्मा क्या है एवं कैसा है? इस प्रश्न का उत्तर सभी दार्शनिकों की ओर से एक नहीं प्राप्त हो सकता। बाह्यास्तित्ववादी एवं क्षणिक विज्ञानाद्वैतवादी तीनों बौद्धों का इस सम्बंध में कहना यह है कि क्षणिक आलय-विज्ञान-धारा ही है आत्मा। और शून्याद्वैतवादी माध्यमिक-साम्प्रदायिक बौद्धों का कहना यह है कि मेरे मत में जब कि सभी साँसारिक वस्तुएँ शून्य ही हैं तब आत्मा भला उससे बाहर कैसे जा सकती? अतः शून्य ही आत्मा है। जब इस वादी के समक्ष कोई यह प्रश्न उपस्थित करता है कि फिर यह अनुभूयमान जागतिक व्यवहार कैसे सम्पन्न हो पाता है? तो उत्तर में इनका यह कथन होता है कि जिसे व्यवहार कहा जाता है वह भी तो तत्त्वतः शून्य से अतिरिक्त और कुछ नहीं है? ऐसी परिस्थिति में जागतिक व्यवहार सम्बंधी अनुपपत्ति का प्रश्न स्थान कहाँ पाता है? इस शून्यता के सम्बंध में शून्याद्वैतवादी बौद्धों की युक्ति यही है कि स्वाभाविक परिस्थिति है सुषुप्ति। उसमें जब कि कुछ रहता नहीं तब उस शून्य-परिस्थिति को ही तात्त्विक मानना चाहिए। ब्रह्माद्वैतवादी वेदान्ती लोगों का कहना यहाँ यह है कि आत्मा सत्, चित् आनन्द स्वरूप है। सत का अर्थ होता है सत्य और चित् का अर्थ ज्ञान एवं आनन्द का अर्थ है सुख। आत्मा को ये लोग सत् इसलिए मानते हैं कि आत्मा को छोड़कर अन्य सारी प्रतीयमान वस्तुएँ आत्मा के ऊपर ही अध्यस्त हैं, आरोपित हैं। आरोप जिसे कि अन्य शब्द में अध्यास भी कहा जाता है कभी

निरधिष्ठान होता नहीं। और आधार-शिलात्मक उस अधिष्ठान को कोई कल्पित-वस्तु इसलिए नहीं माना जा सकता कि वह भी यदि आरोप्य होगा तो उसके आरोप के लिए भी फिर उस अधिष्ठान की आवश्यकता होगी जिस पर उसका आरोप होगा। इस प्रकार निरन्तर आरोप की धारा मान्य होने के कारण अधिष्ठान की भी धारा अनन्त होगी। जिसके फलस्वरूप अनवस्था-दोष अनिवार्य हो उठेगा। सत् को अधिष्ठान मान लेने पर यह अनवस्था इसलिए स्वयं वारित हो जाती है कि अधिष्ठान तो आरोप्य होता नहीं कि उसके आरोपार्थ अधिष्ठानान्तर की आवश्यकता हो। आत्मा को चित् अर्थात् ज्ञानस्वरूप इसलिए वे लोग मानते हैं कि उपनिषत् ने उस नित्य विज्ञानस्वरूप बतलाया है। एतदतिरिक्त ऐसा मानने का कारण यह भी है कि जब वही केवल परमार्थ सत् मान्य होगा तो वही सर्वंथा निरपेक्ष होगा। वह उसकी सर्वथा निरपेक्षता तभी सम्भव हो सकती है जबकि उसे स्वप्रकाश माना जाय। अन्यथा उसका प्रकाशन अन्यापेक्ष मानना होगा। ऐसी परिस्थिति में उस सद्भूत आत्मा को जिसे दूसरे शब्दों में ब्रह्म भी कहा जाता है निरपेक्ष नहीं कहा जा सकेगा। जिसका कुफल यह होगा कि वह अपेक्षित परवस्तु इसकी अपेक्षा सत् हो बैठेगी। जिससे वेदान्त मान्य अद्वैत एवं उसी की मान्य सर्वाध्यासाधिष्ठानता दोनों खण्डित हो उठेंगे। इस प्रकार उस सत् को स्वप्रकाश मानने पर उसे चित्-स्वरूप अर्थात् ज्ञान-स्वरूप मानना ही होगा। क्योंकि किसी भी दृष्टि से विचार करने पर ज्ञान को ही प्रकाशात्मक मानना उचित प्रतीत होगा। चन्द्र, सूर्य आदि के विततप्रकाश के रहते हुए भी मृत व्यक्ति को यह मूच्छित व्यक्ति को किवा सुषुप्त व्यक्ति को या पत्थर आदि जड़ों को उस चन्द्र, सूर्य आदि वितत प्रकाश एवं उसके सहारे अन्य भी किसी दृश्य का विषयीकरण होता नहीं यह अनुभवसिद्ध है। इसलिए स्वप्रकाश यदि कोई हो सकता है तो ज्ञान ही हो सकता है। उक्त युक्तियों से जब कि सत्स्वरूप आत्म ही स्वप्रकाश मान्य हो चुका है और इस युक्ति से ज्ञान को ही स्वप्रकाश होना चाहिए, तब उस स्वप्रकाश सत् स्वरूप आत्मा को चैतन्य स्वरूप अर्थात् ज्ञान स्वरूप भी मानना ही होगा। वेदान्ती लोग आनन्दस्वरूप अर्थात् सुखस्वरूप इस दृष्टिकोण से उस अद्वैत-सत् ब्रह्म को मानते हैं कि निरपेक्षभाव से इष्ट कहलाता है सुख। परन्तु वह विषयसुख भी जबकि अपने लिए अर्थात् आत्मा के लिए ही अपेक्षित होता है। तो सचमुच विषयसुख को निरपेक्ष भाव से अपेक्षित नहीं कहा जा सकता है। किन्तु वह विषयसुख भी जिसके लिए अपेक्षित है, वह उक्त स्वप्रकाश सत् आत्मा ही, वास्तविक अन्यानपेक्ष इष्ट हो पाता है। अन्यानपेक्ष इष्ट ही है सुख यह अभी कहा जा चुका है। अतः सत् एवं चित् स्वरूप आत्मा ही वास्तविक आनन्द अर्थात् सुख है। वेदान्तियों के समक्ष जब और दार्शनिकों की ओर से यह प्रश्न उपस्थापित होता है कि अद्वैत ही पारमार्थिक सत्य होने पर लोकदृष्टि में सही प्रतीति होने वाली जगत् रचना और भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की सुख-दुःख आदि मूलक अनुभूयमान विभिन्न परिस्थितियाँ ये सभी कैसे उपपन्न होती हैं? तब वे इसके उत्तर में कल्पित भेद का आश्रयण करते हुए इस प्रकार उपपत्ति प्रस्तुत करते हैं कि उक्त सत् चित् आनन्दात्मक ब्रह्म यद्यपि स्वतः

अपरिच्छिन्न है फिर भी अनादि रूप से कल्पित अज्ञानात्मक माया से परिच्छिन्न होता हुआ वही, सगुण ईश्वर होता है जिसे जगत् की सृष्टि की मान्यता पक्ष में इस दृश्य व्यावहारिक जगत् का सृष्टा माना जाता है। और वही ब्रह्म चैतन्य मूल अज्ञानात्मक माया के परिणाम विभिन्न अन्तःकरणों से परिच्छिन्न होता हुआ विभिन्न जीव होता है। वैषयिक ज्ञान सुख-दुख आदि अन्तःकरण के ही परिणाम होने के कारण उसी के धर्म हैं। अतः परिणामी अन्तःकरण की विभिन्नता के कारण अनुभूयमान विभिन्न परिस्थितियाँ तात्त्विक-अद्वैत मान्य होने पर भी उपपन्न होती हैं। कोई सुखी है तो कोई दुखी, कोई किसी वस्तु को समझ रहा है तो उसी समय दूसरा व्यक्ति उसे नहीं समझ रहा है इत्यादि विभिन्न परिस्थितियाँ तत्त्वतः अद्वैत आत्मा की मान्यता के होते हुए भी उपपन्न होती हैं, यह हम वेदान्तियों के कथन का सारांश है। फलतः वेदान्त-सिद्धान्त में आत्मा चैतन्यस्वरूप अर्थात् ज्ञानस्वरूप है।

शैवसिद्धान्ती लोग भी आत्मा[१३०] को अद्वैत एवं चैतन्य स्वरूप ही मानते हैं। किन्तु वेदान्तियों से विशेषता इनकी यह है कि वेदान्ती लोग जहाँ आत्मा को सक्रिय नहीं मानते शैव लोग आत्मा को सक्रिय मानते हैं। क्रिया को भी आत्मा की शक्ति मानते हैं। शक्ति और शक्त दोनों तत्त्वतः एक ही होते हैं अतः द्वैत की आपत्ति इनके मत में होती नहीं। इन लोगों के मत में अभिन्न प्रकाशस्वरूप आत्मा ही अपने को विभिन्न 'अह' रूप से और उसके अनन्तर 'इदं' रूप से भासित करता है। विभिन्न 'अहं' रूप से भासन-प्रयुक्त वही विभिन्न जीव भी होता है और इदं रूप से भासन-प्रयुक्त वही प्रकाशस्वरूप आत्मा अहं से अतिरिक्त दृश्य रूप से भी भासित मात्र होता है। अतः है सब कुछ तत्त्वतः वही। इसलिए अद्वैत भी अक्षुण्ण रह जाता है और विभिन्न अहं भानप्रयुक्त जीव की विभिन्नता होने के कारण सुख दुःख आदि की अनुभव व्यवस्था भी बन जाती है। जीव भी तत्त्वतः अद्वैत प्रकाशस्वरूप महेश्वर ही है। यह इसलिए सिद्ध होता है कि अहंभावापन्न प्रकाशात्मक जीव भी यथासम्भव अपने-अपने कार्य का कर्ता होता ही है। कर्तृत्व ही है ऐश्वर्य, सो जब कि अहंकारस्पद प्रकाश में देखा ही जाता है। प्रत्येक जीव कुछ न कुछ कार्य करता ही है तब उसे ईश्वर कैसे नहीं कहा जा सकता? अतः अहकारास्पद प्रवितत प्रकाशात्मक ईश्वर हैं जीवात्मा, वही है प्रमाता। अद्वैत [१३०ख] महाप्रकाशस्वरूप शिव आणव, मायिक एवं कार्ममलों के कारण संकोचशील बन कर विभिन्न प्रमाता कहलाता है।

सौत्रान्तिक, वैभाषिक और योगाचार इन तीनों सम्प्रदायों के बौद्धों के मत प्रकृत

(१३०) आत्मा यदि भवेन्नेयस्तस्य माता भवेत्परः। पर आत्मा तदानीं स्यात् स परो यदि दृश्यते। *सर्वदर्शनसंग्रह, शैवदर्शन।*

(१३० क) अखण्डितस्वभावोऽपि विचित्रां मातृकल्पनाम्। स्वहृतमण्डल चक्रे यः प्रथयेत् तं स्तुमः शिवम्॥ *-प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी, आगमाधिकार।*

(१३० ख) एष पमाता मायान्धः संसारी कर्म बन्धनः २। *ईश्वरप्रत्यभिज्ञा, आगमाधिकार।*

विवेच्य प्रमाता के सम्बंध में यह है कि क्षणिक आलय अथवा अनालय विज्ञानाधारा ही है आत्मा, फलतः प्रमाता। योगाचारी बौद्धों का तात्पर्य यह है कि स्वाकार के विषयीकरण के अतिरिक्त और कुछ प्रमातृत्व नहीं। स्वप्रकाश क्षणिक आन्तर विज्ञान के द्वारा स्वाकारभूत उन घट-पट आदि का जो कि लोकदृष्टि में विषय कहे जाते हैं विषयीकरण होता है। इसी विषयीकरण को ध्यान में रख कर आन्तर क्षणिक-विज्ञानधारा को प्रमाता कहा जाता है। तत्त्वतः जब कि घट-पट आदि भी क्षणिक विज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नहीं, तब प्रमातृत्व का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। हाँ, बाह्यास्तित्ववादी, सौत्रान्तिक और वैभाषिक के मत में बाह्म घट-पट आदि की परमाणुपुंज रूप में ही सही, सत्ता मान्य है अतः उन दोनों के मत में बाह्य वस्तु का तत्त्वतः विषयीकरण होता है। अतः उन मतों में उक्त विषयीकरणात्मक प्रमातृत्व कहा जा सकता है। फलतः शून्याद्वैती के अतिरिक्त त्रिविध बौद्धों के मतों में आन्तर क्षणिक आलय या अनालय विज्ञानधारा ही है प्रमाता। वही है जीव।

सांख्यमत में भी वेदान्त मत की तरह आत्मा चैतन्य ही है।[१३१] और वेदान्त मत की ही तरह वह सर्वथा असङ्ग और अतएव अक्रिय है। इस बात को सांख्यानुयायी लोग यह कह कर व्यक्ति करते है कि आत्मा पुष्कर पलाश के समान निर्लिप्त है किन्तु वह जड़ नहीं है। क्योंकि जड़ता त्रिगुणात्मिका प्रकृति और उसके परिणामों का ही स्वभाव है। जीवात्मा जबकि असङ्ग चैतन्य स्वरूप है तब उसे किसी से भी किसी प्रकार का सम्बंध सम्भव न हो सकने के कारण, विशेषतः कर्तृत्व उसमें मान्य न हो सकने के कारण प्रमाकर्त्तृत्व स्वरूप प्रमातृत्व कैसे उसमें सम्भव होगा? इस प्रकार प्रश्न जबकि सांख्यसिद्धान्त के समक्ष उपस्थित होता है तब साँख्यसिद्धान्ती लोग उत्तर यह प्रस्तुत करते हैं कि सही है, आत्मा प्रमाता सचमुच होता नहीं। क्योंकि निश्चयात्मक अध्यवसाय है चरम अथवा प्रथम अन्तःकरण बुद्धि का स्वभाव फलतः धर्म। फलतः प्रमात्मक निश्चय भी सचमुच बुद्धयात्मक अन्तःकरण का ही धर्म चैतन्यस्वरूप आत्मा का नहीं। प्रमातृत्व प्रमा के अतिरिक्त और कुछ हो सकता नहीं। अतः प्रमातृत्व भी अन्तःकरण विशेष-बुद्धि का ही धर्म अर्थात् स्वभाव है। पुरुष में अर्थात् आत्मा में वह प्रमातृत्व प्रतीत इसलिए होता है कि बुद्धयात्मक अन्तःकरण और पुरुष इनमें एक प्रकार की परस्पर छायापत्ति होती है। जैसे चलते हुए जल में सूर्य-चन्द्र आदि की प्रतिबिम्बात्मक छाया पड़ने पर जलगत चलन सूर्य-चन्द्र आदि में प्रतीत होता है, तैसे बुद्धिगत प्रमातृत्व पुरुष में प्रतीत होता है। साराँश

(१३० ग) स्वातंत्र्यहानिर्वोधस्य स्वातन्त्रयस्थाप्यबोधता।
विधाऽऽणवं मलमिदं खस्वरूपापहानितः ॥ ४॥
भिन्नवेद्यप्रमाऽत्रैव मायाख्यं जन्म योगदम् ।
कर्त्तर्यबोधे कार्भतु मायाशक्त्यैव तन्मयम् ॥५॥ *-ई.प्र. आगमाधिकार।*

(१३१) 'अनेन यश्चेतनाशक्तेरनुग्रहस्तत्फलं...चितिच्छायापत्याचाचेतनापि बुद्धिः...
-सांख्यतत्त्वकौमुदी, का. ५।

यह कि साङ्ख्य-सिद्धान्त में प्रमाता तत्त्वतः अन्तःकरण ही होता है, जीवस्वरूप पुरुष नहीं। यह कहा जा चुका है कि वेदान्त-सिद्धान्त की तरह यहाँ भी आत्मा चैतन्य स्वरूप ही है। परन्तु वेदान्त सिद्धान्त से जीवात्मा के सम्बंध में महान् अन्तर यहाँ यह है कि वहाँ एक ही चैतन्य को अन्तःकरणात्मक परिच्छेदक से परिच्छिन्न करके विभिन्न समझा जाता है और सांङ्ख्य सिद्धान्त में जीव देहभेद से स्वतः भिन्न होते हैं परिच्छेदक द्वारा होने वाले परिच्छेद के कारण नहीं। जीवगत विभिन्नता मान्य इसलिए होती है कि इसके बिना अनुभूयमान सुख-दुःख आदि की व्यवस्था उपपन्न नहीं की जा सकती। इस सिद्धान्त में जीव को कर्त्ता नहीं भी मानते हुए भोक्ता माना जाता। परन्तु भोग भी सुख-दुःखयुक्त बुद्धि के साथ छायापत्ति के अतिरिक्त और कुछ कहा नहीं जा सकता।

जहाँ तक जीवात्मा और उसके स्वभाव की मान्यता का सम्बंध है योगसिद्धान्त भी साङख्यसिद्धान्त से सहमत है। असहमति है केवल योगसिद्धान्त की साङख्य सम्मत अनीश्वर वाद से। क्लेश, कर्म, विपाक और आशय इन चारों से बिलकुल सम्पर्क न रखने वाला पुरुष होता है योगसिद्धान्त का मान्य ईश्वर। इसके सम्बंध में मतभेद रहने पर भी प्रमाता के सम्बंध में साङ्ख्य मत से कोई वैमत्य नहीं है। यद्यपि जीवगत अणिमामहिमा आदि सिद्धियों की ओर ध्यान देने पर कुछ ऐसा प्रतीत-सा होता है कि योगसिद्धान्त जैसे जीवों में कुछ कर्तृत्व मानता-सा हो तथापि दूर तक उसकी व्याख्या करने पर साङ्ख्य-सिद्धान्त के लिए भी अप्रतिकूलता प्राप्त होती है। इसीलिए साङ्सिद्धान्तियों ने भी इन सिद्धियों की चर्चा विस्तृत रूप से की है सांख्यग्रन्थों में।

जैन दार्शनिक लोग इन उक्त मतों से सम्मति नहीं रखते। उनका कहना यह है कि आत्मा चैतन्य रूप नहीं है। वह एक ठोस वस्तु है अन्य बाह्म वस्तुओं की तरह[१३२]। वह सचमुच प्रमाता होता है। क्योंकि प्रमात्मक ज्ञान आत्मा का धर्म होता है। साङ्ख्य एवं योग-सिद्धान्त में जिस प्रकार जीवात्मा को प्रत्येक शरीर में अलग-अलग मान्यता है उसी प्रकार जैनसिद्धान्त में भी जीवात्मा को प्रत्येक देह में अलग-अलग ही मान्य है। इस सिद्धान्त में एक विशेषता यह है कि यहाँ आत्मा को इस प्रकार संकोच-विकासशील मध्यम परिमाण-युक्त माना जाता है कि वह जन्मान्तर ग्रहण करते समय ग्रहीतव्य शरीर में पूर्ण रूप से प्रवेश के अनुरूप शरीरगत संकोच और विकास कर सके[१३३]। सारांश यह कि जैन सिद्धान्त में आत्मा को रबड़ की तरह फैलने एवं सकुचने वाला माना जाता है। जिसके फलस्वरूप परिस्थिति यह होती है कि आत्मा क्षुद्रकीटाणु शरीर को छोड़ कर जन्मान्तर परिग्रह करते समय जब ग्रहीतव्य बृहदाकार हाथी के शरीर में प्रवेश करने लगेगा; हाथी होकर जन्म प्राप्त करने लगेगा तब फैलकर उस हाथी में प्रवेश के अनुरूप उतना बड़ा हो

(१३२) जीवा द्विविधाः संसारिणों मुक्ताश्च। भवाद्भवान्तरप्राप्तिमन्तः संसारिणः। ते च द्विविधाः समनस्का अमनस्काश्च।

(१३३) न च जैनवदव्यापक;नापिबौद्धवत्क्षणिकः *-सर्वदर्शनसंग्रह, आर्हतदर्शन, शैवदर्शन।*

जायगा जितना बड़ा वह हाथी होगा। और जब मरते समय उस हाथी शरीर को छोड़ कर ग्रहीतव्य क्षुद्र कीटाणु शरीर में प्रवेश करने वाला होगा तो सकुचकर उस शरीर में प्रवेश के अनुरूप छोटा हो जायेगा। यही परिस्थिति है जैनसिद्धान्तसम्मत जीवात्मा की।

कर्म-मीमांसक लोग भी आत्मा को जैनों की तरह कर्त्ता और भोक्ता भी मानते हैं। इस सिद्धान्त में भी आत्मा प्रत्येक देह में अलग मान्य हैं। अपने किये हुए अच्छे कर्मो के अच्छे फलों को और किये गये बुरे कर्मों के बुरे फलों को अवश्य भोगता हैं। कहने का तात्पर्य यह कि मीमांसा सिद्धान्त में कोई भी कर्म निष्फल नहीं जाता। अतः कोई भी किसी अच्छे या बुरे कर्म का करने वाला जीव, कृत कर्मगत अच्छाई एवं बुराई के आधार पर अच्छे या बुरे फल का उपभोग अवश्य करेगा। मानों उसे भोग करना ही होगा। क्योंकि अच्छे कर्म के करने से वह करने वाला 'पुण्य' प्राप्त करता है, जो कि वर्त्तमान जन्म या जन्मान्तर में होने वाले फल-भोग के अव्यवहित पूर्व समय तक अवश्य रहता है। इसी प्रकार बुरे कर्म के करने से वह कर्त्ता 'पाप' प्राप्त करता है जो कि तब तक नष्ट नहीं होता जब तक कि उस बुरे कर्म का बुरा फल उस कर्त्ता को प्राप्त न हो जाता, वह दुःख का उपभोग नहीं कर लेता। अतः मीमांसा सिद्धान्त में आत्मा कर्त्ता और भोक्ता अवश्य है। करना, समझने वाले का ही धर्म हो सकता है। ऐसी स्थिति में आत्मा को कर्त्ता एवं भोक्ता के समान ज्ञाता भी मानना ही होगा। अतः प्रमाता भी आत्मा को छोड़कर अन्य कोई नहीं हो सकता।

नैयायिक तथा वैशेषिक ये दोनों दर्शन भी मीमांसका की तरह प्रत्येक देह में आत्मा[१३४] को अलग-अलग वर्तमान, कर्त्ता एवं भोक्ता मानते हैं। इनके यहाँ भी बुद्धि सुख दुःख इच्छा द्वेष प्रयत्न आदि आत्मा के ही गुणात्मक धर्म माने जाते हैं। अतः प्रमाता भी यही स्थायी शरीरातिरिक्त आत्मा है। आत्म को ये लोग जीवात्मा और परमात्मा इन दो प्रभेदों में विभक्त मानते हैं। जीवात्मा प्रत्येक शरीर में अलग-अलग मान्य होने पर भी व्यापक रूप से मान्य है। कहने का तात्पर्य यह कि विभिन्न प्राणिदेह में विभिन्न रूप से विद्यमान प्रत्येक जीवात्मा न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त में व्यापक ही मान्य है। अनेक व्यापक आत्माओं की मान्यता इन लोगों के यहाँ इसलिए खलती नहीं कि न्याय वैशेषिक सिद्धान्त में आकाश काल दिक् और आत्मा ये चारों द्रव्य व्यापक मान्य होते है। जब एकाधिक व्यापक को मान्यता दी गयी तब असंख्य शरीरों में विद्यमान असंख्य शरीरी आत्मा भी अर्थात् जीव भी व्यापक क्यों नहीं हो सकेंगे? सभी जीवात्माओं के व्यापक होने पर भी अलग-अलग शरीर ही उनके उपभोग साधन रूप में मान्य होते हैं इसलिए सब शरीरों में सब आत्माओं को उपभोग नहीं प्राप्त होता है। आत्मा के रूप में जीवात्मा और परमात्मा इन दोनों प्रभेदों में समानता होने पर भी अन्तर यह माना जाता है कि परमात्मा में ज्ञान, इच्छा

---

(१३४) ज्ञानाधिकरणमात्मा। प्रतिशरीरं भिन्नो विभुर्नित्यश्च।

–तर्कसंग्रह।

और प्रयत्न ये तीनों नित्य होते हैं और जीवात्माओं में ये गुण नित्य न होकर अनित्य होते हैं, अर्थात् आत्मा और मन के विलक्षण संयोग से उत्पन्न होते हैं। जीवात्माओं में इस गुणत्रय के अतिरिक्त सुख-दुःख-द्वेष आदि भी रहते हैं परन्तु परमात्मा में सुख-दुःख आदि माने नहीं जाते। कहने का तात्पर्य यह है कि बुद्धि सुख-दुःख इच्छा द्वेष प्रयत्न और संख्या परिणाम पृथकत्व संयोग और विभाग तथा स्मारक भावना-नामक-संस्कार धर्म और अधर्म ये चौदह गुण जहाँ जीवात्माओं में नैयायिक तथा वैशेषिक दार्शनिक लोग मानते हैं वहाँ परमात्मा में ज्ञान इच्छा प्रयत्न और संख्या परिमाण पृथकत्व संयोग तथा विभाग ये आठ ही गुण माने जाते हैं। इसके अतिरिक्त जीवात्मा और परमात्मा इन दोनों में महान अन्तर यह भी नैयायिक एवं वैशेषिकों के घर में माना जाता है कि जीवात्माओं को जहाँ परोक्ष तथा अपरोक्ष अर्थात् प्रत्यक्षात्मक ये दोनों प्रकार के ज्ञान होते हैं वहाँ परमात्मा को केवल प्रत्यक्षात्मक ही ज्ञान होता है परोक्षात्मक नहीं। पाप और पुण्य ये दोनों यत: जीवात्माओं में ही होते हैं, अत: मैं सुखी हूं, मैं दुखी हूं इस प्रकार मानस साक्षात्कारात्मक उपभोग जीवात्माओं को ही होता है, परमात्मा को नहीं। जीव अपना मानस प्रत्यक्ष करता है और अन्य जीवात्मा का अनुमान करता है। परमात्मा जगत् की सृष्टि करता है जीव जगत् की सृष्टि कर नहीं सकता। परमात्मा जहाँ सर्वज्ञ होता है जीवात्मा वहाँ सर्वज्ञ न होकर अल्पज्ञ ही मान्य है। परमात्मा के ज्ञान इच्छा और प्रयत्न ये तीनों जहाँ प्रत्येक सांसारिक कार्य के प्रति निमित्त रूप से कारण होते हैं जीव के ज्ञान इच्छा और प्रयत्न ये तीनों गुण वैसे होते नहीं। इसलिए न्याय वैशेषिक सिद्धान्त असंख्य जीवात्मा और एक परमात्मा इनके बीच विद्यमान भेद को सर्वथा नित्य मानता है। जीव कितना भी अच्छा कर्म क्यों न करे वह परमात्मा कभी नहीं हो सकता।

इस प्रकार आत्मा के सम्बंध में विभिन्न मतों की उपस्थिति के अनन्तर चार्वाकीय दृष्टिकोण इस आत्मा के सम्बंध में क्या है? इस जिज्ञासा का उदय स्वाभाविक है। तो इस सम्बंध में यहाँ यह समझना चाहिए कि आत्मा का ऐसी ही वस्तु होना उचित माना जा सकता जिसे की प्रत्येक प्राणी जानता हो। क्योंकि सभी प्राणी प्रवृत्तिशील पाये जाते हैं। उनकी प्रवृत्ति अवश्य ही अपने को समझते हुए अपने हित की प्राप्ति के लिए हुआ करती है। ऐसी परिस्थिति में यह कभी नहीं कहा जा सकता कि आत्मा शरीर के अतिरिक्त और कुछ वस्तु है। क्षुद्र से क्षुद्र प्राणी भी सर्वाधिक भाव से इसी बात से डरता हुआ सा प्रतीत होता है कि 'ऐसा न हो कि मैं मर जाऊँ' इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है सभी प्राणी अपने शरीर को ही सर्वाधिक प्रिय जानते हैं। 'जिसके लिये अन्य सारी वस्तुएँ अपेक्षित हों, वह है आत्मा' आत्मा की यह परिभाषा अन्य दार्शनिक विवेचकों को भी मान्य है। तदनुसार शरीर को ही आत्मा मानना उचित कहा जा सकता। शरीर के अतिरिक्त नित्य अमूर्त्त आत्मा को मानने वालों के लिए आत्मा की यह परिभाषा ठीक से लागू हो नहीं सकती। क्योंकि शरीरातिरिक्त आत्मा को जो कि सर्वथा अमूर्त्त ही होगा, और अन्य सांसारिक वस्तुओं के

अस्तित्त्व और नास्तित्व, प्राप्ति और अप्राप्ति दोनों ही पक्षों में समान रूप से विद्यमान रहेगा, उसके लिए किसी भी वस्तु की सच्ची अपेक्षा कैसे मानी जा सकती? शरीर की सुव्यवस्थित-भाव से स्थिति नियमतः सांसारिक अन्य वस्तुओं की अपेक्षा रखती है। अतः अन्य सारी वस्तुएँ शरीरात्मा के लिए अपेक्षित होती हैं। अतः 'जिसके लिए अन्य सब कुछ अपेक्षित हो वह है आत्मा' आत्मा की यह परिभाषा शरीर में ही लागू होती है अन्य में नहीं। आत्मा की यह परिभाषा मान्य नहीं है यह बात इसलिए मान्य नहीं ठहरायी जा सकती कि ऐसा मानने पर शरीरातिरिक्त आत्मा को कोई किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं कर सकता। क्योंकि मैं गोरा हूं, मैं काला हूं इत्यादि प्रतीति के बल पर तो शरीर को ही आत्मा मानना होगा। 'मैं जानता हूं' 'मैं चाहता हूं', 'मैं प्रयत्न करता हूं' इत्यादि प्रतीतियाँ भी शरीर को ही आत्मा मान कर बन पाती हैं, शरीर से अतिरिक्त आत्मा को मान कर नहीं क्योंकि ज्ञान इच्छा प्रयत्न आदि आत्मा के गुण शरीर के ही धर्म हैं यतः ज्ञान भूत धर्म ही है। भूतों से अतिरिक्त और कोई द्रव्य है ही नहीं यह बात संक्षेप में पहले भी बतलायी जा चुकी है और विस्तृत भाव से आगे भी बतलायी जाने वाली है।

शरीर को ही आत्मा इसलिए भी मानना उचित है कि इध संसार-रथ के चक्र युगल दण्ड और वार्त्ता ये दोनों शरीर को ही अन्य मान कर चल सकते हैं, अन्यथा नहीं। किसी भी प्रकार का भी दण्ड शरीर को ही दिया जा सकता हैं शरीर से अतिरिक्त अमूर्त्त आत्मा को नहीं। अपराध भी शरीर मूलक ही होते हैं अन्य मूलक नहीं। अपराध और दण्ड इन दोनों का सामानाधिकरण्य-नियम भी सर्वथा अनिवार्य रूप से मान्य है। अन्यथा भारी अव्यवस्था उपस्थित होगी। अपराध करेगा कोई और भोगेगा अन्य कोई, इसे उचित कभी नहीं कहा जा सकेगा। अतः अपराध और दण्ड दोनों का अधिकारी शरीर को ही मानना होगा। इसलिए दाण्डिक, एवं वार्त्ता के सुरक्षक चार्वाकीय दृष्टिकोण में शरीर को ही आत्मा मानना उचित है। यहाँ इस पर यदि यह कहा जाय कि जन्मान्तर नहीं मानने पर 'कृतहान' और 'अकृत का अभ्यागम' दोष आपन्न होता है। अर्थात् कोई जन्म से ही सुखी या दुखी देखा जाता है। जन्मान्तर की अमान्यता पक्ष में वह सुख या दुख उस व्यक्ति को अपराध किये बिना ही प्राप्त होने वाला मानना होगा, जो कि उचित नहीं कहा जायगा। इसी प्रकार किसी ने यदि जन्म भर अच्छे ही काम किये या बुरे ही काम किये किन्तु तदनुरूप उन्हें अच्छा या बुरा फल पाया जाता देखा नहीं गया तो वहाँ पर पुनः जन्म न मानने पर उन अच्छे या बुरे कर्मों को व्यर्थ ही मानना होगा; विफल ही मानना होगा। क्योंकि जब उसे पर-जन्म मिलेगा ही नहीं, तो उस कर्म का फल भोगेगा कौन? इसलिए किये की हानि अर्थांत् निष्फलता स्वरूप 'कृतहान' दोष होगा। और वर्णित पूर्व परिस्थिति में अर्थांत् जन्म से ही आरम्भ होने वाले सुख या दुःख के उपभोग स्थल में 'अकृत का अभ्यागम' दोष होगा। क्योंकि जो उसने किया नहीं, उसका फल उसे भोगना पड़ेगा। इसे भला उचित कैसे कहा जा सकता? अतः पूर्व और पर जन्म मानना ही होगा। इस प्रकार

जन्मान्तर की मान्यता प्राप्त होने पर शरीर से अतिरिक्त एक स्थायी आत्मा मानना होगा। फिर कैसे इस स्थूल शरीर को ही आत्मा माना जाय? तो इसका एक उत्तर यह समझना चाहिए कि इस भौतिक शरीर से ही प्राणान्त के समय कुछ भूत निर्गत होकर अन्य भूतों के साहाय्य से नूतन शरीर हो जाते हैं, ऐसा जन्मान्तर शरीर को आत्मा मानने के पक्ष में भी मान्य हो सकता है और इसके आधार पर उक्त कृतहान और अकृत का अभ्यागम इन दोनों दोषों को हटाया जा सकता है। सांख्य एवं वेदान्त मत में मान्य लिंग-शरीर के अन्दर भी तो सूक्ष्म रूप में भूत का अस्तित्व मान्य होता है? और उस भूत की गति शरीरान्तर में मानी जाती है? जब कि उक्त कृतहान और अकृत के अभ्यागम को हटाने के लिए जन्मान्तर मान्य हैं तब इस प्रकार भौतिक-जन्मान्तर ही मान कर भौतिक-शरीर को ही आत्मा मानने में कल्पना लाघव होगा। कहने का तात्पर्य यह कि साङ्ख्य एवं वेदान्त ये दोनों दर्शन शरीर के सम्बंध में यह स्वीकार करते पाये जाते हैं कि प्राणियों के शरीर दो प्रकार के होते हैं एक स्थूल और दूसरा सूक्ष्म। स्थूल शरीर तो यही है जिसे लोग शरीर समझते हैं। जो कि नाक कान हाथ पाँव आदि से युक्त है, शोणित मांस भेद मज्जा शुक्र अस्थि स्नायु आदि का सुव्यवस्थित एक समुदाय के। और दूसरा लिंग-शरीर प्राण इन्द्रिय एवं सूक्ष्म भूत इनका एक समुदाय स्वरूप मान्य है। इस द्वितीय लिङ्ग शरीर के अंदर होने वाली इन्द्रियाँ भी साङ्ख्य-सिद्धान्त में नहीं सही, किन्तु वेदान्त सिद्धान्त में तो भौतिक ही होती हैं। ऐसी परिस्थिति में जन्मान्तरीय कहलाने वाले अव्यवहृत परवर्त्ती शरीर तक पूर्व शरीर से भौतिक अंश जाते हैं यह बात और दार्शनिक को भी जबकि मान्य है, तब यही क्यों न मान लिया जाय कि इस प्रसिद्ध भौतिक शरीर से कुछ भौतिक अंश जन्मान्तर तक जाता है जो कि अन्य सजातीय भूतों के सहाय्य से स्थूल रूप धारण करके स्थूल शरीर कहलाता है। इस प्रकार पूर्व और परजन्म के बीच सम्बंध स्थापित हो सकने के कारण उक्त 'कृतहान' और 'अकृत अभ्यागम' ये दोनों दोष शरीरात्मवादी चार्वाकीय दृष्टिकोण में भी निवारित हो सकते हैं। फिर क्यों नहीं शरीर को ही आत्मा माना जाय, जिसे आकीट पतङ्ग सभी प्राणी स्वस्वरूप मानते हैं और सर्वाधिक प्रिय मानते हैं? पहले भी कहा जा चुका है कि क्षुद्र से क्षुद्र प्राणी को भी यह भय होता है कि 'कहीं मैं मर न जाऊँ' इसलिए शरीर को ही आत्मा मानना अधिक उचित प्रतीत होता है।

इसके अतिरिक्त एक बात और ध्यान देने योग्य है कि उपनिषद् में प्रतिपादित पञ्चाग्नि विद्या की ओर ध्यान देने भी इसकी पुष्टि प्राप्त होती है कि शरीर आत्मा है। क्योंकि वहाँ यह स्पष्ट रूप में प्रतिपादित हुआ है कि 'पाँचवी आहुति में जाकर प्रथम आहुति के समय पूर्व शरीर निर्गत जलात्मक-भत-पुरुष अर्थात् प्राणी कहलाने का अधिकारी होता है। वहाँ पूर्व शरीर से पर शरीर तक भौतिक सम्बंध की अविच्छिन्नता द्योतक प्रक्रिया भी बतलायी गयी है कि वह पूर्व शरीर निर्गत प्रथमहुत जलात्मक भूत चन्द्रमण्डल तक पहुंच कर वहाँ से खाद्य अन्न के पौधों पर गिर कर उस अन्न के साथ अनेक दिनों तक

पड़ा रहता हुआ प्राणियों के द्वारा उपभुक्त होता है और पाकाशय में पक कर शुक्र रूप में आहुत होता है। यही आहुति पाँचवीं आहुति होती हैं, जहाँ तक यात्रा कर लेने के बाद वह पूर्व शरीर निर्गत प्रथमाहुत जलात्मक भूत-पुरुष अर्थात् प्राणी बन जाता है। अपने दर्शन को वेदानुयायी कहने वाले दार्शनिक विवेचकों को इस ओर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए। और इसके आधार पर भूतात्मवाद को मान लेना चाहिए। यह कह कर इसे टाल देना उचित नहीं कहा जा सकता कि 'पञ्चाग्नि विद्या तो एक प्रकार की उपासना मात्र है। वहाँ तो केवल वहाँ वणित पाँच प्रकार की आग में भौतिक पाँच आहुतियों को चिन्तत अर्थात् ध्यान विहित हुआ है, कोई तथ्य की बात नहीं कही गयी है।' क्योंकि यह बात तो शरीर से अतिरिक्त वेदान्त-सिद्धान्त सिद्ध अद्वैत-ब्रह्म स्वरूप आत्मा के सम्बंध में भी इसी प्रकार भलीभाँति कहा जा सकता है कि अद्वैत असङ्ग अविक्रिय व्यापक सत् चित् आनन्द स्वरूप आत्मा का उपदेश चिन्तनात्मक उपासनामात्र के लिए कहा गया है।

यह कह कर जो अद्वैत वेदान्ती लोग लोगों को अपने मत की ओर आकृष्ट करने के लिए चेष्टा करते हैं कि श्रुतियाँ दो तरह की हैं तात्पर्यवती और अतात्पर्यवती। जिस श्रुति का तात्पर्य जिस अर्थ में है उसका वही अर्थ मान्य है। अतात्पर्यवती श्रुति के अनुसार अन्य अर्थ मान्य नहीं' वह भी कथन युक्तियुक्त इसलिए प्रतीत नहीं होता कि कौन श्रुति किस अर्थ में तात्पर्यवती है और कौन अतात्पर्यवती, इसका निर्णय भी तो सहज नहीं। क्यों न ऐसा ही माना जाय कि भूतात्मकता ख्यापन करने वाली श्रुतियाँ ही स्वार्थं में तात्पर्यवती हैं? प्रकरण का नाम लेकर जो वे लोग तात्पर्य-निर्णय करने का दावा करते है वह भी उचित नहीं कहा जा सकता कि प्रकरण का निर्णय भी सहज नहीं।

साथ ही यहाँ यह भी एक ध्यान देने की बात है कि उपनिषद् में आये हुए पञ्चकोश विवेचन की ओर ध्यान देने पर भी भूतात्मवाद ही सिद्ध होता है। क्योंकि वहाँ सर्वप्रथम प्रथम कोश के रूप में अन्नमय कोश स्वरूप इस स्थूल शरीर का ही ग्रहण किया गया है। और उसे ही [१३५] अन्न रस मय पुरुष कहा गया है। पुरुष शब्द का प्रयोग भी आत्मा अर्थ में ही हुआ है। इसके सम्बंध में वेदान्ती विवेचकों का यह कथन संगत नहीं कहा जा सकता कि 'परवर्त्ती कोशों की आत्मता प्रतिपादन से पूर्व कोश की आत्मता खण्डित हो जाती है। अन्नमय कोश की चर्चां प्रथम स्थान में ही की गयी है अतः वह परवर्ती प्राणमय मनोमय आदि की आत्मता के प्रतिपादन से सर्वथा खण्डित हो जाती है. अतः पंचकोश विवेचन के आधार पर शरीरात्मवाद का स्थापन नहीं किया जा सकता।'

क्योंकि यह उनका कथन उनके अपने ही सिद्धान्त से खण्डित हो जाता है। उपक्रम को तात्पर्य का निर्णांयक उन लोगों ने स्वयं माना है। उपक्रम प्रारम्भ का ही दूसरा नाम है। एतदनुसार पञ्चकोश विवेचन स्थल में जबकि शरीरात्मा को सर्वप्रथम अन्न

(१३५) अन्ना द्वै प्रजाः प्रजायन्ते याः काश्च पृथिवींश्रिताः। अथो अन्नेन्नैव जीवन्ति।

-तैतरीमोपनिषत् आनन्दवल्ली, २ अनुवाक।

रसमय पुरुष कहा गया है तब उपक्रान्त अर्थात् सर्वप्रथम स्थानोक्त होने के कारण उसे ही प्रबल रूप से तात्पर्य का विषय मानना ही होगा। इसी उपक्रम गत पराक्रम की ओर ध्यान देकर क्रम मीमांसा का पूर्व प्राबल्य और परदौर्वल्य का सिद्धान्त प्रवृत्त होता है। इसके अनुसार भी अन्नमय-कोश की प्रधानता मान्य होगी। और यह भी इस सम्बंध में ध्यान देना उचित होगा कि पर कोश के निर्देश से पूर्व पूर्व कोश के आत्मत्व खण्डन की बात उस व्यक्ति के समक्ष भले ही की जा सके जो कि शरीरिक प्राण मन विज्ञान और आनन्द को शरीर से और उन परवर्त्ती कोशों को भी अन्नमय से तत्त्वत: विभिन्न मानता हो। चार्वाकीय-सिद्धान्त में तो एक अद्वैत भत मात्र की तात्त्विकता के कारण परवर्ती कोश चतुष्टय भी तत्त्वत: अन्नमय कोशात्मक वरीरात्मा ही होते हैं। विभिन्न प्रकार से उसी शरीरात्मा का वर्णन परवर्त्ती कोशों से भी किया गया मान्य होता है। अत: यहाँ वाध्य-वाधक-भाव का अवकाश ही नहीं रह जाता है कि यह कहा जा सके कि प्राणमय कोश को आत्मा कह देने पर अन्नमय कोश का आत्मत्त्व खण्डित हो जाता है।' कहने का सारांश यह है कि 'आत्मा द्रष्टव्य है, श्रोतव्य है, मन्तव्य है, और निदिध्यासितव्य है' इस औपनिषद उपदेश स्थल में पहले ही मुख्य रूप में आत्मा की दार्शनीयता बतला कर पीछे उसके अङ्ग-रूप में श्रवण मनन और निदिध्यासन कर्तव्य बतलाया गया है उसी प्रकार पञ्चकोश प्रतिपादन स्थल में भी सर्व प्रथम मुख्य रूप से प्रतिपाद्य शरीरात्मा का निर्देश्य करके उससे अभिन्न ही होने वाले प्राणमय मनोमय आदि कोश बतलाये गये हैं। सम्भव है यहाँ कुछ लोग यह प्रश्न उपस्थित करें कि स्थूल शरीर स्वरूप आत्मा तो सरल रूप से ही प्रत्यक्ष गम्य है। उसे समझने में कोई कठिनता तो किसी को हो नहीं सकती फिर उपनिषद् में उक्त श्रवण मनन और निदिध्यासन का विधान कैसे संगत हो पायेगा? जबकि उसे पञ्चमकोश स्थलीय निर्णय के लिए उसे दृष्टान्त रूप में यहाँ उपस्थित किया गया है तब यह कह कर भी तो छुटकारा नहीं पाया जा सकता कि श्रवण मनन और निदिध्यासन का विधायक वाक्य मान्य ही नहीं है? तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि वह विधान-वाक्य समवायात्मक भूताद्वैतात्मा के साक्षात्कारार्थ श्रवण मनन आदि का विधायक है। समवायात्मक भूताद्वैतात्मा का परिचय आगे दिया जायगा।

यदि कुछ लोग पञ्चकोश स्थल के लिए यह प्रश्न उपस्थित करें कि अतिरिक्त आत्मावस्तु की मान्यता पक्ष में तो अन्नमय प्राणमय आदि की कोश-संज्ञा उपयुक्त हो पाती है। क्योंकि कोश रूप से विवक्षित होने वाले अन्नमय प्राणमय आदि तलवार के आच्छादक कोश के समान अतिरिक्त दुर्गम्य आत्मा के आच्छादक होते हैं। जबकि शरीर को ही आत्मा माना जाएगा तब उसे एवं प्राणमय आदि को भी किसके आच्छादक के रूप में कोश कहा जायगा? क्योंकि इन कोशों से अतिरिक्त कोई आत्म तो मान्य है नहीं जिसके आच्छादक रूप में अन्नमय प्राणमय आदि को कोश कहा जा सके? तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि औपनिषद कोश पद आच्छादक अर्थ में नहीं प्रयुक्त हुआ है किन्तु

निधिरूप में। अन्नमह आदि को निधिरूप में कोश कहने का तात्पर्य यह है कि इन अन्नमय आदि स्वरूप आत्मा को उसी प्रकार सुरक्षित रखना चाहिए, सदा सुरक्षित रखने के लिए चेष्टा उसी प्रकार करनी चाहिए जैसे कोश की अर्थात् निधि की सुरक्षा लोग करते हैं। क्योंकि बाह्य निधि से भी इस निधि की सुस्थता में ही लाभ मिल सकता है। अधिक सम्भव है कि पञ्चकोश का उपदेश विशेषत: ऐसे लोगों को लक्ष्य में रख कर दिया गया है जो कि खजाने को निजी शरीर प्राण आदि से भी अधिक महत्व देते थे या देते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि अर्थ उपादेय अवश्य है किन्तु पुरुषार्थ रूप में अर्थात् अपने उपयोगी के रूप में, न कि शरीरात्मा के समान या उससे भी बढ़ कर स्वत: मुख्य रूप में। यही कोशोपदेश का सार है।

यदि किसी को यह साग्रह हो कि कोश पद आच्छादक अर्थ में ही उपनिषद् में प्रयुक्त हुआ है तो उस पक्ष में भी संगति बैठ सकती है, पूर्व पूर्व को, पर पर का आत्च्छादक कहा जा सकता है और आनन्दमय के लिए कोश पद का प्रयोग सम्पातायात कहा जा सकता है। कहने का तात्पर्य यह कि प्याज या बन्धा गोभी के प्रत्येक स्तर पत्ते की होते हैं। बीच में आच्छादित रूप में कुछ उपलब्ध होने वाला पाया नहीं जाता, फिर भी आच्छाद्य-आच्छादक-भाव की प्रतिति वहाँ होती ही है ऊपर वाले पत्तों को नीचे वाले पत्तों का आच्छादक मान कर। तद्वत् अन्नमय को प्राणमय का और उन दोनों को मनोमय का आच्छादक कहा जा सकता है। आनन्दमय के लिए कोश पद का प्रयोग सम्पातायात इस कारण से भी किया जा सकता है कि इस चार्वाक-सिद्धान्त में भूत से अतिरिक्त कोई तत्त्व मान्य न होने के कारण गुण और गुणी अभिन्न ही मान्य होते हैं। आनन्द सुख गुण होने के कारण पूर्वोक्त कोशों का धर्म होने से कोश रूप ही मान्य होगा। अत: उसके लिए भी कोश शब्द का प्रयोग आच्छादक अर्थ में भी सङ्गतिलाभ करता है। उपनिषद् में किये गये पञ्चकोश विवेचन में प्रत्येक कोश को अङ्ग-प्रत्यङ्ग युक्त पक्षी के रूप में वर्णन किया गया है। इसलिए भी उससे अङ्ग-प्रत्यङ्ग युक्त शरीर को ही उसके आधार पर आत्मा मानना उचित कहा जा सकता है। रही बात उस वर्णित प्रतिष्ठात्मक पुच्छ ब्रह्म की, कि वह कौन होगा चार्वाक सिद्धान्त में ? तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि वह कथन अद्वैत-महासमवायात्मक भूत-ब्रह्म का अभिप्राय करके किया गया है। अत: आत्मा को शरीर से अतिरिक्त मानना उचित नहीं कहा जा सकता। शरीर को आत्मा मानने में अनेक दार्शनिकों ने जगह-जगह पर यह बाधक युक्ति उपस्थित की है कि शरीर तो मृत शरीर भी है किन्तु उसमें चेतनोचित परिस्थिति देखी जाती नहीं। इच्छा, प्रयत्न आदि उसमें देखे जाते नहीं। यदि शरीर ही आत्मा हो तो जीवित और मृत इन दोनों शरीरों में अन्तर नहीं होना चाहिए। किन्तु अन्तर स्पष्ट देखा जाता है। अत: शरीर को आत्मा नहीं मानना चाहिए। परन्तु यह उन लोगों का कथन तब औचित्य प्राप्त कर पाता यदि जीवित और मृत दोनों शरीरों के अन्दर भौतिक परिस्थिति में किसी प्रकार का अन्तर पाया नहीं जाता। परन्तु

ऐसा है नहीं। जीवित शरीर में थोड़ा भी ताप अवश्य रहता है किन्तु मृत शरीर में ताप बिलकुल रहता नहीं। जीवित शरीर में प्राणवायु का संचार जारी रहता है किन्तु मृत शरीर में प्राणसंचार बिलकुल नहीं रहता। इन परिस्थितियों को देखते हुए यह मानना ही होगा कि उक्त दोनों शरीरों में भौतिक-वैषम्य अवश्य होता है। यह स्पष्ट ही है कि जीवनावस्था में शरीर में विद्यमान तैजस कण एवं वायवीण कण शरीर से अधिक मात्रा में बाहर हो जाते हैं और यही है वस्तुतः मरण। ऐसी परिस्थिति में यह नहीं कहा जा सकता कि शरीर को आत्मा मानने पर जीवित और मृत शरीर में किसी प्रकार का अन्तर नहीं होना चाहिए।

चार्वाक-सिद्धान्त में यद्यपि कण-कण चेतन होने के कारण उस समय भी चैतन्य शरीर में रहता है जब कि वह शरीर मृत होता है। इसीलिए तो उस शरीर के ही भूतकणों से उसमें कीटाणु उत्पन्न हो उठते हैं, जो कि पूर्ण चेष्टाशील, सक्रिय, देखे जाते हैं। यदि उस शरीर में बिलकुल चैतन्य नहीं हो, तो उसमें ही उत्पन्न होने वाले कीटाणु कैसे चेतन हो सकें? वे कैसे उस शरीर के अन्दर पूर्ण क्रियाशील हो पायें? अतः चैतन्य मृत शरीर में भी रहता ही है, यह मानना होगा। तथापि वह तदादीन्तन चैतन्य वैसा स्फुट नहीं होता कि उसके कारण वह मृत शरीर सचेष्ट हो पड़े। इसलिए जीवित और मृत दोनों शरीरों में समान रूप से चेष्टा आदि का अस्तित्व क्यों नहीं पाया जाता, यदि शरीर ही आत्मा रूप से मान्य है? यह प्रश्न शरीरात्मवाद के विरुद्ध नहीं उठाया जा सकता। कुछ लोग इस शरीरात्मकवाद के विपरीत यह प्रश्न उपस्थित करते हैं कि शारीरिक भौतिक रेणुओं के बहिर्निर्गम प्रयुक्त बराबर शरीर का परिवर्त्तन होता रहता है यह मानना ही होगा। ऐसी परिस्थिति में स्मरण और प्रत्यभिज्ञा की उपपत्ति शरीरात्मवादी चार्वाक-सिद्धान्त में कैसे हो सकती? क्योंकि अनुभविता और स्मर्त्ता का एक होना नितान्त आवश्यक है। ऐसा कभी नहीं होता हुआ पाया जाता है कि किसी भी वस्तु को देखा तो राम ने, श्याम ने उसे देखा ही नहीं, किन्तु उस वस्तु का स्मरणात्मक ज्ञान श्याम को हो आया। जबकि अनुभव करने वाला पूर्व शरीर, रहता ही नहीं, तब उसे ही स्मरण होता है यह भी नहीं कहा जा सकता। स्मरण होता ही नहीं यह भी कैसे कहा जा सकता? क्योंकि अनुभावात्मक ज्ञान की उत्पत्ति के अनेक बाद भी तो लोगों को स्मरण होता ही है। स्मरण की उत्पत्ति न हो सकने पर प्रत्यभिज्ञा नामक ज्ञान भी न हो पायेगा जो कि लोगों को होता ही रहता है। पहले देखी हुई कोई भी वस्तु जबकि पुनः इन्द्रिय-सन्निकृष्ट होती है तब 'यह वही वस्तु है' इस प्रकार ज्ञान उस पूर्व द्रष्टा को उत्पन्न होता है। यही ज्ञान होता है प्रतिभिज्ञा ज्ञान। इस प्रत्यभिज्ञा नामक प्रत्यक्षात्मक ज्ञान के द्वारा पूर्व काल एवं पूर्व देश का भी विषयीकरण होता है। शरीरात्मवाद के अभ्युपगम पक्ष में वह विषयीकरण अति कठिन इसलिए हो उठेगा कि प्रत्यक्ष द्वारा विषयीकरण उसी वस्तु का हो पाता है जिसके साथ प्रत्यक्षजनक इन्द्रिय का सन्निकर्ष हो, और संयोग आदि लौकिक सन्निकर्ष, इन्द्रिय का उसी वस्तु के साथ हो सकता है। जो अव्यवहित भाव से उस समय वर्त्तमान हो। अतीत काल और

अतीत देश ऐसा होता नहीं, अतः उसके साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष प्रत्यभिज्ञा के अव्यवहित पूर्व क्षण में हो सकता नहीं शरीर से अतिरिक्त आत्मा मान लेने पर प्रत्यभिज्ञा की अनुपपत्ति इस लिए नहीं हो पाती कि अनुभव का कर्त्ता और प्रत्यभिज्ञा का कर्त्ता नित्य एक ही होता है। इसलिए प्रतिभिज्ञा के पूर्व, स्मरण होने में कोई बाधा नहीं उपस्थित होती। और वही स्मरण अतीत काल एवं उस देश को विषय करने के कारण उसमें नेतव्य प्रात्यक्षिक विषयता के लिए सन्निकर्ष बन जाता है। सन्निकर्ष का अभाव होता नहीं। अतः आत्मा को शरीरस्वरूप न मान कर शरीर से अतिरिक्त ही मानना चाहिए।

तो इसके उत्तर में वक्तव्य यह है कि जिस प्रकार शारीरातिरिक्त आत्मा के मान्यता-पक्ष में स्मरण और प्रत्यभिज्ञा इन दोनों की उपपत्ति होती है उसी प्रकार शरीरात्मवाद पक्ष में भी उन दोनों की उपपत्ति होगी। पूर्वविहित विवेचन के अनुसार कुछ स्फुट चैतन्य भौतिक रेणु जब कि जन्मान्तर तक जाते हैं तब अनुभव और स्मरण के बीच शरीर के सारे रेणु बदल जाते हैं यह बात कैसे कही जा सकती? अनुभविता शरीर की विद्यमानता के कारण स्मरण होने में बाधा नहीं दिखलाई जा सकती। प्रत्यभिज्ञा को केवल प्रत्यक्ष-मानकर स्मरण और प्रत्यक्ष का युग्म माना जा सकता है। अतीत काल और उस स्थान का स्मरण और इस काल और इस स्थान का तथा उससे युक्त होने वाली वस्तु का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान दोनों अव्यवहित पूर्वपश्चाद्भाव से उत्पन्न होते हैं। अति निकट में होने के कारण दोनों ज्ञान एक जैसे प्रतीत होते हैं। तत्त्वतः एक होते नहीं। वस्तुतः स्मरण को भी प्रत्यक्ष मानना उचित है। क्योंकि इस चार्वाकीय-दृष्टिकोण में मन ही केवल मान्य है इन्द्रिय और उसका सम्बंध अतीत एवं दूरवर्त्ती सभी से होता हैं अतः अतीत काल एवं उस देश का भी प्रत्यक्ष वर्त्तमान काल में होता है। अब प्रत्यभिज्ञा को एक प्रत्यक्षमात्र मानने पर कोई अनुपत्ति नहीं दिखलाई जा सकती।

बौद्धसिद्धान्त सम्मत शरीरातिरिक्त आत्मा को मानने पर स्मरण और प्रतिभिज्ञा बन नहीं सकती। क्योंकि शून्यद्वैती को छोड़कर उक्त तीनों प्रकार के बौद्ध, क्षणिक-विज्ञानधारा को ही आत्मा मानते हैं। उनके मत में किसी प्रकार अनुभविता और स्मर्ता ये दोनों एक नहीं हो सकते। क्योंकि प्रत्येक विज्ञान अपने द्वितीय क्षण में ही नष्ट हो जायेगा। ऐसा भी बौद्धसिद्धान्त में नहीं कहा जा सकता कि विज्ञान क्षणिक नहीं, नित्य है। क्योंकि उन लोगों के घर में यह अकाट्य नियम माना जाता है कि 'जो भी सत् है वह क्षणिक ही है, अक्षणिक स्थायी नहीं। अतः विज्ञान को अक्षणिक मानने पर वे अपसिद्धान्तग्रस्त हो उठेंगे। यदि उक्त बौद्धों की ओर से यह कहा जाय कि पूर्व पूर्वविज्ञान से अव्यवहित पर विज्ञान में एक प्रकार का संस्कार संक्रान्त होता है [१३६]। इसके अनुसार स्मर्त्ता विज्ञान तर्क में संस्कार रह जाने के कारण उस संस्कार के बल पर स्मरण की उपपत्ति हो सकती है। तो बौद्धों का यह कथन इसलिए संगत नहीं कहा जा सकेगा कि संस्कार ऐसी कोई द्रव्यात्मक

(१३६) मृगमदवासनावासितवसन इव पूर्वपूर्व विज्ञानजनित संस्काराणामुत्तरोत्तरविज्ञाने संक्रान्तत्वान्नानुपपत्तिः स्मरणादेः। *-न्यायसिद्धान्त-मुक्तावली, प्रत्यक्षखण्ड।*

ठोस वस्तु नहीं कि उसका संक्रमणात्मक संचार हो सके। ऐसी परिस्थिति में कैसे यह कहा जा सकता कि वासनात्मक संस्कार के बल से स्मरण बन जायेगा? इस पर यदि बौद्ध-पक्ष से फिर कहा जाय कि संस्कार का संचार न होने पर भी विज्ञान में उत्पत्ति तो उसकी हो सकती? स्मर्ता विज्ञान तक में क्रमशः संस्कार उत्पन्न हो आने के कारण संस्कारधारा के बल से स्मरण हो सकेगा। तो इसके उत्तर में व्यक्तव्य यह समझना चाहिए कि योगाचार-सम्प्रदाय की ओर से यह उत्तर इसलिए नहीं दिया जा सकता कि उस मत में जबकि विज्ञान के अतिरिक्त कोई वस्त्वन्तर मान्य ही नहीं है तब संस्कार की उत्पत्ति कैसे कहीं जा सकती?, सौत्रान्तिक और वैभाषिकों को कहना यह होगा कि उस संस्कार को विज्ञान पर उत्पन्न करेगा कौन? यदि यह कहा जाय कि विज्ञान स्वयं स्वगत संस्कार को उत्पन्न करेगा, तो कहना इसलिए कठिन ही नहीं असंगत होगा कि एक क्षण मात्र स्थायी कोई भी विज्ञान धारागत स्वोत्तरवर्त्ती विज्ञान को भी उत्पन्न करेगा और स्वगत संस्कार को भी उत्पन्न करेगा यह कभी हो नहीं सकता। और स्वगत संस्कार की उत्पत्ति से उसे लाभ ही क्या होगा? क्योंकि वह संस्कार तो उस विज्ञान के साथ ही परक्षण में नष्ट हो जायगा। सुतरां यह समस्या ज्यों की त्यों बनी रह जायेगी कि स्मरण का उपपादन जो कि अनेक परकाल में भी होता है, कैसे हो पायेगा? यदि यह कहा जाय कि पूर्ववर्त्ती दक्षिण विज्ञान अपने अव्यवहित उत्तर क्षण में होने वाले विज्ञान और उसमें संस्कार दोनों को उत्पन्न साथ ही कर देगा। और वह संस्कारयुक्त रूप में उत्पन्न होने वाला परवर्ती क्षणिक विज्ञान अपने अव्यवहित परक्षणवर्ती क्षणिक विज्ञान और तद्वत् संस्कार दोनों को उत्पन्न करेगा ऐसा कहा जाय, तो इस कथन का अर्थ यह होगा कि क्षणिक विज्ञान धारा की तरह क्षणिक संस्कारधारा भी मान्य होगी। इस मान्यता को उचित इसलिए नहीं कहा जा सकता कि एक स्थायी आत्मा को सर्वसम्पादक रूप में मान्यता न देकर असंख्य क्षणिक-विज्ञान और उन असंख्य क्षणिक विज्ञानों पर असंख्य संस्कार मानना इसमें महान् गौरव उत्पन्न होता है। उधर विषय की क्षणिकता की ओर यदि ध्यान दिया जाय तो एक क्षणिक विषयधारा और भी बढ़ जायेगी फलतः एक किसी वस्तु के विषयीकरणस्थल में क्षणिक विषय-धारा, क्षणिक विज्ञानधारा और क्षणिक संस्कारधारा ये तीन धाराएँ मान्य हो उठेंगी। यदि विज्ञानात्मवादी बौद्धों की ओर से उक्त संस्कार की उत्पत्ति के सम्बंध में यह कहा जाय कि इस सर्वक्षणिकतासिद्धान्त में किसी भी वस्तु की उत्पत्ति उसकी धारा के अन्तर्गत होने वाली स्वपूर्ववर्ती क्षणिक में होने वाले कुर्वद्रुपत्व से मान्य है। जैसे पूर्ववर्ती क्षणिक-विज्ञान अव्यवहित उत्तरवर्ती क्षणिक-विज्ञान को इसलिए उत्पन्न करता है कि उस पूर्ववर्ती क्षणिक-विज्ञान में उत्तरवर्ती क्षणिक विज्ञान की उत्पत्ति के अनुरूप विज्ञानकुर्वत्व रहता है। तदनुसार परवर्ती उस क्षणिक विज्ञान में वहाँ पूर्ववर्ती क्षणिक-विज्ञान संस्कार को इसलिए उत्पन्न करता है कि उसमें विज्ञान कुर्वद्रूपत्व के समान एक संस्कार कुर्वद्रूपत्व भी रहता है। इसी प्रकार क्षणिक-विषय-धारा स्थल में पूर्ववर्त्ती क्षणिक विषय में उत्तरवर्त्ती क्षणिक विषय की उत्पत्ति के अनुकूल विषय कुर्वत्व जैसे घट-कुर्वद्रूपत्व पट-कुर्वद्रूपत्व,

अंकुर-कुर्वद्रूपत्व आदि रहते हैं। इसी कुर्वद्रूपत्व की मान्यता के सहारे यह आपत्ति निराकृत हो पाती है कि एकधारान्त: पाती किसी भी एक से जिस किसी भी अन्य की उत्पत्ति एवं विभिन्न क्षणिकधारान्त: पाती किसी से किसी अन्य की उत्पत्ति क्यों नहीं होती? यथा घटधारान्त: पाती एक क्षणिक-घट से अव्यवहित उत्तरवर्ती क्षणिक घट की ही उत्पत्ति न होकर उसी धारा के अन्त:पाती दशक्षण परवर्ती घट की उत्पत्ति क्यों न होती? एवं घटधारान्त: पाती किसी क्षणिक घट से पटधारान्त: पाती किसी पट की उत्पत्ति क्यों नहीं हो जाती? यह प्रश्न इसलिए बौद्धों के घर में नहीं हो पाती कि, उसी क्षणिक की उसी क्षणिक से उत्पत्ति मान्य है जिस क्षणिक में जिस क्षणिक की उत्पत्ति के अनुकूल कुर्वद्रूपत्व रहता है। कहने का सरल तात्पर्य यह कि तत्तत् वस्तु की उत्पत्ति के अनुकूल तत्तत् कुर्वद्रूपत्व सब में समान रूप से रहता नहीं, विभिन्न तत्तत् उत्पादक में ही रहता है इसलिए अनियत रूप से फलत: विश्रृंखल रूप से वस्तु की उत्पत्ति की आपत्ति नहीं दी जा सकती यह बौद्ध दार्शनिकों का दावा है। परन्तु यहाँ विचारणीय यह उपस्थित हो उठता है कि यह कुर्वद्रूपत्व आखिर क्या होगा? बौद्ध सिद्धान्त में सामान्य नामक कोई स्थायी पदार्थ तो मान्य हो ही नहीं सकता। क्योंकि फिर वहाँ ही बौद्धों के सर्व-क्षणिकत्व-सिद्धान्त का बलिदान अनिवार्य रूप से हो उठेगा। और वह सामान्य हो भी नहीं सकता क्योंकि उक्त अनपेक्षित से अनपेक्षित की अनपेक्षित उत्पत्ति के निवारणार्थ उसे एक-एक में अलग-अलग ही होने वाला मानना होगा। जिसके फलस्वरूप वह विशेष ही होकर रहेगा। वह अनेक में रहने वाला एक हो नहीं पायेगा। जो लोग सामान्य को मान्यता देते हैं वे उसे अनेक में रहने वाला एक ही मानते है और उसे ऐसा मानने पर ही वह सचमुच सामान्य कहलाने का अधिकारी होता भी है। अत: कुर्वद्रूपत्व को सामान्य कहा जा सकता नहीं। साथ ही उसे भी बौद्धसम्मत क्षणिकत्व सिद्धान्त के अनुसार क्षणिक भी मानना अनिवार्य होगा। और ऐसा मानने पर उन कुर्वद्रूपत्वों को उत्पत्तिशील भी मानना ही पड़ेगा। सुतरां यह भी प्रश्न स्वाभाविक रूप में उठ खड़ा होगा कि उन क्षणिक-कुर्वद्रूपत्वों के उत्पादक होंगे कौन? अगत्या बौद्ध-दार्शनिकों को इस कथन के अतिरिक्त और कोई चारा रहेगा नहीं कि, उन कुर्वद्रूपत्वों की उत्पत्तियाँ भी विभिन्न तदनुरूप कुर्वद्रूपत्वों के सहारे होंगी। इस कथन का फलितार्थ यह होगा कि करोड़ों पूर्वमान्य कुर्वंद्रूपत्वों की भी उत्पत्तियों के अनुकूल करोड़ों अन्य कुर्वद्रूपत्व-कुर्वद्रूपत्व भी मान्य होंगे। और जब उन नवीन मान्य कुर्वद्रूपत्व-कुर्वद्रूपत्व के सम्बंध में भी उत्पादक की अपेक्षा पूर्वोक्त पद्धति के अनुसार उपस्थित की जायेगी तो फिर बौद्धों को उन नवीन-मान्यता-प्राप्त कुर्वद्रूपत्व-कुर्वद्रूपत्वों की उत्पत्तियों के लिए कुर्वद्रूपत्व-कुर्वद्रूपत्व-कुर्वद्रूपत्वों की भी मान्यता असंख्य रूप में उनके समक्ष अनिवार्य रूप में आपन्न हो उठेगी। जिसका दुष्परिणाम यह होगा कि उनकी सारी विचारधारा अनवस्था-दौस्थ्य के पचड़े में इस प्रकार उलझ जायेगी कि उनकी सारी व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो उठेगी। इसलिए अपनी थाती को यदि बौद्ध विवेचक बचाना चाहेंगे तो उन्हें इस अजनबी कुर्वद्रूपत्व के पचड़े से अपने को अलग कर

ही लेना होगा। और इस कुर्वद्रूपत्व से हाथ धो बैठने पर वे कभी यह नहीं कह पायेंगे कि क्षणिक-विज्ञानगत-संस्कार-कुर्वद्रूपत्व से परवर्ती क्षणिक-विज्ञान में संस्कार की उत्पत्ति हुआ करेगी, इसलिए क्षणिक विज्ञानधारा पर आधारित संस्कारधारा के आधार पर स्मरणात्मक ज्ञान की अनुपपत्ति वारित हो सकती है। बौद्धों के लिए यह भी कहना कठिन है कि विज्ञानों पर विद्यमान संस्कार स्वतः स्थायी मान्य होगा। क्योंकि ऐसा मानने पर उनका सर्वक्षणिकत्व-सिद्धान्त वहाँ ही बलि का बकरा बन जायगा। दूसरी बात यह कि ज्ञान को आत्मा मानने पर उसे सविषयक भी मानना होगा। क्योंकि ज्ञान कभी निर्विषयक हो नहीं सकता। और अपने को कोई सविषयक रूप से अनुभव करता नहीं। मैं घट विषयक या पट विषयक हूँ, ऐसा कोई कभी अनुभव करता नहीं। फिर आत्मा को ज्ञान कैसे कहा जा सकता? यदि सविषयक उसे माना भी जाय तो किंविषयक माना जायेगा? किसी भी विषय-विशेष की नियमिति विषयता का निर्णायक कोई बतलाया नहीं जा सकता कि उसके बल के आधार पर आत्मस्वरूप ज्ञान का विषय-नियम माना जा सके। और विषय-नियम न हो सकने पर आत्मा को सकल वस्तुविषयक मानना होगा जिसका परिणाम यह होगा कि सभी सर्वज्ञ हो पड़ेंगे जैसा कि होते नहीं। इसलिए भी आत्मा को क्षणिक विज्ञानस्वरूप माना जा सकता नहीं।

क्षणिक विज्ञान को आत्मा मानने पर केवल स्मरण और प्रत्यभिज्ञा की ही अनुपपत्ति होगी यह नहीं, इसके अतिरिक्त अन्य भी बहुत-सी अनुपपत्तियाँ आपन्न होंगी।[१३७] उदाहरण के द्वारा इसे यों समझा जा सकता है कि श्याम यदि किसी वस्तु को अपने उपयोग में लाकर उससे उपभोग प्राप्त करता है। उसके उपयोग से अपने को सुखी अनुभव करता है तो उसके अनन्तर बहुत समय के बाद भी उस सुखप्रद रूप में अनुभूत वस्तु के सजातीय वस्तु को देख कर वह उसे पाने की इच्छा करता हुआ पाया जाता है। किन्तु आत्मा को क्षणिक मानने पर अनुभव के अनेक पीछे होने वाली वह उसकी इच्छा नहीं हो सकती। क्योंकि यदि अतीत उक्त सुखानुभव और इस अनेक परवर्ती इच्छा, इन दोनों का समानाधिकरण्य न माना जाय तो किसी भी व्यक्ति को किसी वस्तु के उपयोग से सुखानुभव होने पर अन्य सभी लोगों को भी उस वस्तु के सम्बंध में इच्छाएँ यो उठेंगी, जो कि होती नहीं। और सामानाधिकरण्य का नियम मान्य होने पर उस अनुभविता को क्षणिक कैसे कहा जायेगा? क्योंकि उक्त अनुभव के समय से लेकर और अनेक परवर्ती उक्त इच्छा के समय तक रहने वाले को जब आत्मा माना जायगा तभी उक्त अनुभव और उक्त इच्छा इन दोनों में सामानाधिकरण्य बन सकेगा। और इतने दीर्घ समय तक रहने वाला यदि

---

(१३७) यज्जातीयस्यार्थस्थ सन्निकर्षात् सुखमात्मोपलब्धवान् तज्जातीयमेवार्थं पश्यन्नु पादातुमिच्छति। सेयमुपादातुमिच्छा एकस्यानेकार्थदर्शिनो दर्शनप्रतिसन्धानात् भवन्ती, भवति लिंगमात्मनः। नियतविषये हि बुद्धिभेदमात्रे न सम्भवति देहान्तरवत्।

-न्यायदर्शन वात्स्यायन-भाष्य।

आत्मा को माना जाय, तो क्षणिकत्व-भंग अनिवाय हो उठता है जिसे उक्त बौद्ध लोग किसी भी प्रकार सहन करने के लिए राजी नहीं हो सकते। इसी प्रकार द्वैष की भी अनुपपत्ति होगी। इसे भी उदाहरण के द्वारा यों समझना चाहिए कि श्याम किसी एक वस्तु को अपने उपयोग में लाकर यदि उससे दु:ख का अनुभव करता है और अनेक समय बीत जाने पर भी वह वस्तु दृष्टिपथ पर कदाचित् अकस्मात् आ जाती है तो उस वस्तु में श्याम द्वेष करता है। वह उसे न चाहता हुआ निवृत्त होता है। यह परिस्थिति तब तक उपपन्न नहीं हो सकती जब तक कि उस वस्तु के उपयोग से होने वाले दु:खानुभव और अनेक परवर्ती उस वस्तु में होने वाले द्वेष इन दोनों का आश्रयभूत आत्मा एक न मान लिया जाय। क्षणिकत्व और दीर्घ-काल-स्थायित्व ये दोनों आपस में उसी प्रकार विरोधी हैं जिस प्रकार प्रकाश और अंधकार, अत: एक आत्मा को क्षणिकत्व और दीर्घकाल-स्थायित्व दोनों का समावेश सम्भव नहीं। अत: आत्मा को क्षणिक नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार आत्मा को स्थायी न मानने पर प्रयत्न भी अनुपपन्न हो उठता है। क्योंकि कोई भी व्यक्ति यदि किसी भी वस्तु का उपयोग करके अपने को सुखी अनुभव करता है, बीच में अनेक समयात्यय के अनन्तर भी उस वस्तु को देख कर उसे चाहता हुआ वह अनुभविता उस वस्तु को पाने के लिए प्रयत्न करता पाया जाता है। यह भी परिस्थिति तब तक उपपन्न नहीं हो सकती जब तक कि पूर्ववर्ती सुखानुभव और अनेक पश्चाद्वर्ती तद्व्यक्ति कर्तृक प्रयत्न इन दोनों के आश्रयभूत आत्मा को वहाँ से वहाँ तक रहने वाला एक न माना जाय। इसलिए भी आत्मा को क्षणिक नहीं माना जा सकता है। आत्मा यदि क्षणिक माना जाय तो सुख की भी अनुपपत्ति हो सकती है। क्योंकि किसी मित्र को अनेक दिन के अनन्तर देखने पर द्रष्टा को सुख होता है इसमें विवाद नहीं है। परन्तु आत्मा को क्षणिक मानने पर यह उपपन्न इसलिए नहीं हो सकता कि यदि पूर्ववर्त्ती मैत्री का अनुभव और अनेक परवर्ती सुख दोनों एक आश्रय में ही रहने वाले न माने जायँ तो फिर मित्र को देख कर ही वहाँ सुख क्यों हो? किसी को भी देख कर किसी को भी सुख हो जाय। जैसा कि वस्तुत: होता नहीं। इसलिए इस आपत्ति के वारणार्थ यह मानना ही होगा कि पूर्वतन मैत्री का अनुभव, और पश्चात्तन सुख इनमें एकाश्रितता आवश्यक है। फलत: एक आश्रयभूत आत्मा को स्थायी ही मानना होगा। क्षणिक किसी प्रकार नहीं माना जा सकता।

यदि आत्मा को स्थायी नहीं माना जायगा तो दु:ख की भी अनुपपत्ति होगी। उदाहरण के द्वारा इसे यों समझना चाहिए कि श्याम को यदि किसी ने पहले दु:ख दिया हो तो अनेक दिन के बाद भी उसे देख कर या याद कर उसे दु:ख होता है यह अनुभवसिद्ध है। आत्मा को क्षणिक मानने पर उस दु:ख की उपपत्ति नहीं की जा सकती। क्योंकि तब इससे निष्कर्ष यह निकलेगा कि पूर्व अनुभव और परवर्ती दु:ख इन दोनों का कर्त्ता एक ही हो यह कोई आवश्यक नहीं है। परन्तु ऐसा मान लेने पर किसी को भी अकस्मात् वह दु:ख हो उठेगा। क्योंकि उक्त दु:ख के आश्रय व्यक्ति को उस दु:खद

वस्तु का अनुभव होना ही चाहिए यह नियम तो माना जा नहीं रहा है। अतः यदि इस आपत्ति को हटाना हो कि अन्य व्यक्ति को दुखद वस्तु का अनुभव और अन्य किसी व्यक्ति को दुःख हो जाय, तो यह मानना आवश्यक होगा कि आत्मा क्षणिक नहीं, किन्तु स्थायी है, आत्मा को क्षणिक विज्ञान-स्वरूप मानने पर स्मरण एवं प्रत्यभिज्ञा ये दोनों ज्ञान नहीं बन पायेंगे यह बात पहले बतलायी जा चुकी है।

शून्याद्वैत वादी बौद्ध तो अपने एवं अपने वादों को भी शून्य मानने के लिए बाध्य हैं। अतः उनमें तो आलोचना की पात्रता भी नहीं टिक पाती। शून्यता में ही सारी व्यवस्था भी मानने वाले शून्याद्वैतियों के सम्बंध में सम्भवतः यही कथन उचित होगा कि उनके बाद की आवादी लज्जा को भी लज्जित करने वाली है। यदि उनकी ओर से यह कोई कहे कि शून्य का अर्थ जो अन्य लोग समझते हैं कुछ नहीं होना, वह माध्यमिक-बौद्ध-सम्मत शून्य नहीं है, जिसे कि शून्य समझ कर उन पर छींटाकशी की जाती है। वे तो सत् असत् और सदसत् तथा सदसद्भिन्न इन चारों कोटियों के परे अपने शून्य को मानते हैं। तो इसके विरुद्ध यह भलीभाँति कहा जा सकता है कि वह उनका शून्य सत् आदि चार कोटियों में नहीं समा पाता है, इसलिए वह उक्त चारों कोटियों के परे हैं इस स्वाभिमत तथ्य को वे कैसे सिद्ध कर पायेंगे? क्योंकि शून्य के अतिरिक्त और कुछ भी उनके मत में मान्य न होने के कारण प्रमाण प्रमेय-भाव उनके यहाँ मान्य हो सकता नहीं और मान्य हैं भी नहीं, जिसके आधार पर वे अपने शून्य को उक्त चतुष्कोटिबिनिर्मुक्त[१३८] सिद्ध कर पायें? दूसरी बात यह कि शून्य द्वैत को ही तथ्य भी मानना और उसे उक्त कोटिचतुष्टय से विनिर्मुक्त मानना ये दोनों ही बातें आपस में अत्यन्त व्याहत हैं। क्योंकि यदि कोई किसी को भी किन्हीं वस्तुओं से विनिर्मुक्त कहता है तो उसे उस वस्तु के अतिरिक्त मानता है जिसे कि वह विनिर्मुक्त कहता है। उन वस्तुओं को भी सत्ता अनिवार्य रूप से मान्य आ पड़ती है जिनसे विनिर्मुक्त अपने मान्य को वह कहना चाहता है। इसके अनुसार जब कि अद्वैत शून्य को सत्, असत् आदि चार कोटियों से विनिर्मुक्त कहा जाता है तो शून्य के अतिरिक्त उक्त चार कोटियों की सत्ता भी मान्य हो उठती है, फिर यह कथन कैसे संगत हो सकता है कि शून्य ही है, उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं, है। यदि शून्याद्वैतवादी की ओर से यह कहा जाय कि उक्त चारो कोटियाँ पराभिमत हैं स्वाभिमत नहीं अतः पराभिमत के रूप में उसे लेकर अपने मान्य शून्य को चतुष्कोटि विनिर्मुक्त कहा जा सकता है। तो यह कथन भी इसलिए संगत नहीं हो पायेगा कि तब भी ऐसा कहने वाले को 'पर' और उसकी 'अभिमति' इन दोनों को मान्यता देनी होगी। अन्यथा उक्त सत्, असत् आदि कोटियों को वे 'पराभिमत' भी नहीं कह सकते। ऐसी परिस्थिति में वे कैसे यह कह सकते कि 'पराभिमत रूप में स्वीकृत सत् असत् आदि कोटिचतुष्टय से अपने मान्य शून्य को

---

(१३८) अतस्तत्त्वं सदसदुभयानुभयात्मकचतुष्कोटिविनिमुक्तं शून्यमेव।

—सर्वदर्शन-संग्रह, बौद्धदर्शन।

शून्याद्वैतवादी कह सकता है'? इसके अतिरिक्त यह भी इस सम्बंध में विचारणीय है कि शून्याद्वैतवादी भी अपने मान्य शून्य का प्रतिपादन करते समय यही कहेंगे कि 'शून्य है'। अब यहाँ 'है' इस शब्द के द्वारा किस अर्थ को अभिव्यक्त किया जाने वाला वे मानेंगे? जो उसका सच्चा अर्थ है- 'अस्तित्व' उसका ही प्रतिपादन यदि उक्त 'है' शब्द के द्वारा मानेंगे, तो अपने शून्य को भी वे 'है' कहकर 'सत्' नामक प्रथम कोटि में अन्तर्भुक्त मान बैठेंगे। और यदि उसे सत् नहीं मानेंगे, तो उनका, शून्य के सम्बंध में 'है' यह कथन असंगत हो उठेगा। यदि उनकी ओर से यह कहा जाय कि 'क्या किया जाय कहते समय कहना तो ऐसे ही पड़ता है परन्तु अपने कथन के अनुसार मुझे सचमुच मानना नहीं है, अत: 'है' शब्द से कहे जाने पर शून्य सत् रूप में मान्य नहीं है'। तो ऐसे कहने वाले के लिए किसी भी वस्तु को शून्य कहना और सत् कहना दोनों ही समान हो जाते हैं। क्योंकि जो व्यक्ति स्वयं यह स्पष्ट शब्दों में कह बैठता है कि मैं जो कहता हूँ उसे मानता नहीं और जो मानता, उसे कहता नहीं, तो उसके कथन का भला औरों की दृष्टि में मूल्य ही क्या रह जाता?

एतदतिरिक्त यह भी ध्यान देने की बात है कि उक्त सत् आदि को अन्य-मान्य कहकर भी कैसे शून्यवादी अपने शून्य को उनसे विनिर्मुक्त बतला सकते? क्योंकि तृतीय 'सत् और ससत् और इनसे भिन्न' इस चतुर्थ कोटि को मानने वाला तो कोई दार्शनिक नजर आता नहीं कि उसे 'पर' रूप में लेकर उस चतुर्थ कोटि को तदभिमत रूप में प्रसिद्ध करके शून्य को उससे भी विनिर्मुक्त बतलाया जा सके। अब रह जाती है बात यह कि बुद्ध जैसे सर्वज्ञ महापुरुष ने फिर शून्य का उपदेश क्यों और कैसे दिया? तो इसके उत्तर में अधिकतर लोग तो यही कह बैठेंगे कि इसके सम्बंध में भला कौन-सा प्रमाण उपस्थित किया जा सकता कि बुद्ध सर्वज्ञ थे? बात भी सही है। जो व्यक्ति शून्य के अतिरिक्त और कुछ मानता ही नहीं होगा वह किसी को सर्वज्ञ भी कैसे कह पायेगा? कुछ भी नहीं मानने वाले की दृष्टि में 'सब' कहाँ से आ सकता, और उन सबका ज्ञान कहाँ से आ सकता, और उस सर्व ज्ञान के आश्रय होने के नाते कोई सर्वज्ञ भी कैसे कहा जा सकता? अत: शून्यवादी बौद्ध की सर्वज्ञता की भी दुहाई देने के अधिकारी, अपने शून्यसिद्धान्त के अनुसार नहीं रह जाते। जब उनके वह शिष्य भी उन्हें सर्वज्ञ नहीं मान और कह पाते तो और लोग तो अवश्य ही उन्हें सर्वज्ञ मानने के लिए राजी नहीं हो सकते। वे अनुमिति-प्रत्यक्ष के द्वारा यही अपना सिद्धान्त उपस्थित करेंगे 'बुद्ध सर्वज्ञ नहीं थे क्योंकि वे भी अन्य प्राणियों के समान एक प्राणी ही थे।' उन्हें सर्वज्ञ मानने में एक बड़ी कठिनता यह भी तो स्पष्ट दीख पड़ती है कि वे विरुद्ध भाषी पाये जाते हैं। क्या समग्र संसार को क्षणिक स्वलक्षण और दु:ख कहना और उसे ही सर्वथा शून्य कहना ये कथन परस्पर विरुद्ध नहीं हुए क्या? किसी भी वस्तु को क्षणिक मानने एवं कहने से इतना ही सिद्ध होता है कि वह वस्तु टिकाऊ नहीं है। एक क्षण से अधिक वह रह नहीं सकता। यह नहीं सिद्ध होता कि वह

कुछ है ही नहीं, सर्वथा शून्य है। बौद्ध-सिद्धान्त में किसी भी 'सत्' के लिए ही क्षणिकत्व [१३९] का नियम माना गया है। अतः यदि संसार को क्षणिक कहा जाता है तो इसका स्पष्ट अर्थ यह प्राप्त होता है कि संसार सचमुच सत् है। बौद्ध सिद्धान्त में 'सत्' का अर्थ होता है अर्थक्रियाकारी अर्थात् स्वोत्तरवर्ती किसी-न-किसी को अवश्य उत्पन्न करने वाला। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्रत्येक सांसारिक वस्तु, बौद्ध सिद्धान्त में केवल स्वयं सत् नहीं है किन्तु स्वयं सत् होते हुए अव्यवर्हित उत्तरवर्ती सत् का उत्पादक भी है। इससे बढ़कर संसार की ओर अशून्यता संसार से पूर्ण विरक्त होने वाले बुद्ध और क्या कह सकते थे? किन्तु संसार को क्षणिक कह कर उक्त प्रकार अशून्यतारूप सत्ता का प्रतिपादन करते हुए भी बुद्ध ने यदि उसी सद्भूत संसार के सम्बंध में यह भी कहा कि संसार शून्य है तो ये उनके उपदेश क्या परस्पर विरुद्ध नहीं हुए? सांसारिक प्रत्येक वस्तु को स्वलक्षण कह कर भी तो बुद्ध ने उसे फलतः सत् ही कहा? क्योंकि बौद्ध-सिद्धान्त में निर्विकल्पक ज्ञान ही होता है प्रमात्मक। और जिस ज्ञान में कोई भी वस्तु स्वलक्षण रूप से ही भासती है वह ज्ञान माना जाता है प्रमात्मक, यथार्थ। यथार्थ ज्ञान का विषय भी बौद्ध-मत में यथार्थ ही नियमतः होता है। क्योंकि जब उसका विषय स्वलक्षण ही होगा तो वहाँ अविद्यमान धर्म का विशेषण रूप से उसमें भानप्रयुक्त अप्रमात्मकता की सम्भावना स्वलक्षणमात्र विषयक ज्ञान में कभी सम्भव नहीं होगा। इस दृष्टिकोण से भी बुद्ध को संसार की शून्यता का उपदेश देना नहीं चाहिए था किन्तु उन्होंने एक ओर तो सांसारिक प्रत्येक वस्तु को स्वलक्षण कह कर सत्य कहा और दूसरी ओर उन्होंने प्रत्येक संसार के वस्तु को शून्य कहा। क्या यह भी कथन उनका विरुद्ध नहीं हुआ? इस प्रकार सांसारिक प्रत्येक वस्तु को उन्होंने एक ओर दुःख कह कर सत्यभावात्मक कहा और दूसरी ओर सबको शून्य कहकर असत् कहा अतः यह कथन भी उनका विरुद्ध ही हुआ। इन परिस्थितियों के ऊपर दृक्पात करने पर तो यह मानना होगा कि वे निश्चय विरुद्धभाषी थे। विरुद्ध भाषी व्यक्ति को कभी यथार्थ सर्वज्ञ नहीं कहा जा सकता। अयथार्थ सर्वज्ञ कह सकने पर भी उसका उपदेश ग्राह्य कोटि में नहीं आ पाता। यदि ऐसा यथार्थ सर्वज्ञ माना जाय कि उपदेष्टा व्यक्ति जानता तो सब कुछ सही है परन्तु दूसरों को उसके विपरीत उपदेश देता है तब भी उस व्यक्ति को आप्त नहीं कहा जा सकता, उपदेश-ग्रहण-योग्य नहीं ठहराया जा सकता। इसलिए बुद्धदेव के कथन के आधार पर जगत् को एवं उसके अन्तर्गत आत्मा को शून्य नहीं माना जा सकता। बुद्धदेव के उक्त परस्परविरोधी कथन के सामंजस्यार्थ परवर्ती बौद्ध विद्वानों ने जिस इस मार्ग को अपनाया है कि 'बुद्धदेव ने विभिन्न उपदेश्य की हार्दिक परिस्थिति को ध्यान में रख कर उक्त उपदेश दिये' [१४०] वह भी उन्हें तत्त्वतः एक चतुर लोकसंग्रही बना कर ही छोड़ता है। जिससे सम्भावना इस बात की अधिक हो उठती है

---

(१३९) यत्सत्तत्क्षणिकं यथा जलधरः सन्तश्च भावा इमे।

-सर्वदर्शन-संग्रह एवं मानमेयोदय।

कि उनके ये चारों ही उपदेश आर्य सत्य न हो। इसके अतिरिक्त ही उनका कुछ वास्तविक उपदेश्य था जिसे या तो उन्होंने कहा ही न हो, या कहा भी ही तो लोगों का ध्यान उस ओर नहीं गया हो। इस बात को तो बौद्ध लोग भी मानते ही हैं कि उनकी ऐहिक लीला समाप्ति के समय तक उनका कोई दार्शनिक मतवाद स्थिर नहीं हो पाया था। पीछे बौद्धों के संघ ने उनके उपदेशों का संकलन किया और उसे धर्म के ऊपर दार्शनिक रूप का चोंगा ऊपर से दे डाला। बुद्धदेव पर आस्था रखते हुए यदि तटस्थ भाव से विचारपूर्वक देखा जाय तो प्रतीत ऐसा होता है कि बुद्धदेव का भावनाचतुष्टयोपदेश रहस्यपूर्ण था जिसे उनके अनुयायी लोग ठीक समझ नहीं पाये। जो रहस्य प्रतीत-सा होता है उससे विवेचन के लिए यह स्थान उपयुक्त नहीं। अतः आत्मा को जो कि इस संसार का एक मुख्य सदस्य है शून्य नहीं कहा जा सकता।

अद्वैत वेदान्ती लोगों ने बौद्ध मत सिद्ध क्षणिक आलय विज्ञानधारा और शून्य दोनों के अन्दर किसी को भी आत्मा मानने पर आने वाली आपत्तियों के बाहुल्य को पहचाना। इसलिए सँभल कर क्षणिकता और शून्यता दोनों से सर्वथा अपने को अस्पृष्ट रखते हुए बौद्ध मत को ही परिमार्जित रूप देकर आत्मा के सम्बंध में यह कहा कि नित्य विज्ञान है आत्मा [१४१]। विज्ञान होने के कारण चित् तो वह है ही, साथ ही सत् एवं आनन्द भी है। सत् का अर्थ किन्तु बौद्ध मत के समान 'अर्थ क्रियाकारी' यह नहीं है; किन्तु उसका अर्थ है त्रिकालावाध्य। जिसका कभी बाध न हो, अर्थात् जिसकी निषेध-बुद्धि नहीं हो। ज्ञान और चैतन्य तत्त्वतः एक ही वस्तु होने के कारण आत्मा को अधिकतर चैतन्य कहते हैं। यही एकमात्र वेदान्त-सिद्धान्त में तत्त्व है अतः अन्य सारी दृश्य वस्तुएं उस पर आरोपित मान्य हैं इत्यादि बातें पहले भी बतलायी जा चुकी है। यही चैतन्य अन्तःकरण से अवच्छिन्न होकर कहलाता है प्रमाता जीव। इसे ही वेदान्ती लोग विज्ञानमय कोश भी कहते हैं। प्रमाता के सम्बंध में वेदान्तियों का यह मतवाद भी इसलिए उचित प्रतीत होता नहीं कि चैतन्य जो अन्तःकरण के द्वारा परिच्छेद प्राप्त करता है सो क्यों, कैसे, और कब? इसका सही उत्तर वेदान्तियों की ओर से दिया नहीं जा सकता? जहाँ भी कोई किसी से परिच्छिन्न होता है वहाँ सर्वत्र उस परिच्छेदारम्भ का कोई-न-काई समय होता है जिस समय अवच्छेदक की निष्पत्ति होती है और उस निष्पन्न परिच्छेदक के अस्तित्व-प्रयुक्त वह तदपेक्षया नियमतः व्यापक होने वाली परिच्छेद्य-वस्तु परिच्छिन्न होती है। आकाश

---

(१४०) देशना लोकनाथानां सत्त्वाशयवशानुगाः।
विद्यन्ते बहुधालोक उपायैर्बहुभिः पुनः॥
गम्भीरोत्तान-भेदेन क्वचिच्चोभयलक्षणा।
भिन्ना हि देशना भिन्ना शून्यताऽद्वयलक्षणा॥
-बौधिचित्त-विवरण, सर्व-दर्शन-संग्रह बौद्धदर्शन।

(१४१) नित्य विज्ञानमानन्दं ब्रह्म। *-बृहदारण्यक ३।९।२८।*
सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्य। *तैत्तरीयोपनिषत् २।१।*

दृष्टान्त के द्वारा इसे भली-भाँति समझा जा सकता है। कोई व्यक्ति जब कोई एक मकान बनवा डालता है तो लौकिक दृष्टि से कालतः एवं देशतः अपरिच्छिन्न होने वाला आकाश उस नवनिर्मित घर के द्वारा परिच्छिन्न हो उठता है, सीमित हो उठता है, जब से वह घर के द्वारा अवच्छिन्न अर्थात् सीमा-प्राप्त आकाश गृहाकाश नाम से कहा जाने लगता है। इसी प्रकार जब कि अन्तःकरण के द्वारा ब्रह्मचैतन्य अवच्छिन्न मान्य है, तब यह बतलाना ही होगा कि अमुक परिस्थिति में अन्तःकरण होता है और उसके होने के कारण वह व्यापक चैतन्य अवच्छिन्न हो उठता है, जिसे जीव नाम से पुकारा जाता है। परन्तु यह बतलाना वेदान्तियों के लिए इसलिए अति कठिन है कि यह प्रश्न उत्तर नहीं प्राप्त कर सकता कि अकस्मात् अन्तःकरण कैसे और कहाँ से कब टपक पड़ा, जिससे परिच्छिन्न होकर ब्रह्मचैतन्य जीव कहलाने लगा? यदि वेदान्ती लोग यह कहें कि अन्तःकरण भी माया अविद्या आदि शब्दों से कहे जाने वाले महान् अज्ञान के ही असंख्य खण्ड होते हैं। और वह महान् अज्ञान होता है अनादि इसलिए यह प्रश्न अन्तःकरण और उसकी अस्तिता पर आधारित जीव, ये सभी वेदान्त सिद्धान्त में अनादि मान्य हैं। इसलिए यह प्रश्न नहीं उठाया जा सकता। तो यह उनका कथन इसलिए औचित्य नहीं प्राप्त कर पायेगा कि, किसी गुरु के, जिनके ऊपर कि उपदेश्य की अटूट श्रद्धा हो, कहने से आँख बन्द कर इसे वह उपदेश्य व्यक्ति, श्रद्धा-जाडय-प्रयुक्त मान ले यह बात दूसरी है, परन्तु विवेचक तटस्थ कोई व्यक्ति तो, तर्क की कसौटी पर कस लेने के अनन्तर खरा निखरा पाकर ही उसे मान सकता है: अन्यथा नहीं। वेदान्तियों की ओर से जो ऊपर कहा गया है, जैसा कि वे लोग यह कहते हुए सचमुच मानते है कि- 'जीव, ईश्वर, ब्रह्मचैतन्य, जीव और ईश्वर के बीच होने वाला भेद, अविद्या और ब्रह्मचैतन्य के साथ होने वाला उसका सम्बंध ये छह हम वेदान्तियों के मत में अनादि मान्य है' वह इसलिए नहीं तर्कसंगत प्रतीत हो पाता कि यदि जीव आदि का अनादि अस्तित्व माना जायगा तो जीवात्व अनादि हो उठने के कारण उसकी निवृत्ति कभी सम्भव नहीं हो पायेगी। क्योंकि अनादि भाव कभी निवृत्त नहीं हो सकते। अभावों के अन्दर भी प्रागभाव की मान्यता पक्ष में उसी की केवल निवृत्ति मान्य होती है। भेद कभी नष्ट हो सकता। ऐसी परिस्थिति में छह तात्त्विक मान्य हो उठने के कारण चैतन्यस्वरूप ब्रह्म मात्र का पारमार्थिक अस्तित्व खण्डित हो उठता है। यदि इस पर वेदान्तियों की ओर से यह कहा जाय कि चैतन्यात्मक ब्रह्म को छोड़कर अन्य सारी वस्तुएँ है मायात्मक अज्ञान के परिणाम होने के कारण आज्ञानिक। वह माया ही जब कि वेदान्त सिद्धान्त में तात्त्विक नहीं है, अध्यस्त है, कल्पित है तब उसके परिणामस्वरूप अन्य सभी मायिकों को भी अध्यस्थ ही मानना होगा कल्पित ही मानना होगा। ऐसी परिस्थिति में अन्तःकरण और तदधीन परिच्छिन्नता प्रयुक्त जीवात्व आदि सभी मायात्मक अज्ञान के ही अन्दर अन्तर्भुक्ति के कारण अध्यस्त ही मान्य होंगे, कल्पित ही कहे जायेंगे और अध्यस्त की सत्ता अधिष्ठान की सत्ता के अतिरिक्त और कुछ होती नहीं इसलिए अन्तःकरण, जीव, जीवात्व आदि की भी सत्ता चैतन्यात्मक ब्रह्म की सत्ता से अतिरिक्त

होगी नहीं, अतः उक्त चैतन्य से अतिरिक्त और कोई तात्त्विक सत् नहीं होने के कारण अद्वैत की मान्यता में कोई बाधा नहीं उपस्थित होती है। तो यह कथन भी इसलिए संगत नहीं हो पायेगा कि प्रत्येक कल्पना का यह निश्चित स्वभाव पाया जाता है कि उसका कोई-न-काई कल्पक अवश्य होता है। सीप में चाँदी की कल्पना और माला में सर्प की कल्पना निष्कर्तृक कभी नहीं देखी जाती। फलतः समग्र जगत् के मिथ्यात्वसाधक दृष्टान्त रूप में सारे दृष्टान्त स्थलों में जब कि कल्पनाएँ किञ्चित्कर्त्तृक की होती हुई पायी जाती हैं तब प्राथमिक माया कल्पना को भी किञ्चिकर्त्तृक ही मानना होगा। परन्तु कठिनता यह है कि वहाँ किचित् पद का बोध्य कौन होगा? जीव आदि की तो किसी की अस्तिता उस समय सम्भव कहीं जा नहीं पायेगी। क्योंकि अज्ञानात्मक-माया की कल्पना के पूर्व आज्ञानिक अन्तःकरण आदि की कल्पना किस प्रकार कही जा सकती? इस प्रकार अन्तःकरण की उस समय नास्तिता के कारण तदवच्छिन्नता-प्रयुक्त रूप में आगन्तुक जीवात्व, चैतन्य में रहेगा नहीं कि जीव को प्राथमिक रूप में माया का कल्पक माना जा सके? ब्रह्मचैतन्य को ही स्वयं माया का कल्पक इसलिए नहीं कहा जा सकता कि कल्पक को कल्प्य से अतिरिक्त अज्ञान की भी अपेक्षा प्रत्येक कल्पना के लिए आवश्यक होती हुई पायी जाती है। मूल और कल्पय को कल्पना के सहायक रूप में अपनाया नहीं जा सकता। क्योंकि कल्पना के पूर्व जब कि कल्प्य का अस्तित्व ही नहीं रहता, तब वह कल्पना के होने में कल्पक का सहाय्य कैसे कर सकता? अतः माया को आध्यात्मिक नहीं कहा जा सकता। जिसका परिणाम यह होगा कि माया भी तात्त्विक हो उठेगी। और उसे पारमार्थिक रूप में लेकर द्वैत की आपत्ति अनिवार्य हो उठेगी। इसलिए अन्तःकरण परिच्छिन्न चैतन्य को जीव नहीं कहा जा सकता। और भी एक बात यहाँ ध्यान देने योग्य यह है कि अपरिच्छिन्नता और परिच्छिन्नता इन दोनों में पारस्परिक-विरोध स्पष्टः प्रतीत है। और स्वभाव किसी का बदलता नहीं यह सर्वमान्य है। ऐसी परिस्थिति में चैतन्यात्मक ब्रह्म को यदि अनवच्छिन्न-स्वभाव माना जायगा तो वह सावच्छिन्न नहीं हो पायेगा। और ऐसा न हो पाने पर 'अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य है जीव अतः वही है प्रमाता' यह बात नहीं कही जा सकती। और चैतन्य को सदा सावच्छिन्न स्वभाव मान लेने पर अवच्छेदक को भी पारमार्थिक मानना होगा। जिसका कुफल यह होगा कि द्वैत की आपत्ति अनिवार्य हो उठेगी इसलिए अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य को प्रमाता नहीं कहा जा सकता।

प्रमाता सम्बंधी वेदान्त सिद्धान्त को मान्यता देना इसलिए भी कठिन है कि इस सम्बंध में वेदान्ती लोग स्वयं गृहकलह में आसक्त पाये जाते हैं। क्योंकि अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य की जीवता वेदान्तियों के घर में भी सर्वसम्मत रूप से मान्य नहीं पायी जाती है। मिश्र वाचस्पति का सम्प्रदाय जहाँ उक्त अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य को आत्मा मानता है वहाँ आचार्य पद्मपाद का सम्प्रदाय अवच्छेदवाद का आदर न कर बिम्ब-प्रतिबिम्बवाद का आदर करता हुआ यह कहता है कि अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित चैतन्य है जीवात्मा

और इसलिए वही है प्रमाता।[१४२] इस दल के इस कथन का तात्पर्य यह है कि बिम्बभूत सूर्य चन्द्र आदि के एक होने पर भी जैसे अनेक पात्रों में अवस्थित अनेक जलों में उस एक ही सूर्यात्मक या चन्द्रात्मक बिम्ब के प्रतिबिम्ब एक न होकर जलपात्र की संख्या के अनुसार अनेक हो जाते हैं, विभिन्न प्रतीत होते हैं तद्वत् बिम्बभूत ब्रह्मचैतन्य तत्त्वतः एक होने पर भी विभिन्न जलपात्र स्थानीय अन्तःकरणों की विभिन्नता के अनुसार अन्तःकरणों में पड़ने वाले प्रतिबिम्ब-चैतन्य विभिन्न हो जाते हैं। अनेक हो जाते हैं। ये विभिन्नता प्राप्त प्रतिबिम्ब-चैतन्य ही होते हैं जीवात्मा, जो तत्त्वतः बिम्बचैतन्यरूप ही होते हैं। क्योंकि प्रतिबिम्ब और बिम्ब इन दोनों में तत्त्वतः कोई अन्तर होता नहीं। इस वस्तु स्थिति के अनुसार विभिन्न अन्तःकरण-त्रतिबिम्बित चैतन्य ही कहलाते हैं जीवात्मा। इसलिए वे ही होते हैं प्रमाता। इस प्रकार अवच्छेदवादी और बिम्ब-प्रतिबिम्बवादी वेदान्त-सम्प्रदायों के अंदर प्रमाता के सम्बंध में महान् मतभेद पाया जाता है।

इतना ही नहीं, बिम्ब-प्रतिबिम्बवाद को आदर देने वाले वेदान्तियों के बीच भी प्रमाता के सम्बंध में मतैक्य नहीं पाया जाता है। क्योंकि एक दल जहाँ अन्तःकरणों में प्रतिबिम्बित विभिन्न चैतन्यों को जीवात्मा-मानते हुए उन्हें प्रमाता मानता है, वहाँ दूसरा बिम्ब-प्रतिबिम्बवादियों का दल ऐसा न मान कर एक अविद्या में प्रतिबिम्बित चैतन्य को जीव मानता है। जिसका परिणाम यह निकलना है कि प्रमाता जीवात्मा अनेक न होकर एक ही रह जाता है। क्योंकि प्रतिबिम्ब-स्थानभूत अविद्या एक ही होती है, अन्तःकरण के समान विभिन्न नहीं। अतः इस प्रकार भी प्रमाता जीवात्मा के सम्बंध में अद्वैत-वेदान्तियों के बीच मतभेद पाया जाता है। वेदान्तियों का तीसरा सम्प्रदाय जिसे वार्त्तिककार का सम्प्रदाय कहा जाता है वह इस प्रमाता जीवात्मा के सम्बंध में अपना निर्णय विवेचकों के समक्ष यह उपस्थित करता है कि प्रमाता जीवात्मा न तो अन्तःकरणावछिन्न या अविद्यावछिन्न चैतन्यस्वरूप है और न अन्तःकरण प्रतिबिम्ब चैतन्य या अविद्या में प्रतिबिम्बित चैतन्यस्वरूप है। किन्तु वह अन्तःकरण या अविद्या में प्रतीत होने वाला चैतन्याभासस्वरूप है। आभास और प्रतिबिम्ब में महान् अन्तर यह होता है कि प्रतिबिम्ब जहाँ तत्त्वतः बिम्बात्मक होने के कारण तात्त्विक होता हैं आभास वहाँ तात्त्विक न होकर मिथ्या छाया-स्वरूप होता है। इस प्रकार जब कि वेदान्ती लोग स्वयं प्रमाता के सम्बंध में एकमत नहीं हो पाते आपसी फूट उनकी हटती नहीं तो 'घर फूटे तो आभार लूटे' इस लौकिक कहावत के अनुसार और लोग तो, और वेदान्तवाद को मान्यता नहीं देंगे।

बिम्ब-प्रतिबिम्बवाद और आभासवाद इन दोनों मतों में भी अवच्छेदवाद की तरह जीव की प्राथमिकता की अनुपपत्ति उसी प्रकार अनिवार्य दीख पड़ती है जिस प्रकार

---

(१४२) संक्षेपशारीर के तु 'कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः इतिश्रुतिमनुसृत्याविद्यायां चित् प्रतिबिम्ब ईश्वरः। अन्तःकरणे चित्प्रतिबिम्बो जीवः।

-सिद्धान्तलेशसंग्रह, प्रथम परिच्छेद।

अवच्छेदवादी वेदान्तसिद्धान्त में बतलाया गया है। क्योंकि इन दोनों पक्षों में भी प्रतिबिम्ब या आभास के आधार रूप में इन दोनों वादों की मान्यता पक्ष में भी अन्तःकरण या अविद्या की आवश्यकता अनिवार्य रूप से विवेचकों को प्रतीत होती है। उक्त अन्तःकरण या अविद्या को यदि तात्त्विक, अनादि भाव माना जाय तो उनका विगत सम्भव न हो सकने के कारण द्वैतापत्ति अनिवार्य हो उठती है। और यदि उन्हें भी कल्पित माना जाय तो कल्पना के सहायक रूप में अन्तःकरण अथवा अविद्या का उसके पूर्व भी मानना आवश्यक होगा। फलतः अन्तःकरण या अविद्या भी अनादि भाव मान्य हो जाने पर उसका विगम फिर न हो पायेगा। जिसका कुफल यह होगा कि द्वैत मान्य हो उठेगा। अतः उक्त वेदान्तसम्मत जीवसम्बंधी मतवादों के अन्दर किसी भी मतवाद को किसी प्रकार माना नहीं जा सकता। इसके अतिरिक्त प्रतिबिम्बवादी दृष्टिकोण को इसलिए भी नहीं अपनाया जा सकता कि प्रतिबिम्ब नियमतः किसी भी रूपयुक्त वस्तु का ही होता हुआ पाया जाता है। ब्रह्म को जब कि वेदान्ती लोग सर्वथा रूपरहित मानते हैं तब उसका प्रतिबिम्ब मानना उचित नहीं कहा जा सकता। दूसरी बात यह कि बिम्ब और प्रतिबिम्ब का आधार इन दोनों में व्यवधानरहित कुछ दूरी भी प्रतिबिम्ब पात के लिए अपेक्षित होती हुई पायी जाती है, जो कि ब्रह्म के लिए सर्वथा असम्भव है। क्योंकि वह ब्रह्म प्रतिबिम्बाधार अन्तःकरण और माया इन दोनों में वेदान्तियों को अनुस्यूत रूप में ही मान्य है। यद्यपि बिम्ब-प्रतिबिम्बवादी वेदान्तियों ने इन दोनों आपेक्षों के उत्तर देने की चेष्टाएँ की हैं परन्तु वह उचित नहीं प्रतीत होता। नीरूपता के सम्बंध में उन्होंने यह कहा है कि नीरूपता प्रतिबिम्ब का बाधक नहीं हैं। क्योंकि रूप का प्रतिबिम्ब होता हुआ पाया ही जाता है। लाल फूल और स्वच्छ स्फटिक को आसपास रख देने पर फूल की लालिमा का प्रतिबिम्ब स्फटिक पर पड़ता हुआ पाया जाता है। लालिमात्मक रूप में कोई अन्य रूप तो होता नहीं कि उस लालिमा को नीरूप नहीं कहा जा सके। परन्तु लालिमा का प्रतिबिम्ब स्फटिक में होता ही है। तदनुसार नीरूप चैतन्यात्मक ब्रह्म का भी प्रतिबिम्ब माया और अन्तःकरणों में क्यों नहीं माना जा सकता? परन्तु यह उत्तर नैयायिकों और वैशेषिकों के मुखमुद्रण के लिए भले ही उपयुक्त हो पाये, किन्तु चार्वाकीय-दृष्टिकोण के निकट यह उत्तर उपयुक्त नहीं हो सकता। क्योंकि इस दृष्टिकोण के अनुसार गुण और गुणी एक ही होने के कारण उक्त लाल पुष्प का ही प्रतिबिम्ब स्फटिक पर पड़ता है लालिमा का नहीं। फूल लाल होने के कारण रूपयुक्त भी होता है नीरूप नहीं। उक्त द्वितीय आक्षेप के निराकरण में उक्त बिम्ब-प्रतिबिम्बवादी वेदान्ती यह कहते हैं कि थोड़े से जल में भी साभ्र-नक्षत्र आकाश का प्रतिबिम्ब पड़ता हुआ पाया जाता है। आकाश व्यापक होने के कारण प्रतिबिम्बाधार जल में भी रहता ही है। फिर भी उसका प्रतिबिम्ब जल में पड़ता है। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्रतिबिम्ब-पात के लिए बिम्ब और प्रतिबिम्बाधार इन दोनों में दूरी अपेक्षित नहीं है। परन्तु यह उनका कथन इसलिए उचित नहीं प्रतीत होता कि वस्तुतः

प्रतिबिम्ब मेघ एवं नक्षत्रों का ही पड़ता है उस जल में। मेघ और नक्षत्र की दूरी नियमतः ज्ञात रहने के कारण द्रष्टा को वह दूरत्व जल का ऊपरी भाग एवं आधारभूत पात्र या निम्मवर्ती भू-भाग इन दोनों के बीच अन्यथा-ख्यात हो जाता है। इसीलिए जल में अधिक गहराई न होने पर भी गहराई प्रतीत होती है। इसलिए यह दृष्टान्त ब्रह्म और माया या अन्तःकरणों के बीच बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव का स्थापक नहीं हो पाता। और यह भी एक बात उक्त वेदान्तियों के विरुद्ध ध्यान देने योग्य हैं कि प्रतिबिम्ब ऐसे ही आधार में सम्भव होता है जो कि नियमतः स्वच्छ हो। माया एवं अन्तःकरण को अज्ञानात्मक भाव-पदार्थ मानते हुए भी वेदान्ती लोग उसे बाह्य अन्धकार स्थानीय आन्तर अन्धकार मानते है और इसीलिए बाह्य अन्धकार को भी अतिरिक्त एक द्रव्य मानने एवं मानने के लिए अथक परिश्रम उन लोगों ने किया है। परन्तु माया एवं अन्तःकरणों को बाह्य अन्धकार जातीय मान लेने पर उसमें प्रतिबिम्ब ग्रहण की योग्यता नहीं मानी जा सकती। क्योंकि बाह्य अन्धकार में पड़ता हुआ किसी का प्रतिबिम्ब पाया जाता नहीं। आभास-वाद भी इस आलोचना से आलोचित हो जाता है। क्योंकि छायात्मक आभास भी बाह्य अन्धकार पर होता हुआ पाया जाता है नहीं। इसीलिए भी जीव को एक अविद्या या अनेक अन्तःकरणों में पड़ने वाला ब्रह्मचैतन्य का प्रतिबिम्ब या आभास नहीं माना जा सकता।

सांख्य और योग दर्शन-सम्बंधी-सिद्धान्त जीवात्मा के सम्बंध में इसलिए नहीं अपनाया जा सकता कि ये दोनों दर्शन भी जीवात्मा को चैतन्यस्वरूप अर्थात् नित्यज्ञानस्वरूप ही मानते है। विचार करने पर यह इसलिए उचित प्रतीत नहीं होता कि कोई भी व्यक्ति कभी अपने सम्बंध में ऐसा नहीं सोचता या समझता है कि 'मैं ज्ञान हूं'। प्रत्येक व्यक्ति, या यों कहा जाय कि प्रत्येक प्राणी, अपने सम्बंध में यही प्रतीति करता है कि 'मैं समझता हूं, मैं जानता हूँ'। इस सर्वसाक्षिक प्रतीति के आधार पर यही निर्णय प्राप्त होता है कि आत्मा ज्ञान न होकर ज्ञान वाला है। सांख्यसम्मत जीव सिद्धान्त के सम्बंध में यह भी एक बात उसके प्रतिकूल रूप से ध्यान देने योग्य है कि वहाँ जीवात्मा को दो रूप में विभक्त किया गया है एक बद्ध और दूसरा मुक्त जो कि उनके सिद्धान्त के अनुकूल नहीं है। बद्ध जीवों को कहा गया है प्रकृतिसेवी और मुक्तों को प्रकृति-त्यागी। यह सम्भव वहाँ इसलिए नहीं है कि सत्कार्यसिद्धान्त में स्वभाव परिवर्तन सर्वथा अमान्य है। इसलिए तो सांख्य की ओर से वकालत करते समय मिश्र वाचस्पति ने यह कहा है कि 'सचमुच नील होने वाले हजारों शिल्पी पीत नहीं कर सकते'। ऐसी परिस्थिति में जो जीव पहले बद्ध रूप से मान्य है वह पीछे मुक्त कैसे हो सकता है? दूसरी बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि ईश्वर कृष्ण ने अपनी सांख्यकारिका में यह स्पष्ट कहा है कि पुरुष [१४३] तत्त्वतः न तो बद्ध होता है और इसीलिए न मुक्त। बद्ध और मुक्त तो होती है प्रकृति अर्थात् बुद्धितत्त्व।

(१४३) तस्मान्न बद्ध यतेऽद्धा न मुच्यते नाऽपि संसरति कश्चित्।
संसरति बद्धयते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः। —सांख्य कारिका।

इस सिद्धान्त के अनुसार कैसे पुरुष को प्रकृति-सेवी एवं प्रकृति-विरक्त कहा जा सकता है? जैसा कि मिश्र वाचस्पति ने अपनी तत्त्व-कौमुदी के मंगल पद्य में कहा है वैदिक मन्त्र के ही कुछ पदों को बदल कर। दूसरीबात यह कि सांख्यसिद्धान्ती लोग पुरुष को कर्त्ता मानते नहीं, तदनुसार उसके सम्बंध में कर्त्तृवाची शब्द का प्रयोग हो सकता नहीं। किन्तु इस आशय का वाक्य प्रयोग सांख्यसिद्धान्त में भी किया गया पाया ही जाता है कि 'अज पुरुष अजा प्रकृति का ग्रहण और त्याग करता है'। वाक्य-प्रयोग के अनुरूप प्रतीति का आकार और उसके असुरूप वस्तु की मान्यता मान्य न होने पर तो किसी वस्तु का स्वरूप निर्णय असंभव हो उठेगा। अतः वाक्य-प्रयोग प्रतीति और वस्तु-सत्ता इनमें सामंजस्य मानना ही होगा। और भी ध्यान देने योग्य बात यह है कि बुद्धि और पुरुष इन दोनों में पारस्परिक छायापत्ति सांख्यसिद्धान्त में मान्य है जो कि पुरुष की असङ्गता के सर्वथा प्रतिकूल ही कहा जायगा। यदि बुद्धि में पुरुष की छायापत्ति के समान पुरुष में बुद्धि की भी छायापत्ति होती है तो मानना ही होगा कि ये दोनों एक ही तरह के हैं। ऐसी परिस्थिति में यह कहना कैसे संगत कहला सकता कि जड़ प्रकृति की प्रथम पुत्री होने के कारण बुद्धि भी जड़ है और प्राकृत न होंने के कारण पुरुष है प्रकाशस्वरूप। दो समान-स्वभाव वस्तु में भेद के अतिरिक्त इस प्रकार अत्यन्तर उचित नहीं कहा जा सकता। अन्य एक और ध्यान देने की बात यह है कि सांख्य सिद्धान्त में बुद्धि की सत्ता से पुरुष को बन्धात्मक संसार विद्यमान रहता है और बुद्धि की असत्ता में उसको मुक्ति हो जाती है। और मुक्ति हो जाने पर फिर वह बद्ध नहीं हो सकता। इस प्रकार की मान्यता जो कुछ लोगों ने व्यक्त की है उसकी संगति इसलिए नहीं बैठती कि अपने परिणामी मूल प्रकृति से बुद्धि अकस्मात् क्यों और कैसे निकल आती और कैसे फिर उसमें विलीन हो जाती? यदि यों ही अकस्मात् यह प्रकृति का विलास हो, तो वह विलास मुक्ति के अनन्तर फिर नहीं होगा कि बुद्धि प्रकृति से निकल पड़ेगी, यह नियम किस आधार पर माना जाय? सत्कार्यवादी-दृष्टिकोण से उचित रूप में मान्य तो यही कहा जायगा कि स्वभाव-परिवर्त्तन नहीं हो। और इसे मान्यता देने पर एक विलय के अनन्तर पुनः अपने परिणामी से बुद्धितत्त्व का आविर्भाव नहीं होगा, यह निर्णय किसी प्रकार नहीं किया जा सकता। और ऐसा होने पर आत्यन्तिकी दुःख निवृत्ति कैसे मिल सकती? क्योंकि आत्यन्तिक तो वही निवृत्ति दुःख की कहला सकती जिसके अनन्तर निवर्त्त्य का पुनः आविर्भाव न हो। प्रमाता के सम्बंध में सांख्य का सिद्धान्त इसलिए भी मान्यता प्राप्ति में दुर्बल जाता है कि उसे सदाचार से कोई भी सम्बंध प्राप्त नहीं होता। जनता ऐसे प्रमाता को मान्यता देकर भला क्या लाभ उठा सकता जिसका ऐहिक सुव्यवस्थित सत् जीवन से कोई सम्बंध नहीं प्रतीत होता हो।

न्याय वैशेषिक सिद्धान्त यद्यपि प्रमाता के सम्बंध में कुछ चार्वाकीय-दृष्टिकोण की ओर अग्रसर होता हुआ देखा जाता है। क्योंकि वह प्रमाता को ज्ञानस्वरूप न मान कर ज्ञाता मानता है। इन दोनों दार्शनिकों के सिद्धान्त में 'प्रमाता' यह शब्द जीव के लिए

चरितार्थ होता-सा दिखाई देता है। वह प्रमा न होकर प्रमात्मक ज्ञान का कर्त्ता माना जाता है। फिर भी चार्वाकीय-दृष्टिकोण उसे अपना इसलिए नहीं सकते कि वे दोनों ही दार्शनिकसिद्धान्त प्रमाता को अभौतिक मानते हैं। जब कि हम संसार में कोई भी ऐसी वस्तु नहीं पाते है जो कि अभौतिक हो, तो प्रमाता को कैसे अभौतिक मान सकते? चार्वाकीय-दृष्टि में भूत शब्द का अर्थ है यथार्थ, सत्य, यह बात पहले भी बतलायी जा चुकी है। तदनुसार भौतिक का अर्थ होता है तात्त्विक। यदि प्रमाता-जीव को अभौतिक मानने का आग्रह किया जाता है तो इसका स्पष्ट अर्थ यही हो उठता है कि आत्मा को अतात्त्विक माना जाय। परन्तु नैयायिक एवं वैशेषिक लोग इसके लिए भी राजी नहीं हो सकते कि प्रमाता-जीव अतात्त्विक है। क्योंकि उक्त दोनों ही सिद्धान्त प्रमाता को नित्य मानते हैं। भूतगत चैतन्य की स्फुटता और अस्फुटता के आधार पर होने वाले जड़ और अजड़ रूप में सांसारिक वस्तुओं के विभाजन की ओर ध्यान देने पर चैतन्य और अचैतन्य रूप में होने वाला विभाजन कथञ्चित्, विवेचकीय दृष्टिकोण में मान्यता प्राप्त कर सकता है। और उन दोनों के अन्दर चैतन्य को ही प्रधानता देना कथचित् सम्भव है जिसे अपनाकर बौद्ध वेदान्त सांख्ययोग एवं सिद्धान्त की प्रवृत्ति होती है। परन्तु अनुभूयमान जड़ और अजड़ इन दोनों से अतिरिक्त आत्मा का अस्तित्व युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता। नैयायिक वैशेषिक सिद्धान्त-सम्मत-प्रमाता जड़ इसलिए नहीं हो पाता कि वह भूतात्मक नहीं माना जाता। भूत से अतिरिक्त कोई भी जड़ जबकि बिलकुल दृष्टिगोचर नहीं है तो किसे दृष्टान्त रूप से अपना कर प्रकृत प्रमाता को जड़ कोटि प्रविष्ट अथच भूतों से अतिरिक्त माना जायगा? इसी प्रकार ज्ञानात्मक अनुभूयमान चैतन्य के अतिरिक्त जब कोई अजड़ अनुभवसिद्ध नहीं है तब किसे दृष्टान्त बनाकर अनुमान के द्वारा भी यह सिद्ध किया जा पायेगा कि आत्मा चैतन्य से अतिरिक्त अजड़ है। यदि यह कहा जाय कि भूतात्मक अनुभूयमान जड़ को दृष्टान्त बना प्रमाता में चैतन्य भिन्नता की सिद्धि की जा सकती है और चैतन्य को दृष्टान्त बना कर भूतभिन्नता स्वरूप अजड़ता की सिद्धि प्रमाता में की जा सकती है। तो यह कथन भी इसलिए संगत नहीं कहला पायेगा कि केवल दृष्टान्त मात्र से तो साध्य की सिद्धि होती नहीं है। दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक दोनों में अनुभूयमान एक ऐसा धर्म मिलना चाहिए जो कि अपने में प्रकृति साध्य के व्यभिचार का आधान कर सके। किन्तु प्रकृत में ऐसा कोई अनुमापक हेतु प्रमाता में रहने वाला नहीं पाया जा सकता जो कि जड़त्व या अजड़त्व का व्यभिचारी होता हुआ उसमें रहने वाला पाया जा सके। यह तो हुई साधारण जनों के अनुभव के आधार पर सिद्ध होने वाले जागतिक समग्र वस्तुओं को चैतन्य और अचैतन्य इन दो प्रभेदों को मान्यता देकर की जाने वाली बात। चार्वाकीय-सूक्ष्म-दृष्टिकोण को अपनाने पर तो भूत और चैतन्य ये दोनों तत्त्वतः अलग कोई वस्तु ही नहीं है इसलिए इस दार्शनिक दृष्टिकोण के निकट तो यह बात बिलकुल उठाई नहीं जा सकती कि प्रमाता चैतन्य और अचैतन्य दोनों से अतिरिक्त है। एक बात यह अवश्य ध्यान देने योग्य है कि नैयायिक एवं वैशेषिक दार्शनिक-गण यदि इस बात पर राजी हो जायँ कि गुण और गुणी

में कोई तात्त्विक भेद नहीं होता अर्थात् इन दोनों की पृथक सत्ता नहीं होती, और प्रमाता भी भूत ही है तब उनके प्रमाता से चार्वाकीय-दृष्टिकोण को कोई वैमत्य नहीं रह जाता। परन्तु ऐसा मानना नैयायिक और वैशेषिक दोनों ही दार्शनिकों के लिए इसलिए सर्वथा असम्भव है कि वे लोग स्वमान्य मुक्ति के समय प्रमाता को सर्वथा चैतन्यरहित मानते हैं। और साथ ही वे अपने प्रमाता को भूतात्मक भी मानने के लिए राजी नहीं हो सकते। इसी प्रकार चार्वाकीय-दृष्टिकोण भी प्रमाता को अभौतिक मानने के लिए एवं भूतों का अस्फुट चैतन्य से भी सर्वथा रहित किसी भी समय मानने के लिए राजी नहीं हो सकता।

इस विवेचन से कर्म-मीमांसकों एवं जैनों की प्रमाता सम्बंधी धारणा भी बहुत कुछ विवेचित हो गयी, लोगों को प्रतीत होगी। क्योंकि मीमांसक एवं जैन दार्शनिक भी प्रमाताओं को बहुत कुछ नैयायिक और वैशेषिकों के समान ही मानते हैं। क्योंकि नैयायिक वैशेषिक सम्मत मुक्ति की धारणा केवल मीमाँसकों और जैनों को रुचती नहीं। शरीर से अतिरिक्त और इसीलिए सर्वथा अभौतिक प्रमाताओं को मीमाँसक एवं जैन दार्शनिक उसी प्रकार मानते हैं जिस प्रकार नैयायिक और वैशेषिक लोग। फलतः न्याय और वैशेषिक सम्बंधी दृष्टिकोण की तरह चार्वाकीय-दृष्टिकोण प्रमाता सम्बंधी मीमांसक एवं जैनों के दृष्टिकोण का भी आदर करने में सर्वथा असमर्थ है।

प्रकाशाद्वैतवादी शैवसिद्धान्त यद्यपि भूत और चैतन्य इन दोनों में अन्तर नहीं मानता है और व्यावहारिक जगत् को अद्वैत-वेदान्त के समान अपारमार्थिक मिथ्या एवं अनिर्वचनीय नहीं मानता, अतः उसके मत का विश्लेषण करने पर उसे भी एक प्रकार से भेदसहिष्णुअभेद ही मानना पड़ेगा। इन सब दृष्टियों से प्रकृत चार्वाकीय-दृष्टि के वे अतिनिकटवर्ती प्रतीत होते हैं। फिर भी प्रमाता सम्बंधी दृष्टिकोण उनका यहाँ इसलिए आदृत नहीं हो सकता कि वे जीवनकाल में भी प्रमाता को सर्वथा अभौतिक एवं ईश्वर रूप ही मानते हैं। एक तरह से देखा जाय तो शैव-लोग प्रकाशात्मक ईश्वर के अतिरिक्त प्रमाता मानते ही नहीं। यों तो वे कहने के लिए अपने को [१४४] दास्य-भक्त कहकर ही गौरवान्वित करना चाहते हुए पाये जाते हैं। परन्तु विवेचन की गहराई तक पहुंचने पर उनका दास्य भी हवाई मिठाई से अतिरिक्त और कुछ रह नहीं पाता। क्योंकि वह दास्य यदि उस प्रकाश समुद्रस्वरूप से अलग हो जाय तो उनका प्रकाशाद्वैत ही गड़बड़झाले में पड़ जाय। कहने का तात्पर्य यह है कि अद्वैतगत भेदसहिष्णुता के अन्दर आने वाले भेद को वे चार्वाकीय दृष्टिकोण की तरह तात्त्विक मानते नहीं। कल्पित ही मानते हैं। अतः उनका वह दास्य भी जो कि तत्त्वतः भेदाश्रित ही हो सकता है कल्पित ही मान्य होगा। सम्भव है कि यहाँ पर अन्य कुछ लोग यह प्रश्न उपस्थित करें कि शैव सिद्धान्त में तो रामानुज सम्प्रदाय की तरह सत्ख्याति ही मान्य होती है। ऐसी परिस्थिति में भेद को कल्पित कैसे कहा जा सकता? तो

---

(१४४) कथञ्चिदासाद्य महेश्वरस्य दास्यं परस्थाप्युपकारमिच्छन्। समस्तसम्पत्समवाप्तहेतु तत्प्रत्यभिज्ञा-मुपपादयामि। १॥ -उत्पलदेव, *इश्वर प्रत्यभिज्ञा, ज्ञानाधिकार।*

इसके उत्तर में वक्तव्य यह समझना चाहिए कि कल्पनात्मक कल्पितत्त्व भी तत्त्वतः प्रकाश से अतिरिक्त होता नहीं इसलिए सारी वस्तुएँ प्रकाशाद्वैत के गर्भ में ही आ जाती है। इस प्रकार प्रकाशात्मक संवित् से अतिरिक्त और कुछ भी मान्य न होने के कारण प्रमाता भी अलग कुछ तत्त्वतः हो नहीं सकता। क्योंकि जिस मल के सम्पर्क प्रयुक्त शैव लोग प्रमाता को कथचित् भिन्न सिद्ध करते है वह भी तो प्रकाशात्मक संवित् से अलग कुछ उनके मत में अलग मान्य नहीं।

जैनों के प्रमाता का आदर इसलिए भी नहीं किया जा सकता कि उनके सिद्धान्त में प्रमाता रबड़ की तरह सकोच विकासशील माना जाता है। यह इसलिए कि हाथी गैंडे आदि विशाल जन्तु शरीरों में एवं क्षुद्रातिक्षुद्र कीटाणु शरीरों में भी पूर्ण रूप से रह सके और प्रवेश कर सके। परन्तु इस प्रकार जब कि प्रमाता को पूर्ण शरीर परिमाण ही माना जाता है तब शरीर को ही प्रमाता क्यों न मान लिया जाय। शरीर के अतिरिक्त शरीर परिमाण प्रमाता क्यों माना जाय? रही बात जन्मान्तर की तो वह पहले उपपादित हो चुकी है। कहा जा चुका है उपनिषद् वर्णित पंचाग्नि-विद्या के आधार पर पूर्व पश्चात् भावी दो शरीरों को भौतिक सम्बंध भी जोड़ा जा सकता है। पूर्व परवर्त्ती दो शरीरों के बीच जब कि एक लिंग शरीर का सम्बंध साङ्ख्य एवं वेदान्त दोनों ही मानते हैं तब लिंग शरीर के अन्दर सूक्ष्म भूतों का सम्बंध और लोगों के मत में भी मान्य होने के कारण भौतिक सम्बंध के द्वारा जन्मान्तर का उपपादन बहुमति को भी प्राप्त करता ही है। नैयायिक एवं वैशेषिक लोग यद्यपि लिंग शरीर मानते नहीं इसलिए उक्त प्रकार भौतिक ही सम्बंध स्थापित करके जन्मान्तर का सम्बंध उनके मत में अनुमोदित हो सकता नहीं तथापि उनकी ओर से इस प्रकार जन्मान्तर सम्पादन का अत्यन्त विरोध इसलिए नहीं किया जा सकता कि रघुनाथ शिरोमणि और उनके अनुगामी नैयायिक एवं वैशेषिक गण मन को अभौतिक न मान कर लाघववश भौतिक ही मानते हैं ऐसी परिस्थिति में यह मानना ही होगा कि उनके घर का भी एक दल दो शरीरों के बीच एक भौतिक सम्बंध मानता है। यदि यह कहा जाय कि मन भौतिक होने पर भी एक शरीर से अन्य शरीर में मन की गति मान्य नहीं है। अतः दो शरीरों के बीच भौतिक सम्बंध प्राप्त नहीं होता है। इसके उत्तर में वक्तव्य यह होगा कि इस पूर्व शरीर से परवर्त्ती शरीर में एक मन की गति नहीं मानी जायेगी तो यह मानना होगा कि वहाँ के ही किसी भौतिक रेणु को या सावयव भूत को मन रूप में ग्रहण करना होगा। परन्तु वहाँ विद्यमान असंख्य भौतिक रेणुओं के अन्दर किसे मन माना जाय? इसका निर्णय कठिन होगा। अतः यही मानना उचित होगा कि उक्त औपनिषद पद्धति से जो भौतिक शरीरान्तर तक जायगा उसे ही मन माना जाय। ऐसी परिस्थिति में न्याय वैशेषिक मत में भी यह मान्य हो ही आता है कि भौतिक-सम्बंध पूर्व और पर दोनों शरीर में होता है। जब विविध दार्शनिक सिद्धान्तों से यह मान्य रूप में प्रतीत होता है कि जन्मान्तर भौतिक-सम्बंध के आधार पर भी स्थापित हो सकता है तब क्यों न इस शरीर को ही प्रमाता माना

जाय? इसे प्रमाता मान कर भी 'कृतहान' और 'अकृत-अभ्यागम' का जिस प्रकार निराकरण चार्वाक-दृष्टिकोण में भी सम्भव हो सकता है उसका वर्णन पहले किया जा चुका है।

गम्भीर-भाव से चिन्तन करने पर शरीरात्मवाद के स्थान पर बहुत प्रकार युक्तियाँ विचारपथ पर विचरण करती हुई पाई जाती हैं। प्रथम यह कि पाप और पुण्य ये दोनों कर्मात्मक ही होते हैं, चेष्टात्मक ही होते हैं। चेष्टा इस शरीर का धर्म है अन्य किसी का नहीं। इस दृष्टिकोण से उस चेष्टात्मक धर्म और अधर्म का फल भी इस शरीरात्मा को ही होना चाहिए और को नहीं। क्योंकि ऐसा न मानने पर कारण और कार्य इन दोनों का अपेक्षित सामानाधिकरण्य बन नहीं पायेगा जिसका कुफल यह होगा कि कृतहान और अकृत-अभ्यागम आपन्न हो उठेगा। कहने का तात्पर्य यह कि श्याम यदि खड्ग आदि किसी भी अस्त्र के प्रहार से राम को आहत करता है, प्राणवियुक्त बना देता है तो अस्त्र प्रहारात्मक पाप अवश्य श्याम शरीर का धर्म होता है मन या अतिरिक्त रूप में अन्य मान्य आत्मा का नहीं। अतः उस पाप का फल शरीरात्मा को ही मिलना उचित है अन्य किसी को नहीं। अतः शरीर को ही आत्मा फलतः प्रमाता मानना चाहिए। यदि पापी माना जाय शरीर को और उसके फलस्वरूप दुःखी माना जाय शरीरातिरिक्त अमूर्त्त आत्मा को, तो यह कदापि उचित नहीं कहा जा सकता। शरीर को ही प्रमाता मानने पर पाप एवं पुण्यात्मक आचरण और तत्प्रयुक्त फलोपभोग दोनों एक ही शरीर-व्यक्ति को होता है जो कि सर्वथा उचित प्रतीत होता है। पापता और पुण्यता ये दोनों कर्म के ही धर्म है अतिरिक्त आत्मधर्म के नहीं, इस बात को नैयायिक, वैशेषिक एवं मीमाँसक तीनों ही दार्शनिक मानते हैं। महर्षि गौतम ने कहा है कि 'प्रवृत्ति अर्थात् पुण्य एवं अपुण्य ये दोनों वागारम्भ, बुद्ध्यारम्भ एवं शरीरारम्भ इस प्रकार तीन भागों में विभक्त होते हैं। यहाँ आरम्भ शब्द क्रिया अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। चार्वाक-सिद्धान्त में वाणी और बुद्धि भी तत्त्वतः भौतिक का धर्म ही होने के कारण वागारम्भ और बुद्ध्यारम्भ भी फलतः शरीरारम्भ ही हो जाते हैं। मीमांसक मत तो याग आदि क्रियाओं को धर्म कह कर स्पष्ट रूप से ही अपनी ओर से यह मान्यता व्यक्त की है कि चेष्टा ही धर्म है। और चेष्टा भौतिक शरीर का ही धर्म है यह निर्विवाद है। इसलिए नैयायिकों एवं वैशेषिकों ने शरीर का लक्षण कहते हुए यह बतलाया है कि 'चेष्टा का आश्रय है शरीर' इन सारी बातों से यह प्राप्त होता है कि धर्म और अधर्म भौतिक शरीर का ही धर्म है। ऐसी परिस्थिति में यदि शरीर को प्रमाता न मानकर उससे अतिरिक्त प्रमाता माना जाय तो फल और उसके उपाय इन दोनों में सामानाधिकरण्य-नियम नहीं बन पायेगा। इसलिए भी भौतिक शरीर को ही आत्मा मानना चाहिए। यदि यह कहा जाय कि आचरणात्मक धर्म शरीरगत होने पर भी परम्परा-सम्बंध से मान्य अतिरिक्त आत्मगत भी हो सकता है। इसलिए अतिरिक्त आत्मा में भी पाप और पुण्य एवं उनके दुःख-सुखात्मक कार्य का सामानाधिकरण्य बन सकता है। और इसके अनुसार कृतहान

और अकृत-अभ्यागम दोषों का वारण अतिरिक्त आत्मा के मान्यता पक्ष में भी होता ही है। अत: यह नहीं कहा जा सकता कि 'कृतहान' और 'अकृत-अभ्यागम' इन दोनों दोषों की आपत्ति के कारण शरीर को ही प्रमाता माना जाय। तो इसके उत्तर में वक्तव्य यह समझना चाहिए कि सम्बंध को परम्परात्मक मानने पर व्यावहारिक बड़ी अव्यवस्था सिर पर आ गिरती है। क्योंकि परम्परा को सम्बंध मान लेने पर किसका अस्तित्व कहाँ नहीं हो उठेगा। उदाहरण द्वारा इसे यों समझा जा सकता है कि सांसारिक प्रत्येक वस्तु किसी-न-किसी नाम से पुकारे जाने के कारण होता है वाच्य। इसलिए वाच्यता सर्वत्र विद्यमान हो जाती है। सुतरां इस वाच्यत्य-सम्बंध से जहाँ जिसको रखना चाहा जाय वहाँ उसे अनायास रखा जा सकेगा। और ऐसा होने पर व्यावहारिक अव्यवस्था इस प्रकार होगी कि अपराधीगत अपराध अभियोक्ता और निर्णायक न्यायाधीश पर भी जा डटेगा। दण्डविधान अनुपपन्न हो उठेगा। इसलिए परम्परात्मक सम्बंध मान कर अतिरिक्त आत्मा में कर्म और कर्मफल इन दोनों का सामानाधिकरण्य बनाया जा सकता है यह नहीं कहा जा सकता। शरीर को आत्मा फलत: प्रमाता मान लेने पर यह आपत्ति आती नहीं। क्योंकि परम्परात्मक सम्बंध की अमान्यता प्रयुक्त कर्मात्मक पुण्य एवं अपुण्य ये दोनों शरीर में ही रहेंगे और फलभोग भी उसे ही होगा। जो लोग शरीर के अतिरिक्त आत्मा के ही अस्तित्व में विश्वास रखते हैं उन्हें भी दाण्डिक विचार-क्षेत्र के अन्दर तो शरीर को ही वह मानना होगा। क्योंकि दण्ड शरीर को मिलता है, और को नहीं। साङ्ख्यसिद्धान्त लिया जाय तो उसमें प्रत्येक आत्मा सर्वथा असंग होता है, निर्लेप होता है उसे भला क्या दण्ड दिया जा सकता है?

वेदान्त सिद्धान्त की भी यही परिस्थिति है। गीता में अर्जुन से यह कहा गया है कि आत्मा न किसी को मारता है और न मारा जाता है। इसका सारांश भी तो यही होता है कि आत्मा निर्विकार कूटस्थ नित्य है। तो ऐसी आत्मा को भला क्या दण्ड दिया जा सकता है और क्या वह अपराध का भागी हो सकता है? अत: व्यावहारिक सुव्यवस्था के लिए दण्ड की अपेक्षा मान्य होने पर दाण्डिक क्षेत्र के लिए तो कम-से-कम शरीर को ही आत्मा मानना होगा। उसे ही प्रमाता मानना होगा। भारतीय धार्मिक परम्परा के अन्दर मूर्ति की पूजा बराबर होती चली आ रही। यह मूर्ति शरीर की ही हो सकती है अतिरिक्त आत्मा की नहीं। इस दृष्टिकोण से भी शरीर को ही आत्मा मानना उचित प्रतीत होता है। क्योंकि पूज्यता उसे ही प्राप्त होनी चाहिए जो कि साररूप से मान्य हो। श्रेष्ठ रूप से मान्य हो। यदि शरीर को आत्मा न मान कर शरीर से अतिरिक्त आत्मा में ही विश्वास किया जाय तो मूर्ति की पूज्यता नहीं प्राप्त हो सकती। क्योंकि वह प्रातिनिध्य शरीर का ही करती है, शरीर से अतिरिक्त आत्मा का नहीं श्रेष्ठ मानना और आत्मा मानना यह एक ही बात है। ऐसी परिस्थिति में यदि शरीर को आत्मा न ही माना जाता है तो उसमें श्रेष्ठता नहीं मानी जाती है। और श्रेष्ठता नहीं मानी जाने पर उसके प्रतिनिधिभूत मूर्ति में कैसे श्रेष्ठता समझी जा सकती? श्रेष्ठता नहीं समझी जाने पर पूज्यता नहीं आ सकती है। किन्तु अनादि काल

से मूत्तिपूजा प्रचलित है। आज कोई समाज ऐसा नहीं है जो किसी-न-किसी रूप में मूर्त्तिपूजक नहीं है। जो लोग शरीर से अतिरिक्त आत्मा मानते हैं वे लोग भी मूर्तिपूजा करते हैं। अत: यह मानना ही होगा कि शरीर को आत्मा वे भी अपने आचरण के अनुसार मानते ही है। भले ही वे शरीरात्मवादी के साथ विचार करते समय अपने मुंह यह बात नहीं स्वीकार करें कि शरीर आत्मा है। यदि अतिरिक्त आत्मवादी की ओर से इस सम्बंध में यह कहा जाय कि मूर्त्ति की पूजा नहीं की जाती है किन्तु मूर्ति को आधार बना कर उसके सहारे आत्मा की ही पूजा की जाती है तो यह कथन इसलिए संगत नहीं हो पायेगा कि मूर्त्ति में आवाहन मूर्ति पूजक लोग केवल आत्मा का नहीं करते पूज्य शरीर का ही। ऐसा नहीं मानने पर पूजा के प्रधान अङ्गरूप से किये जाने वाले ध्यान का औचित्य नहीं बतलाया जा सकता। क्योंकि पूजा में पूज्य का चिन्तनात्मकध्यान उनके शरीर एवं शारीरिक परिस्थिति को ही विषय करता है। ध्यान पद्यों में प्राय: ऐसा ही वर्णन पाया जाता है कि ऐसे मण्डप में ऐसे आसन पर ऐसी मुद्रा में बैठे हैं, यह कर रहे उनके समक्ष और देवगण इस प्रकार उनकी स्तुति कर रहे हैं इत्यादि। क्या इस प्रकार किये जाने वाले चिन्तन को शरीर से अतिरिक्त-आत्मविषयक किसी प्रकार कहा जा सकता है? कभी नहीं। अत: यह मानना ही होगा कि सनातन धार्मिक-रूप को प्राप्त करने वाली मूर्ति-पूजा अवश्य ही चार्वाकसम्मत शरीरात्मवाद की मान्यता पर आधारित है।

राम और कृष्ण या इसी प्रकार अन्य किसी को प्रत्येक सम्प्रदाय में भगवान् माना जाता है। यहाँ तक कि जिन लोगों ने भगवान् माना नहीं जैसे बुद्ध, महावीर आदि वे, उनके अनुयायियों द्वारा भगवान् बना डाले गये और आज भगवान कहे जाते हैं, भगवान माने जाते हैं, भगवान रूप में पूजे जाते हैं। यह बात नहीं कि केवल अनपढ़ अज्ञ जनता ही उनकी पूजा करती है। पढ़े-लिखे लोग और भी विधि-विधानपूर्वक पूजा करते हैं। उन्हें भगवान मानते हैं। यह परिस्थिति तभी संगत हो पाती है जब कि शरीरात्मवाद को मान्यता दे दी जाती है। यदि आत्मा की दृष्टि से उन्हें भगवान माना जाय तो उन्हें ही क्यों भगवान माना जाय? जिस किसी को भगवान माना जा सकता है। क्योंकि आत्मा की दृष्टि में उनमें और औरों में क्या अन्तर बतलाया जा सकता है? वेदान्त और साँख्य सिद्धान्त आत्माओं में स्वत: कोई अन्तर मानते नहीं। न्याय और वैशेषिक मतों में आत्मगत भी आन्तर मान्य होता है सहीं, परन्तु उस दृष्टि से राम, कृष्ण आदि को भगवान माना जाता है यह कथन असंगत होगा। क्योंकि कृष्ण, भगवान माने गये गोवर्द्धन धारण के कारण, कंस आदि को मारने के कारण, कालिय-दमन करने के कारण। ये उनकी क्रियाएँ शरीरगत थीं या अन्यगत? मानना ही होगा कि वे क्रियाएँ शरीरगत ही थीं। तो क्या इससे यह सिद्ध नहीं हो जाता है कि रामकृष्ण आदि की भगवान रूप में मान्यता का आधार चार्वाकसम्मत-शरीरात्मवाद ही है? यहाँ यदि यह कहा जाय कि चार्वाक-दर्शन तो शरीर को आत्मा या प्रमाता मानता है किन्तु रामकृष्ण आदि को भगवान माना जाता है केवल शरीर रूप में नहीं किन्तु शरीरयुक्त आत्मा

के रूप में। अत: भगवान रूप में कृष्ण आदि की मान्यता को चार्वाक-सम्मत-शरीरात्मवाद पर आधारित नहीं कहा जा सकता। तो यह कथन इसलिए नहीं उचित कहा जा सकता कि जहाँ दो चीजों का मिलित रूप उपस्थित होता है वहाँ यह विवेचन अवश्य उपस्थित होता है कि इन दोनों के अन्दर कौन है प्रधान और कौन अप्रधान? प्रकृत में भी शरीर युक्त आत्मा को भगवान कहने पर यह प्रश्न उठेगा ही कि इस मिलित रूप को भगवान माने जाने का श्रेय मुख्य रूप से किसे है? विवेचन करने पर अतिरिक्त आत्मवादी को भी यह मानना ही होगा कि राम, कृष्ण आदि को भगवान माने जाने का श्रेय शरीरांश को ही है आत्मांश को नहीं क्योंकि किये गये विवेचन के अनुसार यह स्पष्ट रूप से प्रतीत किया जा सकता है कि भगवान के भक्तों को राम-शरीर और कृष्ण-शरीर से ही प्रेम था, रामात्मा और कृष्णात्मा से नहीं। तभी तो उनके मानव विग्रह को और उस पर आधारित साजसज्जा को तथा शारीरिक भावभंगियों एवं आचरणात्मक उनकी लीलाओं को कहते एवं सुनते हुए उन दिनों से आज तक भक्तजन हर्षगद्गद होते हुए नाचते आये हैं? और आज भी नाच रहे हैं? राम, कृष्ण आदि इष्ट-विग्रह स्मृति पथ पर आते ही भक्तों की आँखें आनन्दाश्रु से भरी नहीं देखी जाती हैं? इसके उत्तर में 'नहीं कहना सत्य का अपलाप और असत्य का आश्रयण ही होगा। इसलिए यह मानना ही होगा कि भक्त-सम्प्रदाय की भक्ति शरीरात्मवाद पर ही आधारित है शरीरातिरिक्त आत्मवाद पर नही। इस शरीरात्मवाद पर आधारित भक्ति के पंजे से वे नित्य विज्ञान मात्र को तत्त्व माननेवाले ब्रह्मद्वैतवेदान्ती, जो कि भौतिक संसार को सर्वथा मिथ्या मानते, अपने को मुक्त करते हुए नहीं पाये जाते हैं। आज शंकराचार्य के मठों में भौतिक श्रीयन्त्र पर श्रीविग्रह का विस्तृत पूजन हो रहा है। इसके सम्बंध में यह भी बात नहीं कही जा सकती कि शंकराचार्य के परवर्त्ती उत्तराधिकारी भले ही भक्त हो गये हों किन्तु वे स्वयं भक्त नहीं थे। क्योंकि आद्य शंकरचार्यरचित सौन्दर्य-लहरी आदि स्तोत्र-ग्रन्थों को देखते हुए यह बात बिलकुल नहीं कही जा सकती कि वे मूर्तिपूजक नहीं थे। वे भक्त नहीं थे। अद्वैत-वेदान्तियों के अन्दर केवल शंकराचार्य ही ऐसे देखे जाते हैं ऐसी बात नहीं है। परवर्ती महान् अद्वैत-वेदान्ती मधुसूदन-सरस्वती को लिया जाय, जिन्होंने द्वैत-मत के विशेषत: आचार्य माध्व के द्वैतमत के खण्डन में अद्वैत-सिद्धि-नामक अत्यन्त गम्भीर ग्रन्थ की रचना की है उनकी विग्रह-भक्ति की ओर ध्यान दीजिए। वे कहते हैं कि जिनका हाथ वंशी से विभूषित है और शरीर की आभा नवीन मेघ के समान है, पीताम्बर पहने हुए हैं, होठ जिनके लाल हैं, मुख जिनका पूर्ण चन्द्रमा से भी सुन्दर है ऐसे कृष्ण से परे मैं किसी तत्त्व को जानता नहीं? क्या मधुसूदन सरस्वती के भक्त हृदय के इस वास्तविक उद्गार से चार्वाक-सम्मत शरीरात्मवाद की मान्यता नहीं स्फुट आती? न मालूम यहाँ उनकी नित्य-विज्ञान-मात्र की तत्त्वता पर होने वाली दृढ़-निष्ठा कहाँ चली गयी? इन अद्वैत-वेदान्तियों की हार्दिक और औपदेशिक परिस्थितियों की अत्यन्त अभिन्नता को देखते हुए तो कोई हठात् मिथ्याचारी कह सकता है। अत: यह मानना ही होगा कि सभी भक्त वे द्वैतवादी हों या अद्वैतवादी अपनी भक्ति की आधारशिला होने वाले

चार्वाकसम्मत शरीरात्मवाद को नहीं अमान्य ठहरा सकते। भारत में वृक्षपूजन बराबर होता चला आ रहा है। गीता में कृष्ण ने यहाँ तक कहा है कि सारे वृक्षों में मैं अश्वत्थ हूँ अर्थात पीपल का पेड़ हूं। यह नहीं उन्होंने कहा कि 'मैं अश्वत्थवृक्ष की आत्मा हूँ' जब कि वे अपने को पेड़ बतलाते हैं तो अवश्य ही वह पेड़ वही है जिसे लोग पेड़ के रूप में देखते हैं और पेड़ शब्द से कहते हैं। इससे यह नहीं प्राप्त होता कि शरीर ही आत्मा है? क्योंकि यदि अश्वत्थ पद से दृश्यमान शोखा पत्र आदि स्वरूप भौतिक वृक्ष को न लिया जाय तो शरीर के अतिरिक्त आत्मा की मान्यता पक्ष में उसकी पूज्यता इसलिए संगत नहीं बतलायी जा सकती कि अतिरिक्त आत्मवादी लोग वृक्ष में शरीर को प्राप्ति को जन्मान्तरीय सत्कर्म का फल तो मानते नहीं कि उक्त भौतिक वृक्ष के अतिरिक्त अभौतिक उस वृक्षात्मा को नमस्करणीय माना जा सके। अतिरिक्त आत्मवादी लोग यह स्पष्ट शब्दों में कहते पाये जाते हैं कि 'अपने गुरु को साधारण रूप से भी अपमान करने का फल यह होता है कि वह अपमान करने वाला व्यक्ति श्मशान में मांसभोजी पक्षियों का आश्रय होने वाला वृक्ष होता है' इस कथन के अनुसार उन्हें यह मानना ही होगा कि वह अतिरिक्त रूप में मान्य वृक्षात्मा पुण्यकर्मा नहीं होता और इसीलिए पूज्य नहीं होता। स्तुत्य नहीं होता। शरीरात्मवाद पक्ष में पूज्यता का प्रचलन इसलिए संगत हो पाता है कि जब पहले लोग घर बनाने के आदी नहीं थे अथवा यह कहा जाय कि उस परिस्थिति में नहीं थे तो अपेक्षित शीत और आतप का निवारण इन महावृक्षों के ही सहारे कर पाते थे। आज भी गृहविहीन स्थानों में वृक्षों को ही उक्त काम के लिए लोग अपनाते हैं यह प्रत्यक्ष ही है। इसी कारण से उनकी पूज्यता का प्रचलन उचित ही है। सम्भव है कुछ लोग यहाँ प्रश्न यह उपस्थित करें कि फिर गीता का उक्त कथन कैसे संगत हो सकता? क्योंकि कृष्ण के कथन के अन्दर आने वाले 'मैं' शब्द से भी शरीरात्मवादी की कृष्ण शरीर को ही लेना होगा। उस शरीर को अभिप्राय करके यह कथन कैसे संगत हो सकता कि 'मैं' अश्वत्थ वृक्ष हूं'? कृष्ण शरीरगत भूत और अश्वत्थ वृक्ष शरीरगत भूत इन दोनों में विद्यमान भेद तो स्पष्ट ही है? तो इसका उत्तर चार्वाकीय-दृष्टिकोण से यह दिया जा सकता है कि कृष्ण का वह कथन महान् 'समवायात्मक' भूतात्मा को अभिप्राय करके कहा गया है जिसका परिचय आगे दिया जायगा। इसलिए यह मानना ही होगा कि सनातन धार्मिक मर्यादा के अन्दर प्रचलित वृक्षपूजन का आधार चार्वाकीय शरीरात्मवाद ही हो सकता है, अतिरिक्तात्मवाद नहीं। आत्मा की आन्तरता से प्रभावित कुछ चार्वाकसिद्धान्ती इन्द्रियात्मवाद को भी प्रश्रय देते थे और कुछ लोग प्राणात्मवाद को भी। इन दो वादों को भी चार्वाकीय इसलिए मानना होगा कि इन्द्रियाँ और त्राण दोनों ही भौतिक हैं। अत: ये दोनों वाद भी फलत: भूतात्मवाद ही होते हैं। परन्तु सुखानुभूति की सर्वाङ्गीणता की ओर ध्यान देने पर उचित यही प्रतीत होता है कि सम्पूर्ण शरीर को ही आत्मा मानना चाहिए।

सप्तम-प्रकरण

चार्वाकीय-दृष्टिकोण और परमात्मा

चार्वाक-सिद्धान्त में परमेश्वर का अस्तित्व माना नहीं जाता, यह कह कर इस भूतात्मवादी दर्शन को कोसा जाता है और इसके आधार पर भी कुछ लोग इसे अमान्य ठहराते हुये पाये जाते हैं। यदि थोड़ी देर के लिए यही स्वीकार कर लिया जाय कि यहाँ परमेश्वर की मान्यता नहीं है फिर भी इसके आधार पर इसे अमान्य नहीं ठहराया जा सकता। क्योंकि चारों बौद्ध, साङ्ख्य,मीमांसा और जैन ये तो बिलकुल ईश्वर की सत्ता मानते ही नहीं। यदि शांकर अद्वैत वेदान्तवादियों को गम्भीरतापूर्वक देखा जाय तो वस्तुत: वे भी इन उक्त निरीश्वरवादी दार्शनिक के ही 'नहीं' में अपना 'हाँ' मिलते हुए पाये जाते हैं। क्योंकि अद्वैत चैतन्य मात्र ही जब कि वेदान्त-सिद्धान्त में तत्त्व मान्य है, तदतिरिक्त सारा संसार जब कि उस अद्वितीय चैतन्य में कल्पना मात्र है, तब तत्त्वत: जगत्कर्त्ता ईश्वर कहाँ से आ सकता है? वेदान्त-सिद्धान्त में मायावच्छिन्न या माया-प्रतिबिम्बत चैतन्य को ईश्वर कहा गया है। परन्तु विचार करने पर यह मत कि माया और उसके द्वारा होने वाला चैतन्य का अवच्छेद एवं प्रतिबिम्बतत्त्व भी तात्त्विक नहीं मान्य है तब अवच्छिन्न या प्रतिबिम्ब-चैतन्य का स्वतंत्र तात्त्विक अस्तित्व भला कैसे बतलाया जा सकता? अत: यही मानना होगा कि अद्वैत वेदान्ती लोग भी तत्त्वत: ईश्वर मानते नहीं। कुछ वेदान्तियों ने तो यहाँ तक स्पष्ट शब्दों में कहा है कि 'ईश्वर भी जीवों के द्वारा की जाने कल्पना का ही एक प्रसव है। सारांश यह कि यह दृश्य जगत् जिस प्रकार स्वाप्न जगत् की तरह जीव कल्पित है उसी प्रकार परमेश्वर भी जीवकल्पित ही है। क्या वेदान्तियों के इस स्पष्ट कथन से यह सिद्ध नहीं हो जाता कि वे लोग ईश्वर मानते नहीं? न्याय वैशेषिक और योग ये दर्शन अपने को ईश्वरवादी मानते हैं। ये लोग अमूर्त्त आत्मा को दो भागों में विभक्त बतलाते हैं। यथा जीवात्मा और परमात्मा। परमात्मा को ही ये परमेश्वर, ईश्वर आदि शब्दों से भी कहते हैं। यद्यपि आधुनिक अनेक विवेचक इस बात से भी सहमत नहीं हैं कि प्राचीन न्याय और वैशेषिक सिद्धान्त ईश्वर मानता है। इसके सम्बंध में ये नवीन विवेचक युक्ति यह उपस्थित करते हुए पाये जाते हैं कि गौतम के न्यायदर्शन सूत्रों में ईश्वर का अस्तित्व ख्यापक कोई सूत्र पाया नहीं जाता। एक जगह ईश्वर शब्द आया है सही किन्तु ईश्वर [१४५] शब्द का उल्लेख पूर्वपक्ष सूत्र में हुआ है, सिद्धान्त सूत्र में नहीं। अत: उससे यह

---

(१४५) ईश्वर: कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्। १९। *-न्यायदर्शन, अध्याय ४ आ १।*

नहीं सिद्ध किया जा सकता कि गौतम ईश्वर मानते थे। वैशेषिक दर्शन के सम्बंध में इन विवेचकों का विशेष वक्तव्य यह है कि कणाद के वैशेषिक दर्शनगत सूत्रों में ईश्वर या तद्वाचक शब्द उस प्रकार भी कहीं आया हुआ नहीं पाया जाता है जैसा कि गौतम के न्यायदर्शन में। अतः इस परिस्थिति से यह सिद्ध होता है कि कणाद भी ईश्वर नहीं मानते थे। परन्तु आधुनिक विवेचकों के इस कथन पर उतनी आस्था इसलिए नहीं की जा सकती कि न्याय व वैशेषिक कहने से केवल गौतम और कणाद के सूत्र ही नहीं गृहीत होते किन्तु उनके आधार पर लिखे गये परवर्ती मौलिक एवं अमौलिक ग्रन्थ भी। तदनुसार इन दोनों दर्शनों को ईश्वरवादी मानना आवश्यक हो आता है। क्योंकि महर्षि गौतम ने जहाँ वेद के प्रायाण्य के सम्बंध में विचार किया है वहाँ उन्होंने यह कहा है कि 'वेद को भी मंत्र एवं आयुर्वेद के समान प्रमाण मानना ही होगा। क्योंकि आयुर्वेद के समान वेद भी किसी आप्त व्यक्ति के द्वारा ही रचित है'। परवर्ती गौतमानुयायी नैयायिकों का कहना यह है कि वह वेद का प्रणेता आप्त, ईश्वर को छोड़कर और कोई नहीं हो सकता। क्योंकि वेद के अन्दर अतीन्द्रियतत्त्वों का जो निर्देशन पाया जाता है वह औरों से सम्भव नहीं। महर्षि कणाद ने इस सम्बंध में यह कहा है कि 'आम्नाय अर्थात वेद इसलिए प्रमाण है कि वह 'तद्वचन' हैं [१४६]। यहाँ इस 'तद्वचन' शब्द का अर्थ है धर्म का प्रवचन[१४७]। और द्वितीय दल का कहना इस सम्बंध में यह है कि 'तद्वचन' शब्द का अर्थ है ईश्वर-कर्तृक प्रवचन। इस द्वितीय व्याख्या के अनुसार कणाद का सिद्धान्त भी ईश्वर को मान्यता देने वाला सिद्ध होता है। कणाद के प्राचीन व्याख्याताओं के अन्दर जिनका आज पता चलता है आज अप्राप्य 'कणाद-सूत्र-वृत्ति' के कर्त्ता भारद्वाज को छोड़कर और प्रायः सभीव्याख्याता या ग्रन्थकार ने कणाद के वैशेषिक सिद्धान्त को ईश्वरवादी माना है। न्याय और वैशेषिक दोनों ही दर्शनों के महान् आचार्य उदयन ने परमेश्वर की ही सिद्धि के लिए 'परमात्मतत्त्वविवेक' का, जिसे उन्होंने अपने भक्त हृदय के अनुसार 'कुसुमांजलि' कहा है, प्रणयन किया है। सभी नैयायिक एवं वैशेषिक लोगों का ईश्वर की मान्यता के सम्बंध में मुख्य रूप से कहना यह है कि पृथिवी, जल, तेज और वायु इन चारों के परमाणु और आकाश, काल, दिक् आत्मा और मन ये हैं नित्य द्रव्य। इन्हें छोड़कर अन्य सारे द्रव्य हैं जन्य अर्थात् उत्पत्तिशील। क्योंकि आरम्भ-वादी सिद्धान्त में सत्कारवाद मान्य होता नहीं कि सारी वस्तुओं को पहले से ही विद्यमान माना जाय। ऐसी परिस्थिति में यह भी मानना आवश्यक है कि इस महान् ब्रह्माण्ड स्वरूप कार्य का उत्पाद होता है और उसे कोई-न-कोई करता है। हम लोगों के अन्दर का कोई भी जीव तो इस विशाल ब्रह्माण्ड का निर्माण कर नहीं सकता। अतः इस

---

(१४६) तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम् । ३। *-वैशेषिक दर्शन।*

(१४७) तादित्यनुपक्रान्तमपि प्रसिद्धतयेश्वरं परामृशति।... तद्वचनात् तेनेश्वरेण प्रणयनात् आम्नायस्य वेदस्य प्रामाण्यम्। यद्वा तदितिसन्निहितं धर्ममेव परामृशति। तथा च धर्मस्य वचनात् प्रतिपादनात्, अम्नायस्य वेदस्य प्रामाण्यम्। *-शंकर मिश्र, उपस्कार-टीका।*

विशाल ब्रह्माण्डात्मक कार्य के कर्त्ता के रूप में परमेश्वर का अस्तित्व मानना आवश्यक है। जब इस पर मन ईश्वरवादी विवेचकों के समक्ष यह प्रश्न उपस्थित किया जाता है निरीश्वरवादियों की ओर से कि कर्त्ता कोई भी क्यों न हो वह नियमतः शरीरी अर्थात शरीर वाला ही देखा जाता है। समग्र ब्रह्माण्ड के कर्त्ता रूप में मान्य परमेश्वर को शरीरी मानना सम्भव नहीं। क्योंकि शरीर नियमतः भौतिक ही पाया जाता है। और भूत सारे उनके द्वारा विरचनीय ब्रह्माण्ड के ही अन्दर आने वाले होते हैं। कार्य कोटि में आने वाला कारण कोटि में कैसे जा सकता? अतः परमेश्वर को मान्यता कैसे दी जा सकती? तो इसके उत्तर में ईश्वरवादी नैयायिकों और वैशेषिकों की ओर से यह कहा जाता है कि कार्य के लिए किसी-न-किसी कर्त्ता का ही होना आवश्यक है। वह कर्त्ता शरीरी ही हो यह कोई नियम नहीं है। अतः बिना शरीर का भी जगत का कर्त्ता मान्य हो सकता है। इन लोगों के इस कथन का अभिप्राय यह है कि जो लोग जगत् को स्वाभाविक मानते हैं, प्राकृत मानते है उनके मत में भी इस जगत् का आविर्भावात्मक कार्य और स्वभाव या प्रकृतिस्वरूप उसका कर्त्ता माना ही जाता है। प्रकृति और स्वभाव को भी हम लोगों की तरह नाक, कान आदि युक्त शरीरी कहा नहीं जा सकता। फलतः अशरीरी कर्त्ता उन्हें भी मानना ही पड़ता है फिर हम जब चेतन अशरीरी कर्त्ता की मान्यता बतलाते हैं तो क्यों यह प्रश्न वे उठाते हैं कि अशरीरी कर्त्ता कैसे हो सकता? अतः अशरीरी चेतन जगत् कर्त्ता ईश्वर अवश्य मान्य है। कुछ नैयायिकों ने इस निरीश्वरवादी तर्क के उत्तर में यह कहते पाये जाते हैं कि यदि जगत्कर्त्ता ईश्वर को शरीर भी होना ही चाहिए तो भौतिक अणुओं को अर्थांत पृथिवी, जल, तेज और वायु इनके परमाणु समुदाय को नित्य एक चेतन जगत्कर्त्ता परमेश्वर का शरीर माना जा सकता है। अतः यह कह कर चेतन परमेश्वर का खण्डन नहीं किया जा सकता कि शरीररहित होने के कारण जगत्कर्त्ता के रूप में वे मान्य नहीं हो सकते। ईश्वर के सम्बंध में इस प्रकार दार्शनिक मतभेदों को देखते हुए यह अनायास लोगों के हृदय में प्रबल रूप में जिज्ञासा उदित हो सकती है कि चार्वाक-सिद्धान्त ईश्वर मानता है या नहीं? तो इसके सम्बंध में ज्ञातव्य यह है कि यह दर्शन विशेष रूप से दाण्डिक होने के कारण अधिकतर लौकिक जीवन व्यवस्था से ही सम्बंध रखने वाली वस्तुओं के ही विवेचन को अपना मुख्य कर्त्तव्य समझता है। इसके अनुसार यह चार्वाक-सिद्धान्त लोक-शासक-प्रमाता को ही जीवनोपयोगी लोकव्यवस्था के अनुकूल ईश्वर मानता है या नहीं। और इसके अतिरिक्त जागतिक उत्पत्ति स्थिति और प्रलय केलिए यदि ईश्वर की अपेक्षा प्रतीत हो तो भूतसमष्ट्यात्मक महासमवाय को ही ईश्वर यहाँ मान्य समझना चाहिए। अभौतिक ईश्वर की मान्यता इसलिए उचित एवं अपेक्षित नहीं कहीं जा सकती कि जब कि भूत-

---

(१४८) कार्यायोजनधृत्यादेः पदात्प्रत्ययतः श्रुतेः।
वाक्यात संख्या विशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः ।।१॥

—न्यायकुमुनांजलि, ५ स्तवक।

चैतन्य यहाँ अनिवार्य रूप से मान्य है तब अभौतिक कोई चैतन्य या चेतन आ ही कहाँ से सकता, जिसे ईश्वर या परमेश्वर माना जाय? अनीश्वरवादी जिन युक्तियों से ईश्वरीय सत्ता का खण्डन करते हैं वे युक्तियाँ इन चार्वाकीय दोनों ईश्वरों की मान्यता में बाधक नहीं हो सकती। यथा-अनीश्वरवादी लोगों का ईश्वरीय मान्यता के विरुद्ध प्रबल कथन यह है कि परमेश्वर को जगत की सृष्टि के लिए जो इच्छा या प्रवृत्ति होती है वह स्वार्थ होती है या परार्थ? स्वार्थ वह इच्छा एवं प्रवृत्ति होती है यह बात इसलिए नहीं कही जा सकती कि परमेश्वर भी यदि स्वार्थी हो, तो वह फिर परमेश्वर ही कैसे कहलायेगा? क्योंकि ऐसी इच्छा तो आकीटपतंग सभी प्राणी जीवात्माओं को हुआ करती है। ऐसी परिस्थिति में वह स्वार्थी परमेश्वर भी फलतः जीवकोटि प्रविष्टि ही हो जाती है। वह भी जीव ही कहलाने का अधिकारी हो जाता है परमेश्वर कहलाने का नहीं। और यदि उस परमेश्वर को परार्थ प्रवृत्तिशील एवं इच्छाशील माना जाय, तो यह भी युक्तिसंगत इसलिए नहीं कहला पायेगा कि शरीर और विषय आदि भौतिक-अवयवियों की उत्पत्ति होने के अनन्तर कोई भी जीव इन भौतिक साधनों की असम्पन्नता-प्रयुक्त दुःखी हो सकता, सृष्टि के पूर्व नहीं। परार्थ प्रवृत्ति एवं इच्छा करुणा मूलक ही होगी परमेश्वर की। परन्तु यदि वे भौतिक वस्तुओं की उत्पत्ति ही न करते तो भौतिक साधनों से सम्पन्नता और असम्पन्नता के प्रश्न ही नहीं उठते, यत्प्रयुक्त कोई अपने को दुःखी अनुभव करता और उन दुखी जीवों के दुःख की निवृत्ति के लिए परमेश्वर और उनकी इच्छा एवं प्रवृत्ति की आवश्यकता आ पड़ती। सारांश यह कि सृष्टि के पूर्व तो कोई जीव दुखी ही नहीं कहा जा सकता जिसके दुःख निवृत्यर्थ उन्हें करुणामूलक सृष्टि की अपेक्षा प्रतीत हो। अतः संसार के सृष्टिचर्थ परमेश्वर की आवश्यकता नहीं बतलायी जा सकती।

परन्तु इस प्रकार किया जाना वाला ईश्वर का खण्डन चार्वाक-सम्मत ईश्वर का खण्डन नहीं हो पाता। क्योंकि प्राणिव्यवहार के लिए अपेक्षित सुव्यवस्था के सम्पादक रूप में मान्य लौकिक शासकस्वरूप ईश्वर भी उक्त व्यवस्था के लिए निर्णीत कानून स्वरूप नियम को मान्यता देने वाले समाज का ही एक सदस्य होता है, वह भी उस नियम में उसी प्रकार आबद्ध रहता है जैसे अन्य मानव। इसीलिए जब वह भी निर्णीत नियम के प्रतिकूल आचरण करता है तो समाज उसका विरोध करता है और वह ईश्वर पद से च्युत हो जाता है। प्राचीन एकतंत्र शासन के अस्तित्व काल में भी अनेक नियमोल्लंघनकारी शासकों की पदच्युति प्राचीन साहित्य में वार्णित पायी जाती है। फलतः विचारपूर्वक देखने पर लौकिक व्यवस्था की अक्षुण्णता के सम्पादक रूप में लौकिक ईश्वर का स्थान मुख्य रूप से उन नियमों को ही प्राप्त होता है जिनके आधार पर शासक स्वयं भी उन नियमों की मान्यता में आबद्ध रहते हुए लोकमार्यादा को सुव्यवस्थित रखता है। उन नियमों के प्रवर्त्तक एवं स्थापक तथा आवश्यकता के अनुसार परिवर्त्तक होने के कारण ही लौकिक शासक ईश्वर कहलाता है। इस ईश्वर के सम्बंध में उक्त प्रश्न उठता ही नहीं। क्योंकि यह ईश्वर

जगत्कर्त्ता के रूप में तो मान्य है नहीं कि इसके सम्बंध में उक्त प्रकार उठाया जाने वाला प्रश्न औचित्य प्राप्त कर सके। रही बात यहाँ मान्य भूतसमवायात्मक ईश्वर की, तो उसके सम्बंध में भी उक्त प्रश्न इसलिए नहीं उठाया जा सकता कि यहाँ इस भौतिक-सृष्टि का कर्त्ता वह भूतसमवायात्मक ईश्वर, घटकर्त्ता कुम्भकार आदि के समान कोई अतिरिक्त स्फुट चैतन्य रूप में तो मान्य है नहीं कि उसके सम्बंध में स्वार्थ या करुणा का प्रश्न उठाया जा सके। इसे ही जगह-जगह पर भूतात्मा शब्द से महाभारत और पुराणों के अन्दर कहा गया है।

अब यहाँ शंका यह उठ खड़ी हो सकती है कि इस लोकप्रथिति का कारण क्या है कि चार्वाक-सिद्धान्त ईश्वर मानता नहीं? तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि न्याय वैशेषिक दर्शन एवं लौकिकाधारणा में जैसा परमेश्वर मान्य है वैसा परमेश्वर चार्वाक दृष्टिकोण में मान्य न होने के कारण साधारणतया लोग यह कहते हैं कि चार्वाक-सिद्धान्त ईश्वर मानता नहीं। यदि यह जिज्ञासा व्यक्त की जाय कि वैसा ही परमेश्वर यहाँ भी क्यों न माना जाता है? तो इसके उत्तर में निरीश्वरवादियों द्वारा उपस्थापित उक्त एवं अन्य युक्तियों को उपस्थिति किया जा सकता है। उदाहरण के रूप में वैषम्य और नैर्धृण्य दोषों को तादृश परमेश्वर की मान्यता में बाधक रूप से उपस्थित किया जा सकता है। यदि भूतात्मा के अतिरिक्त व्यापक परमेश्वर माना जाय और उसे ही पूर्ण रूप से विधाता एवं व्यवस्थापक माना जाय तो उसके ऊपर यह महान् दायित्व आ गिरता है कि उसने प्राणियों को केवल सुखी ही क्यों न बनाया? दुःखी क्यों बनाया? यदि सुखी और दुखी दोनों ही बनाया, फिर भी सभी प्राणियों को समान रूप से सुखी एवं दुखी उन्हें बनाना चाहिए था, जैसा कि उन्होंने किया नहीं। कुछ ईश्वरवादियों ने जो इस दोष के निराकरण में यह कहा है कि इसे उनकी लीला समझना चाहिए। अर्थात उनके लिए तो यह संसार एक क्रीड़ा मात्र है। क्रीड़ा में सुख दुःख नहीं देखे जाते हैं तो यह कथन भला तार्किक-दृष्टिकोण से कैसे संगत कहा जा सकता है? यह उनकी क्रीड़ा तो फिर चिड़ियों को मार कर की जाने वाली लड़कों की क्रीड़ा से ऊपर नहीं उठ सकती। और क्रीड़ा में इस प्रकार छूट देने पर तो प्राणी क्रीड़ा के बहाने मनमाना करने के अधिकारी हो बैठते हैं। जिसका प्रवर्त्तनप्रयुक्त दोष उस ईश्वर के ऊपर ही आ गिरता है। यह कह कर भी इस प्रश्न को नहीं टाला जा सकता कि 'समर्थ को दोष लगता नहीं'। क्योंकि ऐसा मानने पर सारी लोकव्यवस्था इसलिए अस्तव्यस्त हो उठती है कि सामर्थ्य में तारतम्य के कारण दुर्बल से सवल व्यक्ति समर्थ होता ही है। फलतः प्रबल व्यक्तितृक दुर्बलों का पीड़न उचित कहलाने लगेगा। जिसे कि किसी प्रकार उचित नहीं कहा जा सकता। यदि अतिरिक्त ईश्वरवादियों की ओर से यह कहा जाय कि उक्त वैषम्य दोष का निराकरण अदृष्टवाद का आदर करके किया जा सकता है। अर्थात यदि यह कहा जाय कि परमेश्वर प्राणियों को उनसे ऊपर पक्षपात का आरोप नहीं किया जा सकता, विषमता की आपत्ति नहीं दी जा सकती। तो यह कथन

इसलिए संगत नहीं हो पायेगा कि तब तो ईश्वर का स्थान अदृष्ट ही ले लेगा। यह भली-भाँति कहा जा सकेगा कि तब अदृष्ट को ही भोगनियामक मान लिया जाय तदर्थ ईश्वर मानने की कोई आवश्यकता नहीं।

चार्वाकसम्मत भूतसमवायस्वरूप परमेश्वर की मान्यता पक्ष में ऐसी कोई समस्या इसलिए नहीं उपस्थित होगी कि वे चेतनभूतात्मा स्वयं समग्र चराचर रूप धारण करता है इसलिए अतिरिक्त कोई रह ही नहीं जा पाता जिसके कारण उक्त वैषम्य नैर्घृण्य आदि की आपत्ति दी जा सके। यदि यहाँ यह कहा जाय कि चार्वाक तो निरीश्वरवादी नास्तिक दर्शन कहा जाता है फिर चार्वाकीय दृष्टिकोण में परमेश्वर का अस्तित्व वर्णन कैसे संगत कहा जा सकता? तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि वह अमान्यता भूतसमवाय से भिन्न चेतन परमेश्वर के विषय में समझनी चाहिए। क्योंकि तादृश परमेश्वर की मान्यता पक्ष में लोकगत सुव्यवस्था का सम्पादक दण्ड सुव्यवस्थित नहीं हो सकता। क्योंकि वैसा परमेश्वर मान्य होने पर उसे ही कर्म के उचित फल का विधाता मानना होगा जैसा कि और लोग मानते ही हैं। फलतः सच्चा न्यायाधीश उसे ही मानना होगा। ऐसी परिस्थिति में कोई भी लौकिक शासक या न्यायाधीश कैसे अपराधी को दण्ड दे पायेगा। क्योंकि एक ही व्यक्ति को एक ही अपराध के फलस्वरूप दो दण्ड नहीं दिये जा सकते। और साथ ही लौकिक न्यायाधीश अन्य सच्चे न्यायाधीशस्वरूप परमेश्वर की ओर दृष्टि जाने पर अपने दण्ड सम्बंधी निर्णय पर औचित्य का निर्णय न कर सकने के कारण दण्डाज्ञा के समत सन्दिग्ध हो उठेगा। इस प्रकार दण्ड-विधान में शैथिल्य उपस्थित हो आयेगा। भूतसमवायात्मक ईश्वर मानने पर उस दृष्टि में दण्ड्य, दण्ड और दाण्डिक सभी उसके कुक्षि में ही आ जाते हैं। इसलिए वह भूतसमवायात्मक ईश्वर दाण्डिक क्षेत्रगत न्यायाधीश का आसन ग्रहण करता नहीं। अतः लौकिक दण्ड्य-दाण्डिकभाव अक्षुण्ण रह जाता है, उसकी अमान्यता अथवा उसमें किसी प्रकार की बाधा आपन्न होती नहीं। अतः उक्त भूतसमवायात्मक परमेश्वर के अतिरिक्त शरीरात्मक प्रमाता ईश्वर लौकिक सुव्यवस्था के लिए अवश्य मान्य होता है। भूतसमवायात्मक ईश्वर की मान्यता में 'सर्वखल्विदं ब्रह्म', 'इद सर्व यदपमात्मा' (बृ. २।४।६)आदि श्रुतियाँ भी पूर्ण साहाय्य करती हैं।

चार्वाक-सम्मत मन, मस्तिष्क-

प्रमाण शब्द के अर्थ दो होते हैं प्रमा और उसका करण अर्थात उसके प्रति असाधारण रूप से कारण होने वाला। इन दो प्रमाणों के अन्दर मुख्य प्रमात्मक प्रमाण पहले विस्तृत रूप से विवेचित हो चुका है और यह भी कहा जा चुका है कि प्रकाकरणात्मक प्रमाण केवल मन ही इस चार्वाक सिद्धान्त में मान्य है। इस मन से ही उत्पन्न होने के कारण यहाँ सारे प्रमात्मक-ज्ञान प्रत्यक्ष ही हो जाते हैं। ये सारी बातें भी पहले बतलायी जा चुकी है। एक नव्यनैयायिक रघुनाथ शिरोमणि को छोड़ कर अन्य सभी नैयायिक एवं वैशेषिक मन को अभौतिक मानते हैं और परमाणु-परिमाणयुक्त मानते हैं। वे लोग

अभौतिक इसलिए मन को मानते हैं कि भौतिक मानने पर उसे किंभौतिक माना जायगा? किसी भी एक भूतस्वरूप उसे मानने पर उसके द्वारा भूत में असाधारण रूप से विद्यमान गुण का ही ग्रहण हो पायेगा जैसा कि होता नहीं। अतः मन को भौतिक नहीं माना जा सकता। मन को परम अणु नैयायिक और वैशेषिक लोग इसलिए मानते हैं कि उसे शरीरव्यापी अथवा व्यापक मानने पर एक ही समय अनेक ज्ञानों का उत्पाद आपन्न हो उठता है जैसा कि नैयायिक एवं वैशेषिक लोग मानते नहीं।[१४६] मन अणु होने के कारण ही सुषुप्ति काल में पुरीतत् नामक नाड़ी में मन प्रविष्ट हो जाने के कारण न्याय वैशेषिक मत में ज्ञान नहीं उत्पन्न होता। उस मन को भी कुछ लोग आत्मा मानना चाहते थे किन्तु नैयायिकों ने इसके विरुद्ध यह कहा कि करणता और कर्त्तृता ये दोनों धर्म आपस में अत्यन्त विरुद्ध हैं अतः ये दोनों एकत्र किसी प्रकार भी नहीं रह सकते। इसलिए मन को ही कर्त्ता और करण दोनों नहीं माना जा सकता। यदि यह कहा जाय कि मन को कर्त्ता ही केवल मान लिया जाय, तो इस पर न्यायिकों की ओर से कहा गया यह समझना चाहिए कि तब मन के स्थान में किसी और को करण मानना ही होगा। क्योंकि कर्त्ता कभी करण निरपेक्ष होकर क्रिया का सम्पादन करता हुआ पाया जाता नहीं। और ऐसा मान लेने पर फलतः मन से अतिरिक्त ही आत्मा की मान्यता प्राप्त होगी। क्योंकि ऐसी परिस्थिति में वस्तुस्थिति यह होगी कि आत्मा को आत्मा न कह कर मन से कहा जायेगा और मन को मन न कह कर किसी अन्य नाम से पुकारा जायगा। फलतः उक्त विवाद नाममात्र के लिए किया जाने वाला विवाद कहा जायगा।

मन को आत्मा न मानने के पक्ष में नैयायिकों और वैशेषिक की ओर से एक युक्ति यह भी बतलायी गयी है कि मन को आत्मा मानने पर अनुपपत्ति यह आ बैठेगी कि आत्मगत ज्ञान सुख, दुःख आदि का मानस प्रत्यक्ष नहीं हो पायेगा, जो कि लोग को नियमतः हुआ ही करता है। यह इसलिए कि प्रत्यक्ष के प्रति महत्त्व होता है कारण। जिस द्रव्य में महत्त्व रहता है उसमें रहने वाले गुण क्रिया आदि के साथ भी पारस्परिक रूप से वह महत्त्व सम्बद्ध हो जाता है इसलिए महान द्रव्य में रहने वाले गुण और कर्म भी प्रत्यक्षतः गृहीत होते हैं। इस नियम के अनुसार मन को आत्मा मानने पर तद्गत ज्ञान सुख आदि का प्रत्यक्ष इसलिए नहीं हो पायेगा कि परम अणु होने के कारण जब कि स्वयं मन में ही महत्त्व नहीं, तो उसमें रहने वाले ज्ञान सुख आदि में कहाँ से महत्त्व आ पायगा पारस्परिक रूप में भी? अतः स्वगत ज्ञान सुख आदि का प्रत्यक्ष नहीं हो पायेगा। जब नैयायिकों और वैशेषिकों के समक्ष अन्य-दार्शनिक यह प्रश्न उपस्थित करते हैं कि आप लोगों की यह मनोऽणुत्व साधक युक्ति कैसे उचित कहीं जा सकती कि अनेक ज्ञान एक ही समय एक ही व्यक्ति को होते नहीं? क्योंकि किसी वस्तु के खाते समय व्यक्ति को

---

(१४६) ...सुषुप्तिकाले त्वचं त्यक्त्वा पुरीतति वर्त्तमानने मानसा ज्ञानाजननम्।

–न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, प्रत्यक्ष-परिच्छेद।

उस वस्तु का रूपदर्शन, रस का आस्वाद और गन्ध का आघ्राण ये सब साथ ही होते हुए पाये ही जाते हैं। तो इसके उत्तर में नैयायिकों और वैशेषिकों की ओर से यह कहा जाता है कि उक्त स्थल में भी वस्तुत: एक ही समय उक्त अनेक ज्ञान नहीं उत्पन्न होते हैं। एककालिक विविध ज्ञानोत्पत्ति का भ्रम होता है। कहने का तात्पर्य यह कि सैकड़ों कोमल कमलपत्रों को यदि सूई की नोक से विद्ध किया जाय तो वहाँ मालूम तो यही पड़ेगा कि सब पत्रों की सूई एक ही क्षण में पार कर गयी। परन्तु विचार करने पर यह बात बिलकुल गलत मालूम होगी। यही निश्चय होगा कि सूई से प्रत्येक पत्र का छेदन क्रमशः हुआ करता है। तद्वत् उक्त भक्षणस्थल में भी रूपदर्शन रस का आस्वाद और गन्ध का आघ्राण ये विभिन्न ज्ञान होते हैं क्रम से ही किन्तु उनमें अक्रमता का विभ्रम इसलिए होता है कि वहाँ का ज्ञान-कालगत व्यवधान अति अल्प, अतिसूक्ष्म होता है। अत: इस [१५०] वास्तविक स्थिति के सम्पादनार्थ मन को परम अणु ही मानना चाहिए। इस मन को सर्वविषयक अन्त:करण नैयायिक एवं वैशेषिक लोग भी मानते हैं। क्योंकि अन्य इन्द्रिय के साथ जब तक मन का योग नहीं होता है तब तक आँख आदि अन्य इन्द्रिय से भी ज्ञान नहीं होता। सुख-दु:ख, ज्ञान इच्छा आदि के प्रत्यक्ष स्थलों में मन स्वतंत्र रूप से इन्द्रिय होकर उन प्रत्यक्षों का सम्पादन करता है और रूप रस आदि बाह्य विषयों के प्रत्यक्ष स्थलों में वह विषय के अनुरूप अन्य इन्द्रिय की भी अपेक्षा रखता है और इसी प्रकार अनुमिति आदि ज्ञानस्थलों में मनव्याप्तिज्ञान, पदज्ञान आदि की अपेक्षा रखता है। किन्तु इस मन के बिना किसी भी प्रकार का ज्ञान कभी किसी को हो सकता नहीं। न्यायावैशेषिक सिद्धान्त इस मन को निष्प्रभेद मानता है। इसका अर्थ यह नहीं कि सबका मन एक ही होता है। क्योंकि इसके अणुत्व-सिद्धान्त में यह सम्भव कैसे हो सकता है कि सबका मन एक हो। क्योंकि एक समय विभिन्न मानसिक परिस्थिति अवगत होती ही है। परन्तु तात्पर्य यह कि अन्य. दार्शनिक जिस प्रकार अन्त:करण के प्रभेद मानते हैं नैयायिक वैशेषिक सिद्धान्त वैसा नहीं मानता।

साङ्ख्य और योगसिद्धान्त में मन का स्वरूप ऐसा मान्य नहीं है जैसा कि न्यायवैशेषिक सिद्धान्त के अनुसार उसका स्वरूप वर्णित हुआ है। साङ्ख्य और योगसिद्धान्त अन्त:करण को तीन भागों में बाँटता है। उसका कहना यह है कि मन, अहंकार और बुद्धि इन प्रभेदों में अन्त:करण को तीन भागों में विभक्त समझना चाहिए। किसी भी विषय के सम्बंध में व्यक्ति को जो सर्वप्रथम संकल्प होता है वह है मन का निजी काम। मन को छोड़ कर और कोई भी इसका सम्पादन कर नहीं सकता इसलिए संकल्पात्मक वृत्ति को ही मन का लक्षण अर्थात् स्वरूप समझना चाहिए। साङ्ख्ययोगसिद्धान्त में धर्म और धर्मी अत्यन्त भिन्न होते नहीं, संकल्पात्मक वृत्ति और मन इन दोनों को तत्त्वत: अभिन्न समझना

---

(१५०) अयोगपद्याज्ज्ञानानां तस्याणु त्वमिहोच्यते। -भाषापरिच्छेद, प्रत्यक्ष-परिच्छेद।

(१५० क) युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिगम् । १६। *-न्यायदर्शन, अध्या. १आ.१।*

चाहिए यह मन बाह्य रूप, रस आदि विषयों को ग्रहण के समय बाह्य आँख, जिह्वा आदि इन्द्रियों के सहारे स्वस्थानस्थित ही उन रूप, रस आदि विषयों को प्राप्त करता है और उनके संबंध में निजी उक्त संकल्पात्मक व्यापार करके संकल्पित रूप में उन विषयों को द्वितीय अन्तःकरण अहंकार को दे देता है। सांख्ययोग सिद्धान्त में मन को उभयेन्द्रिय माना जाता है। अर्थात उसे ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय माना जाता है। यह इसलिए कि आँख, कान आदि ज्ञानेन्द्रियों से उपस्थापित रूप शब्द आदि के विषय में भी मन संकल्प करता है और हाथ, पाँव आदि कर्मेन्दियों से प्राप्त होने वाले द्रव्यात्मक विषयों के सम्बंध में भी। साङ्ख्ययोग सिद्धान्त में द्वितीय अन्तःकरण माना जाता है 'अहंकार', अभिमानात्मक वृत्ति जिसके निजी व्यापार रूप में मान्य है। यदि विचार करके देखा जाय तो इस अहंकार का बहुत ऊँचा महत्त्व साङ्ख्योग सिद्धान्त में परिलक्षित होता है। क्योंकि यही प्रत्ययसर्ग और भूतसर्ग दोनों का एक स्पष्ट समन्वित रूप प्रतीत होता है। पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और उभय-ज्ञान-कर्मेन्द्रिय उक्त मन, ये ग्यारह इन्द्रियाँ तथा इस स्थूल रूप से दृश्य होने वाले संसार के कारणभूत सूक्ष्मभूत इन सब का यह एक सूक्ष्म समुदाय रूप में मान्य होता है। यतः सांख्ययोग सिद्धान्त उक्त सभी इन्द्रियों एवं तन्मात्र या तन्मात्रा शब्द से अभिधीयमान सूक्ष्म-भूतों का आविर्भाव इसी एक अहंकार तत्त्व से मानता है। उक्त मन से संकल्पित विषयों को निजी अभिमानात्मक व्यापार में आबद्ध करके तृतीय अन्तःकरण रूप में मान्य बुद्धि को दे देना यह अहंकार का काम है और बुद्धि वह तृतीय अन्तःकरण है जहाँ जाकर प्रदर्शित करणश्रंखला समाप्त हो जाती है। उक्त प्रक्रिया के अनुसार अहंकार द्वारा अभिमत विषयों को अध्यवसित करना यह बुद्धि का निजी काम माना जाता है। सांराश यह कि किसी भी वस्तु के सम्बंध में निश्चयात्मक अध्यवसाय करना यह बुद्धि का काम है। यह बुद्धि सत्त्वगुण-प्रधान मानी जाती है इसलिए यह माना जाता है कि असंग चैतन्यात्मक पुरुष की इस बुद्धि में छायापत्ति होती है। अर्थात् एक तरह से उसके साथ बिम्बप्रतिबिम्ब-भाव होता है। इस बुद्धि तत्व को ही सांख्ययोग-सिद्धान्त में महत्तत्व भी कहा गया है। यह बुद्धि मूलप्रकृति की एकमात्र पुत्री मानी गयी है। बन्ध और मोक्ष सब तत्त्वतः इस बुद्धि के ही धर्म हैं साँख्यशास्त्रियों का कहना है कि धर्म-अधर्म, ज्ञान-अज्ञान, वैराग्य-अवैराग्य और ऐश्वर्य-अनैश्वर्य ये सभी इस बुद्धितत्त्व में ही आश्रित होते हैं, जिनके अन्दर सात धर्मों से बुद्धि स्वयं अपने को बाँधती है और एक से अपने को मुक्त करती है। तात्पर्य यह है कि उक्त आठ भावों के अन्दर ज्ञान को छोड़ कर धर्म आदि उक्त सात धर्मी से बुद्धि स्वयं अपने को बाँधती है और अवशिष्ट एकमात्र ज्ञानात्मक धर्म से अपने को मुक्त करती है। इस ज्ञानपद से सांख्यसिद्धान्त में विवछित होता है प्रकृति और पुरुष का पार्थक्य-ज्ञान। इस प्रकृति पुरुष-पार्थक्य-ज्ञान के अन्दर प्रकृति पद से

---

(१५१) रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नयात्यामानमात्मना प्रकृतिः।
सच च पुरुषार्थ प्रति विमोचयत्येकरूपेण।। ६३॥ *-ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका।*

बुद्धितत्त्व मात्र विवक्षित होता है। फलतः यदि विचार करके देखा जाय तो इस बुद्धितत्त्व में आकर कर्त्ता, कर्म और करण इन तीनों का विरोध समाप्त हो जाता है।[१५१] क्योंकि बुद्धि स्वयं ही अपने को बाँधती है। इसलिए वह बंधनात्मक क्रिया का कर्त्ता भी होती है और कर्म भी। और जिन धर्म अधर्म आदि के द्वारा बाँधती है वे सारे धर्म भी, धर्म और धर्मी इनकी साँख्यसिद्धान्त में अभिन्नता मान्य होने के कारण, बुद्धिस्वरूप ही होते हैं। बुद्धि ही अन्तःकरण भी हो जाती है। इन मन, अहंकार और बुद्धि के बीच सांख्यसिद्धान्त प्रकृति-विकृतिभाव मानता है। बुद्धि को अहंकार की और अहंकार को मन की प्रकृति तदनुसार अहंकार को बुद्धि की विकृति एवं मन को अहंकार की विकृति माना जाता है। परिणामी कहलाता है प्रकृति और परिणाम कहलाता है विकृति। इस प्रकृतिविकृति-भावापन्न रूप में अन्तःकरण का वास्तविक त्रित्व सांख्ययोग सिद्धान्त की अपनी विशेषता है इसके अतिरिक्त इन अन्तःकरणों के सम्बंध में मौलिक रूप से एक नयी मान्यता साँख्य-योग सिद्धान्त में यह भी है कि ये त्रिविध अन्तःकरण जो कि स्वतंत्र तत्त्वों के रूप में मान्य हैं अलग-अलग स्वतंत्र कार्य का सम्पादन करते हुए शारीरिक-प्राणधारणात्मक एक कार्य का सम्पादन आपस में मिल कर करते हैं। इस सम्बंध में साङ्‌यशास्त्र का कहना यह है कि यदि किसी एक खाँचे या पिजड़े के अन्दर बहुत पक्षी रख दिये जायँ और उसके अन्दर विद्यमान उन बहुत पक्षियों के अन्दर प्रत्येक पक्षी चंचलतापूर्वक फड़फड़ा उठें, तो पक्षियों के उस सम्मिलित चलन के फलस्वरूप वह खाँचा या पिजड़ा अवश्य चलनशील हो उठेगा, जैसा कि देखा भी जाता ही है। तदनुसार शरीर के अन्दर विद्यमान उक्त अन्तःकरण त्रय के सम्मिलित व्यापार के फलस्वरूप शरीर में प्राणधारणात्मक फलतः श्वास-प्रश्वासात्मक व्यापार तब तक चालू रहता है तब तक लिंग शरीर के निर्गम प्रयुक्त अन्तःकरणों का भी इस षाट्कौशिक स्थूल-शरीर से निर्गमन नहीं हो जाता है। कुछ सांख्यसिद्धान्ती इस प्राणधारणात्मक कार्य का सम्पादक केवल अन्तःकरण त्रय को नहीं मानते। उनका कहना है कि उक्त अन्तःकरणत्रय और दश बाह्य इन्द्रियाँ इन सबके सम्मिलित व्यापार के फलस्वरूप प्राणियों का प्राणधारण हो पाता है। अस्तु। प्रकृत वक्तव्य यह है कि नैयायिक एवं वैशेषिक लोग जहाँ एक मन को ही मानते हैं साङ्ख्य एवं योगसिद्धान्त के उपासक वहाँ मन के अतिरिक्त अहंकार और बुद्धि इन और दो अन्तःकरणों को मान्यता देते हैं और तीनों अन्तःकरणों को अलग-अलग स्वतंत्र तत्त्व मानते हैं।

अद्वैत-वेदान्त सिद्धान्त[१५२] में अन्तःकरण की मान्यता इस प्रकार है कि तत्त्वतः तो अन्तःकरण एक ही है उक्त सांख्यसिद्धान्त की तरह, तत्त्वतः, तत्त्वान्तर रूप में अन्तःकरण का वैविध्य वेदान्तसिद्धान्त को मान्य नहीं है किन्तु क्रियागत विविधता को देखते हुए एक ही अन्तःकरण चार प्रभेदों में विभक्त रूप से मान्य होता है। वे चार क्रियाएं

---

(१५२) मनोबुद्धिरहंकारश्चित्तं। संशयो निश्चयोगदः स्मरणं विषया इमे॥

-वेदान्तपरिभाषा।

वेदान्त ग्रन्थों में किये गये वर्णन के अनुसार है संशय, निश्चय, गर्व और स्मरण। तात्पर्य यह प्राप्त होता है कि संशयात्मक ज्ञान का सम्पादक अन्तःकरण कहलाता हैं मन, निश्चयात्मक ज्ञान का सम्पादक अन्तःकरण कहलाता है बुद्धि, गर्वयुक्त अर्थात अभिमानात्मक व्यापारशाली अन्तःकरण कहलाता है अहंकार और स्मरणात्मक कार्य का सम्पादक अन्तःकरण कहलाता है चित्त। कहने का अभिप्राय यह कि एक ही आग जिस प्रकार किसी वस्तु को जलाने के कारण कहलाती है 'दाहक' और किसी वस्तु को पकाने के कारण कहलाती है 'पाचक' एवं वस्तुओं को प्रकाशित करने के कारण कहलाती है 'प्रकाशक' किन्तु तत्त्वतः वह आग एक ही होती है। इसी प्रकार अन्तःकरण है तो तत्त्वतः एक ही, किन्तु उक्त संशय आदि चार कार्यों के सम्पादक होने के कारण उक्त मन, बुद्धि आदि चार नामों से पुकारा जाता है। इस विवेचन से अन्तःकरण के सम्बंध में सांख्यसिद्धान्त और अद्वैत-वेदान्त-सिद्धान्त इन दोनों में अन्तर यह प्राप्त होता है कि सांख्य [१५३] जहाँ अन्तःकरण को त्रिविध मानता है वहाँ अद्वैत वेदान्त अन्तःकरण चार मानता है। परन्तु सांख्य जिस प्रकार उक्त स्वमत-सिद्ध तीनों अन्तःकरणों को तत्त्वान्तर मान कर अत्यन्त भिन्न बतलाता है, अद्वैत-वेदान्त वैसा मानता नहीं। वह तत्त्वतः नैयायिक और वैशेषिकों की तरह अन्तःकरण को एक ही मानता है। यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि सांख्य जहाँ किसी भी एक विषय में क्रमशः मन, अहंकार और बुद्धि इन अन्तःकरणों का नियमित रूप से व्यापार मानता है अद्वैत-वेदान्त वहाँ वैसा नहीं मानता। क्योंकि वेदान्त-सिद्धान्त में ऐसा नहीं माना जाता कि अहंकार के द्वारा किसी भी वस्तु के सम्बंध में गर्व होने पर उसके अनन्तर ही चित्त के द्वारा उस विषय के सम्बंध में स्मरण होगा ही। इसी प्रकार यह भी नियम नहीं है कि बुद्धि के द्वारा किसी भी वस्तु का विषयीकरण अर्थात उस विषय के सम्बंध में निश्चय होने के अनन्तर क्षण में अहंकार उस विषय के सम्बंध में गर्व उपस्थित करेगा ही। साथ ही सांख्य सिद्धान्त, जिस प्रकार बाह्य आँख आदि के अन्दर किसी एक इन्द्रिय और उक्त अन्तःकरण त्रय इन चारों की स्थल-विशेष में एक ही साथ वृत्तियाँ एक ही विषय में हो आती हैं ऐसा मानता है, वेदान्त-सिद्धान्त वैसा मानता नहीं। कहने का तात्पर्य यह कि सांख्य सिद्धान्त ऐसा मानता है कि कोई भी व्यक्ति यदि घनान्धकार में बिजली छिटकने पर किसी व्याघ्र आदि भायनक जन्तु को देखता है तो वह तुरन्त लौट पड़ता है। इससे पता चलता है कि वहाँ आँख, पाँव और मन, अहंकार एवं बुद्धि इन सबके व्यापार साथ ही अर्थात एक क्षण में ही हो जाते हैं। परन्तु वेदान्त सिद्धान्त वहाँ ऐसा नहीं मान सकता। क्षण भेद वहाँ अवश्य मान्य होगा।

शैव-सिद्धान्त अन्तःकरण के सम्बंध में सांख्य सिद्धान्त का अनुगन्ता है क्योंकि सांख्ययोक्त तत्त्वों को वह यथावत् अपने सिद्धान्त में स्थान देता हुआ पाया जाता है। बौद्ध

---

(१५३) अन्तःकरण त्रिविधम्... ... ...
त्रिकालमाभ्यन्तर करणम्॥ —ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका।

सिद्धान्तों के अन्दर शून्याद्वैती तो शून्यातिरिक्त कुछ तत्त्व मानते नहीं, अतः तात्त्विक रूप में उनके सिद्धान्त में अन्तःकरण या मन नाम से कोई वस्तु मान्य हो ही नहीं सकती। जगत को साम्वृतिक कहते हुए भी अद्वैत-वेदान्तियों की तरह शून्याद्वैती लोग व्यावहारिक वस्तुओं का कोई सुश्रृंखल विवेचन नहीं करते। इसलिए व्यावहारिक रूप में भी मन या अन्य अन्तःकरण की मान्यता उनके सिद्धान्त में नहीं कहीं जा सकती। योगाचार-साम्प्रदायिक-बौद्ध सिद्धान्त में किन्तु ऐसी बात नहीं है। क्योंकि यह सम्प्रदाय क्षणिक-विज्ञानधारा को तथ्य मानता है इत्यादि बातें पहले बतलायी जा चुकी। तदनुसार मन को भी विज्ञान रूप ही माना जाता है। इसलिए वसुबन्धु ने अभिधर्म-कोश में मन की गणना सात धातुओं के अन्दर करते हुए यह कहा है कि 'चाक्षुष आदि विज्ञानों का अनन्तरातीत अर्थात अव्यवहित पूर्व होने वाला क्षणिक विज्ञान ही है मन'। गम्भीरतापूर्वक इसे सोचने पर पर्यवसित अभिप्राय यह प्राप्त होता है कि मन भी क्षणिक-विज्ञान-धारात्मक-आत्मा में ही अन्तर्भुक्त हो जाता है। मन के सम्बंध में प्राप्त होने वाला अभिधर्म-कोश का उक्त कथन मुख्यतः बाह्यास्तित्ववादी सौत्रान्तिक और वैभाषिक मतवादों के ही दृष्टिकोण से कहा गया है। क्योंकि उक्त ग्रन्थ बाह्यास्तित्ववाद का ही है। परन्तु यहाँ क्षणिक विज्ञानमात्र-तत्त्वतावादी से सौत्रान्तिक-साम्प्रदायिक बौद्धों का मतैक्य अनिवार्य है। जैन-सिद्धान्त में भी मन मान्य है किन्तु नैयायिकों और वैशेषिकों की तरह जैन लोग मन को निरवयव अणुरूप नहीं मानते। क्योंकि वहाँ भी अद्वैत-वेदान्त सिद्धान्त की तरह मन की विषयाकाराकारिता मान्य है। अर्थात जैन मत में भी मन विषय का आकार ग्रहण करता है। अतः अद्वैत-वेदान्त मत के समान वहाँ भी मन सावयव ही मान्य होता है। इस मन के सम्बंध में मीमांसकों का कहना यह है कि मन अणु नहीं विभु है। किन्तु स्वतः ऐसा होने पर भी वह इन्द्रिय, शरीरावच्छिन्न रूप में ही होता है। इसलिए शरीर प्रदेश में ही मन कार्यकारी होता है। बाह्य वस्तुओं के प्रत्यक्ष-स्थलों में ज्ञापक हेतु आदि इन्द्रियों के अधीन होकर कार्य करता है और अनुमिति आदि स्थलों में ज्ञापक हेतु आदि से सहकृत होकर अनुमिति आदि ज्ञानों का उत्पादक हो पाता है। इसके अनुसार शून्याद्वैती बौद्धों को छोड़ कर अन्य सभी दार्शनिक मन को मान्यता देते हैं। अतः यह एक तरह से सर्वतंत्र-सिद्धान्त वस्तु है।

प्रकृत चार्वाकीय-दृष्टिकोण के अनुसार मन केवल भौतिक ही नहीं है किन्तु शरीरात्मक प्रमाला का वह एक अवयव भी है, जिसकी चर्चा पहले भी की जा चुकी है। सारांश यह कि मन अवयव भी है और अवयवी भी। मन को शरीर का अवयव मानना इसलिए भी संगत प्रतीत होता है कि भोजन आदि के सौष्ठव से शरीर के साथ-साथ मन की भी पुष्टि होती हुई पायी जाती है। उपनिषदों में भी मन को खाद्य पदार्थ के उपयोग के अनन्तर क्रमशः परिपाक प्राप्त उसका अति सूक्ष्म अंश ही माना गया है। इससे भी मन की शरीरावयवता ही व्यक्त होती है। क्योंकि परिपाक रस, शोणिक मांस आदि परिस्थितियों

में ही होने वाला माना जाता है जिन्हें शरीर के अवयव के अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता। सुतरां उस अवयव क्रम से परिपक्व होने वाला अर्थात उत्पन्न होने वाला होता है मन, यह मानना ही होगा। शरीर में सर्वत्र फैले हुए नाड़ी-जाल से सम्बद्ध होने के कारण बाह्य विषयों का सम्पर्क वहाँ स्थापित हो जाता है तदनुसार मस्तिष्क स्वरूप मन में जो कि शरीर का ही एक देश होता है, अवयव होता है, ज्ञानात्मक क्रिया हो उठती है, इत्यादि बातें पहले कहीं जा चुकी हैं। सावयव प्रत्येक वस्तु नियमत: मध्यम परिमाणक हुआ करती है और इसीलिए अनित्य भी तदनुसार मन को भी ऐसा ही समझना चाहिए। मस्तिष्क पद से साधारण जनता भी मस्तक को ही कहती है इसलिए मन जिसे ही मस्तिष्क कहा जाता है अवश्य मस्तक का ही प्रदेश-विशेष है।

ऐसा मानना युक्ति-सिद्ध इसलिए भी है कि भौतिक चिकित्सा का प्रभाव प्राणी के मन पर पड़ता हुआ पाया जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि मानसिक परिस्थिति अस्तव्यस्त होने पर उसके लिए भी चिकित्साशास्त्र में की गयी व्यवस्था पायी जाती है। तदनुसार भौतिक औषधों का उपयोग करने पर, उसका सेवन करने पर बुद्धि में स्वस्थता आती हैं यह बात पायी जाती है। भौतिक औषधों का सेवन करने पर, उसे नियमित विधि-विधान के अनुसार खाने पर, अवश्य ही उसका प्रभाव अन्य भक्ष्य और पेय की जाठर पाक-प्रक्रिया की पद्धति से ही पड़ता होगा यह मानना ही होगा। अन्यथा मरे शरीर में भी उक्त औषध के प्रभाव की आपत्ति अनिवार्य हो उठेगी। जो प्रभाव कि देखा जाता नहीं। जाठर पाक-प्रक्रिया से जो भक्ष्य पेय आदि प्रभावकारी होते हैं वह प्रभाव अवश्यं इस शोणित, मांस आदि की प्रक्रिया से ही सम्भव है। अत: औषधों के सेवन से मन की स्वस्थता जब कि होती हुई पायी जाती है तो यह आवश्यक है कि मन को इस भौतिक शरीर का ही एक अवयव, एक अंश माना जाय। यदि मन को नित्य निरवयव मानने का आग्रह किया जायेगा तो वह अवश्य मांसशोणित, अस्थिमय इस शरीर से उस प्रकार घनिष्ठ सम्पर्कशील नहीं होगा। अत: उसके ऊपर अनुभूयमान भौतिक-औषध सेवन का प्रभाव नहीं पड़ सकेगा। इसके अतिरिक्त एक ध्यान देने की बात यह भी है कि उपनिषद में यह स्पष्ट बतलाया गया है कि प्राणी जो भी कुछ खाता एवं पीता है उसका सारभूत सूक्ष्म अंश प्राणियों के मन बन जाते हैं। उषनिषद की इस बात को कम-से-कम वे दार्शनिक अवश्य मानने के लिए बाध्य होंगे जो वेद के ऊपर आस्था रखने का अभिमान रखते हैं। और उपनिषद् की इस बात को मान लेने पर कोई उपाय नहीं रह जाता कि मन को अभौतिक, अतिरिक्त, द्रव्य माना जाय, शरीर का अवयव न माना जाय। क्योंकि खाये-पीये गये अन्न जल से उस सूक्ष्य सारभूत मन की सृष्टि अवश्य स्थूल या शोणित, मांस, अस्थि आदि क्रम से ही होगी। जब कि ये शोणित, मांस आदि शरीर के अवयव ही होते हैं अनवयव नहीं तब सूक्ष्म ही क्यों न हो अत्यन्त सारभूत ही क्यों न हों, उन्हीं खाद्य और पेयों से बना हुआ मन भी अवश्य अन्य अवयवों के समान एक प्रकार अवयव ही हो

सकता है और कुछ नहीं। वेदान्तियों ने जो मन की इन्द्रियता के विरुद्ध यह कहा कि 'मन को इन्द्रिय मन लेने पर उससे उत्पत्तिशील होने के कारण सारे ज्ञान प्रत्यक्ष हो पड़ेगे' यह कथन चार्वाक-सिद्धान्त का इसलिए कुछ नहीं बिगाड़ सकता कि यहाँ तो सारे ज्ञान प्रत्यक्ष ही हैं, अनुमिति आदि भी प्रत्यक्ष के ही प्रभेद हैं, कोई स्वतंत्र प्रमिति नहीं, यह बात पहले विस्तार पूर्वक बतलायी जा चुकी है। सावयव तो मन को वेदान्ती लोग भी मानते ही हैं। मीमांसक लोग एवं सांख्य तथा योगसिद्धान्ती लोगों ने जो मन को व्यापक [१५४] माना है वह इसलिए असंगत है कि उत्पत्तिशील कोई भी वस्तु व्यापक हो नहीं सकती। उक्त तीनों ही दर्शन अपने को वैदिक होने का अभियान करते पाये ही जाते हैं। ऐसी परिस्थिति में जब कि उपनिषिद का यह कथन है कि मन उत्पत्तिशील वस्तु है तब उसे नित्य तो कहा नहीं जा सकता। उत्पत्तिशील पदार्थ व्यापक हो नहीं सकता यह बात अभी कही जा चुकी है। मीमांसकों से यह भी कहना है कि जब इन्द्रियता, वे मन को शरीर से सीमित रूप में ही मानते हैं फिर व्यापकता का आग्रह क्यों? अव्यापक होने पर वह गतिशील होने के कारण भी तो विभिन्न स्थानों में होने वाले कार्य का सम्पादन कर सकता है? साँख्ययोग सिद्धान्तियों से कहना यह है कि सम्भवतः कार्यव्यूह के सम्पत्त्यर्थ ही तो आप लोग मन को व्यापक मानने का आग्रह कर रहे है? तो उसका सम्पादन विभिन्न शरीर-सृष्टि के साथ विभिन्न किन्तु प्रधान एक मन के अनुगत विभिन्न मन की सृष्टि को मान्यता देकर भी तो उक्त उपपत्ति कर सकते। जब कि योग का प्रभाव ऐसा अचिन्त्य और अद्भुत मान्य है कि योगी एक ही समय अपनी इच्छा के अनुसार अजस्र शरीर का निर्माण कर सकता है तो उन शरीरों के साथ असंख्य अनुकूल मन की सृष्टि वह क्या नहीं कर सकता?

बौद्धों का उक्त मन सम्बंधी मतवाद इसलिए उचित प्रतीत नहीं होता कि एक ओर तो उन्होंने चाक्षुष से लेकर मानस तक सभी प्रकार प्रत्यक्ष ज्ञान के [१५५अ] अनन्तरातीत अर्थात अव्यवहित पूर्ववर्त्ती क्षणिक विज्ञान को मन कहा है और दूसरी ओर मन को छठे विज्ञान का अर्थात मानस-विज्ञान का आश्रय कहा है। गम्भीर भाव से विचार करने पर ये दोनों बातें आपस में परस्पर विरुद्ध प्रतीत होती हैं। क्योंकि जिस प्रकार मानस रूप से अभिप्रेत विज्ञान के अव्यवहित पूर्ववर्त्ती विज्ञान को वे मन कहते हैं तद्वत् उस मन रूप से मान्य होने वाले क्षणिक विज्ञान का अव्यवहित पूर्ववर्त्ती क्षणिक विज्ञान उसके प्रति तुल्य युक्ति-प्रयुक्त मन मान्य होगा जिस क्षणिक विज्ञान को मानस विज्ञानात्मक कार्य कहा गया है वह भी अपने परवर्त्ती क्षणिक विज्ञान के प्रति मन बन बैठेगा। इस प्रकार सारे क्षणिक विज्ञान अव्यवहित भाव से अपने परवर्त्ती क्षणिक विज्ञान के प्रति मन हो बैठेंगे।

---

(१५४) मनस्तु ....तस्य च विभत्वं साधयिष्यते। *-मानमेयोदय।*

(१५४अ) षण्णामनन्तरातीतं विज्ञानं यद्धितन्मनः। *-अभिधर्मकोश।*

अनन्तरं अतीत पूर्वकालिकंच यद्वि ज्ञानं तदेव मन इत्युच्यते।

-राहुल सांकृत्यायन टीका।

और ऐसा मान लेने पर उन सब में आश्रित होने वाले विज्ञान कौन होंगे, जिनका आश्रय होने के कारण उनकी उक्त परिभाषा के अनुसार क्षणिक विज्ञान मन कहलाने के अधिकारी होंगे? यदि यह कहा जाय कि सभी क्षणिक विज्ञान मन भी हैं और मानस भी। मन होने की प्रक्रिया ऊपर बतलायी जा चुकी है। मानस ज्ञान सभी क्षणिक विज्ञान अपने-अपने अव्यवहित पूर्ववर्त्ती क्षणिक विज्ञानस्वरूप मन को लेकर होंगे। ऐसी परिस्थिति में पूर्ववर्त्ती क्षणिक विज्ञानात्मक मन को परवर्त्ती क्षणिक विज्ञानात्मक मानस का आश्रय भलीभाँति कहा जा सकता है। तो यह कथन इसलिए संगत नहीं हो पायेगा कि अत्यन्त असमान कालिक किन्हीं दो के बीच आश्रयाश्रयिभाव हो नहीं सकता। ऐसी दो वस्तुओं में आश्रयाश्रयिभाव कभी होता नहीं जो अल्प समय के लिए भी साथ नहीं रहते। बौद्ध सिद्धान्त में प्रत्येक सत् क्षणिक होने के कारण पूर्वापरीभूत दो क्षणिक विज्ञानों को सहभाव हो कैसे सकता? यदि यह कहा जाय कि कथित आश्रयाश्रयिभाव आधाराधेयभावस्वरूप नहीं विवक्षित है किन्तु कार्यकारणभावस्वरूप विवक्षित है। जो जिसकी अपेक्षा करता है वह तदाश्रित कहलाता ही है। जैसे मालिक और नौकर इन दोनों के बीच मालिक कहलाता है आश्रय और नौकर कहलाता है आश्रित। क्योंकि नौकर मालिक की इच्छा का अनुरोध करता है, उसकी अपेक्षा रखता है। प्रकृत में भी परवर्ती कार्यभूत मानस विज्ञान पूर्ववर्त्ती कारणभूत मनस्वरूप विज्ञान की अपेक्षा करता है अत: प्रदर्शित पद्धति के अनुसार परवर्त्ती क्षणिक-विज्ञान आश्रित और पूर्ववर्त्ती क्षणिक-विज्ञान भलीभाँति आश्रय कहला सकता है। अत: उक्त आश्रयाश्रयिभाव असंगत नहीं कहला सकता। तो यह कथन भी इसलिए संगत नहीं हो सकता कि बौद्ध-सिद्धन्त में प्रत्येक वस्तु स्वलक्षण ही मान्य है। स्वलक्षण का पर्यवसित अर्थ होता है सर्वथा असंग। इसके अनुसार प्रत्येक क्षणिक विज्ञान को भी स्वलक्षण फलत: असंग मानना पड़ेगा। परन्तु यह होना कठिन इसलिए हो पड़ेगा कि पूर्ववर्त्ती और परवर्त्ती क्षणिक-विज्ञानों के बीच जबकि उक्त आश्रयाश्रयिभावस्वरूप कार्यकारणभाव सम्बंध माना जा रहा है तो प्रत्येक क्षणिक-विज्ञान को अव्यवहित रूप से आगे और पीछे होने वाले क्षणिक-विज्ञानों से नियमत: सम्बंध मान्य हो उठने के कारण सारे क्षणिक-विज्ञान नियमत: ससंग हो उठेंगे। एक भी क्षणिक विज्ञान असंग न हो पाने के कारण स्वलक्षण न हो पायेगा। महान अपसिद्धन्त आपन्न हो उठेगा। इसलिए उक्त प्रकार बौद्ध सम्मत मन का निरूपण उचित नहीं कहा जा सकता। इस अन्तिम युक्ति से विज्ञान बाह्य भी मन मान्य नहीं ठहराया जा सकता बाह्यास्तित्ववाद का आश्रय करके। क्योंकि स्वलक्षणता वहां भी मान्य हैं।

नैयायिक और वैशेषिकों के सम्बंध में यहाँ कुछ कहने की आवश्यकता इसलिए नहीं प्रतीत हो रही है कि वे स्वयं ही उसके सम्बंध में गृहकलह से आक्रान्त पाये जाते हैं। क्योंकि परवर्त्ती नव्य तार्किक रघुनाथ शिरोमणि ने मन को स्वतंत्र द्रव्य नहीं माना है। उसका कहना है कि किसी भौतिक को ही मन मानकर जब कि काम चलाया जा सकता

है तब उसे क्यों अतिरिक्त स्वतंत्र द्रव्य माना जाय? साथ ही उन्होंने मन को परमाणु-परिमाण-युक्त भी नहीं माना है। मानें भी कैसे? क्योंकि पार्थिव जलीय तैजस एवं वाययीय सर्वाधिक क्षुद्र कणों को भी जब वे परमाणु नहीं मानते। छोटा-से-छोटा होने पर भी पूर्ववर्त्ती नैयायिकों द्वारा त्र्यणुक रूप से स्वीकृत भौतिक-कणतुल्य ही सर्वाधिक क्षुद्र भौतिक कणों को उन्होंने माना है। यद्यपि परमाणु न मानकर त्रुधि में ही अवयवावयवि-धारा का विश्राम इनके कुछ पूर्ववर्ती नैयायिक मानते थे, ऐसा आभास पाया जाता है फिर नव्य नैयायिक-सम्प्रदाय के अन्दर इन्होंने ही इस बात को स्पष्ट रूप से कहा है अत: यह मतवाद आजकल इन्हीं के नाम से प्रचलित है। तदनुसार ही यहाँ भी यह कहा गया है कि रघुनाथ-शिरोमणि परमाणु नहीं मानते थे। प्रकृति वक्तव्य यह कि मन का न्यायमतसिद्ध पूर्ववर्णित स्वरूप भी मान्य नहीं हो सकता। इसे निरवयव नित्य एवं परमाणु-परिमाण युक्त नहीं माना जा सकता। इस प्रकार मन के सम्बंध में विभिन्न दार्शनिक मतों की आलोचना करने के अनन्तर स्वत: यह प्राप्त हो जाता है कि इस मन के स्वरूप के सम्बंध में निश्चितरूप से पूर्वप्रतिपादित चार्वाकीय मत ही संगत है। संभव है यहाँ कुछ लोग यह प्रश्न उपस्थित करें कि प्राचीन साहित्य में मन और हृदय इन दोनों शब्दों को पर्यायवाची माना गया है और हृदय का स्थान मस्तक माना नहीं जाता। ऐसी परिस्थिति में यह कैसे कहा जा सकता कि मन का स्थान मस्तक में है? तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि हृदय प्राण का केन्द्र स्थान है इसलिए मस्तकस्थित मस्तिष्कस्वरूप मन का उस प्राणकेन्द्रस्वरूप हृदय स्थान से सौत्रिक घनिष्ठता है। इसी घनिष्ठ सम्बंध के कारण हृदय को औपचारिक रूप में मन कहा गया है। यही कारण है कि आँख आदि, अधिकतर प्रत्यक्ष साधन जिन्हें कि अन्य दार्शनिक-लोग-मुख्य रूप में ज्ञानेन्द्रिय मानते हैं सभी गले के ऊपर ही अवस्थित हैं। इन चार्वाकीय-सिद्धान्त में तो मुख्य रूप से मन मात्र को इन्द्रिय मानना है यह बात पहले बतलायी जा चुकी है।

चार्वाक-मत और इन्द्रियाँ-

चार्वाक-सिद्धान्त में केवल मन ही इन्द्रिय रूप में मान्य है इस कथन पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है फिर आँख, कान आदि ज्ञानसाधनों एवं हाथ, पाँव आदि क्रियासाधनों की मान्यता चार्वाकसिद्धान्त में कैसी है? तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि ये आँख, कान, नाक आदि भी ज्ञान के एवं हाथ, पाँव आदि भी क्रिया के सम्पादन में उपयुक्त अवश्य है परन्तु ये सभी मन तक विषय को पहुंचाने में ही उपयुक्त होते हैं अत: इन्हें विषय-प्रकाशन आदिस्वरूप कार्य के लिए मुख्यता नहीं दी जा सकती। अद्वैत-वेदान्त सिद्धान्त भी आँख आदि को वह महत्त्व नहीं प्रदान करता हुआ पाया जाता है जैसा कि न्यायवैशेषिक आदि दर्शनसिद्धान्त में इन्हें महत्त्व प्राप्त है। क्योंकि वेदान्त स्पष्ट रूप से यह कहता है कि आँख, कान आदि वे नालियाँ हैं जिन मार्गों से अन्त:करण का बहिर्निगम होकर उसकी विषयकाराकारिता होती है। इसके अतिरिक्त अपनी मान्यता के अनुसार यह

चार्वाक सिद्धान्त अन्य दार्शनिकों से इस विषय पर भी सहमत नहीं हो सकता कि आँख-आदि बाह्य विषय तक जाते हैं। क्योंकि चाक्षुष प्रत्यक्ष स्थल में प्रदीप रास्ते की तरह जो रश्मियाँ विषय तक जाती हैं न वे इन्द्रिय हैं और न वह चर्मावृत मांसपिण्डात्मक चर्मपुटक[१५५] मध्यस्थित गोलकद्वय। जिसको बौद्ध लोग आँख मानते हैं। बौद्ध लोग उक्त गोलग की आँख मानने के पक्ष में यह युक्ति देखते हैं कि जब किसी प्रकार की अक्षिपीड़ा उपस्थित होती है तो उसकी निवृत्ति उक्त गोलक की चिकित्सा से होती हुई पायी जाती है। अतः गोलक को ही आँख मानना उचित है। परन्तु वह पीड़ानिवृत्तिस्वरूप स्वास्थ्य-लाभ तो चिकित्सा द्वारा मार्गपरिष्कार प्रयुक्त भी कहा जा सकता है। अद्वैत-वेदान्तसम्मत अन्तःकरण का बहिर्निर्गम भी इसलिए मान्य नहीं प्रतीत होता कि अत्यन्त दूरवर्ती शाखा और चन्द्रमा दोनों को द्रष्टा साथ देखता है। यदि अन्तःकरण का निर्गम माना जाय और विषय देव तक जाकर उसकी विषयाकाराकारिता मानी जाय तो परस्पर में अत्यन्त दूरवर्ती शाखा और चन्द्रमा का समसामयिक रूप में अनुभूतमान ग्रहण इसलिए नहीं उचित कहला पायेगा कि अन्तःकरण को उक्त दोनों विषय देश तक जाने में समान समय नहीं अपेक्षित होंगे। विषय-देश तक चक्षुरश्मिगतिवादी नैयायिकों और वैशेषिकों के सक्षम भी जब यह प्रश्न अन्य दार्शनिकों द्वारा उठाया गया तो उन्होंने यद्यपि इसका उत्तर यह दिया कि नायन-रश्मियाँ अत्यन्त द्रुतगतिशील होती हैं इसलिए रश्मिस्वरूप आँख की दूरगति लक्षित नहीं हो पाती है। परन्तु यह उनका उत्तर इसलिए सबल नहीं प्रतीत होता कि शाखा और अतिदूरवर्ती नक्षत्रों के बीच अल्प दूरी नहीं रहती। अत्यन्त दूरी की परिस्थिति में कुछ-न-कुछ विलम्ब और अविलम्ब का तो भान होना चाहिए। अतः उक्त नैयायिकीय उत्तर का आश्रयण कर चार्वाकसिद्धान्ती अन्तःकरण के विषय देश तक होने वाले गमन का समर्थन नहीं कर सकते।

कान के सम्बंध में जो वेदान्तियों का यह सिद्धान्त प्राप्त होता है कि कर्णेन्द्रिय वहाँ जाकर शब्द ग्रहण करती है, जहाँ वह शब्द उत्पन्न होता है, यह भी उचित नहीं प्रतीत होता है। क्योंकि कान पर से यदि लोकप्रसिद्ध लघु सच्छिद्र चर्ममांस पिण्ड को लिया जाय तो अति दूरवर्ती शब्द स्थान तक गति कैसे सम्भव हो सकती? क्योंकि अन्यत्र गतिशील वस्तु का अन्यत्र साक्षात्कार होता नहीं, उक्त कान को सदा ही शरीरावयव के रूप में शरीर संलग्न ही पाया जाता है। साथ ही ऐसा मानने में यह कठिनाई प्रतीत होती है कि दूरोत्पन्नऔर निकटोत्पन्न दोनों शब्दों का सामसामयिक श्रवण होता हुआ पाया जाता है जो कि उपपन्न नहीं किया जा सकता। क्योंकि अति दूरवर्त्ती शब्दस्थन में जिस समय कान

---

(१५५) जा तिगोचरविज्ञानसामान्यादेकधातुता।
द्वित्वेऽपि तु चक्षुरादीनां शोभार्य तु तदुद्भवः॥ *–अभिधर्मकोश।*
तेषां चक्षुरादीनां एकधातुतैव सिद्ध भवति। गोलकद्वयोत्पत्तिस्तु शोभार्था।
–अभिधर्मकोशटीका, राहुल सांकृत्यायन।

चला जाय उस समय यहीं निकटवर्त्ती शब्द के उद्‌गम-स्थान में वह दूरगत कर्णेण्द्रिय कैसे उपस्थित रह पायेगी? चर्ममांस पिण्डात्मक कर्णछिद्र से परिच्छिन्न आकाश को कान मानने पर तो शब्द देश तक उसका निर्गम और भी असंगत हो उठता। क्योंकि निरवयव आकाश की वहाँ तक गति कैसे उपपन्न हो सकती? यदि महान् आकाश को ही कान मान लिया जाय फिर भी उसकी गति नहीं बतलायी जा सकती। क्योंकि व्यापक वस्तु कभी गतिशील हो नहीं सकती। चार्वाकीय-दृष्टिकोण से तो आकाश कोई भाव-वस्तु ही नहीं मान्य है कि किसी भी प्रकार उसकी गति समर्थित हो सके। आकाश कोई स्वतंत्र भावात्मक वस्तु नहीं वह भाव का अभाव या उसकी विरलता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है यह बात आगे बतलायी जायेगी।

यद्यपि चार्वाक-सिद्धान्त में गुण और गुणी इनमें कोई तात्त्विक अन्तर मान्य नहीं है फिर भी अनुभव के आधार पर स्थलविशेष में कान और नाक इनके माध्यम से शब्दांश और गन्धांश मात्र का भी ग्रहण मान्य होता है। क्योंकि दूरवर्त्ती वाद्यों के भी शब्द सुने जाते हैं। दूरवर्त्ती पुष्प का भी सुगन्ध-ग्रहण होता हुआ पाया जाता है। जिह्वा को किसी भी परिस्थिति में सर्वथा केवल रसग्राहक मानना उचित नहीं प्रतीत होता। क्योंकि खाद्य वस्तु अति अपरिचित होने पर भी रसग्रहण के साथ विशेष रूप से न सही, सामान्य रूप द्रव्यांश अर्थात् भूतांश का ग्रहण भी नियमतः होता ही है। क्योंकि भूत दूरवर्ती हो और जिह्वा के द्वारा केवल उसका रसाँश गृहीत हो जाय यह बात कभी होती नहीं। त्वक् सेस्पर्शांश और द्रव्यांश दोनों का ग्रहण होता है।

वस्तुतः नाक, कान आदि को इन्द्रिय मानने की और न मानने की परिस्थिति, इन दोनों परिस्थितियों में सावतव रूप से समस्त शरीर व्याप्त त्वक् को ही मुख्य इन्द्रिय रूप से मान्य मन का सहायक समझना चाहिए। क्योंकि लाघव इसी में प्रतीत होता है। आँख से रस का और जिह्वा से रूप का ग्रहण क्यों नहीं आपन्न होगा? यह प्रश्न इसलिए नहीं उठाया जा सकता कि त्वक् के विभिन्न अंशों को अनुभव के आधार पर रूप, रस आदि भूतांशों के ग्रहण स्थलों में मुख्य इन्द्रिय मन का सहायक मान लेने पर उक्त प्रश्न स्वतः निराकृत हो जाता है। यद्यपि नैयायिकों ने इसका खण्डन किया है। उन्होंने यह कहा है कि त्वगेकेन्द्रियवाद की प्रतिज्ञा करके यदि जिह्वा द्वारा रूपग्रहण की और आँख के द्वारा रसग्रहण की आपत्ति विषयक प्रश्न के उठाये जाने पर उक्तवादी यह कहता है कि त्वक् के विभिन्न अवयव नियत रूप से विभिन्न गुणों के ग्राहक होते हैं तो वह त्वगेकेन्द्रियवादी स्वयं अपनी प्रतिज्ञा से च्युत हो जाता है। क्योंकि त्वक् एक होने पर भी उसके अवयव तो विभिन्न ही होंगे? परन्तु नैयायिकों का यह खण्डन भूताद्वैतवादी-चार्वाक-दृष्टिकोण के समक्ष इसलिए अकिञ्चित्कर हो बैठता है कि यहाँ न्याय-सिद्धान्त की तरह अवयव और अवयवी परस्पर में अत्यन्त भिन्न नहीं मान्य है। इस पर यदि यह कहा जाय कि अवयव तो अवयवी नष्ट हो जाने पर भी विद्यमान रहति हैं। प्रत्येक तन्तु को अलग कर देने पर कपड़ा तो रहता नहीं किन्तु उसके अवयवभूत तन्तु तो

रहते ही हैं, ऐसी परिस्थिति में कैसे यह कहना उचित कहला सकता हैं कि अवयव और अवयवी तत्त्वतः एक ही होते हैं? तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि उक्त परिस्थिति में तन्तुओं को कपड़े का अवयव भी तो नहीं कहा जा सकता। क्योंकि किन्ही वस्तुओं में अवयवावयविभाव तभी होता है जब कि उन दोनों के बीच अयुतसिद्धि विद्यमान रहती है। यहाँ अयुतसिद्धि को तादात्म्यस्वरूप समझना चाहिए। अलग हो जाने वाली दो वस्तुओं के बीच तादात्म्य होता नहीं। सांख्य[१५६] सिद्धान्त में आँख, कान आदि को स्वतंत्र व्यापार माना जाता है निर्विकल्पक ज्ञान। परन्तु चार्वाक-सिद्धान्त में वैसा मान्य नहीं है। नैयायिक, वैशेषिक आदि दार्शनिक निर्विकल्पक ज्ञान मानते हैं सही किन्तु उनके मतों में वह इन्द्रियों का धर्म नहीं माना जाता है। क्योंकि वहाँ ज्ञाता अर्थात् ज्ञान का आश्रय आत्मा ही मान्य है, अन्य नहीं। वेदान्तियों की भी इससे सम्बंध रखने वाली परिस्थिति ऐसी ही है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष तो मान्य होता है किन्तु वह इन्द्रिय धर्म नहीं हुआ करता। क्योंकि इन्द्रियाँ अन्तःकरण की वृत्ति के लिए प्रणाली मात्र मानी जाती है यह बात पहले अनेक स्थानों पर कहीं जा चुकी है। यह भी ध्यान रखने की बात है कि प्रकृत चार्वाक-सिद्धान्त में तत्त्वतः कोई अतीन्द्रिय नहीं होता। क्योंकि यहाँ मन ही है इन्द्रिय और उसका विषय अतीत तथा अनागत और व्यवहित तथा विप्रकृष्ट सभी होते हैं। साथ ही अनुमिति और शाब्दबोध भी यहाँ प्रत्यक्ष ही हैं यह बात पहले भी बतलायी जा चुकी है। तदनुसार सभी वस्तुओं का प्रत्यक्ष ही होता है, इस दृष्टिकोण से भी कोई अतीन्द्रिय होता नहीं। यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि चार्वाक-सिद्धान्त में ज्ञान भी तत्त्वतः एक प्रकार की क्रिया ही है। अतः मन कर्मेन्द्रिय हैं सुतरां ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय रूप में इन्द्रियों का विभाजन मान्य होता नहीं। नैयायिकों एवं वैशेषिकों ने इन्द्रिय[१५७] की परिभाषा इस प्रकार बतलायी है कि शब्द भिन्न विशेष गुण का आश्रय न होता हुआ जो ज्ञान के प्रति कारण होने वाले मन के संयोग का आश्रय हो, वह होता है इन्द्रिय कहलाने का अधिकारी। वे लोग आँख आदि स्वाभिमत इन्द्रियों में इस परिभाषा का समन्वय इस प्रकार बतलाते हैं कि कान को छोड़ कर अन्य किसी भी आँख, कान आदि में कोई उद्‌भूत विशेष गुण रहता ही नहीं। कान में शब्द विशेषण गुण रहता है सही, किन्तु वह 'शब्द भिन्न' नहीं क्योंकि अपने में अपना भेद रहता नहीं। इसलिए आँख आदि सारी इन्द्रियाँ उक्त विशेषणाक्रान्त होती हैं। ज्ञान के कारण होने वाला मन का संयोग होता है इन्द्रिय और मन का संयोग भी, एवं आत्मा और मन इन दोनों के बीच होने वाला संयोग भी। इन दोनों प्रकार संयोगों के अन्दर प्रथम संयोग का आश्रय प्रत्येक ब्राह्य इन्द्रिय होती है और द्वितीय संयोग का आश्रय होता है

---

(१५६) शब्दादिषु पञ्चानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः।
वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दाश्य पञ्चानाम् । २८॥ *-ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका।*
अस्ति ह्यालोचनं ज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम।
वालमूकादि-विज्ञान सदृशं मुग्धवस्तुजम् ॥ *-श्लोकवार्तिक।*

(१५७) शब्देरीद्‌भूतविशेषगुणानाश्रयत्वे सति ज्ञानकारणमनः- संयोगाश्रयत्व-मिन्द्रियत्वम्।
-न्यायसिद्धान्त-मुक्तावली, प्रत्यक्षखण्ड।

मन। यद्यपि द्वितीय संयोग का आश्रय आत्मा भी है किन्तु इन्द्रियता की आपत्ति उक्त परिभाषा के अनुसार इसलिए नहीं हो पाती है कि वह प्रथम विशेषण से आक्रान्त है नहीं। क्योंकि आत्मा में शब्द से भिन्न ज्ञान, इच्छा आदि विशेष गुण रहते हैं। अत: 'शब्द से भिन्न विशेष गुण का आश्रय न होना' यह स्वभाव आत्मा में पाया जा पाता नहीं। इस चार्वाक-सिद्धान्त में किन्तु इन्द्रिय की यह परिभाषा बन नहीं सकती। क्योंकि यहाँ उक्त परिभाषा के अनुरूप वस्तुसम्बंधी परिस्थिति मान्य होती नहीं। यथा ज्ञानकारण मन:संयोग पद से आत्मा और मन का संयोग इसलिए नहीं गृहीत हो सकता कि मन और आत्मा अर्थात् शरीर इन दोनों के बीच अवयवावयविभाव सम्बंध मान्य है संयोग सम्बंध नहीं। क्योंकि शरीर से अतिरिक्त आत्मा यहाँ मान्य नहीं है यह बात बतलायी जा चुकी है। विस्तारपूर्वक। साथ ही ज्ञानकरण मन: संयोग पद से आँख आदि के साथ होने वाला मन का संयोग भी गृहीत नहीं हो सकता। कयोंकि गोलकात्मक आँख आदि के साथ मन का साक्षात् संयोग होता नहीं। मस्तिष्कात्मक मन नाड़ी-सूत्र के साथ संयुक्त होता हैं और उस नाड़ी सूत्र के आँख आदि गोलक का संयोग होता है। यदि यह कहा जाय कि उक्त परिस्थिति की मान्यता के अनुसार आँख और मन का संयोग क्रियाजन्य न होने पर भी संयोग-संयोग तो हो सकता है। तो यह कथन इसलिए उचित नहीं हो पायेगा कि संयोगज-संयोग संयुक्त संयोग नहीं होता। हाथ के साथ पुस्तक का संयोग होने पर होने वाले शरीर पुस्तक संयोग को नैयायिक एवं वैशेषिक लोग संयोगजसंयोग मानते हैं यहाँ ऐसी परिस्थिति होती नहीं। क्योंकि हाथ और शरीर इन दोनों के बीच अवयवावयिभाव सम्बंध जिस प्रकार होता है मन और उक्त सूत्रात्मक नाड़ी के बीच अवयवावयिभाव होता नहीं संयोग ही होता है और वस्तुत: चार्वाक-सिद्धान्त में संयोगजसंयोग मान्य भी नहीं है। क्योंकि अवयवावयविभावापात्र वस्तुओं में तत्त्वत: अभेद ही मान्य होता है। उस अभेद की भेदसहिष्णुता के कारण वह समवाय नाम से कहा जाता है।

अद्वैत-वेदान्तियों के घर में मन की इन्द्रियता विप्रतिपन्न है। उनका एक दल इस सम्बंध में यह कहता हुआ पाया जाता है कि मन इसलिए इन्द्रिय नहीं है कि उसे इन्द्रिय मानने पर अनुमिति आदि प्रमितियाँ भी प्रत्यक्ष हो पड़ेंगी। क्योंकि अनुमिति आदि सभी प्रमितियाँ मन से उत्पन्न होती हैं। अत: जब इन्द्रियजनित ज्ञान को प्रत्यक्ष माना जाय और मन को इन्द्रिय माना जाय तो सारे ज्ञान प्रत्यक्ष ही हो जायेंगे। चार्वाक सिद्धान्त तो यही चाहता ही है, क्योंकि यहाँ सारे ज्ञान प्रत्यक्ष ही मान्य है जिसका वर्णन विस्तारपूर्वक पहले किया जा चुका है। दूसरी बात यह है कि उपनिषद् में किये गये निर्वचन के अनुसार वेदान्ती लोग मन को एक कोशात्मक मानते हैं। इस पाञ्चकौशिक स्थूल शरीर के अन्दर सबसे ऊपर अन्नमय-कोश उसके अनन्तर आभ्यन्तर प्राणमय-कोश और उसके अनन्तर आभ्यन्तर मान्य होता है मनोमय-कोश जिसके अनन्तर विज्ञानमय-कोश और उसके अनन्तर आभ्यन्तर मान्य होता है आनन्दमय कोश। इस परिस्थिति के अनुसार अन्नमय और प्राणमय की तरह मनोमय भी समग्र अन्नमय में समाविष्ट एक शरीर जैसा हो जाता है अत: उसे वेदान्ती लोग इन्द्रिय नहीं मानते। परन्तु उनका यह मानना उचित इसलिए प्रतीत

नहीं होता कि उपनिषद् में उस कोश को 'मनष्कोश' न कह कर 'मनोमय' कोश कहा गया है। मनोमय इस शब्द के अन्दर हुआ मयट् प्रत्यय यह स्पष्ट सूचित करता है कि वह कोश मन नहीं है अपितु मन से प्रभावित होने वाली कुछ और वस्तु है। तदनुसार यही मानना उचित होगा कि मस्तकस्थित मस्तिष्क केन्द्र से सम्पृक्त अथ च समग्र शरीर में बिछे हुए नाड़ी-सूत्र-जाल को ही उपनिषद् में मनोमय कोश शब्द से कहा गया है। इस प्रकार मानने पर कोश शब्द भी आच्छादक अर्थ में सार्थक होता हुआ पाया जाता है और इसी मनोमय कोश से मिलती-जुलती धारणा मन के सम्बंध में कुछ अंशों में श्वेताम्बर जैनों की पायी जाती है। कहने का तात्पर्य यह कि वे भी मन को शरीरव्यापी मानते हैं। इन्द्रियों को जैन सिद्धान्त में मन्दक्रमी और पटुक्रमी इन दो प्रभेदों में विभक्त मानते हैं। नाक, कान, जिह्वा और त्वक् इन चार इन्द्रियों को माना जाता है मन्दक्रमी। क्योंकि ये अपने-अपने विषय को क्रमशः अस्फुट, स्फुट, स्फुटतर आदि क्रम से ग्रहण करते है। कहने का तात्पर्य यह कि उक्त चार इन्द्रियाँ, यतः अपने-अपने विषय से सन्निकृष्ट होकर ही ज्ञापक होती हैं अतः विषय का सम्पर्क ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता है त्यों-त्यों विषय का स्फुटीभाव भी क्रमशः बढ़ता जाता है और आँख तथा मन ये दो इन्द्रियाँ होती हैं पटुक्रमी। जैन दार्शनिकों के इस कथन का तात्पर्य यह है कि आँख और मन ये दो इन्द्रियाँ विषय के साथ सम्पर्क की अपेक्षा न रखती हुई ज्ञापक होती हैं इसलिए ये दोनों ही इन्द्रियाँ दूरतटवर्ती विषयों को भी हठात् विषय बन पाती हैं। दूर से दूरवर्त्ती नक्षत्रों को आँख से देखा जाता है और अप्रत्यक्ष रूप से कहीं भी विद्यमान या अतीत किवा अनागत होने से अविद्यमान विषय को भी मन हठात् विषय कर डालता है। यह भी यहाँ जान लेना अच्छा होगा कि जैन-सिद्धान्त में प्राणियों को पहले त्रस और स्थावर रूप से दो भागों में विभक्त माना गया है। 'त्रस' का अर्थ जंगम अर्थात चेष्टाशील समझना चाहिए। उक्त प्राणी के प्रभेदों को नौ भागों में विभक्त माना गया है यथा पृथिवीकाय, जलकाय, वनस्पतिकाय, तेजष्काय, वायुकाय और कृमिकाय, पिपीलिका-काय, भ्रमरकाय और मनुष्यकाय। इन नौ कार्यों के अन्दर वायुकाय तक पूर्ववर्त्ती पाँच काय तक होते है एकेन्द्रिय। अर्थात इन कार्यों में केवल त्वक् ही इन्द्रिय होती है। कृमि आदि कुछ प्राणियों को त्वक, जिह्वा ये दो इन्द्रियाँ होती हैं। चींटी, खटमल आदि कुछ प्राणियों को त्वक, जिह्वा, नाक ये तीन इन्द्रियाँ होती हैं। भ्रमर, मक्खी, बिच्छू, मच्छर आदि कुछ प्राणियों को त्वक्, जिह्वा नाक और आँख ये चार इन्द्रियाँ होती हैं और मनुष्य, पशु पक्षी आदि को उक्त चार इन्द्रियाँ और कान ये पाँच इन्द्रियाँ होती हैं। जैनों की दिगम्बर परम्परा मन को समग्र शरीरव्यापी न मान कर चार्वाक-सिद्धान्त की ही तरह एक देशस्थित मानती है। परन्तु उस परम्परा में जिस प्रकार मन का स्थान हृदय को माना गया है यहाँ वैसा नहीं माना गया है। जिसका परिचय पहले दिया चुका है।

अष्टम-प्रकरण

चार्वाक मत में अद्वैत-भूत, महासमवायात्मक

भूताद्वैतवाद की चर्चा पहले की जा चुकी है। परन्तु उसके सम्बंध में प्रश्न यह उपस्थित हो सकता हैं कि चार्वाक-सिद्धान्त में तो पृथिवी, जल, तेज और वायु ये चार तात्त्विक भूत मान्य होते हैं। ऐसी परिस्थिति में भूताद्वैत का कथन कैसे औचित्य प्राप्त करता है? तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि विहित भूताद्वैत की चर्चास्थल में भी यह बात बतलायी जा चुकी है कि यहाँ का अद्वैत भेदासहिष्णु नहीं, किन्तु भेद सहिष्णु है। अत: उक्त प्रश्न सावकाश नहीं हो पाता। कहने का तात्पर्य यह कि जब सांख्यसिद्धान्त के अन्दर सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण इनमें परस्पर विरुद्ध स्वभावता के कारण इन्हें एक नहीं माना जा पाता है, फिर भी इन्हें अन्योन्य मिथुन अव्यभिचरित सहचर मानते हुए इन तीनों गुणों के समवाय को एक मूल-प्रकृति प्रधान माना जाता है और तदनुसार ही २५ तत्त्व सांख्यसिद्धान्त में मान्य हो पाते हैं तो पृथिवी, जल और वायु इन चार भूतों का एक समवायात्मक रूप क्यों नहीं माना जा सकता है?

क्षणिक-विज्ञान-मात्र-तत्त्वतावादी बौद्ध-सिद्धान्त में विज्ञानधाराओं की, एवं एक विज्ञानधारा के अन्दर क्षणिक-विज्ञान की असंख्यता को मान्यता देते हुए भी विज्ञानद्वैत-मात्र की यदि मान्यता बतलायी जाय तो यहाँ भूतगत अवान्तर-भेद की मान्यता के साथ भूतसमवायात्मक भूताद्वैत क्यों न कहा जा सके? अद्वैतवादी वेदान्त सिद्धान्त में जीव ईश्वर विशुद्ध चैतन्य, जीव और ईश्वर के बीच विद्यमान भेद, अविद्या, एवं चैतन्य के साथ होने वाला उसका भेद, इन छ: वस्तुओं की अनादिता मान्य होने पर भी ब्रह्माद्वैतवाद यदि स्थिर हो सके तो चार्वाकीय-दृष्टिकोण में उक्त चारों भूतों को मान्यता देने पर भी भूत-समवायात्मक अद्वैत मानने में क्या बाधा उपस्थित की जा सकती? कुछ भी नहीं। अत: उक्त भूताद्वैत की मान्यता सर्वथा अक्षुण्ण है। प्रकाशाद्वैतवादी शैव सिद्धान्त भी अपने अद्वैत प्रकाश महासागर में उन्मग्न और निमग्न भाव से अवस्थित असंख्य सांसारिक वस्तुओं का अस्तित्व मानता है। क्योंकि ब्रह्माद्वैतवादी वेदान्तियों की तरह शैवागम-सिद्धान्त में यह संसार कल्पित, मिथ्या, मान्य नहीं है। यहाँ तक कि शैव सिद्धान्ती लोग आकाशकुसुम, कूर्म-रोम आदि तक को भी सत्य ही मानते हैं। यदि कहा जाय कि शैव लोग प्रकाशाद्वैत में निमग्न एवं उन्मग्न असंख्य जागतिक दृश्य वस्तुओं को भी प्रकाशात्मक ही मानते हैं इसलिए उनके यहाँ भेदसहिष्णु अभेदसंगत होता है। तो यह चार्वाक-सिद्धान्त में भी भलीभाँति कहा जा सकता है कि यहाँ भी समग्र विभिन्न जागतिक दृश्य वस्तुएँ

अद्वैतभूतात्मक ही मान्य हैं अत: भूताद्वैत क्यों नहीं यौक्तिक कहा जा सकता? इस पर भी यदि यह कहा जाय कि प्रकाशाद्वैतवादी शैव सिद्धान्त जागतिक वस्तुओं के बीच प्रतीयमान भेदों को भी प्रकाश शरीर से बाहर मानता नहीं इसलिए उसके मत में तत्त्वत: अभेद बन जाता है तो इसके उत्तर में दो बातें कही जा सकती हैं। एक यह कि दास्य की रक्षा के लिए व्यावहारिक जगत् को भी तथ्य मानता हुआ प्रकाशाद्वैतवादी शैव-सिद्धान्त यदि ऐसा कह सकता है तो दण्ड आदि की सुव्यवस्था के लिए व्यावहारिक जगत को तथ्य मानने वाला चार्वाक-सिद्धान्त क्यों नहीं ऐसा मान सकता है? दूसरा यह कि सर्वाधिक अद्वैतवादी वेदान्त-सिद्धान्त को भी भाव और अभावों का अन्तर मानना ही पड़ता है। अन्यथा गीताभाष्य आदि में जो अभाव-कारणत्व का खण्डन किया गया है वह सगत नहीं हो पायेगा। ऐसी परिस्थिति में भेदात्मक अभाव को भावात्मक नहीं माना जा सकता। इस प्रकार जब सर्वाधिक अद्वैतवादी ब्रह्माद्वैत वेदान्तियों को भी इच्छा न रहते हुए भी भेद को मान्यता देनी होगी तब और प्रकाशाद्वैती आदि तो व्यावहारिक जगत् को भी मान्यता देने वाले हैं, वे कैसे इस प्रकार भेद का अपलाप कर सकते?

रामानुज का विशिष्टाद्वैत तो और भी निकटवर्त्ती प्रतीत होता है भूताद्वैतवादी चार्वाक-सिद्धान्त का। क्योंकि जड़ और अजड़ [१५८] के अवान्तर भेद को सर्वथा तथ्य मानते हुए दोनों का एक सम्मिलित रूप, जिसे कि वे विशिष्टाद्वैती हरि कहते हैं असन्दिग्ध भाव से पूर्ण उत्साहपूर्वक मानते हैं। अन्तर उस मतवाद से इस मतवाद का मौलिक रूप में यह होता है कि वे जड़ों को सर्वथा चेतनारहित मानते हैं अत: उनका सिद्धान्त एक तरह से द्वैत प्रधान-अद्वैतवादी होता है। और चार्वाक-सिद्धान्त में अस्फुट चेतना उनमें भी मान्य होता है जिन्हें रामानुज-सिद्धान्त सर्वथा चेतना-रहित मानता है। अत: यह चार्वाक-सिद्धान्त अप्रधान-द्वैत अद्वैत को मानने वाला प्रतीत होता है। यद्यपि दाण्डिक आदि व्यवहार, पूर्ण द्वैत को मान कर भी सम्पन्न होता है किन्तु वस्तुस्थिति के अनुरोध से भूताद्वैत की ही मान्यता युक्ति संगत होती है। वैदिक अद्वैतवाद भी इससे अक्षुण्ण रह जाता है जिसका स्पष्टीकरण आगे हो पायेगा।

महासमवायात्मक-भूत का नाम सुनकर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यह महासमवाय आखिर क्या वस्तु है? क्योंकि यह शब्द प्राय: अपरिचित-सा प्रतीत होता है तो इसका परिचय इस प्रकार प्राप्त करना चाहिए कि यह विश्व ब्रह्माण्ड भूतात्मक है यह तो प्रत्यक्ष रूप से ही ज्ञात है। जिधर ही नजर डाली जाय उधर ही विरल-भौतिक-रेणु और धनीभूत-भौतिक-रेणुओं के अतिरिक्त और कुछ भी देखने को मिलता नहीं। योगदार्शनिक सिद्धान्त में- आकाश के भी परमाणु माने गये हैं परन्तु इस चार्वाक-सिद्धान्त में भौतिक अणुओं की विरलता या उसके अभाव के अतिरिक्त और कुछ नहीं माना जा सकता, यहाँ

---

(१५८) ईश्वरश्चिदचिच्चेति पदार्थत्रितयं हरिः। —सर्वदर्शनसंग्रह, रामानुज दर्शन।

कहा जा चुका है। अतः यह मानना होगा कि यह समग्र विश्व, समस्त चराचर, पार्थिव जलीय तैजस और वायवीय कणों का एक महान संघात ही है, उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। संघात, समुदाय और समवाय ये शब्द यद्यपि समान रूप से लोगों के द्वारा एक ही अर्थ के ज्ञापक रूप में प्रयुक्त होते पाये जाते हैं फिर भी समवाय शब्द की विशेषता यह है कि वह समुदायों के अविनाभाव को भी बतलाता हुआ प्रतीत होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि संघात और समुदाय ये दोनों शब्द संघाती एवं समुदायियों के अन्दर सहास्तित्व का व्यक्तीकरण तो करते हैं किन्तु उस प्रकार उसकी सुश्रृंखलता एवं सहकारिता को व्यक्त नहीं कर पाते जिनका व्यक्तीकरण 'समवाय' शब्द से होता है। अतः इस संसार को महासमवायात्मक भूत कहने से यह अभिप्रेत अर्थ स्पष्ट होता है कि पार्थिव जलीय तैजस एवं वायवीय कण इस प्रकार आपस में सम्बद्ध रहते हैं, अविनाभूत रहते हैं कि अत्यन्त रूप में इन चारों भौतिक कणों को अलग नहीं किया जा सकता। वैज्ञानिक-पद्धति से जिस पात्र या स्थान की निर्वात, वायुहीन कहा जाता है वहाँ भी वायवीय कणों की अत्यल्पता ही कही जा सकती है। इसी प्रकार किसी भी जलस्निग्ध मही को कितना भी क्यों न जलाया जाय वह सर्वथा निर्जल नहीं हो जाता जलांश अत्यधिक कम पड़ जाता है, यही कहा जा सकता है। इसी प्रकार जल और तेज में पार्थिव कणों को सदा सम्मिश्रण समझना चाहिए। ऐसा मानने में प्रबल-युक्ति यह है कि धनीभाव तैजस एवं वायवीय कणों का भी होता हुआ पाया जाता ही है। क्योंकि ऐसा न मानने पर अनुभूयमान महान् तेत और महान् वायु का उपपादन नहीं किया जा सकता और एक कण से अन्य कण को जोड़ना यह स्वभाव जल का ही पाया जाता है क्योंकि पार्थिवकणों का धनी भाव जलसम्पर्क से ही किया जाता हुआ पाया जाता है। ऐसी परिस्थिति में यदि तैजस कणों में एवं वायवीय कणों में अति अल्प भी जलीयांश की सदास्थिति न मानी जाय तो पार्थिव कणों के समान तैजस कणों एवं वायवीय कणों का धनीभाव सम्भव नहीं हो पायेगा। अतः यह मानना ही होगा कि प्रत्येक भौतिक कण में अन्य भौतिक कण का न्यूनाधिक मात्रा में संश्लेष रहता ही है। अतः ये मान्य चतुर्विध-भूत अविनाभूत हैं, एवं स्वतः कार्यकारी हैं। ये सर्वत्र आपसी मिलन में नियमतः किसी मेलक व्यक्ति की अपेक्षा नहीं रखते। यदि यह कहा जाय कि बुद्धिमान् प्राणी कर्तृक भौतिक-मिलन जैसे शरीरधारी मेलकगत-ज्ञान की अपेक्षा करता है तैसे सूक्ष्मभूत-कणों का मिलन भी ज्ञानापेक्षी क्यों नहीं होता? तो इसका उत्तर चार्वाक-सिद्धान्त के लिए सरल यह है कि सूक्ष्मभूत कणों के मिलने के लिए अपेक्षित अस्फुट चैतन्य उन भूतकणों में स्वतः रहता है अतः अन्य ज्ञान की अपेक्षा होती नहीं। इस पर यदि यह पूछा जाय कि तब अन्य स्थल भौतिकों का मिलन भी क्यों नहीं हो जाता? तो इसका उत्तर यह होगा कि धनीभाव-प्रयुक्त-गुरुता के कारण स्थूलों में उत्पतन शक्ति रहती नहीं। इसीलिए गतिशील वायु के सम्पर्क से स्थूलभूत भी उत्पतित होकर अन्य भूत से जा मिलते हुए पाये ही जाते हैं। इस कथन का तात्पर्य यह ज्ञातव्य है कि यहाँ भौतिक

सम्मिश्रण के लिए वेदान्तवर्णित त्रिवृत्करण[१५९] या पञ्चीकरण की प्रक्रिया नहीं मान्य है। वेदान्त-सिद्धान्त में त्रिवृत्करण पार्थिव जलीय और तैजस तन्मात्रों का इस प्रकार माना जाता है कि उक्त तीनों भौतिक तन्मात्रों को पहले दो-दो भागों में विभक्त किया गया माना जाता है और फिर प्रत्येक के उन दो भौतिक भागों के अन्दर एक-एक मात्र भाग को दो भागों में विभक्त किया गया स्वीकार किया जाता है और एक भौतिक कण के चतुर्थभाग भूत एक-एक भूतांश को दो भौतिक अर्द्धांशों में मिलाया गया माना जाता है। इस पद्धति से पृथिवी, जल और तेज इन तीनों भूतों के अन्दर आने वाला प्रत्येक भूत भूतत्रयात्मक हो जाता है। क्योंकि उक्त प्रत्येक भूत में आधा हिस्सा अपना रह जाता है और एक-एक चतुर्थांश अन्य भूतों का होता है। जैसे जिसे लौकिक व्यवहार में पृथिवी या पार्थिव कहा जाता है उसके अन्दर आधा अंश होता है पार्थिव और आधे का आधा फलत: चौथा भाग होता है जल का और दूसरा चौथा भाग होता है तेज का। इसी प्रकार जल और तेज को भी समझना चाहिए। जिस प्रकार तीन भूतों के बीच यह त्रिवृत्करण को प्रक्रिया बतलायी गयी है उसी प्रकार पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पाँच भूतों के सम्मिश्रण को मान्यता देने पर उक्त त्रिवृत्करण की मान्यता के स्थान में पंचीकरण [१६०] को मान्यता वेदान्त-सिद्धान्त में दी गयी है। उसकी प्रक्रिया यों समझनी चाहिए कि पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश इनके अन्दर एक-एक की तन्मात्रा को पहले दो भागों में बाँटकर विभक्त उन दो भागों के अन्दर फिर एक-एक भाग को चार भागों में विभक्त किया जाता हैं। जिन चारों भागों के अन्दर एक-एक भाग को स्वकीय अर्द्धांश को छोड़कर, अन्य चार अर्द्धांशों के अन्दर एक-एक अर्द्धांश में मिलाया जाता है। इस प्रकार उक्त पाँचों भूत पंचभूतात्मक हो जाते हैं। त्रिवृत्करण करण की परिस्थिति से इस पंचीकरण की परिस्थिति में महान अन्तर यह आवश्यक रूप से मान्य हो आता है कि त्रिवृत्करण पक्ष में जहाँ अन्य भूतों के चतुर्थांशमात्र मिलित मान्य होते हैं वहाँ पंचीकरण की मान्यता में एक स्थूल भूत में अन्य भूत के आठवें-आठवें भागों का मिलन मान्य होता है। इस चार्वाक-सिद्धान्त में यह त्रिवृत्करण की प्रक्रिया और यह पंचीकरण की प्रक्रिया इसलिए नहीं आदृत होती है कि इन दोनों ही पक्षों में मेलक की आवश्यकता अनिवार्य हो उठती है जिसे यह सिद्धान्त मान नहीं सकता। कहने का सारांश यह कि काई भी क्रियात्मक करण नियमत: कर्त्ता और साधनात्मक करण की अपेक्षा रखता ही है। सूक्ष्म भौतिक-कणों के मिलन के पूर्व उन कणों के अतिरिक्त तो कुछ रहता नहीं जिसको कर्त्ता या करण माना जा सके। भौतिक कणगत अस्फुट चैतन्य प्रयुक्त कणों का मिलन मान्य होने पर भी दूसरी कठिनता यह है कि त्रिवृत्करण और पंचीकरण दोनों ही जबकि औपनिषद माने जाते हैं वेदान्तियों द्वारा, तब

---

(१५९) तासां त्रिवृतं त्रिवृतं त्रिवृतं एकैकां करवाणि। -छान्दोग्योपनिषत्।

(१६०) द्विधाविधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुन:।
स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात् पञ्चपञ्च ते॥ २७॥ -*पञ्चदशी, तत्त्वविवेक-प्रकरण।*

विनिगमक के अभाव प्रयुक्त दोनों ही पक्षों में समान मान्यता मान्य होगी जो कि तर्क के आगे सधती नहीं। क्योंकि एक ही वस्तु एक ही समय दो विभिन्न परिस्थितियों से सम्पृक्त कदापि नहीं हो सकती। परन्तु उक्त औपनिषद त्रिवृत्करण और पचीकरण दोनों पक्षों को स्वीकार करने पर एक ही स्थूल भूत में एक ही समय अन्यान्य भूतों को अष्टम मात्र अंश का संश्लेष और चतुर्थ मात्र अंश का संश्लेष दोनों मानना होगा। यह बात कैसे भला सम्भव हो सकती?

यह महा समवाय, जिसका विचार यहाँ किया जा रहा है, है तो तत्त्वत: चारों भूतों का ही एक समवाय, परन्तु व्यवहारोपयोगी रूप से प्रतीत होने वाले सारे गुण, कर्म और सामान्य का भी समावेश इस समवाय के अन्दर हो जाता है। क्योंकि ये सभी पृथिवी आदि चार भूतों के ही अविनाभूत धर्म हैं और धर्म तथा धर्मी इनके बीच अभेद ही यहाँ मान्य है, भेद नहीं। अब यहाँ प्रश्न यह उठ खड़ा होता है कि 'तो क्या यह चार्वाक-सिद्धान्त भी वस्तु की प्रातिभासिक सत्ता मानता है? यदि नहीं तो गुण, कर्म आदि को कैसे यह मान्यता दे सकता? तो इसका उत्तर यह ज्ञातव्य है कि यहाँ जब प्रतीति की ही उक्त भूतचतुष्टय की सत्ता के अतिरिक्त सत्ता नहीं मान्य है, तब प्रतीति के आधार पर उसके द्वारा विषयीकृत की अलग सत्ता कैसे मान्य हो सकती? साराँश यह कि विषयों को लिये दिये प्रतीति उस चतुर्भूत समवाय में समा जाती है इसलिए तो चार्वाक-सिद्धान्त भूत चैतनिक होता है? गुण, कर्म आदि की भूतान्तर्गति में प्रबल-युक्ति यह है कि भूतों की सत्ता से पृथक गुण, कर्म आदि की सत्ता प्रतीत होती नहीं? क्या कभी आश्रयों को छोड़कर स्वतंत्र रूप से गुण आदि को प्रतीत होते हैं? कभी नहीं। अत: भूत-चतुष्टय मात्र की तात्त्विकता की मान्यता औचित्य प्राप्त कर सकती है। इस समवाय की विशेषता यह है कि संसार की किसी भी वस्तु को इस समवाय के उदाहरण के रूप में उपस्थित किया जा सकता है। ऐसी एक भी वस्तु नहीं दिखलायी जा सकती जो कि समवायात्मक न हो। एक फूल को ले लिया जाय। वह निश्चय ही पार्थिव, जलीय, तैजस और वायवीय परमाणुओं का समवाय है और रूप, रस आदि गुण चलनात्मक क्रिया औरं अन्य फूल के साथ सामान्य भी इसमें समवेत है इसलिए यह एक फूल उक्त सभी वस्तुओं का एक समवाय है। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु को समवायात्मक समझा जा सकता है। समवायात्मक प्रत्येक सांसारिक वस्तुतों का एक महासमवाय ही एक अद्वैत तत्त्व है, जिसकी मान्यता पहले बतलायी जा चुकी है। इससे अतिरिक्त और कोई वस्तु हो नहीं सकती अत: यह होता है महा समवाय। ईश्वर, ब्रह्मा आदि शब्द भी इसी महा समवाय के बोधक हैं यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि ब्रह्मा, ईश्वर आदि शब्दों से कहा जाने वाला तो सर्वज्ञ होता है फिर इस जड़ात्मक महा समवाय को कैसे ब्रह्मा, ईश्वर, परमात्मा आदि शब्द से कहा जा सकता है? तो इसका उत्तर यह होगा कि रूप, रस आदि की तरह ज्ञान भी तो चार्वाक-सिद्धान्त में उक्त समवाय में उक्त समवाय का अन्तर्भुक्त ही होता है। अत: सर्वज्ञानसम्पर्कात्मक

सर्वज्ञता उस महा समवाय में अनायास प्राप्त हो सकती है। यह भी प्रश्न नहीं उठाया जा सकता कि एकमात्र महासमवाय तत्त्व रूप से मान्य होने पर सर्व शब्द का प्रयोग ही असंगत हो उठेगा। क्योंकि अनेकता के बिना सर्वता बन ही नहीं सकती। क्योंकि उस महासमवाय के अन्तर्गत उक्त प्रकार अवान्तर समुदायों में पारस्परिक भेदात्मक अनेकता यहाँ मान्य ही है। महासमवाय और तत्कुक्षिस्थ अवान्तर समुदायों में अवयवायवी-भाव हुआ करता है। यदि यहाँ यह शंका उपस्थित की जाय कि इस प्रकार एक महासमवाय और उसकी ज्ञानगर्भता मान्य होने पर कोई भी व्यक्ति किसी भी व्यक्ति के सम्बंध में कुछ निर्णय नहीं कर पायेगा। दस, पाँच व्यक्तियों में तो मतैक्य होना किसी भी वस्तु के सम्बंध में कठिन हो जाता है यह किसी से छिपा नहीं है, फिर कोटि-कोटि शरीरान्तर्गत ज्ञानी रेणुओं अथवा यों कहा जाय कि अवान्तर समवायों में मतैक्य किसी भी वस्तु के सम्बंध में कैसे सम्भव कहा जा सकता? तो इस शंका का निराकरण इस प्रकार समझना चाहिए कि यही है समवाय की महत्ता। अन्तर्भुक्त समवाय अर्थात घटक-समवाय घटित-समवाय के विरुद्ध कार्यकारी नहीं होता, अतः निर्णय होने में बाधा होती नहीं। कहने का तात्पर्य यह कि प्रत्येक महासमवाय एक-एक होने के कारण, उसका ज्ञान भी घटक-ज्ञान से प्रबल होता है अतः निर्णय में बाधा नहीं उपस्थित होती है। उदाहरण के द्वारा इसे यों समझा जा सकता है कि किसी भी एक शरीरात्मा को लिया जाय। वह क्या है? अवान्तर कोटि-कोटि क्षुद्र जीवों का समुदाय ही तो है? आधुनिक शरीर-विज्ञान के अनुसार शोणित आदि भी कीटाणुओं के समुदाय ही है। उन क्षुद्र कीटाणुओं की भी अपेक्षित ज्ञान है यह भी सिद्ध है, फिर प्रत्येक व्यक्ति अपनी अपेक्षित वस्तु के सम्बंध में निर्णयात्मक ज्ञान करता ही है। नहीं तो सुश्रृंखल देखी जाने वाली प्रवृत्ति उत्पन्न नहीं हो सकती। अतः मतैक्य अथवा निर्णय के अभाव की शंका नहीं उठायी जा सकती।

यही समवाय वर्त्तमान गौतमीय न्याय एवं वैशेषिक इन दोनों दर्शनों में भी माना हुआ है। परन्तु प्रतीत ऐसा होता है कि समवाय को मानते हुए भी इसके इस रहस्य स्वरूप को जैसे परवर्त्ती नैयायिक एवं वैशेषिक समझ न पाये हों, अथवा यों कहा जाय कि भूल गये हों। वे लोग समवाय को अवयव-अवयवी, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान और नित्यद्रव्य विशेष [१६१]इनके बीच होने वाला एक प्रकार नित्य सम्बंध मानते हैं। इन सारी बातों की वैज्ञानिकता यहाँ वर्णित समवाय के रहस्य स्वरूप को मानने पर ही संगत होती है। उक्त प्रकार एक महासमवाय को लेकर नित्यता और एकता तो अनायास स्पष्ट हो जाती है। रही सम्बंध की बात कि समवाय को सम्बंध किस दृष्टिकोण से माना जाता है? तो इसके सम्बंध में ज्ञातव्य यह है कि असम्बद्ध-वस्तुओं में सुश्रृंखलता होती नहीं। इसलिए सुश्रृंखलता के नियामक रूप में समवाय को सम्बंध ही मानना होगा। उदाहरण के द्वारा इसे

---

(१६१) अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानां यः सम्बंधः इहप्रत्ययहेतुः स समवायः।
-पदार्थधर्मसंग्रह, समवाय प्रकरण।

यों समझा जा सकता है कि कार्य समूह साध्य ही होता है। समूह को समूही के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता? परन्तु विश्रृंखल समूही से वह कार्य नहीं होता हुआ पाया जाता है जो कि सुश्रृंखल समूही से। एक व्यक्ति उस काम को नहीं कर पाता जिसे कि मिलित दस व्यक्ति अनायास कर लेते हैं। उन दस व्यक्तियों में होने वाला वह मिलन, सम्बंध के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता? तभी तो किसी एक उद्देश्य की सिद्धि के लिए एकत्र, एक विचार सूत्र में आबद्ध व्यक्तियों को कहा जाता है मानवसमवाय। वहाँ एक कार्यात्मक केन्द्र में वे सभी तदर्थी व्यक्ति परस्पर में आबद्ध हो जाते हैं, सम्बद्ध हो जाते हैं। विश्रृंखल एक-एक व्यक्ति-स्थल में यह बात होती नहीं। इसलिए एक व्यक्ति उस कार्य का सम्पादन नहीं कर पाता है जिसका सम्पादन व्यक्ति-समवाय करता है। यही समवाय समाजवाद का मेरुदण्ड है। इसी नित्य एक समवाय सम्बंध को नित्य एक सत्ता भी समझना चाहिए। क्योंकि कोई भी कार्य जब कि उक्त युक्ति के अनुसार समवाय से ही होता है तो उसे ही सत मानना होगा। धर्म-धर्मी की एकता मान्य होने के कारण सत और सत्ता में अन्तर नहीं किया या सकता। कहने का तात्पर्य यह कि संख्या केवल एकत्व ही मान्य है इसलिए सत और सत्ता इन दोनों को अलग नहीं माना जा सकता। सारांश यह कि 'देवता' इस शब्द के अन्दर श्रूयमाण 'ता' को जैसे प्रकृतिभूत शब्द के अर्थ के अतिरिक्त अर्थात् देव के अतिरिक्त और किसी धर्म का बोधक नहीं माना जाता उसी प्रकार 'सत्ता' आदि शब्द घटक 'त' को भी अतिरिक्त धर्मार्थक नहीं मानना चाहिए। इसलिए वह एक सत् समवाय-स्वरूप है। इस महासमवाय का थोड़ा-सा आभास मिलता है रामानुज के एक 'हरि' में। परन्तु वहाँ चित् और अचित् दोनों का पृथक अस्तित्त्व हरि के अन्तर्गत रूप में मान्य होने के कारण इस महासमवाय से मौलिक अन्तर हो उठता है। यहाँ इन दोनों का अपृथक अस्तित्व माना जाता है। इस महासमवाय को ब्रह्म मान लेने पर ही ब्रह्म का वेदान्तवर्णित अभिन्न निमित्तोपादानता ठीक से हो पाती है। क्योंकि ब्रह्म की अभिन्न निमित्तोपादानता में लूताकीट 'मकरी' का दृष्टान्त ब्रह्माद्वैत-वेदान्ती लोग उपस्थित किया करते हैं। जीवित उक्त कीट में ज्ञान की अपृथक सत्ता रहती है जैसा कि यहाँ भूतसमवाय के सम्बंध में बतलाया गया है। ब्रह्माद्वैत के महान प्रवर्त्तक आचार्य शंकर ने विषय और विषयी इन दोनों को अत्यन्त विरुद्ध-स्वभाव बतलाया है और इस प्रकार यदि बतलावें नहीं तो यह दृश्य जगत उनके मत में कल्पित कैसे बन पाये? ऐसी परिस्थिति में विषय और विषयी का सम्पर्क कैसे हो सकता! सारांश यह कि मायात्मक विषय का स्वप्रकाशात्मक विषयी में सम्बंध किसी प्रकार हो नहीं सकता। और ऐसा न होने पर मायावच्छिन्न-चैतन्य-स्वरूप ईश्वर मान्य नहीं हो सकता, जिसमें जड़ांश को लेकर उपादानता और ज्ञानांश को लेकर निमित्तता, इस दृश्य जगत के प्रति बन पाये। और यदि यह कहा जाय कि जगत के आकार में परिणत होती हुई माया के अध्यास को अधिष्ठान होने के कारण ब्रह्म, जगत का उपादान कहलाता है, तो उपादानता तो इस प्रकार बनायी जा पायेगी किन्तु तब 'निमित्तता' बिगड़ जायेगी। क्योंकि प्रकृतिस्वरूपा माया परिणमन में स्वाधीन ही

होगी? अतः सहायक निमित्तान्तर की अपेक्षा उसे होगी नहीं, कि चैतन्यांश को लेकर निमित्तता बनायी जा सके।

दूसरी बात यह कि माया एवं चैतन्य के साथ होने वाले उसके सम्पर्क को अनादि ही मानना होगा, और ऐसा ही उक्त वेदान्ती लोग मानते भी हैं। ऐसी परिस्थिति में वेदान्त-सिद्धान्त में मोक्ष असम्भव हो उठेगा। क्योंकि अनादिभाव का नाश होता हुआ कहीं देखा जाता नहीं, कि उसे दृष्टान्त बना कर अविद्या का नाश मनाया जा सके। वेदान्त-सिद्धान्त में अविद्या ही है बंधन रूप से मान्य, और उसका नाश ही मोक्ष रूप से। दूसरी बात यह भी यहाँ ध्यान देने योग्य है कि अद्वैत-वेदान्ती लोग अपने ब्रह्म को किसी भी पद का वाच्य नहीं मानते। उनका कहना है कि सत, चित और आनन्द पद का भी वह वाच्य नहीं किन्तु लक्ष्य ही होता है। उक्त पद जो कि स्वतंत्र रूप से ब्रह्म के ही बोधक माने जाते हैं लक्षणा के सहारे ही ब्रह्म को बतलाते हैं। परन्तु यह बात इसलिए संगत नहीं कही जा सकती कि जो कि पद का वाच्य नहीं वह अन्य किसी पद का लक्ष्य भी होता पाया नहीं जाता। ऐसी परिस्थिति में केवल चैतन्यात्मक रूप से मान्य ब्रह्म भला कैसे किसी पद का लक्ष्य माना जा सकता? जो कि किसी पद का वाच्य वेदान्त-सिद्धान्त में माना जाता नहीं। यहाँ यह बात नहीं है। महासमवायात्मक ब्रह्म भी वाच्य ही है, अवाच्य नहीं। साथ ही यह भी ज्ञातव्य है कि वेदान्ती लोग अपने ब्रह्म को निरवयव मानते हैं। और सावयव मानें भी कैसे? क्योंकि कल्पित अकल्पित का अवयव हो ही कैसे सकता? और अद्वैत-वेदान्तियों के मत में एक ब्रह्म को छोड़ कर माया या मायिक ये सारे कल्पित ही हैं। इस महा-समवायात्मक ब्रह्म के सम्बंध में ऐसी बात नहीं है। यह उक्त परिस्थिति के अनुसार सर्वथा सावयव है। और इसका औचित्य इस तर्क से सिद्ध होता है कि कोई भी महान निरवयव पाया नहीं जाता। अतः महत्त्वास्पद प्रकृत समवाय-ब्रह्म को भी सावयव ही होना चाहिए। आकाश में इस नियम का व्यभिचार इसलिए नहीं दिखलाया जा सकता कि वह भूत वैरल्य अथवा भूतात्यन्ताभाव के अतिरिक्त और कुछ यहाँ मान्य नहीं है। और यदि अभ्युपगम-सिद्धान्त के रूप में आकाश को भावात्मक माना जाय तो योग-दार्शनिक-सिद्धान्त की तरह उसे सावयव भी मानना उचित होगा। अतः आकाश में व्यभिचार नहीं दिखलाया जा सकता। साथ ही यदि आकाश को भी भावात्मक रूप में मान्यता देय होगी तो वह भी इस महा-सम-वायात्मक ब्रह्म का एक अवयव ही हो जाने के कारण महासमवाय-कुक्षि-निःक्षिप्त ही हो जायगा। अतः विचार्य-कोटि-प्रविष्ट हो जाने के कारण व्यभिचार-प्रदर्शन का स्थान नहीं बन पायेगा। यदि यह कहा जाय कि फिर भी काल और दिक् में व्यभिचार दिया जा सकता है तो यह कथन भी इसलिए संगत नहीं हो पायेगा कि काल और दिक् भी स्वतंत्र वस्तु रूप से मान्य नहीं। इसका परिचय आगे चल कर प्राप्त होगा। वेदान्त-सिद्धान्त-सिद्ध ब्रह्म के सम्बंध में एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि वेदान्ती लोग अपने ब्रह्म को सावयव तो मानते नहीं किन्तु मायावच्छिन्न,

अविद्या-वच्छिन्न, विषहावच्छिन्न, अन्तःकरणावच्छिन्न अन्तःकरणवृत्यवच्छिन्न आदि रूप में उसे सावच्छिन्न मानते हैं। अवच्छेद्य-अवच्छेदकभाव किन्ही दो सावयव एवं समान-सत्ताक वस्तुओं में ही होता हुआ पाया जाता है। ऐसी परिस्थिति में निरवयव-ब्रह्म को सावच्छिन्न कैसे बनाया जा सकता? और ऐसा न होने पर वेदान्तियों ने द्वारा अनादि रूप से मान्य जीव ईश्वर विशुद्धाचित इत्यादि विभाग कैसे संगत हो सकता? यदि इस पर उस ओर यह कहा जाय कि यह तो ब्रह्माद्वैतवादियों के लिए अनुकूल ही होगा। क्योंकि इसीलिए तो ब्रह्माद्वैत सिद्ध होता है? तो यह कथन भी इसलिए संगत नहीं कहला पायेगा कि तब वह ब्रह्म लोकव्यवहार का उपयोगी न हो पाने के कारण मान्य नहीं हो पायेगा। क्योंकि अव्यावहारिक वस्तु को परमार्थ-सत रूप में मान्यता नहीं दी जा सकती। क्योंकि ऐसी वस्तु की मान्यता को प्रश्रय देने पर अन्य वस्तुओं की मान्यता को कौन रोक पायेगा?

इस महा-समवायात्मक अद्वैत-भूत की मान्यता पक्ष में 'एक विज्ञान से की गयी सर्वविज्ञान सम्बंधी प्रतिज्ञा भी अच्छी तरह संगत होती है। कहने का तात्पर्य यह कि वेदान्ती लोग जो यह दावा करते हैं कि उपनिषत्प्रतिपादित एक विज्ञान से सर्व विज्ञान की प्रतिज्ञा नित्य विज्ञानाद्वैतात्मक ब्रह्माद्वैत की मान्यता पक्ष में ही संगत हो सकती है, यह उनका कथन इसलिए उतना संगत नहीं हो पाता कि उनके मत में जबकि निरयव एकमात्र ब्रह्म पारमार्थिक रूप में मान्य है तब 'सब और उनका विज्ञान' अलग पारमार्थिक रह कहाँ जाता कि उनकी प्रतिज्ञा वहाँ पूर्ण संगत हो पाये? उस ब्रह्म रूप उपादान को समझ लेने पर तो अद्वैत-वेदान्त-सिद्धान्त में अन्य सारे पदार्थ बाधित अर्थात मिथ्या निर्णीत हो जाते हैं। ब्रह्म को समझना और सब को अर्थात् इस दृश्य को समझना ये दोनों उक्त अद्वैत-वेदान्त-सिद्धान्त में अविरुद्ध नहीं हो सकते कि दोनों में सामंजस्य प्राप्त हो। अतः यदि गम्भीर भाव से देखा जाय तो वहाँ 'एक विज्ञान से सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा' संगत नहीं हो पाती इस चार्वाकी महासमवायात्मक भूताद्वैत को तथ्य मान लेने पर पूर्ण रूप से उक्त प्रतिज्ञा इसलिए संगत हो पाती है कि इस अद्वैत महासमवाय के अन्दर पारस्परिक भेदयुक्त सारा दृश्य जगत अवयवावयवी-भावापन्न रूप में सदा विद्यमान होने के कारण 'एक और सर्व' समसामयिक एवं एकभावस्थित हो पाते हैं इसलिए यह प्रतिज्ञा सर्वथा उपपन्न हो पाती है कि 'एक को समझ लेने पर सभी ज्ञात हो जाते हैं'। घड़े को देखने वाला व्यक्ति जैसे उसके अवयव भूत कपालों को देखता ही है, कपड़े को देखता हुआ व्यक्ति जैसे तन्कुओं को भी देखता ही है उसी प्रकार महासमवायात्मक भूताद्वैत का साक्षात्कार करने वाला व्यक्ति उसके अवयव भूत समग्र पृथिवी, जल आदि उसके अवयवों को देखेगा ही।

इसके अतिरिक्त और एक बात ध्यान देने योग्य यहाँ यह है कि उपनिषत में जो यह कहा गया है कि 'वह पट आदि रूप में दृश्यमान विकार अर्थात कार्य, वाणी मात्र से आरब्ध होने वाले हैं अर्थात ये सभी नाममात्र से विद्यमान हैं सत्य तो केवल मृत्तिका ही है' यह कथन भी उस प्रकार पूर्ण रूप से ब्रह्माद्वैत पक्ष में संगत नहीं हो पाता जिस प्रकार इस

महासमवायात्मक भूताद्वैत पक्ष में। क्योंकि जब उपनिषद-वाक्य में भूतात्मक पृथिवी को ही स्पष्ट शब्द में सत्य कहा गया है तब भूत से अतिरिक्त ब्रह्म को सत्य कहना कैसे उचित माना जा सकता? उस उपनिषद वाक्य के अन्दर तो दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक भाव का उल्लेख हुआ नहीं है कि उक्त वेदान्तियों की उपमानोपमेय-भावमूलक व्याख्या संगत हो पाये? यदि इस पर उस पक्ष से यह कहा जाय कि वाक्यान्तर में उपमानोपमेय भाव वर्णित हैं, क्योंकि स्पष्ट इस प्रकार उपनिषद में कहा गया पाया जाता है कि 'हे सौम्य! जिस प्रकार एक मृण्मय वस्तु का परिचय प्राप्त कर लेने पर सारी मृण्मय वस्तुएँ अनायास ज्ञात हो जाती हैं उसी प्रकार एक अद्वैत तत्त्व को समझ लेने पर अन्य सारी वस्तुएँ ज्ञात हो जाती है' इस औपनिषद उक्ति से तो उपमान-उपमेय भाव स्पष्ट प्रतीत होता है? तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि यहाँ उपमानोपमेय-भाव वर्णित होने पर भी वह उपमानोपमेय-भाव इस महासमवायात्मक अद्वैत की मान्यता पक्ष में जितना समन्वित होता हुआ प्रतीत होता है उतना शांकर-अद्वैत-वेदान्त-पक्ष में नहीं। क्योंकि उस पक्ष में निर्गुण, निर्लेप, निर्विकार, अनुर्त्त ब्रह्म के ऊपर यह दृश्य जगत सर्वथा अध्यस्त, आरोपित, सर्वथा कल्पित मान्य है। इसलिए प्रथम विज्ञान एक ब्रह्म और द्वितीय विज्ञान सर्व अर्थात् विभिन्नतायुक्त रूप में प्रतीयमान यह जगत इन दोनों में वह समान जातीयता कहाँ बन पाती है जो समान जातीयता एक मृत्पिण्ड और उससे बने सभी सारे मृण्मय-पात्र आदि इन दोनों में पायी जाती है? यदि वेदान्तियों की ओर से यह कहा जाय कि 'सत्' रूप में उक्त एक जातीयता ब्रह्म और दृश्य जगत् इन दानों में भलीभाँति कही जा सकती है, तो यह कथन भी मूल्यवान् इसलिए नहीं हो पायेगा कि तब तो ब्रह्म और दृश्य जगत् दोनों में एक ही, या नहीं तो कम-से-कम एक जैसी सत्ता तो माननी ही होगी। और ऐसा मान लेने पर फिर यह दृश्य जगत् ब्रह्म के ही समान सत् मान्व होने के कारण पूर्ण पारमार्थिक बन बैठेगा; जिसे कि उन वेदान्तियों को मान्य ठहराना इसलिए अति कठिन हो आयेगा कि ऐसा मान लेने पर अगत्या इस महासमवात्मक अद्वैत को ही मान्यता उन्हें देनी पड़ेगी। फलत: उन्हें अपसिद्धान्त निग्रहस्थान आपन्न हो उठेणा। इस चार्वाकीय-महासमवायात्मक-अद्वैत की मान्यता पक्ष में महासमवायात्मक ब्रह्म और इस दृश्य जगत् इन दोनों में उक्त उपमानोपमेय-भाव पूर्ण संगत होता है। क्योंकि अवयव और अवयवी नियमत: एक जातीय ही हुआ करते हैं। तन्तु और कपड़े दोनों अन्तत: कपास के ही होते हैं। तदनुसार विभिन्न दृश्यात्मक जगत् जो कि उक्त महासमवात्मक अद्वैत भूत के अवयव और वह महासमवायअवयवी होने के कारण एक ही पारमार्थिक सत्ता दोनों में मान्य होती है। अत: समानजातीयता अक्षुण्ण रह जाने के कारण उक्त उपामानोपमेय-भाव के विघटन की उस प्रकार आशंका आपन्न नहीं होती जिस प्रकार की आशंका आपन्न नहीं होती जिस प्रकार की शंका ब्रह्माद्वैत-वेदान्तपक्ष में आपन्न होती है।

इस महासमवायात्मक भूताद्वैत की एक बड़ी विशेषता यह भी परिलक्षित होती

है कि यहाँ आरम्भवाद और परिणामवाद दोनों का एक प्रकार समन्वय प्राप्त होता है कहने का तात्पर्य यह कि सारे दर्शनों को प्राय: आरम्भवाद, परिणामवाद और निवर्त्तवाद, इन तीन वादों में विभक्त माना जाता है। इन तीनों वादों के अन्दर आरम्भवाद और परिणामवाद ये दोनों अति प्राचीन वाद हैं, क्योंकि आचार्य शंकर के पूर्व विवर्त्त शब्द का भी प्रयोग यदि होता भी था तो परिणाम के ही अर्थ में, उस अर्थ में नहीं, जिस अर्थ में उन्होंने इसे अपनाया है। इस आरम्भ और परिणाम की ओर गहराई से दृष्टि डालने पर इन दोनों के स्वरूपों में मौलिक अन्तर यही प्रतीत होता है कि अन्त:स्पन्दन होता है परिणाम और बहि:स्पन्दन कहलाता है आरम्भ। यद्यपि इन दोनों की ऐसा व्याख्या आज तक और किसी ने सम्भवत: नहीं की है। वेदान्तियों ने परिणाम और विवर्त्त इन दोनों की व्याख्याएँ इस प्रकार की हैं कि 'सतत्वत: अन्यथा प्रथा है परिणाम' और 'अतत्वत: अन्यथा प्रथा है विवर्त्त' उनकी इस व्याख्या को या इससे मिलती-जुलती एतसम्बंधी अन्य व्याख्या की गहराई से देखने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ऐसी व्याख्या करने वाले विद्वानों ने आरम्भ और परिणाम इन दोनों में होने वाले अन्तर के स्पष्टीकरण का माध्यम 'प्रथा' अर्थात् प्रतीति को ही ठहराया है। तदनुसार उनका अभिप्राय यह व्यक्त होता है कि जहाँ उपपादक और उपपाद्य ये दोनों समान-सत्ताक रूप में प्रतीत हो, वहाँ उन दोनों में परिणाम-परिणाम भाव समझना चाहिए और जहाँ उपपादन की प्रतीति न होते हुए उपपाद्य की प्रतीति होती हो वहाँ उन दोनों में विवर्त्ति-विवर्त भाव। उस मृत्पिण्ड को जिससे कि घड़ा बनता है और उस घड़े को जो कि उस मृत्पिण्ड से बनता है दोनों को लोग अव्यवहित पूर्वापरीभावापन्न रूप में आखिर मट्टी ही समझते हैं अत: पूर्ववर्त्ती मृत्पिण्ड होता है परिणामी और घड़ा उसका परिणाम। जहाँ लोग किसी सीप को चाँदी को खण्ड समझ बैठते हैं वहाँ यह परिस्थिति नहीं होती है। चाँदी उसे देखते हैं तब सीप में उस देखने की विषयमता नहीं रहती है और तब नजदीक जाकर द्रष्टा वस्तुत: वहाँ विद्यमान सीप को देखता है तो देखते समय चाँदी का विषयीकरण नहीं होता है। अत: इस द्वितीय परिस्थिति में पूर्व परिस्थिति के अनुसार परिणाम-परिणामी भाव माना नहीं जा सकता। इसलिए चाँदी को वहाँ सीप का विवर्त्त मानना उचित है, यही वेदान्तियों का अभिप्रेत अर्थ मालूम होता है। भर्त्तृ-प्रपंच आदि प्राचीन-वेदान्ती लोग इस तरह का विवर्त्ति-विवर्त्त भाव ब्रह्म और इस दृश्य जगत के बीच नहीं मानते थे। वे वहाँ भी मृत्पिण्ड और घट की तरह परिणाम-परिणामी-भाव ही मानते थे। उनके मत में ब्रह्म ही जगत् रूप से परिणत होता है। इसी अभिप्राय से मैंने कहा है कि विवर्त्तवाद पीछे की उपज है। 'विवर्त्त' इस शब्द के अन्दर छिपे हुए 'वृत्ति' शब्द के दो अर्थ होते हैं। एक विद्यमानता और दूसरा अन्त:करण वृत्तिस्वरूप ज्ञान। मालूम ऐसा होता है कि प्रथम अर्थ प्राचीन वेदान्तियों को अभिप्रेत था और द्वितीय परवर्त्ती वेदान्तियों को। और इसी के आधार पर महान मतभेद की सृष्टि हुई। जगत को ब्रह्म का विवर्त्त मानने वाला शांकर-अद्वैत-सम्प्रदाय भी उसे अनादि अज्ञानात्मक भाव का परिणाम ही मानता है, इसलिए शांकर-सम्प्रदाय को परिणामवाद और विवर्त्तवाद

दोनों ही व्यावहारिक दृष्टिकोण से मान्य होते हैं। प्राचीन ब्रह्माद्वैतियों को केवल परिणामवाद ही मानना पड़ता था इस दृष्टि से उन्हें लाघव प्राप्त था। इस प्रकार विवेचन से यह स्पष्ट प्रतीत हो गया होगा कि जिस अर्थ विवर्त्त शब्द का प्रयोग शांकर-अद्वैत वेदान्तियों ने किया है उस अर्थ में उससे पूर्व विवर्त्त शब्द का प्रयोग नहीं होता था। अत: आरम्भवाद और परिणामवाद ये ही दो वाद प्राचीन दार्शनिक वाद थे। इन दोनों वादों के अन्दर भी अधिक संख्यक दार्शनिकों के द्वारा आरम्भवाद ही आदृत था। क्योंकि न्याय वैशेषिक बौद्ध और मीमांसक ये सभी दर्शन आरम्भवादी हैं। जैन दर्शन स्याद्वादी होने के कारण कथचित् परिणाम को भी मानता हुआ भी मुख्यतया आरम्भवादी ही है। सांख्य और योग तथा ऊपर विहित विचार के आधार पर वेदान्ती भी परिणामवादी ही है परन्तु इस चार्वाकीयमहासमवायात्मक भूताद्वैत-सिद्धान्त में दोनों वादों का समसमन्वय प्राप्त होता है। क्योंकि अणु भूत से लेकर महासमवाय तक अवयवायवि भावाक्रान्त होने के कारण आरम्भवाद मान्य होता है और अवयव एवं अवयवी जो कालक्रम से जीर्णता आदि प्राप्त करते हैं वहाँ पूर्वांपरीभूत-अवयवों एवं अवयवियों में अवयवावयविभाव न होने के कारण वहाँ पूर्ववर्त्ती अवयव एवं अवयवी को परिणामी और परवर्त्ती अवयव एवं अवयवी को परिणाम माना जायगा। क्योंकि अस्फुट क्रिया का ही अपर नाम होता है परिणमन यह बात पहले भी बतलायी जा चुकी है।

इस महा-समवायात्मक भूताद्वैत का समर्थन आधुनिक भूतविज्ञान से भी अच्छी तरह प्राप्त होता है। क्योंकि जब यह सिद्ध हो चुका है कि महान शून्याकाश में ग्रह उपग्रह आदि शब्दों से कहे जाने वाले असंख्य भौतिक सन्निवेश, जगह-जगह पर अपनी निश्चित गति से युक्त रूप में अस्तित्वशील है और पारस्परिक आकर्षण शक्ति के कारण अनियत गतिशील होकर चूर्ण-विचूर्ण नहीं हो जाते हैं। विशकलितावयव होकर अनन्त महाशून्य में विलीन नहीं हो जाते हैं, तो इससे यह पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाता है कि सभी भूत-सन्निवेश, वे प्राणी हो या अप्राणी, प्राणियों के आवास हो या उनका अनावास परस्पर सम्बद्ध है, एक सूत्र में आबद्ध हैं। और पारस्परिक सम्बंध की घनिष्ठता कितनी है इसका परिचय हम भलीभाँति प्राप्त कर सकते हैं, यदि चन्द्र, सूर्य आदि भौतिक पिण्ड से इस लोकावास भूत पिण्ड एक एवं एतत्स्थित प्राणियों को क्या और कितना लाभ तथा अलाभ है इस ओर ध्यान दिया जाय। ऐसी परिस्थिति में सारे भूतभौतिकों का एक महासमवाय कैसे नहीं माना जा सकता? और उसे मान लेने पर उसी की अद्वैत रूप से तत्त्वता भी माननी ही होगी। गुण, कर्म आदि धर्म रूप से भासमान वस्तुएँ भी धर्मी से तत्त्वत: अन्य नहीं है यह बात पहले भी कहीं जा चुकी है। अत: उनको लेकर भी उक्त महासमवायगत एकता का भंग आपन्न नहीं हो सकता। भूत-विनाभूत रूप में ज्ञान का भी अस्तित्व नहीं पाया जाता है कि उसके पृथक अस्तित्त्व के आधार पर भी ये भूताद्वैत का भंग आपन्न हो पाये। गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर इसका आभास अवश्य मिलता है कि न्याय एवं वैशेषिक दर्शन को यह समवाग्र इस चार्वाक दर्शन से उत्तराधिकार में मिला था। इस

समवाय पदार्थ के ऊपर गम्भीर-भाव से दृकपात करने पर भारतीय प्राचीन-समाजवाद पर प्रकाश पड़ता है। व्यष्टि और समष्टि, व्यक्ति और समाज इनको एक सूत्र में आबद्ध करके एकता में समायी हुई अनेकता और अनेकता को अपने गर्भ में छिपाने वाली एकता का अथवा यों कहा जाय कि सौन्दर्यपूर्ण समता से आवृत आकर्षक विषमता का एवं विषमता को अन्दर की हुई समता का समग्र-सृष्टि में अति क्षुद्र भूताणु से लेकर महत्तम रूप में मान्य वस्तु में सामंजस्य उपस्थित करके उसके प्रभावानुसार जनजीवन को सुख और शान्ति का पाठ पढ़ाना इस समवाय का पुनीत कर्त्तव्य था। तदानीन्तन मानव जब इस समवाय के सहारे सर्वत्र सामंजस्य की व्याप्ति देखते थे तो इसके आधार पर अपने जीवन में भी समाजीकरण के संचार द्वारा संघबद्ध होकर पारस्परिक अनुभूति एवं सह अस्तित्व को अपनाते हुए निरन्तर भाव से वैयक्तिक-जीवन की सफलता के साथ-साथ सामूहिक-जीवन की सुख-शान्ति की ओर सदा प्रयत्नशील, सदा सचेष्ट होते थे। इस समवाय का विस्तृत परिचय मेरे 'पदार्थ शास्त्र' द्वितीय भाग को पढ़ कर विशेष रूप से प्राप्त किया जा सकता है। यहाँ इसके लिए उतना स्थान नहीं है कि विस्तृत विवेचन इस पर प्रस्तुत किया जा सके। फिर भी संक्षेप में इसे इस प्रकार ज्ञात करना चाहिए कि किसी भी अनेकव्यक्तिमात्र-साध्य क्रिया की ओर गहराई के साथ दृष्टिपात करने पर यह अवश्य देखने को मिलता है कि वहाँ क्रिया का सम्पादक समवाय ही होता है। समवाय, समुदाय, समाज आदि शब्द पर्यायवाची हैं। तदनुसार समुदाय के द्वारा निष्पन्न होने वाला कार्य फलतः समवाय से ही सम्पन्न होता है। दुरूह से दुरूह काम भी जो संघ शक्ति के सहारे अनायास निष्पन्न होते हुए देखे जाते हैं वह उनकी निष्पत्ति तत्त्वतः इस समवायके ही बल पर होती है। व्यष्टियाँ विभिन्न होने पर भी समष्टि एक ही होती है और वे अवान्तर समष्टियाँ भी अन्य व्सापक एक समष्टि की व्यष्टियाँ होती हैं। इस प्रकार अन्तिम एक ही महासमवाय होता है। इसी दृष्टिकोण से नैयायिक एवं वैशेषिक विवेचकों ने समवाय को एक माना है[१६१ अ] और उसकी उस वास्तविक एकता की सुरक्षा के लिए उसे नित्य भी माना है। इस चार्वाक-सिद्धान्त में किसी की कोई भी परिस्थिति ऐसी नहीं दिखलायी जा सकती जिस समय वह समवायता से व्याप्त न हो। सर्वाधिक अविभाज्य क्षुद्रतम भूताणु भी अन्योन्य-मिथुन भूतचतुष्टय एवं उनके गुण, कर्म एवं सामान्य एक एक समवाय ही होता है। और सभी को स्वगर्भस्थित करने वाला एक महासमवाय ही होता है। इसे ही व्यक्त करने के लिए सम्भवतः नैयायिक एवं वैशेषिक विवेचकों ने उसे अन्तिम भाव का स्थान दिया।

चार्वाक-मत में भूत के प्रभेद

समवाय और समुदाय ये दोनों ही शब्द पर्यायवाची हैं यह बात पहले भी कही

(१६१अ) नित्यसंबंधः समवायः। *-तर्कसंग्रह।*

अवयवावयविनोर्गुणिनोः क्रियाक्रियावतो र्जातिव्यक्त्योः नित्यद्रव्य-विशेषयोश्च यः सम्बंधः स समवायः। *-न्यायसिद्धान्त-मुक्तावली।*

जा चुकी है। तदनुसार कोई भी समवाय समवायी के बिना सम्भव नहीं। क्योंकि प्रत्येक समष्टि व्यष्टियों का ही एक मिलित रूप हुआ करती है यह सर्वथा अनुभवसिद्ध है। ऐसी वस्तु स्थिति होने पर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि प्रकृत समष्ट्यात्मक समवाय का समवायी अर्थात् व्यष्टियाँ कौन हैं? इसके उत्तर में ज्ञातव्य यह है कि पृथिवी, जल, तेज और वायु इनको उक्त समष्ट्यात्मक समवाय का समवायी अर्थात् व्यष्टि समझना चाहिए। प्रत्येक सांसारिक वस्तु में जब ये भूत अविनाभूत रूप में विद्यमान पाये जाते हैं तब इन्हें मान्य समवाय का समवायी कैसे नहीं माना जा सकता? अतः प्रत्येक लघु समवाय से लेकर महासमवाय तक को उक्त भूतचतुष्टयात्मक मानना चाहिए। इसका सरल अभिप्राय यह हैं कि यहाँ सर्वाधिक लघु होने वाला भौतिक कण भी एक भूतात्मक न होकर चतुर्भूतात्मक ही मान्य है अन्यथा वह समवायरूप नहीं हो सकता। इस पर यदि यह प्रश्न उठाया जाय कि इसमें क्या प्रमाण उपस्थित किया जा सकता है कि वह सर्वाधिक लघु-अणु भी उक्त समवाय स्वरूप ही है? तो इसका उत्तर यह ज्ञातव्य है कि जब अन्य सभी वस्तुएँ उक्त भूत-चतुष्टय की समष्टि रूप ही पायी जाती हैं तब अणु और अनणु दोनों में विद्यमान वस्तुत्व एक, अविशेष, होने के कारण अनणु-भूतों के समान प्रकृत सर्वाधिक अणुभूतों को भी समवायात्मक मानना ही होगा। सम्भव है कुछ लोग यहाँ हठात् यह कह बैठे कि यह उत्तर तो एक प्रकार से अनुमान प्रमाण उपस्थित करता है। क्योंकि सर्वाधिक लघु अणु को पक्ष और वस्तुत्व को हेतु करके समवायरूपता की सिद्धि की जा रही है? परन्तु इस चार्वाक सिद्धान्त की ओर से होने वाला यह कथन तो संगत नहीं कहा जा सकता! क्योंकि इस सिद्धान्त में तो प्रत्यक्ष मात्र ही प्रमाण रूप से मान्य ठहराया जाता है। अनुमान को तो प्रमाण माना जाता नहीं? तो यह कथन इसलिए सारशून्य सिद्ध होगा कि विस्तृत विचार के द्वारा यह स्थिर किया जा चुका है कि चार्वाक-सिद्धान्त अनुमान को प्रमाण मानता नहीं, यह बात नहीं है, किन्तु मन को इन्द्रियता और सभी ज्ञानों में मनोजन्यता प्रयुक्त इन्द्रियजन्यता अनिवार्य रूप में मान्य होने के कारण प्रत्यक्षता मानी जाती है। सारांश यह कि अनुमान आदि भी प्रत्यक्ष के ही अन्तर्गत रूप में प्रमाण मान्य हैं। अतः किसी भी तात्त्विक परिस्थिति की सिद्धि के लिए अनुमान का उपस्थापन दोष रूप में परिगणित नहीं किया जा सकता।

हाँ, एक प्रश्न कुछ जटिल सा विरोधी पक्ष से यह उठाया जा सकता है कि अणुत्व के विश्रामस्थानभूत उस सर्वाधिक लघु भौतिक कणों को यदि भूतचतुष्टयात्मक माना जाय तो उनसे क्रमशः बने हुए महान् भौतिकों में चारों भूतों के अंगों की समानता आपन्न होगी। और ऐसा होने पर पृथिवी, जल आदि का अनुभूयमान व्यावहारिक भेद अनुपपन्न हो उठेगा। सारांश यह कि खाने से प्यास की और पीने से भूख की शांति होने लगेगी जैसा कि होती नहीं। और यदि उनके अन्दर विद्यमान भूतों के अंशों में विषमता मानी जायेगी, तब उसके निर्वाहक रूप में शुद्ध पार्थिव, शुद्ध जलीय, शुद्ध तैजस एवं शुद्ध

वायवीय कण जिसे न्याय-वैशेषिक आदि दर्शन परमाणु कहते है उन्हें मानना ही होगा। लघु समवाय घटक उक्त विशुद्ध परमाणुगत संख्याओं की न्यूनता और अधिकता के कारण तब उक्त अनुपपत्ति या आपत्ति का निराकरण किया जा सकेगा। अत: अणुत्व के विश्रामस्थान को समवाय नहीं कहा जा सकता।

परन्तु इस प्रश्न की जटिलता को भी यों टाला जा सकता है कि संयोग को नियमत: अनित्य मानने पर ही वह प्रश्न सावकाश हो सकता है, अन्यथा नहीं। क्योंकि जैसे कुछ नैयायिक और वैशेषिक लोग विभुवों के अनादि, अनन्तसंयोग मानते हैं तद्वत आणविक संयोगों को भी नित्य, स्वाभाविक माना जा सकता है। और ऐसा होने पर विभिन्न भूतों का अशाधिक्य भी उसमें स्वाभाविक रूप से हो सकता है। सारांश यह कि असमांश रूप में भी भूतों का अनादि सम्मिश्रण मान्य हो सकता है। अत: असमवायात्मक भूत की मान्यता और असमांश रूप में वार्तमानिक-भूतों के सम्मिश्रण की उपलब्धि की अनुपपत्ति, इनका अवकाश नहीं रह जाता। यहाँ न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त की तरह सर्वाधिक अणुओं को मौलिक तत्त्व रूप में मान्यता नहीं दी जा रही है किन्तु उसके विपरीत उक्त एक भूत-महासमवाय को। उससे क्षुण्ण भौतिक कण अन्तत: चतुरणुक-स्थानीय ही हो सकते हैं उससे अणु नहीं। किन्तु सभी उक्त क्षुण अणु उक्त चतुरणुक स्थानीय अणु तक विभक्त होकर ही पुन: संयुक्त होकर द्रव्यान्तर का उत्पाद करेंगे यह भी नियम मान्य नहीं है। 'चतुरणुक' शब्दमात्र का प्रयोग न करके चतुरणुक स्थानीय शब्द का प्रयोग इसलिए किया जा रहा है कि वैसा कहने से उक्त विश्रामस्थान क्षुद्राणु के भी अवयवभूत त्र्यणुक द्वयणुक, और परमाणु की मान्यता का भ्रम हो सकता है। अर्थात 'चतुरणुक' शब्द, न्याय-वैशेषिक मत-सिद्ध चतुरणुक की ओर अनभिमत ध्यानाकर्षण कर सकता है अत: इस सम्बंध में यह कह देना भी आवश्यक है कि उक्त 'चतुरणुक स्थानीय' इस वाक्य-प्रयोग के अन्दर आने वाला चतुरणुक शब्द सर्वाधिक क्षुद्र चातुर्भौतिक अतएव समवायात्मक अणुमात्र विवक्षित है न्याय-वैशेषिक सम्मत त्र्यणुक, चतुष्टय से निर्मित द्रव्य नहीं। क्योंकि परमाणु द्व्यणुक एवं त्र्यणुक यहाँ मान्य नहीं है।

चार्वाक-मत में परमाणु की अमान्यता--

महत्त्वापकर्ष के विश्रामस्थान क्षुद्र-भूतों को परमाणु नहीं माना जा सकता। क्योंकि परमाणु का जो यौक्तिक-खण्डन अन्य दार्शनिकों ने भी दृढ़तापूर्वक किया है वह सर्वथा निर्मूल्य नहीं है। यहाँ उसे इस प्रकार समझना चाहिए कि परमाणुओं को मान्यता देने वाले दार्शनिक तत्रत्य संयोग की नियमत: अप्राप्तिपूर्वक अर्थात अनित्य मानते हैं और अव्याप्यवृत्ती भी। और ऐसा मानना परमाणुवादियों के लिए नितान्त आवश्यक है अन्यथा वे विश्लिष्टावस्थ परमाणुओं की परिस्थिति तक पहुंच ही नहीं सकते। संयोगों को यदि अव्याप्यवृत्ती न माना जाय तो एक अणु से संयुक्त दो अणुओं की वितति में कोई अन्तर न हो पायेगा। और वहाँ ही जब वितति में अन्तर नहीं माना जायगा तो आगे-आगे त्र्युणुक,

चतुरणक आदि में अनुभूयमान विततिगत क्रमिक–अतिशय–वृद्धि नहीं बन पायेगी। ऐसी परिस्थिति में जहाँ एक परमाणु में छः दिशाओं से छः परमाणु आ जुटेंगे वहाँ भी संयोग की अव्याप्यवृत्तिता अर्थात एकदेशिकता अनिवार्य रूप में मान्य होने के कारण मध्यवर्ती एक परमाणु के छः अंश मानने होंगे।[१६२] किसी भी सांशवस्तु को परमाणु भला कैसे कहा जा सकता? क्योंकि वह उसका अंश, परमाणु हो जायगा। अतः अंशषटकयुक्त परमाणु को निरवयव नहीं माना जा सकता। इस निरयवय–परमाणु–खण्डक तर्क से परवर्ती नैयायिक और वैशेषिक लोग भी अप्रभावित नहीं रह पाये। इसलिए परवर्ती नव्य तार्किक रघुनाथ शिरोमणि ने त्रुटि अर्थात जिसे पूर्ववर्त्ती परमाणुवादी त्र्यणुक कहते थे उसी को भौतिक क्षोद का विश्रामस्थान माना। यहाँ उस त्रुटि को भी एक भौतिक न मान कर चातुर्भौतिक इसलिए माना जा रहा है कि अनुभूयमान भूत भौतिकों में चातुर्भौयिक संश्लेष अपेक्षाकृत कम-अधिक मात्रा में पाया ही जाता है। इस अल्पता के विश्रामस्थान को त्र्यणुक अथवा चतुरणुक वास्तव अर्थ में इसलिए नहीं कहा जा सकता कि विश्रामस्थान होने के कारण वही अणु परम अणु आदि कहलाने का अधिकारी हो जाता है अतः अनेकाणु घटित किवा अनेकाणु निर्मित वाची त्र्यणुक, चतुरणुक आदि शब्दों से वह मुख्य रूप में कथित होने का अधिकारी नहीं हो पाता।

अब यहाँ परमाणुवादियों की ओर से प्रश्न यह उठाया जा सकता है कि यौक्तिक वस्तु का अपलाप न तो सम्भव है और न उचित। ऐसी परिस्थिति में 'त्र्युटि सावयव है अर्थात अवयव–युक्त है क्योंकि वह भी घट के समान चाक्षुष–द्रव्य है' इस अनुमान से जब कि त्रुटि के अवयवभूत–द्व्यणुक की मान्यता स्वीकृत हो जाती है तब 'त्रुटि के अवयव भी सावयव हैं क्योंकि वे तन्तुकपाल आदि के समान त्रुटिस्वरूप महान द्रव्य को उत्पन्न करते हैं, इस अनुमान से द्व्यणुक का अवयव परमाणु भी सिद्ध हो जाता है। फिर यह कथन कैसे संगत कहा जा सकता कि उक्त चातुर्भौतिक त्रुटि में ही अल्पता का विश्राम मान्य है? तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि तब तो उक्त चाक्षुषत्य हेतु के सहारे उस विश्रामस्थान त्रुटि द्रव्य द्रव्य में घट आदि के समान परिमाण की भी आपत्ति दी जा सकती है क्योंकि यहाँ सभी महान और समवाय स्वरूप ही मान्य हैं। अतः उक्त द्व्यणुक परमाणु आदि साधक अनुमान को सही नहीं माना जा सकता। दूसरी बात यह कि प्रकृत–सिद्धान्त में कोई अचाक्षुष द्रव्य एवं अद्रव्य–चाक्षुष मान्य ही नहीं। ऐसी परिस्थिति में उक्त 'चाक्षुष द्रव्यत्व' हेतु, 'पर्वत अग्नि युक्त है क्योंकि नील धूम युक्त है' इस अनुमान स्थल में जैसे हेतु घटक 'नील' यह विशेषण व्यर्थ हो जाने के कारण अनुमान दुष्ट कहलाता है उसी प्रकार विशेषणगत व्यर्थता अनिवार्य होने के कारण उक्त अनुमान को सही अनुमान नहीं कहा जा सकता, एवं उस अनुमान के सहारे त्रुटिद्रव्य में सावयवता

(१६२) षट्केन युगपद्योगात् परमाणोः षडंशता।
तेषामप्येकदेशत्वे पिण्डः स्वयादणमात्रकः॥ –*सर्वदर्शन–संग्रह, बौद्धदर्शन*।

नहीं सिद्ध की जा सकती, जिससे द्व्यणुक द्रव्य की सिद्धि मान्य होगी। और जब द्वयणुक यही नहीं सिद्ध हो पायेगा तो उसके अवयव परमाणु कैसे सिद्ध हो पायेंगे? अतः उक्त युक्ति से परमाणु की सिद्धि नहीं की जा सकती। और यहाँ यह भी एक ध्यान देने की बात है कि उक्त अनुमान को थोड़ी देर के लिए सही मान कर त्रुटि द्रव्य में सावयवत सिद्ध होने पर भी विभक्तावयवता नहीं सिद्ध होगी। अतः विश्रृंखल स्वतंत्र द्वयणुक, जैसा कि नैयायिक और वैशेषिक लोग सिद्ध करना चाहते हैं नहीं सिद्ध होगा। और सावयवता-मात्र की सिद्ध प्रकृत चार्वाकीय-सिद्धान्त के लिए प्रतिकूल नहीं। क्योंकि उस त्रुटि को भी यहाँ समवायात्मक ही माना जाता है। वहाँ होने वाला चारों भूतों का संयोग अनादि और अनन्त अतएव नित्य होता है यह बात पहले बतलायी जा चुकी है। यदि परमाणु शब्द का अर्थ महत्व का विश्रामस्थान मात्र विवक्षित रखा जाय तो अणु और परमाणु शब्द के प्रयोग से कोई विरोध नहीं है। इस अन्त्य रूप से मान्य त्रुटि को भी अणु या परमाणु शब्द से कहा जाना उचित ही होगा। क्योंकि विश्राम का स्थान तो यह मान्य ही है। केवल प्रतिवाद इस अंश में है कि 'यह त्रुटि, विश्रामस्थान नहीं है तीन द्वयणुकों के आगन्तुक संयोग से यह उत्पन्न होता है और द्वयणुक भी विशकलित दो परमाणुओं के बीच होने वाले आगन्तुक संयोग से उत्पन्न होता है' सारांश यह कि खण्डत्व कहें या अवयवत्व कहें इसका विश्रामस्थान होने वाले भूतकण भी तत्त्वतः महान ही होते है केवल तद्वत् महत्त्व अन्य सभी महत्त्व की अपेक्षा से अपकृष्ट होता है। उक्त विश्रामस्थान भौतिक कणों में नव्य तार्किक रघुनाथ शिरोमणि भी महत्त्व ही मानते हैं यह बात पहले भी बतलायी जा चुकी है।

चार्वाक-मत में पृथिवी एवं पार्थिव -

प्रत्येक वस्तु अवयवी हैं, समवाय-रूप है और उसके समवायी भूत चार मान्य है। यथा पृथिवी, जल, तेज और वायु। इन चारों भूतों में अविनाभाव होने पर भी आधिक्य भूतविशेष का हो सकता है इसलिए पृथिवी-पार्थिक, जल-जलीय, तेज-तैजस, और वायुवायवीय इत्यादि व्यवहार संगत होते हैं इत्यादि बातें बतलायी जा चुकी हैं। इस पृथिवी का लक्षण नैयायिकों एवं वैशेषिकों ने जैसा बतलाया है वैसा यहाँ माना जा सकता है। उन्होंने सरल रूप में ऐसा कहा है कि गन्धयुक्त है पृथिवी।[१६३] सारांश यह कि जिसमें गन्ध गुण प्रमाण-सिद्ध हो उस भूत को पृथिवी समझना चाहिए। सभी पार्थिव वस्तुओं में प्रमाण के द्वारा गन्ध निर्णीत होती है इसलिए पृथिवी के इस लक्षण में अव्याप्ति-दोष नहीं दिखलाया जा सकता है। और जल आदि अवशिष्ट भूतों में गन्ध उपलब्ध होती नहीं इसलिए अतिव्याप्ति दोष भी नहीं दिखलाया जा सकता। और अव्याप्ति जहाँ होती नहीं वहाँ असम्भव की सम्भावना भी नहीं रहती अतः असम्भव दोष भी उद्भावित नहीं हो सकता। अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव का परिचय दिया जा चुका है। यदि यहाँ

(१६३) तत्र क्षितिर्गन्धहेतु.......। ३५। -भाषापरिच्छेद।

यह प्रश्न उपस्थित किया जाय कि जब सिद्धान्त में सारे भूतों में पारस्परिक-संश्लेष अनिवार्यरूप से माना गया है तब अलग विशुद्ध केवल पृथिवीजातीय तो कोई वस्तु होगी नहीं फिर कैसे लक्ष्य-लक्षणभाव संगत कहा जा सकता? तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि वेदान्त-सिद्धान्त में वर्णित पंचीकरण प्रक्रिया से पारस्परिक भूत-संश्लेष होने पर भी जिस प्रकार व्यावहारिक लक्ष्य-लक्षण-भाव मान्य होता है, नैयायिक वैशेषिक सिद्धान्त में तैजस सुवर्ण में पार्थिव-भूत का संश्लेष मान्य होने पर भी लक्ष्य लक्षणभाव मान्य होता है, उसी प्रकार यहाँ भी पारस्परिक भूतसंश्लेष मान्य होने पर भी उक्त प्रकार लक्ष्य-लक्षण भाव संगत हो सकता है। कहने का तात्पर्य यह कि जो अन्य दार्शनिक पार्थिव, जलीय, तैजस एवं वायवीय परमाणुओं को परस्पर असंम्पृक्त, स्वतंत्र भी मानते हैं उनके मत में भी तो घट-पट आदि अवयवी द्रव्यों में विभिन्न भूतों का अवयव रूप से नहीं सही, संयुक्त द्रव्य रूप से ही सही संश्लेष माना ही जाता है दृश्यमान भूतों में। अतः केवल पृथिवी, केवल जल नहीं कहा जा सकता। फिर भी सभी सिद्धान्तों में जैसे लक्ष्य-लक्षण भाव मान्य होता ही है तैसे यहाँ भी भूतों के बीच अविनाभाव की मान्यता प्रयुक्त लक्ष्य-लक्षण-भाव में बाधा नहीं बतलायी जा सकती है।

यदि यह प्रश्न उपस्थित किया जाय कि सभी पार्थिव द्रव्यों में तो गन्ध की उपलब्धि होती नहीं। उदाहरण के रूप में पत्थर को उपस्थित किया जा सकता है। क्योंकि यत्नपूर्वक उसके साथ नाक का सम्पर्क स्थापित करने पर भी गन्ध की उपलब्धि पत्थर में होती नहीं। तो इसका उत्तर यह ज्ञातव्य है कि गन्ध के सुगन्ध और दुर्गन्ध ये दोनों ही प्रभेद उद्‌भूत और अनुद्‌भूत इन दो प्रभेदों में विभक्त होते हैं। उद्‌भूत का अर्थ है प्रकट और अनुद्‌भूत का उसके विपरीत अप्रकट। प्रस्तर आदि पार्थिव भूतों में होने वाली गन्ध होती है अनुत्कट, अप्रकट, अतः नाक से उसका ग्रहण नहीं हो पाता। अतः गन्ध का अस्तित्व पत्थर आदि में भी रह जाने के कारण अव्याप्तिकी, की जाने वाली शंका खण्डित हो जाती है।

यदि इस पर भी यह पूछा जाय कि पत्थर में अनुत्कट भाव से गन्ध रहती है यह कैसे समझा जाय[१६४]? तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि अनुमानात्मक प्रत्यक्ष से पत्थर आदि में गन्ध की उपलब्धि भलीभाँति की जा सकती है क्योंकि जो द्रव्य जिस द्रव्य के विनाश प्रयुक्त उत्पन्न होता है उन दोनों की उपादान धारा एक ही होती है। उदाहरण के द्वारा इसे यों समझा जा सकता है कि एक दस हाथ के कपड़े को यदि दो खण्डों में फाड़ डाला जाय, तो पूर्ववर्त्ती महापट और परवर्त्ती खण्डपट इन दोनों के उपादानभूत तन्तु अभिन्न ही होते है। इस प्रकार अनुभवसिद्ध होने वाले उक्त नियम के अनुसार पत्थर और

(१६४) न च पाषाणादौ गन्धाभावाद्‌गन्धवत्वमव्याप्तमिसि वाच्यम। तत्रापि गन्धसत्त्वात। अनुपलब्धिस्त्वनुत्कटत्वेनाप्युपपद्यते। कथमन्यथा तदभस्मानि गन्ध उपलभ्यते।
–न्यायसिद्धान्त-मुक्तावली, पृथिवीनिरूपण।

उसे जलाने से होने वाले उसके भस्म, इन दोनों के उपादान अर्थात् अवयव अवश्य एकजातीय मान्य होंगे। और पत्थर के भस्म में गन्ध पायी ही जाती है। ऐसी परिस्थिति में पत्थर और उसके भस्म दोनों ही एक जातीय पार्थिव अवयव से ही निष्पन्न होने के कारण, और कार्य में गुणोद्गम कारण गुण के अधीन होने के कारण पत्थर में भी गन्ध का अस्तित्व मानना ही होगा। रही बात नाक के सहारे वहाँ गन्ध की अनुपलब्धि की, तो सो गन्ध की अनुत्कटता प्रयुक्त भी हो सकती है। अत: पत्थर में गन्ध का अभ्युपगम अप्रामाणिक नहीं कहा जा सकता।

यहाँ यह प्रश्न नहीं उठाया जा सकता कि उत्पन्न होता हुआ द्रव्य एक क्षण तक निर्गुण रहता है। अत: प्रथम क्षण-सम्पृक्त रूप में किसी भी पार्थिक द्रव्य में गन्ध रह सकती नहीं। ऐसी परिस्थिति में अव्याप्ति का निराकरण कैसे किया जाय? क्योंकि इस सिद्धान्त में द्रव्योत्पत्ति और गुणोत्पत्ति में पूर्वापरीभाव मान्य नहीं होने कारण द्रव्योत्पत्ति से अतिरिक्त गुणोत्पत्ति अपाकज-गुणोत्पत्ति के स्थल में स्वीकरणीय नहीं है। अत: प्रथम-क्षण-सम्पृक्त-द्रव्य में भी निर्गुणता नहीं कहीं जा सकती। यदि गुणोत्पत्ति-विशेष को द्रव्योत्पत्ति के अधीन थोड़ी देर के लिए मान ही लिया जाय, तो उक्त अव्याप्ति का वारण इस प्रकार करना चाहिए कि गन्ध के अत्यन्ताभाव का अत्यन्ता भाव जिसमें हो वह है पृथिवी। इस निर्वचन के अनन्तर उक्त अव्याप्ति-दोष इसलिए वारित हो जाता है कि किसी भी वस्तु का अत्यन्ताभाव वहाँ ही रहता है जहाँ भूत, भविष्य और वर्त्तमान इन तीनों के अन्दर किसी भी काल में उसका अस्तित्व न हो। किसी भी पार्थिक-द्रव्य में यह सम्भव नहीं बतलाया जा सकता कि उक्त तीनों कालों में ही उसमें गन्ध का सम्पर्क नहीं। अत: वायु में रूप के अत्यन्ताभाव की तरह किसी भी पार्थिव-द्रव्य में गन्ध का अत्यन्ता भाव नहीं कहा जा सकता। ऐसी परिस्थिति में गन्ध के अत्यन्ताभाव का अत्यन्ताभाव उसमें उस उत्पत्तिकाल-सम्पृक्त-पार्थिव द्रव्य में भी रहता ही है। कुछ नैयायिकों एवं वैशेषिकों ने ऐसे दोषों के निराकरणार्थ सामान्य का सहारा लिया है। तात्पर्य यह है कि लक्षण रूप से विवक्षित गन्ध अथवा गन्धयुक्ता का अभिप्रेत अर्थ गन्धवज्जातीयता ग्राह्य है। ऐसा कहने पर उक्त उत्पत्तिक्षण-सम्पृक्त पार्थिव-द्रव्य में अव्याप्ति का निराकरण इसलिए हो पाता है कि द्वितीय आदि क्षण सम्पृक्त गन्धयुक्त पार्थिव-द्रव्यों में एवं उक्त प्रथमक्षण-सम्पृक्त-पार्थिव-द्रव्य में पृथिवीत्व जाति एक ही रहती है अत: गन्धवान पार्थिव का सजातीय वह अपनी उत्पत्ति के समय भी रहता ही है। वस्तुत: उक्त प्रकार दोषों को मान लेने पर उसके निवारणार्थ-सरल तरीका यह है कि 'गन्धोपलक्षित' को पृथिवी मान लिया जाय। अर्थात यह कहा जाय कि 'जिसमें कभी गन्ध हुई हो या होने वाली हो या हो वह है पृथिवी', तो अनायास उक्त अव्याप्ति की शंका वारित हो जाती है। क्योंकि परक्षण में ही तो उसमें गन्ध होने वाली होती है। यहाँ प्रसंगवश 'लक्षण' का भी परिचय इस प्रकार प्राप्त करना चाहिए कि 'असाधारण धर्म कहलाता है लक्षण।'' 'असाधारण'

का अर्थ है लक्ष्यतावच्छेदक का समनियत । लक्ष्य का स्वाभाविक धर्म कहलाता है लक्ष्यतावच्छेदक। जैसे गन्ध को यदि पृथिवी का लक्षण कहा जाता है तो उसका स्वाभाविक रूप से धर्म होने वाला पृथिवीत्व होता है लक्ष्यता-वच्छेदक। और समनियत का अर्थ है समान स्थान में रहने वाला। इसका भी सरल अर्थ यह होगा कि जहाँ-जहाँ लक्ष्यतावच्छेदक रहे वहाँ-वहाँ लक्षण रूप से अभिप्रेत होने वाला धर्म रहे, और जहाँ-जहाँ वह लक्षण रूप से अभिप्रेत-धर्म रहे वहाँ-वहाँ लक्ष्यता-वच्छेदक भी रहे, तो वह धर्म होता है लक्ष्यतावच्छेदक-समनियत। अत: उक्त प्रकार समनियत होने वाला धर्म होता है लक्षण। उदाहरण के द्वारा इसे पृथिवी और गन्ध के लक्ष्य-लक्षण-भावस्थल में समझा जा सकता है। पृथिवी लक्ष्य है तो लक्ष्यतावच्छेदक होता है पृथिवीत्व। वह जहाँ-जहाँ अर्थात सर्वत्र-पार्थिव वस्तु में रहता है वहाँ-वहाँ सर्वत्र किसी न-किसी समय गन्ध का अस्तित्व होता ही है। एवं जहाँ-जहाँ किसी न किसी समय गन्ध रहती हैं वहाँ-वहाँ सर्वत्र सर्वदा लक्ष्यतावच्छेदक-भूत पृथिवीत्व रहता है। अत: गन्ध लक्ष्यतावच्खेदक-समनियत, फलत: पृथिवीत्व क़ा समनियत होती है और इसलिए पृथिवी का लक्षण होती है। इसी प्रकार सर्वत्र लक्ष्यलक्षण-भावस्थल में समझना चाहिए।

सम्भव है कि कुछ लोगों के मन में यह शंका उपस्थित हो कि पृथिवीत्व-सामान्य जिसे कि गन्धात्मक लक्षण का लक्ष्यतावच्छेदक अर्थात लक्ष्यता का नियामक कहा जा रहा है भला किस प्रमाण से सिद्ध हो सकता? क्योंकि पृथिवी के अतिरिक्त उसमें रहने वाला पृथिवीत्व नाम का धर्म तो अनुभूत होता नहीं। तो इसके उत्तर में दो बातें कहीं जा सकती है। एक यह कि पृथिवी का अर्थ होता है पृथिवीत्व-जाति-विशिष्ट। इसलिए पृर्थिवी का ज्ञान पृथिवीगत पृथिवीत्व को अपने से अछूता नहीं रख सकता। इसीलिए पृथिवी के ज्ञान का विषय पृथिवीत्व को भी मानना ही होगा। ऐसी परिस्थिति में किसी भी पार्थिवी-पदार्थ के प्रत्यक्ष का विषय-पृथिवी-स्वरूप धर्मी के समान वह पृथिवीत्व-सामान्य भी होता है, जो कि पृथिवी का स्वाभाविक धर्म होता है। ऐसी परिस्थिति में धर्मी पृथिवी के समान तद्‌गत पृथिवीत्वात्मक धर्म भी प्रत्यक्ष का विषय होता है यह मानना ही होगा। इसलिए पृथिवीत्व जाति के अस्तित्व में प्रत्यक्ष प्रमाण भी विद्यमान है यह भली-भाँति कहा जा सकता है। दूसरी बात यह कि गन्ध के तादात्म्य के नियामक रूप में भी पृथिवीत्व-सामान्य का अस्तित्व मानना अनिवार्य है। क्योंकि भूत तो पृथिवी के समान जल, तेज और वायु ये भी हैं किन्तु गन्ध का तादात्म्य पृथिवी में ही क्यों होता है? इसलिए यह कहना ही होगा कि गन्ध का नियामक होने वाला पृथिवीत्व पृथिवी में ही रहता है जल आदि में नहीं। नियामक के बिना नियम्य का न रहना स्वाभाविक ही है। अत: नियामक पृथिवीत्व उक्त जल आदि में न होने के कारण नियम्य गन्ध का तादात्म्य जल आदि भूतों में नहीं हो पाता है। इस प्रकार किया जाने वाला कथन पृथिवीत्व-सामान्य को मान्यता देने के बिना संगत नहीं हो सकता अत: सभी पार्थिव-पदार्थों में एक अनुगत

पृथिवीत्व-सामान्य अवश्य मानना होगा।

नैयायिक और वैशेषिक लोगों ने इस पृथिवीत्व[१६५] सामान्य की सिद्धि, गन्ध की उत्पत्ति के नियामक रूप में बतलायी है, किन्तु वह यहाँ इसलिए मान्य नहीं ठहरायी जा सकती कि यहाँ पृथ्वी और गन्ध में उत्पाद्य-उत्पादक भाव मान्य नहीं है। गुण और गुणी यहाँ परस्पर में भिन्न नहीं मान्य है, अभिन्न ही। वस्तुतः जब कि पृथिवी और गन्ध आदि गुण की तरह पृथिवी और पृथिवीत्व भी अविनाभूत, तादात्म्यापन्न हैं तब पृथिवी का प्रत्यक्ष मानने पर पृथिवीत्व का भी प्रत्यक्ष स्वतः मान्य होता है। ऐसी परिस्थिति में यह प्रश्न ही अस्वाभाविक हो जाता है कि पृथिवीत्व के अस्तित्व में क्या प्रमाण है? इस विवेचन से जलत्व आदि सामान्य के सम्बंध में उठायी जाने वाली आशंका का उत्तर प्रकाशित हुआ समझना चाहिए। क्योंकि आशंका की गतिविधि समान होने पर उत्तर की गति विधि भी अवश्य समान होगी। यहाँ पृथिवी के लक्षण से सम्पृक्त रूप में पृथिवीत्व सामान्य पर थोड़ा प्रकाश डाल देना आवश्यक हो पड़ा।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि गन्ध ही केवल पृथिवी का लक्षण होने की योग्यता अपने में रखती है ऐसी बात नहीं है। और भी ऐसे उसके असाधारण स्वभाव बतलाये जा सकते हैं जिनके सहारे समग्र पृथिवी एवं पार्थिव का परिचय प्राप्त किया जा सकता है अतः उन्हें भी पृथिवी का लक्षण कहा जा सकता है। जैसे पाकज रूप, रस आदि को भी पृथिवी का लक्षण भलीभाँति समझा जा सकता है। क्योंकि पाकज रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये पृथिवी एवं पार्थिवों में ही उपलब्ध होते हैं। अधिक देर तक जल को सन्तप्त करने पर यद्यपि जल में भी रूपान्तर की उपलब्धि होती हुई पायी जाती है फिर भी उस रूप को जल का न मान कर जल में प्रविष्ट इन्धन सम्बंधी पार्थिव कणों का ही मानना उचित है। कहने का तात्पर्य यह कि गुलाब जल, केवड़ा जल आदि जलों में उपलभ्यमान गन्ध जिस प्रकार जल का न मान्य होकर पार्थिव उन पुष्पों की ही मान्य होती है और पुष्प के सम्पर्कप्रयुक्त जल में प्रतीयमान मानी जाती है उसी प्रकार अग्निताप प्रयुक्त जलगत रूप में उपलभ्यमान रूप को भी पार्थिव कहा जा सकता है। अतः पाकज रूप, रस आदि पार्थिवों में रहने वाले निश्चित होते हैं इसलिये पाकज रूप, रस आदि को भी पृथिवी का लक्षण अनायास कहा जा सकता है। इसी प्रकार नैमित्तिक द्रवत्व को भी पृथिवी का लक्षण समझा जा सकता है। क्योंकि वह पृथिवी में ही पाया जा सकता है। सुवर्ण को यहाँ न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त की तरह तेज नहीं मानना है पार्थिव ही मानना है, अतः उसमें अतिव्याप्ति की शंका नहीं उठायी जा सकती। इसी प्रकार ऐसे गुरुत्व अर्थात वजन को भी पृथिवी का परिचायक लक्षण माना जा सकता है जो कि शीतल स्पर्श के साथ एक जगह

---

(१६५) पृथिवीत्वं हि गन्धसमवायिकारणतावच्छेदकतया सिध्यति। अन्यथा गन्धत्वावच्छिन्नस्याकस्मिकत्वापत्ते।

-न्यायसिद्धान्त-मुक्तावली, प्रत्यक्ष-परिच्छेद ३५ कारिका।

रहता न हो। कहने का तात्पर्य यह है कि गुरुत्व अर्थात भार पृथिवी एवं जल इन दो में ही उपलब्ध है। तदनुसार जल में रहने वाला गुरुत्व होता है शीतल स्पर्श के साथ के साथ एकत्र रहने वाला और पार्थिव गुरुत्व होता है शीतल स्पर्श के साथ न रहने वाला अत: एतादृश गुरुत्व को पृथिवी का असाधारण स्वभाव मानना हो होगा। अत: वह भी लक्ष्यतावच्छेदकपृथिवीत्व का समनियत होने के कारण पृथिवी का लक्षण कहा ही जा सकता है। पृथिवी के सम्बंध में इस प्रकार विविध लक्षण का उद्‌भावन यहाँ इसलिए किया गया है कि और लोग इस प्रकार और भी इस पृथिवी की विशेषता की ओर अपने ध्यान को आकृष्ट कर सकते हैं और अन्य सभी वस्तुओं के स्वरूप के अध्ययन में विभिन्न प्रकार से दिलचस्पी ले सकते हैं। भारतीय वाङ्मय में लक्षण ग्रन्थों के निर्माण की परम्परा इसी अभिप्राय से अनेक-पूर्व प्रचालित की गयी थी कि बुद्धिविकास के अन्य साधन के अभाव में भी इसके सहारे अनायास लोग बौद्ध-व्यायाम करके अपनी बुद्धि को सुदृढ़ भाव से परिपक्व करके जीवन के व्यावहारिक क्षेत्र में उस बुद्धि का सदुपयोग कर के अपना और औरों का भी कल्याण करें।

नैयायिक एवं वैशेषिकों ने इस पृथिवी को जिसके अन्दर छोटी से लेकर बड़ी तक पार्थिव वस्तुएं भी अन्तर्गत रूप से अभिप्रेत रखी गयी हैं, शरीर, इन्द्रिय और विषय इन तीन प्रभेदों में विभक्त माना है। किन्तु यहाँ केवल मन ही इन्द्रिय रूप से मान्य होने के कारण और उसे भी शरीर का ही एक अवयव मानने के कारण इन्द्रिय को शरीर से अतिरिक्त एक स्वतंत्र प्रभेद नहीं कहा जा सकता। अभिप्राय यह कि जो लोग उक्त तीन प्रभेदों को मान्यता देते हैं वे इन्द्रिय को शरीर का अवयव नहीं मानते किन्तु शरीर से संयुक्त मानते हैं। यहाँ नाक, कान आदि को इन्द्रियत्व ही मान्य नहीं है। केवल मन ही एक इन्द्रिय रूप से मान्य है और वह भी शरीर का ही अवयव है यह बात संक्षेप में पहले भी बतलायी जा चुकी है। अत: शरीर और विषय ये ही दो प्रभेद मान्य हैं। सम्भव है यहाँ कुछ लोग यह प्रश्न उठावें कि इन्द्रिय को शरीर का अवयव मानने पर भी उसे अलग प्रभेद क्यों नहीं कहा जा सकता है? शरीर का अवयव होते हुए भी वह क्यों नहीं पृथक निदिष्ट हो सकता है? तो इसका उत्तर यह ज्ञातव्य है कि घट-पट आदि के प्रतीतिस्थल में कोई भी व्यक्ति कपाल और तन्तुओं का भी पृथक निर्देश नहीं करता कि 'घड़ा भी है और कपाल भी है'। कपड़ा भी है और तन्तु भी है'। 'क्योंकि घड़ा है' यह कहने से ही यह भी स्वत: अवगत हो जाता है कि कपाल भी है और कपड़ा है कहने पर यह भी अवगत हो जाता है कि तन्तु भी है। क्योंकि कपाल के बिना घट का और तन्तुओं के बिना पट का अस्तित्व हो ही नहीं सकता। यदि यह कहा जाय कि पृथक कार्यकारी होने के कारण पृथक-निर्देश औचित्य प्राप्त कर सकता है। तो उस दृष्टिकोण से इन्द्रिय को भी एक अलग प्रभेद मान कर उक्त त्रैविध्य का समर्थन किया जा सकता है। शरीर का परिचय कुछ लोगों ने इस प्रकार दिया है कि जो चेष्टा का आश्रय हो, उसे पार्थिव-शरीर समझना

चाहिये। परन्तु यह निर्वचन इसलिये उचित नहीं प्रतीत होता कि चेष्टा की परिभाषा करते हुये वे लोग यह कहते हैं कि हित की प्राप्ति और अहित के परिहार के प्रति अनुकूल होने वाली क्रिया है। चेष्टा के इस निर्वचन के अनुसार शरीर से भिन्न होने वाले विषयात्मक पार्थिवों में शरीरता आपन्न हो उठती है। क्योंकि उनमें होने वाली क्रियाएँ भी तो प्राणियों के हित की प्राप्ति और अहित के परिहार का सम्पादक होती ही हैं। जल की यदि वर्षा होती है तो क्या उससे प्राणियों की हित-प्राप्ति और अहित परिहार नहीं होता? यदि यह कहा जाय कि शरीरगत उक्त प्रकार क्रिया है चेष्टा। तो आत्माश्रय-दोष आपन्न होगा। क्योंकि शरीर का निर्वचन शरीर-गर्म हो उठने के कारण शरीर को समझने के लिए उसी शरीर का ज्ञान अपेक्षित रूप से मान्य हो उठेगा। यदि यह कहा जाय कि चेष्टा के निर्वचन की अपेक्षा हो रही है शरीर के निर्वचन की अपेक्षा होती है चेष्टा के निर्वचन को अतः आत्माश्रय कैसे आपन्न हो सकता? तो आत्माश्रय नहीं सही, अन्योन्याश्रय ही सही, आपन्नि तो अनिवार्य ही रह जाती है। इसलिए शरीर का उक्त निर्वचन सही नहीं कहा जा सकता। दूसरा निर्वचन शरीर का यदि किया जाता कि 'इन्द्रिय का आश्रय' है शरीर। यह शरीर का निर्वचन उन लोगों के मत में तो संगत हो सकता है, जो लोग इन्द्रिय और शरीर के बीच संयोग सम्बंध मानते हैं। क्योंकि उनके मत में शरीर संयोग सम्बंध से इन्द्रिय का आश्रय हो सकता है परन्तु प्रकृत-सिद्धान्त में शरीर का यह निर्वचन इसलिए संगत नहीं हो सकता कि आधाराधेयभाव लोकानुभव के आधार पर नियत ही माना जा सकता अनियत नहीं। यदि कोई व्यक्ति आसन पर बैठता है तो आसन और बैठने वाले के बीच संयोग सम्बंध समान होने पर भी यही प्रतीति प्रमाणिक मान्य होती है कि 'वह व्यक्ति आसन पर पर बैठता है,'। इस प्रतीति के बदले यह प्रतीति कभी प्रामाणिक मान्य नहीं होती कि आसन उस व्यक्ति पर बैठता है। इस वस्तु स्थिति के अनुसार कपाल को घड़े का तन्तुओं को कपड़े आश्रय कहा जा सकता है, घड़े को कपालों का, कपड़े को तन्तुओं का आश्रय नहीं माना जा सकता। और यह निर्णय हो जाने पर प्रकृत में इन्द्रिय का अर्थात मस्तिष्कस्वरूप मन को भले ही शरीर का आश्रय कहा जाय, किन्तु शरीर को उक्त इन्द्रिय का आश्रय कैसे संगत हो सकता? क्योंकि शरीर और मस्तिष्क के बीच 'अवयवावयविभाव' मान्य है यह बात पहले भी बतलायी जा चुकी है।

तीसरा निर्वचन शरीर का यह पाया जाता है कि अर्थाश्रय है शरीर। इसे ही अन्य वाक्य में इस प्रकार कहा जाता है कि 'भोगायतन है शरीर'। इन दोनों निर्वचनों में शब्दतः अन्तर होने पर भी अर्थतः कोई अन्तर इसलिए नहीं है कि आश्रय और आयतन ये दोनों शब्द तो पर्यायवाची रूप में प्रसिद्ध ही है, रही बात 'अर्थ' और उपयोग' इन दोनों शब्दों की, तो ये दोनों शब्द भी एकार्थक इस प्रकार हैं कि समग्र प्राणियों के लिए 'अर्थ' अर्थात अर्थित, फलतः इच्छा का विषय, सुख और दुःख का उपभोग ही होता है। अतः 'अर्थ' और उपभोग' ये दोनों शब्द भी पर्यायवाची हो जाते हैं। इस लिए इन दोनों ही निर्वचनों से

प्राप्त यही होता है कि 'सुख और दु:ख के साक्षात्कार का आश्रय है शरीर। उस चार्वाक-सिद्धान्त में साक्षात्कारात्मक स्फुट चैतन्य शरीर में होता है अत: आत्मा वही है, इसे ही प्रमाता भी मानना चाहिए इत्यादि बातें 'प्रमाता' शीर्षक विचार में विस्तृत भाव से बतलायी जा चुकी हैं। फलत: 'भोगायतन' या 'अर्थाश्रय', शरीर को भलीभाँति कहा जा सकता है। अत: शरीर का यह निर्वाचन इस चार्वाक सिद्धान्त के अनुसार तो सही होता है। किन्तु जो लोग शरीर से अतिरिक्त शरीरी आत्मा मानते हैं और शरीर का इस प्रकार निर्वचन करते हैं उनके कथन का समर्थन करना कठिन है। क्योंकि सुख और दु:ख साक्षात्कारात्मक अर्थ तो उनके मत में शरीर से अतिरिक्त अमूर्त आत्मा मान्य होता है?

सम्भव है कुछ लोग हठात् इसके उत्तर में यह कहने के लिए उतावले हो उठें कि समवाय-सम्बंध से शरीरातिरिक्त आत्मा में, उक्त साक्षात्त्कारात्मक भोग शरीरावछिन्न रूप में होता है अत: शरीर होता है अवच्छेदक। सुतरां समवाय-सम्बंध से न सही, अवच्छेदकता-सम्बंध से वह उक्त साक्षात्कारात्मक भोग शरीर में रह सकता है। अत: शरीरातिरिक्त-आत्मवादियों के मत में भी उक्त निर्वचन क्यों नहीं संगत हो पायेगा? तो इस प्रकार वक्तव्य यह समझना चाहिए कि इस प्रकार कल्पित सम्बंध के आधार पर इस निर्वचन को उचित मानने पर इस तरह के अन्य भी सम्बंध हस्तगत हो सकते हैं जिन्हें अपनाने पर समग्र संसार को शरीरत्व की आपत्ति हो उठेगी। जैसे 'स्वनिष्ठ-वस्तुत्व' सम्बंध से सभी को सब जगह रखा जा सकता है क्योंकि वस्तुत्व तो सब में एक ही है। इसलिए शरीरातिरिक्त-आत्मवाद पक्ष में शरीर का यह निर्वचन संगत नहीं कहा सकता। यहाँ एक प्रश्न यह उपस्थित किया जा सकता है कि दु:ख के उपभोग को अर्थ कैसे कहा जा सकता? क्योंकि दु:ख का उपभोग तो कोई चाहता नहीं और यदि अर्थ पद से उक्त उभयात्मक उपभोग नहीं गृहीत हो सकेगा तो अर्थ और उपभोग को एक करके जो अपने पक्ष में उक्त शरीर-लक्षण का समन्वय बतलाया गया है उसे कैसे संगत कहा जा सकता? तो इसका उत्तर यह दिया जा सकता है कि जहाँ व्यक्ति दूसरों के उपकारार्थ स्वयं दु:ख भी झेलना चाहता है तादृश स्थल में मुख्य रूप से परकीय सुख अर्थ होने पर भी तदनुकूल रूप में स्वकीय दु:खोपभोग भी अर्थ होता ही है। अत: उक्त असंगति नहीं अपादित हो सकती है।

यह पृथिवी, इस सिद्धान्त में सारे गुणों का आश्रय है। क्योंकि यहाँ भूतचैतन्य मान्य होने के कारण ज्ञान, इच्छा, द्वेष आदि भी भूताश्रित ही होते हैं। क्रिया सामान्य और अभाव भी पृथिवी में आश्रित होते हैं। विषय का परिचय जो इस प्रकार दिया जाता है कि 'उपभोग का साधन है विषय, उसको यहाँ भी मान्यता दी जा सकती है। परन्तु इस विषवता का तो तत्त्वता-स्वरूप वस्तुत्त्व का समव्याप्त मानना है। अभिप्राय यह कि शरीर एवं इन्द्रिय भी तो उपभोग के साधन ही हैं। विषयता को तत्त्वता का अव्यापक यह कह कर कहा जा सकता है कि 'वह उपभोग का साधन है विषय, जो कि शरीर और इन्द्रिय

इन दो से भिन्न है'। परन्तु उसे अव्यापक बनाने मात्र के लिए उक्त निर्वचन में शरीर और इन्द्रिय से भिन्नता का निवेश करना उचित नहीं कहा जा सकता।

चार्वाक-मत और जल--

द्वितीय भूत है जल। जल का परिचय शीतल स्पर्श से मिलता है अतः शीतल स्पर्श को जल का लक्षण माना जा सकता है। प्रस्तर[१६६] चन्दन आदि में उपलभ्यमान शीतलता भी तत्त्वतः जल की ही होती है अतः अतिव्याप्ति दोष उद्भावित नहीं हो सकता। गौरीकुण्ड, सीताकुण्ड आदि के जल जो गरम प्रतीत होते हैं, उस प्रतीति का कारण होने वाली गरमी विभिन्न भौगर्भिक धातु के अन्दर प्रचुर रूप से अवस्थित तेज की ही मान्य है। अतः उक्त जल में शीतलता का अभाव दिखला कर अव्याप्ति की शंका नहीं उपस्थित की जा सकती है। पृथिवी और वायु के समान विधारकता जल में भी पायी जाती है। इसीलिये जल पर वस्तुएँ उतराती हुई देखी जाती हैं। सर्वाधिक इसकी साधक युक्ति यह है कि किसी भारी वस्तु को भी जब कोई पकड़ कर जल के अन्दर एक स्थान से अन्य स्थान को ले जाता है उस समय उसे उतना भार नहीं प्रतीत होता, उसे ले जाने में उसे उतना आयास नहीं करना पड़ता है जितना जल के बाहर उसे भारयुक्त वस्तु को ले जाने में। कुछ लोगों की यह धारणा सर्वथा भ्रान्त है कि जल के अन्दर वस्तु का भार अर्थात गुरुत्व घट जाता है। वह वस्तु ही हल्की हो जाती है। क्योंकि ब्राह्य वस्तुओं के ठोस अस्तित्व मानने वालों के मत में अकस्मात भारपरिवर्तन कैसे मान्य हो सकता। कुछ लोगों की धारणा इस जलात्मक भूज के सम्बंध में यह है कि यह पृथिवी, तेज और वायु की तरह एक स्वतंत्र तत्त्व नहीं है। इसलिये यह भूत कहलाने का अधिकारी नहीं है। क्योंकि भूत का अर्थ हैं सत्य, फलतः मौलिक तत्व। परन्तु यह कथन तो तभी मान्य हो सकता, जब कि यह निर्णय हो जाय कि जिन दोनों करणों के संयोग से अमौलिक जल की उत्पत्ति मानी जाती है उन दोनों में सूक्ष्मजलीय अंश बिलकुल रहता नहीं। खास कर इस चार्वाक-सिद्धान्त में तो चारों भूत अविनाभूत रहते है वह बात बतलाई जा चुकी है। साथ ही इस सम्बंध में एक बात और ध्यान देने की यह है कि जो लोग एक ओर जल को तत्त्व नहीं मानते वे ही उसके विपरीत यह भी कहते पाये जाते हैं कि एक ही वस्तु विभिन्न तापप्रयुक्त कठिन अर्थात घनीभूत एवं तरल, तथा वाष्प बन जाती है। क्या इससे यह नहीं सिद्ध होता है कि जल की तरल स्थिति के पूर्व कोई 'घन' स्थिति रहती है? और यदि यह सिद्ध हो जाता हैं तो इसी से वह बात स्वतः कट जाती है कि जल इस दृश्यमान रूप के अतिरिक्त किसी रूप में भी पहले नहीं था। यदि यह कहा जाय कि उक्त कथन का तात्पर्य केवल इतना ही ज्ञातव्य है कि जिस रूप में तरल देखा जाता है उस रूप में पहले नहीं रहता। तो इससे वस्तुतः जल की स्वतंत्रतत्त्वता नहीं खण्डित होती। क्योंकि जल ही

---

(१६६) घृष्टचन्दनादौ शैत्योपलब्धिश्चन्दनान्तर्ववत-शीततरसलिल स्यैव।

-न्यायसिद्धान्त-मुक्तावली

क्यों, पृथिवी आदि भी तो दृश्यमान स्पष्ट रूप में पहले नहीं रहते? फिर भी यदि पृथिवी, तेज आदि स्वतंत्र तत्त्व मान्य होते हैं, तो इस जल का ही ऐसा कौन सा अपराध है कि यह तत्त्वता से वञ्चित किया जाय? यदि गम्भीर-भाव से सोचा जाय तो यह मानना ही होगा कि पार्थिव लघुतम कणों में भी जलीय अंश रहता है। क्योंकि ऐसा न होने पर उन पार्थिव कणों में स्निग्धता नहीं हो सकती। और स्निग्धता के अभाव में दो पार्थिव कण आपस में जुटे नहीं हो सकते। इसलिये यहाँ यह सिद्धान्त स्थापित किया जा चुका है कि, ये चारों भूत अविनाभूत होते हैं। जल में द्रवत्व सांसिद्धिक होता है ऐसा अन्य दार्शनिकों ने कहा है, परन्तु यह प्रत्यक्ष विरुद्ध है क्योंकि यह तापमान प्रयुक्त जमा हुआ जल ताप पाकर तरल बन जाता है। यदि उसका द्रवत्व स्वाभाविक हो, तो तरलता के लिये अपेक्षित होने वाला ताप व्यर्थ हो जाय, जो कि अनुभवविरुद्ध है। यदि जल द्रवत्वगत-सांसिद्धिकतावाद का अभिप्राय यह हो कि जल का प्राथमिक रूप तरल ही है। कृतिम उसमें घनीभाव ही हुआ करता है यही आशय है जल में सांसिद्धिक-द्रवत्व मानने का, तो यह कथन भी शपथ निर्णेय ही होगा। क्योंकि दोनों ही परिस्थितियाँ जबकि प्रत्यक्ष दृष्ट है, तब कैसे यह निर्णय किया जा सकता है कि जल का तरल स्वरूप ही प्रारम्भिक है। और भी एक बात यहाँ ध्यान देने योग्य यह है कि इस संसार को अनादि मानना अनिवार्य है। इसीलिये अन्य दार्शनिकों ने भी बीजांकुर की अनवस्था को प्रामाणिक बतला कर यह कहा है कि अवान्तर सृष्टि और प्रलय होने पर भी इस संसार की आदि सृष्टि नहीं मान्य है। ऐसी परिस्थिति में यह अभिप्राय वर्णन भी संगत नहीं कहा जा सकता कि सांसिद्धिक द्रवत्व मानने का अभिप्राय यह है कि जल का प्रारम्भिक रूप तरल ही है। क्योंकि अनादि संसार प्रवाह मान्य हो जाने पर प्रारम्भिकता की चर्चा का भी स्थान कहाँ रह जाता?

जल अपनी शीतलता के कारण ताप का शामक है। इसलिये इसके पीने से प्यास शान्त होती है। क्योंकि पूर्वपीत जल सूख जाने के कारण शारीरिक तापगत रूक्षता ही है प्यास। जल पीने से शरीर आर्द्र हो जाने के कारण वह तापगत अर्थात शारीरिक तेजगत रूक्षता तिरोहित अर्थात अननुभूयमान हो जाती है। जल का रूप है अभाश्वर शुक्ल। इसमें गन्ध के अतिरिक्त अन्य सभी गुण रहते हैं। भूत चैतन्य की मान्यता के कारण जल में भी पृथिवी की तरह ज्ञान आदि रहते ही हैं। पृथिवी के ही समान जल में भी कर्म सामान्य और अभाव रहते हैं। सम्भव है यह प्रश्न उठ खड़ा हो कि यमुना जल आदि जलों में जब श्यामता आदि देखी जाती है तब जल का रूप अभास्वर शुक्ल ही कैसे माना जाय? तो इस सम्बंध में वक्तव्य है कि वे दृश्यमान नील आदि रूप पार्थिव कणों के सम्पर्क से प्रतीत होते हैं। क्योंकि पार्थिव कणों के सम्पर्क प्रयुक्त जब जल में अन्य रूप की प्रतीति होती हुई पायी जाती हैं, तब यमुनाजल आदि में भी ऐसा क्यों नहीं माना जा सकता? शरीर इन्द्रिय और अविषय इन प्रभेदों में जल को भी नैयायिकों एवं वैशेषिकों ने विभक्त किया है। परन्तु अव्यवहित पूर्व पृथिवी-विवेचन के अवसर पर कृत-विचार के अनुसार यहाँ भी एतत्सम्बंधी

निर्णय समझ लेना चाहिए।

चार्वाक-मत में तेज की मान्यता--

पृथिवी और जल के समान तेज भी एक मान्य तत्त्व है। तेज का परिचय उष्ण[१६७] स्पर्श से मिलता है अतः उष्ण स्पर्श तेज का लक्षण है। यह तेज सर्वत्र व्याप्त है इसीलिए जिस किसी भी वस्तु के अतिघर्षण से आग प्रगट हो उठती है। यहाँ तक कि जिस जल को आग का विरोधी समझा जाता है वहाँ भी तैजस कण व्याप्त रहते हैं। इसलिए विद्युत के उत्पादन के लिए जल की आवश्यकता होती है। बादलों के संघर्ष से बिजली का छिटकना प्रसिद्ध ही है। इस तेज को प्राचीन विवेचकों ने भौम, दिव्य, उदर्य और आकरज इस प्रकार चार प्रभेदों में विभक्त माना है। आग आदि तेजों को कहा जाता है 'भौम'। और जिस तेज के प्रज्ज्वलन में जल लकड़ी का काम करता है, अर्थात् आग जिस प्रकार लकड़ी से प्रज्वलित होती है उसी प्रकार जो तेज जल से प्रज्वलित होता है वह कहलाता है 'दिव्य' जैसे विद्युत आदि तेज। उदर्य वह तेज कहलाता है जिसे शब्दान्तर में जठरानल या जठराग्नि कहा जाता है और तेज का चतुर्थ प्रभेद कहलाता है 'आकरज'। आकर कहते हैं खान को, अतः उससे उत्पन्न होने वाला तेज कहलाता है आकरज। स्वर्ण आदि को प्राचीन विवेचकों ने आकारज तेज माना है। परवर्त्ती कुछ विवेचकों ने सुवर्ण के सम्बंध में यह अपना निर्णय उपस्थित किया है कि वह तेज न होकर पार्थिव है। जिन लोगों ने उसे तेज माना है उन्होंने [१६८] तर्क यह उपस्थित किया है कि एक पहर से अधिक प्रबल अग्नि-संयोग होने पर पार्थिव रूप अवश्य बदल जाया करता है। परन्तु सोने में यह परिस्थिति नहीं पायी जाती है। इस प्रकार जब सोना अन्य सभी पाथिव वस्तुओं के स्वभाव का उलंघनकारी पाया जाता है तब उसे कैसे-कैसे पाथिव माना जा सकता? जल और वायु उसे कहा ही नहीं जा सकता। अतः अगत्या सोने को तेज मानना ही पड़ेगा। अन्य कुछ लोगों ने सोने को तेज मानने के लिए यह तर्क उपस्थित करते हैं कि घी-तेज आदि पार्थिव वस्तुओं का द्रव्यत्व अर्थात तरलत्व अत्यन्त-अग्निसंयोग प्राप्त होने पर अवश्य नष्ट हो जाया करता है यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। यदि सोना घृत आदि के समान पार्थिव होता तो अत्यन्त-अग्निसंयोग प्राप्त होने पर उक्त घृत आदि के समान उसकी भी तरलता उच्छिन्न होती, नष्ट होती। किन्तु ऐसा होता हुआ पाया जाता नहीं। अतः सोने को पार्थिव नहीं माना जा सकता। सुतरां उसे तेज ही मानना होगा। कहने का तात्पर्य यह है कि घृत आदि को भी पानी में डालकर उसमें ताप देने पर तब तक घृत का द्रव्यत्व नष्ट नहीं होता जब तक पानी

---

(१६७) तेजी रूपस्पर्शवत । ३। *-वैषिशेक दर्शन, अध्याय २ आ १।*

रूपं भास्वरं स्पर्शश्चोष्णः तद्वत्तेज इत्यर्थः। *-वैशेषिकदर्शन उपस्कार।*

(१६८) सुवर्ण तैजसं, अत्यन्ताग्निसयोगेद्रप्यनुच्छिद्यमान-द्रवत्वाधिकरणत्वात, यन्नैवं तन्नैवं यथा पृथिवीति व्यतिरेकिणा तैजसत्वसिद्धे।

-वैशेषिक-दर्शनोपस्कार , अ. १ आ.२ सू. ७ व्याख्या।

न जल जाता। अतः पानी को वहाँ घृतगत द्रव्यत्व के नाश के प्रति प्रतिबंधक माना जाता है। तदनुसार यहाँ सुवर्ण स्थल में भी जबकि द्रव्यत्व का नाश नहीं देखते हैं तो मानना ही होगा कि उत्त दृष्टान्त-स्थल में जल के समान वहाँ भी द्रव्यत्व-नाश का प्रतिबंधक अवश्य किसी को मानना होगा अतः सोने के अन्दर द्रव्यत्व के उच्छेद के प्रति प्रबंधक रूप से कोई विद्यमान होता है। वहाँ विद्यमान प्रतिबंध तेज को छोड़कर और कोई हो सकता नहीं। क्योंकि प्रतिबंधक अपने एवं अपने आश्रय का विजातीय ही प्रायः हुआ करता है। अतः उक्त द्रव्यत्व के उच्छेद का प्रतिबंधक किसी उसके अन्तर्निहित पार्थिव को नहीं कहा जा सकता। जल और वायु का प्राधान्य सोने के अन्दर पाया नहीं जाता, अतः उनको उक्त द्रवत्वोच्छेद का प्रतिबन्धक कहा नहीं जा सकता। ऐसी परिस्थिति में तदन्तर्गत तेज को ही उक्त प्रतिबंधक मानना होगा। यदि यहाँ यह कहा जाय कि सोना कही जाने वाली वस्तु के अन्दर जो पीला पार्थिव भाग है उसमें तो द्रवत्व होता नहीं। वह जो पिघला प्रतीत होता है उसका कारण यह होता है कि जल में मिलाये गये अल्प पार्थिव कण आदि के समान वह पीला स्वर्णस्थ पार्थिव द्रव्य पूर्ण रूप से घुल-मिल जाता है। वस्तुतः उसमें द्रवत्व होता नहीं। अतः उक्त घृत आदिक-दृष्टान्त वस्तुतः यहाँ संगत नहीं हो पाता। तो उक्त द्रवत्व के स्थान में स्वर्णस्थ-पार्थिव-भागगत पीले रूप को दृष्टान्तरूप में ग्रहण कर लेना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह कि स्वर्णस्थ-पार्थिव-भाग का पीला रूप जबकि अत्यन्त अग्नि संयोग होने पर भी नहीं बदलता हुआ देखा जाता है, तो अवश्य ही यह मानना होगा कि उस रूप के उच्छेदक के प्रतिबन्धक रूप में कोई तरल होने वाला द्रव्य उसके अन्दर अवश्य विद्यमान है। किसी पीले कपड़े को प्रचुर पानी के अन्दर डाल कर यदि आग पर पकाया जाय तो जब तक पानी नहीं जलेगा तब तक कपड़े का पीला रूप भी नष्ट नहीं होगा। ऐसी परिस्थिति में यह मानना ही होगा कि वह जल जिसके अन्दर वह पीला कपड़ा पकाया जायगा अवश्य पटगत पीत रूप के नाश का प्रतिबंधक होगा। तदनुसार स्वर्ण के साथ अत्यन्त अग्निसंयोग की विद्यमानता स्थल में स्वर्णगत-पीत-रूप के उच्छेद का प्रतिबंधक विद्यमान होता है ग्रह मानना ही होगा। उस प्रतिबंधक को जल या वायु क्यों न कहा जा सकता? इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि तरल जल का स्वभाव यह देखा जाता है कि वह अपने सम्पर्क में आने वाले पार्थिव कणों को जैसा धूल को, उसमें घुस कर स्निग्ध बना डालता है किन्तु तरल होने में यह बात नहीं पायी जाती है। यदि उसे धूल के अन्दर गिराया जाय तो वह धूल को नहीं लपेट सकता। उसे नहीं स्निग्ध बना सकता। इसलिए उस प्रतिबंधक भूत तरल पदार्थ को जल नहीं कहा जा सकता। वायु इसलिए उसे नहीं कहा जा सकता कि उसमें तरलता होती नहीं अतः अगत्या उसे तेज ही मानना होगा। इस प्रकार प्राचीन-विवेचकों ने सोने को तेज सिद्ध किया है। वस्तुस्थिति यह है कि जिसे सोना कहा जाता है वह सम्पूर्ण रूप में तेज नहीं है। क्योंकि इसका साक्षित्व उसमें विद्यमान पीत रूप करता है। पीत रूप पृथिवी को छोड़ कर अन्यत्र

रहता नहीं। किन्तु उसके अन्दर प्रचुर मात्रा में तेज की विद्यमानता अवश्य मान्य है। अन्यथा उक्त परिस्थितियाँ उपपन्न नहीं हो सकती। इसी प्रकार अन्य भी ऐसी धातुएँ हो सकती हैं। सुवर्ण आदि के समान आकरज होने पर भी हीरे आदि रत्नों को प्राचीन विवेचकों ने पार्थिव ही माना है तेज नहीं माना है। क्योंकि जगह-जगह पर पार्थिवत्व और लोह लेख्यत्व इन दोनों के अन्दर व्यभिचार का प्रदर्शन हीरे में ही किया गया है। यह कहा गया है कि हजारों पार्थिव द्रव्यों में यह बात पायी जाती है कि वे लोहलेख्य होते हैं। अर्थात उन पर लोहे से रेखा काटी जा सकती है। परन्तु हीरा ही एक ऐसा पार्थिव द्रव्य है जिस पर रेखा लोहे से नहीं काटी जा सकती, हीरे से वह भले ही काटी जा सके। प्राचीनों के इस कथन से यह भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है कि वे लोग सोना आदि धातुओं को जिस प्रकार तेज मानते थे रत्नों को उस प्रकार तेज नहीं मानते थे। परन्तु उचित यह प्रतीत होता है कि सोने के समान रत्नों को भी फिर तेज मानना चाहिए। अर्थात उसके अन्दर भी लोहसाधनक रेखाकरण का प्रतिबंधक-तेज माना जाय। पृथिवी, जल, तेज और वायु इन चारों के अन्दर तेज और वायु इन दोनों का स्वभाव ऐसा देखा जाता है कि उन पर रेखा नहीं काटी जा सकती। जल पर रेखा स्थिर भले ही न रहे, किन्तु वह काटी जा पाती है। अत: उस प्रतिबंधक को तेज या वायु इन दोनों के अन्दर ही कुछ मानना होगा। इन दोनों के अन्दर भी उसे वायु मानना इसलिए संगत नहीं होगा कि किसी दृढ़ घनीभूत वस्तु के अन्दर प्रचुर प्रभावकारी वायु का अस्तित्व नहीं माना जा सकता। ऐसी परिस्थिति में रेखा के प्रतिबंधक रूप में तेज को ही तदन्तर्गत मानना होगा। सुतरां सुवर्ण आदि की परिस्थिति से हीरों की परिस्थिति में कोई ऐसी विशेषता नहीं पायी जा रही है कि सोने को तेज माना जाय और हीरे को पार्थिव। भारतीय साहित्य में रत्नों को द्वीप रूप में ग्रहण असंख्य स्थानों में किया गया पाया जाता है। वह संगत तभी हो सकता, जब कि हीरे को तेज मान लिया जाय। तेज मानने का अर्थ सुवर्ण के समान तेज घटित मानना समझना चाहिए। प्रकाश करना मुख्यतया तेज का ही स्वभाव है। अत: रत्नों को प्रकाशक मानने पर उन्हें तेज भी मानना ही होगा। यही परिस्थिति जुगनू आदि प्रकाशक कीटों के सम्बंध में भी समझनी चाहिए। अन्य अधिकतर विचार यहाँ भी पृथिवी-विवेचन के अवसर पर विहित-विचार के अनुसार समझना चाहिए।

चार्वाक-मत और वायु--

चतुर्थ भूत है वायु। इसका लक्षण प्राचीन विवेचकों ने इस प्रकार किया है कि अपाकज-अनुष्णाशीत-स्पर्श जिसमें हो वह है वायु। कहने का तात्पर्य यह है कि उष्णशीतल और अनुष्णाशीत इस प्रकार स्पर्श के तीन प्रभेद आगे बतलाये जाने वाले उन तीनों स्पर्शों के अन्दर अनुष्णाशीत-स्पर्श पृथिवी और [१६६] वायु इन दोनों में रहते हैं। किन्तु

---

(१६६) अपाकजोऽनुष्णाशीत: स्पर्शस्तु पवने मत: ॥ ४२॥
तियगगमनवानेष ज्ञेय: स्पर्शादिलिंगक:॥ ४३॥ *-भाषापरिच्छेद, प्रत्यक्ष परिच्छेद।*

अन्तर यह होता है कि पृथिवी के अन्दर ही पाकज रूप, रस, गन्ध और स्पर्श इनकी विद्यमानता के कारण पाकज-स्पर्श वायु में रहता नहीं अपाकज ही स्पर्श रहता है अत: 'अपाकज स्पर्शयुक्त भूत है वायु' यह वायु का निर्वचन संगत होता है, असंगत नहीं। अन्य कुछ विवेचकों ने वायु का निर्वचन इस प्रकार बतलाया है कि जो रूप का आश्रय नहीं होता हुआ स्पर्श युक्त हो उसे वायु समझना चाहिए। रूप पृथिवी, जल और तेज इन तीनों भूतों में ही रहता है अत: वायु में रूप का अभाव रहता है और स्पर्श पृथिवी, जल, तेज औरवायु इन चारों में रहता है अत: वायु में स्पर्श भी रहता है। इसलिए वायु का यह भी निर्वचन संगत ही होता है। इस वायु में रूप, रस और गंध इन तीन गुणों को छोड़कर अन्य सारे गुण रहते हैं। बौद्ध विद्वानों ने इस वायु को भी रूपयुक्त कहा है। परन्तु वहाँ रूप शब्द से आकार-प्रकार विवक्षित है नील, पीत आदि रूप नहीं। अत: उस मत को लेते हुए भी उक्त वायु-निर्वचन में असंगति नहीं ठहरायी जा सकती। ग्रीष्म ऋतु में वायु के सम्पर्क से गरमी का और जाड़े के समय उसके सम्पर्क से जाड़े का अनुभव होता है सही, परन्तु वह उष्ण और शीतल स्पर्श वायु का न होकर तेज और जल का होता है। अत: उस गरमी और सरदी के अनुभव के आधार पर उक्त लक्षण में असंगति नहीं ठहरायी जा सकती। इस वायु के सम्बंध में कुछ प्राचीन विवेचकों का मत यह है कि इसका प्रत्यक्ष होता नहीं, अनुमान ही होता है। कहने का तात्पर्य यह कि प्रत्यक्षता के लिए जो लोग रूप को अनिवार्य रूप से अपेक्षित ठहराते हैं उनके मत में वायु का 'त्वक' इन्द्रिय से भी प्रत्यक्ष होता नहीं। क्योंकि वायु में किसी भी प्रकार का रूप होता नहीं परन्तु युक्तिसंगत इसलिए नहीं कहा जा सकता कि इस चार्वाकीय-सिद्धान्त में मन ही केवल है इन्द्रिय। आँख, कान आदि इन्द्रिक रूप से मान्य नहीं है। अत: यह नहीं कहा जा सकता कि रूप न होने के कारण वायु का प्रत्यक्ष होता नहीं। क्योंकि मन से होने वाले प्रत्यक्ष के प्रति रूप आदि गुण की अपेक्षा और लोग भी मानते नहीं। जो नैयायिक एवं वैशेषिक लोग वायु के प्रत्यक्ष का विरोध करते हैं उनके घर में भी इसके सम्बंध में कलह होता हुआ पाया जाता है। परवर्ती नैयायिकों एवं वैशेषिकों ने इस सम्बंध में यह अपना स्पष्ट मत उपस्थित किया है कि वायु का स्पार्शन-प्रत्यक्ष होता है। क्योंकि प्रत्यक्ष के लिए रूप की आवश्यकता चाक्षुष प्रत्यक्ष स्थल में ही अनुभवसिद्ध है, स्पार्शन-प्रत्यक्ष स्थल में नहीं। स्पार्शन-प्रत्यक्ष के लिए स्पर्श का ही अस्तित्व, अपेक्षित मान्य है और स्पर्श वायु में है ही। हाँ, एक बात यह अवश्य है कि चाक्षुष-प्रत्यक्ष स्थल में जैसे रूपगत उद्भव अर्थात् प्राकट् अपेक्षित होता है तैसे स्पर्शन-प्रत्यक्ष के लिए स्पर्शगत-उद्भू तत्त्व भी अपेक्षित होता है। 'वायु का मुझे स्पर्श हो रहा है', 'वायु का मैं स्पर्श कर रहा हूँ' सुखद वायु चल रही है इत्यादि अनुभव लोगों को होते ही हैं इसलिए वायु का प्रत्यक्ष न मानना दुराग्रह है। जो लोग वायु का प्रत्यक्ष मानते नहीं उनका कहना है कि वायु का अनुमान हुआ करता है। वे कहते हैं कि विलक्षण प्रकार के स्पर्श से; शब्द से, रुई आदि के उड़ने से और वृक्षशाखा, कपड़े आदि के हिलने से वायु

का अनुमान [१७०] होता है। तात्पर्य यह कि अन्य सभी सस्पर्श द्रव्यों के स्पर्शों से वायु का स्पर्श अवश्य विलक्षण होता है यह बात पहले भी बतायी जा चुकी है और गुणक भी गुणी के बिना निराधार रह नहीं सकता। ऐसी परिस्थिति में अनुभूयमान उक्त स्पर्श का एक अतिरिक्त आश्रय मानना ही होगा। वहीं उक्त स्पर्श का आश्रय है वायु। वायु के चलते समयतत्प्रयुक्त एक प्रकार का विलक्षण सनसनाहटयुक्त शब्द सुना ही जाता है। शब्द भी गुण ही है अत: वह भी गुणों के बिना निराश्रय कैसे रह सकता? अत: उस शब्द का आश्रय एक स्वतंत्र वस्तु माननी होगी। वही स्वतंत्र रूप से मान्य वस्तु है वायु। निराधार शून्य तिनके उड़ते देखे जाते हैं। धुनी हुई रूई उड़ती हुई देखी जाती है। जबकि कोई प्राणी प्रयत्नपूर्वक उन तिनके आदि को ऊपर धारण नहीं कर रखा होता है तब किसी विधारक भूत के बिना उनका पतन हो जाना चाहिए, ऊपर ही नहीं उड़ते रहना चाहिए। परन्तु ऐसा होता नहीं। अत: यह मानना ही होगा कि उन तिनके, रुई आदि का विधारक कोई-न-कोई भूत अवश्य है, यत्कर्त्तक विधारण प्रयुक्त वे निरवलम्ब शून्य में उड़ते रहते हैं, यह मानना ही होगा। वही निधारक भूत है वायु। आकाश में उड़ने वाले विमानों का विधारण भी वायु को मान्यता दिये बिना संगत नहीं हो सकता, इसलिए भी वायु-भूत की मान्यता अनिवार्य है। किसी संवेग पृथिवी या जल या तेज के अभिधान के बिना भी वृक्ष की शाखा हिलती हुई पाई जाती है। कपड़े हिलते हुये पाये जाते हैं। वह शाखा आदि का कम्पन अवश्य किसी-न-किसी स्पर्शवान और वेगवान द्रव्य के अभिघात-प्रयुक्त होता है यह मानना ही होगा। वह अभिघाती द्रव्य जबकि वहाँ पृथिवी, जल या तेज प्राप्त नहीं है तो उन तीनों से अतिरिक्त एक अभिघाती द्रव्य मानना ही होगा। उसी द्रव्य को वायु नाम का नामी अर्थात् वाच्य अर्थ समझना चाहिये। इस प्रकार अनुमान प्रमाण के सहारे वायु के अस्तित्व को वे लोग सिद्ध करते हैं, जो लोग वायु का प्रत्यक्ष मानते नहीं। इस चार्वाक-सिद्धान्त में वायु का भी प्रत्यक्ष मान्य है। वस्तुत: वायु तो एक ऐसी सर्व-परिचित वस्तु है कि उसके अस्तित्व के सम्बंध में कोई विप्रतिपत्ति उठायी ही नहीं जा सकती। क्योंकि स्थूल रूप से यही प्राणि-शरीर के जीवन और मरण का सम्पादन करता हुआ प्रतीत होता है। श्वास और प्रश्वास ही मुख्य रूप से होते हैं प्राण कहलाने के अधिकारी। इसीलिये 'प्राण' और 'जीवन' ये दोनों शब्द प्राय: समान अर्थ में ही प्रयुक्त पाये जाते हैं। 'वह जीता है' इसके समान 'वह प्राण धारण करता है' यह भी वाक्य-प्रयोग होता ही है।

इस वायु को आन्तर और बाह्य इन दो प्रभेदों में कुछ लोग विभक्त मानते हैं। आन्तर वायु को ही 'प्राण' शब्द से कहा जाता है। इस प्राणस्वरूप आन्तर-वायु को प्राण, अपान, समान, उदान और ध्यान इन पाँच भागों में विभक्त माना जाता है। सम्भव है कि

---

(१७०) वायुर्हिशब्दस्पर्शधृतिकम्परेनुमीयते। विजातीयेन शब्देन विलक्षण स्पर्शेण तृणादीनां धृत्या शा खादीनां कम्पनेन च वायोरनुमानात्। —न्यायसिद्धान्त मुक्तावली।

यहाँ यह प्रश्न उठ खड़ा हो कि जब आभ्यन्तर वायु प्राण शब्द से कही जाती है तब उसके अवान्तर रूप में, एक प्रभेद रूप से, उपस्थित होने वाले को फिर प्राण कैसे कहा जा सकता? तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि समग्र आभ्यन्तर वायुवाची प्राण शब्द है यौगिक। क्योंकि इस प्राण शब्द का अर्थ होता है प्रकृष्ट रूप से गतिशील। किन्तु अवान्तर, आभ्यन्तर वायु-विशेष का वाचक होने वाला 'प्राण' शब्द यौगिक नहीं, वह एक प्रकार का परिभाषिक है। कुछ लोगों का कहना यह है कि हृदय में अवस्थित [१७१] वायु है प्राण। और अन्य कुछ लोगों कहना यह है 'मुंह और नाक इन शरीर-छिद्रों से निर्गमन और प्रवेशन-स्वरूप क्रियाशील वायु है 'प्राण'। जो भी कुछ हो इन दोनों परिभाषाओं के अनुसार आभ्यन्तर वायु विशेष को ही प्राण कहा गया है इस परिभाषिक प्राण के अतिरिक्त और भी चार आभ्यन्तर वायु माने गये है जिन्हें क्रमशः अपान, समान, उदान और व्यान, इन चार नामों से कहा जाता है। मलमूत्र आदि शारीरिक विकारों को अधोमुख भाव से शरीर से बाहर निकाल फेंकने वाली वायु है अपान। इस अपान के सम्बंध में तो यहाँ तक कहा गया है कि इसी अपान वायु के प्रभाव से खाये खाद्य और पिये पेय हलक के नीचे जाते हैं। इस अपान वायु के बिगड़ जाने के कारण ही मरणासन्न प्राणी के मुंह से औषधि जल आदि बाहर निकल आते हैं, हलक के नीचे नहीं जा पाते हैं। कुछ अन्य लोगों का इस अपान-वायु के सम्बंध में कहना यह है कि वह नियमतः मल-निर्गमन-द्वारा में ही अवस्थित होता है। कहीं-कहीं ऐसा भी कहा गया पाया जाता है कि नासिक छिद्र के सहारे उदरवर्त्ती वायु का बाहर निस्सरण है प्राण और बाहरी वायु का शरीर में आगमन है अपान। इस कथन के अनुसार नाक के छिद्र द्वारा शरीर के अन्दर होने वाले विकार को बाहर फेंकने वाली वायु है प्राण और शुद्ध बाह्य जीवनोपयोगी तत्त्वों को शरीर के अन्दर लाने वाली वायु है अपान, समान वह वायु कहलाती है जो कि- खाये-पिये भक्ष्य और पेयों को पचाती है। अर्थात् परिपाकानुकूल क्रियाशील वायु कहलाती है समान। उदान-वायु वह कहलाती है जो पेट से ऊपर उठती हुई कभी-कभी खायी एवं पीयी गयी वस्तुओं को उलेख कर ऊपर कण्ठ तक ले आती है। व्यानवायु उसे कहते हैं जो कि समग्र शरीर में व्याप्त है और मुख्य रूप से नाड़ियों का वितनन जिसका प्रधान व्यापार है। फलतः शारीरिक सभी रस मल धातु आदि का वह विभाजन, जो कि अंगों की पुष्टि के लिए नितान्त अपेक्षित है इस व्यान वायु के ही अधीन है। यह बात पहले भी बतलायी जा चुकी है कि कुछ लोग इन पंचप्राणात्मक आध्यात्मिक वायुओं को एक प्रकार स्वतंत्र भूत नहीं मानते। उनका कहना है कि शरीर-स्वरूप पिजड़े के अन्दर समग्र इन्द्रियों का अथवा केवल अन्तःकरण त्रय का सम्मिलित कम्पन ही है पंचप्राण। परन्तु ऐसा कहने वालों को यह तो सोचना चाहिए कि तब तो बाह्य वायु की भी मान्यता इस दृष्टान्त से खतम की जा

---

(१७१) हृदिप्राणों गुदेऽपानः समानों नाभिसंस्थितः।
उदानः कण्ठदेशे तु व्यानः सर्वशरीरगः। *-तर्कसंग्रह-दीपिका।*

सकती है। क्योंकि वहाँ भी कहा जा सकता है कि अन्य भूतों का सम्मिलित चलन ही है वायु। उससे अतिरिक्त और कुछ नहीं। कहने का तात्पर्य यह कि एक कोई शरीर भी असंख्य शरीरों का एक समुदाय ही होता है यह बात तो स्पष्ट ही है। तभी तो मानव-शरीर एवं पंशु-शरीरों में कीटाणुओं का स्पष्ट उद्‌गम समय-समय पर पाया जाता है? ऐसी परिस्थिति में इस समग्र एक ब्रह्माण्ड को भी एक शरीर ही मानना उचित होगा जिसकी भी चर्चा पहले की जा चुकी है। तदनुसार जिसे बाह्य वायु समझा जाता है वह भी तो आभ्यन्तर ही वायु हो जाती है। क्योंकि शरीर रूप से प्रसिद्ध भौतिक-पिण्ड जिस प्रकार प्राणियों का एक समवाय है। यह समग्र एक ब्रह्माण्ड भी प्राणियों का एक समवाय है। ऐसी परिस्थिति में प्रसिद्ध शरीर दृष्टान्त के अनुसार पूरे ब्रह्माण्ड को भी एक महाशरीर ही मानना उचित है। सुतरां जिसे बाह्य वायु समझा जाता है वह भी फलतः विशाल, विराट शरीर की दृष्टि में आभ्यन्तर ही वायु है। सम्भवतः इसी दृष्टिकोण से समग्र जागतिक वायुओं को समझाने के लिए 'जगत्प्राण' इस शब्द का प्रयोग वायु अर्थ में प्रचुर रूप में किया गया पाया जाता है। अतः आध्यात्मिक और अनाध्यात्मिक रूप में वायु का कोई विभाजन ऐसा नहीं जो कि सार्वधिक रूप से स्वीकरणीय हो।

चार्वाक-मत में आकाश स्वतंत्र भूत नहीं-

यह लोक-प्रसिद्ध है कि पृथिवी, जल, तेज और वायु इन चारों के समान आकाश भी एक स्वतंत्र भूत है। नैयायिक और वैशेषिक-दार्शनिक लोगों ने इस आकाश नामक वस्तु की सिद्धि इस प्रकार बतलायी है कि शब्द है एक प्रकार का गुण, अतः वह किसी-न-किसी गुणी द्रव्य को ही आश्रय करके उत्पन्न हो सकता है और रह सकता है। पृथिवी, जल, तेज और वायु इन्हें शब्द गुण का आश्रय इसलिए नहीं माना जा सकता कि उक्त स्पर्शवान चार भूतों के गुण या तो अग्निसंयोगात्मक असमवायिकारण से उत्पन्न होते हैं या कारण-गुण-क्रम से उत्पन्न होने वाले होते हैं। घड़े आदि पार्थिव द्रव्यों में विलक्षण अग्नि संयोग से रूप की उत्पत्ति देखी जाती है। और कपड़े आदि अन्य द्रव्यों में यह देखा जाता है कि उनके अवयवभूत तन्तु आदि में जैसे रूप रहते हैं तदनुरूप रूप आदि गुण उत्पन्न होते हैं एवं अवस्थित रहते हैं। किन्तु यह शब्दात्मक गुण न तो अग्निसंयोग से नियमतः उत्पन्न होता है और न कारण गुण क्रम से उत्पन्न होता है। ऐसी वस्तुस्थिति की ओर ध्यान देने पर यह मानना ही होगा कि शब्द स्पर्शवान का अर्थात् पृथिवी, जल, तेज और वायु इनमें किसी का भी गुण नहीं है[१७२] पृथिवी, जल, और वायु इनके गुण नियमतः या तो अग्नि-संयोगात्मक असमवायिकारण से होते हुए पाये जाते हैं या सजातीय कारण-गुण से यह बात ऊपर बतलायी जा चुकी है। जो जिसके स्वभाव का उल्लंघन करता है

---

(१७२) कार्या तराप्रादुर्भावाच्च शब्दः स्पर्शवतामगुणः २५॥

-वैशेषिक-दर्शन, अध्याय २ आ १।

वह उसके अन्दर अन्तभुक्त नहीं माना जा सकता, इस नियम के अनुसर जबकि शब्द उक्त स्पर्शवान् भूतचतुष्टयगत-गुण-स्वभाव का उल्लंघन करता हुआ पाया जाता है तब कैसे उसे उक्त भूतचतष्टय के अन्दर किसी का भी गुण माना जाय? अतः शब्द को पृथिवी आदि उक्त चार भूतों का गुण नहीं माना जा सकता। काल का या दिक् का या मन का ही गुण क्यों न शब्द को मान लिया जाय? क्योंकि ऐसा मान लेने पर शब्द गुण के आश्रय रूप में शाकाश मानने का प्रयोजन नहीं बतलाया जा सकता? इसके उत्तर में आकाश को शब्द का आधार मानने वाले उक्त नैयायिक एवं वैशेषिकगण यह कहते है कि शब्द है 'विशेष गुण' अर्थात् एक-मात्र-इन्द्रिय से ग्राह्य होता हुआ अपने आश्रय को औरों से अलग बतलाते वाला गुण। ऐसे होने वाले रूप, रस आदि अन्य गुण जब कि दिक् काल और मन इनके अन्दर किसी में भी पाये नहीं जाते, तब रूप, रस आदि के ही समान एक इन्द्रिय-मात्र से ग्राह्य होने वाले अर्थात् केवल कान से ही गृहीत होने वाले शब्द गुण को कैसे काल का, या दिक् का अथवा मन का गुण माना जाय? शब्द आत्मा का विशेष गुण क्यों न माना जाय? इसके उत्तर में उक्त दार्शनिकों ने यह कहा है कि आत्मा के विशेष गुण होने वाले ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न आदि नियमतः बाह्य इन्द्रियों के अन्दर किसी अर्थात् नाक, कान, आँख आदि ज्ञानेन्द्रियों से गृहीत होते नहीं। किन्तु शब्द की यह परिस्थिति नहीं है। वह कान जो कि एक बाह्य ज्ञानेन्द्रिय है उससे गृहीत होता है। इस प्रकार जब कि शब्द आत्मा के गुण होने वाले ज्ञान, इच्छा, प्रत्यत्न आदि के स्वभाव का स्पष्ट उल्लंघन करता हुआ पाया जाता है तब कैसे उसे आत्मा का गुण माना जा सकता? अतः आकाश को छोड़कर अन्य किसी द्रव्य को शब्द, गुण का आश्रय नहीं कहा जा सकता और शब्द, गुण निराश्रित भाव से रह नहीं सकता, यह बात पहले भी बतलायी जा चुकी है अतः शब्द गुण के आश्रय रूप में फलतः गुणी रूप में आकाश का माना जाना अनिवार्य है। न्याय और वैशेषिक दृष्टिकोण से इस प्रकार आकाश की मान्यता सिद्ध की जाती है। इस आकाश को वे लोग व्यापक भी मानते हैं और नित्य भी [१७३]। सारांश यह कि न्याय और वैशेषिक-सिद्धान्त में आकाश न तो काल से सीमित माना जाता है और न दिक् या देश से। हाँ, नैयायिक और वैशेषिकों की धारा के अन्दर नव्य नैयायिक एवं नव्य वैशेषिक रघुनाथ शिरोमणि ने आकाश का पृथक् अस्तित्व नहीं माना है। उनका कहना है कि व्यापक कोई एक ही हो सकता। अनेक व्यापक नहीं हो सकते, इसलिए आकाश, काल, दिक् और आत्मा इन द्रव्यों को अलग-अलग न मानकर एक मान लेना ही संगत है। फलतः उनके मत में आकाश की अमान्यता ही पर्यवसित होती है। क्योंकि आत्मा को अमान्य कहना तो आत्मघात ही स्वीकार करना होगा। किन्तु आश्चर्य की बात यह है कि एकमात्र व्यापक द्रव्य को मान्यता देकर आकाश को अमान्य ठहराते हुए भी समग्र विभिन्न जीवात्माओं को उक्त नव्य तार्किकशिरोमणि व्यापक मानते हुए भी नहीं, विभिन्न ही मानते हैं। अस्तु,

(१७३) शब्दलिंगाविशेषाद्विशेषलिंगाभावाच्च ।३०। *-वैशेषिक दर्शन, अ १ आ १।*

प्रकृत वक्तव्य यह है कि बहुव्यापकवादी नैयायिकों और वैशेषिकों के अन्दर भी ऐसा एक व्यक्ति हुआ है जो इस प्रकृत आकाश को मान्य नहीं कहता। इस आकाश के सम्बंध में योगियों का सिद्धान्त यह है कि आकाश भी पृथिवी, जल तेज और वायु इन भूतों के समान सावयव है। कहने का तात्पर्य यह कि योग-सिद्धान्त में पार्थिव परमाणु द्व्यणुक, त्र्यणुक चतुरणुक आदि के समान आकाशीय भी परमाणु द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि होते हैं और तदनुरूप क्रम महापृथिवी, महाजल आदि के समान ही महान् आकाश भी सृष्ट होता है।

बौद्ध विवेचकों ने ऐसा नहीं माना है। उनका कहना है कि.आकाश कोई भावात्मक तत्त्व नहीं है। अतः उसे एक प्रकार अभाव ही माना जा सकता है। इसी अभिप्राय से वे बौद्ध दार्शनिक जिन्होंने क्षणिक-विज्ञानधारा के अतिरिक्त बाह्य वस्तुओं का अस्तित्त्व माना भी है आकाश को भावात्मक धातु न कह कर 'छिद्र' कहा है [१७४]। जिसका सरल अर्थ अभाव के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। इसलिए उन लोगों ने यह भी कहा है कि आकाश और द्विविध विरोध अर्थात् प्रतिसंख्या-निरोध एवं अप्रति-संख्या निरोध ये तीनों असंस्कृत माने जाते हैं अर्थात् इनका कोई कारण नहीं होता। फलतः ये स्वाभाविक मान्य हैं। उन लोगों ने आकाश के स्वरूप को और विशद करते हुए यह कहा है कि उक्त त्रिविध असंस्कृतों के अन्दर आकाश 'अनावरण' है। अर्थात् न वह अन्य किसी से आवृत होता है और न किसी को वह अपने द्वारा आवृत ही करता है। किन्तु बौद्धों के अन्दर कुछ लोगों ने आकाश को एक प्रकार धातु भी माना है। कुछ लोगों का कहना है कि यह आकाश आलोक अर्थात् प्रकाश और तम अर्थात् अन्धेरा है।

प्रकृत और चार्वाकीय-दृष्टिकोण से इस आकाश की ओर दृक्पात करने पर प्रतीत यह होता है कि 'भूतवैरलल्य' अर्थात् भौतिक कणों की विरलता के अतिरिक्त आकाश को और कुछ नहीं माना जा सकता। कहने का तात्पर्य यह कि जहाँ भौतिक कणों का घनीभाव होता है वहाँ आकाश की प्रतीति नहीं होती। इससे यह तो स्पष्ट है कि आकाश भौतिक घनीभाव के विपरीत और कुछ नहीं है। विवेचन करने पर उसके विपरीत दो वस्तुयें दृष्टिपथ पर अवितरित होती हैं, एक भौतिक कणों का अभाव और द्वितीय उनका वैरल्य, अर्थात् विरलता। इन दोनों के अन्दर अभाव रूप में आकाश को मान्य ठहराना जैसा कि अधिकतर बौद्ध विद्वानों का मत है, अधिक उचित इसलिये प्रतीत नहीं होता कि सूक्ष्म भौतिक कणों का अभाव कहीं भी मानना कठिन है। इसी दृष्टिकोण को अपनाकर यहाँ महासमवायात्मक एक अद्वैतभूत की तात्त्विक सत्ता पहले बतलायी गई। तदनुसार भूतवैरल्य ही आकाश को मानना उचित प्रतीत होता है। अतः चार्वाक-सिद्धान्त

---

(१७४) छिद्रमाकाशधात्वाख्यं आलोकतमसी किल। *-अभिधर्मकोशः।*
छिद्र शून्यम्। आकाशं आकाश-धातुरेव। एके आचार्याः तदेव आलोकः तनश्चेति वदन्ति। *-अभिधर्मकोशटीका, राहुल सांकृत्यायन।*

में आकाश को भौतिक कणों की विरलता ही मानना चाहिए। किन्तु कुछ लोकयतिक भी आकाश को भूतात्मक मानते थे इसका भी पता चलता है। सारांश यह कि इस दृश्य जगत् को चातुर्भौतिक ही न मानकर पाञ्चभौतिक कुछ चार्वाक विवेचक लोग भी मानते थे। तदनुसार कुछ चार्वाकों का सिद्धान्त प्रभूत आकाश के सम्बंध में उक्त योगियों के सिद्धान्त के साथ ऐक्य स्थापित करता हुआ पाया जाता है। सारांश यह कि यहाँ भी महापृथिवी, महाजल आदि के समान महाकाश भी एक अवयवी है आकाशीय कणों के घनीभाव से इसका निर्माण होता है। इस मत में न्याय वैशेषिक-सिद्धान्त की तरह फिर इसे शब्द का आश्रय भी माना जा सकता है। परन्तु वास्तविक-चार्वाकीय-दृष्टिकोण के समक्ष इसे एकदेशीय मत ही कहा जायेगा। क्योंकि अधिकतर विवेचकों ने चार्वाक मत का भूतचतुष्टयवादी ही माना है। अत: वस्तुत: इस सिद्धान्त में आकाश को स्वतंत्र रूप में मान्यता नहीं है।

चार्वाक-मत में काल भी स्वतंत्र रूप से मान्य नहीं-

नैयायिक एवं वैशेषिक दार्शनिकों ने पृथिवी आदि की तरह काल को भूत तो नहीं किन्तु एक स्वतंत्र द्रव्य अवश्य माना है।[१७५] उनका कहना यह है कि काल समग्र जन्य वस्तुओं का उत्पादक है और क्या नित्य एवं क्या अनित्य सभी वस्तुओं का आश्रय है। उनका अनुभव यह है कि कोई भी वस्तु किसी-न-किसी समय में ही उत्पन्न होती है। तभी तो प्रमाणिक लोग इस प्रकार उस वस्तु की उत्पत्ति के सम्बंध में समझते एवं कहते पाये जाते हैं कि 'यह अमुक दिन उत्पन्न हुआ', 'यह उन दिनों नहीं उत्पन्न हुआ था' इत्यादि। इतना ही नहीं, ये दार्शनिक यह भी कहते हैं कि इस काल को न मानने पर प्राकृतिक परिवर्त्तन का और कोई हेतु नहीं बतलाया जा सकता। अविकसित प्राणियों के आचरणों में एतत्प्रयुक्त महान् अन्तर होता हुआ देखा जाता है। काल को न मानने पर उस आचरणगत अन्तर का नियामक और किसे कहा जा सकता? अत: काल नामक द्रव्य अवश्य मान्य है। इस प्रकार काल का अस्तित्व प्रतिपादन करते हुए भी लाघव के लोभ से वे कहते हैं कि काल एक है और व्यापक है। इसका कारण एक यह भी है कि यदि वे काल को एक न मानकर अनेक मानें तो उसकी अनेकता के लिये सीमा निर्धारकरूप में, अवच्छेदकरूप में फिर कालान्तर का भी अस्तित्व मानना पड़ेगा। जिसका कुफल यह होगा कि अनवस्था अनिवार्य हो उठेगी। इसी प्रकार यदि काल को देशत: व्यापक अर्थात् अपरिछिन्न न माना जाय तो सर्वत्र उत्पन्न होने वाले कार्यों के उत्पाद रूप में उसे मान्य होने के कारण ब्रह्माण्ड के विभिन्न स्थानों में विभिन्न कार्यों के उत्पादक कैसे हो पायेंगे? क्योंकि कारण के बिना तो कार्य होता नहीं। यदि समसामयिक विभिन्न कालों को विभिन्न देशस्थित मानकर उनसे विभिन्न सार्वत्रिक कार्यों का उत्पाद माना जाय तो फिर उस पर

---

(१७५) काल परापर-व्यतिकर-यौगपद्यायौगपद्य-चिरक्षिप्रप्रत्यय-लिंग:।

-प्रशस्तपाद-भाष्य।

प्रश्न यह उपस्थित होगा कि वे विभिन्न देशस्थित विभिन्न कार्यनिर्वाहक विभिन्न-काल कालतः परिच्छिन्न या अपरिच्छिन्न? अर्थात् नित्य होंगे या अनित्य? यदि यह कहा जाय कि नित्य होंगे तो सार्वदिक होने के कारण सर्वदा उस कार्य को होना पड़ेगा, जैसा कि होता नहीं। और यदि असार्वदिक अर्थात् कालपरिच्छिन्न माना जाय तो उन अव्यापक असंख्य कालों के अवच्छेदक रूप अन्य असंख्य कालों की मान्यता दुर्वांद हो उठेगी और कालों के अवच्छेदक रूप में मान्य उन नवीन असंख्य कालों के सम्बंध में भी इसी प्रकार विचार करने पर उनके भी अवच्छेदक भूत असंख्य काल मान्य होंगे, जिसका कुफल रूप में वहीं अनवस्था फिर आपन्न हो उठेगी जो ऊपर बतलायी जा चुकी है। इन सारी बातों की ओर ध्यान देकर इस पचड़े से छुटकारा पाने के लिए नैयायिकों एवं वैशेषिकों ने काल को देशतः एवं कालतः भी अपरिच्छिन्न माना। देशतः अपरिच्छिन्नता ही है व्यापकता और कालतः अपरिच्छिन्नता ही नित्यता। अतः काल व्यापक और नित्य उक्त सिद्धान्त में माना जाता है। परन्तु इस प्रकार काल को नित्य एवं व्यापक मान लेने पर दूसरी समस्या यह उठ खड़ी होती है कि फिर वह कार्य की कादाचित्कता का नियमन कैसे कर पायेगा? और उसे न कर पाने पर काल की मान्यता ही खतरे में पड़ जायेगी। इसलिये उक्त दार्शनिकों ने इस काल के सम्बंध में यह निर्णय प्रकाशित किया कि काल स्वतः एक एवं व्यापक है जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है परन्तु औपाधिक रूप में अर्थात् अन्य सीमित वस्तुओं के द्वारा सीमित रूप में काल विभिन्नता भी मान्य है। सारांश यह कि आकाश एक नित्य और व्यापक होने पर भी घर से सीमित बन कर औरों से अलग गृहाकाश कहलाता है और उसके अन्दर भी घड़े से सीमित होकर घटाकाश कहलाता है। तद्वत् एक नित्य और व्यापक काल को भी अन्य अव्यापक और अनित्यों द्वारा सीमित रूप में विभिन्न समझा जा सकता है। और उस ज्ञायमान विभिन्नता के आधार पर उत्पत्तिशील वस्तुओं की उत्पत्ति और स्थिति का नियन्त्रण माना जा सकता है। अभिप्राय यह कि काल को महाकाल और खण्ड-काल इन दो प्रभेदों में विभक्त मान कर नैयायिकों और वैशेषिकों ने व्यावहारिक उत्पत्तिशील वस्तुओं की उत्पत्ति एवं स्थिति की व्यवस्था की है। किन्तु परवर्ती नव्य-तार्किक रघुनाथ-शिरोमणि ने दर्शनान्तर के विचार से प्रभावित होकर इस काल की स्वतंत्र मान्यता के विरुद्ध घोषणा की।

बौद्धों के अन्दर महायानी लोग तो शून्य या क्षणिक विज्ञान सन्तान के अतिरिक्त और कुछ मानने के लिए बिलकुल राजी नहीं थे अतः उनके सिद्धान्त में तो काल के स्वतंत्र अस्तित्त्व की चर्चा ही भला क्या की जा सकती? रही बात उन हीनयानी बौद्धों की जो कि बाह्यवस्तुओं का भी अस्तित्व मानते हैं। तो वे भी धातु रूप में अर्थात् बाह्य मौलिक तत्त्व रूप में पृथिवी, जल, तेज और वायु के अतिरिक्त और कुछ नहीं मानते[१७६]। यद्यपि वे लोग प्रत्येक वस्तुओं को क्षणिक कहते है। वे ही नहीं, महायानी योगाचार सम्प्रदाय भी अपने

(१७६) भूतानि पृथिवी धातुरप्तेजो धातुवायवः।५।५। *अभिधर्मकोश।*

मान्य विज्ञानों को क्षणिक कहते है। जिससे प्रतीत ऐसा होता है कि वे 'क्षण' नामक काल तो अन्तत: मानते हैं। परन्तु बात ऐसी नहीं है। क्योंकि अधिकतर स्थलों में वे अपने वाक्यों में क्षणिक वस्तु अर्थ में भी 'क्षण' शब्द का प्रयोग करते हुए पाये जाते हैं। सारांश यह कि उनके यहाँ क्षण और क्षणिक में कोई अन्तर नहीं है। सुतरां क्षणात्मक काल-परमाणु की मान्यता बौद्ध-सिद्धान्त में बिलकुल नहीं है। सांख्यसिद्धान्तियों[१७७] ने तो स्पष्ट रूप से काल का खण्डन किया है। उन्होंने युक्ति यह दी है कि एक व्यापक नित्य काल तो अन्य व्यावहारिक वस्तुओं की तरह अर्थात् पृथिवी, जल आदि की तरह प्राणि-जीवन के लिए किसी प्रकार उपयोग में आ नहीं सकता। रही बात उत्पत्ति स्थितिशील मान्य भौतिक तत्त्वों की उत्पत्ति और स्थिति के नियामक रूप में मान्यता की, तो अखण्ड एक नित्य और व्यापक काल तो उसके लिए भी क्षम नहीं बतलाया जा सकता। नैयायिक और वैशेषिकों के द्वारा प्रदर्शित पद्धति के अनुसार यदि अन्य उत्पत्तिशील क्रिया या अन्य किसी भौतिक को काल के भेदक रूप में स्वीकार करके उसके द्वारा खण्डीकृत कालों को कादाचित्क वस्तु की उत्पत्ति और सीमित-स्थिति का नियामक बनाया जाय तो फिर उन काल-भेदकों को ही क्यों न काल का स्थान दे दिया जाय? जबकि काल को मान्यता देने के अनन्तर भी उन कालोपाधियों को, उन काल-भेदकों को, अपनाना ही पड़ता है तब क्यों न उन्हें ही काल का स्थान देकर काल की स्वतंत्र मान्यता से प्राप्त होने वाले व्यर्थ गौरव दोष से छुटकारा पाया जाय? अत: काल का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं माना जा सकता है। योगाचार पंतजलि ने अपने योगदर्शन के विभिन्न सूत्रों में काल का उल्लेख किया है। जिससे आपातत: यह प्रतीत होता है कि योगदर्शन काल को मान्यता देता है। परन्तु समाधि और उसकी प्राप्ति के लिए अपेक्षित उपायों का अनुष्ठान, इनके अतिरिक्त तत्त्व एवं उनके स्वभावों के सम्बंध में योगसिद्धान्तकर्तृक सांख्यसिद्धान्त के अनुगमन की ओर ध्यान देने पर यह मानना ही होगा कि योगसिद्धान्त भी न्याय और वैशेषिक सिद्धान्त की तरह एक व्यापक नित्य काल को नहीं मान्यता देता। मान्यता दे भी सके भला कैसे? क्योंकि नित्य व्यापक काल को मान्यता देने पर साँख्य और योग दोनों का आत्मा से अतिरिक्त समग्र वस्तुओं के लिये क्षण-परिणमन सिद्धान्त इस महाकाल के बलिवेदी पर ही बलि का बकरा बन बैठेगा। अत: गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर योगदर्शनिक सिद्धान्त में भी नित्य एक काल मान्य नहीं है।

जैन सिद्धान्त में इस काल की एक स्वतंत्र द्रव्यरूपता में विवाद पाया जाता है। कुछ जैन लोम काल को नैयायिक और वैशेषिकों की तरह स्वतंत्र द्रव्य मानते हैं और कुछ लोग वैसा मानते नहीं। सारांश यह कि इस काल की द्रव्यता आदि के सम्बंध में कुछ जैन आचार्य नैयायिक और वैशेषिक दृष्टिकोण से प्रभावित हुये पाये जाये हैं और कुछ लोग सांख्य आदि के कालसम्बंधी दृष्टिकोण से। और ऐसा न होने पर भी तो वे अपने

(१७७) ...कृतगन्तगंडुना कालेन। *-सांख्यतत्त्वकोमुदी।*

अनेकान्तवादी-दृष्टिकोण को छोड़ सकते। अतः एकान्ततः काल की सत्ता व्यापकता और नित्यता को कैसे वे अपना सकते?

कर्ममीमांसा-दर्शन किन्तु न्याय और वैशेषिकों की तरह काल को भी पृथिवी, जल आदि की तरह एक स्वतंत्र द्रव्य माना है। इतना ही नहीं, मीमांसकों ने इस कालद्रव्य का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान भी माना है। और इन्हीं के प्रभाव में आकर कुछ परवर्ती नव्य नैयायिकों ने भी काल को प्रत्यक्ष स्वीकार किया।

ब्रह्माद्वैत-वेदान्तियों के यहाँ तो आत्मस्वरूप नित्य शुद्ध बोधस्वरूप ब्रह्मा को छोड़कर और किसी को पारमार्थिक रूप में मान्यता है ही नहीं, फिर नित्य व्यापक काल द्रव्य कैसे मान्य ठहराया जा सकता? अतः वेदान्त सिद्धान्त में भी काल तात्विक रूप से मान्य नहीं है। इस प्रकार दार्शनिकों के काल सम्बंधी निर्णयों की ओर दृक्पात करने पर अधिकतर दार्शनिक काल के स्वतंत्र अस्तित्व की मान्यता के वियुद्ध ही अवस्थित पाये जाते हैं। प्रकृत चार्वाक-सिद्धान्त को भी उक्त कालविरोधी दार्शनिकों के 'ना' में 'ना' मिलाने वाला ही समझना चाहिए। क्योंकि मुख्य रूप से काल का अस्तित्व मान्य इसलिए प्रतीत होता है कि प्राकृतिक परिवर्तन स्पष्ट रूप से होता हुआ पाया जाता है, जिसे शब्दान्तर में ऋतु-परिवर्तन भी कहा जा सकता है। परन्तु यह ऋतु-परिवर्त्तन मुख्यतया भौतिक कणों की यात्रागत अल्पता एवं अधिकता, फलतः विभिन्न जातीय भौतिक कणों की प्रचुर एवं अप्रचुर रूप से क्रियाशीलता मात्र है उससे अतिरिक्त और कुछ नहीं, यह बात पहले भी बतलायी जा चुकी है। अतः इस युक्ति के आधार पर अलग तत्त्व रूप से या द्रव्य रूप से काल का अस्तित्व नहीं माना जा सकता।

कुछ लोग काल के सम्बंध में अपनी ऐसी धारणा व्यक्त करते पाये जाते हैं कि जब शरीर के बाहर कोई भौतिक-घटना घटती रहती है, तभी जीवित शरीर के भीतर मानस क्रिया भी होती रहती है इसीलिए काल का व्यवहार होता है। वस्तुतः काल कोई स्वतंत्र द्रव्य नहीं है। यद्यपि तर्क की कसौटी पर कसने पर इस प्रकार किया जाने वाला काल का खण्डन सही नहीं जँचता, फिर भी जहाँ तक काल की अमान्यता की बात है वहाँ तक चार्वाक-सिद्धान्त के लिए उक्त धारणा भी सहायक ही है।

आचार्या गौड़-पाद ने अपनी माण्डूक्यकारिका के अन्दर यह कहा है कि कुछ लोग काल को जगत्[१७८] उपादान कारण मानते हैं, तदनुसार अति प्राचीन काल में कुछ लोग कालमात्र-तत्त्वतावादी भी थे यह पता चलता है। भाष्य-व्याख्याता आनन्द-गिरि ने इस मतवाद को प्राचीन गणितज्ञों का मतवाद कहा है। इस चार्वाक-सिद्धान्त में काल को

---

(१७८) काल इतिकालविदः १२४। *-माण्डूक्यकारिका, वैतथ्यप्रकरण।*

(१७८) प्राच्यादिव्यवहारहेतुर्दिक्। *तर्कसंग्रह।*

पूर्वापरादि-दश-प्रत्यायः सन्ति लिगं तत्कथं लिंगाभावः? *-न्यायलीलावती।*

स्वतंत्र रूप से मान्यता नहीं है यह बात बतलायी जा चुकी है।

चार्वाक-सिद्धान्त में दिक् भी स्वतंत्र द्रव्य नहीं-

मीमांसक तथा नैयायिक आदि दार्शनिक दिक् को भी एक स्वतंत्र द्रव्य में मान्यता देते हैं। उनका अभिप्राय यह है कि प्रमाप्रतीति और प्रामाणिक वाक्य प्रयोगात्मक व्यवहार के आधार पर ही तो वस्तुतत्त्व की स्वीकृति आधारित है? अतः दिक् को भी स्वतंत्र द्रव्य रूप से मान्यता देनी चाहिए। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण आदि का ज्ञान एवं तदनुरूप वाक्य-प्रयोगात्मक व्यवहार जबकि आपामार-साधारण रूप से होता हुआ पाया जाता है तब दिक् को मान्यता कैसे नहीं दी जायेगी? देश, स्वदेश, देशप्रेम, देशनिष्ठा, विदेश, इत्यादि शब्द प्रचुर रूप में प्रायः सभी लोगों के द्वारा प्रयुक्त पाये जाते हैं। दिक् और देश ये दोनों शब्द और दोनों के वाच्य अर्थ आपस में अत्यन्त घनिष्ठता रखते हैं अतः दिक् द्रव्य को अमान्य नहीं ठहराया जा सकता। इस दिक् द्रव्य की मान्यता के सम्बंध में यह भी ध्यान देने की बात है कि कोई वस्तु किसी वस्तु से दूर एवं किसी वस्तु से निकट अवश्य होती है। ऐसा यदि माना जाय तो दूरी पर अवस्थित वस्तु को पाने के लिए अधिक आयास और निकटवर्ती वस्तु को पाने के लिए अल्प आयास की जो अपेक्षा पायी जाती है यह परिस्थितिगत अन्तर न हो पाये। दूरत्व और निकटत्व की व्याख्या 'दिक्' द्रव्य को माने बिना इसलिए सम्भव नहीं कि किसके आधार पर किसी वस्तु को दूर और उससे अन्य किसी वस्तु को निकट कहा जा सकेगा? दिक्-द्रव्य की मान्यतापक्ष में वस्तुगत दूरत्व और निकटत्व की व्यवस्था इसलिए सरल हो जाती है कि प्रमाता व्यक्ति और दूरस्थ रूप में प्रतीयमान वस्तु इन दोनों से सीमित 'दिग्' द्रव्य, और उक्त प्रमाता व्यक्ति तथा निकटवर्ती रूप में प्रतीयमान वस्तु इन दोनों से सीमित 'दिक्' द्रव्य की इयत्ता, फलतः दीर्घता, अन्य होती है, विभिन्न प्रकार होती है। अतः दिक्गत इयत्ता के आधार पर वस्तु की दूरता या निकटता निर्धारित हो सकती है अतः दिक् द्रव्य को मान्यता अवश्य देनी चाहिए। कुछ मीमांसक तो शब्द के ग्राहक कान को भी सीमित दिक्-द्रव्यस्वरूप ही मानते हैं अतः दिक् को न मानने पर उनके मत में 'कान' का ही अस्तित्व लुप्त हो जायगा। जिसका कुफल यह होगा कि शब्द का सुनना ही बन्द हो जायगा। क्योंकि कान का होना और न होना यही तो बहिरे और अबहिरे इन दोनों को आपस में अलग करता है? दिक् की अमान्यता में कान की अमान्यता आवश्यक हो उठने पर फिर कैसे शब्दश्रवण और उसके अश्रवण की व्यवस्था की जायगी? अतः दक् द्रव्य अवश्य मान्य है।

परन्तु सांख्य[१७६] आदि भेदवाद और वेदान्त आदि अद्वैतवादी दोनों प्रकार दार्शनिक,

---

(१७६) प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकारः तस्माद्गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि शोडषकात पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि । २३ ।
-ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका।

तात्त्विक रूप में दिक् को एक स्वतंत्र द्रव्य नहीं मानते। उनका अभिप्राय यह है कि दूरत्व और निकटत्व की प्रतीति का सम्पादन उन दोनों वस्तुओं की प्राप्ति के लिए अपेक्षित होने वाली गति की संख्या के आधार पर भलीभाँति किया जा सकता है। जैसे लखनऊ में विद्यमान व्यक्ति कलकत्ता को काशी से दूर और काशी को कलकत्ता से निकट इसलिए भलीभाँति कह सकता है कि उसे कलकत्ते पहुंचने के लिए जितनी गतिस्वरूप क्रिया अपेक्षित होगी उतनी गयात्मक क्रिया काशी पहुंचने के लिये अपेक्षित नहीं होगी। अतः दोनों स्थानों की प्राप्ति के लिए अपेक्षित होने वाली क्रियाओं की संख्या में अन्तर मानना ही होगा। और ऐसा होने पर क्यों न गतिगत संख्या को ही दूरत्व एवं निकटत्व मान लिया जाय? क्यों अतिरिक्त दिक् द्रव्य माना जाय?

सम्भव है यहाँ कुछ लोग इस कथन की मान्यता में यह कठिनाई बतलावें कि गति की अपेक्षा तो स्थलविशेष में उक्त परिस्थिति के विपरीत भी पायी जाती है अतः दूरत्व और निकटत्व को गतिगत संख्या नहीं कहा जा सकता। उदाहरण के द्वारा इसे यों समझना चाहिये कि मार्ग के बीच जहाँ पर कोई गड्ढा आदि बाधक प्राप्त होता है वहाँ गन्तव्य निकटवर्ती स्थान को प्राप्त करने के लिये अन्य दूरवर्ती स्थान को प्राप्त करने में अपेक्षित गति से कहीं अधिक-संख्यक गति अपेक्षित होती पायी जाती है। इसका अनुभव अधिकतर बड़ी नदी और पर्वत के किनारे होने वाले मार्ग से गुजरने वाले यात्रियों को हुआ करता है। अतः दूरत्व और निकटत्व के सम्पादक रूप में 'दिक्' को स्वतंत्र द्रव्य रूप में मान्यता देनी चाहिए। परन्तु यह कथन इसलिये संगत नहीं कहा जा सकता कि वहाँ भी गति के आधिक्य प्रयुक्त ही दूरत्व और उसके अल्पत्व प्रयुक्त नैकट्य मानना उचित है। आँख से निकट प्रतीत होने वाले को निकट मानना बुद्धिमता नहीं कहीं जा सकती। उदयशील चन्द्र और सूर्य देखने में यही प्रतीत होती कि वह निकटवर्ती किसी वृक्ष आदि के पास ही उदित हो रहा है परन्तु उसकी दूरी कितनी होती है सो उसके विवेचकों से अपरिचित नहीं। अतः गतिगत संख्या की अधिकता और न्यूनता से आधार पर ही जब दूरत्व और निकटत्व की व्यवस्था हो सकती है, तब तदर्थ स्वतंत्र दिक् द्रव्य की मान्यता नहीं कही जा सकती है। वैशेषिक लोग यदि इस सम्बंध में यह दलील उपस्थित करें कि प्रत्येक भाव कार्य के प्रति तीन तरह के कारण अपेक्षित हुआ करते है समवायिकारण, असमवायिकारण और निमित्तकारण। तदनुसार दैशिक परत्व और अपरत्व की उत्पत्ति के लिये भी उक्त तीनों करणों की अपेक्षा अनिवार्य होगी। समवायिकारण तो वह अव्यापक द्रव्य होगा जिसमें परत्व या अपरत्व नामक गुण उत्पन्न होगा। निमित्तकारण भी काल अदृष्ट ईश्वर, ईश्वरेच्छा इत्यादि हो जायेंगे परन्तु असमवायिकारण 'दिक्पिण्ड संयोग' अर्थात् दिशा के साथ होने वाला उस परत्वाश्रय या अपरत्वाश्रय का संयोग ही हो सकता है और कोई नहीं। ऐसी परिस्थिति में यदि दिक् द्रव्य न माना जाय तो उक्त गुणोत्पत्ति के लिये असमावायी कारण नहीं जुटाया जा पायेगा अतः दिक् द्रव्य मानना चाहिये। तो

उनका कथन इसलिये संगत नहीं हो सकता कि गुण-विवेचन के अवसर यह विचार करके दिखलाया जायगा कि परत्व और अपरत्व ये गुण रूप में मान्य नहीं हैं। और साथ ही यह भी ध्यान रखने की बात है कि यहाँ गुण और गुणी ये दोनों अलग मान्य नहीं हैं। इसलिये भी यह नहीं कहा जा सकता कि अव्यापक द्रव्य में परत्व एवं अपरत्व गुण की उत्पत्ति के लिये असमवायी कारण के रूप में दिक्पिण्ड-संयोग की अपेक्षा मान्य होने के कारण दिक् की मान्यता भी अनिवार्य है।

नवम प्रकरण

चार्वाकीय-दृष्टि में गुण स्वतंत्र तत्व नहीं

नैयायिक एवं वैशेषिक लोग गुण को गुणी से अत्यन्त भिन्न मानते हैं। उनका इस सम्बन्ध में दृष्टिकोण यह है कि धर्मधर्मिभाव नियमत: भेदाश्रित होता है। क्योंकि दोनों की विशिष्ट भाव से की जाने वाली प्रतीति में धर्म जहाँ विशेषण रूप से विषय होता है धर्मी वहाँ उसके विपरीत विशेष्य रूप में विषय होता है। और यदि उक्त प्रातीतिक परिस्थिति के विपरीत रूप से प्रतीति की जाय तो धर्म हो जाता है विशेष्य और धर्मी हो जाता है विशेषण। उदाहरण के द्वारा इसे यों समझा जा सकता है कि यदि 'यह फूल लाल है' इस प्रकार प्रतीति की जाती है तो फूल होता है विशेष्य और लाल रूप होता है विशेषण। और यदि उक्त प्रतीति के स्थान में ऐसी प्रतीति की जाय कि – 'फूल में लाली है' तो पूर्व प्रदर्शित प्रतीति में विशेषण रूप से विषय होने वाला लाल रूप हो जाता है विशेष्य और पूर्व प्रतीति में विशेष्य रूप से विषय होने वाला फूल होता है विशेषण। जो भी कोई प्रतीति क्यों न की जाय विशेष्य और विशेषण इन दोनों में भेद होना अनिवार्य रूप से आवश्यक है। तदनुसार उक्त रूप से विशेष्य-विशेषण-भावापन्न गुण और गुणी इन दोनों को आपस में भिन्न मानना नितान्त आवश्यक है।

चार्वाकीय-दृष्टिकोण से नैयायिकों के इस कथन का आदर करना इसलिए अत्यन्त कठिन है कि ऐसा मान लेने पर यह चार्वाकीय तत्व सम्बन्धी सिद्धान्त असंगत हो उठेगा कि महासमवायात्मक एकीभूत चतुर्भूतात्मक अद्वैत भूत ही केवल तत्व है। उससे अतिरिक्त और कोई तत्व नहीं है। नैयायिकों एवं वैशेषिकों की प्रदर्शित युक्ति के अनुसार यदि गुणी उक्त भूतों से अतिरिक्त उनमें रहने वाले गुण मान लिये जाते हैं तो उक्त अद्वैत भूत मात्र का तत्वताख्यापन किसी भी प्रकार संगत नहीं कहला पायेगा। ऐसी परिस्थिति में नैयायिकों एवं वैशेषिकों की प्रदर्शित गुणभेद-साधक युक्ति कैसे टाली जाय? यह प्रश्न उपस्थित होता है तो इसके उत्तर में वक्तव्य यह है कि विशेष्य-विशेषण भाव विशेष्य और विशेषण इनके बीच भेद माने बिना हो नहीं सकता, यह धारणा गलत है। क्योंकि 'लाल फूल है' इत्यादि वाक्य प्रयोग स्थल में नैयायिक एवं वैशेषिक लोग एतादृश वाक्य से होने वाले बोध के अन्दर 'लाल' इस शब्द के वाच्य अथवा लक्ष्य अर्थ 'लाल रूप युक्त' को तादात्म्य सम्बन्ध से विशेषण और फूल को विशेष्य मानते हैं। तादात्म्य और भेद ये दोनों अत्यन्त विरुद्ध हैं। अत: 'लाल-रूप-युक्त' और फूल इन दोनों के बीच तादात्म्य मान्य

होने पर भेद किसी प्रकार नहीं माना जा सकता। परन्तु तादात्म्य से विशेष्य-विशेषणभाव उन दोनों के बीच माना जाता है। अत: ऐसी परिस्थिति में यह कहकर गुण और गुणी इन दोनों के बीच भेद की खाई इसलिए उपस्थित नहीं की जा सकती कि उन दोनों में विद्यमान विशेषण-विशेष्य भाव को विषय करने वाली प्रतीति होती है। कहने का सारांश यह कि अभेद के दो प्रभेद मान्य हैं एक तादात्म्य और दूसरा समवाय। इन दोनों अभेदों के अन्दर गुण और गुणी के बीच तादात्म्यस्वरूप अभेद की मान्यता के सम्बन्ध में विप्रतिपत्ति होने पर भी समवायात्मक अभेद मानने में कोई कठिनता प्रतीत होती नहीं।

यहाँ यदि यह जिज्ञासा उदित हो कि अभेद के उक्त दो प्रभेदों के अन्दर अन्तर क्या होता है? तो इस सम्बन्ध में ज्ञातव्य यह है कि जहाँ पृथक्करण और पृथक् प्रतीति दोनों ही न हों वहाँ मान्य होता है। तादात्म्यस्वरूप अभेद और जहाँ पृथक् प्रतीति तो होती है किन्तु केवल पृथक्करण सम्भव नहीं हो सकता वहाँ होता है समवायात्मक अभेद। कोई भी वस्तु स्वत: अपने से अलग न तो की जा सकती है और न अलग समझी जा सकती है अत: अपने में अपना तादात्म्य मान्य होता है और अवयव-अवयवी, गुण-गुणी आदि स्थल में पृथक्करण तो सम्भव होता नहीं, केवल पृथक प्रतीति हो पाती है अत: अवयव और अवयवी इनके बीच, और इसी प्रकार गुण और गुणी इनके बीच समवायात्मक अभेद होता है। उदाहरण के द्वारा इसे यों समझा जा सकता है कि किसी एक फूल का तादात्म्य उसी फूल से हो सकता है, अन्य से नहीं, यहाँ तक कि उस समवायात्मक फूल के सदस्यभूत उसके किसी रूप या रस आदि मात्र के साथ नहीं। इस प्रकार उस फूल के रूप का तादात्म्य उसी फूल के उसी रूप से हो सकता है अन्य से नहीं। यहाँ तक कि समवायात्मक उस पूरे फूल से या उस समवाय के अन्य सदस्यभूत रस आदि से भी नहीं होता। किन्तु समवायात्मक अभेद की परिस्थिति ऐसी नहीं होती। क्योंकि पूरा फूल तत्वत: एक समवाय रूप ही होता है जिसका दिग्दर्शन 'महासमवाय' के विचारावसर पर कराया जा चुका है। अत: परिवर्तनशील रूप, रस आदि गुण और गुणी पार्थिव आदि भूत इनके बीच भी समवायात्मक अभेद-सम्बन्ध होता है। सम्भव है कि यहाँ कुछ लोग यह प्रश्न उपस्थित करें कि जबकि फूल एक समवाय है और उसके एक समवायी मौलिक भूतात्मक पार्थिव तत्त्व और रूप, रस आदि गुण इन दोनों के बीच समवायात्मक अभेद मान्य होता है, तो भूत और गुण इन दोनों के बीच जिस प्रकार समवायात्मक सम्बन्ध मान्य होता है, उस प्रकार फूल के रूप और उसके रस आदि के बीच भी पारस्परिक रूप में समवायस्वरूप अभेद सम्बन्ध मान्य होना चाहिए। क्योंकि एक ही पुष्प-समवाय के सदस्य जिस प्रकार मौलिक भूत और उसका रूप ये दोनों हैं उसी प्रकार फूल के रूप, रस आदि सभी, उसी पुष्पात्मक समवाय के समवायी अर्थात् अलग-अलग सदस्य होते हैं? तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि एक फूल में प्रतीयमान रूप, रस आदि का समवाय सचमुच उक्त प्रक्रिया से एक ही होता है अत: एक समवाय के समवायी होने

वाले रूप, रस आदि के अन्दर भी समवायात्मक अभेद होता ही है। केवल भूतात्मक समवायी की मौलिकता के व्यक्तीकरणार्थ उक्त प्रकार रूप, रस आदि के सम्बन्ध में अवस्थित समवायात्मक अभेद को 'एकार्थ-समवाय' नाम से कह दिया जाता है।

अभेद के द्वैविध्य के समय इसी विचार के अन्दर यह कहा गया है कि जहाँ पृथक्करण और पृथक्-प्रतीति ये दोनों ही नहीं होते, वहाँ तादात्म्यस्वरूप अभेद मान्य होता है। इस सम्बन्ध में यदि कोई यह आशंका उपस्थित करे कि आँख की परिस्थिति-विशेष में एक वस्तु भी दो दिखाई देती हैं। एक चन्द्र को भी चाक्षुष परिस्थिति विशेष में दो, कदाचित् कोई देखता ही है। ऐसी परिस्थिति में चन्द्र भी चन्द्रात्मा न हो पायेगा, चन्द्र में भी चन्द्र का तादात्म्य नहीं कहा जा पायेगा। अत: उक्त कथन कैसे संगत कहा जा सकता? तो इस शंका का निराकरण इस प्रकार करना चाहिए कि उक्त कथन के अन्दर आने वाले 'पृथक्-प्रतीति' इस शब्द के अन्दर आने वाले 'प्रतीति' शब्द के प्रमात्मक प्रतीति ही विवक्षित है अन्य नहीं। द्विचन्द्र दर्शन आदि तात्विक ज्ञान नहीं होते नियमत: भ्रमात्मक ही होते हैं। अत: उन प्रतीतियों के आधार पर उक्त शंका नहीं उठायी जा सकती। इसके अनन्तर यदि यह प्रश्न उठाया जाय कि प्रत्येक वस्तु जबकि एक-एक समवाय स्वरूप ही मान्य है तब उस समवाय के अन्दर विपरीत रूप से 'गुणगुणी भाव' क्यों न माना जा सकता? कहने का तात्पर्य यह है कि उक्त-पद्धति के अनुसार जबकि भूत और उनके रूप, रस आदि सभी समवायी हैं, तब रूप, रस आदि को ही क्यों न मौलिक तत्व और पृथिवी, जल आदि को ही क्यों न गौण तत्व माना जाय? तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि भूत और रूप, रस आदि विलक्षण ताप या संयोग प्रयुक्त क्रियात्मक पाक से जिस प्रकार परिवर्तनशील देखे जाते हैं, भूतात्मक समवायी उस प्रकार परिवर्तनशील नहीं देखा जाता है। यही कारण है कि एक ही समवाय के भूतात्मक समवायी को कहा जाता है 'गुणी' अर्थात् अंगी, फलत: प्रधान। और रूप, रस आदि को कहा जाता है गुण अर्थात् अंग, फलत: अप्रधान। यह उत्तर 'गुण' शब्द को गौण अर्थात् अप्रधान अर्थक मानकर किया गया समझना चाहिए। यदि रूप, रस आदि अर्थों में होने वाले गुण शब्द के प्रयोग को 'उत्कर्ष का आधायक' अर्थ में किया जाने वाला माना जाय, तब तो उक्त प्रश्न का समाधान और सहज इसलिए हो उठता है कि रूप, रस आदि अपने द्वारा पार्थिव आदि भूतों को ही उत्कृष्ट बनाते हैं अत: उत्कर्षाधायक होने के कारण रूप, रस आदि ही कहलाते हैं गुण और पार्थिव आदि भूत ही कहलाते हैं गुणी। ये गुण और गुणी एक ही समवाय के सदस्य हैं, समवायी हैं, अत: गुण और गुणी में समवायात्मक तादात्म्य विद्यमान होने के कारण गुण को भूतों से अलग तत्व नहीं कहा जा सकता।

चार्वाक-मत से गुणों के प्रभेद

अव्यवहित पूर्व किये गये विवेचन से यद्यपि यह सिद्ध किया जा चुका है कि

गुण और गुणी ये दोनों विभिन्न तत्व नहीं हैं, फिर भी यह जिज्ञासा सर्वथा निरस्त नहीं हुई है कि उक्त प्रकार के भूत तत्त्वाभिन्न रूप से ही सही, इस चार्वाक-सिद्धान्त में कितने और कौन-कौन गुण मान्य हैं? क्योंकि गुणों की मान्यता के सम्बन्ध में विभिन्न दार्शनिकों की तो बात ही क्या, एक दर्शन के अनुयायी दार्शनिकों के बीच भी मतभेद होता हुआ देखा जाता है। तो इस सम्बन्ध में प्रकृत-सिद्धान्त के अनुसार चौदह गुण आवश्यक रूप से मान्य प्रतीत होते हैं। ये चौदह हैं रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, संयोग, विभाग, बुद्धि, सुख, दुःख, गुरुत्व, संस्कार और शब्द। इनसे अन्य, अन्य दार्शनिकों द्वारा स्वतंत्र रूप से गुणों के अन्दर परिगणित होने वाले पृथक्त्व, परत्व, अपरत्व, इच्छा, द्वेष, यत्न, द्रवत्व, स्नेह और अदृष्ट ये सभी, ऊपर स्वीकरणीय रूप से निर्दिष्ट गुणों के अन्दर ही अन्तर्भुक्त हो जाते हैं। अतः इन्हें स्वतंत्र स्वरूप से गुण मानने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती है। इन नौ गुणों के अन्दर कौन, उक्त चौदह गुणों के अन्दर किसमें गतार्थता लाभ करता है इसका विवेचन यथास्थान किया जायेगा। यहाँ यह जो कहा गया है कि 'गुणों की स्वतंत्र मान्यता के सम्बन्ध में विभिन्न दार्शनिकों की तो बात क्या एक दर्शन के अनुयायी भी आपस में मतभेद रखते हैं।' इस कथन की यदि पुष्टि अपेक्षित समझी जाय तो इसे यों समझना चाहिए कि नैयायिक वैशेषिक आदि दार्शनिक जहाँ शब्द को आकाश का गुण मानते हैं, मीमांसक लोग इसके विपरीत उसे गुण न मानकर एक स्वतंत्र द्रव्य मानते हैं। वेदान्ती आदि उसे केवल आकाश का गुण न मानकर पाँचों भूतों का गुण मानते हैं। एक दर्शनानुयायियों के गुण सम्बन्धी मतभेद के भी उदाहरण मिलते ही हैं। यथा नैयायिकों के अन्दर कुछ लोगों ने पृथकत्व को एक स्वतंत्र गुण नहीं माना है। कुछ लोगों ने संख्या को गुण न मानकर अतिरिक्त पदार्थ मानने का आग्रह दिखलाया है। अधिकतर नैयायिकों ने चित्र को एक स्वतंत्र रूप माना है किन्तु परवर्ती नैयायिक रघुनाथ शिरोमणि ने उसे स्वतंत्र रूप नहीं माना है।

चार्वाक-मतानुसार गुणों की संख्या में कटौती क्यों?

उक्त विवेचन के अनन्तर यह प्रश्न सहजतः उपस्थित हो सकता है कि जब प्रकृत-सिद्धान्त में भूताद्वैत ही मान्य है, जिसकी चर्चा एकाधिक बार की जा चुकी है तब मान्य रूप से कथित गुण भी तो मान्य उस भूताद्वैत में ही विलीन होने वाले मान्य हैं। ऐसी परिस्थिति में उस मान्य गुणों की गणना भी जब काथञ्चित्क ही होगी तब जिन नौ गुणों को कटौती का शिकार बनाया जा रहा है उन्हीं का क्या अपराध? काथञ्चित्क सत्ता तो उनकी भी मानी ही जा सकती है क्योंकि यदि उसकी भी सम्भावना न होती तो अन्य दार्शनिक भी उन्हें नहीं स्वतंत्र गुण के रूप में गिना पाते। और जबकि मान्य रूप से स्वीकृत इन रूप आदि गुणों की तरह वे अमान्य रूप से घोषित होने वाले पृथक्त्व आदि गुण मान्य होने पर भी उक्त अद्वैत-भूत-तत्त्व के ही गर्भ में विलीन हो जा सकते हैं तब उनकी मान्यता से प्रकृत भूताद्वैतवाद को कोई क्षति भी नहीं बतलायी जा सकती है। ऐसी

परिस्थिति में उक्त पृथक्त्व आदि गुणों की अमान्यता का आग्रह क्यों किया जा रहा है? तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि कोई भी कितना बड़ा अद्वैतवादी क्यों न हो, वह इस ठोस व्यावहारिक जीवन से सर्वथा अपने को अलग नहीं रख सकता।[१८६] इस कथन के समर्थन में शून्य, ब्रह्म, और क्षणिक विज्ञान मात्र को पारमार्थिक तत्त्व मानने वाले दार्शनिकों को उदाहरण के रूप में अच्छी तरह उपस्थित किया जा सकता है। जब समग्र दृश्य जगत को खपुष्प के समान शून्य मानने वाले शून्याद्वैतियों को भी इसे साम्वृतिक कह कर ही सही, विषय एवं व्यवहार की सीमा बाँधनी पड़ी। जब योगाचार साम्प्रदायिकों को भी, औचित्य और अनौचित्य की व्यवस्था देनी पड़ी। उन नित्य विज्ञानाद्वैतियों को भी, जिन्होंने तर्क को अप्रतिष्ठित कहते हुए भी तर्क का आश्रयण करते हुए यह कहा कि जब तक अद्वैत ब्रह्म का साक्षात्कार न हो जाय तब तक प्रमाण-प्रमेय-भाव [१८७] अबाधित रूप से चलता ही रहता है। अर्थात् तब तक विषयी और विषय इन दोनों का विवेचन होना उचित है यह कहना पड़ा। जबकि इन महान् लोकानुभव-विरुद्ध अद्वैत के उपासकों ने विषय विवेचन से अपने को अलग नहीं रख सके तो इस लोकानुभवसिद्ध भूताद्वैतवाद को तो उक्त महासमवाय के अभ्युपगम द्वारा विषय और विषयी दोनों के बीच समन्वय उपस्थित करना है, दोनों का एक समन्वित रूप उपस्थित करना है। अतः यहाँ औचित्य और अनौचित्य के आधार पर विषयों की मान्यता और अमान्यता घोषित होनी ही चाहिए। उक्त महासमवाय का एक सदस्य जबकि गुण भी माना गया है तब उसकी भी एक व्यवस्थित मान्यता वर्णित होनी चाहिए। अन्यथा जो ही कुछ कह दे उसी के हाँ में हाँ अथवा 'ना' में 'ना' मिलाने की प्रक्रिया अपनाकर पूरा अवसरवादी बन जाना पड़ेगा। विशेषतः 'क्यों नहीं' का उत्तर तो विशेष रूप से दिया जायेगा।

चार्वाक मत और रूप

यों तो 'रूप' शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता हुआ पाया जाता है। अधिकतर इस शब्द का प्रयोग किसी वस्तु के स्वभाव अर्थ में होता है जैसे कोई भी व्यक्ति यदि किसी वस्तु के स्वभाव को समझने की इच्छा रखते हुए यह कहता है कि 'उसका रूप क्या है' तो एतादृश वाक्य के प्रयोग स्थल में रूप शब्द उस वस्तु के स्वरूप अर्थ में अर्थात् स्वभाव अर्थ में प्रस्तुत होता है। कहीं 'आत्मक' अर्थ में भी संस्कृत साहित्य में इस 'रूप' शब्द का प्रयोग देखा जाता है। जैसे यदि कोई 'घटनात्मक वस्तु' इस अर्थ में 'घट-रूप वस्तु' इस प्रकार वाक्य का प्रयोग करता है तो वहाँ 'रूप' शब्द का अर्थ

---

(१८६) कतिपय-प्रतिपतृ-कतिपय-काल-तथात्वावगमादेव प्रायेणलौकिको व्यवहारः प्रतीयते। तादृशश्चायं सत्त्वावगमः कथाङ्गम्। एतत्तदुच्यते व्यावहारिको प्रमाणादि-सत्तामादाय विचारारम्भ इति। *- खण्डन-खण्ड-खाद्य, प्रथम परिच्छेद।*

(१८७) देहात्मप्रत्ययो यद्वत्प्रमाणत्वेन कल्पितः।
लौकिकं तद्वदेवदं प्रमाणं त्वात्मनिश्चयात्॥ *- वेदान्त-परिभाषा।*

'आत्मक' यह पाया जाता है। बाह्यास्तित्ववादी बौद्ध दार्शनिकों ने 'रूप' शब्द को बहुत व्यापक अर्थ दिया है। उन्होंने कहा है कि रूप को प्रथमतः [१८८] दो प्रभेदों में विभक्त समझना चाहिए। वे दो प्रभेद हैं वर्ण और संस्थान अर्थात् आकृति। वर्ण को उन्होंने नीलापन, पीलापन, लाली और सफेदी इन चार प्रभेदों में विभक्त बतलाया है। वर्णात्मक और संस्थानात्मक दोनों रूप - प्रभेदों का विश्लेषण करते हुए उन्होंने यह कहा है कि रूप को बीस प्रभेदों में विभक्त समझना चाहिए। रूप के बीस प्रभेद इस प्रकार होते हैं यथा - आकृत्यात्मक रूप के प्रभेद दीर्घ, ह्रस्व, वर्त्तुल, परिमण्डल, उन्नत, अवनत, शात और निशात ये आठ होते हैं और नील आदि चार प्रधान वर्ण पहले बतलाये गये हैं। और अन्य आठ रूप हैं मेघ, वाष्प, रज, महिका, छाया, आतप, आलोक और तम। इनके अन्दर महिका वे सूक्ष्म पार्थिव एवं जलीय कण कहलाते हैं जो कि उत्पतनशील होते हैं। सूर्य का उष्ण प्रकाश कहलाता है आतप और चन्द्रमा का शीतल प्रकाश कहलाता है आलोक। तम अन्धकार प्रसिद्ध ही है। बौद्धों के इस रूप सम्बन्धी विवेचन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे रूप शब्द को केवल गुणवाची नहीं मानते। किन्तु ऊपर बतलाये गये स्वभाव आदि सारे अर्थों को अभिप्राय में रखते हुए उन लोगों ने अपने विवेचन ग्रन्थों में रूप शब्द का प्रयोग किया है। परन्तु गुण विवेचन के अन्दर विवेच्य रूप से उपस्थित इस रूप को नील, पीत आदि रूप से कथित गुण ही समझना चाहिए। और बौद्ध दार्शनिकों ने भी रूप शब्द का प्रधान रूप में अर्थ इनको ही माना है। रूप को शब्दान्तर में 'वर्ण' भी कहते हैं। जैसे 'नीलवर्ण शृगाल' इत्यादि वाक्य-प्रयोग स्थलों में 'वर्ण' शब्द रंग अर्थ में ही प्रयुक्त होता है।

नैयायिक वैशेषिक आदि अन्य, भूत-भौतिक विवेचकों ने आकृति एवं आकृतियुक्त द्रव्य अर्थ में रूप शब्द का प्रयोग मुख्यतया नहीं किया है। इसीलिए वे रूप को एक प्रकार [१८९] गुण ही मानते हैं। बौद्ध विवेचकों की ओर से भी इनकी पुष्टि इस प्रकार बतलायी जा सकती है कि रूप शब्द का प्रधान अर्थ उन्होंने भी नील आदि को ही माना है। परन्तु बौद्धों से नैयायिकों और वैशेषिकों का मतैक्य रूप के प्रभेद के सम्बन्ध में नहीं देखा जाता है। क्योंकि बौद्ध विवेचकों ने जहाँ उक्त चार ही प्रकार रूप माने हैं वहाँ नैयायिकों और वैशेषिकों ने शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश और चित्र इस प्रकार रूप के सात प्रभेद माने हैं। किन्तु अन्तिम चित्र रूप के सम्बन्ध में इन दार्शनिकों को भी गृहकलहग्रस्त पाया जाता है। इसका मूल कारण है रूपों की व्याप्यवृत्तिता के सम्बन्ध में उपस्थित होने

---

(१८८) रूपं द्विधा विंशतिधा, ...। - *अभिधर्मकोश।*
द्विधा-वर्णः संस्थानम्। वर्णः नीललोहितपीतावदाताः। तद्विंशतिविधम् अष्टा आकृतयः..।
- *अभिधर्मकोश-टीका, राहुल सांकृत्यायन।*

(१८९) चक्षुग्राह्यं भवेद्रूतं द्रव्यादे रुपलम्भकम्।
चक्षुषः सहकारी स्याच्छुक्लादिकमनेकधा॥ - *भाषापरिच्छेद।*

वाला मतभेद। 'व्याप्यवृत्तिता' का अर्थ है पूरे आश्रय को व्यापन करके अवस्थित होना और 'अव्याप्यवृत्तिता' का अर्थ है उसके विपरीत आश्रय के अंश में ही रहना। जो लोग 'चित्र' को एक स्वतंत्र रूप मानते हैं उनका कहना यह है कि जब चित्र-पट आदि स्थल के अतिरिक्त नियमतः सर्वत्र यह परिस्थिति देखी जाती है कि नील आदि रूप अपने पूर्ण आश्रय को व्याप्त करके ही रहते हैं, तब वे चित्रपट आदि प्रकृत-विवेच्य स्थलों में अपने उस 'व्याप्यवृत्ता' स्वभाव को कैसे छोड़ सकते? क्योंकि स्वभाव कहलाने का अधिकारी तो वही होता है जिसे उसका आश्रय कभी छोड़ना नहीं। जबकि अन्यत्र सर्वत्र नियमतः रूप का यही स्वभाव देखा जाता है कि वह अपने आश्रय को पूर्ण रूप से व्याप्त करके ही रहता है, तब यदि चित्रपट स्थल आदि में उसे छोड़ डाले तो उक्त व्याप्यवृत्तिता को रूप का स्वभाव नहीं कहा जा सकेगा। किसी भी वस्तु का या व्यक्ति का स्वभाव सम्बन्धी निर्णय अनेकत्र देखी जाने वाली परिस्थिति के आधार पर ही किया जाता है। चित्रपट आदि कतिपय स्थलों को छोड़कर जब अन्यत्र सर्वत्र रूप की यही परिस्थिति देखी जाती है कि वह पूरे आश्रय को व्याप्त करके अवस्थित रहता है तब 'व्याप्यवृत्तता' को उसका स्वभाव मानना ही होगा। अन्यथा किसी को भी किसी का स्वभाव मानना कठिन हो जायेगा। जब उक्त व्याप्यवृत्तिता को रूप का स्वभाव मान लिया जाता है तब उसके उस स्वभाव की अनुल्लंघनीयता के कारण रूप पट आदि के अंशविशेष में ही अवस्थित नहीं माना जा सकता। इसलिए 'चित्र' को एक स्वतंत्र रूप मानना चाहिए। चित्र को स्वतंत्र रूप मानने वालों की इसके अतिरिक्त दूसरी युक्ति यह है कि प्रत्यक्ष के प्रति रूप है कारण। यदि मानस-प्रत्यक्ष को इस नियम की परिधि से मुक्त भी किया जाय तब भी बाह्य-प्रत्यक्षों के प्रति तो रूप को कारण मानना ही होगा। क्योंकि किसी भी आँख, कान आदि वाह्य-इन्द्रिय से प्रत्यक्षात्मक ज्ञान उन्हीं द्रव्यों का होता हुआ पाया जाता है जिनमें रूप पाया जाता है। रूपरहित वायु का स्पर्शन प्रत्यक्ष मानने पर भी अन्ततः यह कहना ही होगा कि चाक्षुष-प्रत्यक्ष के लिए द्रव्य में रूप का होना आवश्यक है। ऐसी परिस्थिति में होते हुए चित्रपट के प्रत्यक्ष के निर्वाहार्थ 'चित्र' को एक स्वतंत्र रूप मानना ही होगा। क्योंकि उक्त रूप की व्याप्यवृत्तिता का सिद्धान्त, उक्त युक्ति के अनुसार अकाट्य होने के कारण प्रत्येक नील, पीत आदि रूपों एक पट का रूप नहीं कहा जा पायेगा, विभिन्न तन्तुओं का ही रूप कहा जायेगा। रूपरहित द्रव्य का चाक्षुष-प्रत्यक्ष होता नहीं यह कहा ही जा चुका है। अतः चित्र रूप मानना ही चाहिए। उसे मानने पर प्रत्यक्ष की अनुपपत्ति इसलिए आपन्न नहीं होती कि तन्तुओं में अलग-अलग विभिन्न रूप होने पर भी अवयवी पट में एक स्वतंत्र चित्त रूप होगा इसलिए पट नीरूप नहीं कहला पायेगा कि अपेक्षित रूप न होने के कारण प्रत्यक्ष की अनुपपत्ति बतलायी जा सके। परन्तु चित्र नामक स्वतंत्र एक रूप को मान्यता न देने वाला नैयायिकों का दूसरा दल यह कहता है कि वहाँ पट में विद्यमान विभिन्न रूपों को भी भ्रममूलक एक चित्र रूप कह दिया जाता है। अतः चित्र नामक

स्वतंत्र एक रूप मान्य नहीं है। इस पक्ष में प्रबल युक्ति यह है कि अवयव का रूप अवयवी में स्व-सजातीय रूप को ही उत्पन्न कर सकता है अन्य प्रकार रूप को नहीं। अन्यथा अवयवी में रूपोत्पाद का कोई नियम नहीं रह जायेगा। रक्त तन्तुओं से निर्मित पट पीला हो उठेगा। जैसा कि कभी होता हुआ देखा जाता नहीं। अतः यह मानना ही होगा कि तन्तुओं में विद्यमान विभिन्न रूप पट में विभिन्न स्वसजातीय रूपों को ही उत्पन्न करेंगे। इसलिए विभिन्न रूपयुक्त तन्तुओं से बना हुआ एक पट विभिन्न रूपयुक्त ही माना जा सकता, एक स्वतंत्र चित्र रूपयुक्त नहीं। रही बात यह कि एक पट में अनेक रूप मान्य कैसे होंगे? क्योंकि रूप तो नियमतः अन्यत्र व्याप्यवृत्ती होकर ही रहता हुआ पाया जाता है अव्याप्यवृत्ती रूप में रहने वाला नहीं। तो इसके उत्तर में चित्र को स्वतंत्र मान्यता न देने वाला पक्ष यह कहता है कि इस कथन का सारांश यह होता है कि एकमात्र रूप में आन्यत्रिक भाव से देखे जाने वाले एक व्याप्य वृत्ती रूप को दृष्टान्त करके रूपत्व हेतु से विवादापट रूप को व्याप्यवृत्ती सिद्ध किया जायेगा, यही तो? तो यह इसलिए युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता कि प्रत्यक्ष-विरुद्ध अनुमान सही नहीं माना जाता। वह अनुमानाभास ही होता है। जबकि उस चित्रपट में प्रत्यक्ष रूप से यह देखा जाता है कि इस एक पट में अनेक रूप, विभिन्न अंशों में है तब इस स्पष्ट-प्रत्यक्ष के विरुद्ध पट के रूप में व्याप्यवृत्तिता या एकता का अनुमान सदनुमान नहीं अनुमानाभास ही होगा। अतः उसके बल से एक चित्र रूप नहीं मनाया जा सकता। इस विवेचन से नैयायिकों के रूपगत संख्या की मान्यता से सम्बन्ध रखने वाला गृहकलह परिचित हो गया होगा। प्रकृत चार्वाकीय-दृष्टिकोण भी इस द्वितीय पक्ष अर्थात् चित्ररूप की स्वतंत्र मान्यता को प्रश्रय न देने वाले पक्ष का ही अनुसारी है। इतना ही नहीं, यह मुख्य रूप में बौद्धाभिमत उक्त चार रूपों को ही मान्य ठहराता है। अतः अन्य सभी प्रकार के रूप उन्हीं रूपों के विभिन्न मात्रायुक्त रूप में मिलन-प्रयुक्त विभिन्न रूप से प्रतीत होते हैं। किन्तु बौद्धों ने जो वायु में रूप माना है वह युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता। अतः यह रूप पृथिवी, जल और तेज इन तीनों भूतों में ही रहता है अन्य में नहीं। पृथिवी में सभी रूप सम्भावित होते हैं किन्तु जल में और तेज में केवल शुक्ल ही मान्य है। जल में अभास्वर-शुक्ल और तेज में भास्वर शुक्ल। भास्वर है प्रकाशक।

चार्वाक-मत और रस

गुणों के अन्दर रस का स्थान इसलिए अति महत्त्वपूर्ण मान्य है कि इसके उपयोग का प्राणिजीवन पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। प्राप्त विभिन्न रस या उससे युक्त अपेक्षित भौतिक खाद्य पेय को आत्मसात करने से ही प्राणी आत्मपुष्टि प्राप्त करता है। इसके प्रभेद मधुर अम्ल, लवण, कटु, काषाय और तिक्त ये छः मान्य हैं। क्योंकि स्वतंत्र रूप से ये छः रस ही प्रामाणिक रूप में प्रतीत होते हैं। इनके विभिन्न मात्रायुक्त रूप में मिलन से विभिन्नता प्राप्त करने वाले रसों की संख्या अगणित ही कही जायेगी, जिस

प्रकार मिलित रूप की। नैयायिक एवं वैशेषिक दार्शनिकों ने चित्र-रस, यह कहकर नहीं माना है कि रस को ग्रहण करने वाली रसना केवल गुणग्राहक होती है द्रव्यग्राहक नहीं। अत: चित्ररस [१६०] को न मानने पर किसी द्रव्य के रासन-प्रत्यक्ष की अनुपपत्ति नहीं बतलायी जा सकती, जिसके निवारणार्थ उस द्रव्य में चित्ररस माना जाय। इसलिए चित्ररूप को मान्यता दिये बिना चित्रपट प्रत्यक्षता की अनुपपत्ति के निवारणार्थ जिस प्रकार स्वतंत्र चित्ररूप मान्य होता है उस प्रकार चित्ररस की मान्यता नहीं स्थिर की जा सकती।

परन्तु नैयायिकों और वैशेषिकों का यह कथन इसलिए प्रकृत-दृष्टिकोण के अनुसार उचित नहीं ठहराया जा सकता कि चित्ररूप की अमान्यता घोषित की जा चुकी है। हाँ, चित्ररस की अमान्यता का जहाँ तक प्रश्न है वहाँ तक यह चार्वाक-सिद्धान्त भी उनके साथ है। क्योंकि चित्ररूप के खण्डन स्थल में प्रदर्शित युक्ति के अनुसार चित्ररस का भी खण्डन अनायास रस की अव्याप्यवृत्तिता मानने पर हो जाता है। उक्त छ: रस यथा-सम्भव पार्थिव वस्तुओं में रहते हैं और जल, तेज तथा वायु इनमें कोई भी रस रहता नहीं। जल में भी कहीं-कहीं अनुभूयमान रस पार्थिव सम्बन्ध से भलीभाँति प्रतीयमान माना जा सकता है। कुछ नैयायिक विवेचकों ने रस के सम्बन्ध में यह कहा है कि जल भी सरस है क्योंकि आकाश में ऊपर ही रखे हुए निर्मल अविकारी धातुपात्र में मेघ से गिरने वाला विशुद्ध जल पीने पर मीठा मालूम होता है। परन्तु यह कथन इसलिए सबल नहीं हो सकता कि उस जल में पार्थिव सम्पर्क नहीं है यह नहीं कहा जा सकता। अत: वहाँ के अनुभूयमान माधुर्य को भी आन्यत्रिक जलगत माधुर्य के समान औपाधिक ही मानना उचित प्रतीत होता है। जगह-जगह पर जल में अनुभूयमान लवण, रस यदि औपाधिक हो सकता है, शरबत आदि में उपलभ्यमान माधुर्य जब चीनी के सम्पर्क से औपाधिक ही होता है तब उक्त स्थलीय जलगत उपलभ्यमान माधुर्य को भी तदनुसार पार्थिवकण सम्पर्क प्रयुक्त भलीभाँति कहा जा सकता है। यह नहीं कहा जा सकता कि माधुर्य के अनुभवानुरूप भौतिक कणों के आधिक्य की वहाँ सम्भावना नहीं रहती। क्योंकि अधिक चीनी और अत्यल्प मिष्टसारसेकरीन के सम्पर्क से समान माधुर्य का अनुभव जल में होता हुआ पाया ही जाता है। अत: जल में उपलभ्यमान रस को औपाधिक मानते हुए नीरस मानना ही उचित है।

चार्वाक-मत और गन्ध

गन्ध [१६१] वह गुण है जो नाक से ही साक्षात्कृत होता है। सारांश यह कि उक्त

---

(१६०) रसादिकमपि नाव्याप्यवृत्ति। किन्तु नानाजातीयरसवदवयवैरारब्धेऽवयविनि रसाद्याभादेऽपिन क्षति:। तत्र हि रसनया अवयवरस एत गृह्यते। रसनेन्द्रियादीनां द्रव्यगहे सामर्थ्याभावात्। अवयविनो नीरसत्वेऽपि क्षतेरभावात्।

- न्यायसिद्धान्त मुक्तावली, गुणनिरूपण।

(१६१) घ्राण ग्राह्यो भवेद्गन्धो प्राणस्यैबोपकारक:। *- भाषा परिच्छेद।*

गुणों के अन्दर जो नाक से जाना जाय वह है गन्ध। इस प्रकार गन्ध का परिचय नैयायिकों एवं वैशेषिकों ने दिया है। परन्तु गन्ध का यह निर्वचन चार्वाकसिद्धान्त में इसलिए संगत नहीं कहा जा सकता कि इस चार्वाकीय सिद्धान्त में मन ही सर्वग्राहक रूप से मान्य है अत: नाक इन्द्रिय रूप से गन्ध का ग्राहक नहीं है। यदि उक्त कथन की व्याख्या ऐसी की जाय कि नाक के द्वारा मन से जो गुण गृहीत होता हो वह है गन्ध। तो इस निर्वचन के प्रति किसी प्रकार अरुचि दिखाने का स्थान नहीं रह जाता। नैयायिकों एवं वैशेषिकों ने इस गन्ध के सम्बन्ध में एक बात यह कही है कि एक किसी अवयवी के विभिन्न अवयवों में विभिन्न प्रकार गन्ध, जैसे सुगन्ध और दुर्गन्ध अवस्थित हों, तो अवयवी को निर्गन्ध मानना चाहिए। इस प्रकार अपने कथन की पुष्टि में उन लोगों ने यह युक्ति उपस्थित की है कि अवयवगत गन्ध अवयवी में सजातीय गन्ध की ही उत्पत्ति कर सकती है। तदनुसार एक अवयवगत सुगन्ध अवयवी में सुगन्धमात्र को और ऊपर अवयवगत दुर्गन्ध अवयवी में केवल दुर्गन्ध मात्र को उत्पन्न करना चाहेगी। परन्तु सुगन्ध और दुर्गन्ध इस प्रकार पारस्परिक-विरोधशील हैं कि आपस में मानो अहमहमिका उपस्थित होने के कारण परस्पर द्वारा अवरोध प्राप्त करने के कारण अवयवगत सुगन्ध या दुर्गन्ध, कोई भी अवयवी में अपने अनुरूप सुगन्ध या दुर्गन्ध की उत्पत्ति कर नहीं पाती। अत: ऐसी परिस्थिति में अवयवी को निर्गन्ध मानना चाहिए। परन्तु यह उनका कथन इसलिए संगत प्रतीत नहीं होता कि उनके सिद्धान्त में जैसे चित्रपट स्थल में अवयवगत विभिन्न रूप आपस के विरोध को भुलाकर आपस में एक स्वतंत्र 'चित्र' रूप अवयवी में उत्पन्न कर डालते हैं। अथवा आपस में सामंजस्य स्थापित करके अवयवी में सभी अवयवगत रूप अलग-अलग अपने-अपने अनुरूप रूपों को उत्पन्न करते हैं तद्वत् गन्धस्थल में भी क्यों न कहा जा सकता? नैयायिकों का इस सम्बन्ध में प्राप्त होने वाला यह उत्तर सन्तोषप्रद नहीं प्रतीत होता कि नाक द्रव्यग्राहक नहीं है चक्षु की तरह, अत: चित्रपट की आचाक्षुषता के समान यहाँ उक्त प्रकार अवयवी द्रव्य की अप्रत्यक्षता आपन्न नहीं हो सकती इसलिए चित्ररूप की तरह चित्रगन्ध या अव्याप्यवृत्ती विभिन्न रूपों की तरह यहाँ विभिन्न गन्धों की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती। क्योंकि होते हुए अनुभव का अपलाप उचित नहीं कहा जा सकता। अनुभूयमान गन्ध अवयवी ही होती है अवयवी की नहीं इसका नियामक कोई प्रमाण मिलता नहीं। बौद्धों के इस गन्ध को सुगन्ध-दुर्गन्ध, उत्कट और अनुत्कट इन चार प्रभेदों में विभक्त बतलाया है। उनका यह यथाश्रुत कथन संगत नहीं कहा जा सकता। हाँ, उत्कट सुगन्ध, अनुत्कट सुगन्ध, उत्कट दुर्गन्ध, अनुत्कट दुर्गन्ध इस प्रकार चतुर्धाकरण हो सकता है। किन्तु उष्ण और शीत इन दोनों से विलक्षण 'अनुष्णाशीत स्पर्श' जिस प्रकार आगे विवक्षित है उस प्रकार 'असुदुर्गन्ध' भी मान्य होना चाहिए।

चार्वाक-मत और स्पर्श

परिगणित गुणों के अन्दर चौथा गुण है स्पर्श। इसकी परिभाषा चार्वाकीय-

सिद्धान्त के अनुसार यह है कि त्वक् के द्वारा मन से गृहीत होने वाला गुण है स्पर्श। नैयायिक एवं वैशेषिकों की यह परिभाषा कि 'त्वक् इन्द्रिय मात्र से ग्राह्य गुण है स्पर्श' यह यहाँ मान्य क्यों नहीं है? यह बात स्पष्ट ही है क्योंकि मन के अतिरिक्त और कोई इन्द्रिय रूप से यहाँ मान्य नहीं है? बौद्ध-सिद्धान्त में यद्यपि स्पर्श के ये दोनों ही लक्षण औचित्य नहीं प्राप्त कर सकते। बौद्धों ने कहा है कि पृथिवी, जल, तेज, वायु के स्पर्श, श्लक्ष्ण, कर्कश, गुरुत्व, लघुत्व, बुभुक्षा और पिपासा ये ग्यारह हैं स्प्रष्टव्य अर्थात् कायेन्द्रिय ग्राह्य। इस कथन से बौद्धों का अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि वे पृथिवी, जल आदि को त्वक् के द्वारा गृहीत होने वाला मानते नहीं, केवल उनके स्पर्शों को ही त्वक्-ग्राह्य मानते हैं। क्योंकि ऐसा उनका अभिप्राय न होने पर, उनके द्वारा निर्धारित स्प्रष्टव्य की ग्यारह संख्या कैसे संगत हो सकती? यत: द्रव्यों को अगल स्प्रष्टव्य रूप से गिनने पर उसकी संख्या ग्यारह न होकर पन्द्रह हो उठेगी, जैसा कि उन्होंने कहा नहीं है। भूख और प्यास का भी स्प्रष्टव्य रूप से निर्देश के कारण, और त्वक् इन्द्रिय शब्द का प्रयोग न करते हुए उसके स्थान में कायेन्द्रिय शब्द का निर्देश यह भी सूचित करता है कि उनके द्वारा प्रयुक्त 'कायेन्द्रिय' शब्द के अन्दर आने वाले 'काय' शब्द से पूरे शरीर को ही लिया है, नैयायिक और वैशेषिकों की तरह समग्र काय में व्याप्त त्वक् नामक वायवीय इन्द्रिय नहीं। प्रकृत चार्वाक सिद्धान्त इस स्प्रष्टव्य सम्बन्धी बौद्ध-सिद्धान्त से इसलिए भी सहमत नहीं हो सकता कि इस सिद्धान्त में काय अर्थात् शरीर आत्मा है न कि इन्द्रिय। उक्त एतत्सम्बन्धी न्यायसिद्धान्त से भी यह सिद्धान्त एकमत नहीं होता कि यहाँ मन ही केवल इन्द्रिय रूप से मान्य है अन्य कान, नाक आदि नहीं यह बात बारम्बार बतलायी जा चुकी है। फिर इस सिद्धान्त में त्वक् क्या है? इस सम्बन्ध में उत्तर यह समझना चाहिए कि समग्र शरीर प्रदेश से मस्तिष्क तक जाने वाले सूत्रजाल को ही यहाँ त्वक् शब्द से कहा जाता है। कान, नाक आदि से विलक्षणता इसकी यह है कि वे तत्तत् मस्तिष्कगामी सूत्र, कान आदि निश्चित छिद्र स्थल से ही मन तक संलग्न मान्य है और यह समस्त सूक्ष्म रोमकूप आदि से मस्तिष्क तक पहुँचने वाले सूक्ष्म सूत्रों का समुदाय होता है। स्पर्श गुण को शीत, उष्ण और अनुष्णाशीत इस प्रकार तीन प्रभेदों में विभक्त यहाँ भी उसी प्रकार मानना है जिस प्रकार न्याय वैशेषिक सिद्धान्त में। कुछ नैयायिक एवं वैशेषिक बौद्ध-प्रभाव में आकर गुरुत्व को भी त्वक्-ग्राह्य माना है। तदनुसार गुरुत्व में उनके द्वारा उक्त स्पर्श के लक्षण की अतिव्याप्ति उनके लक्षण घटक 'मात्र' इस पद से वारित होती है। क्योंकि अधिकतर गुरुत्व का ग्रहण तुलादण्ड के नमन और उन्नमन को देखकर ही होता है। यदि यह कहा जाय कि गुण लक्षणों के अन्दर मात्र पद का निराकरणीय, अनुमान को नहीं ठहराया जा सकता। क्योंकि ऐसा मानने पर नैयायिक एवं वैशेषिक के 'चक्षु-मात्र से ग्राह्य होने वाला गुण है रूप' इस रूप लक्षण-स्थल में भी 'मात्र' यह पद अनुमान का निराकारक हो उठेगा। जिसका कुफल यह होगा कि वह उनका रूप लक्षण, लक्ष्य रूप में अव्याप्त हो

उठेगा। क्योंकि अनुमान तो रूप का भी होता ही है। तो गुरुत्व को भी स्प्रष्टव्य मानने के पक्ष में स्पर्श का वह लक्षण न्यायवैशेषिक दृष्टिकोण से भी त्याज्य ही होगा, न्याय्य नहीं। अथवा छूकर गुरुत्व का निर्णय होता नहीं, किन्तु हथेली पर भारयुक्त वस्तु को रखने पर गुरुत्व का परिचय मिलता है। अत: त्वक् के अतिरिक्त किसी भी शरीर-प्रदेश के साथ उस भारयुक्त वस्तु की ऊर्ध्वाधोभाव से अर्थात् ऊपर-नीचे के क्रम से अवस्थिति भी अपेक्षित होती हुई पाई जाती है। वह विलक्षण अवस्थिति अर्थात् निम्न स्थित शरीर प्रदेश के साथ होने वाला भारयुक्त भूत का संयोग भी उक्त मात्र पद का निराकार्य है। अत: उक्त गुरुत्व में स्पर्शलक्षण की अतिव्याप्ति आपन्न होती नहीं। उक्त त्रिविध स्पर्श के अतिरिक्त कठिनता और कोमलता इन दोनों को भी स्वतंत्र स्पर्श क्यों न माना जाय? क्योंकि इनका ज्ञान भी छूकर ही होता है। यह प्रश्न इसलिए नहीं उठाया जा सकता कि कुछ ऐसी भी वस्तुएँ पायी जाती हैं जिन्हें देखने से भी उनमें कठिनता और कोमलता दोनों परिलक्षित होती हैं। अत: इन दोनों को त्वक् द्वारा ही मनोग्राह्य नहीं कहा जा सकता। यदि यह कहा जाय कि आँख से कठिनता एवं कोमलता का ज्ञान कहीं नहीं होता। किन्तु स्थल विशेष में वस्तुगत आकृति को देखकर उसके सहारे कठिनता और कोमलता का अनुमान होता है, तो कठिनता और कोमलता को भी स्पर्श का प्रभेद माना जा सकता। इस पर यदि यह प्रश्न उठाया जाय कि कठिनता और कोमलता और दोनों को स्पर्शात्मक गुण क्यों न माना जाय? एक को स्पर्शात्मक गुण और दूसरे को उसका अभाव मानकर काम चलाया जा सकता है। तो यह कथन इसलिए संगत नहीं ठहराया जा सकेगा कि उक्त दोनों के अन्दर किसे उसके विपरीत उसका अभाव माना जाय? यह निर्णय दुर्घट है? अत: एकत्र पक्षपाती मुक्ति के अभाव में दोनों को ही स्पर्श मानना होगा। और भी एक बात यह है कि कठिनता और कोमलता इन दोनों की प्रतीतियाँ विधिमुख ही होती हैं निषेधमुख नहीं। कहने का तात्पर्य यह कि 'यह कठिन है', 'यह कोमल है' इस प्रकार 'है' इस रूप से भावात्मक रूप में ही जब दोनों की प्रतीतियाँ समान रूप से हुआ करती हैं तब यह कैसे कहा जाय कि यह है स्पर्शात्मक भाव, और यह वह न होकर उसके विपरीत है अभाव। अत: कठिनता और कोमलता दोनों को ही स्पर्श मानना होगा।

चार्वाक-मत और संख्या

गुणों के अन्दर स्पर्श के बाद विवेच्य कोटि में आती है संख्या।[१६२] क्योंकि विहित क्रम निर्देश के अनुसार स्पर्श के बाद संख्या का ही निर्देश हुआ है। कुछ लोगों का कहना है कि संख्या गुण नहीं किन्तु वह एक स्वतंत्र पदार्थ है। क्योंकि गुण में गुण रहता नहीं किन्तु संख्या गुण में भी रहती है। यदि संख्या गुण में रहती नहीं ऐसा माना जाय तो यह कहना कठिन हो जायेगा कि 'गुण चौदह हैं अधिक या कम नहीं' क्योंकि 'चौदह'

(१६२) संख्या एकत्वादिव्यवहारहेतु: सामान्यगुण:। — *तर्कभाषा।*
गणनव्यवहारेतु हेतु: संख्याऽभिधीयते॥ — *भाषा परिच्छेद।*

कहने पर उससे संख्या ही प्रतीत होती है। तदनुसार 'गुण चौदह हैं' यह कहने पर गुणगत ही संख्या प्रतीत होती है। किन्तु गुण में गुण रहता नहीं यह बात कही जा चुकी है। नैयायिकों एवं वैशेषिकों ने संख्या जब गुण है तब गुणों में उसी प्रतीति कैसे उत्पन्न होती है, यह प्रश्न उठाकर उत्तर यह दिया है कि द्रव्यगत संख्या द्रव्याश्रित गुण में समवाय सम्बन्ध से भले ही न रह पाये किन्तु समवायघटित-समानाधिकरण्य सम्बन्ध से वह गुणों में रहती है अर्थात् जिन द्रव्यों में गुण समवाय सम्बन्ध से रहते हैं उन द्रव्यों में संख्या भी गुण होने के नाते समवाय सम्बन्ध से रहती है। अत: रूप आदि गुण और संख्या ये दोनों द्रव्यात्मक अधिकरण में रह जाते हैं, इसलिए गुणों में भी संख्या की प्रतीति होती है। गुण गुण में रहता नहीं इस कथन का अभिप्रेत अर्थ यह है कि समवाय-सम्बन्ध से जिस प्रकार गुण द्रव्य में रहता है, गुण में गुण उस प्रकार समवाय-सम्बन्ध से रहता नहीं। अत: एकार्थ-समवायात्मक-समानाधिकरण्य-सम्बन्ध में गुण में गुण रहता है। इसलिए यह प्रश्न नहीं उठाया जा सकता कि गुणों में संख्या की प्रतीति कैसे होती है? गुण चौदह हैं इस प्रकार ज्ञान एवं तदनुरूप प्रामाणिक-वाक्यप्रयोग कैसे होता है? परन्तु गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर नैयायिकों एवं वैशेषिकों का यह कथन उचित नहीं हो पाता। क्योंकि संख्या को छोड़कर रूप आदि अन्य गुणों में तो उक्त प्रकार से संख्या को ले जाया जा सकता है किन्तु संख्या में संख्या को कैसे उक्त प्रकार एकार्थ-समवाय-सम्बन्ध से रखा जा सकता? क्योंकि अपने को अपना समानाधिकरण नहीं कहा जा सकता। क्योंकि दो वस्तुएँ जब किसी एक आधार में रहती हैं तब एक आधार में रहने वाली उन दो वस्तुओं में समानाधिकरण्य प्राप्त होता है। एक को किसी भी प्रकार दो नहीं बनाया जा सकता। यदि यह कहा जाय कि संख्या भी तो विभिन्न हैं अत: रूप के समान एक संख्या में भी दूसरी संख्या उक्त प्रकार समानाधिकरण्य सम्बन्ध से रह सकती है। तो यह भी इसलिए नहीं कहा जा सकता है कि संख्याएँ विभिन्न होने पर भी दो विभिन्न संख्याएँ एकाश्रित नहीं हो सकतीं। इसीलिए संख्या सर्वथा मर्यादित हुआ करती है अमर्याद अर्थात् विशृंखल कभी होती नहीं। एक कभी दो नहीं होता अत: एकत्व और द्वित्व ये दोनों संख्याएँ एकत्र रहती नहीं। इस प्रकार सभी संख्याओं के सम्बन्ध में समझना चाहिए। ऐसी परिस्थिति में यह नहीं कहा जा सकता कि विभिन्न संख्या में समानाधिकरण्य सम्बन्ध से अर्थात् एकार्थ-समवाय-सम्बन्ध से रहती हैं। अत: अन्य लोगों ने उक्त मूल प्रश्न के उत्तर में यह कहते हुए पाये जाते हैं कि जो संख्या द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहती है वह द्रव्य से अन्य गुण आदि में समवाय-सम्बन्ध से न रहने पर भी स्वरूप सम्बन्ध से रहती है। अर्थात् समवाय जैसे समवायान्तर से न रहता हुआ स्वरूपत: समवायी में रहता है उसी प्रकार संख्या भी गुण आदि में स्वरूपत: रहती है क्योंकि ऐसा न मानने पर गुणगत संख्या की प्रामाणिक-प्रतीति एवं प्रामाणिक व्यवहार की उपपत्ति हो नहीं सकती है। कल्पना नियमत: फलानुसारिणी होती है। अत: उक्त प्रमाणिक प्रतीति एवं वाक्य-प्रयोगात्मक

व्यवहारस्वरूप फल के अनुसार संख्या का स्वरूपात्मक सम्बन्ध तो संख्या में मान्य ही होगी। दृष्टान्तभूत समवाय का समवाय इसलिए नहीं माना जाता है कि ऐसा मानने पर समवाय की अनन्त अव्यवस्थित परम्परा आपन्न हो उठती है। वहाँ जैसे इस आपत्ति के बल से समवाय का समवाय नहीं माना जाता है ऐसे यहाँ उक्त प्रतीति एवं प्रामाणिक वाक्य प्रयोग की अनुपपत्ति के भय से संख्या में संख्या का स्वरूप सम्बन्ध मान्य होगा। अर्थात् संख्या-संख्या में स्वरूपत: रहेगी सम्बन्धान्तर से नहीं। इस विवेचन से उक्त प्रश्न निराकृत हो गया कि संख्या में संख्या न रहने के कारण संख्याघटित उक्त गुणों में चतुर्दशत्व संख्या कैसे रहेगी? और नहीं रहेगी तो गुण चौदह हैं यह कथन संगत कैसे कहा जा सकेगा? वस्तुत: चार्वाकीय-दृष्टिकोण के अनुसार उक्त प्रश्न का उत्तर यह है कि इस सिद्धान्त में संख्या केवल एकत्व ही मान्य है द्वित्व, त्रित्व आदि नहीं। द्वित्व, त्रित्व आदि भेदस्वरूप हैं संख्यात्मक गुणस्वरूप नहीं। ऐसी परिस्थिति में 'गुण चौदह हैं' इत्यादि प्रतीति का विषय एवं तदनुरूप वाक्य का प्रतिपाद्य चतुर्दशत्व भी भेदस्वरूप ही है। भेद है अन्योन्याभाव अत: गुण में गुण न रहने पर भी अन्योन्याभाव की विद्यमानता गुण में अक्षुण्ण होने के कारण उक्त प्रतीति एवं उक्त प्रकार व्यवहार असंगत नहीं कहा जा सकता। द्वित्व आदि संख्या नहीं किन्तु भेदस्वरूप हैं, यह इसलिए कि किन्हीं वस्तुओं को दो समझने के लिए यह एक है और यह एक इस प्रकार ज्ञानात्मक अपेक्षा बुद्धि की आवश्यकता वे लोग भी मानते हैं जो कि द्वित्व आदि को स्वतंत्र संख्या मानते हुएं उसका उत्पाद एवं विनाश मानते हैं। सारांश यह कि विभिन्न एकत्वों को या एकत्व के आश्रय में होने वाले भेदों को ही द्वित्व, त्रित्व आदि शब्दों का बोध्य माना जाय अलग द्वित्व, त्रित्व आदि संख्याएँ चार्वाकीय-दृष्टिकोण में मान्य नहीं हैं। उदाहरण के द्वारा इसे यों समझा जा सकता है, यथा एक आम और एक अमरूद यदि सामने उपस्थित है, तो यह मानना ही होगा कि आम अमरूद से भिन्न एक स्वतंत्र वस्तु है और अमरूद भी उसी प्रकार आम से एक भिन्न वस्तु है। अत: एक जगह उपस्थित होने पर भी ये आपस में हर तरह से भिन्न होते हैं अर्थात् पारस्परिक भेदयुक्त होते हैं। वही पारस्परिक रूप में विद्यमान भेद द्वित्व शब्द से कहा जाता है। फलत: इसी भेद को लेकर उक्त आम और अमरूद के सम्बन्ध में लोग यह समझते हैं और कहते हैं कि 'ये दो हैं।' इसी प्रकार एक आम, एक अमरूद और एक नारंगी की उपस्थिति स्थल में उनमें विद्यमान पारस्परिक भेदों को ही त्रित्व समझना चाहिए। सारांश यह कि एक आम, एक अमरूद और एक नारंगी इनके बीच विद्यमान भेद को ही लेकर, उसे ही उक्त वस्तुओं का विशेषण बनाते हुए यह समझा एवं कहा जाता है कि 'ये तीन हैं।' सुतरां उक्त द्वित्व की तरह त्रित्व भी कोई स्वतंत्र संख्या नहीं है। इसी प्रकार चार, पाँच, छ: आदि से लेकर अन्तिम संख्या रूप से परार्द्ध संख्या पर्यन्त समझना चाहिए। इस विवेचन के अनन्तर यह सुस्पष्ट है कि संख्या केवल एकत्व ही है अन्य द्वित्व आदि नहीं। यहाँ इन द्वित्व आदि के सम्बन्ध में जो ये दो बातें बतलायी गयी हैं कि

'द्वित्व दो एकत्व हैं एवं त्रित्व तीन एकत्व हैं, इसी प्रकार परार्द्धपर्यन्त समझना चाहिए।' यह एक और 'दूसरा यह कि उक्त पद्धति के अनुसार द्वित्व, त्रित्व आदि सभी को अन्योन्याभावात्मक भेद मानना चाहिए।' इन दोनों कथनों के अन्दर द्वितीय कथन अर्थात् द्वित्व आदि की भेदात्मकता पक्ष का समादर इसलिए अधिक उचित प्रतीत होता है कि प्रथम पक्ष का आदर करते हुए यदि यह कहा जाय कि दो एकत्व ही द्वित्व शब्द से कहे जाते हैं और तीन एकत्व ही त्रित्व शब्द से। तो 'दो एकत्व', 'तीन एकत्व' यहाँ पर एकत्वगत द्वित्व, त्रित्व आदि के सम्बन्ध में फिर उसी प्रकार जिज्ञासा उठ खड़ी होगी कि एकत्वगत द्वित्व एवं त्रित्व आदि क्या हैं? वहाँ भी यदि द्वित्व आदि को एकत्व रूप माना जायेगा तो इसी प्रकार प्रश्न और उत्तर का क्रम जारी रहने के कारण अनवस्था आपन्न होगी। उस अनवस्था से छुटकारा पाने का तरीका एक यही हो सकता है कि आम में विद्यमान एकत्व और अमरूद में विद्यमान एकत्व इनके अन्दर आपस में विद्यमान भेद ही है एकत्व द्वित्व। जिसे लेकर एकत्व को 'दो' बनाया जा सकता है। ऐसी परिस्थिति में यही उचित कहा जायेगा कि आम और अमरूद के अन्दर विद्यमान पारस्परिक भेद को ही आम और अमरूदगत द्वित्व माना जाय एवं त्रित्व आदि को भी भेदरूप ही माना जाय। क्योंकि जब उक्त विचार के अनुसार आम के एकत्व और अमरूद के एकत्व इन दोनों में विद्यमान द्वित्व को उक्त प्रकार अनवस्था से बचने के लिए उक्त पद्धति से भेदस्वरूप ही मानना होगा तब पहले ही आम और अमरूदगत द्वित्व को क्यों न भेदात्मक माना जाय?

इस विचार के अनुसार यह भी स्पष्टीकृत समझना चाहिए कि 'बहुत्व' संख्या भी द्वित्व, त्रित्व आदि की तरह भेदात्मक ही हैं, वह भी वस्तुतः गुणभूत संख्या नहीं है। इस संक्षिप्त कथन का तात्पर्य यह है कि नैयायिकों और वैशेषिकों के घर में त्रित्व, चतुष्ट्व आदि एवं बहुत्व इनकी एकता और अनेकता के सम्बन्ध में गृहकलह पाया जाता है। एक दल का कहना यह है कि बहुत्व, त्रित्व, चतुष्ट्व से लेकर अन्तिम परार्द्धत्व संख्या ही है कोई अतिरिक्त संख्या नहीं। और दूसरा दल इसके विरुद्ध यह कहता पाया जाता है कि बहुत्व एक स्वतंत्र संख्या है जो कि किन्हीं भी तीन वस्तुओं से लेकर अन्तिम परार्द्धत्व संख्यायुक्त वस्तुओं में रहती है। दोनों ही दल अपने-अपने पक्ष में दलील भी उपस्थित करते हैं। जो लोग बहुत्व को त्रित्व आदि स्वरूप ही मानते हैं उनकी युक्ति यह है कि किसी भी स्वतंत्र संख्यावाची शब्द के आगे तरप् या तमप् प्रत्यय लगाकर वाक्य प्रयोग नहीं होता हुआ पाया जाता है, एवं तदनुरूप प्रतीतियाँ भी नहीं होती हैं। जैसे द्वि-द्वितर, त्रि-त्रितर आदि शब्द नहीं प्रयुक्त होते हैं एवं तदनुरूप संख्यागत अतिशय भी नहीं प्रतीत होता है। किन्तु बहुत्व के स्थलों में यह बात नहीं पायी जाती है। वहाँ 'बहु' इस संख्यावाची शब्द के आगे तरप् एवं तमप् प्रत्यय जोड़कर 'बहुतर' एवं 'बहुतम' इस प्रकार

---

(१६३) आचार्यास्तु त्रित्वादिकमेद बहुत्वं मन्यते। अतएव इतोबहुतरे मसेनेति प्रतीतिरुपपद्यते।
- न्यायसिद्धान्त मुक्तावली।

वाक्य-प्रयोग एवं तदनुरूप बोध होता हुआ पाया जाता है।[१६३] इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि बहुत्व, त्रित्व, चतुष्ट्व आदि से अतिरिक्त और कुछ नहीं है। दूसरे दल का कहना यह है कि त्रित्व, चतुष्ट्व आदि संख्याएँ अवश्य ही आपस में विरोध रखने वाली मान्य हैं। अन्यथा चार वस्तुएँ भी तीन एवं तीन वस्तुएँ भी चार कहलाने लगेंगी। ऐसी परिस्थिति में एक बहुत्व को परस्पर में विरोधशील विभिन्न द्वित्व, त्रित्व आदि स्वरूप माना कैसे जा सकता? क्योंकि ऐसा मान लेने पर तो उन त्रित्व, चतुष्ट्व आदि में प्रतीयमान आपसी विरोध ही लुप्त हो उठेंगे। क्योंकि बहुत्वात्मक केन्द्र बिन्दु पर जाकर वे तत्त्वत: अभिन्न मान्य होंगे। अत: बहुत्व संख्या त्रित्व आदि से अतिरिक्त ही है। प्रकृत चार्वाकीय दृष्टिकोण के अनुसार यह कलह निराधार सिद्ध हो जाता है। क्योंकि एकत्व को छोड़कर सभी संख्याओं की गुण रूप में मान्यता का खण्डन किया जा चुका है। यह स्थापित किया जा चुका है कि द्वित्व आदि गुण नहीं किन्तु भेद स्वरूप हैं।

अब यहाँ एक प्रश्न यह उठाया जा सकता है कि बहुत्व को भी भेदस्वरूप मानने पर द्वित्व को भी बहुत्व मानना होगा क्योंकि भेद तो वह भी है? तो इसका उत्तर यह है कि 'एकाधिकत्व' दो वस्तुओं में भी तीन-चार आदि वस्तुओं के समान विद्यमान होने के कारण, दो को भी बहुत कहना उचित ही है। इसीलिए संस्कृत से इतर लोकभाषाओं में जैसे हिन्दी में दो वस्तु की विद्यमानता स्थल में भी उसी प्रकार बहुवचन का प्रयोग होता है जैसे तीन-चार आदि की विद्यमानता स्थलों में।

चार्वाक-मत और परिणाम

संख्या के अनन्तर अब विवेच्य क्रम में आया परिमाण। परिमाण है इयत्ता अर्थात् इतना पन।[१६४] इसी परिमाण गुण के सहारे किसी वस्तु को अन्य किसी वस्तु से छोटा या बड़ा कहा जाता है अधिकतर नैयायिकों एवं वैशेषिकों ने इस परिमाण गुण को अणुत्व, दीर्घत्व महत्त्व और ह्रस्वत्व इन चार प्रभेदों में विभक्त किया है। इन चारों के अन्दर महत्त्व और ह्रस्वत्व आपस में परस्पर विरोधी हैं एवं दीर्घत्व और ह्रस्वत्व ये भी आपस में परस्पर विरोधी हैं। कुछ नैयायिकों ने अणुत्व और महत्त्व इन दो परिमाणों को ही मान्य ठहराया है। उनका कहना है कि दीर्घता अर्थात् लम्बापन भी महत्त्व का एक प्रभेद है और ह्रस्वता अर्थात् नाटापन भी अणुत्व का ही प्रभेद है। अत: परिमाणों को उक्त चार प्रभेदों में विभक्त न मानकर दो प्रभेदों में ही विभक्त मानना चाहिए। किन्तु परिमाणगत चतुष्ट्व के पक्षपातियों के अन्दर एक विवेचक ने इस परिमाण द्वित्ववाद के विपरीत यह तर्क उपस्थित किया है कि प्रत्यक्ष के द्वारा स्पष्ट विषयीकरण में महत्त्वातिशय का जिस प्रकार उपयोग देखा जाता है दीर्घता का वैसा उपयोग उसमें देखा जाता नहीं। अत: दोनों में अन्तर मानना आवश्यक है। इसलिए दीर्घता और महत्ता इन दोनों को एक नहीं कहा जा सकता।

---

(१६४) परिमाणं मानव्यवहारासाधारणं कारणम्। तच्चतुर्विधम्। अणमहदद्दीर्घ ह्रस्वंचेति।
– *तर्कभाषा।*

उदाहरण के द्वारा इसे यों समझा जा सकता है कि श्याम के आगे एक चावल गिरा पड़ा है और सामने एक काफी लम्बा मकड़ी का तन्तु भी लम्बायमान होकर अवस्थित है। वह व्यक्ति दोनों के साथ आँख के सन्निष्कर्ष के होने पर भी चावल को जिस प्रकार अनायास स्पष्ट भाव से देखता है उस मकड़ी तन्तु को उस प्रकार अनायास स्पष्ट भाव से देखता नहीं यह निर्विवाद है। यदि महत्त्व और दीर्घत्व परस्पर में भिन्न न हों, अतिरिक्त न हों तो यह परिस्थिति नहीं होनी चाहिए। उस मकड़ी-तन्तु में ही प्रात्यक्षिक स्पष्ट-विषयता होनी चाहिए उस चावल में नहीं। क्योंकि महत्त्व एवं दीर्घत्व दोनों एक माने जाने पर उस चावल से उस मकड़ी-तन्तु में ही महत्त्वातिशय रहेगा। परन्तु ऐसा होता नहीं। चावल उस मकड़ी-तन्तु से कहीं अधिक स्पष्ट देखा जाता है। अत: महत्त्व और दीर्घत्व इन दोनों को एक नहीं माना जा सकता। इस प्रकार महत्त्व और दीर्घत्व इन दोनों का पारस्परिक भेद सिद्ध होने पर उन दोनों के विपरीत अणुत्व और ह्रस्वत्व को भी परिमाणरूप में मान्यता देनी होगी। अत: परिमाण दो नहीं चार ही हैं। परन्तु प्रकृत-चार्वाकीय-दृष्टिकोण इन दोनों ही परिमाण सम्बन्धी मतवादों को नहीं मानता। इस सिद्धान्त में महत्त्व ही केवल परिमाण मान्य है। इस महत्त्व में आपेक्षिक उत्कर्ष और अपकर्ष स्वरूप अतिशय अर्थात् आपेक्षिक वलक्षण्य अवश्य मान्य है। इसलिए विभिन्न इयत्ताक दो द्रव्यों के अन्दर एक को बड़ा और दूसरे को उससे छोटा समझा जाता है। यदि यहाँ परिमाण चतुष्ट्ववादी की ओर से यह कहा जाय कि तब तो परिमाण निर्भेद इस सिद्धान्त में भी नहीं हो पाया। क्योंकि उक्त सापेक्ष अतिशय की मान्यता के कारण उत्कृष्ट महत्त्व और अपकृष्ट महत्त्व ये दो प्रभेद मान्य हो ही जाते हैं। तो इसके सम्बन्ध में कहना यह है कि ये प्रभेद तो परिमाण चतुष्ट्ववादी को भी मान्य ही हैं। क्योंकि इन दो महत्त्व के प्रभेदों को मान्यता न देने पर दस हाथ कपड़े और पाँच हाथ कपड़े इन दोनों में परिमाण का तारतम्य जो कि प्रत्यक्षसिद्ध है नहीं बन पायेगा। क्योंकि उक्त दोनों ही कपड़े महान् तो होंगे ही। सारांश यह कि उत्कर्ष और अपकर्ष के आधार पर महत्त्वगत तारतम्य न मानने पर कपड़ों को अलग-अलग पाँच हाथ का और दस हाथ का कहा ही नहीं जा पायेगा, या दोनों को पाँच हाँथ का या दस हाथ का कहा जायेगा। क्योंकि किसके आधार पर उन दोनों का पृथक्करण होगा? महान् तो उक्त दोनों कपड़ों को मानना ही होगा अन्यथा दोनों का प्रत्यक्ष कैसे हो पायेगा? परिमाण चतुष्ट्ववादी को तो प्रत्यक्ष के प्रति महत्त्व को कारणता मान्य ही हैं। महत्त्व परिमाण मात्र को मान्यता देने पर दीर्घत्व, ह्रस्वत्व, अणुत्व और उत्कर्ष एवं अपकर्ष के आधार पर इनके किए जाने वाले प्रभेद अमान्य होने के कारण महान् लाघव होगा। यह बात सही है कि आपत्ति या अनुपत्ति की सम्भावना आ पड़ने पर लाघव गौरव का विचार नहीं किया जाता है, परन्तु महत्त्व मात्र को परिमाण मानने पर कोई आपत्ति या अनुपत्ति दी नहीं जा सकती। क्योंकि यह छोटा है और अन्य उससे बड़ा है इत्यादि परिमाण सम्बन्धी प्रतीतियाँ महत्त्वगत रूप में मान्य उत्कर्ष और अपकर्ष के आधार पर भलीभाँति सम्पादित

होंगी यह बात बतलायी जा चुकी है। एक चावल और मकड़ी तन्तु का जो दृष्टान्त परिमाण द्वित्ववादी के विरोध में परिमाण-चतुष्ट्ववादी की ओर से उपस्थित किया गया है वहाँ भी प्रकृत परिमाणकत्व-सिद्धान्त के अनुसार किसी प्रकार का असामंजस्य नहीं उपस्थित होता। क्योंकि भूयोवयव संयोगप्रयुक्त महत्त्वातिशय चावल में ही होगा लम्बायमान मकड़ी तन्तु में नहीं। इसलिए प्रत्यक्षगत अथवा विषयगत अनुभूयमान-स्पष्टता एवं अस्पष्टता भलीभाँति उत्पन्न होगी। अत: महत्त्वमात्र ही परिमाण मानना चाहिए। यदि इस पर यह कहा जाय कि 'अनेक बड़े डंडों के अन्दर जो अधिक लम्बा हो उसे ले आओ' इस प्रकार की प्रतीति कभी-कभी लोगों को हुआ करती है। यह प्रतीति प्रकृत रूप से मान्य परिमाणैकत्व-सिद्धान्त में बन नहीं पायेगी। क्योंकि वाक्य में प्रयुक्त सप्तम्यन्त पदार्थ और प्रथमान्त इन दोनों का भेद नियमत: हुआ करता है। तो इसके सम्बन्ध में कहना यह है कि उक्त प्रतीति से भी इस परिमाणैकत्व-सिद्धान्त का ही समर्थन होता है। क्योंकि 'बड़ों के अन्दर जो दीर्घ है' ऐसा कहने पर यह स्पष्ट प्रतिभात होता है कि वह दीर्घ वस्तु भी बड़ी ही है। फलितार्थ यह निकलता है कि दीर्घता महत्त्व विशेष ही है अन्य कुछ नहीं। रही बात सप्तम्यन्तार्थ और प्रथमान्तार्थ की तो इन दोनों में नियमत: भेदभाव नहीं होता है। क्योंकि यदि यह कहा जाय कि 'ब्राह्मणों के अन्दर वृहस्पतिसवी को ले आओ' तो वहाँ सप्तम्यन्तपद के अर्थ और प्रथमान्त पद के अर्थ इन दोनों में पारस्परिक भेद नहीं रहेगा। क्योंकि वृहस्पतिव नामक यज्ञ-विशेष का अधिकार नियमत: ब्राह्मण को ही प्राप्त होने के कारण वृहस्पतिसवी व्यक्ति को ब्राह्मण से भिन्न नहीं कहा जा सकता।

कुछ लोग जगह-जगह पर भारविशेष-स्वरूप गुरुत्व अर्थ में भी परिमाण शब्द का प्रयोग करते पाये जाते हैं परन्तु उस प्रयोग को गौण प्रयोग मानना चाहिए।

चार्वाक मत में पृथकत्व गुण नहीं

कुछ अन्य दार्शनिकों ने पृथकत्व को भी उक्त अन्य गुणों के समान एक स्वतंत्र गुण माना है।[१६५] इस गुण को वे संख्या का अनुगामी मानते हैं। तात्पर्य यह कि एकत्व, द्वित्व आदि रूप में संख्या के जितने प्रभेद, अन्तिम संख्या परार्द्धपर्यन्त उनके सिद्धान्त में मान्य होते हैं पृथकत्व के भी उतने प्रभेद मान्य हैं। परन्तु इस सिद्धान्त के अन्दर द्विपृथक्त्व, त्रिपृथक्त्व आदि पृथक्त्व के प्रभेदों की मान्यता का तो प्रश्न ही नहीं उठता। क्योंकि संख्या के विवेचन के अवसर पर सिद्ध किया जा चुका है कि संख्या केवल एकत्व ही है द्वित्व, त्रित्व आदि नहीं। तदनुसार द्विपृथक्त्व, त्रिपृथक्त्व आदि तो स्वत: मान्य नहीं हो पाते। तदतिरिक्त यह कि एक-पृथक्त्व भी यहाँ मान्य नहीं है। यदि कहा जाय कि 'यह घड़ा इस कपड़े से पृथक् है' ऐसी प्रतीति प्रामाणिक लोगों को भी होती ही है और तदनुसार वे उक्त प्रकार वाक्य प्रयोग करते ही हैं। ऐसी परिस्थिति में यह कथन कैसे

(१६५) पृथग्व्यवहारासाधारणं कारणं पृथक्त्वम्। — *तर्कसंग्रह।*
अस्मात्पृथगिदंनेति प्रतीतिर्हि विलक्षणा। — *भाषा परिच्छेद।*

संगत कहा जा सकता कि पृथक्त्व गुण नहीं है? पृथक्त्व को गुण न मानने पर आखिर 'पृथक्' पद से कौन कहा जायेगा? उक्त वाक्य के अन्दर 'पृथक्' इस पद को निरर्थक तो माना नहीं जा सकता। क्योंकि तब 'घड़ा कपड़े से है' इतने ही पद सार्थक रह जायेंगे। फलतः निराकांक्ष न हो सकने के कारण उन उक्त पदों को वाक्य भी नहीं कहा जा पायेगा। क्योंकि उतना सुनने पर भी 'क्या' यह आकांक्षा श्रोता को बनी ही रहेगी? तो इसके उत्तर में वक्तव्य यह है कि 'पृथक्' इस पद का अर्थ 'भिन्न' यह मान्य है। फलतः पृथक्त्व भी द्वित्व आदि संख्याओं की तरह भेदात्मक अन्योन्याभाव स्वरूप ही होता है स्वतंत्र गुणात्मक एक प्रकार भाव नहीं। सारांश यह कि 'यह इससे भिन्न है' और 'यह इससे पृथक् है' ये दोनों वाक्य एकार्थक हैं। क्योंकि उक्त दोनों प्रकार बोध एवं वाक्य प्रयोग एक ही परिस्थिति से होते हुए पाये जाते हैं। जिन दार्शनिकों ने पृथक्त्व को एक स्वतंत्र गुण माना है उन्होंने इसके लिए यह युक्ति उपस्थित की है कि पृथक्त्व और अन्योन्याभाव इन दोनों को एक इसलिए नहीं कहा जा सकता कि पृथक्त्व को विषय करने वाली प्रतीति होती है 'यह इससे पृथक् है' यह। और अन्योन्याभाव को विषय करने वाली प्रतीति होती है 'यह यह नहीं है'। इन दो प्रतीतियों के आकारों में अन्तर स्पष्ट है अतः पृथक्त्व और अन्योन्याभाव इन दोनों को एक नहीं माना जा सकता। इस कथन का सारांश यह है कि 'वह यह नहीं है' ऐसा यदि वाक्य प्रयुक्त होता है तो वहाँ दोनों ही 'यह' पद प्रथमान्त ही रहते हैं और यदि 'यह इससे भिन्न है' इस प्रकार वाक्य प्रयुक्त होता है तो वहाँ 'यह' यह पद तो होता है प्रथमान्त किन्तु 'इससे' यह पद होता है पंचम्यन्त प्रथमान्त नहीं। यह प्रायोगिक वैलक्षण्य अवश्य ही अर्थ वैलक्षण्य पर आधारित होना चाहिए। वह अर्थ वैलक्षण्य 'यह' और 'इससे' इन दोनों के अर्थों से अवश्य ही अन्य होना चाहिए। क्योंकि इन दो पदों के अन्दर प्रत्ययगत वैलक्षण्य के सम्बन्ध में प्रश्न ही उपस्थित है प्रकृति के अर्थ में कोई अन्तर है नहीं जिसे उक्त वैलक्षण्य का प्रयोजन माना जा सके। इसलिए अगत्या 'पृथक्' और 'नहीं' इन्हीं पदों के अर्थगत वैलक्षण्य का कुछ प्रयोजन मानना होगा। इसलिए 'पृथक्' इस पद के अर्थ पृथक्त्व और उक्त 'नहीं' इसके अर्थभेद को एक नहीं माना जा सकता।

परन्तु यह उन पृथक्-पृथक्त्ववादी दार्शनिकों का कथन उचित इसलिए नहीं कहा जा सकता कि 'यह यह नहीं है' और 'यह इससे भिन्न है' इन दो प्रतीतियों एवं इसके अनुरूप किये जाने वाले वाक्य-प्रयोगों में कोई वैषयिक आर्थिक वैलक्षण्य वे दार्शनिक मानेंगे या नहीं? इस प्रश्न के उत्तर में उन्हें अवश्य यही कहना होगा कि नहीं, इन दोनों प्रतीतियों एवं वाक्यों में वैषयिक तथा आर्थिक कोई वैलक्षण्य नहीं है। क्योंकि 'घट पट नहीं है' और 'घट पट से भिन्न है' इन दोनों ही प्रतीतियों के अन्दर घट में रहने वाला पट का अन्योन्याभावात्मक भेद ही विषय होता है अन्य कुछ नहीं। उनकी इस स्वीकृति के अनन्तर उनसे पूँछना चाहिए कि 'यह नहीं है' और 'यह इससे भिन्न है' इन

दोनों प्रतीतियों एवं वाक्यों के अन्दर आकारगत अन्तर प्रतीत होने पर भी यदि विषयगत और अर्थगत अन्तर होता नहीं, तो 'यह इससे पृथक् है' और 'यह यह नहीं है' इन दोनों प्रतीतियों एवं वाक्यों के विषय और अर्थ में अन्तर के नियम पर इतना आग्रह वे क्यों करते? रही बात पृथक् और 'न' इन दो पदों की। तो ये दोनों पद 'घट' और 'कलश' इन दो पदों की तरह नहीं हैं, पर्यायवाची नहीं हैं यह निर्णय वे कैसे कर सकते? जबकि दोनों प्रतीतियों के विषय और वाक्यों के अर्थ में कोई अन्तर नहीं किया जा सकता है? यह जो वे लोग अपने पक्ष की पुष्टि के लिए कहते हैं कि 'घड़े का रूप घड़े से पृथक है' ऐसी प्रतीति लोगों को होती नहीं किन्तु यह प्रतीति होती है कि 'घड़े का रूप घड़ा नहीं है' इसलिए पृथक्त्व और अन्योन्याभाव इन दोनों की एकता मान्य नहीं ठहराई जा सकती। सो यह उनका कथन उनके आत्यन्तिक-धर्मधर्मिभेद-सिद्धान्त की मान्यता के अनुसार भले ही उचित हो पाये किन्तु इस भूताद्वैत सिद्धान्त को सर्वस्व समझने वाले चार्वाकियों के निकट वह दो कौड़ी का भी नहीं सिद्ध किया जा सकता। क्योंकि यहाँ जबकि घट भी एक समवाय ही माना जाता है और रूप भी उस समवाय के अन्दर ही सदस्यताक्रान्त होने के कारण घट से भिन्न नहीं कहा जा सकता है, तो तत्त्वतः घड़े के रूप को घड़े से भिन्न कैसे कहा जा सकता? इसलिए तात्त्विक दृष्टिकोण से 'रूप घड़ा नहीं है' यह प्रतीति या ऐसा वाक्य-प्रयोग मान्य नहीं है। काचित्कभाव से यदि ऐसी प्रतीत होती है तो उसे आभ्युपगमिक दृष्टिकोण का फल समझना चाहिए। अर्थात् ज्ञाता का मन केवल रूपात्मक घटांश की ओर या अरूप, अविशिष्ट घटांश की ओर आकृष्ट होती है। उसी के आधार पर वह घट के रूप और अरूप अंश को अत्यन्त भिन्न समझ बैठता है उसी का फल यह होता है कि 'रूप घड़ा नहीं है' इस प्रकार प्रतीत एवं वाक्य-प्रयोग किया करता है। सारांश यह कि उक्त प्रतीति एवं वाक्य प्रयोग प्रकृत-सिद्धान्त के अनुसार प्रामाणिक नहीं है। इसलिए उसे प्रमाण रूप से उपस्थित कर तदनुरूप वस्तु की सत्ता नहीं मानी एवं मनायी जा सकती है। इसलिए पृथक्त्व को भेदात्मक अन्योन्याभाव ही मानना उचित है। उससे अतिरिक्त उसे गुणस्वरूप नहीं कहा जा सकता। वह गुण नहीं भेदात्मक अन्योन्याभाव ही है।

चार्वाक मत और संयोग

अब विवेच्य है संयोग।[१६६] यह भी एक प्रकार गुण है और समवायात्मक अद्वैत का एक सदस्य रूप में यहाँ मान्य है। यह कह देने का प्रयोजन यह है कि यहाँ भूताद्वैत मान्य होने के कारण लोग यह कह बैठ सकते हैं कि तब तो यहाँ संयोग-गुण मान्य नहीं हो सकता। क्योंकि संयोग नियमतः सर्वसम्मत रूप में किन्हीं दो का ही हो सकता है। किसी से और कोई जुटता है उस जुटने को ही अपर शब्द में संयोग कहा जाता है। किसी प्रकार अद्वैत की मान्यता पक्ष में जब दो होते ही नहीं तब उक्त प्रकार जुटना कैसे सम्भव

(१६६) संयोगः संयुक्तव्यवहारहेतुर्गुणः। स च द्वयाश्रयोऽव्याप्यवृत्तिश्च। स च त्रिविधः अन्यतर-कर्मजः, उभय-कर्मजः, संयोगश्चेति। – *तर्कभाषा।*

कहा जा सकता? इस संयोग को अमान्यता भी किसी प्रकार नहीं दी जा सकती। क्योंकि स्वाभाविक हो या अस्वाभाविक समस्त जागतिक परिवर्तन इस संयोग गुण के ऊपर ही आधारित है। पूर्वापरीभाव में आबद्ध उत्पाद और विनाश का ही सम्मिलित नाम है परिवर्तन। कोई भी उत्पाद या विनाश क्यों न हो वह विभिन्न भौतिक संघटन के अतिरिक्त और कुछ होता नहीं यह प्रत्यक्षसिद्ध है। और संघटन संयोग ही अतः संयोग यहाँ विशेष रूप से विवेच्य का आसन ग्रहण करता है। संयोग नियमतः क्रियाजन्य होता है। जिस वस्तु में क्रिया उत्पन्न होती है वह वस्तु उस चलनात्मक क्रिया के कारण पूर्व-संयुक्त अन्य वस्तु से विभक्त हो उठती है। अर्थात् उस क्रियाशील वस्तु में विभाग नामक गुण उत्पन्न हो जाता है। उस विभाग का काम यह होता है कि उस क्रियाशील वस्तु में जो अन्य वस्तु के साथ पूर्व-संयोग रहता है, वह उसे नष्ट कर देता है। तब वह कम्पनशील वस्तु किसी अन्य वस्त्वन्तर से संयुक्त हो जाती है। अर्थात् उस क्रियाशील वस्तु में संयोग गुण उत्पन्न होता है। ऐसा कोई भी भूत नहीं दिखलाया जा सकता जिसमें कभी-न-कभी संयोग न उत्पन्न होता हो। सूक्ष्म भौतिक कणों की ओर ध्यान दिया जाय तो यह अवश्य मानना होगा कि प्रत्येक भूत सर्वदा किसी न किसी से संयुक्त होता ही है। नैयायिक और वैशेषिक लोग भी सभी द्रव्यों को किसी न किसी से सर्वदा संयुक्त मानते हैं। परन्तु इस परिस्थिति की मान्यता उनके मतः में व्यापक-द्रव्य-रूप से मान्य आकाश काल दिक् और आत्मा इन द्रव्यों के साथ होने वाले संयोग के कारण भी होता है। परन्तु चार्वाक सिद्धान्त में वैसा इसलिए नहीं माना जा सकता कि यहाँ उक्तत आकाश आदि स्वतंत्र वस्तु रूप में मान्य नहीं हैं यह बात बतलाई जा चुकी है। किन्तु सतत् चलनशील सूक्ष्म-भौतिक-कणों से संयोग सभी स्थिर वस्तुओं को भी होता ही रहता है, इस दृष्टिकोण से यहाँ यह मानना है कि प्रत्येक भूत सतत् संयुक्त हुआ करता है। इस संयोग गुण को नैयायिक एवं वैशेषिकों ने कर्मज और संयोगज इन दो प्रभेदों में प्रथमतः विभक्त माना है। कर्मज-संयोग का परिचय ऊपर दिया गया है। द्वितीय संयोगज-संयोग के सम्बन्ध में उन लोगों का कहना यह है कि पुस्तक के साथ हाथ का संयोग होने पर पूर्ण शरीर के साथ भी पुस्तक के साथ संयोग होता है। वह पुस्तक और शरीर के बीच होने वाला संयोग होता है - संयोगज-संयोग। उसकी मान्यता के समर्थन में वे लोग मुक्ति यह उपस्थित करते हैं कि क्रिया अपने आश्रय में ही संयोग उत्पन्न करती है। ऐसी परिस्थिति में हाथ में होने वाली क्रिया से किसी अन्य वस्तु के साथ हाथ का ही संयोग हो सकता है शरीर का नहीं। हाथ में होने वाली क्रिया को शरीर की क्रिया इसलिए नहीं कहा जा सकता कि शरीर और हाथ ये दोनों दो चीजें होती हैं। अतः अगत्या यही मानना पड़ेगा कि हाथ में होने वाली क्रिया से तो हाथ और पुस्तक इन दोनों का एक संयोग उत्पन्न होता है, और उस संयोग से शरीर और पुस्तक इन दोनों का एक अन्य संयोग उत्पन्न होता है। अतः प्रथम हस्त-पुस्तक-संयोग होता है कर्मज और द्वितीय शरीर-पुस्तक-संयोग होता है संयोगज। इस संयोगज-संयोग

की मान्यता का रहस्य गम्भीरभाव से चिन्ता करने पर यह प्रतीत होता है कि अति प्राचीन कोई अनुमानैक-प्रमाण्यवादी अथवा अवयवी को मान्यता न देने वाले परमाणु पुंजवादी बौद्धों की ओर से जो नैयायिकों एवं वैशेषिकों के समक्ष यह प्रश्न उपस्थित किया गया कि वृक्ष आदि की बुद्धि को किसी प्रकार चाक्षुष-प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता। क्योंकि प्रत्यक्ष के प्रतिकारण होता है इन्द्रिय का सन्निष्कर्ष। आँख का जब कभी सन्निकर्ष होगा तो नियमत: देखने वाले के सामने पड़ने वाले वृक्षावयव के साथ ही। समग्र वृक्ष के साथ द्रष्टा की आँख का संयोग सम्भव नहीं। क्योंकि द्रष्टा के पुरोवर्ती वृक्षावयव के द्वारा वृक्ष का परवर्ती एवं मध्यवर्ती भाग नियमत: व्यवहित रहेगा, ढका ही रहेगा। जिसमें आँख का संयोग नहीं होगा। उसका प्रत्यक्ष यदि आँख से होने वाला माना जायेगा तो फिर प्रात्यक्षिक विषयता का कोई नियम नहीं रह पायेगा। यहाँ तक कि आँख बन्द रहने के समय भी सभी वस्तुओं का चाक्षुष-प्रत्यक्ष न्यायमत में होने लगेगा, जिसे मान्य नहीं कहा जा सकता। ऐसी परिस्थिति में वृक्ष आदि किसी भी अवयवी का चाक्षुष आदि प्रत्यक्ष कैसे माना जा सकता है? ऐसा आक्षेप नैयायिकों और वैशेषिकों के समक्ष उपस्थित करके पुंजवादी बौद्ध, उक्त दार्शनिकों के द्वारा पुंजवाद के विपरीत उपस्थापित वृक्षादि के प्रत्यक्ष की अनुपपत्ति का उत्तर देना चाहते थे। क्योंकि बौद्धों के इस कथन से उनका अभिप्रेत अर्थ यह निकल आता है कि वृक्ष आदि अवयवियों का प्रत्यक्ष तो होता ही नहीं, फिर तुम लोग किसी अनुपपत्ति दिखलाकर हमें ये कहते कि परमाणु-पुंजवाद उस अनुपपत्ति के भय से मान्य नहीं हो सकता? बौद्धों के इस आशय को ताड़कर सम्भवत: नैयायिकों एवं वैशेषिकों ने संयोगज-संयोग को मान्यता दी। क्योंकि इसे मान लेने पर बौद्धों का यह कथन कट गया कि समग्र वृक्ष के साथ आँख का संयोग होता नहीं। क्योंकि आँख का कर्मज संयोग पुरोवर्ती वृक्षांश मात्र के साथ संयोग होने पर भी उक्त प्रक्रिया के अनुसार आँख का संयोगज-संयोग तो अनायास वृक्ष आदि अवयवियों का कहा जा सकता है। इसलिए बौद्ध कैसे कह सकते कि पूरे वृक्ष के साथ आँख आदि इन्द्रियों का संयोग न हो सकने के कारण उसका प्रत्यक्ष होता ही नहीं। परन्तु प्रकृत-चार्वाक सिद्धान्त में यह संयोगज-संयोग मान्य नहीं है क्योंकि इस सिद्धान्त में न तो आँख आदि इन्द्रियाँ मान्य हैं और न अवयव और अवयवी इन दोनों के बीच न्यायवैशेषिक सिद्धान्त की तरह अत्यन्त भेद। मन ही केवल यहाँ इन्द्रिय है। आँख आदि विभिन्न सूत्ररूप हैं। विषय का प्रभाव इन सूत्रों के सहारे मस्तिष्कस्वरूप मन पर पड़ता है जिससे शरीरव्यापी अस्पष्ट ज्ञान उस विषय के सम्बन्ध में स्पष्ट हो उठता है। इत्यादि बातें प्रत्यक्ष की प्रक्रिया में पहले वर्णित हो चुकी हैं। अत: तदनुसार बौद्ध और नैयातिक वैशेषिकों के बीच सम्भावित वर्णित आक्षेप और उसका समाधानस्वरूप कथनोपकथन यहाँ बिल्कुल स्थान नहीं पाता है। साथ ही यहाँ अवयव और अवयवी अत्यन्त भिन्न नहीं मान्य हैं इसलिए यह भी नैयायिकों और वैशेषिकों का कथन कारगर नहीं हो पाता कि अवयव की क्रिया और अवयवी की क्रिया एक मान्य नहीं

है। क्योंकि जब अवयव और अवयवी इन दोनों को भिन्न माना ही नहीं जा रहा है तब स्वतः क्रिया दोनों की हो ज़ाती है। सम्भव है कुछ लोग यहाँ यह कहने के लिए उपस्थित हों कि 'अवयव' और 'अवयवी' ये दोनों आपस में भिन्न होने वाले शब्द उक्त अलग-अलग अर्थों को बतलाने के लिए प्रयुक्त हो रहे हैं, तब कैसे यह कहा जा रहा है कि अवयव और अवयवी जो कि क्रमशः उन दोनों के वाच्य हैं आपस में भिन्न नहीं हैं, अभिन्न हैं? परन्तु यह उनका कथन इसलिए उचित नहीं कहा जा सकता अवयव और अवयवी ये प्रयुक्त होने वाले शब्द अंश और अंशियों में भेद बतलाने के लिए नहीं प्रयुक्त हो रहे हैं किन्तु वहाँ तादात्म्यात्मक अभेद न होकर समवायात्मक अभेद है, उसके प्रख्यापनार्थ। द्विविध अभेद की चर्चा पहले की जा चुकी है। इस विस्तृत विचार से मैं समझता हूँ यह पूर्ण स्पष्ट हो गया होगा कि संयोग कर्मज ही मान्य है संयोग नहीं।

और यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य यह है कि संयोगज-संयोग के उदाहरण के रूप में जिस कायपुस्तक संयोग आदि को नैयायिक और वैशेषिक लोग उपस्थित करते हैं वह ठीक उसका उदाहरण हो नहीं पाता है। क्योंकि हस्तपुस्तक-संयोग को कर्मज मान लेने पर ही उन लोगों के भी मत से उक्त कायपुस्तक-संयोग संयोगज-संयोग का उदाहरण बन सकता है। परन्तु गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर प्रथम हस्तपुस्तक-संयोग को भी कर्मज कैसे कहा जा सकेगा? क्योंकि उस प्रथम संयोग को जिस प्रकार पुस्तक और पूरे काय का अर्थात् शरीर का संयोग नहीं कहा जा सकता उसी प्रकार हाथ का पूरे पुस्तक के साथ भी होने वाला संयोग तो नहीं कहा जा पाता? क्योंकि हाथ का संयोग पुस्तक के अन्तर्वर्ती समग्र पत्रों से तो होता नहीं? ऐसी परिस्थिति में प्रथम कर्मज संयोग रूप से हस्तपुस्तक-संयोग कैसे गृहीत हो पायेगा? जैसा कि उन दार्शनिकों ने उसका ग्रहण किया है।

दूसरी एक बात और भी ध्यान देने योग्य यह है कि नैयायिकों और वैशेषिकों ने जो यह कहा है कि क्रिया अपने आश्रय में ही संयोग को उत्पन्न करती है। यह उनका कथन प्रत्येक संयोगस्थल में उनके मतानुसार व्यभिचारी सिद्ध होता है। क्योंकि अन्यतर-कर्म-संयोग वे लोग मानते ही हैं। वहाँ क्रिया तो एक में ही होती है किन्तु उसका कार्यभूत संयोग क्रियाशीलभूत एवं क्रियारहित भूत दोनों में एक ही उत्पन्न होने वाला मान्य है। जबकि अन्यभूतमत क्रिया से अन्य निष्क्रिय में भी संयोग माना जा रहा है, तब उनके सिद्धान्त के अनुसार अवयव और अवयवी में पारस्परिक भेद की मान्यता के होते हुए भी हस्तगत क्रिया से शरीर में संयोग क्यों न माना जा पायेगा? और ऐसा स्वीकार कर लेने पर संयोगज-संयोग की मान्यता के लिए उदाहरण-स्थल के सूप में उसका उल्लेख कैसे संगत कहा जा सकता? अतः संयोगज-संयोग मान्य नहीं है। इसलिए संयोग का उक्त विभाजन भी सही नहीं कहा जा सकता। हाँ, संयोग का यह विभाजन सही कहा जायेगा कि संयोग है द्विविध नित्य संयोग और अनित्य संयोग। और अनित्य संयोग भी फिर होता

है द्विविध, यथा एक कर्मज और उभय कर्मज। नित्य व्यापक कोई आकाश आदि यहाँ मान्य ही नहीं है कि वैसे दो किन्हीं का संयोग नित्य संयोग कहला पायेगा। परन्तु पृथिवी आदि चारों भूतों के सर्वाधिक क्षुद्रकण सदा परस्पर में संयुक्त रहते हैं, यह बात पहले कही जा चुकी है। तदनुसार उन चातुर्भौतिक कणों के पारस्परिक संयोगों को नित्य संयोग समझना चाहिए और अन्य सभी संयोगों को नियमतः अनित्य। एक कर्मज वह संयोग होता है, जो कि दो संयुज्य मानों के अन्दर किसी एकमात्र में होने वाली क्रिया से ही उत्पन्न होता है। जैसे उक्त हस्तपुस्तक-संयोग होता है एक कर्मज। क्योंकि उस संयोग की सम्पादक क्रिया केवल हाथ में ही होती है। पुस्तक पड़ी रहने पर भी हाथ जाकर उससे जुट जाता है। वृक्ष की परस्पर विपरीताभिमुख चलनशील दो शाखाओं का संयोग होता है उभय-कर्मज। क्योंकि वहाँ दोनों शाखाओं के बीच होने वाला संयोग दो शाखाओं के अन्दर एक-एक में उत्पन्न होने वाली दो क्रियाओं से उत्पन्न होता है। इस प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए।

चार्वाक-मत और विभाग

अब विभाग [१६७] को समझा जाय। इसकी भी उत्पत्ति नियमतः क्रिया से होती है। यह बात अव्यवहित पूर्व विवेचन में बतलाई जा चुकी है। कुछ लोग यहाँ यह सन्देह उपस्थित कर सकते हैं कि क्रिया से जबकि विभाग उत्पन्न होकर ही संयोग नियमतः उत्पन्न होता हुआ पाया जाता है, तब उत्पाद के पूर्वापरिभाव के अनुसार पहले विभाग का ही विवेचन होना उचित प्रतीत होता है। फिर वैसा न करके संयोग-विवेचन के अनन्तर विभाग का विवेचन क्यों किया जा रहा है? तो इसके सम्बन्ध में ज्ञातव्य यह है कि संयोग जिस प्रकार विभाग को पूर्वतः और परतः भी आक्रान्त करता है, विभाग इस प्रकार नियमतः संयोग को आक्रान्त नहीं कर पाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक विभक्त होने वाला भूत विभाग के पहले एवं पीछे भी अवश्य भूनान्तर से संयुक्त होता है। परन्तु प्रत्येक संयुक्त होने वाला भूत उक्त प्रकार से आगे और पीछे भी नियमतः भूतान्तर से विभक्त होगा ही यह नहीं कहा जा सकता। सारांश यह कि संदंश-न्याय से विभाग संयोगद्वय का अन्तःपाती नियमतः होता है। किन्तु संयोग विभागद्वय का अन्तःपाती नियमतः नहीं होता। इसके अनुसार संयोग विभाग से प्रबल सिद्ध होता है। अतः संयोग विवेचन का प्राथम्य औचित्य प्राप्त है। दूसरी एक बात और भी यह इस सम्बन्ध में ध्यान में रखने की है कि विभाग भी क्रिया का संयोग के समान ही कार्य है, यह बात सही है फिर भी क्रिया का चरमलक्ष्य संयोग ही हुआ करता है, इसीलिए जब तक क्रियाश्रय भूत का किसी अन्य भूत से संयोग उत्पन्न नहीं हो जाता, तब तक क्रिया कभी नहीं मरती। इसलिए भी संयोग को महत्ता प्राप्त होती है और तदनुरूप संयोग विवेचन का प्राथम्य

---

(१६७) विभागोऽपि विभक्तप्रत्ययहेतुः संयोगपूर्वकोद्व्याश्रयः।
स च त्रिविधोऽन्यतरकर्मजः, उभयकर्मजः, विभागतश्चेति॥ – *तर्कभाषा।*

उचित ही है। तीसरी बात यह भी कही जा सकती है कि संयोग जिस प्रकार आरम्भानुकूल दृष्टिगोचर होता है अर्थात् भौतिक निर्माण कार्य के लिए साक्षात् भाव से अपेक्षित होता है विभाग उस प्रकार भौतिक निर्माण में तादात्म्य प्रदान करने वाला नहीं पाया जाता। क्वचित् उत्पाद-कार्य का सम्पादक होने पर भी वह अधिकतर विनाश का ही सम्पादक बनता है। निर्माण और विनाश इन दोनों के अन्दर लोगों की अपेक्षाभरी दृष्टि स्वभावत: निर्माण की ही ओर हुआ करती है, यह सर्वविदित ही है। तदनुरूप भी संयोग का विवेचन प्राथम्य का अधिकारी होता है। प्रकृत सिद्धान्त में जिस प्रकार संयोगज-संयोग को अमान्य ठहराया गया है उस प्रकार विभागज विभाग को भी यहाँ अमान्य समझना चाहिए। सारांश यह कि हस्त-पुस्तक-विभाग और काय-पुस्तक-विभाग ये दोनों अत्यन्त विभिन्न नहीं हैं। हस्त-पुस्तक-विभाग भी एक प्रकार का काय-पुस्तक-विभाग ही है। अत: यह नहीं कहा जा सकता कि हस्त-पुस्तक-विभाग काय-पुस्तक-विभाग का उत्पादक है, इसलिए काय-पुस्तक-विभाग विभागज-विभाग है। कर्मजता आदि का विचार यहाँ भी संयोग विवेचन में विहित विचार के समान ही समझ लेना चाहिए। इस विभागगुण के सम्बन्ध में नैयायिकों और वैशेषिकों का कहना यह है कि विभाग दो प्रकार हैं कर्मज और विभागज। हाथ से पुस्तक का विभाग होता है कर्मज विभाग। क्योंकि हाथ में क्रिया होने पर उक्त हस्तपुस्तक-विभाग उत्पन्न होता है। विभागज-विभाग को उन लोगों ने दो प्रभेदों में विभक्त माना है। उनका कहना है कि द्वितीय विभाग कारणमात्र विभाजन और कारणाकारण विभागज इस प्रकार दो होते हैं। उक्त हस्तपुस्तक-विभाग से होने वाला शरीर-पुस्तक-विभाग होता है कारणाकारण-विभागज-विभाग। क्योंकि हाथ है शरीर का कारण और पुस्तक अकारण। इन दोनों के विभाग से कार्याकार्य-विभागस्वरूप शरीर-पुस्तक-विभाग उत्पन्न होता है। शरीर-पुस्तक विभाग को कार्याकार्य विभाग इसलिए कहा जाता है कि शरीर है हाथ कार्य और पुस्त अकार्य। द्वितीय विभागज-विभाग होता है कारणमात्र विभागज। एक घड़े के अवयव भूत कपाल में क्रिया होकर कपालद्वय का विभाग होने पर कपाल के साथ होने वाला आकाश का विभाग होता है कारणमात्र-विभागज-विभाग। यह इसलिए कि दोनों कपाल एक ही घड़े के कारण होते हैं। विभागज-विभाग को न मानने पर उन लोगों ने दोष यह ठहराया है कि विकस्वर कमलकली का विनाश आपन्न होगा। उनके इस कथन का तात्पर्य यह है कि विभागज-विभाग, स्थल में कर्मज प्रथम विभाग होता है आरम्भक-संयोग का विरोधी विभाग। क्योंकि दो कपालों के बीच विभाग हो जाने पर, पूर्व-संयोग, जिससे कि घड़ा उत्पन्न हुआ होता है, नष्ट हो जाता है और द्वितीय अर्थात् विभागज-विभाग, जैसे कपालाकाश-विभाग होता है अनारम्भ-संयोग का विरोधी विभाग। क्योंकि कपाल और आकाश इन दोनों का विभाग होने पर जिस कपाल-आकाश संयोग का नाश होता है वह संयोग किसी द्रव्य का आरम्भक होता नहीं। यदि विभागज-विभाग नहीं माना जायेगा तो उक्त द्विविध विभागों को, जैसे कपालकपाल

विभाग और कपालाकाश विभाग इन दोनों को एक ही कर्म से उत्पन्न होने वाला मानना होगा। अर्थात् आरम्भक संयोग के विरोधी विभाग और अनारम्भक संयोग के विरोधी विभाग, दोनों की उत्पत्ति एक कर्म से माननी होगी और ऐसा मानने पर उक्त कमलकली के विनाश की आपत्ति इसलिए होगी कि उस कली के अग्रभाग और निम्नभाग दोनों जगह विद्यमान कमलदलों के संयोग द्विविध होने के कारण, दोनों स्थलों में होने वाले विभाग भी दो होंगे। इसीलिए अग्रभागीय दल-विभाग तो प्रतिदिन सूर्य-रश्मि के सम्पर्क से हुआ करता है, किन्तु निम्नवर्ती दलीय-विभाग एक ही बार होता है, जबकि वह कमल का फूल जर्जर होकर नष्ट होता है। उन दोनों विभागों के अन्दर निम्नवर्ती दलीय-विभाग होगा। कपाल-कपाल-विभाग के समान आरम्भक संयोग का विरोधी विभाग। क्योंकि उस विभाग के होने पर आरम्भक तत्रत्य संयोग नष्ट हो जायेगा और अग्रवर्ती उक्त दलीय-विभाग होगा कपालाकाश-विभाग के समान अनारम्भक-संयोग का विरोधी विभाग। क्योंकि अग्रभागीय उक्त दल संयोग को अनारम्भक इसलिए मानना होगा कि प्रतिदिन सूर्य किरण के सम्पर्क से खिलते समय विभाग होने के कारण अग्रभागीय दल संयोगों के बारम्बार नष्ट होते हुए भी कमल फूल का विनाश तब तक नहीं होता है, जब तक निम्नवर्ती उक्त आरम्भक दलीय-संयोग नष्ट नहीं हो जाता वहाँ दलों का विभाग होकर। ऐसी परिस्थिति में एक कर्म को कपाल-कपाल विभाग और कपालाकाश विभाग दोनों का विनाशक मानने पर एक कर्म को उक्त कमल-पुष्पगत दोनों विभागों का भी उत्पादक मानना होगा। और ऐसा होने पर सूर्योदय के समय किरण-सम्पर्क से अग्रभागीय दल-विभाग होने पर स्वतः दलीय निम्नभागों में भी विभाग हो जायेगा। क्योंकि दोनों विभागों-कारण, कर्म एकमान्य होने के कारण निम्नभागीय-दल-विभाग को कोई रोक नहीं सकता। कारण के रहने पर कार्य का होना उचित ही है। उक्त दार्शनिकों का कहना है कि परिस्थिति किन्तु ऐसी देखी नहीं जाती, अतः एक कर्म को आरम्भक-संयोग का विरोधी विभाग और अनारम्भक-संयोग का विरोधी विभाग इन दोनों का उत्पादक नहीं माना जा सकता। अतः कपाल-कपाल विभाग का उत्पादक-कर्म को मानना चाहिए, और कपालाकाश विभाग का उत्पादक उक्त कपाल-कपाल विभाग को। अतः विभागज-विभाग मान्य है। परन्तु इस चार्वाक सिद्धान्त में आकाश की मान्यता न होने के कारण कपालाकाश विभाग आदि कहा ही नहीं जा सकता, अतः उसे विभागज-विभाग के रूप में उपस्थित नहीं किया जा सकता। और काय-पुस्तक-विभाग को कर्मज मान लेने में कोई आपत्ति नहीं दिखलायी जा सकती। विकस्वर-कमलकली का विनाश इसलिए नहीं हो सकता कि रश्मि सम्पर्कप्रयुक्त-मृदुकम्पन दृढ़बन्धनात्मक निम्नवर्ती-संयोग को नष्ट नहीं कर पाता। संयोगगत-दृढ़ता उक्त विभाग का प्रतिबन्धक हो सकता है। साथ ही गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर नैयायिक और वैशेषिक उक्त कमलकली के निम्नवर्ती दलीय-बन्धन को संयोग भी नहीं कह सकते। क्योंकि संयोग उनके यहाँ विभागपूर्वक ही होता है। दलों के

निम्न भाग में जबकि उस कमल फल की उत्पत्ति के पूर्व विभाग का अस्तित्व नहीं माना जा सकता, तब कैसे उक्त दलीय निम्नवर्ती बन्धन को संयोग कहा जा सके? और यदि उसे संयोग नहीं कहा जाय तो निम्नवर्ती दलीय पृथग्भाव को आरम्भ-संयोग-विरोधी विभाग कहना तो दूर रहे, विभागमात्र भी नहीं कहा जा सकता। ऐसी परिस्थिति में विकस्वर-कमलकली के भंग प्रसंगात्मक दीयमान आपत्ति आँख में धूल झोंकने के समान ही कही जायेगी। अतः विभागज-विभाग नहीं मनाया जा सकता। फलतः विभाग को भी एक-कर्मज और उभय-कर्मज मात्र रूप में विभक्त समझना चाहिए। स्थिर पुस्तक के साथ, कम्पनशील हाथ का होने वाला विभाग होता है एक कर्मज और सटी हुई दोनों वृक्ष शाखाओं के बीच वायु-संयोग-प्रयुक्त चलन होने पर होने वाला विभाग होगा उभय-कर्मज। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिए।

चार्वाक-मत में परत्व और अपरत्व गुण नहीं

नैयायिकों और वैशेषिकों ने परत्व और अपरत्व को भी गुण माना है। परन्तु इस प्रकृत चार्वाकीय सिद्धान्त में उन्हें गुण नहीं माना जा सकता। सर्वप्रथम यह इसलिए कि काल और दिक् नामक स्वतंत्र द्रव्य का खण्डन जबकि विस्तारपूर्वक किया जा चुका है तब परत्व और अपरत्व इन दोनों की मान्यता गुण रूप में कैसे हो सकती? क्योंकि काल की मान्यता प्रयुक्त ही हो सकती है कालिक-परत्व और कालिक-अपरत्व की मान्यता। जबकि यहाँ काल ही स्वतंत्र रूप से मान्य नहीं है तब उस पर आधारित कालिक-परत्व एवं कालिक-अपरत्व-गुण मान्य नहीं ठहराया जा सकता। इसी प्रकार दिक् द्रव्य की यहाँ अमान्यता के कारण तदधीन-मान्यताक दैशिक-परत्व और दैशिक-अपरत्व भी गुण नहीं कहे जा सकते। सारांश यह कि न्याय-वैशेषिक मत में जब किसी अव्यापक द्रव्य के साथ होने वाले काल-संयोग उस द्रव्य में होने वाले कालिक-परत्व एवं कालिक-अपरत्व के प्रति असमवायिकारण माना जाता है और दिक् के साथ होने वाला संयोग मान्य होता है। दैशिक परत्व-अपरत्व के प्रति असमावायी कारण तब काल और दिक् की मान्यता के बिना कालिक या दैशिक परत्व एवं अपरत्व कैसे मान्य हो सकते? अतः परत्व एवं अपरत्व गुण भी मान्य नहीं है। यदि यह पूछा जाय कि फिर 'यह व्यक्ति इस व्यक्ति से ज्येष्ठ है और यह व्यक्ति इस व्यक्ति से कनिष्ठ' इस प्रकार ज्येष्ठता और कनिष्ठता का अनुभव किसके आधार पर हो सकेगा? और इसी प्रकार दैशिक परत्व और अपरत्व न मानने पर 'यह इससे दूर है और यह इससे निकट' इस प्रकार दूरत्व और निकटत्व का ज्ञान और तदनुरूप वाक्य प्रयोग कैसे हो पायेगा? तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि मध्यवर्ती क्रियागत बहुत्व के आबार पर ज्येष्ठता का और तादृश क्रियागत के आधार पर कनिष्ठता का बोध एवं वाक्य-प्रयोग स्वरूप व्यवहार सम्पन्न हो सकता है और मध्यवर्ती भूतगत

(१९८) परत्वं चापरत्वं च द्विविधं परिकीर्तितम्।
दैशिकं कालिकं चापि मूर्तएवं तु डशिकम्॥ – *भाषा-परिच्छेद।*

बहुत्व के आधार पर दूरत्व और मध्यवर्ती भूतगत अल्पत्व के आधार पर निकटत्व का बोध एवं वाक्य-प्रयोग ही उपपन्न हो सकता है। अतः परत्व और अपरत्व गुण नहीं मान्य हैं।

चार्वाक मत और बुद्धि

बुद्धि, उपलब्धि, ज्ञान आदि शब्द पर्यायवाची [१६६] हैं। न्याय के प्रवर्तक गौतम ने भी कहा कि ये अर्थान्तर नहीं हैं। इस ज्ञान का विस्तृत भाव से विवेचन 'प्रमाण', 'प्रमा', 'अप्रमा' आदि रूपों में किया जा चुका है। फिर भी इस पर कुछ और प्रकाश डालना अच्छा होगा। क्योंकि इसी के सम्बन्ध में चार्वाक-दर्शन का अपना मौलिक-निर्णय अन्य दार्शनिकों के एतत्सम्बन्धी मौलिक-निर्णय से विशेषतः टकराता है। इसलिए दर्शनान्तर से इस दर्शन को प्राप्त करने वाले विरोधों का सूत्रपात इस ज्ञान-सम्बन्धी मान्यता से ही होता है। यह बात यों तो विवेचन के द्वारा विस्तारपूर्वक बतलाई जा चुकी है कि चार्वाक सिद्धान्त अद्वैत भूत से अतिरिक्त ज्ञान की सत्ता नहीं मानता इसका कहना यह है कि प्रत्येक भौतिक कण चेतन है। भौतिक विशिष्ट परिस्थिति के कारण जब वह सुप्त भौतिक-चेतना जग उठती है तब वह संघटित भौतिक-पिण्ड चेतन प्राणी आदि शब्दों से कहा जाता है। इसलिए जड़-अजड़ और चेतन-अचेतन विभाग भौतिक चैतन्य के स्फुटत्व एवं अस्फुटत्व पर ही आधारित है। इसलिए अन्य दार्शनिक लोग ज्ञान की स्वतंत्रता एवं जड़ की स्वतंत्र सत्ता मानने का जो आग्रह रखते हैं वह ठीक नहीं है। जिसे लोग भारतीय सनातन धर्म कहते हैं और जिसे लोग अपने दैनन्दिन जीवन के उपयोग में लाते हैं, उसके ऊपर गहराई के साथ दृक्पात करने पर यह चार्वाक-दर्शन ही सनातन जीवनदर्शन सिद्ध होता है। उदाहरण के रूप में समान धार्मिक मर्यादा के अन्दर आने वाले शिवपूजन को ही लिया जाय। शिवपूजन किसी भी प्रकार का क्यों न हो उसका आधार पार्थिव पिण्ड ही होता है। उस पार्थिव पूज्य पिण्ड को यदि चेतन न मान लिया जाय तो उसका पूजन व उससे लाभ की कल्पना सर्वथा अनुचित होगी। शैव सम्प्रदाय के अन्दर अनेक लिंग-पिण्ड से चैतन्यस्वरूप शिव के आविर्भाव की कथा प्रचुर रूप में शैव-साहित्य के अन्दर पायी जाती है, जिससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि शिवपूजन आदि की प्रथा भूतचैतन्यवादी चार्वाक-सिद्धान्त के आधार पर ही प्रचलित हुई थी, और आज तक यदि यह प्रथा अविच्छिन्न रूप से चली आती हुई आगे की ओर अग्रसर हो रही है तो यह मानना ही होगा कि भारतीय सनातन-धार्मिक-जनता अज्ञात भाव से ही सही चार्वाकीय-भूत-चैतन्यवाद का समादर अविच्छिन्न-भाव से करती आ रही आगे की ओर अग्रसर हो रही है। अतः यह मानना चार्वाकीय दृष्टिकोण के अनुसार सर्वथा उचित प्रतीत होता है कि ज्ञान-भूत का अविच्छेद्य स्वभाव है। हिमालय और उनकी कन्या पार्वती और उनका भव से विवाह इत्यादि बातों की ओर ध्यान देने पर भी ज्ञान की भूतधर्मता रहस्य रूप में ज्ञात होती है। थोड़ी देर के लिए यदि हिमालय पद

---

(१६६) बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थांतरम्। १५। — *न्यायदर्शन, अध्याय १आ१।*

से कालिदास कथित पूर्व-समुद्र से लेकर पश्चिम समुद्र तक पृथिवी के मानदण्ड के समान अवस्थित उन्नत हिमशिलामय भूतराशि को न लेकर उसके अधिष्ठाता देव विशेष को ही लिया जाय, फिर भी उन्हें शरीरी मानना ही होगा। अन्यथा किसी कन्या का पिता होना असम्भव हो जायेगा। और यदि उन्हें भौतिक शरीर का ही अधिष्ठाता हम लोगों के समान माना जायेगा, तो इसका फल यह होगा कि वे पूरे प्रसिद्ध हिमालय के अधिष्ठाता नहीं बन पायेंगे। जो लोग आत्मा को शरीर से अतिरिक्त भी मानते हैं वे लोग उस स्वमान्य आत्मा को शरीर एवं इन्द्रियों का ही अधिष्ठाता मानते हैं। इसलिए वे देव पूरे हिमालयात्मक भौतिक विशाल भूभाग के अधिष्ठाता तभी हो सकते हैं यदि - पूरे भौतिक-हिमालय को शरीर मान लिया जाय और यहाँ तक पहुँचने पर पूरे हिमालय को एक जीवित शरीर मान लेना होगा। पर्वतों में जीवन और मरण का व्यवहार भी लोगों के द्वारा किया जाता हुआ पाया जाता है। जिस पर्वत के अन्दर ठोस पत्थर जमते रहते हैं उस पर्वत को जीवित और जिसमें उसका अभाव देखा जाता है उसे लोग मृत पर्वत कहते ही हैं। जिसमें आन्तरिक भौतिक उपचय-अपचय आदि देखे जाते हैं उसे दार्शनिक लोग जीवित मानते ही हैं और जीवनयुक्त में चेतना भी अनिवार्य होती है। इसलिए हिमालय, उनकी कन्या और भव से उनका विवाह आदि जो कि प्रतिष्ठित सनातन-परम्पराएँ सादर मान्य हैं वह तभी किसी प्रकार संगत हो सकती हैं जबकि इस भौतिक हिमालय को चेतन मान लें और हिमालय को चेतना मानते हैं- तो अन्य भूतों का क्या अपराध है कि उसे हम चेतनाहीन मानें? अधिक से अधिक यह कहा जा सकता है कि जिसमें स्फुट चेष्टा नहीं देखी जाती है वहाँ की चेतना होती है अस्फुट, और जहाँ चेष्टा तक देखी जाती है वहाँ की चेतना होती है स्फुट। इसी चेतनागत स्फुटता और अस्फुटता के आधार पर जड़ और अजड़ रूप से सांसारिक वस्तुओं का विभाजन भी संगत हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि हिमालय आदि की चेतना सम्बन्धी मान्य भारतीय-परम्परा चार्वाकीय-भूत चैतन्यवाद को प्रश्रय दिये बिना सर्वथा असंगत हो जायेगी जिसे कि लोग सह्य नहीं कर सकते। अत: भूत चैतन्य मान्य है। इसी प्रकार 'भव' की ओर ध्यान देने पर भी भूतचैतन्य की मान्यता का आभास मिलता हुआ पाया जाता है। क्योंकि भव शब्द है-समग्र संसारवाची। यह सारा संसार भूत भौतिक के अतिरिक्त और क्या है? अत: भारतीय सनातन परम्परा में यदि 'भव' को विद्याओं का अधिष्ठाता शिवस्वरूप मानना है तो यह मानना ही होगा कि समग्र जगत चेतन है। यदि यह कहा जाय कि शिववाची भव शब्द का अर्थ है - 'जिससे संसार की उत्पत्ति हो।' इसलिए भव का अर्थ संसार लेकर सबको चेतन नहीं कहा जा सकता तो इस पर वक्तव्य यह होगा कि इस व्याख्या के अनुसार भी भूतचैतन्य की ही पुष्टि होती है। क्योंकि इस दृश्य समग्र भौतिक जगत का उत्पादन भूत छोड़कर और किससे होता है? और अन्य किससे हो सकता है? अत: भव शब्द पद से प्रकृत चार्वाकीय मौलिक महासमवायात्मक-भूत ही प्राप्त होता है, जिसकी चर्चा विस्तार और युक्ति के साथ की

जा चुकी है। अत: भौतिक जगत के उत्पादक 'भव' को चेतन मानने पर भी भूतचैतन्य ही मान्य निर्णीत होता है। और ऐसा मानने पर ही शैव-उपासना की भारतीय परम्परा में शिव की क्षिति मूर्ति, जल मूर्ति, तेजो मूर्ति रूप से की जाने वाली उपासना संगत होती है। यदि कुछ लोग यहाँ यह कहें कि संसारात्मक इस भव का उत्पादक भव जगत का उपादान स्वरूप नहीं विवक्षित है किन्तु घड़े का उत्पादक कुम्हार आदि की तरह निमित्तकारण विवक्षित है। अत: उक्त कथन के अनुसार भूतचैतन्य नहीं सिद्ध होता है। तो यह कथन इसलिए संगत नहीं होगा कि तब तो उस जगत् के निर्माता को शरीरी मानना होगा। अत: उससे भी भूतचैतन्य ही प्राप्त होगा जो लोग उसे शरीर न मानकर शरीरी मानेंगे उन्हें भी मुख्यता भौतिक शरीरांश को ही देना होगा। क्योंकि केवल आत्मा को वे भी कुम्भकार नहीं मान सकते। इसीलिए आचार्य उदयन के अनुयायी नैयायिकों ने स्वसिद्धान्तसिद्ध पार्थिव जलीय तेजस और वायवीय परमाणुओं को उस जगत्-निर्माता परमात्मा का शरीर मान लिया है। यदि इस मतवाद को गहराई के साथ देखा जाय तो चार्वाकीय भूतचैतन्य स्पष्ट रूप से मान्य हो उठता है। क्योंकि इस मतवाद का सारांश यह निकलता है कि यह समग्र जगत् परमात्मा के अंगों से उसी प्रकार बना है जिस प्रकार मिट्टी से घड़ा। और यदि यहाँ तक पहुँच जाते हैं तो क्या यह स्पष्ट नहीं हो उठता है कि प्रत्येक भौतिक कण चैतन्य से उसी प्रकार अनुस्यूत है जिस प्रकार जीवित प्राणी के शरीर चैतन्य से अनुस्यूत हुआ करते हैं। अधिक से अधिक वे इतना ही कह सकते हैं कि ईश्वरीय ज्ञान की अनुस्यूति प्रत्येक भूत भौतिकों में अवच्छेदकतया है समवाय से नहीं। परन्तु समवाय की जो यौक्तिक-व्याख्या यहाँ की गयी है तदनुसार वह सब मिलकर एक महासमवाय होने के कारण, ज्ञान और भूत भौतिकों के बीच समवाय भी मानना ही होगा। वेदान्तियों के द्वारा नित्यचैतन्य रूप में सर्वानुस्यूततया मान्य अद्वैत ब्रह्म की ओर ध्यान देने पर भी प्रकृत भूत-चैतन्य का अभ्युपगम निकटवर्ती प्रतीत होता है। अपने नित्य चैतन्यस्वरूप ब्रह्म को जबकि वे सर्वानुस्यूत सर्वान्तर्यामी मानते हैं। यहाँ तक कि प्रत्येक विषय को भी विषयावच्छिन्न-चैतन्य कहते हैं। तो नित्य चैतन्य का सम्बन्ध सभी भूत भौतिकों से मानते ही हैं। यदि यह कहा जाय कि वे तो जगत् को नित्य चैतन्य में अध्यस्त मानते हैं, आरोपित मानते हैं, जगत् को सत्य तो मानते नहीं? तो यह कथन भी संगत इसलिए नहीं होगा कि अधिष्ठान की और आरोप्य की सत्ता जबकि वे एक मानते हैं तब जगत् भी असत् नहीं, सत् ही हो जाता है। फलत: उनका मिथ्यात्व एक प्रकार पारिभाषिक मात्र होकर रह जाता है। इसलिए जगत् शब्द से न कहा जाय ब्रह्म शब्द से ही सही, किन्तु भूत-भौतिकात्मक जगत् की सार्वदिक सत्ता वहाँ भी मान्य ही है। दूसरी बात यह कि ज्ञान जब भूत से अत्यन्त भिन्न रूप में अत्यन्त असम्पृक्त रूप में कभी पाया नहीं जाता तो ज्ञान से भूतों को और भूतों से ज्ञान को अलग किस दृष्टान्त के सहारे किया जा सकता? इसलिए ज्ञान और भूत इन दोनों को सदा सन्निहित सदा सम्मिलित सदा एक समवायान्तर्गत मानना ही होगा। और प्राचीन वेदान्ती तो ब्रह्म-परिणामवादी थे। वे जगत् को शुक्ति-रूप्य या रज्जुसर्प के तुल्य नहीं

मानते थे। उनका मतवाद तो चार्वाकीय-मतवाद का अत्यन्त निकट था। इसलिए चैतन्यात्मक ज्ञान-भूत का ही स्वभाव है इसे मानना ही उचित है। यह भूतस्वभावभूत-ज्ञान केवल प्रत्यक्षात्मक ही है अन्य नहीं। क्योंकि मन को ही इन्द्रियता प्रतिपादित होने के कारण अन्य दार्शनिकों द्वारा मान्यता प्राप्त सारे ज्ञान यहाँ वस्तुतः प्रत्यक्ष ही हो जाते हैं यह बात विस्तारपूर्वक बतलाई जा चुकी है। सम्भव है कि यहाँ कुछ लोगों द्वारा यह प्रश्न उठाया जाय कि ज्ञान मात्र को प्रत्यक्ष मानने का प्रयोजन यहाँ क्या था? तो इसका मुख्य उत्तर तो है वास्तविक-स्थिति। जिसका दिग्दर्शन प्रत्यक्ष विचार के अवसर पर विस्तृत-भाव से कराया जा चुका है। तदतिरिक्त एक कारण यह भी समझना चाहिए कि इस दर्शन को दण्डदर्शन पहले कहा जा चुका है। दण्डनीति में दूसरों की आँखों को भी अपनी आँख मानना पड़ता है। यदि ऐसा न हो तो साक्षी के देखे हुए को न्यायाधीश अपना देखा नहीं मान सकता। और ऐसा न होने पर दृढ़तापूर्वक कठिन से कठिन दण्ड तक की, फलतः प्राणदण्ड तक की व्यवस्था नहीं दे सकता। इस प्रबल युक्ति के अनुसार मान्यता की दृष्टि से सभी प्राणी के प्रत्यक्ष एक हो जाते हैं। अतः सारी वस्तुएँ मान्यता की दृष्टि से सबके लिए प्रत्यक्ष सिद्ध हो जाती हैं। ऐसी भला कौन-सी वस्तु हो सकती, जो कि किसी भी प्राणी से देखी न जाती हो? अतः इस दृष्टि से भी प्रत्यक्षमात्र का ज्ञान माना जा सकता है। राजा चार-चक्षु शब्द से भारतीय परम्परा में सदा से कहा जाता हुआ आ रहा है, इससे भी इस बात की पुष्टि होती है। राजा रूप से स्वीकृत इन्द्र को जो जगह-जगह आख्यायिकाओं के द्वारा 'सहस्राक्ष' कहा गया है वह कथन भी इस बात को पुष्ट करता प्रतीत होता है। प्राचीन राजनीति-सम्बन्धी ग्रन्थों के अन्दर यह भी कथित पाया जाता है कि राजा और सम्पूर्ण राष्ट्र ये दोनों मिलित रूप में एक शरीर रूप में मान्य हैं। इससे भी इसकी पुष्टि होती है। राजनीति में दूसरों की आँखों को दूसरों की आँखें माना गया है ऐसी परिस्थिति में सारे विषयों को प्रत्यक्षसिद्ध और सारे ज्ञानों को प्रत्यक्ष कहने का अवसर प्राप्त हो पाता है यदि थोड़ी देर के लिए ऐसा भी विषय मान लिया जाय जिसे किसी ने देखा न हो, फिर भी उसमें प्रत्यक्ष की स्वरूप-योग्यता तो होती ही है। वस्तुतः योगज और सामान्य लक्षणाजन्य तथा ज्ञानलक्षणाजन्य प्रत्यक्ष मानने पर कोई वस्तु अप्रत्यक्ष नहीं हो सकती, यह बात पहले बतलाई जा चुकी है। ज्ञान और क्रिया दोनों ही तत्त्वतः भूत से अभिन्न हैं, इस दृष्टिकोण से ज्ञान को अस्फुट क्रिया भी कहा जा सकता है।

चार्वाक-मत में इच्छा भी ज्ञान ही

नैयायिकों एवं वैशेषिकों[२००] ने इच्छा को भी स्वतंत्र रूप से मान्य, वर्णित अन्य गुणों की तरह एक स्वतंत्र गुण माना है। उनका कहना है कि वस्तुगत सौन्दर्य से आकृष्ट व्यक्ति उस वस्तु को चाहता है कि 'यह मुझे प्राप्त हो।' यह चाह है इच्छा। इसे वे लोग

(२००) निर्दुःखत्वे सुखे चेच्छा तज्ज्ञानादेव जायते।
इच्छातु तदुपाये स्यादिष्टोपायत्वधी र्यदि॥ – भाषा-परिच्छेद।

ज्ञान न मानकर एक स्वतंत्र गुण इसलिए मानते हैं कि यह उनके मत में ज्ञान से उत्पन्न होती है। कारण और कार्य दोनों एक नहीं हो सकते। इसलिए उन्हें इच्छा को ज्ञान से अतिरिक्त मानना पड़ता है। साथ ही उन लोगों के सिद्धान्त में ज्ञान क्षणिक है अतः तृतीय क्षण में उसका नाश अवश्य होता है। पूरा नहीं अधूरा ही सही किन्तु ज्ञान के अस्तित्व की मात्रा के सम्बन्ध में वे लोग क्षणिक-विज्ञानवादी बौद्धों के सिद्धान्त से बहुत कुछ प्रभावित हैं। उक्त बौद्ध लोग ज्ञान को भी एक क्षणमात्र सम्बद्ध मानते हैं, द्वितीय क्षण में उनका ज्ञान रह पाता नहीं। नैयायिक और वैशेषिक, ज्ञान का नाश तृतीय क्षण में मानते हैं। इसीलिए अन्य दार्शनिकों ने नैयायिक और वैशेषिकों 'अर्द्ध वैनाशिक' कह कर उनका उपहास किया है। यही कारण है कि वे इच्छा को ज्ञान से उत्पन्न होने वाली मानते हैं ज्ञान नहीं। परन्तु प्रकृत चार्वाकीय-दृष्टिकोण से इच्छा को भी ज्ञान ही मानना उचित है। ज्ञान का क्षणिकत्व यहाँ मान्य नहीं है। वस्तुगत सौन्दर्य का प्रभाव प्राणियों के मस्तिष्क पर पड़ने पर वही ज्ञान जो कि विषय का प्रकाशन मात्र करता है इच्छा का स्वरूप ग्रहण कर लेता है। अर्थात् 'यह मुझे प्राप्त हो' या 'ऐसा मुझे भी मिले' ऐसा हो जाता है। जहाँ नैयायिक और वैशेषिक लोग नियमतः ज्ञान का धारावहन मानते हैं वहाँ उसके विरुद्ध अनेक काल स्थायी एक ज्ञान अन्य दार्शनिकों ने भी माना है। जब ज्ञान की अनेक कालस्थायिता मान ली जाय, तब क्यों इच्छा को एक स्वतंत्र गुण माना जाय? हाँ, एक बात यह अवश्य इच्छा के सम्बन्ध में मान्य है कि इसे अस्फुट चैतन्यात्मक नहीं मानना है। यह नियमतः स्फुट ही होता है और स्फुट चैतन्य ही कुछ और स्फुट होता हुआ अपेक्षित रूप में भावी सम्पर्क को भी विषय करता हुआ इच्छा आदि नामों से कथित होता है। यद्यपि सांख्य और वेदान्त सिद्धान्त भी इच्छा को अन्तःकरण की वृत्ति मानकर कुछ इसी प्रकार का दिग्दर्शन कराता हुआ पाया जाता है किन्तु उससे महान् पार्थक्य यह यहाँ ज्ञातव्य है कि उन दोनों सिद्धान्तों के अन्दर ज्ञान, इच्छा आदि को अन्तःकरण की वृत्ति मानकर स्पष्ट रूप से अन्तःकरण का ही धर्म इन्हें माना गया है और यहाँ अन्तःकरण पर वस्तु का प्रभाव पड़ने पर भूतात्मास्वरूप समग्र शरीर में व्याप्त चैतन्य का क्रमशः ज्ञान, इच्छा आदि रूपों में स्फुटीभाव मान्य है।

चार्वाक मत में द्वेष भी स्वतंत्र गुण नहीं

नैयायिकों और वैशेषिकों ने द्वेष को भी एक स्वतंत्र गुण का स्थान दिया है। उनका कहना है कि इच्छा से जिस प्रकार प्राणियों को अभिमत विषय की ओर प्रवृत्ति होती है उसी प्रकार किसी भी विषय के सम्बन्ध में द्वेष होने पर उस विषय की ओर से वैमुख्य होता है, निवृत्ति होती है। अतः द्वेष को इच्छा का विरोधी एक स्वतंत्र गुण शरीर के अतिरिक्त होने वाली आत्मा का गुण मानना चाहिए। सांख्य वेदान्त आदि दर्शन इस द्वेष से भी इच्छा की तरह एक अन्तःकरण की इच्छाविरोधी वृत्ति मानते हैं। वृत्ति का अर्थ होता है परिणाम। परिणाम और परिणामी उन दार्शनिक सिद्धान्तों के अनुसार तत्त्वतः एक ही

---

(२०१) निवृत्तिस्तु भवेद्द्वेषा। – *भाषा-परिच्छेद।*

मान्य होते हैं अतः परिणामी अन्तःकरण की दृष्टि से भी सभी ज्ञान, इच्छा, यत्न, द्वेष आदि एक हो जाते हैं। प्रकृत चार्वाकीय-तत्त्व सम्बन्धी धारणा की ओर ध्यान देने पर इस द्वेष के सम्बन्ध में यही निर्णय उचित प्रतीत होता है कि यह भी इच्छा की तरह ज्ञान का ही एक प्रभेद है। जहाँ तक इसको इच्छा के साथ विरोध का प्रश्न है वह सर्वदर्शन-मान्य है। अतः द्वेष भी इच्छा की तरह ज्ञान ही है किन्तु वह इच्छा का विरोधी अवश्य है। सारांश यह कि वह स्फुट चैतन्य का और स्फुटीभाव है। अतः द्वेष भी शरीरात्मक भूतात्मा का ही धर्म है, उसी का स्वभाव है। अन्तःकरण का परिणामस्वरूप नहीं है, इस दृष्टिकोण से यदि ज्ञान, इच्छा, द्वेष आदि को अन्तःकरण का धर्म माना जाय तो वह भी इस सिद्धान्त में शरीर का ही प्रदेश-विशेष रूप में निर्णीत हो चुका है। अतः शरीरगत चैतन्य आदि को मस्तिष्कस्वरूप अन्तःकरणगत भी मानना ही होगा। अवयव और अवयवी के बीच समवायात्मक अभेद भी वर्णित हो चुका है। अतः उक्त ज्ञान, इच्छा, द्वेष आदि को अन्तःकरणगत भी मानना ही होगा तो इस कथन का आदर अभिप्रेत है। क्योंकि विरोध केवल इस बात से है कि वे अन्तःकरण के ही धर्म नहीं मान्य हैं यदि उनका भी इन्हें धर्म कहा जाय तो कोई आपत्ति नहीं है। सम्भव है कुछ लोग यहाँ यह प्रश्न उपस्थित करें कि जब इस सिद्धान्त में इच्छा और द्वेष ये दोनों ही शरीर, धर्म, ज्ञान के स्फुटीभाव ही हैं तो इन दो परस्पर स्फुटीभावों का नियामक क्या होगा? क्योंकि नियामक न मानने पर अभिप्रेत वस्तु में द्वेष और अनभिप्रेत वस्तु में इच्छा हो जाय। तो इसका उत्तर यह समझना चाहिए कि दोनों के शरीरातिरिक्त आत्मधर्म होने पर एवं सांख्य और वेदान्त सिद्धान्त में दोनों के अन्तःकरण का धर्म होने पर भी जो इच्छा और द्वेष इनके अन्दर विरोध का नियामक होता है - वह यहाँ भी नियामक हो सकता है। सारांश यह कि विषयगत वैलक्षण्यमूलक मस्तिष्क पर पड़ने वाले प्रभावगत वैलक्षण्य इस विरोध का नियामक होगा। अतः अभिप्रेत में इच्छा ही होगी द्वेष नहीं और अनभिप्रेत में द्वेष ही होगा इच्छा नहीं होगी। इस द्वेष को इच्छा का अभाव नहीं कहा जा सकता। क्योंकि वह सुषुप्ति आदि के समय भी रहता है किन्तु द्वेष उस समय रहता नहीं। और एक बात यह कि यहाँ बौद्ध सिद्धान्त की तरह औदास्य का भी निवृत्ति में अन्तर्भाव मान्य नहीं है इसलिए भी इच्छा के अभाव को द्वेष नहीं कहा जा सकता।

चार्वाक सिद्धान्त में प्रयत्न चेष्टा के अतिरिक्त और कुछ नहीं

प्रयत्न के सम्बन्ध में भी नैयायिकों और वैशेषिकों का कहना यह है कि यह भी एक स्वतंत्र गुण है। यह इच्छा और द्वेष दोनों गुणों से उत्पन्न होता है। क्योंकि प्रयत्न के प्रभेद तीन हैं [२०२] प्रवृत्ति, निवृत्ति और जीवनयोनि। इच्छा से होती है प्रवृत्ति और द्वेष से होती है निवृत्ति। और वेदान्त-सिद्धान्त में यह प्रयत्न भी अन्तःकरण का ही परिणाम माना गया है। परन्तु इस चार्वाक-सिद्धान्त में ये सब बातें मान्य नहीं हैं। क्योंकि इसके कारण

(२०२) प्रवृत्तश्चि निवृत्तिश्च तथा जीवनयोनयः।
एवं प्रयत्नत्रैविध्यं तान्त्रिकै परिकीर्तितम्॥ *- भाषा-परिच्छेद।*

रूप से उक्त अन्य दार्शनिकों द्वारा मान्य इच्छा एवं द्वेष का खण्डन अभी-अभी किया जा चुका है। यदि यह कहा जाय कि फिर भी इसे चैतन्य का ही स्फुटीभावात्मक तो कम-से-कम मानना ही चाहिए। तो इस सम्बन्ध में वक्तव्य यह है कि इस प्रयत्न को चैतन्य का स्फुटीभाव भी नहीं मानना चाहिए। यह शरीरात्मगत चेष्टा के अर्थात् हित की प्राप्ति और अहित के परिहार के अनुकूल होने वाली क्रिया के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। क्योंकि चेष्टा के पूर्व न कोई भी व्यक्ति स्वयं यह अनुभव करता है कि 'मैं प्रयत्न कर रहा हूँ' और न कोई अन्य व्यक्ति उसके सम्बन्ध में यह सोचता या कहता है कि 'वह प्रयत्न कर रहा है।' अत: उक्त प्रकार की चेष्टा को ही प्रयत्न मानना उचित है। सम्भव है प्रयत्नवादियों की ओर से इस पर यह कहा जाय कि प्रवृत्ति और निवृत्ति को भले ही चेष्टा कहा जा सके किन्तु जीवनयोनि नामक यत्न को तो चेष्टा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उसके सम्बन्ध में उक्त प्रकार चेष्टा से सम्बन्धित प्रतीति या वाक्य-प्रयोग नहीं होते हुए पाये जाते हैं। तो इस सम्बन्ध में वक्तव्य यह है कि वह भी एक प्रकार आन्तर चेष्टा ही है। उससे अतिरिक्त कोई स्वतंत्र गुण नहीं अथवा चैतन्य का ही वह भी एक प्रकार स्फुटीभाव है जिसके कारण श्वास-प्रश्वास, नाड़ी-स्पन्दन एवं शरीर आत्मा के अन्दर सतत् रासायनिक प्रक्रियाएँ होती हैं। अत: जीवनयोनि नामक यत्न भी तहाँ स्वतंत्र गुण रूप से मान्य नहीं है। यदि गम्भीर भाव से देखा जाय तो उन लोगों के सिद्धान्त के अनुसार भी जीवनयोनि यत्न को मान्यता प्राप्त होना कठिन है। क्योंकि प्रयत्न के प्रति इच्छा या द्वेष इन दोनों के अन्दर कोई एक कारण माना जाता है। इस जीवनयोनि के प्रति उक्त दोनों के अन्दर कोई कारण हो नहीं सकता। क्योंकि तब यह भी प्रवृत्ति या निवृत्ति ही हो बैठेगा, स्वतंत्र अस्तित्व खो बैठेगा। मिलित रूप से इच्छा और द्वेष इन दोनों को जीवनयोनि के प्रति कारण माना जाय यह भी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि अत्यन्त विरोधी दो का सहभावात्मक मिलन सम्भव नहीं होता। यह भी नहीं कहा जा सकता कि इन दोनों के अतिरिक्त और ही किसी को इस जीवनयोनि प्रयत्न के प्रति कारण मानेंगे। क्योंकि उनके मत में अतिरिक्ततया मान्य प्रवृत्ति एवं निवृत्तिस्वरूप प्रयत्न जबकि इच्छा और द्वेष एतदतिरिक्त किसी से उत्पन्न नहीं होते तो प्रयत्न होने के नाते इसे भी अन्य-जन्य कैसे माना जा सकता? अत: जीवनयोनि-यत्न का निष्पादक न मिलक के कारण उसे मान्यता नहीं दी जा सकती।

चार्वाक मत में द्रवत्व भी कोई स्वतंत्र गुण नहीं

नैयायिक, वैशेषिक आदि दार्शनिक, रूप रस आदि की तरह 'द्रवत्व'[२०३] नामक भी एक स्वतंत्र गुण मानते हैं। उनका कहना है कि जल आदि द्रव्यों में तरलता स्पष्ट रूप से देखी जाती है उस तरलता का अपर नाम है द्रवत्व। यह द्रवत्व गुण दो प्रकारों का होता है सांसिद्धिक और नैमित्तिक। उनका कहना है कि सांसिद्धिक द्रवत्व जल में

(२०३) द्रवत्वं स्यन्दने हेतु निर्मित्तं संग्रहेतुतत्। – *भाषा-परिच्छेद।*

होता है और नैमित्तिक द्रवत्व पृथिवी और तेज में। घी, तेल, लाह आदि पार्थिव द्रव्यों में द्रवत्व नैमित्तिक होता है। क्योंकि विलक्षण ताप से ये द्रवीभूत होते हैं और उसके अभाव में ये जम जाते हैं यह प्रत्यक्षदृष्ट है। तेज में वे लोग द्रवत्व इसलिए मानते हैं कि सोने को भी पार्थिव न मानकर एक प्रकार तेज ही मानते हैं और सोने में विलक्षण-ताप-प्रयुक्त होने वाला द्रवीभाव देखा ही जाता है। परन्तु इस चार्वाक सिद्धान्त में द्रवत्व स्वतंत्र गुण ही नहीं मान्य है क्योंकि विचारपूर्वक देखने पर यह स्पष्ट प्रतीत हो सकता है कि द्रवत्व अवयवों की विरलता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस विरलता को जल आदिगत संयोग-शैथिल्य भलीभाँति कहा जा सकता है। कहने का तात्पर्य यह कि बर्फ आदि जलगत कण जब वैरल्यानुकूल ताप के अभाव के कारण आपस में पूर्ण रूप से चिपक जाते हैं, घनीभूत हो जाते हैं तब शिथिल संयोगात्मक वैरल्य उन कणों में रहता नहीं, अतः वे तरल, द्रवीभूत, प्रत्यक्षगोचर नहीं होते हैं। और जब उनके अन्दर शिथिल-संयोगात्मक-वैरल्यानुकूल ताप प्राप्त होता तब उक्त शिथिल-संयोगात्मक-वैरल्य उन जलकणों में रह नहीं पाता। अतः वैरल्य-विरोधी घनीभाव अर्थात् एक प्रकार अतिशयित संयोग उन जलकणों में हो जाता है। अतः वहाँ का वह समवायात्मक जल, करक हिम, ओला आदि विभिन्न नामों से कथित होता है। अतः द्रवत्व नामक कोई स्वतंत्र गुण यहाँ मान्य नहीं है। इस विवेचन के अनुसार द्रवत्व गुण का ही खण्डन हो जाने पर सांसिद्धिक-द्रवत्व और नैमित्तिक-द्रवत्व और तदनुसार उक्त तदाश्रय का विभाजन आदि स्वतः खण्डित हो जाते हैं। यदि यह कहा जाय कि द्रवत्व स्वतंत्र गुण भले ही न हो वह संयोग-वैरल्य ही हो सही, फिर भी उसकी सांसिद्धिकता और नैमित्तिकता जो कि प्रत्यक्ष दृष्ट है मान्य ही होगी। तो इसके सम्बन्ध में भी ज्ञातव्य यह है कि गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर यह मानना ही होगा कि तारल्य एवं घनीभाव दोनों ही विभिन्न तापात्मक निमित्त-प्रयुक्त प्राप्त होते हैं। अतः तारल्यात्मक अर्थात् अवयव-वैरल्यात्मक किसी भी द्रवत्व को सांसिद्धिक नहीं कहा जा सकता। जिस द्रवत्व की नैयायिक एवं वैशेषिक लोग स्वाभाविक कहते हैं कि विचार करने पर वह भी नैमित्तिक ही स्थिर होता है। एक बात यहाँ और भी यह ध्यान देने की है कि यहाँ सोना तेज नहीं पार्थिव ही मान्य है जैसा कि परवर्ती नैयायिक एवं वैशेषिकों ने भी माना है। अतः तेज में उक्त द्रवत्व बिल्कुल मान्य नहीं है। यह इसलिए भी आवश्यक है कि सभी द्रवत्व को नैमित्तिक अर्थात् ताप-प्रयुक्त बतलाया जा चुका है। अब यदि तापात्मक तेज में भी द्रवत्व माना जाय तो उसकी नैमित्तिकता के आधार पर अनवस्था आपन्न हो पड़ेगी।

चार्वाक मत में स्नेह भी स्वतंत्र गुण नहीं

नैयायिक एवं वैशेषिक विवेचकों ने गुणों के अन्दर स्नेह को भी एक स्वतंत्र स्थान दिया है। इस स्नेह गुण का परिचय देते हुए उन लोगों ने यह कहा कि - आँटा [२०४]

(२०४) चूर्णादिपिण्डीभावहेतुर्गुण स्नेहः। - तर्क-संग्रह।

मृत् चूर्ण आदि में उपयुक्त मात्रा में जल मिलाने पर आटा के या मिट्टी आदि के कण इस प्रकार आपस में चिपक जाते हैं कि एक देशधारण से समग्र का धारण एवं एक देश के आकर्षण से समग्र का आकर्षण होता हुआ पाया जाता है। इस विलक्षण परिस्थिति को देखते हुए उसके सम्पादक रूप के केवल जल में ही रहने वाला 'स्नेह' नामक गुण अवश्य मान्य है। परन्तु प्रकृत चार्वाकीय-दृष्टिकोण से देखने पर इस स्नेह-गुण को एक स्वतंत्र गुण मानना उचित नहीं प्रतीत होता है। क्योंकि उक्त प्रकार जलगत अवयव वैरल्यात्मक द्रवत्व की मान्यता के कारण उक्त एक देशधारण-स्थलीय समग्रधारण एवं एक देश आकर्षण स्थलीय समग्र का आकर्षण उत्पन्न किया जा सकता है। अत: स्नेह एक स्वतंत्र गुण मानने का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता है। कुछ लोग यदि यह कहें कि द्रवत्व को स्नेह का स्थान इसलिए नहीं दिया जा सकता कि आटा या मृत् चूर्ण में गलाये हुए काँच को डालने पर या गलाये हुए स्वर्ण आदि धातुओं को डालने पर पिण्डीभाव नहीं हो पाता है। और इसीलिए वहाँ एक देशधारण से समग्र का धारण या एक देश आकर्षण से समग्र का आकर्षण भी होता हुआ नहीं देखा जाता है। स्नेह जलमात्र में होने के कारण जलसंयोग होने पर एक देशधारण से समग्रधारण एवं एक देशआकर्षण से समग्र का आकर्षणानुकूल पारस्परिक संयोग होता है। पिण्डीभाव होता है। अत: स्नेह को जलमात्रगत गुण रूप में मान्यता अनिवार्य है। तो इसके उत्तर में यह भलीभाँति कहा जा सकता है कि उक्त प्रकार वैरल्यात्मक-द्रवत्वयुक्त जलसंयोग को उक्त प्रकार धारणाकर्षण के प्रति अनुकूल होने वाले पिण्डीभाव के प्रति कारण मान लेने पर अनायास द्रुत काँच के एवं द्रुत सुवर्ण आदि के संयोग से मृतचूर्ण आदि में पिण्डीभाव क्यों नहीं हो पाता? एवं तत्प्रयुक्त एक देशधारण से समग्रधारण एवं एक देश आकर्षण से समग्राकर्षण क्यों नहीं होता? यह प्रश्न अनायास उत्तर पा जाता है कि उक्त प्रकार पिण्डीभाव का कारण जबकि द्रुत जल का संयोग को माना जा रहा है तब काँच, स्वर्ण आदि पार्थिव होने के कारण जल नहीं हो सकता। अत: उक्त प्रकार जल संयोगात्मक कारण के अभाव के कारण वहाँ पिण्डीभाव एवं तत्प्रयुक्त रूप में होने वाले धारण एवं आकर्षण का अभाव उचित कहा जा सकता है। इसलिए स्नेह अतिरिक्त गुणरूप में मान्य नहीं ठहराया जा सकता। यदि यह कहा जाय कि घृत, तेल आबि में होने वाली स्निग्धता की प्रतीति एवं तदनुरूप प्रामाणिक वाक्य-प्रयोगात्मक व्यवहार स्नेह को स्वतंत्र गुण माने बिना सम्भव नहीं है अत: जलगत स्नेहगुण मान्य है। तो यह कथन इसलिए ससार नहीं होगा कि स्नेह को स्वतंत्र गुण मानने वाले तेल, घृत आदि को जल को मानते नहीं। फिर उक्त प्रतीति एवं व्यवहार से सिद्ध होने वाला स्नेह जल मात्रगत कैसे हो पायेगा? यदि यह कहा जाय कि वह स्नेह घृत, तेल आदिगत जल का होता है तो यह इसलिए ठीक नहीं होगा कि तब केवल जल में स्निग्धता की अधिक प्रतीति होनी चाहिए। किन्तु ऐसा होता नहीं। तेल, घृत आदि में ही अधिक स्निग्धता की प्रतीति आदि होते हैं।

चार्वाक मत और सुख

अन्य सांसारिक वस्तुओं की इच्छा जिसकी इच्छा होने के कारण [२०५] होती है वह भावात्मक वस्तु है सुख। कहने का तात्पर्य यह कि घर, भोजन, कपड़े, लत्ते आदि वस्तुओं को कोई क्यों चाहता है? इसीलिए तो कि जीवन सुखमय हो? अतः इस वस्तुस्थिति के अनुसार यह मानना ही होगा कि सुख शरीरात्मा का एक आगन्तुक भाव है और इसीलिए वह उसका गुण है। यह बात नहीं कही जा सकती कि उक्त वस्तुओं की इच्छाएँ तो दुःखाभाव की इच्छा के कारण भी हो सकती है, ऐसी परिस्थिति में या तो उक्त परिभाषा के अनुसार सुख को दुःख का अभावात्मक मानना होगा या सुख की उक्त परिभाषा त्याज्य होगी। तो इसके उत्तर में वक्तव्य यह होगा कि सुख को दुःख का अभाव इसलिए नहीं कहा जा सकता कि फिर दुःख को ही सुख का अभावस्वरूप क्यों न माना जाय? इसका उचित उत्तर दिया नहीं जा सकता। यदि यह कहा जाय कि ऐसा ही मान लिया जाय तो क्षति क्या होगी? तो यह कथन इसलिए उचित नहीं हो पायेगा कि ऐसा मानने पर 'अन्योन्याश्रय' जिसे अन्य शब्द में 'परस्पराश्र' कहा जाता है अनिवार्य हो उठेगा। क्योंकि अभाव का ज्ञान नियमतः प्रतियोगिज्ञान-सापेक्ष हुआ करता है। अतः दुःख को समझे बिना दुःखाभावस्वरूप सुख नहीं समझा जा सकेगा और सुख को समझे बिना सुखाभावस्वरूप दुःख को नहीं समझा जा सकेगा। जिसका कुफल यह हो बैठेगा कि कोई भी व्यक्ति न तो सुख का अनुभव कर पायेगा और न दुःख का। किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी है नहीं, प्रत्येक मानव ही नहीं, प्रत्येक प्राणी सुख और दुःख का अनुभव करता है, यह उसकी विभिन्नकालिक शारीरिक परिस्थिति को देखते हुए ज्ञात होता है। अतः सुख को दुःख का अभाव न मानकर एक स्वतंत्र आत्मगुण ही मानना उचित है। दूसरी बात इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य यह है कि सुख को दुःख का अभाव मानने पर सुख का भान नियमतः दुःखविषयक भी बन बैठेगा। कहने का तात्पर्य यह कि अभाव कभी निष्प्रतियोगिक रूप में प्रतीत नहीं होता। प्रतियोगी से सहित रूप में ही प्रतीत होता है। किसी भी ज्ञान में घट का विषयीकरण न होते हुए उसके अभाव का विषयीकरण कभी नहीं होता। किन्तु सुखानुभव के समय प्राणी दुःख का अनुभव बिल्कुल नहीं करता है इसलिए भी सुख को दुःख का अभाव नहीं कहा जा सकता। नैयायिकों एवं वैशेषिकों ने जो सरल रूप सुख का परिचय देते हुए यह कहा है कि 'जिसे सब चाहे वह है सुख' यह उनका कथन इसलिए उचित नहीं कहा जा सकता कि फिर तो शरीरात्माओं में उक्त सुखलक्षण अतिव्याप्त हो बैठेगा। क्योंकि प्रत्येक प्राणी अपनी शरीस्थिति का इच्छुक होता है। न्यायवैशेषिक मत में धर्म और धर्मी अभिन्न भी नहीं माने जाते कि उक्त आपत्ति अभ्युपगम्य कही जा सके। साथ ही दुःख के अभाव में भी उक्त सुखलक्षण अतिव्याप्त हो उठेगा। क्योंकि सुख की इच्छा की तरह समग्र प्राणी को दुःख के अभाव की भी इच्छा होती है।

(२०५) इतरेच्छानधीनेच्छाविवयत्वं सुखस्य लक्षणम्। — तर्कसंग्रह न्या०बो०।

चार्वाक-मत और दुःख

दुःख गुण का परिचय नैयायिकों एवं वैशेषिकों ने इस प्रकार दिया है कि 'जो सबके लिए [२०६] प्रतिकूल हो, अर्थात् जिसे कोई न चाहे वह है दुःख।' यह उनका निर्वचन इसलिए मान्य नहीं है कि दुःख को न चाहने वाला दुःखों के साधनों को भी तो नहीं चाहता है? अतः उक्त दुःख का निर्वचन दुःख साधन अहिकण्टक आदि में अतिव्याप्त हो उठेगा। यदि यह कहा जाय कि प्राणी दुःख के साधनों को इसलिए नहीं चाहता है कि उन साधनों से प्राप्त होने वाले दुःख को वह चाहता नहीं। तो फिर तदनुरूप ही निर्वचन दुःख का करना चाहिए अर्थात् दुःख का निर्वचन इस प्रकार करना चाहिए कि 'जिसे न चाहने के कारण उसके साधनों को भी न चाहा जाय वह है दुःख।' इस कथन का अभिप्रेत अर्थ यह समझना चाहिए कि 'जिसके सम्बन्ध में होने वाली अनिच्छा अन्य विषय में होने वाली अनिच्छा के अधीन न हो वह है दुःख।' अभिप्राय यह कि दुःख को स्वतः नहीं चाहता है प्राणी, और दुःख के प्रति साधन होने वालों को इसलिए नहीं चाहता कि उनसे अनिवार्य रूप में होने वाले दुःख को वह चाहता नहीं। अतः यह मानना ही होगा कि 'संसार में ऐसी वस्तु केवल दुःख ही है जिसको प्राणी स्वतः नहीं चाहता है।' अतः दुःख का निर्वचन सर्वथा उचित माना जायेगा कि 'प्राणी जिसे स्वतः नहीं चाहे वह है दुःख। दुःख को सुख का अभाव क्यों न माना जाय?' इस प्रश्न का उत्तर विहित सुख विचार के अवसर पर किये गये सुख के दुःखाभावस्वरूपत्व-खण्डन के आधार पर दातव्य है। सारांश यह कि दुःख को सुखाभान मानने पर तुल्ययुक्तिप्रयुक्त सुख को भी दुःख का अभाव मानना होगा। और उसे भी स्वीकार करने पर अन्योन्याश्रय दोष अनिवार्य हो उठेगा। अधिकतर वैशेषिक-लोग यथासम्भव वस्तुओं का निर्वचन असाधारण जाति के आधार पर किया करते हैं। तदनुसार दुःख का भी निर्वचन वे इस प्रकार कर सकते हैं कि दुखत्व जाति जिसमें रहे वह है दुःख। परन्तु इस प्रकार के निर्वचन का आदर इसलिए नहीं किया जा सकता कि यहाँ गुण और गुणी की तरह तत्त्वतः जातिमान् रूप से प्रतीत होने वाले, इन दोनों के बीच भी तात्त्विक आधाराधेय भाव मान्य नहीं। दूसरा यह कि कहीं भी जातिघटित लक्षण को मान्यता इसलिए नहीं दी जा सकती कि लक्ष्यतावच्छेद अर्थात् लक्ष्यता का नियामक और लक्षण ये दोनों एक हो उठेंगे। जिसका कुफल यह होगा कि लक्षण के द्वारा विधेय लक्ष्यगत इतर-भेद का अनुमानसिद्ध साधन दोषग्रस्त हो उठेगा। लक्षण यदि लक्ष्य को औरों से भिन्न न समझा पाये तो उसकी लक्षणता ही व्यर्थ हो उठेगा। लक्षण यदि लक्ष्य को औरों से भिन्न न समझा पाये तो उसकी लक्षणता ही व्यर्थ हो उठेगी। लक्ष्यों को स्वेतर-भिन्न समझाना ही होता है लक्षण का मुख्य प्रयोजन। अतः दुःख का लक्षण दुःखत्व जाति को नहीं माना जा सकता है। उसी प्रकार जाति को कहीं भी लक्षण नहीं

---

(२०६) अधर्मजन्यं दुःखंस्यात् प्रतिकूलं सचेतसाम्। *- भाषा-परिच्छेद।*
सवेषां प्रतिकूल-वेदनीयं दुःखम्। *- तर्कसंग्रह।*

बनाया जा सकता। बौद्ध आदि दार्शनिकों ने जो समग्र संसार को दुःख कहा है वह सर्वथा अनुभवविरुद्ध है।

चार्वाक-मत और गुरुत्व

भार वजन आदि शब्दों से कहा जाने वाला गुण है गुरुत्व। यह प्रथम पतन के प्रति असाधारण [२०७] कारण होता है। कहने का तात्पर्य यह कि किसी भारी वस्तु को कहीं ऊपर से छोड़ देने पर वह नीचे गिरता है यह देखा ही जाता है किन्तु धुनी हुई हल्की थोड़ी रुई आदि कुछ चीजें ऊपर ही उड़ती रह जाती हैं। अतः गिरने और न गिरने वाली दोनों वस्तुओं के अन्दर कुछ अन्तर मानना अनिवार्य होगा। ऐसी परिस्थिति में यह अनायास समझा जा सकता है कि उक्त गिरने वाली वस्तुओं में कोई ऐसा गुण है जिसके कारण वह गिरता है जिसकी उपयुक्त मात्रा में अविद्यमानता के कारण उक्त हल्की रुई आदि गिरती नहीं। अतः गुरुत्व नामक गुण अवश्य मान्य है। इसके अतिरिक्त तुलादण्ड की अवनति के आधार पर भी इस गुरुत्व गुण को पहचाना जा सकता है। कहने का तात्पर्य यह कि तराजू के दो पलरों पर भी विभिन्न भारयुक्त वस्तुओं को एक ही काल में रखने पर एक पलरा नीचे और दूसरा पलरा ऊपर उठ जाता है यह देखा ही जाता है। अतः इस प्रत्यक्ष-दृष्ट नमनोन्नमनात्मक वैलक्षण का सम्पादक कोई गुण तराजू के पलरे पर रखी गयी वस्तु में मानना आवश्यक होगा वही है गुरुत्व। यह गुरुत्व तारतम्य हुआ करता है इसीलिए किसी सेर भर की वस्तु से दो सेर-तीन सेर की वस्तुएँ अधिक गुरु, अधिक भारयुक्त कहलाती हैं। इस कथन से यह सम्भवतः स्पष्ट हो गया होगा कि लघुत्व भी अनतिशयित गुरुत्व ही होता है। गुरुत्व का अभाव या गुरुत्व के समान कोई गुणान्तर नहीं।

सम्भव है कि नैयायिक और वैशेषिक लोग इसका दृढ़तापूर्वक प्रतिवाद उपस्थित करें क्योंकि उनके मत में गुरुत्व केवल पृथिवी और जल इन दो द्रव्यों के ही गुण रूप में माने जाते हैं। ऐसी परिस्थिति में तेज में एवं वायु में बिल्कुल अनतिशयित गुरुत्व भी रहता नहीं यतः उस गुरुत्व को लघुत्व कहा जा सके। परन्तु इस चार्वाक सिद्धान्त में पृथिवी, जल, तेज और वायु चारों ही भूत अन्योन्य मिथुन ही होते हैं सदा विभिन्न मात्रा में आपस में मिले ही रहते हैं यह बात बारम्बार कही जा चुकी है। अतः यहाँ यह नहीं कहा जा सकता है कि पृथिवी और जल इन दो भूतों में ही गुरुत्व गुण रहता है, तेज और वायु इन दोनों में नहीं। इस सम्बन्ध में दूसरी बात यह ध्यान देने योग्य है कि जोर से चलने वाली हवा से भी चोट लगती है यह अनुभव सिद्ध है इसलिए वायु में भी भार अर्थात् गुरुत्व मानना ही होगा। रही बात तेज की तो उसके सम्बन्ध में भी यह भलीभाँति कहा जा सकता है कि कोई भी भौतिक कण सर्वथा भारहीन हो सकता नहीं, अतः तैजस कणों को भी सर्वथा भारहीन नहीं कहा जा सकता अतः गुरुत्व तेज का भी गुण है। हाँ, यह बात अवश्य मान्य है कि पृथिवी की अपेक्षा जल में और जल की अपेक्षा वायु में और उसकी

---

(२०७) गुरुत्वम्, आद्यपतना समवायिकारणं अतीन्द्रियं पृथिवीजल वृत्ति। - तर्क-भाषा।

भी अपेक्षा तेज में गुरुत्व की मात्रा अल्प होती है अतः उनमें मात्राकृत कमी होने वाले अनतिशयित गुरुत्वों को ही लघुत्व भलीभाँति कहा जा सकता है।

चार्वाक-मत और संस्कार

नैयायिकों और वैशेषिकों ने भी संस्कार [२०८] गुण का अस्तित्व माना है। उनका कहना इस गुण के सम्बन्ध में यह है कि संस्कार तीन प्रकार का होता है - वेग, भावना और स्थितिस्थापक। वेग पृथिवी, जल, तेज, वायु और मन इन पाँच द्रव्यों में रहता है। भावना शरीर आदि से अतिरिक्त आत्मा का धर्म है क्योंकि इसी के उद्घोष के कारण पूर्वानुभूत वस्तुओं के स्मरण हुआ करते हैं। स्थितिस्थापक संस्कार मुख्य रूप से पृथिवी में ही पाया जाता है, कुछ लोगों के मत में वह चारों भूतों में होता है। परन्तु यहाँ उन इस प्रकार मानने वालों से अनेक प्रकार का मतभेद है। यथा - वेग भूतचतुष्टय का ही धर्म है। क्योंकि इसके अतिरिक्त कोई तत्त्व ही यहाँ मान्य नहीं है। अतः वेगात्मक संस्कार के आश्रय चार हैं, पाँच नहीं। दूसरी बात यह कि भावनात्मक संस्कार भी भूतों का ही धर्म है अन्य का नहीं। क्योंकि इस भूतचैतन्य सिद्धान्त में भूत चतुष्टय से अतिरिक्त कुछ तात्त्विक रूप से मान्य नहीं है। तृतीय यह कि स्थितिस्थापक को एक स्वतंत्र संस्कार मानने का कोई प्रयोजन नहीं दृष्टिगोचर नहीं होता है। क्योंकि उसे भी वेग का ही प्रभेद अनायास माना जा सकता है। कहने का तात्पर्य यह कि वेग को ही स्थितिस्थापक और अस्थितिस्थापक इस प्रकार जबकि दो प्रकार माना जा सकता है तब स्थितिस्थापक को एक सर्वथा स्वतंत्र प्रकार संस्कार मानना बुद्धिमत्ता नहीं कही जा सकती। और यह अनुभव भी ऐसी मान्यता में इस प्रकार सामाय्य करता है कि वृक्ष, शाखा आदि की पुनः पूर्वास्थितिस्थल में वेग भी परिलक्षित होता ही है। फिर उस वेग को ही क्यों न स्थितिस्थापक मान लिया जाय। स्थल विशेष में वेग की अल्पता अर्थात् अतीव्रता भले ही हो सर्वथा वेगराहित्य किसी भी क्रिया धारास्थल में मान्य नहीं। ऐसी परिस्थिति में यही मानना सर्वथा उचित होगा कि स्थितिस्थापक को भी वेग का ही एक प्रभेद मान लिया जाय। चौथी बात यह है कि न्यायवैशेषिक सिद्धान्त में धर्म और अधर्म इन दोनों को अदृष्ट नामक स्वतंत्र आत्मगत गुण माना है। परन्तु इस चार्वाक सिद्धान्त में उस पाप पुण्यात्मक अदृष्ट को भी संस्कार ही मानना है। पाप और पुण्य को संस्कारात्मक अनेक दार्शनिकों ने माना है। उन्होंने जगह-जगह पर अदृष्ट को संस्कार [२०९] शब्द से कहा है और यह संस्कारात्मक अदृष्ट भी चैतन्य की तरह भूतों का ही धर्म है क्योंकि यहाँ अतिरिक्त आत्मा मान्य नहीं है यह बात पहले बतलायी जा चुकी है। यह अदृष्ट भूतगत होकर भी भोग का नियामक इसलिये हो पाता है कि सांख्य वेदान्त आदि सिद्धान्त में लिंग शरीर के अन्तर्गत भूतों की तरह पूर्व शरीरात्मगत

---

(२०८) संस्कार-व्यवहारा साधारण-कारणं संस्कारः। संस्कारास्त्रिविधः वेगो भावना स्थितिस्थापकश्दीच। - *तर्कभाषा।*

(२०९) संस्कारः पुस एवेष्टः प्रोक्षणाभ्युक्षणादिभिः। - *न्यायकुसुमांजलि।*

सूक्ष्म भूतों का शरीरान्तर तक अनुधावन यहाँ भी माना जा सकता है। इसलिए परलोक एवं कर्त्तव्य भोक्तृत्व के बीच समानाधिकरण्य आदि सब कुछ यहाँ भी मान्य हो पाते हैं।

चार्वाकीय-दृष्टि में शब्द

शब्द को नैयार्यिकों एवं वैशेषिकों ने आकाशमात्र का गुण माना है। वैयाकरण तथा मीमांसक शब्द को गुण न मानकर द्रव्य मानते हैं। परन्तु यहाँ ये दोनों मत सर्वथा अमान्य हैं। क्योंकि यहाँ पंचूमभूतरूप में आकाश की मान्यता न होने के कारण शब्द को आकाश का गुण नहीं कहा जा सकता, और साथ ही उसे द्रव्य भी इसलिए नहीं माना जाता है कि शब्द चारों भूतों का गुण है। कहने का तात्पर्य यह कि जब वीणा, वेणु, मृदंग आदि से होने वाले शब्दों का श्रवण अबाधित भाव से होता है, तब शब्दों को वीणा, वेणु आदिगत आदि ही मानना सर्वथा उचित है, तदनुसार चारों भूतों में शब्द का अस्तित्व मान्य है। जल का मनोहर कलकल निनाद प्रसिद्ध ही है। आग आदि तेज के प्रज्वलन-स्थलों में भी शब्द का अनुभव होता ही है। अतः शब्द को जलगत तथा तेजगत भी मानना उचित ही है। वायु के चलने पर वायुगत एक प्रकार विलक्षण शब्द सुना ही जाता है। इसलिए शब्द को वायुधर्म मानना भी उचित ही है। नैयायिकों एवं वैशेषिकों ने इसके विरुद्ध यह कहा है कि शब्द वायु का गुण इसलिए नहीं हो सकता कि वायु के अन्य स्पर्श आदि गुण यावद्द्रव्यभावी देखे जाते हैं। यदि शब्द भी स्पर्श आदि की तरह वायु का गुण होता तो वह भी स्पर्श आदि की तरह यावद्दृष्टव्य-भावी होता। अर्थात् वायु के अस्तित्व काल तक शब्द रहता किन्तु ऐसा पाया जाता नहीं, अतः शब्द को वायु का गुण नहीं माना जा सकता। परन्तु विचार करने पर यह उनका कथन इसलिए उचित नहीं प्रतीत होता कि यह कथन तो ऐसा ही कहा जायेगा कि स्पर्श यदि कान से गृहीत नहीं होता है तो शब्द भी कान से ग्रहीत न हों। इसलिए यह यौक्तिक नहीं कहा जा सकता कि वायु का स्पर्श यावद्द्रव्यभावी होता है तो शब्द को वायुगत मानने पर उसे भी वैसा होना ही चाहिए। दूसरी बात यह कि गतिशील वायु भी तो निरन्तर स्वकीय कण विच्युतिप्रयुक्त अलग-अलग ही होता रहेगा। अतः वायुगत रूप से मान्य शब्द यावद्द्रव्यभावी होता नहीं यह भी दृढ़तापूर्वक नहीं कहा जा सकता। यह जो उन लोगों ने कहा कि 'शब्द स्पर्शवान् अर्थात् पृथिवी जल तेज और वायु इनका गुण नहीं है क्योंकि यह न तो अग्निसंयोगासमवायिकारणक है और न कारण गुणपूर्वक' यह कथन भी उचित इसलिए नहीं हो पाता कि वह कारण-गुणपूर्वक होता नहीं, यह कैसे निर्णय कर लिया गया? अतः नैयायिकों और वैशेषिकों का अनुमान स्वरूपासिद्ध दोषग्रस्त हो जाता है। क्योंकि पक्ष-शब्द में हेतुभूत अकारण-गुणपूर्वकत्व आता नहीं, अतः शब्दों को भूतगुण मानने में कोई बाधा नहीं जा रही है। वेदान्ती आदि दार्शनिक भी शब्द को भूतधर्म ही माना है। नैयायिक वैशेषिक आदि विवेचकों ने शब्दों को ध्वनि और वर्ण [२१०] इन दो प्रभेदों में विभक्त माना है। परन्तु तत्त्वतः विवेचन करने पर शब्द के ये विभाजन टिक नहीं पाते। क्योंकि ध्वनियाँ ही विभिन्न परिस्थितियों को प्राप्त कर वर्णात्मक रूप में प्रतीत एवं व्यवहृत होती है यह अनुभव सिद्ध है। उन विवेचकों मृदंग

---

(२१०) शब्दो ध्वनिश्च वर्णश्य च मृदङ्गादिभवो ध्वनिः। *- भाषा-परिच्छेद, गुणनिरूप।*

आदि अनाध्यात्मिक साधनों से होने वाले शब्दों को ध्वनि कहा है और कण्ठसंयोग आदि आध्यात्मिक कारणों से होने वाले शब्दों को वर्णात्मक माना है। परन्तु विवेचन की कसौटी पर कसने पर यह कथन इसलिए नहीं टिक पाता है कि कुशल वाद्यवादक वाद्यों से भी जब स्पष्ट बोल निकालता है तब वे वाद्यशब्द भी वर्णात्मक प्रतीत होते हैं और रोगादिग्रस्त मानव भी जब लड़खड़ाते हुए अस्फुट वाक्यों को बोलते हैं तो वहाँ स्पष्टतया प्रभिव्यक्त भाव से क ख आदि की श्रूयमाणता न होने के कारण वे उनके शब्द ध्वनिमात्र ही रह जाते हैं। इसीलिए वहाँ श्रोताओं को अर्थबोध नहीं होता है। तीसरी बात यहाँ ध्यान देने की यह भी है कि उक्त शब्द-विभाजन के आधार पर पशु-पक्षियों के शब्दों को क्या कहा जा सकेगा? कण्ठ संयोगादिजनित होने के कारण वर्णसमूहात्मक कहना इसलिए कठिन होगा कि श्रोताओं को क ख आदि वर्णों का वहाँ श्रवण होता नहीं और उक्त परिभाषा के अनुसार मृदंगादि अनाध्यात्मिक साधनजन्यता भी तो वहाँ होती नहीं। यदि यह कहा जाय कि पशुओं के शब्दों से मानवों को भले ही बोध न होता हो किन्तु अन्ततःसजातीय पशुओं को उन शब्दों से बोध होता ही है, अतः उन शब्दों को भी वर्णात्मक मानना होगा। तो इसके सम्बन्ध में वक्तव्य यह है कि इस कथन से फलतः ध्वनिमात्र की शब्दता ही सिद्ध होती है। क्योंकि कण्ठ संयोग आदि जन्य क ख आदि को ही उक्त विभाजनवादी वर्ण मानते हैं। पशु वाक्य यदि तत्त्वतः वर्णात्मक होते तो वे मानवों के लिए भी वर्णात्मक होते। क्या मानव और क्या पशु-पक्षी आदि अन्य प्राणी, सभी एक प्रकार सुनते और उससे बोध करते। किन्तु जब ऐसा होता नहीं तो इससे यह स्वतः सिद्ध हो गया कि ध्वनि और वर्ण रूप में शब्द का विभाजन आपेक्षिक है, ज्ञानाश्रित है, वास्तविक नहीं। और पशु-पक्षी आदि के शब्दों को ध्वनि मानते हुए भी यदि अन्वय व्यतिरेक का दृढ़ अनुशीलन करें तो उसे पशुपक्षियों के अवर्णात्मक शब्दों से भी उनके अभिप्रेत अर्थों का भान होता ही है। इसीलिए योगशास्त्र के अन्दर सर्वभूत रूतज्ञान की चर्चा पायी जाती है और आधुनिक कतिपय पाश्चात्य अन्वेषक भी पक्षिगत ज्ञान करते हुए सुने जाते हैं और ध्वन्यात्मक शब्द के सम्बन्ध में भी जब दो व्यक्तियों के अन्दर संकेत निर्णय हो जाते हैं तो उससे अर्थबोध का होना पाया ही जाता है। अतः किसी भी विभाजक के आधार पर ध्वनि और वर्ण इन दो प्रभेदों में शब्दों का विभाजन वास्तविक रूप से सम्भव नहीं है। इस प्रकार विवेचन उपस्थित करने के अनन्तर वर्णनित्यता, स्फोट आदि की मान्यता आदि स्वतः निरस्त हो जाते हैं। इस उपस्थापित गुण-विवेचन के अन्त में फिर यह स्मरण दिला देना अनुचित नहीं कहा जायेगा कि वास्तविकता के आधार पर गुण और गुणी भिन्न नहीं, अभिन्न ही होते हैं।

चार्वाक मत में कर्म-अतिरिक्त पदार्थ नहीं

गुण और गुणी की तरह कर्म और कर्मी भी तत्त्वतः अभिन्न ही हैं। हाँ, यह बराबर ध्यान रखना चाहिए कि गुण-गुणी और कर्म-कर्मी आदि के बीच होने वाला अभेद-भेद-सहिष्णु समवायात्मक ही मान्य है जिसकी चर्चा पहले बारम्बार की जा चुकी

है। कर्म की चलनरूपता में कोई विवाद नहीं है। यह कर्म स्फुट और अस्फुट इस प्रकार दो प्रभेदों में विभक्त है। अस्फुट कम्पन को ही परिणामवादी सांख्य आदि दार्शनिक परिणाम शब्द से कहते हैं। किन्तु तत्त्वतः विचार किया जाय तो वह भी मृदु कम्पनात्मक ही है। एतत्सम्बन्धी विशद विवेचन मेरे पदार्थ शास्त्र द्वितीय भाग में पाया जा सकता है। नैयायिक एवं वैशेषिकों ने जो पाँच [२११] उत्क्षेपण प्रक्षेपण आदि प्रभेदों में कर्म का तत्त्वतः विभाजन किया है वह अतिअल्प पारिस्थितिक विभिन्नता पर आधारित होने के कारण वास्तविक रूप में मान्य नहीं कहा जा सकता। क्योंकि इस प्रकार अल्प पारिस्थितिक विभेद के आधार पर विभाजन को बढ़ाते जाने पर उनकी मान्य पंचविधता सर्वथा अमान्य हो उठेगी। इस बात का अनुभव कुछ परवर्ती नैयायिक एवं वैशेषिक विवेचकों ने भी किया तभी इस विभाजन के सम्बन्ध में उन्होंने अपना ऐसा हृदयोद्‌गार व्यक्त किया है 'इस प्रकार कर्म विभाजनकारी की निन्दा और स्तुति इसलिए उचित नहीं कि आखिर वे स्वतंत्रेच्छ मुनि जो ठहरे?' कहने का तात्पर्य यह कि गमन ऊर्ध्वाभिमुख हो या अन्याभिमुख, इच्छा प्रयुक्त हो या अनिच्छाप्रयुक्त गमन ही है, कर्म ही है, एक जैसा ही है। अतः उत्क्षेपण आदि रूप में किया जाने वाला कर्म विभाजन कोई मौलिक महत्त्व नहीं रखता। यह यहाँ इसलिए भी आवश्यक है कि इस चार्वाक सिद्धान्त में दिक् कोई स्वतंत्र द्रव्य नहीं मान्य है यह बात बतलाई जा चुकी है। ऐसी परिस्थिति में उत्क्षेपण-अपक्षेपण आदि रूपों में क्रियाओं का विभाजन यहाँ सम्भव ही नहीं हो सकता। क्योंकि उक्त कर्म-विभाजन दिग्विभिन्नता पर आधारित है यह उनके नामों से ही स्पष्ट है। साथ ही इच्छा और अनिच्छा के आधार पर जो उत्क्षेपण और उद्‌गमन में अन्तर नैयायिकों एवं वैशेषिक विवेचकों ने माना है उसे भी मूल्यवान् नहीं कहा जा सकता। क्योंकि गमन की दृष्टि में उन दोनों में कोई अन्तर प्रतीत होता नहीं। इच्छापूर्वक होने वाले हाथ के उत्पातन से ऊदूखल आदि दृढ़ आधार से टकराये हुए मुशल आदि में संलग्नह हाथ के अनिच्छापूर्वक होने वाले उत्पतन में उत्थान की दृष्टि में भला क्या अन्तर बतलाया जा सकता? इसके अतिरिक्त एक बात और भी कर्म के सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य यह है कि कर्म का विनाश जो उत्तर संयोग से नियमतः नैयायिकों एवं वैशेषिकों ने माना है वह भी उचित नहीं प्रतीत होता। हाँ, वेग प्रयुक्त कर्म-धारास्थल में वेग विनाश संयोग से तत्रत्य कर्म का नाश मान्य प्रतीत होता है। फलतः दूरगतिस्थल में कर्मधारा न मानकर कर्म की एकता ही मान्य है।

चार्वाकीय-दृष्टि में सामान्य भी अतिरिक्त मान्य नहीं

इस चार्वाक सिद्धान्त में गुण-गुणी और कर्म-कर्मी की तरह सामान्य और सामान्यवान् ये दोनों भी अभिन्न मान्य हैं। और अभेद भी पूर्ववत् समवायात्मक ही मान्य है। समान्य की परिभाषा वही जहाँ भी मान्य है जिसे नैयायिकों और वैशेषिकों ने दुहराया

(२११) उत्क्षेपणं ततोऽपक्षेपणमाकुञ्चनं तथा
प्रसारणं च गमनं कर्माण्येतानि पञ्चच। – *भाषा-परिच्छेद।*

है। अर्थात् नित्य होता हुआ जो अनेक [२१२] आशयों में एकरूप से विद्यमान हो वह है सामान्य। गोत्व, घटत्व आदि में यह परिभाषा भलीभाँति संगत होती है कि सृष्टि अनादि एवं अनन्त होने के कारण सदा विद्यमान गोघट आदि में गोत्व, घटत्व आदि सामान्य सदा रहते हैं अतः वे नित्य होते हैं और गायों एवं घटों की विभिन्नता के कारण वे अनेक आश्रयों में समवाय से रहने वाले भी होते हैं अतः सामान्य होते हैं इसी प्रकार अन्यत्न भी समझना चाहिए। बौद्ध आदि दार्शनिक इसे नहीं मानना चाहते। वे कहते हैं कि सामान्य 'अपोह' है और कुछ नहीं। अपोह का अर्थ होता है तद्भिन्नभेद। यहाँ 'तत्' पद से ग्राह्य होता है सामान्य का आश्रय। यथा घटत्व की सामान्यता स्थल में 'तद्भिन्नभेद' यहाँ पर तत् पद से ग्राह्य होता है घट। इस प्रकार तद्भिन्न पद से हाथ में आते हैं घड़ों को छोड़कर अन्य सारी वस्तुएँ और उन सारी वस्तुओं का भेद आता लौटकर सब घड़ों में ही। अतः सभी घड़ों में लौटकर आने वाला उक्त भेद ही है घटत्व। इसी प्रकार गोत्व आदि का भी विवेचन समझना चाहिए। यह है बौद्धों का सामान्य के सम्बन्ध में अभिप्राय। परन्तु यह मान्य इसलिए नहीं है कि 'घट भिन्न भेद' यहाँ पर प्रथम घट पद से सारे घड़ों को लेने पर ही बौद्धों का उक्त कथन संगत हो सकता है। और सो घटत्व सामान्य को मान्यता दिये बिना हो नहीं सकता। क्योंकि एक 'घट' पद से अतीत अनागत व्यवहित विप्रकृष्ट घड़ों तक को कैसे लिया जा सकता? घटत्व सामान्य को मान्यता पक्ष में उसकी सर्व-घटानुगति के कारण उससे नियंलित होने वाली घट पद की वाच्यता सब घड़ों में जा सकती है अतः एक घट पद से सारे घड़े हस्तगत हो सकते हैं। परन्तु इस विचार के अनुसार जिस अपोह के आधार पर बौद्ध पक्ष से सामान्य-खण्डन का दावा किया जाता है। वह अपोह ही सामान्य की मान्यता के बिना मान्य नहीं हो पाता अतः उक्त अपोह के सहारे सामान्य का खण्डन नहीं किया जा सकता। इस सामान्य के सम्बन्ध में विशेष वक्तव्य यह है कि यहाँ सांकर्य को जातिवाधक नहीं मानना है सारांश यह कि अनेकानुगत एक धर्म को सामान्य ही मानना है। अन्यथा गोत्व, घटत्व आदि भी सामान्य नहीं हो पायेंगे। क्योंकि घटत्व से रहित चाँदी में रजतत्व रहता है और रजतत्वरहित मिट्टी के घड़ों में घटत्व रहता है और चाँदी के घड़ों में रजत्व और घटत्व दोनों रह जाते हैं। इस प्रकार रजत्व और घटत्व ये दोनों आपस में संकीर्ण हो जाते हैं। अतः सांकर्य को जातिबाधकता यहाँ मान्य नहीं है। इस जाति के मान्यता के विरुद्ध बौद्ध लोग [२१३] एक प्रबल तर्क यह उपस्थित करते हैं कि जब सब गायों में एक गोत्व और सब घड़ों में एक घटत्व माना जायेगा तो इसका अर्थ यह होगा कि प्रत्येक सामान्य नियमतः व्यापक हुआ करेगा। अन्यथा अति दूरवर्ती विभिन्न आश्रयों में एक कोई सामान्य कैसे रह पायेगा? और प्रत्येक सामान्य के व्यापक हो पाने पर गोत्व,

---

(२१२) नित्मेकमनेकानुगतं सामान्म्। – तर्कसंग्रह।

(२१३) न याति न च तत्नासीन्नचोत्पन्नं नचांशवत्।
जहाति पूर्वं नाधारमहो व्यसनसन्ततिः॥ – सर्वदर्शनसंग्रह।

घटत्व आदि भेद से मान्य सामान्यगत विभिन्नता कैसे बन पायेगी? और ऐसा न बन पाने पर गाय, घड़ा, कपड़ा इन व्यावहारिक वस्तुओं की विभिन्नता जो कि प्रत्यक्षतः अनुभूयमान है सर्वथा नष्ट हो बैठेगी। सारांश यह कि गाय भी घोड़ा और घोड़ा भी गाय हो बैठेंगे। सारा व्यवहार अस्त-व्यस्त हो उठेगा। नैयायिकों एवं वैशेषिकों ने बौद्धों को इसका उत्तर यह दिया है कि सामान्य स्वतः व्यापक होते हुए भी सर्वत्र प्रतीत इसलिए नहीं होता कि प्रतीत नियामक उसका समवाय सम्बन्ध सर्वत्र समान रूप से रहता नहीं। गोत्व का समवाय विभिन्न स्थानस्थित गायों में होता है घोड़े, गदहे, खच्चर आदि सबमें नहीं। इसलिए यह आपत्ति सामान्य की मान्यता पक्ष में नहीं दी जा सकती कि गाय भी घोड़ा प्रतीत हो जाय और घोड़ा भी गाय। प्रतीतिगत आपत्ति का निराकरण इस प्रकार करने पर भी उनकी वास्तविक एकता की आपत्ति इसलिए नैयायिकों एवं वैशेषिकों को दी जा सकती है कि वे लोग अनेक व्यापकों का सहअस्तित्व मानते हैं। आकाश, कालदिक् और आत्माएँ जो कि व्याप्त हैं सह रहते हैं। समानदेशता का विरोध मूर्तों ही में होता है अमूर्तों में नहीं और व्यापक मूर्त हो सकते नहीं। क्योंकि क्रियाशील ही मूर्त होता है और व्यापक क्रियाशील हो सकता नहीं क्योंकि कौन-सा स्थान उससे रिक्त रहेगा जहाँ वह हिल-डोल पायेगा? परन्तु परवर्ती नव्यनैयायिक रघुनाथ शिरोमणि मान्य पृथिवी आदि द्रव्यों के अन्दर आकाश, काल, दिक् और आत्मा इन चारों को एक ही मानते हैं। जिसकी चर्चा पहले भी की जा चुकी है। तदनुसार अनेक व्यापक की अमान्यता प्राप्त होती है और उसके आधार पर गोत्व, घटत्व आदि की एकता प्राप्त हो आने के कारण गाय, घट आदि भी एकता आपन्न हो सकती है। इसके सम्बन्ध में नैयायिक एवं वैशेषिक विवेचकों ने अपना कोई स्पष्ट वक्तव्य नहीं दिया है।

इस चार्वाक सिद्धान्त में यह आपत्ति इसलिए नहीं उपस्थित हो सकती है कि मूलतः यह सिद्धान्त एकमात्र महासमवायात्मक भूताद्वैतवादी है अतः भेदघटित अभेद भी सबमें मान्य ही है। तभी तो पशुरूप में, प्राणी रूप में, वस्तु रूप में, गाय, घोड़े, गदहे आदि एक ही हैं। साथ ही यहाँ तत्त्वभूत भूतचतुष्टय भी आपस में सर्वथा अन्योन्य मिथुन मान्य हैं। इसलिए भी एकता उस प्रकार आपत्ति का स्थान नहीं बन पाती जिस प्रकार न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त में। फलतः यहाँ सामान्य की व्यावहारिक मान्यता में कोई बाधा नहीं उपस्थापित हो सकती। हाँ, तत्त्वतः वह स्वाश्रय से अभिन्न ही होगा। विशेष कूट ही होगा।

चार्वाक-सिद्धान्त में विशेष-पदार्थ अतिरिक्त मान्य नहीं

नैयायिकों एवं वैशेषिकों ने सामान्य के विपरीत 'विशेष' नामक भी अतिरिक्त पदार्थ माना है। उनका कहना यह है कि सावयव वस्तुओं को फलतः साश्रय वस्तुओं को आश्रय भेद प्रयुक्त भिन्न समझा जा सकता है परन्तु निरवयव अतः निराश्रय चारों भूतों के परमाणुओं एवं आकाश, काल, दिक् आदि व्यापक द्रव्यों, इनमें विद्यमान पारस्परिक भेद के ज्ञानार्थ ज्ञापक रूप में विशेष नामक एक स्वतंत्र पदार्थ अवश्य मान्य है जो संख्या में

अनन्त है। इस विशेष के सहारे ही उक्त निरवयव द्रव्यों का पारस्परिक भेद ज्ञात होता है। अर्थात् विशेषों को हेतु बनाकर परमाणु आदिगत अनुमिति होती है। अत: विशेष अवश्य मान्य है। परवर्ती नैयायिकों एवं वैशेषिकों ने इस विशेष नामक एक स्वतंत्र पदार्थ की मान्य के विपरीत इस प्रकार बौद्धिक अभियान किया कि परमाणु आदि के भेद ज्ञापक इन विषयों को जब तक विभिन्न न समझ लिया जाय तब तक उनके सहारे उनके आश्रयों को भी नहीं विभिन्न समझा जा सकता। यदि उन मान्य विशेषों को भी विभिन्न समझने के लिए उनमें भी विशेषान्तर मान्य हो तो अनवस्था चल पड़ेगी। अत: अनन्त अन्त्य विशेषवादियों को भी उन स्वमान्य विशेषों को स्वत: व्यावृत मानना होगा। अर्थात् भिन्न मानते हुए यह कहना पड़ेगा कि मान्य परमाणु आदि के व्यावर्तक विशेष, स्वगत भेद-ज्ञान के लिए विशेषान्तर की अपेक्षा रखते नहीं। अत: उक्त अनवस्था आपन्न नहीं हो सकती। परन्तु ऐसा कहने पर माने हुए परमाणु आदिगत विशेष भी उनके हाथ से निकल पड़ेंगे। क्योंकि उक्त माने हुए विशेष की तरह परमाणु आदि को ही क्यों न स्वतोव्यावृत्त अर्थात् स्वत: भिन्न मान लिया जाय? जबकि उन विशेषाश्रय रूप में विवक्षितों को ही स्वत: भिन्न मान लेना उचित होगा। क्योंकि ऐसा मान लेने पर अनन्त अन्त्य विशेषों की कल्पना से प्राप्त होने वाले गौरव का भार तो हल्का हो पड़ेगा? परन्तु यहाँ अतिरिक्त विशेष पदार्थ की मान्यता के विरुद्ध उपस्थाप्य युक्ति यह नहीं, और है। एक यह कि इस चार्वाक सिद्धान्त में परमाणु और आकाश आदि मान्य नहीं हैं यह बात विस्तृत भाव से बतलाई जा चुकी है। ऐसी परिस्थिति में उनके पारस्परिक भेदों का ज्ञापन विशेष पदार्थ की मान्यता का प्रयोजन नहीं बतलाया जा सकता। दूसरी बात यह कि परमाणु आदि की मान्यता देने वाले भी तर्क के प्रकाश में विशेष की सिद्धि इसलिए नहीं कर सकते कि इस विशेष के सहारे परमाणु आदिगत भेदों का ज्ञान ये किसे करायेंगे? सबको या योगियों को? 'सबको' यह इसलिए नहीं कहा जा सकता कि उनके मत में परमाणु आकाश आदि की अतीन्द्रियता के कारण जनसाधारण उन्हीं को नहीं देख पायेगा तब तद्गतभेद के ज्ञान का प्रश्न ही नहीं उठेगा। योगियों के लिए विशेषों की मान्यता इसलिए नहीं उचित कहला पायेगा कि वे अपने योगबल से परमाणु आदि को प्रत्यक्षत: देखेंगे, अत: भेद को भी देखेंगे ही। फिर भेदानुमिति अपेक्षित ही न होगी यदर्थ विशेष मान्य हो सकें।

चार्वाक मत और अभाव

अभाव की अनुभूति प्रत्येक प्राणी करता है। यदि गहराई के साथ देखा जाय तो क्या मानव और क्या अमानव प्रत्येक प्राणी की प्रवृत्तियाँ अभावमूलक होती हैं। किसी भी अपेक्षित वस्तु का अभाव अर्थात् अपने पास न होना जब प्राणी को खटकता है तब उसे पाने के लिए वह प्राणी प्रवृत्त होता है यह सर्वानुभव-सिद्ध है। अत: अभाव का बिल्कुल अपलाप नहीं किया जा सकता है। इस अभाव के सम्बन्ध में नैयायिकों और वैशेषिकों का

---

(२१४) नित्यद्रव्यवृत्तयो विशेषस्त्वनन्ता एव। – *तर्कसंग्रह।*

कहना यह है कि अभाव के प्रभेद चार हैं – प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव [२१५]। इन चार अभाव प्रभेदों के अन्दर प्रथम तीन को वे लोग कहते हैं संसर्गाभाव। तदनुसार अभावों को दो प्रभेदों में भी विभक्त कहा जा सकता है। इन अभावों के अतिरिक्त कुछ लोग एक स्वतंत्र अभाव सामयिकाभाव भी मानते हैं। इन अभावों का परिचय वे इस प्रकार देते हैं कि किसी भी उत्पत्तिशील वस्तु के होने के पहले विद्यमान उसका अभाव कहलाता है प्रागभाव। और किसी भी वस्तु की अस्तिता के विपरीत प्राप्त होने वाली परिस्थिति से आगन्तुक अभाव होता है ध्वंस अथवा प्रध्वंसाभाव। इसी को शब्दान्तर में नाश–विनाश आदि भी कहा जाता है। वायु में होने वाला रूप का अभाव होता है अत्यन्ताभाव, जो लोग अत्यन्ताभाव के अतिरिक्त सामयिकाभाव भी मानते हैं वे किसी स्थान में कभी होने एवं कभी न होने वाले अभाव को सामयिकाभाव कहते हैं। जैसे घड़ा कभी घर में रहता है और कभी रहता नहीं। अतः घर में उसके न रहते समय होने वाला घटाभाव होता है सामयिकाभाव। दो भावों या अभावों के बीच विद्यमान भेद होता है अन्योन्याभाव। इसे ही परस्पराभाव भी कहा जाता है। इसी के आधार पर विभाजन या वर्गीकरण हुआ करता है। मीमांसकों के अन्दर यहाँ कुमारिल का सम्प्रदाय भी बहुत कुछ इसी प्रकार अभावों को मान्यता देता हुआ पाया जाता है। किन्तु प्रभाकर का सम्प्रदाय अभाव को भावान्तर ही मानता है। बौद्ध लोग इस अभाव के सम्बन्ध में अपना यह मत व्यक्त करते हुए पाये जाते हैं कि 'निरोध' है अभाव। निरोध के प्रभेद दो हैं – प्रति संख्या निरोध और अप्रतिसंख्या–निरोध [२१६]। ये दोनों ही निरोध आकाश की तरह असंस्कृत अर्थात् कारण के बिना ही होने वाले होते हैं। प्रतिसंख्या है प्रज्ञा तन्मूलक होने वाला निरोध अर्थात् वियोग फलतः अभाव कहलाता है। प्रतिसंख्या–निरोध और किसी भी वस्तु के होने के प्रति अतिविघ्नभूत अर्थात् स्वतः विरोधी होने वाला निरोध अर्थात् अभाव कहलाता है 'अप्रतिसंख्या–निरोध।' इसका अभिप्राय यह है कि किसी के बिना समझे ही जो स्वतः प्रतिक्षण वस्तुओं का विनाश होता रहता है वह होता है अप्रतिसंख्या–निरोध। इस बौद्ध–सिद्धान्त के ऊपर गहराई के साथ दृक्पात करने पर प्रतीत यह होता है कि मूलतः ये लोग जो कि बाह्य वस्तु और विज्ञान का अथवा केवल विज्ञान का अस्तित्व मानते हैं वे बौद्ध–विवेचक निरोधात्मक ध्वंस को ही केवल अभाव रूप से मान्यता देते हैं, जो कि उनके लिए यौक्तिक भी है। क्योंकि प्रत्येक भाव जबकि अपने अव्यवर्हित पर क्षण में बोरिया बिस्तर बान्ध बैठेगा, महाप्रयाण कर बैठेगा, नष्ट हो जायेगा, तब नाश के अतिरिक्त उसका अभाव क्या और कैसे माना जा सकेगा? अतः वे लोग केवल नाश को ही अभाव

---

(२१५) अभावस्तु द्विधा संसर्गान्योन्याभावभेदतः।
प्रागभाव स्तथा ध्वंसोप्यत्यन्ताभाव एवच।
एवं त्रैविध्यमापन्नः संसर्गाभाव इष्यते। *– भाषा–परिच्छेद।*

(२१६) प्रतिसंख्यानिरोधो यो विसंयोगः पृथक् पृथक्।
प्रतिसंख्याहि प्रज्ञा; तथा निरोधोऽयं भवति॥ *– अभिधर्मकोश।*

मानते हैं और उसे ही 'निरोध' कहते हुए ज्ञातता और अज्ञातता के आधार पर उसे फिर प्रतिसंख्या-निरोध और अप्रतिसंख्या-निरोध इस प्रकार दो प्रभेदों में विभक्त मानते हैं। परन्तु नागार्जुनीय बौद्ध मतवाद की ओर ध्यान देने पर वहाँ ध्वंसात्मक अभाव की मान्यता का बिल्कुल प्रश्न ही नहीं उठता। क्योंकि वहाँ तत्त्वत: किसी वस्तु की उत्पत्ति ही नहीं होती फिर ध्वंस हो किसका? परन्तु अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव इन दोनों अभावों की मान्यता सम्बन्धी विचारधारा की मौलिक गन्ध वहाँ प्राप्त होती है। क्योंकि उनके द्वारा मान्यता प्राप्त 'असत्ता' अत्यन्ताभाव के अतिरिक्त और कुछ हो नहीं सकती और जब उस सिद्धान्त के द्वारा मान्यता प्राप्त 'चतुष्कोटिविनिर्मुक्त' की ओर दृष्टि पड़ती है तब कुछ अन्योन्याभाव का भी बीज वहाँ बिखरा-सा दिखाई देता है। क्योंकि वे लोग अपने तत्त्वभूत असत् को 'चतुष्कोटिविनिर्मुक्त' कहते हैं, जिसका सरल अभिप्राय यह होता है कि वह सत् भी नहीं, असत् भी नहीं, सदसत् भी नहीं और सदृसद्भिन्न भी नहीं। चतुष्कोटि-विनिर्मुक्त की यह व्याख्या अन्योन्याभाव को मान्यता दिये बिना कथमपि सम्भव नहीं। क्यों 'घड़ा कपड़ा नहीं है और कपड़ा घड़ा नहीं है' इस प्रकार प्रतीयमान होने वाला अभाव ही तो होता है अन्योन्याभाव? तदनुसार 'शून्य सत् नहीं' इत्यादि रूप से प्रतीयमान अभाव को अन्योन्याभाव के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता? परन्तु एक बात गहराई में छिपी वहाँ यह अवश्य है कि माध्यमिक दृष्टिकोण से उस अभाव को अन्योन्याभाव परस्पराभाव आदि शब्दों से न कहकर 'भेद' शब्द से ही कहना उचित होगा। क्योंकि अन्योन्याभाव शब्द से कहे जाने वाले अभाव के लिए दोनों ओर मान्यता प्राप्त दो प्रतियोगियों की आवश्यकता अनिवार्य रूप से प्रतीत होती है जो कि उक्त स्थल में शून्य सिद्धान्त के अनुरूप सम्भव नहीं। मालूम होता है इसी ओर लक्ष्य करके परवर्ती विवेचकों ने भेद को अन्योन्याभाव कहा। नैयायिकों एवं वैशेषिकों ने अपने घर की परिस्थिति के अनुसार एक प्रागभाव को भी मानकर उक्त प्रकार से अभाव को चतुर्विध कहा। अब प्रकृत चार्वाक सिद्धान्त के अनुसार अभाव और उसके स्वरूप की मान्यता के विषय में जिज्ञासा उदित होने पर उत्तर रूप में वक्तव्य यह उचित प्रतीत होता है कि अभाव केवल संसर्गाभाव ही माना जाय। अन्योन्याभाव भी फलत: किसी में किसी और के तादात्म्य संसर्ग का ही अभाव होता है। प्रागभाव को उत्तरकाल संसर्ग का अभाव और ध्वंस को पूर्वकाल संसर्ग का अभाव भलीभाँति कहा जा सकता है। अत्यन्ताभाव और सामयिकभाव तो संसर्गाभाव होते ही हैं। वायु में रूप के संसर्ग का अभाव और घर में घट के संयोग संसर्ग का अभाव कहा ही जाता है। चार्वाक-सिद्धान्त में किन्तु यह अभाव तत्त्वत: आधार के अतिरिक्त और कुछ उसी तरह मान्य नहीं है जिस प्रकार प्रभाकर के सिद्धान्त में अत: मान्य भूताद्वैत में कोई बाधा आपन्न होती नहीं।

दशम प्रकरण

वेद और चार्वाक-सिद्धान्त

चार्वाकीय-दृष्टिकोण से मान्य तत्त्व-सम्बन्धी विवेचन हो जाने के अनन्तर इस सिद्धान्त की मान्यता एवं प्राचीनता आदि पर भी यथासम्भव प्रकाश डालना अनुचित नहीं, उचित ही कहा जायेगा। उपलब्ध भारतीय साहित्यों के अन्दर वेद सर्वाधिक प्राचीन है यह सर्वथा निर्विवाद है। वैदिक-साहित्यों के अन्दर भी ज्ञान-काण्ड से अपेक्षाकृत कर्मकाण्ड प्राचीन माना जाता है, जो कि यौक्तिक भी है। क्योंकि ज्ञानकाण्ड में कर्म का त्याग करके ज्ञान का आश्रयण उपदिष्ट हुआ है। त्याग कभी अप्राप्त का सम्भव होता नहीं, इसलिए वैदिक-कर्मकाण्ड के द्वारा कर्म की प्राप्ति के अनन्तर ही कोई भी विरक्त मुमुक्षु कर्म के त्यागात्मक संन्यासस्वरूप-ज्ञाननिष्ठा का आश्रयण कर सकता है। ऐसी परिस्थिति में यह अनिवार्य रूप से मान्य ही होगा कि वेद का कर्मकाण्डात्मक भाग जो कि संहिता एवं तात्सम्पृक्त यागयज्ञ आदि का विधायक है, कर्मत्यागोपदेशात्मक उपनिषद् भाग से प्राचीन है एवं त्रिवर्ग, साधन का मार्ग होने के नाते अधिक-संख्यक जनता के लिए तो सर्वथा सकाश्रयणीय है ही, अधिकिन्तु ऐसे मुमुक्षुओं के लिए भी आश्रयणीय है जिसकी हृदयभूमि ज्ञानांकुर के समुदाय के अनुरूप विशुद्ध नहीं हो। क्योंकि वह विशुद्धि विहित कर्माचरण से ही प्राप्त होती है यह सभी लोग मानते हैं। इसके अनुसार अतिउपादेय कर्मकाण्डात्मक वेद-भाग से यदि इस भूतचैतनिक चार्वाक सिद्धान्त की पुष्टि होती हो, दोनों के अन्दर प्रचुर रूप में मतैक्य पाया जाता हो, तो यह मानना ही होगा कि चार्वाक-सिद्धान्त वैदिक सिद्धान्त है और इसलिए यह अतिप्राचीन तथा समाश्रयणीय है। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो सारा का सार वैदिक-कर्मकाण्ड-भाग चार्वाकीय भूत-चैतन्य-सिद्धान्त से भरा पाया जाता है। कहीं पृथ्वी की स्तुति की जाती है तो कहीं जल की। कहीं अग्निस्वरूप भौम-तेज का विस्मृत स्तवन चल रहा है तो कहीं विद्युत-स्वरूप दिव्य-तेज का। कहीं आज्य से बातें की जा रही हैं तो कहीं सोमलता या उसके निचोड़े हुए तरल रस से। कहीं हव्य-पुरोडाश को यह कहा जा रहा है कि तुझे सुन्दर निवासस्थान दे रहा हूँ तो कहीं सूखे कुश से यह कहा जा रहा है कि तुम्हें तोड़ रहा हूँ। कहीं सूर्य, चन्द्र आदि भौतिक ग्रह एवं उपग्रहों की स्तुति है तो कहीं पर्वत, मेघ आदि भूत भौतिकों की। इस सम्बन्ध में किसी भी वेद-व्याख्याता के द्वारा विरोध नहीं उपस्थापित हो सकता है कि वेद के कर्मकाण्ड भाग में ये बातें नहीं हैं या इस तरह की बातों से सारा वैदिक-कर्मकाण्ड भाग नहीं भरा पड़ा है और ऐसा मान लेने पर यह सर्वथा सुस्पष्ट भाव से प्राप्त होता है कि सारी वैदिक कार्मिक-

विचारधारा चार्वाकीय-भूतचैतन्य-सिद्धान्त से ओतप्रोत है। जो व्यक्ति मिट्टी और जल को, भौतिक चन्द्र और सूर्य को, पुरोडास और आज्य को, सोम और कुश को, चेतन नहीं मानेगा, वह उससे विवेकी प्राणी की तरह कैसे उक्त प्रकार बातें कर पायेगा? यदि चार्वाक-सम्मत भूत-चैतन्य का आदर करता है तभी उसे यह अधिकार सर्वथा प्राप्त होता है कि किसी भी भूत भौतिक को चेतन-प्राणी की तरह सम्बोधन करें और उससे यह प्रार्थना करें कि तुम मेरा साहाय्य करो। तुम मेरे लिए हिंसक मत बनो इत्यादि।

सम्भव है, कुछ लोग यहाँ यह अपना वक्तव्य उपस्थित करें कि उक्त स्थलों में भूत नहीं सम्बोधित हुए हैं। भूतों से कहा गया है किन्तु उन भूतों के अधिष्ठाता देवों से। अत: इसके आधार पर चार्वाकसिद्धान्त-सिद्ध भूत-चैतन्य को वैदिक नहीं ठहराया जा सकता। तो यह उनका कथन इसलिए नहीं संगत कहा जा सकता कि वेद विवेचक मीमांसकों का एक दल चेतन देवता की मान्यता में आस्था नहीं रखता। ऐसी परिस्थिति में यह कैसे निर्विवाद रूप में कहा जा सकता कि चेतन देवता के अभिप्राय से वैदिक-कर्मकाण्ड भाग में उक्त प्रकार कथन आदि हुआ है केवल भूतों के अभिप्राय से नहीं? दूसरी बात यह ध्यान देने की है कि अधिष्ठात्री देवता मानने पर भी उस देवता को भूताबद्ध अर्थात् शरीरी माना जायगा या नहीं? यदि हाँ, तो वह शरीर और शरीरी भी तो प्रमाणों के द्वारा चेतनभूत के अतिरिक्त और कुछ नहीं सिद्ध हो सकता? ऐसी परिस्थिति में दृश्यमान भूत को ही क्यों न चेतन मान लिया जाय? फिर तो उक्त स्थलों में भूत सम्बोधन ही मान्य होगा, इसलिए चार्वाकसम्मत भूतचैतन्य-सिद्धान्त को मान्यता देनी होगी। पूरे यज्ञ की एक अधिष्ठात्री देवता भले ही मान्यता का औचित्य प्राप्त करे किन्तु याज्ञिक प्रत्येक वस्तु के लिए यहाँ तक कि प्रत्येक तिनके तक के लिए अधिष्ठात्री देवता की कल्पना कदापि मौलिक नहीं कही जा सकती, मान्य नहीं ठहरायी जा सकती। अत: उक्त प्रकार प्रत्येक वैदिक भौतिक सम्बोधन-स्थल को उक्त प्रकार देवता की कल्पना के द्वारा अभूत-चैतन्य का ज्ञापक नहीं बनाया जा सकता। इसलिए उक्त प्रकार भूत चैतन्य स्थापक घटनाओं एवं कथनोपकथन आदि से समग्र वैदिक कर्मकाण्ड व्याप्त होने के कारण यही मानना उचित प्रतीत होता है कि समग्र वैदिक-कर्मकाण्ड चार्वाकसम्मत भूतचैतन्य को ही मान्यता देता हुआ अर्थियों की कामना के अनुरूप फल की प्राप्ति के लिए याग-यज्ञ आदि क्रियाओं का विधान करता है। सुतरां भूतचैतन्य-प्रधानक चार्वाक सिद्धान्त सर्वथा वैदिक है अवैदिक नहीं, और अति प्राचीन है आधुनिक नहीं। अपोरुषेय अथवा ईश्वरप्रणीत होने के कारण सर्वथा आदरणीय वेद के द्वारा समर्थित होने के कारण आदरणीय है अनादरणीय नहीं। साथ ही कर्मकाण्ड की क्रिया-प्रधानता निर्विवाद होने के कारण भी वहाँ भूतप्रधानता मान्य है। क्योंकि क्रिया और उसके आश्रयभूतों का अभेद स्थापित हो चुका है।

उपनिषद और चार्वाक सिद्धान्त -

यों तो वेद का ज्ञानकाण्ड जिसे अन्य शब्द में उपनिषद् कहा जाता है ज्ञानांश की

ही गुणगरिमा का वर्णन विस्तारपूर्वक करता हुआ पाया जाता है, फिर भी भूतभौतिकों के प्रभाव से उसे भी सर्वथा मुक्त नहीं कहा जा सकता। अन्वेषण करने पर उपनिषत्साहित्य के अन्दर भी ऐसे वाक्य पाये जाते हैं जिनसे चार्वाकीय भौतिक-महत्त्वमय दृष्टिकोण पर प्रकाश पड़ता है - उदाहरण के लिए सर्वप्रथम ईशोपनिषत् के छठे मन्त्र को उपस्थित किया जा सकता है। मन्त्र के द्वारा यह कहा गया है कि जो व्यक्ति [२१७] सारे भूतों में आत्मदृष्टि रखता है और आत्मा में समग्र भूतदृष्टि रखता है वह किसी में भी घृणादृष्टि करता नहीं। इस कथन से क्या यह सारांश नहीं निकलता कि भूतात्यवाद जो कि चार्वाकदर्शन की ही विशेषता है इस मन्त्र द्वारा वर्णित हुआ है? केनोपनिषद् द्वितीय खण्ड के अन्तिम अर्थात् पंचम वाक्य द्वारा यह कहा गया है कि 'इस चराचरात्मक भौतिक संसार को यदि सत्य समझा तो ठीक है और यदि ऐसा नहीं समझा तो समझो महान् विनाश प्राप्त है। प्रत्येक भूत को आत्मा समझने वाली ही मर कर अमृत अर्थात् मुक्त हो सकती है।[२१८]' इसहै द्वारा भी चार्वाकीय भूतात्मक वाद प्रतिपादित होता है। कठोपनिषद् के अन्दर बीसवें पद-वाक्य के द्वारा यह कहा गया है कि 'आत्मा अणु से अणु और महान् से महान् है जिसे प्राणी अपनी बुद्धि-गुहा के अन्दर रखता है अर्थात् जो बुद्धि का विषय होता है।[२१९]' अक्रतु अर्थात् साधारण क्रियाओं से अपनी बुद्धि को अलग करके चिन्ताशील व्यक्ति धातुप्रसाद अर्थात् तत्त्वगत प्रसन्नता से फलतः वस्तु की विशदता प्रयुक्त, आत्मा की महत्ता को जानता है। यह महत्ता उक्त महासमवायात्मक अद्वैत व्यापक भूत-तत्व की ही हो सकता है। प्रम्नोपनिषद् के अन्दर चतुर्थ प्रश्नगत सप्तम और अष्टम वाक्यों को देखते हुए मन पूर्ण रूप से चार्वाकीय-सिद्धान्त का समर्थक बनता है। कहा यह गया है कि हे सोम्य! जैसे पक्षी अपने वासस्थानभूत वृक्ष में सम्प्रतिष्ठित होते हैं उसी प्रकार स्थूल एवं सूक्ष्म पृथिवी, जल, तेज आदि आत्मा में सम्प्रतिष्ठित होते हैं। [२२०] यहाँ प्रतिपादित आत्मा यदि महाभूत-समवायात्मक न लिया जाय, भूतातीत निगण नित्य-विज्ञानात्मक लिया जाय, जिसे कि भाष्यकार शंकर आदि ने लिया है, तो दृष्टान्त ठीक नहीं उत्तर पायेगा, अतः महासमवायात्मक अद्वैत-भूत को ही लेना उचित है, और ऐसा होने पर वर्णित चार्वाक सिद्धान्त का ही आदर

(२१७) यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यर्ति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥ ६॥ -ईश०-उप०

(२१८) इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति नचेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः। प्रेत्यास्माल्लोका दमृता भवन्ति॥ ५॥
- केनोपनिषत्, द्वितीय खण्ड।

(२१९) अणोरणीयान् महतो महीयानात्मास्यजन्तौ तिहितो गृहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातु प्रसादान्महिमानमात्मनः॥ २०॥
- कठोपनिषत्, द्वितीयवल्ली।

(२२०) पथाह सोम्य! वयांसि वासो वृक्षं सम्प्रतिष्ठन्ते। एवं हबे तत्सर्व पर आत्मनि सम्प्रतिष्ठन्ते।७।
- ग्रश्नोपनिषत् ४ प्रश्न।

होता है। मुण्डकोपनिषद् में भूतात्मक अग्नि की महत्ता विस्तारपूर्वक बतलायी गयी है। [२२१] काली-कराली आदि सात जिह्वाओं का वर्ण और उनमें आकृतियाँ एवं फल आदि प्रतिपादित हुए हैं, अतः चार्वाकीय भूत तत्त्व के प्रभाव से सर्वथा मुक्त मुण्डकोपनिषद् को भी नहीं कहा जा सकता। इतना ही नहीं द्वितीय मुण्डक प्रथम खण्ड के अन्तिम भाग में यह कहा गया है कि समुद्र, गिरि, पर्वत [२२२] सारी औषधियाँ और रस सभी जिससे निर्गत होते हैं - वहीं भूतों से वेष्टित अर्थात् परिपूर्ण अन्तरात्मा है। जिससे यहाँ इन वस्तुओं की निर्गति बतलायी गयी है, वह चार्वाकसिद्धान्त-सिद्ध उक्त महासमवायात्मक अद्वैत-भूत से अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। अन्यथा निर्गुण, निरवयव, निष्क्रिय आत्मा से वर्णित निर्गति एवं वहाँ उनको अवस्थिति भला कैसे सम्भव बतलाई जा सकती? माण्डूक्योपनिषद् के अन्दर छठे वाक्य के द्वारा यह कहा गया है कि 'यह आत्मा सर्वेश्वर है, सर्वज्ञ है, अन्तर्यामी है सबका योनि अर्थात् कारण है, भूतों का भव एवं अप्यय है अर्थात् पृथिवी आदि भूत इसी से बहिर्गत होते हैं और इसी के अन्तर्गत होते हैं।' यहाँ कथित भूतों के भव एवं अप्यय रूप में यदि महासमवायात्मक भूत को न लिया जाय तो कथन संगत नहीं हो सकता। [२२३] क्योंकि अमूर्त्त मूर्त्त का भव एवं अप्यय अर्थात् बहिर्गत एवं अन्तर्गत करने वाला हो नहीं सकता। तैत्तिरीयकोपनिषद् में भृगुवल्ली के अन्दर अत्यन्त विस्तारपूर्वक अन्न-ब्रह्म का वर्णन किया गया है। [२२४] यह वर्णन भूतात्मवाद की मान्यता के बिना कभी संगत नहीं हो सकता। ऐतरेयोपनिषद् के अन्दर जो प्रजनन की पद्धति बतलायी गयी है एवं यह कहा गया है कि 'ब्रह्मा, इन्द्र, प्रजापति सारे देव पंचमहाभूत पृथिवी, जल, तेज आदि जितने हैं सब 'प्रज्ञानेत्र' हैं, प्रज्ञान में प्रतिष्ठित हैं' इत्यादि, इससे भी महासमवायात्मक अद्वैत-भूत का वर्णन प्राप्त होता है। [२२५] क्योंकि अमूर्त्त निर्गुण में कैसे उक्त स्थिति संगत कहला सकती है। रही बात 'प्रज्ञानेत्र' और प्रज्ञान की, तो वह भी चार्वाकीय दृष्टिकोण से

---

(२२१) काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा।
स्फुलिंगिनी विश्वरूची च देवी लेलायमाना इति सप्तजिह्वाः॥४॥
- मुण्डकोपनिषत् १ मुण्डक, २ खण्ड।

(२२२) अतस्समूद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः।
अतश्च सर्वा औषधयो रसश्च येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा॥९।
- मुण्ड०, २ मुण्डक १ खण्ड।

(२२३) एश सर्वेश्वरः एष सर्वज्ञः एषोन्तर्याम्येष योनिः सर्शस्य प्रभावात्ययौ वि भूतानाम्। ह।
- माण्डूक्योपनिषत्।

(२२४) अन्नाद्वै प्रजाः जायन्ते। सर्व वैतेऽन्नमाप्नुवन्ति येऽन्नब्रह्मोपासते। अन्नंहि भूतानां ज्येष्ठम्।
- तैत्तिरीयोपनिषत्, २ अनुवाक, अन्तिम वाक्य।

(२२५) एष ब्रह्मेष इन्द्र एष प्रजापतिः पञ्चस्थावरं सर्व तत्प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म॥ ३॥
- ऐतरेयोपनिषत्, २ आरण्यक, ६ अध्याय, ५ खण्ड।

विपरीत इसलिए नहीं कहा जा सकता कि इससे भूतचैतन्य का स्पष्टीकरण होता है। छान्दोग्य उपनिषद् के अन्दर जो प्रजापति इन्द्र एवं विरोचन की आख्यायिका वर्णित है वह भी चार्वाकसिद्धान्त का ही पोषक है।[२२६] विरोचंन ने प्रजापति के उपदेश से व्यष्टि शरीर को ही आत्मा समझा जो कि अंशतः सत्य होने पर भी महासमवायात्मक अद्वैत-आत्मा तक न पहुँचने के कारण पूर्ण सत्य नहीं कहा जा सका। इन्द्र ने पुनः जिज्ञासु बनकर उस महासमवायात्मक अद्वैत भूतात्मा को समझा। वृहदारण्यक उपनिषद् के अन्दर विद्युत, अग्नि आदि को ब्रह्म कहा गया है, अन्न को ब्रह्म कहा गया है। मृत्यु के अनन्तर पुनर्जन्म की जो पद्धति बतलायी गयी है। जिसके अन्दर यह बतलाया गया है कि जीवात्वा वायु,[२२७] सूर्य, चन्द्र आदि में जाता है एवं उसी क्रम में उतर कर जन्म प्राप्त करता है, वह वाद भूतात्मवाद को मान्यता दिये बिना संगत नहीं हो सकता। पंचाग्सि-विद्या भी इस मत के अनुकूल प्रतीत होती है। क्योंकि तत्तत्-भूतात्मक अग्नि में पड़ने वाली आहुति, भूत की ही बतलायी गयी है और स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि पंचमी आहुति [२२८] में जाकर प्रथमाहुत जलात्मक-भूत, पुरुष कहलाता है। अर्थात् प्राणी कहलाता है। इससे भौतिक जन्मान्तर पर भी प्रकाश पड़ता है जिसकी चर्चा पहले भी की जा चुकी है।

रामायण और चार्वाकसिद्धान्त -

बाल्मीकीय रामायण के अन्दर भी चार्वाकसिद्धान्त की चर्चा पायी जाती है। अयोध्याकाण्ड के १०० संख्यक सर्ग में यह कथा आयी है, कि जंगल चले गये राम को जब भरत लौटाकर अयोध्या के राज सिंहासन पर बैठाने की इच्छा से राम के पास गये हैं, तो राजधानी अयोध्या के सम्बन्ध में विस्तृत कुशल प्रश्न पूछते हुए राम ने भरत से यह कहा है कि - 'भाई भरत! तुम लोकायतिक ब्राह्मणों की सेवा तो नहीं करते? अर्थात् उनके विचार के अनुसार तो नहीं चलते? क्योंकि ये अपने को बड़े पण्डित लगाने वाले अल्पबुद्धि लौकायतिक ब्राह्मण लोग अनर्थ अर्थात् अनाचरण में ही कुशल हुआ करते हैं, चतुर हुआ करते हैं।'[२२९] यहाँ 'ये' इस राम कर्त्तक कथन से यह प्रतीत होता है कि तर्ककुशल लोकायतिक ब्राह्मण लोगों को भरत राम को समझाने के लिए अपने साथ ले गये

(२२६) अथ हेन्द्रोऽप्राप्येव देवानेतद्भयं ददर्श। यथैव खल्वामस्मिन्छरीरे नाहमत्र भोग्य पश्यामीति। १। *- छान्दोम्य, खण्ड ९, अध्याय ८ ।*

(२२७) यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकान् प्रैति सवायुमागच्छिति। १। *- वृहदारण्यक ब्रा० १० अध्याय ५ ।*

(२२८) पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुष-वचसो भवन्ति। *- वृहदारण्यक।*

(२२९) कच्चिन्न लोकायतिकान-ब्राह्मणांस्तान! सेवसे?
अनर्थकुशलाह्येते वालाः पण्डितमानिनः। ३८।
धर्मशास्त्रेषु मुख्येषु विद्यमानेषु दुर्बधाः।
बुद्धिमान्वीक्षिकीं प्राप्य निरर्थ प्रवदन्ति ते॥ ३९॥
- वाल्मीकीय रामायण, अयोध्याकाण्ड, सर्ग १०० ।

थे राम के पास। राम ने लौकायतिकों के सम्बन्ध में भरत से और यह भी कहा कि 'मुख्य रूप से आदरणीय धर्मशास्त्रों के होते हुए भी ये दुर्बुध अर्थात् विषय में अपनी बुद्धि को नियोजित करने वाले लौकायतिक लोग, आन्वीक्षिकी बुद्धि को अर्थात् प्रत्यक्षाश्रित तर्क को प्राप्त करके फलतः दुस्तर्क का सहारा लेते हुए व्यर्थ बहुत बका करते हैं।' बाल्मीकीय रामायण के 'रामाभिराम' [२३०] टीकाकार ने यहाँ यह अपना मत व्यक्त किया है कि राम ने यहाँ दो तरह के लौकायतिकों को लक्ष्य करके उनके प्रति अपना अभिप्राय व्यक्त किया है। [२३१] लौकायतिकों के एक दल को लक्ष्य करके यह कहा कि 'ये बहुज्ञ न होते हुए भी अपने को पण्डित मानते हैं तथा अनर्थ कुशल है अर्थात् वैदिक अभिचारात्मक मारण, मोहन, वशीकरण आदि में भी चतुर होते हैं।' और लौकायतिकों के द्वितीय दल को लक्ष्य में रखकर उन्होंने भरत से यह कहा कि 'ये अपर लौकायतिक लोग आन्वीक्षिकी के अभ्यास से दुर्बुद्धि-वैभव प्राप्त करके जल्प वितण्डात्मक कथा को अपनाते हुए धर्मपथ से विच्युत हुआ करते हैं।' उक्त टीकाकार ने इस प्रकार अपनी व्याख्या के समर्थन में यद्यपि कुछ नहीं कहा है, अतः अनेक विवेचक उक्त टीकाकार कथित लौकायतिकगत द्वैविध्य से सहमत नहीं भी हो सकते हैं। परन्तु आगे चलकर अयोध्याकाण्ड के ही १०८ और १०९ सर्ग को देखते हुए टीकाकार द्वारा वर्णित उक्त लौकायतिक-द्वैविध्य समर्थित होता है। वहाँ १०८ सर्ग में कथा यह आयी है कि भरत के बहुत कहने-सुनने पर भी जब राम अयोध्या लौटने को राजी नहीं हुए, भरत के द्वारा उपस्थापित युक्तियों का खण्डन करते हुए, अपने न लौटने के सम्बन्ध में किये गये निर्णय को अपरिवर्तनीय ठहराते गये, तब ब्राह्मणोत्तम जाबालि ने उन्हें इस प्रकार धर्मविरुद्ध प्रतिपावन-मार्ग को अपनाते हुए कहा कि -'आप जैसे बुद्धिमान [२३२] व्यक्ति को यह निरर्थक दुर्बुद्धि शोभा नहीं देती। सोचिए भला इस संसार में कौन किसका बन्धु है और कौन किसका बान्धव? प्राणी अकेला ही इस संसार में उत्पन्न होता है और अकेला ही मरता है। कोई किसी का साथ देता नहीं, इसलिए माता-पिता आदि बन्धु-बान्धवों की कल्पना करके जो लोग उनमें अनुरक्त होते हैं अर्थात् उनके वचन-पालन को अपना कर्त्तव्य समझते हैं, वे पागल हैं सचमुच देखा

---

(२३०) लोकायतिकान्‌चार्वाकमतानुचारिणः प्रत्यक्षमात्रप्रमाणकान्। अपरेलोकायतिकाः शुष्कतर्कवावदूकाः। ब्राह्मणत्वेऽपि तदपरिग्रहे हेतुमाह अनर्थेति। द्वितीय लोकायतानां त्यागे हेतु माह धर्मेत्यादि। आन्वीक्षिकीतर्कविद्या। शुष्कतर्क-विद्याजनितां बुद्धिमवलन्व्य निरर्थ निष्प्रयोजनं वदन्ति, यथा आत्मन ज्ञानाश्रयत्वम्, ईशोजगन्निमित्तिका-रणनित्यज्ञानादिगुण कश्चेत्यादि श्रुतिविरुद्धवादाभिप्रायमिदम्।

- वा०रा०, अ०म० १०० श्लोक-३८, ३९ रामायण टीका।

(२३१) आश्वासयन्तं भरतं जावान्ति प्राह्मिणोत्तमः।
उवाकरामं धर्मज्ञं धर्मायेत मिदं वाचः॥ १॥ *- वाल्मी० रा०, अयो०, सर्ग १०९।*

(२३२) साधुराघव! भाभूते बुद्धिरेवं निरर्थिका।
प्रकृतस्य नरस्येव ह्यार्यबुद्धे सतपस्विन:॥ २॥ *- वाल्मी०, अयो०, सर्ग १०८।*

जाय तो कोई किसी का नहीं है। जिस प्रकार यात्री मार्ग में रात बिताने के लिए कहीं-कहीं कुछ देर के लिए ठहरता है सही, किन्तु उस स्थान के साथ प्रेम नहीं जोड़ता, सबेरा होते ही वहाँ से चल पड़ता है, उसी प्रकार प्राणी को पिता, माता, घर, वस्तु इनसे स्थायी सम्बन्ध नहीं जोड़ना चाहिए। तात्पर्य यह है कि पिता की आज्ञा के पालनार्थ इस प्रकार कष्ट नहीं सहना चाहिए। राजत्याग नहीं करना चाहिए। अयोध्या की राजगद्दी पर आपका जन्मसिद्ध अधिकार है इसलिए उसे छोड़ कर दुःख कण्टकबहुल इन निन्दानयी मार्ग का आश्रयण आप करें यह उचित नहीं है। अयोध्या-नगरी कोई वियुक्ता नारी के समान उत्सुकतापूर्वक आपकी प्रतीक्षा में निरन्तर खड़ी है अतः आप उसे अपनाएँ। दशरथ [२३३] आपके कोई नहीं थे, और आप दशरथ के कोई नहीं लगते, अतः जो मैं कहता हूँ उसे आप मानें। राजा दशरथ को जहाँ जाना था वहाँ चले गये। यह तो प्राणियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति है, इसलिए आप व्यर्थ इस विडम्बना में पड़े हुए हैं। सांसारिक पुरुषार्थ की प्राप्ति सम्भव होने पर भी जो लोग धर्म के पचड़े में पड़कर सुख से विमुख होते हैं वे ही सचमुच शोचनीय हैं। अष्टका [२३४] आदि पितृश्राद्ध एवं देवयज्ञ ये सारे अन्न के लिए एक प्रकार उपद्रव ही तो हैं? अर्थात् इनमें व्यर्थ अन्न का नाश ही तो होता है? यदि यहाँ अन्य किसी के खाने से अन्य व्यक्ति को जन्मान्तर खाद्य की प्राप्ति हो तो फिर जीते हुए यात्रियों के लिए श्राद्ध करना चाहिए। ब्राह्मणों को खिलाना चाहिए। क्योंकि इसी प्रकार [२३५] उस दूर यात्री को मार्ग में भूख की निवृत्ति हो जायेगी। लोगों ने जो इन श्राद्ध आदि का प्रतिपादन शास्त्रों द्वारा किया है, वह सब दान लेने का तरीका बनाया है। दान लेने के लिए ही यह उपदेश दिया है कि यज्ञ करो, तप करो, दान दो इत्यादि। इसलिए आपको यह निर्णय कर लेना चाहिए कि परलोक नहीं है। जिस बात को आप सामने देख रहे हैं उसे ही सत्य मानें और तदनुरूप आचरण करें और पीछे की बातों को पीछे कर डालें। अच्छे लोगों द्वारा आदृत बुद्धि को अपनाकर आप भरत की प्रार्थना के अनुसार राज्य को स्वीकार करें।' पूरे एक सर्ग में विस्तारपूर्वक ये ही बातें बतलायी गयी हैं। जाबालि ने विस्तारपूर्वक राम को यही बातें कही हैं। अनन्तर अव्यवहित परवर्ती १०९ सर्ग में राम ने जाबालि को इस प्रकार उत्तर दिया है कि चरित्र ही जीवनगत अच्छाई और बुराई की कसौटी है। अगर मैं भी बुरे आचरणों को अपनाऊँ तो लोग क्या मुझे समझेंगे एवं कहेंगे। और साथ ही प्रजायें राजा का

---

(२३३) न ते दशरथः कश्चित् त्वं च तस्या न कश्चन।
अन्यो राजा त्वमन्यस्तु तस्मात्कुरु यदुच्यते॥ १०॥
गतः स नृपतिस्तत्र गन्तव्यं यत्र तेन वै।
प्रवृत्तिरेषा भूतानां त्वं तु मिथ्या विहन्यसे॥ १२॥ *- वा०रा०, अयो०, सर्ग १०८।*

(२३४) अष्टका पितृदैवत्य मित्ययं प्रसृतो जनः।
अन्नस्योपद्रवं पश्य मृतोहि किमशिष्यति?॥ १४॥ *- वाल्मी० रा०, अयो०, सर्ग १०८।*

(२३५) यदिभुक्तमिहान्येन देहमन्यस्य गच्छति।
दद्यात्प्रवसतां श्राद्धं न तत्पथ्यशनं भवेत्?॥ १५॥ *- वाली० रा०, अयो०, सर्ग १०८।*

ही अनुकरण किया करती हैं, इसलिए मेरे दुराचरण का कुफल यह होगा कि सारी प्रजा दुराचार की ओर अग्रसर हो पड़ेगी। सत्य और दया ये दोनों ही सनातन राजवृत्त हैं। अतः राज्य सत्यात्मक होता है। यह सारा संसार सत्य के बल पर ही प्रतिष्ठित है इत्यादि बहुत सी बातें बतलाते हुए राम ने जाबालि से यहाँ तक कहा कि 'इसके सम्बन्ध में तो मैं पिताजी की भी निन्दा करूँगा कि आप जैसे अधार्मिक-बुद्धि-वाले नास्तिक व्यक्ति को उन्होंने अपने यहाँ याजक आदि के रूप में स्थान दिया। राजा के लिए उचित तो यह है कि ...द्धि और चोर इन दोनों को समान समझे अर्थात् चोर के समान बौद्धों को भी दण्ड दें। बुद्ध ...े भी नास्तिक समझना चाहिए।'[२३६] राम ने जो जाबालि को उत्तर के रूप में कहा है उसका स्वरूप विस्तृत है। यहाँ संक्षेप में कुछ बातें मैंने बतलाई हैं। रामायण के इस लोकायत-सम्पृक्त अंश से लोकायत-सिद्धान्त पर बहुत प्रकाश पड़ता है। सर्वप्रथम यह कि इससे चार्वाकदर्शन की अति प्राचीनता व्यक्त होती है। क्योंकि रामराज्य काल में ही यह पतन की ओर अग्रसर हो चला था। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि इसकी सर्वमान्यता का एवं सर्वमान्य वास्तविक स्वरूप का अस्तित्व-काल उससे भी कितना प्राचीन रहा होगा? दूसरी बात यह कि दशरथ के राज्यकाल तक लोकायतमत पूर्ण निन्दित नहीं था। उसकी वह परिस्थिति उस समय नहीं परिलक्षित होती है जो महाभारत के समय। तीसरी बात यह कि लौकायतिकों की भी दो धारायें बतलाई गयी हैं। जिनके लिए बाल्मीकि ने ब्राह्मणोत्तम शब्द तक का प्रयोग किया है, उनके लिए भी लोकायत-सिद्धान्त का उपदेशक होना, प्रचारक होना, जनसाधारण की दृष्टि में कोई बुरी या आश्चर्यप्रद बात नहीं थी। कर्मठ ब्राह्मण लोग भी एक लौकायतिक-धारा को अपनाते थे। जाबालि की वैदिक कर्मठता इस बात से व्यक्त होती है कि राम ने उनसे यह कहा है कि 'यह मेरे पिता दशरथ ने उचित नहीं किया कि आप जैसे दुर्विचारी को अपने यहाँ स्थान दिया।' राम ने लोकायत के ही प्रसंग में जो बुद्ध की निन्दा की है, उन्हें नास्तिक कहा है, इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय में प्रचलित बौद्ध-विचारधारा भी द्वितीय लौकायतिक-विचारधारा ही थी। तब तक बौद्धन्याय या बौद्धदर्शन चार्वाकीयन्याय एवं दर्शन से अलग नहीं हो पाया था। अर्थात् द्वितीय नास्तिक लौकायतिक-विचारधारा उस समय बौद्ध-विचारधारा ही कही जाती थी। चौथी जो सबसे बड़ी बात यहाँ उपलब्ध हुई है वह यह है कि राम ने लौकायतिक-विचारधारा को 'आन्वीक्षिकी' कहा है। आन्वीक्षिकी की महत्ता [२३७] सर्वमान्य है। उसे विवेचकों ने सारी विद्याओं के लिए प्रदीप, सारे कर्मों का उपाय और

---

(२३६) निन्दाम्यहं कर्म कृतं पितुस्तत् यस्त्वागृह्लद्विवमस्थबुद्धिम्।
बुद्ध् यानयैवं विधया चरन्तं सुनास्तिकं धर्मपथादपेतम्। ३३।
यथाहि चोरः स तथाहि बुद्धा तथागतं नास्तिक मत्र विद्धिः। ३४।
– *वाल्मी० रा०, अयो०, सर्ग १०९।*

(२३७) आचार्य कौटिल्य और लोकायतमत 'शीर्षकुं' लेख देखिए।

सारे धर्मों का आश्रय कहा है। अतः सर्वथा विश्वसनीय राम की इस उक्ति से यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि अति प्राचीनकाल में जबकि सम्भवतः अन्य दर्शन अदर्शन के ही गर्भ में सचमुच पड़े थे तब अकेला यह लौकायतदर्शन ही सारे भावी दर्शनों के बीज रूप में विज्ञ जनता में उपस्थित था। इस चार्वाकदर्शन को सारे परवर्ती दर्शनों का बीज कैसे कहा जा सकता, इस पर आगे चलकर स्वतंत्र रूप से हम प्रकाश डालेंगे। बौद्ध-जातक परम्परा के अनुसार बुद्ध की भी परम्परा मान्य होने के कारण गौतम बुद्ध के अनेक पूर्व रामायण-काल में भी बुद्ध की चर्चा संगत कही जा सकती है।

भागवत और लोकायतसिद्धान्त -

प्राचीन साहित्यों के अन्दर श्रीमद्भागवत के लिए यह विशिष्ट स्थान सर्वथा सुरक्षित है। यह और बात है कि महापुराणों के अन्दर इसकी गणना मान्य है या नहीं। क्योंकि अनेक प्रकाण्ड-विवेचकों ने इसके सम्बन्ध में यह निजी मत व्यक्त किया है कि यह पुराणों के परे है। जो भी कुछ हो, अभी इस झमेले से ऊपर उठकर यहाँ देखना यह है कि भागवत जैसे विशिष्ट प्राचीन भारतीय साहित्य के अन्दर प्रकृत चार्वाक सिद्धान्त के प्रति आदर का बीजाणु कहीं बिखरा हुआ पाया जा सकता है या नहीं? तो गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर यह मानना पड़ेगा कि पाया जाता है। भागवत के एकादश स्कन्धगत २४ अध्याय में जो भगवान की उक्ति रूप में यह स्पष्ट कहा गया है कि [२३८] सृष्टि के आदि कृत-युग में अर्थात् सत्ययुग में लोग जबकि पूर्ण विवेकी थे, विचारशील थे, तब उनकी दृष्टि में ज्ञान और 'अर्थ' अर्थात् इष्ट भूतभौतिक वस्तुएँ ये दोनों एक अखण्ड रूप में विद्यमान थे। सारांश यह कि अति प्राचीनकाल में विवेकी लोग चैतन्यात्मक ज्ञान और भूतभौतिक वस्तुएँ इन दोनों को एक ही समझते थे। एक ही मानते थे, विभिन्न नहीं मानते थे। कुछ व्याख्याकारों ने 'कृतयुगे युगे' इस वाक्यांश के अन्दर 'कृतयुगे' के आगे 'अयुगे' ऐसा पदच्छेद माना है, तदनुसार अर्थ यह प्राप्त होता है कि कृतयुगे के प्रारम्भ एवं उससे भी पूर्व जबकि युग-विभाजन भी नहीं हुआ था, तब ज्ञान और भूत ये दोनों एक ही अखण्ड तत्त्व के रूप में माने जाते थे। इन दोनों ही व्याख्याओं के अनुसार चार्वाकीय सिद्धान्त का ही स्पष्ट रूप से समर्थन होता पाया जाता है। क्योंकि ज्ञान और भूत ये दोनों स्वतंत्र वस्तुएँ नहीं हैं। दोनों ही सर्वथा समवाय में आबद्ध होने के कारण अभिन्न हैं। यही

---

(२३८) आसीज्ज्ञान मथो अर्थ एकमेवाधिक स्थितम्।
यदा विवेकनिपुणा आदौकृतयुगे युगे।
तन्मायाफलरूपेण केवलं निर्घिकल्पितं
वाङ्मनोगोचरं सत्यं द्विधा समभवद्बृहत्
तयोरेकतरोह्यर्थः प्रकृतिः सोऽभयात्मिका।
ज्ञानं त्वन्थतमोभावः पुरुषः सोऽभिधीयते॥

- *श्रीमद्भागवत् स्कन्ध ११, अध्याय १४।*

तो चार्वाकीय-विचारधारा का मेरुदण्ड है, जिसका स्पष्ट उल्लेख भागवत् में मिलता है। इतना ही नहीं इसके अनन्तर होने वाले दार्शनिक विभाजन के सूत्रपात का उल्लेख इस प्रकार पाया जाता है कि 'वह अखण्ड एकतत्त्व अर्थात् भूत और चैतन्य का मिलित एक अद्वितीय-स्वरूप वास्तविक तत्त्व जो कि बृहत् अति महान् था, माया के कारण, फलतः अज्ञान के कारण द्विधा विभक्त हुआ। अर्थात् परवर्ती लोगों ने उस एक अखण्ड तत्त्व को द्विधा विभक्त समझा। जिन विभक्त दो तत्त्वों के अन्दर एक हुआ अर्थ अर्थात् भूतात्मक प्रकृति और दूसरा ज्ञान, जो कि लोगों से 'पुरुष' कहा जाता है।' इस कथन से यह स्पष्ट व्यक्त होता है कि भूत और चैतन्य हैं तो तत्त्वतः एक ही समवेत रूप में। किन्तु सांख्य आदि दर्शनों के विवेचकों ने निजी बौद्धिक-विश्लेषण द्वारा अलग-अलग जड़ांश और ज्ञानांश की कल्पना की। भागवत के इस कथन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि चार्वाकीय एक अखण्ड-भूत चैतन्य सिद्धान्त अति प्राचीन है और इसे परवर्ती अन्य दर्शनों के उद्गम के पूर्व पूर्ण आदर प्राप्त था। इससे पूर्व इसी स्कन्ध के तृतीय अध्याय में जो कहा गया है कि [२३६] 'उस भूतात्मा ने महाभूतात्मक चारों हाथों को धारण किये हुए इन महाभूतात्मक चारों हाथों से ही इसलिए सारे उच्चावचों को अर्थात् स्थावर जंगमात्मक अन्तर्वैषम्ययुक्त संसार को उत्पन्न किया कि अपनी ही अनुस्यूति सर्वत्र विद्यमान रहे एवं समझी जाय।' भागवत का यह कथन तो मानो हृदय खोलकर चार्वाकीय-सिद्धान्त का प्रतिपादन करता हुआ दीख पड़ता है। क्योंकि यहाँ उस जगत्कारण अद्वैत-तत्त्व को 'भूतात्मा' कहा गया है। इससे स्पष्ट उक्त चार्वाकीय महासमवायात्मक अद्वैत-भूततत्त्व की ओर इंगित पाया जाता है। साथ ही महाभूतों को जबकि महान् भुज अर्थात् हाथ कहा गया है और यह भी कहा गया है कि इन भूतों से ही वह समग्र जगत् की सृष्टि करता है तो वह अद्वैत-तत्त्व महासमवाय रूप है। उस व्यापक अद्वैत-तत्त्वात्मक विष्णु को जो 'चतुर्भुज' जगह-जगह पर कहा गया है, उसका रहस्य यही है कि वस्तुस्थिति के अनुरूप कल्पना के आधार पर भूत समष्ट्यात्मक उक्त महासमवाय ही 'चतुर्भुज' विष्णु की कल्पना का मूलाधार है। इसी एकादश स्कन्ध के अन्दर चतुर्थ अध्याय में जो यह कहा गया है कि [२४०] 'जिसके शरीर में ही समग्र त्रिभुवन सन्निविष्ट है जिसके भौतिक इन्द्रियों को लेकर ही प्राणी इन्द्रिय वाले हैं। ज्ञान स्वतः है। बल, ओज और चेष्टा, ये वायु के कारण हुआ करते हैं, और सत्त्व आदि के द्वारा वह स्थितिलय और उद्भव इनका प्रथम कर्त्ता है।' इसके द्वारा भी स्पष्ट रूप में उक्त महासमवायात्मक भूताद्वैत को समग्र सृष्टि, स्थिति और लय का कर्त्ता

(२३९) एभिर्भूतानि भूतात्मा महाभूतैर्महाभुजः।
ससर्जोच्चावचान्याद्यः स्वमात्रात्मप्रसिद्धये॥ – *श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ११, अध्याय ३।*

(२४०) यत्काय एष भुवनत्रय-सन्निवेशो
यस्येन्द्रियै स्तुनुभृतामुभयेन्द्रियाणि।
ज्ञानं स्वतः श्वसन तो बलमोज ईहा
सत्त्वादिभिः स्थितिलयोद्भव आदिकर्त्ता॥ – *श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ११, अध्याय ४।*

बतलाया गया है। यह प्रत्यक्षत: देखा जाता है कि उत्पत्तिशील प्रत्येक वस्तु इस भूत चतुष्टय से ही उत्पन्न होती है। इसलिए भागवत का यह कथन कि 'जगत् का कारण है 'भूतात्मा'। उसी में वस्तुएँ अवस्थित भी हैं और विलीन भी होती हैं।' यह जिस प्रकार चार्वाकसिद्धान्त को लेकर उत्पन्न होता है उस प्रकार अन्य किसी दार्शनिक सिद्धान्त को लेकर उत्पन्न होता नहीं। विष्णु की चतुर्भुजता की कल्पना जिस प्रकार उक्त चार्वाकीय अद्वैत भूतात्मक महासमवाय को लेकर संगत होती हुई प्रतीत होती है उस प्रकार अन्य दार्शनिक सिद्धान्त को लेकर नहीं। भागवत की और भी अनेक बातों से यहाँ प्रतिपादित चार्वाक सिद्धान्त भागवत द्वारा मान्यता-प्राप्त प्रतीत होता है। सर्वप्रथम श्रीकृष्ण को स्वयं भगवान् मानने को ही लिया जाय। यदि शरीरात्मवाद को, जो कि चार्वाक-सिद्धान्त की ही एक विशेषता है, कृष्ण के जिस स्वरूप का एवं जिन लीलाओं का वर्णन भागवत में पाया जाता है, जिन्हें सुनकर अपने को भगवद्भक्त कहने वाले सज्जन गद्गद हो उठते हैं, आनन्दाश्रु की धारा बहाते हैं उसे कृष्ण शरीर के अतिरिक्त और भला क्या कहा जा सकता है? चेष्टात्मक विभिन्न लीलाएँ शरीर के ही धर्म हो सकती हैं और किसी की नहीं, अत: कृष्ण को भगवान् मानने का स्पष्ट अर्थ होता है शरीरात्मवादी चार्वाक सिद्धान्त का समादर। इसी प्रकार श्री राम को भी भागवत् में तथा अन्यत्र भगवान् कहा गया है। राम जी की महत्ता का वर्णन भागवत् में इस प्रकार किया गया है कि जिस राज्यलक्ष्मी के लिए देवता लोग भी स्पृहाशील हो सकते हैं, लालायित हो सकते हैं, उसे अनायास छोड़कर अपने आर्य पिता की आज्ञा के पालनार्थ जिन्होंने गहन जंगल को अपनाया और अपनी दयिता की इच्छा के अनुसार माया-मृग के पीछे दौड़े, ऐसे महापुरुष के चरणारविन्द को मैं नमस्कार करता हूँ। ये सारे कथन भूतात्मवादी चार्वाक-दर्शन के अनुसार ही संगत हो सकते हैं, अन्यथा कभी नहीं। क्योंकि घटनात्मक चेष्टाएँ शरीरात्मक-भूत-धर्म ही हो सकती हैं, अन्य धर्म नहीं। यह तो मानना ही होगा कि भक्ति की आधारशिला चेष्टात्मक लीलाएँ ही हैं और कुछ नहीं। भागवत के अन्दर ऐसी घटना प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है जिन पर गम्भीरतापूर्वक दृक्पात करने पर जगह-जगह चार्वाक सिद्धान्त की मान्यता और उसकी उपादेयता, मुखरित हो उठती है। उदाहरण के लिए श्री कृष्ण के उदर में यशोदा के द्वारा किये गये समग्र विश्व-दर्शन को भी लिया जा सकता है। भागवत की इस कथा से सावयव महासमवायात्मक उक्त भूताद्वैत की मान्यता का स्पष्ट संकेत पाया जाता है और इसका दिग्दर्शन मिलता है कि एक क्षुद्र भौतिक कण से लेकर सर्वाधिक महान तक एक समवाय-सूत्र में बँधे हुए हैं। भागवत की एक घटना को और लीजिए। यह घटना विस्तारपूर्वक वहाँ वर्णित है कि श्री कृष्ण ने इन्द्र की पूजा को रोककर गोबर्धन की पूजा चलायी। इस घटना पर यदि विचारपूर्वक दृष्टि डाली जाय तो इससे भी चार्वाकीय भौतिक महत्ता का स्पष्ट समादर किया हुआ प्रतीत होता है। गोवर्धन की पूजा को भला भूतपूजा के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है जिसकी प्रवर्त्तना स्वयं भगवान् माने जाने वाले श्री कृष्ण ने की? इससे बढ़कर भूत-तत्त्वता के ख्यापक रूप में विवेकियों को और क्या चाहिए?

महाभारत और चार्वाक-सिद्धान्त -

महाभारत में भी चार्वाक की चर्चा पायी जाती है। यदि गहराई के साथ देखा जाय तो 'चार्वाक' इस नाम का, एवं व्यवहारतः उसके सिद्धान्त को अपनाते हुए भी उसके सिद्धान्त के प्रति बौद्धिक एवं मौखिक विरुद्ध प्रचार का, विशेषरूप से श्रीगणेश महाभारत से ही होता हुआ पाया जाता है। रामायण में भी श्री राम ने चार्वाक मत के उपदेशक जाबालि को कुछ भला-बुरा कहा है सही, परन्तु वशिष्ट ने राम के उस कथन का धीमे स्वर में प्रतिवाद किया है और महर्षि वाल्मीकि ने जाबालि को ब्राह्मणोत्तम कहा है। साथ ही रामायण काल तक 'चार्वाक' इस काम का उल्लेख नहीं पाया जाता है। लोकायतिक बुद्धि के निन्दक राम भी अन्ततः उस लोकायतिक बुद्धि को 'आन्वीक्षिकी' इस अति प्रतिष्ठित नाम से पुकारने के लिए बाध्य होकर उसकी महत्ता एवं उपादेयता का अपलाप नहीं कर पाये। दशरथ जैसे राजा लोकायतिक दृष्टिकोण को प्रश्रय देते थे, इसमें यह स्पष्ट व्यक्त होता है कि लोकायतिक-दर्शन दण्डदर्शनात्मक राजदर्शन था, जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। इन सारी बातों के अनुरूप अनपलपनीय रूप में प्रतीत होता है कि रामायण काल में लोकायतिक-सिद्धान्त की निन्दा उसी मात्रा में थी जितनी मात्रा में विरक्त व्यक्तियों के द्वारा परिस्थितिवश परिवर्तनशील राजनीति की निन्दा समय-समय पर हुआ करती है। परन्तु महाभारत के समय इसकी निन्दा की मात्रा अधिक हो जाती है जिसका परिचय महाभारत की एक कथा से पाया जाता है। यह कथा महाभारत के राजधर्मानुशासन पर्व में इस प्रकार वर्णित है कि जब महाभारत का युद्ध समाप्त हुआ, पाण्डव लोग विजयी हुए तब राजा युधिष्ठिर ने अपने दल के साथ विजयी के रूप में हस्तिनापुर में प्रवेश किया। नगर की सारी जनता एवं ब्राह्मणों ने विजयी राजा का सत्कार किया।[२४१] पाण्डवों के जयघोष से आकाश व्याप्त हो उठा। कुछ क्षणों के अनन्तर वह जयघोष शान्त हुआ, ब्राह्मण लोग अपने-अपने घर की ओर चलने लगे। उसी समय चार्वाक नाम का एक राक्षस बनावटी ब्राह्मण वेष धारण करके आ धमका, जो कि दुर्योधन का एक मित्र था। वह जपमाला, शिखा एवं त्रिदण्ड को धारण किये भिक्षु रूप में वहाँ स्थित होकर अन्य ब्राह्मणों की सम्मति लिये बिना ही राजा युधिष्ठिर से यह कहने लगा कि 'ये ब्राह्मण लोग मुझे आगे करके आपसे यह कह रहे हैं कि आप जैसे ज्ञातिघाती, कुनृपति को धिक्कार है। हे कुन्तीपुत्र, अपने बन्धु-बान्धवों का इस प्रकार नाश करने वाले तुमको भला क्या न होगा? उचित तो यह है कि अपने गुरुजनों तक को मार डालने के

(२४१) जयं प्रवदतां तत्र स्वतः प्रादुरभूनृप! २१।
निश्शब्दे च स्थिते तत्र ततो विप्रजने पुनः।
राजानं ब्राह्मणच्छद्मा चार्वाको राक्षसोऽब्रवीत्। २८।
तत्र दुर्योधनसखा भिक्षुरूपेण सम्वृतः।
साक्षः शिखी त्रिदण्डीच धृष्टो विगतसाध्वसः। १३।

- महाभारत, राजधर्मानुशासन-पर्व, अध्याय ३८।

लिए प्रायश्चितस्वरूप तुम भी मर जाओ। तुम्हें जीना नहीं चाहिए।' इस प्रकार जब उस छद्मवेशी राक्षस चार्वाक ने राजा युधिष्ठिर से कहा तब सुनने वाले ब्राह्मणों एवं पाण्डवों को विशेषत: राजा युधिष्ठिर को बहुत बुरा लगा, वे क्षुब्ध हो उठे। ब्राह्मण लोग गौर से देखकर उसे ताड़ गये। उन्होंने राजा से तथा आपस में यह कहने लगे कि आ गयी बात समझने में। यह तो दुर्योधन का मित्र चार्वाक नामक राक्षस है। वह परिव्राजक रूप में यहाँ उपस्थित होकर उसके दल का हित करना चाहता है। फिर क्या था, उन ब्रह्मवर्चस्वी ब्राह्मणों ने क्रोधपूर्वक हुंकार भरते हुए अपने क्रोधाग्नि में उसे जला डाला। वह उसी प्रकार जलता हुआ गिरा जिस प्रकार वज्र के गिरने पर कोई सघन पादप। यह है उक्त महाभारत राजधर्म प्रकरण अध्याय ३८ में प्रतिपादित कथा। चार्वाक का सम्बन्ध यहाँ ही समाप्त नहीं हुआ। इसके अनन्तर अध्याय ३९ में वासुदेव ने उक्त राक्षस चार्वाक का परिचय देते हुए युधिष्ठिर से यह कहा है कि यह भला ब्राह्मण कैसे हो सकता है? ब्राह्मण लोग तो इस पृथ्वी पर विद्यमान देवता हैं। उनकी वाणी में भले ही कटुता हो किन्तु अतिशीघ्र वे प्रसन्न होने वाले होते हैं। इसलिए वे हम लोगों के सदामान्य हैं, पूज्य हैं। इस चार्वाक राक्षस का परिचय यह है कि [२४२] यह सत्ययुग में वर्षों तक उत्तराखण्ड बदरिकाश्रम में तप करता रहा। तप से प्रसन्न हुए ब्रह्मा ने जब उस तपस्वी राक्षस से यह कहा कि वर माँगो तो उसने उनसे यही वर माँगा कि मुझे किसी से भय न हो। ब्रह्मा ने उससे यह कहा कि ब्राह्मणों के अपमान मात्र से तुम्हें भय है, और नहीं। इस प्रकार निर्भयता का वरदान प्राप्त कर लेने पर तो फिर कहना क्या था? वह पापी राक्षस चार्वाक देवताओं को सताने लगा। देवता लोग विचार-विमर्श के लिए एकत्र हुए। सोच-विचार कर ब्रह्मा के पास पहुँचे और उनसे सारी दु:खगाथा सुनायी। ब्रह्मा ने देवताओं से यह कहा कि अब चिन्ता की बात नहीं। अब इसकी मृत्यु निकट ही है। मनुष्य लोक में राजा दुर्योधन इसका मित्र होगा। उससे मैत्री के कारण यह ब्राह्मणों का अपमान करेगा। निदान कुछ ब्राह्मण देवता अपने तपोबल से इसे शाप देकर नष्ट कर डालेंगे। सो बात आज सही निकली। यह राक्षस चार्वाक ब्रह्मदण्ड से मारा गया। हे राजन्, आप दु:खी मत हों। आपने बुरा काम नहीं किया है। वे वीर क्षत्रिय लोग अपने क्षात्रधर्म के अनुसार युद्ध करके स्वर्ग सिधारे हैं। इस प्रकार चार्वाक राक्षस का परिचय दिया है।

आधुनिक विवेचकों का महाभारत के उपलब्ध बृहत् आकार के सम्बन्ध में यह स्पष्ट मत है कि वर्तमान उपलब्ध होने वाला महाभारत का महान् आकार अति प्राचीन काल में नहीं था। [२४३] यह महान् कलेवर महाभारत को एकदा ही नहीं प्राप्त हुआ है। कथा

---

(२४२) पुराकृते युगे राजन् चार्वाको नाम राक्षस:।
तपसोये महावाहो वदर्या बहुवार्षिकम्॥

– महाभारत, राजधर्मानुशासन पर्व, अध्याय ३९।

(२४३) (महा) भारत के वर्तमान रूप में परिवृहण का कार्य उपाक्ख्यानों को जोड़ने से हुआ है। *– संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ९२, बलदेव उपाध्याय।*

करने वाले विद्वान लोग कथाओं को रोचक बनाने के लिए अथवा किसी खास वक्तव्य विषय पर प्रकाश डालने के लिए जिन कथाओं को गढ़कर स्वयं कथा के समय जोड़ते गये, वे क्रमशः महाभारत के शरीरांश बनते गये। इस प्रकार धीरे-धीरे वह रूप जहाँ तक बढ़ आया वह रूप आज लोगों के समक्ष सार्वदिक रूप में प्रतीत होता हुआ उपस्थित है। सारांश यह कि सारी कथाएँ इतिहास रूप तथ्य नहीं हैं। यदि यह बात सही हो तो इस कथा को भी उन परवर्ती कल्पित कथाओं के अन्दर एक मानना होगा क्योंकि गहराई के साथ देखने पर इस कथा के अन्दर अनैतिहासिक तत्त्व भरे पड़े हैं। सर्वप्रथम यह कि कहाँ सत्ययुग और कहाँ द्वापर का अन्त इतने बड़े लम्बे समय तक वह चार्वाक राक्षस बैठा रहा। कभी उसके द्वारा ब्राह्मण का अपमान नहीं हो पाया और यहाँ आकर हुआ। दूसरी बात यह कि इस चार्वाक को भी मगध नृपति नन्द के मंत्री के समान 'राक्षस' कह दिया गया हो तो बात दूसरी है। किन्तु सचमुच राक्षस जातीय नहीं कहा जा सकता। क्योंकि जिस प्रकार उसे मायावी राक्षस कहा गया है एवं दुर्योधन का मित्र कहा गया है तदनुसार संग्रामगत योद्धा के रूप में भी इससे पूर्व इसकी प्रचुर चर्चा महाभारत में होनी चाहिए थी, जो कि हुई नहीं पाई जाती है। क्योंकि जब [२४४] वह ब्रह्मा के वरदान के बल से निर्भय बना हुआ था, केवल ब्राह्मणों के अपमान से ही भय था और दुर्योधन का सचमुच सखा था तो वह अपने घनिष्ठ मित्र के लिए लड़कर सफलता क्यों नहीं प्राप्त करता? इसके अतिरिक्त यह भी एक ध्यान देने योग्य बात है कि यदि विचार करके देखा जाय तो जहाँ वह मारा जाता है वहाँ भी तो उसके द्वारा वस्तुतः ब्राह्मणों का अपमान नहीं किया गया है। क्योंकि उसने ब्राह्मणों को तो किसी प्रकार दुर्वाच्य तक नहीं कहा है। जो भी कुछ कहा वह युधिष्ठिर से ही कहा। इतनी ढिठाई अवश्य उसने की कि उन ब्राह्मणों के समक्ष ही यह कह डाला कि ये ब्राह्मण ऐसा कहते हैं। परन्तु इसे ब्राह्मण का अपमान नहीं कहा जा सकता। यदि वह संचमुच एक मायावी राक्षस था तो यह उसके लिए अतिसाधारण बात थी। ऐसा क्षुद्र अपराध ब्राह्मणों के प्रति आज तक वह कभी नहीं कर पाये, यह बात कभी नहीं हो सकती। इसलिए इसे ऐतिहासिक कथा नहीं कहा जा सकता। रही बात इस कथा के अभिप्राय की तो मालूम ऐसा पड़ता है कि साधारण लोग बड़ों से सम्पर्क करके जब महान् हो जाते हैं तो गर्वोन्नत होकर वे मान्यों की अवमानना करते हैं और उसके फलस्वरूप विनाश प्राप्त करते हैं। अतः दैववश यदि महत्ता प्राप्त हो जाय तो गर्वोन्मत्त नहीं होना चाहिए। अनुचित मार्ग को नहीं अपनाना चाहिए। इस उपदेश के लिए ही सम्भवतः यह कथा प्रचलित हुई होगी। उधर सम्भवतः उस समय चार्वाक सिद्धान्तियों में पूर्वापेक्षा मानव-दोषों का बाहुल्य हो गया होगा, यत्प्रयुक्त जनता उन्हें अच्छी दृष्टि से नहीं देखती होगी। अतः चार्वाक को ही पात्र बना लिया होगा। महाभारत के इस उपाख्यान का प्रभाव महाभारत के परावर्ती साहित्य पर

(२४४) द्विजावमानादन्यत्र प्रादाद् वरमनुत्तमम्।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददौ तस्मै जगत्पतिः॥ ४॥

– महाभारत, राजधर्मानुशासन पर्व, अध्याय ३९।

प्रचुर मात्ना में पड़ा। जिसका परिक्तय आगे किये जाने वाले विवेचनों से अनायास प्राप्त होगा। यों तो महाभारत की इस चार्वाकीय आख्यायिका अथवा लघुकथा से चार्वाक सिद्धान्त की स्पष्ट रूप में निन्दा ही की गयी प्राप्त होती है, फिर भी इससे यह बात तो अवश्य स्पष्ट हो उठती है यह दर्शन राजदर्शन था, दण्डदर्शन था, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। दुर्योधन की राजनीति सुदृढ़ थी और राजनीतिक दृष्टिकोण से प्रशंसनीय थी, इस बात का उल्लेख भारतीय साहित्य में प्रचुर परिमाण में पाया जाता है। महाभारत में ऐसे राजनीति निपुण राजा के साथ जबकि चार्वाक का सख्य सम्बन्ध बतलाया गया है, यहाँ तक कहा गया है कि 'यह चार्वाक राजा दुर्योधन का हितैषी है' तो यह मानना ही होगा कि चार्वाकीय-विचारधारा अवश्य राजनयिक दाण्डिक-विचारधारा थी, होगी। राजनीति कितनी भी सत्याश्रित और धर्माश्रित क्यों न हो वहाँ अन्ततः 'मंत्न' की आवश्यकता रहती ही है। अधिक स्पष्ट मानी जाने वाली आज की परतंत्न-राजनीति के अन्दर भी विभिन्न पृष्ट विषयों को 'गोपनीय' कह कर, इस विषय का स्पष्टीकरण जनहित के पक्ष में नहीं है, कह कर मंत्नी लोग टालते हुये पाये ही जाते हैं। जहाँ मंत्नियों को अत्यन्त कथन-संकट प्राप्त होता है, उत्तर देने का कोई चारा नहीं दीखता, वहाँ अन्ततः यह कह कर मंत्नी लोग अपना पिण्ड छुड़ाते पाये जाते हैं कि 'सरकार इस पर गम्भीरतापूर्वक विचार कर रही है।' परराष्ट्रनीति के सम्बन्ध में अत्यन्त जागरूकता अपेक्षित होने के कारण गुप्त रूप से, प्रच्छन्नतम रूप में, बहुत कुछ करना पड़ता है, एवं पता लगाना ही पड़ता है। यह निर्विवाद है कि राजनीति स्पष्ट सत्य को आगे लेकर नहीं चलती। इसलिए वैयक्तिक जीवन को लेकर ही चलने वाले विरक्त धार्मिक लोग सत्तारूढ़ राजनीति के निन्दक बन जाते हैं, जिन्हें कि राजनीति से कोई प्रयोजन नहीं रहता। अपने-अपने इष्टफल को पाने के लिए सतत राजसुख देखने वाले लोग इसलिए सत्तारूढ़ राजनीति के निन्दक एवं विरोधी बन जाते हैं, कि अधिकसंख्यक प्रार्थी अपने इष्टों को सिद्ध होते नहीं देखते, ये सारी बातें सर्वथा मान्य हैं। अतः सत्तारूढ़ राजनीति के प्रति लोगों की अनास्था, और उसकी निन्दा में प्रवृत्ति आदि स्वाभाविक ही है। कहने का सारांश यह कि एक सच्चे राजनीतिज्ञ छल-बल सबको राज्य के लिए अपनाने वाले, भारत-सम्राट दुर्योधन का जब चार्वाक को घनिष्ठ मित्न बतलाया गया तो इस आख्यायिका से यह निर्विवाद रूप में सिद्ध हो उठता है कि चार्वाक-दर्श राजदर्शन था, दण्डदर्शन था और इसीलिए सर्वथा सत्यनिष्ठ, तदानीतन ब्राह्मण लोग इस दर्श के विपरीत थे। इस विवेचन के द्वारा चार्वाकदर्शन की राजनीतिकता निखर आने पर महाभारत में जगह-जगह पायी जाने वाली दण्ड एवं राजनीति की प्रशंसा फलतः चार्वाक दर्शन की प्रशंसा में परिणत होती हुई स्पष्ट दिखाई देती है। राजनीति के महान् आचार्य भीष्म ने राजधर्म का उपदेश देते हुए राजा युधिष्ठिर से महाभारत के अन्दर जो कुछ कहा है उसे देखते हुए राजदर्शनात्मक चार्वाक दर्शन की निन्दा नहीं व्यक्त होती है।

देखिये पितामह भीष्म राजधर्मानुशासन में युधिष्ठिर से क्या कह रहे हैं। वे कहते हैं कि [२४५] 'हे युधिष्ठिर! जैसे भुजगभक्षी मयूर चित्र अर्थात् विभिन्न रंगयुक्त अपने पक्षों को धारण करता है उसी प्रकार राजधर्म के अभिज्ञ राजा को चाहिए कि वह विभिन्न प्रकार के रूपों को धारण करे।' कहने का तात्पर्य यह है कि परिस्थिति के अनुरूप अपने निर्णय एवं आचरण को बदलते रहना चाहिए। अर्थ को चाहने वाला राजा, शिखा आदि तो धर्मध्वजी व्यक्ति की तरह ही धारण करे किन्तु दण्ड देने में प्रमादी न बने, एवं अपने जीवनोपयोगी निजी भोजन-भजन आदि क्रियाओं के सम्बन्ध में भी सावधान रहे। पर्वत के समान उन्नत एवं अचल विपक्षी राजाओं को भी नष्ट कर डाले, और अपनी छाया तक को औरों के लिए अज्ञेय बना डाले, तथा परिस्थिति देखकर गुप्त को भी अपनाये। अपने कृत्यों का अन्वीक्षण करते हुए अपने हर्ष और क्रोध को अमोघ अर्थात् अव्यर्थ बनाने वाले एवं अपने निर्णयों को गुप्त रखने वाले राजा के लिए यह वसुन्धरा सचमुच वसुन्धरा होती है। वह सदा अपेक्षित सारी वस्तुओं को देने वाली होती है। राजधर्मज्ञ उस राजा को कहा जा सकता है जो अपने निग्रह और अनुग्रह को यथार्थ एवं स्पष्ट रखता हुआ रहस्य बातों को गुप्त रखता है, प्रकाश में नहीं आने देता है तथा राष्ट्र की सुरक्षा में सदा तत्पर रहता है। थोड़ी भी आग घी से सम्पृक्त होने पर जाज्वल्यमान हो उठती है। एक भी बीज अंकुरित होकर क्रमशः बढ़ते हुए हजारों में परिणत हो उठता है। इसलिए अपने विपुल आय और व्यय को देखते हुए राजा को अल्पपरिमाण धन की भी अवमानना नहीं करनी चाहिए। स्वयं संयम रहते हुए सदा शत्रुओं का नाश राजा को करना चाहिए। उसे यह नहीं देखना चाहिए कि शत्रु बली है या दुर्बल। शत्रु राजा की अकीर्ति को फैलाकर उसकी कीर्ति को नष्ट करना चाहिए। उसके धर्माचरण में भी बाधा उपस्थित करनी चाहिए। विविध उपायों से उसके आर्थिक सामार्थ्य को भी नष्ट करना चाहिए। विभिन्न आचरण-मार्ग पर चलते हुए इष्टसिद्धि के उपायों को देखना चाहिए अर्थात् सोचना चाहिए। अपनी बुद्धि को व्यर्थ क्रियाओं में नहीं लगानी चाहिए। क्रियाओं में दोषदर्शी व्यक्ति कभी ऊँची कीर्ति, विपुल यश एवं प्रचुर धन नहीं पा सकता।

आगे चलकर अध्याय १२१ में जब दण्ड के सम्बन्ध में अधार्मिकता का सन्देह मन में रखते हुए युधिष्ठिर ने राजनीति के परमाचार्य भीष्म जी के समक्ष दण्ड के स्वरूप के सम्बन्ध में जिज्ञासा व्यक्त की है, तब उन्होंने राजनीति के मुख्य अंग दण्ड पर प्रकाश डालते हुए ऐसा कहा है कि 'प्रिय एवं अप्रिय व्यक्ति दोनों को समान भाव से देखते हुए यदि प्रजा के रक्षार्थ दण्ड का विधान किया जाता है तो वह दण्ड सर्वथा धर्म ही होता है,

---

(२४५) यथा वहाणि चित्राणि विभर्ति भुजगाशनः।
तथा बहुविधं राजा रूपं कुर्वीत् धर्मवित्॥
अर्थकामः शिखां राजा कुयाद्धेम ध्वजोपमाम्।
मित्यमुद्यत - दण्डः स्यादाचरे दप्रमाहतः॥

- महाभारत, राजधर्म-प्रकरण, भीष्म-युधिष्ठिर संवाद।

अधर्म नहीं।' दण्ड को यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि वह एक ऐसी व्यापक अग्निज्वाला है जिसकी चपेट में सभी अनाचारी आ जाते हैं। राजा यदि दण्ड के सम्बन्ध में असावधान न हों तो धर्म, अर्थ और काम ये तीनों, जिन्हें कि अन्य एक शब्द में त्रिवर्ग कहा जाता है, समुचित रूप में प्रवृत्त होते हैं, अवस्थित होते हैं। अग्निज्वाला के समान उद्धत होने वाला दण्ड साक्षात् देवरूप हैं। दण्ड की जितनी भी स्तुति की जाय थोड़ी होगी, क्योंकि [२४६] दण्ड ही साक्षात् भगवान् विष्णु है और दण्ड ही जगत्प्रभु नारायण हैं। सचमुच देखा जायगा तो दण्डनीति ही जगद्धात्री है, अपराध के अनुरूप जिसके स्वरूप विभिन्न हुआ करते हैं। यदि दण्ड न हो तो लोग आपस में लड़कर मर जायँ। हे युधिष्ठिर! यह दण्ड का ही प्रभाव है कि इसके भय से एक दूसरे को नहीं सताते। जो राजा दण्ड के सहारे उचित रूप से शासन चलाता हुआ प्रजा की रक्षा करता है, प्रजा उस राजा को सदा वर्धिष्णु बनाती है, अतः सत्पथ प्रवृत्ति के लिए दण्ड ही एक सहारा है। महान् प्रयोजन को देखते हुए दण्ड ही क्षत्रिय जाति बन गया। इसलिए वह अक्षर रूप में अवस्थित होकर प्रजाओं की रक्षा करता है। दण्ड ही राज्य का अंग है और दण्ड ही राज्य का प्रभव अर्थात् कारण है। [२४७] माँ हो या बाप, भाई हो या पत्नी, पुरोहित हों या और कोई, अपराधी होने पर राजा के लिए सभी दण्डनीय हैं, इसलिए राजा के लिए कोई भी सर्वथा अदण्डनीय नहीं है।' इस महाभारत वर्णित दण्ड की महत्ता को देखते हुए तत्सम्पृक्त चार्वाकदर्शन की महत्ता भी अनायास ख्यापित होती है।

दण्ड की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो वसुहोम ने मान्धाता से कहा है वह भी सर्वथा ध्यान देने योग्य है। वसुहोम कहते हैं कि [२४८] 'जब ब्रह्मा का दिन समाप्त हुआ, उनकी रात आ धमकी, अर्थात् प्रलयकाल आ पहुँचा, तब दण्ड की दृष्टरूप-प्रधानता के कारण दण्ड अन्तर्हित हो गया। इसलिए सृष्टि आरम्भ होने पर भी दण्ड के न होने के कारण प्रजाओं में सांकर्य दोष प्रबल हो उठा। क्या कर्त्तव्य है और क्या अकर्त्तव्य? क्या खाद्य है और क्या अखाद्य, इन बातों का कोई ठिकाना नहीं रहा। फिर पेय और अपेय का विचार भला कैसे रह पाये? गम्य और अगम्य का भी विचार बिल्कुल अब रहा नहीं। दो कुत्ते जिस प्रकार एक मांसपिण्ड के लिए आपस में झगड़ते हुए परस्पर को काट खाते हैं, उसी प्रकार मानव भी आपस में अत्यन्त संघर्षनिरत हो पड़े। कोई मर्यादा नहीं रह गयी।

---

(२४६) दण्डोहि भगवान् बिष्णुर्दण्डो नारायणः प्रभुः।
दण्डनीतिर्जगद्धात्री दण्डो वै बहुविग्रहः॥ – *महाभारत, राजधर्म, अध्याय १२१*

(२४७) माता पिता च भ्राता च भार्या चैव पुरोहितः।
नादण्ड्यो विद्यते राज्ञो यः स्वधर्मे न तिष्ठति॥ – *महाभारत, राजधर्म, अध्याय १२१।*

(२४८) तस्मिन् प्रवृत्ते रात्रे तु ब्रह्मणः पार्थिवर्षभ!
दृष्टरूप-प्रधानत्वात् दण्डः सोऽन्तर्हितोऽभवत्।
तस्मिन्नन्तर्हिते चापि प्रजातां संकरोऽभवत्।
नैवकार्यं नवाऽकार्यं भोज्याभोज्यं न विद्यते॥ – *महाभारत, राजधर्म, अध्याय १२१*

अबलों को बली लोग खूब सताने लगे। इस परिस्थिति को देखकर ब्रह्मा ने विष्णु का पूजन करके शिवजी की पूजा की और उनसे प्रार्थना की। त्रिशूलधारी शिवजी ने कुछ ध्यान करके अपने शरीर से ही दण्ड की सृष्टि की। दण्ड के स्थिर होने पर जो लोगों में धर्माचरण की प्रवृत्ति हुई उसका सुफल यह हुआ कि देवी सरस्वती ने नीति की सृष्टि की। वह तीनों लोकों में 'दण्डनीति' इस नाम से ख्याति हुई। इस संसार में कर्मठता के कारण प्रजा जागरणशील होती है और प्रजा के बीच दण्ड जागरणशील होता है, जिसे कि प्रजापति के समान मानना उचित है।' आगे चलकर इसी पर्व के अन्दर चौदहवें अध्याय में द्रोपदी ने युधिष्ठिर से इस प्रकार कहा है कि 'दण्डरहित क्षत्रिय अर्थात् राजा सुशोभित नहीं होता। दण्डरहित व्यक्ति भूमि का अर्थात् राजा का उपभोग नहीं कर सकता। दण्डरहित राजा की प्रजा सुखी जीवन नहीं बिता पाती।' इसके अनन्तर १५ अध्याय में दण्ड के सम्बन्ध में विस्तृत वर्णन किया जाता है जिसके उपसंहार में यह कहा गया है कि 'छल, कपट, वंचना आदि बुराइयों का विस्तार वहाँ होता नहीं, जहाँ उचित रूप में दण्ड का विधान होता है। यदि दण्ड न उठाया जाय तो द्रव्य जैसी पवित्र वस्तुओं को कुत्ता खा डाले। कौवा याज्ञिक पुरोडास को ले भागे। सारा सांसारिक व्यवहार अर्थ के अर्थात् धन के ऊपर निर्भर है और वह धन दण्ड के अधीन है। देखा जाय दण्ड का कितना गौरव है? कैसी महत्ता है?' इस प्रकार अति विस्तृत भाव से महाभारत के अन्दर किये जाने वाले दण्ड के महत्त्व-वर्णन से दाण्डिक प्रकृत चार्वाकदर्शन का भी महत्त्व वर्णित होता ही है, पारस्परिक रूप में। चार्वाकदर्शन की दाण्डिकता महाभारतीय उक्त चार्वाक कथा से व्यक्त होती है यह बात पहले भी बतलायी जा चुकी है और उक्त रामायणीय घटना से भी इसलिए वह व्यक्त होती है कि वहाँ राम को राजा होने के लिए ही आग्रह करते हुए चार्वाक मत का आश्रयण किया गया है। राजा का महत्त्व दण्ड-विधायक रूप में ही माना गया है।

रामायण में जिस प्रकार जाबालि ने चार्वाकीय-विचारधारा का आश्रयण करते हुए राम को अपने विचार पर आरूढ़ करने के लिए उपदेश दिया है उस तरह के भी अनेक उपदेश यहाँ महाभारत में भी पाये जाते हैं। अतः इसके आधार पर भी चार्वाकीय विचारधारा का मूल्यांकन किया जा सकता है। उदाहरण के रूप में इसे देखा जा सकता है – [२४६] 'इस संसार में कुछ भी, अर्थात् कोई भी वस्तु अतिगुणयुक्त नहीं है और साथ ही अति निर्गुण भी कुछ नहीं है। जितनी वस्तुएँ या जितनी क्रियाएँ हैं उनमें अच्छाई या बुराई ये दोनों ही देखी जाती हैं। लोग पशुओं का अण्डछेदन करते हैं फिर सींग तोड़ डालते हैं।

---

(२४६) नात्यन्तं गुणवत् किञ्चित् नचाप्यत्यन्त-निर्गुणम्।
उभयं सर्वभूतेषु दृश्यते साध्वसाधुवा॥
पशूनां वृषणं छित्वा ततोभिन्दन्ति मस्तकम्।
वहन्ति वहवो भारान् बध्नन्ति दमयन्ति च॥
– महाभारत, राजधर्मानुशासन-पर्व, अध्याय १५।

इस प्रकार उन्हें काबू में करके उनसे भार ढोवाते हैं और उन्हें बाँधकर उनका दमन करते हैं।' इस तरह के विचारों को महाभारत के अन्दर स्थान पाये हुए देखकर कैसे न यह माना जाय कि चार्वाकीय-विचारधारा को महाभारत में सर्वथा अमान्यता का रूप नहीं दिया गया है। शान्ति पर्व के अन्दर जबकि युधिष्ठिर ने संन्यास का प्रस्ताव किया है तब वहाँ जो भीम ने उसके विरुद्ध उन्हें कहा है, चार्वाकीय विचारधारा के मूल्यांकन में उससे निर्णयात्मक ज्ञान के लिए बहुत कुछ साहाय्य प्राप्त होता है। देखिये, उक्त पर्व के १०वें अध्याय में भीम युधिष्ठिर से कहते हैं – महाराज! [२५०] आप तो और ही दीख पड़ते हैं – रट्टू वैदिकों के समान आप अविद्वान् एवं मन्दबुद्धि हो गये हैं। आपकी बुद्धि महाराज! वेद से विनष्ट हो चुकी है। आपको चाहिए कि अपनी बुद्धि को ठिकाने लावें। विद्वान् लोगों का कहना है कि संसार में जो भी कुछ है, प्रत्येक स्थावर-जंगम प्राण का भक्ष्य अर्थात् खाद्य है इसलिए प्राण का अन्न है। संन्यास आपत्काल में कर्त्तव्य है। जबकि बुढ़ापे के पंजे में व्यक्ति फँस जाय अथवा शत्रुओं से सताया जाय। सर्वथा श्रीवर्जित नास्तिकों के द्वारा यह वैदिक विज्ञान फैलाया गया है जो कि सत्य-सा प्रतीत होने वाले मिथ्या के समान प्रतीत होता है। ये मृग सूगर और पक्षी कहाँ स्वर्ग पर विजय प्राप्त कर पाये हैं। यदि त्याग से स्वर्ग मिले तो इन्हें स्वर्ग मिलना चाहिए। क्योंकि ये मानव के समान विषय का उपभोग करते नहीं। यदि विषयभोग के त्यागात्मक संन्यास से राजा अपने इष्ट की सिद्धि प्राप्त करें तो ये पर्वत, वृक्ष आदि क्यों न अनायास इष्ट की सिद्धि प्राप्त कर जायँ? क्योंकि ये बेचारे सदा निर्विघ्न भाव से सन्यासी हैं। सदा ब्रह्मचारी हैं और कभी किसी से कुछ न लेने के कारण सर्वथा अपरिग्रही हैं। ये मछली आदि जलचर-जन्तु सिद्धिलाभ कर जायें क्योंकि ये अपने जीवनमात्र के लिए अपेक्षिक अल्पाति-अल्प कर्म के अतिरिक्त कभी कुछ करते नहीं। भीम की इस उक्ति को देखते हुए यह अनायास समझा जा सकता है कि जिस चार्वाकीय विचारधारा को विज्ञों के समक्ष उपस्थित करके उसे लोग बुरा करार देते हैं भीम की यहाँ की विचारधारा किसी प्रकार उससे ऊँची नहीं कही जा सकती। अधिकतर सुनने वाले तुरत यह कह बैठेंगे कि यह चार्वाक-मत है। तत्सम्पृक्त ही यह विचारधारा है इत्यादि। परन्तु कठिनाई यह उपस्थित हो उठती है कि पूर्ववर्णित चार्वाक राक्षस की कथा के अनुसार दुर्योधन के सखा होने वाले राक्षस-सिद्धान्त दुर्योधन के नित्य शत्रु भीम का भी सखा कैसे हो गया? और यदि वह उनका मित्र नहीं हुआ तो कैसे उसकी उक्त प्रकार विचारधारा से भीम प्रभावित हुए? यह तो हुई घमण्डी वीर भीम की बात। अब आइये, आगे एक तपस्वी ब्राह्मण की बात सुनिये। मोक्षधर्मपर्व १८६ अध्याय के अन्दर वर्णित भृगु जी जैसे तपस्वी को दिये गये भारद्वाज जैसे तपस्वी ब्राह्मण के उपदेश को अपने समक्ष

---

(२५०) श्रोत्रियस्येव ते राजन् मन्दकस्यविपश्चितः।
अनुवाकहता बुद्धिर्नेषा तत्त्वार्थ-दर्शिनी॥
– महाभारत, शान्ति-पर्व, भीम-युधिष्ठिर संवाद, अध्याय १०।

लाइए। भृगु जी से भारद्वाज जी कहते हैं कि 'भूतात्मक वायु [२५१] ही जबकि समग्र प्राणियों के प्राण हैं और उस प्राण के कारण ही प्राणी चेष्टाशील होते हैं, श्वास-प्रश्वास लेते हैं, बोलते-चालते हैं, तब अतिरिक्त जीवात्मा का अस्तित्व मानना कोई अर्थ नहीं रखता। देह में पायी जाने वाली गर्मी अवश्य शरीरगत अग्नि की ही है, जठरानलस्वरूप शरीरगत अग्नि के कारण ही खाये हुए पदार्थ पकते हैं और रस, शोणित, मांस आदि की निष्पत्ति होती है, अत: भूतातिरिक्त जीवात्मा मान्य नहीं है, क्योंकि उसकी मान्यता का कोई प्रयोजन नहीं दीख पड़ता है। यदि प्राणियों के शरीर के अन्दर जीवात्मा शरीरांश भूत भूतों से अतिरिक्त कुछ होता तो मरते समय शरीर से होने वाली उसकी बहिर्गति अवश्य आसपास बैठे हुए बन्धु-बान्धवों के द्वारा देखी जाती। किन्तु देखी जाती नहीं, अत: यही मानना उचित है कि प्राणियों का मरण शरीर से प्राण-निर्गमन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह भी मानना उचित नहीं प्रतीत होता है कि जीवात्मा प्राणियों के प्राण के साथ मिला रहता है, अत: प्राणवायु के निर्गमन के साथ-साथ जीवात्मा का निर्गमन प्राणियों की मृत्यु के समय होता है। क्योंकि ऐसा होने पर भी मृत्य के समय वायु के साथ होने वाला जीव का निर्गमन अवश्य देखा जाता। किन्तु देखा जाता नहीं। अनाहार से, पानी पीना छोड़ देने से शरीर के रस सूख जाते हैं। हठात् श्वास-प्रश्वास के निग्रह से प्राणवायु का नाश हो जाता है। कोष्ठ-भेद से अर्थात् पेट आदि फट जाने से शरीर के अन्दर विद्यमान आकाश का नाश होता है और खाना बिल्कुल छोड़ने पर शरीर के अन्दर पाचक रूप से अवस्थित जठरानल नष्ट हो जाता है और विभिन्न प्रकार व्याधि, घाव, आदि से शरीरगत पार्थिव भाग नष्ट हो उठता है। लोग मरते समय गोदान यह सोचकर करते हैं कि यह दी हुई गाय मुझे परलोक में फायदा पहुँचायेगी, परन्तु वे इस बात की ओर ध्यान नहीं देते कि यह भी तो अजर-अमर नहीं है। यहाँ ही मर जाने वाली यह गाय मुझे वहाँ कैसे साहाय्य पहुँचायेगी? सोचा जाय - जहाँ गाय, उसका दान लेने वाला और उसका दान देने वाला ये तीनों साथ ही मर जायँ, वहाँ भला उन तीनों का समागत कैसे सम्भव हो सकता? जिस मृत शरीर को चील, गीध आदि नोंच कर खा डालते हैं, जो कहीं किसी उन्नत पर्वतशृंग से गिरकर चूर्ण-विचूर्ण हो जाता है, अग्नि जिसे जला डालती है, वह फिर कैसे पुनर्जीवन प्राप्त कर सकता है? जड़ से उखाड़ फेंका गया वृक्ष फिर प्ररूढ़ नहीं होता, फिर पल्लवित, पुष्पित और फलित होता हुआ कभी नहीं देखा जाता। हाँ, उसके छोटे-छोटे बीज सजातीय वृक्षान्तर को उत्पन्न करते हुए पाये जाते हैं। ऐसी परिस्थिति में मरा व्यक्ति फिर कैसे आ

---

(२५१) यदि प्राणयते वायु र्वायुरेव विचेष्टते।
श्वसित्याभाषतेचंव तस्माज्जीवो निरर्थक:॥
यद्युष्मभाव आग्नेयो वह्निना पच्यते यदि।
अग्निर्जरयते चैतत् तस्माजीवो निरर्थक:॥

- महाभारत, मोक्षधर्म, अध्याय १८६।

सकता है? यह स्पष्ट है कि यह शरीर मांस, शोणित, भेद, स्नायु, अस्थि इनका ही एक संचित रूप है और कुछ नहीं। इसलिए इस शरीर के नष्ट होने पर जीव के अस्तित्व को उत्पन्न नहीं किया जा सकता।' इस भृगु-भारद्वाज संवाद के अन्दर आकाशात्मक पंचम भूत की भी चर्चा आयी है, अतः इसे भूत-चतुष्टयवादी चार्वाक-सिद्धान्त का प्रतिपादक कहना कठिन है परन्तु इसे सुनाकर यदि किसी दर्शन परिचित व्यक्ति से पूछा जाय कि यह किसका मत है, तो निःसंकोच भाव से शीघ्रतापूर्वक वह यही कहेगा कि यह मतवाद चार्वाक का है और किसका हो सकता है? परन्तु वस्तुस्थिति इसके विपरीत यह है कि परिस्थिति के अनुसार इस प्रकार की विचारधारा विभिन्न विवेचकों के हृदय में बराबर उठती आयी है, केवल चार्वाक सम्प्रदाय ही इसके लिए दायी नहीं है, इस बात का परिचय मोक्षपर्व ११८ अध्यायगत जनक-पंचशिख संवाद से भी प्राप्त होता है। वहाँ यह कहा गया है कि [२५२] 'एकदा मिथिलापति जनक, जिन्हें जनों का देव भी कहा जा सकता है मरने के अनन्तर होने वाली परिस्थिति के विवेचन में संलग्न हुए। उनके यहाँ विद्वान् विवेचकों की कमी नहीं थी। उनके यहाँ विभिन्न आश्रमी एक सौ आचार्य उस समय विद्यमान थे जो विभिन्न धर्मों के अनुसार अपना-अपना निर्णय विवेच्य परलोक तत्त्व के सम्बन्ध में सुना रहे थे। परन्तु जनक का मन उन विचारों से भर नहीं रहा था' इत्यादि। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि शरीरातिरिक्त अभौतिक आत्मतत्त्व के अस्तित्व के सम्बन्ध में अधिक लोगों का निर्णयात्मक ज्ञान नहीं था और शरीरात्मवाद को भी उस प्रकार बुरी नजर से लोग नहीं देखते थे जिस प्रकार परवर्ती लोगों ने उसे देखा है। शरीरात्मवाद भूत-चैतन्य की मान्यता पर आधारित है और भूतचैतन्य की मान्यता चार्वाकीय दृष्टिकोण की विशेषता है, इत्यादि बातें विहितपूर्व-विवेचन से सुस्पष्ट की जा चुकी हैं। उक्त महाभारतीय चार्वाकाख्यायिका को देखते हुए कुछ ऐसा आभास मिलता-सा प्रतीत होता है कि लोकायत अथवा लौकायतिक विचारधारा की चार्वाकीय-विचारधारा के रूप में विख्याति का श्रीगणेश महाभारतीय उक्त आख्यायिका के उद्गमानन्तर ही हुआ। इसलिए लोकायतमत चार्वाकमत रूप में ख्यात बनकर राक्षसमत की उपाधि प्राप्त कर अधिक घृणा का पात्र भी महाभारत के अनन्तर बना।

भगवद्गीता और चार्वाक-मत -

गीता भी यद्यपि महाभारत का ही एक अंशांश है, फिर भी उसकी महत्ता

(२५२) जनको जनदेवस्तु मिथिलायां जनाधिपः।
और्ध्वदेहिक धर्माणामासीत् तत्त्व-विवेचने॥
तस्यैकशतमाचार्या वसन्ति सततं गृहे।
दर्शयन्तः पृथग्धर्मान् नानाश्रमनिवासिनः॥
स तेषां प्रेत्यभावे च प्रेत्यजा तौविनिश्चये।
आगमार्थः स भूयिष्ठ मात्मतत्त्वे न तुष्यति॥ - *महाभारत, मोक्षधर्म, अध्याय २१८।*

अधिक स्वातंत्र्य रखती है। इसीलिए जगह-जगह पर गीता को एक स्वतंत्र शास्त्र तक की संज्ञा दी गयी है। कहीं उसके महत्त्व के ख्यापनार्थ उसे उपनिषद कहा गया है, तो कहीं ब्रह्म-विद्या। यह बात तो सर्वथा निर्णीत है कि यह चार्वाक-सिद्धान्त का समर्थक नहीं है। क्योंकि कुछ विवेचक इसको केवल ज्ञान का प्रतिपादक मानते हैं और कुछ लोग केवल कर्म का। अन्य कुछ लोगों ने ज्ञान और कर्म दोनों का इसे प्रतिपादक माना है। जो भी कुछ हो, यह निर्विवाद है कि यहाँ चार्वाक-मत के समर्थन के अभिप्राय से कुछ नहीं कहा गया है। ऐसी वस्तुस्थिति के होते हुए भी यदि आनुसंगिक रूप में यहाँ चार्वाकसिद्धान्त के समर्थक कुछ बातें मिल जायँ, तो चार्वाकसिद्धान्त के लिए उन बातों का महत्त्व अत्यधिक होगा। क्योंकि विरोधी के द्वारा की गयी प्रशंसा का महत्त्व अधिक माना ही जाता है। और किसी भी ग्रन्थ में यदि उससे असम्पृक्त अन्य विषय की अभिव्यक्ति हो उठती है तो वह अभिव्यक्ति इसलिये महत्त्वास्पद होती है कि उसके द्वारा उस ग्रन्थ के ऊपर पड़ा हुआ प्रभाव स्वाभाविक अवगत होता है। तो गहराई के साथ यहाँ यह देखा जाय कि गीता पर चार्वाकीय-सिद्धान्त का कुछ प्रभाव अव्यक्त भाव से पड़ा हुआ पाया जाता है या नहीं? विश्वास यही है उक्त प्रभाव अवश्य इसके ऊपर पड़ा है। किन्तु लोगों की दृष्टि उधर बिल्कुल नहीं जाती है। सर्वप्रथम उस घटना को ही लिया जाय जिस पर गीता अवतरित हुई है। उपदेश्य अर्जुन जहाँ युद्ध को हिंसा समझते हैं उपदेशक कृष्ण उसके विपरीत यह स्थिर कर दिखलाते हैं कि युद्ध क्षत्रियों के लिए पापात्मक हिंसा नहीं प्रत्युत उसके विपरीत धर्मात्मक सदाचरण है। इससे साररूप में यह निर्णय उपस्थित किया गया है कि आचरण की अच्छाई एवं बुराई का मूल्यांकन परिस्थिति के आधार पर कर्त्तव्य है। परिस्थिति ही उसका मापदण्ड है। मरण की समानता को लेकर युद्धगत वीरवध और अयुद्धगत प्राणिवध को एक मानना उचित नहीं। यदि विचार करके देखा जाये तो इस प्रकार के आचरणगत अनैकान्तिक निर्णय के कारण ही धर्म की ऐकान्तिकतावादियों ने राजनीति एवं उसके दर्शनभूत चार्वाकीय दृष्टिकोण की निन्दा की है एवं उसके प्रति घृणा का भाव फैलाया है अत: यह मानना ही होगा कि गीता पर चार्वाक दृष्टिकोण का प्रभाव अवश्य है। यह तो हुआ एक साधारण निदर्शन, अब कुछ विशेष स्थलों को लिया जाय। गीता के द्वितीय अध्याय में कृष्ण ने पहले तो अर्जुन को यह कहकर युद्ध-लिप्त बनाने की चेष्टा की है कि 'आत्मा सर्वथा अविनाशी है वह मारा जा ही नहीं सकता, फिर हिंसात्मक अधर्म की सम्भावना ही नहीं है, अत: तुझे युद्ध सम्बन्धी निजी निर्णय से ही नहीं डिगना चाहिए, उत्साहपूर्वक युद्ध करना चाहिए।' फिर तुरन्त पक्षान्तर का आश्रयण करते हुए अर्जुन से वे यह कहते हैं कि [२५३] 'यदि तुम आत्मा को नियमत: उत्पाद-विनाशशील मानते हो तो फिर तुम्हें युद्धविरोधी चिन्ता नहीं होनी चाहिए। क्योंकि जो उत्पन्न होता है

---

(२५३) अथचेत्त्वं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि॥ २६॥ *– भगवद्गीता, अध्याय २।*

उसकी मृत्यु भी होती ही है और मरे का जन्म भी फिर होता ही है। जबकि यह अपरिहार्य नियम है तो तुझे सोचते हुए युद्ध-विरत नहीं होना चाहिए। सारे भूतों का यह स्वभाव देखा जाता है कि वह पहले रहता नहीं, बीच में कुछ देर के लिए देखा जाता है और फिर अव्यक्त हो जाता है अर्थात् निधन को पा जाता है, तो फिर उसके सम्बन्ध में व्यर्थ रोने-धोने से क्या लाभ?' यहाँ विचार करके देखने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह द्वितीय पक्ष सर्वथा चार्वाक मताश्रित है। क्योंकि यह मरना-जन्मना शरीर का ही स्वभाव है और शरीरात्मवाद चार्वाक मत की ही विशेषता है। सम्भव है कुछ लोग यहाँ यह शंका उपस्थित करें कि 'मरने वाले को जन्म अवश्य प्राप्त होता है।' यह कथन कैसे चार्वाक मत में संगत हो सकता है? क्योंकि चार्वाक-सिद्धान्त जन्मान्तरवादी तो है नहीं? तो इसके सम्बन्ध में वक्तव्य यह है कि पंचाग्नि विद्या के आधार पर सूक्ष्म भौतिक जन्मान्तर चार्वाकदर्शन में भी मान्य है यह बात पहले बतलाई जा चुकी है। दूसरी बात यह कि प्रत्येक भौतिक वस्तु के विनाश स्थल में उसका रूपान्तरात्मक जन्मान्तर प्रत्यक्षतः देखा जाता है और साथ ही भूतचैतन्य भी यहाँ मान्य है। ऐसी परिस्थिति में चार्वाकमत में तो विचार करके देखने पर नियमतः प्रत्येक भूत का जन्मान्तर होता ही है। चार्वाक जन्मान्तर मानता नहीं यह आक्षेप जड़-चेतन विभाग की मान्यता पर आधारित है। अतः वह अन्य लोगों के द्वारा दिया जाने वाला एक प्रकार आपेक्षाभास मात्र है। अब आगे बढ़ा जाय -

द्वितीय अध्याय में ही ४२ श्लोक से लेकर ४५ श्लोकपर्यन्त जो वेदवाद [२५४] की निन्दा की गयी है, यदि विचार करके देखा जाय तो यहाँ विस्तारपूर्वक वर्णित चार्वाकीय वेदवाद के ऊपर ही आक्षेप उपस्थित किया गया है। यह चार्वाकमत भी किस प्रकार वैदिक है इसका दिग्दर्शन पहले कराया जा चुका है। इस मेरे कथन पर अविश्वास का प्रस्ताव इसलिए नहीं उपस्थित किया जा सकता कि मीमांसा के महान् व्याख्याता भट्ट कुमारिल ने अपने वार्तिक में अपना यह मत व्यक्त किया है कि 'प्रायः [२५५] लोगों के द्वारा वैदिक विचारात्मक मीमांसा लोकायत बना दी गयी है। उसे आस्तिक मार्ग पर लाने के लिए यहाँ मेरे द्वारा यह प्रयत्न किया गया है', चतुर्थ अध्याय के २१ श्लाकों में 'यतचित्तात्मा' [२५६] यहाँ पर आत्म शब्द का प्रयोग शरीर अर्थ में किया गया है। शरीरात्मवाद चार्वाकदर्शन की विशेषता यह आत्मविवेचकों को मालूम ही है। यहाँ आत्मा शब्द शरीर अर्थ में प्रयुक्त

---

(२५४) वेदवादताः पार्थ! नान्यदस्तीतिवादिनः॥ ४२॥
त्रैगुण्य-विषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन॥ ४५॥ *- भगवद्गीता, अध्याय २।*

(२५५) प्रायेणैव हि मीमांसा लोके लोकायतीकृता।
तामास्तिकपथे कर्त्तुमयं यत्नः कृतो मया॥ १०॥ *- तन्त्रवार्त्तिक।*

(२५६) निराशीर्यत-चित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः। २१। *- भगवद्गीता, अध्याय ४।*
चित्तं अन्तःकरणम्, आत्मा कार्यकरणसंघातः तौ उभौ अपि यतौ येन स यतचित्तात्मा।
- शांकरभाष्य।

हुआ है, यह केवल मेरी कोरी कल्पना नहीं है। शंकराचार्य ने भी अपने भाष्य के अन्दर यहाँ 'आत्मा' शब्द का अर्थ शरीर ही किया है। अत: मानना ही होगा कि यह पड़ने वाले चार्वाकदर्शन के प्रभाव का ही फल है। इसी प्रकार पंचम अध्याय के सातवें श्लोक में 'विजितात्मा' [२५७] इस शब्द के प्रयोग स्थल में 'आत्मा' शब्द का अर्थ शरीर ही किया गया है, शरीरातिरिक्त आत्मा नहीं। आचार्य शंकर ने भी उक्त 'विजितात्मा' का अर्थ 'विजितदेह' अर्थात् अपने देह पर विजय पाने वाला यही अर्थ किया गया है। ऐसी परिस्थिति में यह कैसे कहा जा सकता है कि गीता चार्वाक मत से प्रभावित नहीं है? इसके अतिरिक्त इसी श्लोक में जो 'सर्वभूतात्मभूतात्मा' यह कहा गया है कि वह जिस प्रकार चार्वाक सिद्धान्त के अनुरूप सरस अर्थ को प्राप्त करता है वैसा अन्य दर्शन के अनुरूप नहीं। क्योंकि 'सर्वभूतस्वरूप होने वाली है आत्मा जिसकी' यही अर्थ उक्त शब्द का उचित प्रतीत होता है। महासमवायात्मक उक्त अद्वैत भूत को लेकर यह अर्थ सर्वथा सुसंगत प्रतीत होता है। छठे अध्याय के २९ श्लोक में जो [२५८] यह कहा गया है कि 'योगयुक्तात्मा व्यक्ति आत्मा को सर्वभूतस्थ एवं सारे भूतों को आत्मा में सम्बद्ध देखता है' यह कथन भी भूतचैतन्यवादी चार्वाकमत में ही अधिक समंजस होता हुआ प्रतीत होता है। सप्तम् अध्याय में १२वें श्लोक के द्वारा जो यह कहा गया है कि 'सारे [२५९] सांसारिक सात्त्विक, राजस और तामस भाव मुझसे ही होने वाले हैं और वे मुझमें ही अवस्थित हैं, मैं उनमें अवस्थित नहीं हूँ' वह कथन भी वर्णित चार्वाकानुसारी महासमवायात्मक भूताद्वैत की ओर इंगित करता हुआ प्रतीत होता है। आगे चलकर आठवें अध्याय में जो कृष्ण के द्वारा अर्जुन को 'ब्रह्म' और 'आध्यात्म' [२६०] आदि का परिचय दिया गया है वहाँ 'आध्यात्म' गत आत्मशब्द देह का ही वाचक है जो कि चार्वाकीय शरीरात्मवाद के अनुसार ही संगत हो सकता है। अध्यात्म शब्द का भाष्य करते हुए शंकराचार्य ने जो कुछ वहाँ कहा है वह भी अध्यात्म शब्दगत आत्मशब्द के शरीरात्म अर्थ का ही स्पष्ट रूप से प्रतिपादन करता है। अध्याय ९ के छठे श्लोक के द्वारा जो कृष्ण ने अर्जुन से यह कहा है कि 'आकाश [२६१] में सर्वत्र वायु के समान, सारे भूत मुझमें ही अवस्थित हैं ऐसा समझो।' यह कथन भी उक्त महासमवायात्मक

(२५७) योगयुक्तो विशुद्धात्मा जितेन्द्रियः
सर्वभूतात्म-भूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते॥ ७॥ – *भगवद्गीता, अध्याय ५।*
विजितात्मा विजितदेहः। – *शांकरभाष्य।*

(२५८) सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥ २९॥ – *भगवद्गीता, अध्याय ६।*

(२५९) ये चैव सात्त्विका भावा राजसाः तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तात् सर्वान् नत्वहं तेषु ते मयि॥ १२॥ – *भगवद्गीता, अध्याय ७।*

(२६०) अक्षरं ब्रह्मपरमंस्वभावोऽध्यात्ममुच्यते॥ ३॥ – *भगवद्गीता, अध्याय ८।*

(२६१) यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगी महान्।
नथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥ ६॥ – *भगवद्गीता, अध्याय ९।*

भूताद्वैत को लेकर ही पूर्ण संगत होता हुआ प्रतीत होता है। सम्भव है कुछ लोग यहाँ यह प्रश्न उपस्थित करें कि 'सारे भूतों के अन्दर तो वह महासमवायात्मक अद्वैत भूत भी हस्तगत होता, ऐसी परिस्थिति में फिर किस भूत में उस महासमवायात्मक अद्वैत भूत को अवस्थित माना जायेगा?' तो इसके उत्तर हो सकते हैं। एक यह कि 'सारे भूत' इसके अन्दर आने वाले भूतपद को 'भौतिकअर्थक' माना जा सकता है। दूसरा यह कि 'स्वे महिम्नि' इस उपनिषत् वाक्य के अनुसार उसे स्वप्रतिष्ठ अर्थात् स्वकीयस्वरूप में ही अवस्थित माना जा सकता है। नित्य-विज्ञानाद्वैतवादी वेदान्ती लोग यदि अपने नित्य विज्ञानात्मक ब्रह्म को 'स्वप्रतिष्ठ' कह सकते हैं तो उक्त महासमवायात्मक अद्वैत भूत को वैसा क्यों नहीं माना जा सकता। यदि गम्भीरतापूर्वक विचार करके देखा जाय तो स्वप्रतिष्ठता समाजात्मक समवाय के लिए ही यौक्तिक प्रतीत होगी। इसके अतिरिक्त १६वें श्लोक से पूरे अध्याय तक में जो [२६२] 'क्रतु यज्ञ स्वधा औषध मन्त्र आज्य अग्नि और द्रव्य अथवा आहुति क्रिया सब कुछ मैं ही हूँ।' यह उपदेश कृष्ण के द्वारा अर्जुन को दिया गया है वह भी समवायात्मक भूताद्वैत को लेकर चार्वाकीय सिद्धान्त में यौक्तिक रूप में संगत होता हुआ दीखता है। अनन्तर १० अध्याय में विस्तृत भाव से वर्णित विभूति-योग, और ११वें अध्याय का विश्वरूप दर्शन का प्रसंग तो मानो हृदय खोलकर चार्वाकीय भूताद्वैत सिद्धान्त का समर्थन करता है। १२वें अध्याय में १३वें श्लोक के अन्दर जो 'अद्वेष्टा सर्वभेतानाम्' [२६३] अर्थात् सर्वभूतवादियों फलतः भूत चैतन्यवादी चार्वाकियों का अद्वेष्टा होना चाहिए यह कहा गया सा प्रतीत होता है उसे बिलकुल बुद्धिपथ से हटाया नहीं जा सकता। १३वें अध्याय में जो ब्रह्म का स्वरूप विस्तृत भाव से वर्णित हुआ है वह भी भूताद्वैत-पक्ष का ही समर्थन करता हुआ-सा दीख पड़ता है। देखिए १३वें श्लोक को। उसके द्वारा यह कहा गया है कि 'ब्रह्म सब ओर [२६४] हाथ, पाँव आदि को धारण किये हुए अवस्थित है। आँख, सिर, मुख आदि भी उसके सब ओर हैं। वह सर्वत्र 'कानयुक्त' है और सबको वह आवृत करके अवस्थित है।' यह कथन निर्गुण नित्य विज्ञानाद्वैतवाद में संगत हो सकता है या चेतन भूतवाद में यह विचार करने की बात है। उसी प्रसंग में जो यह कहा गया है कि 'वह ब्रह्म [२६५] अविभक्त अर्थात् एक होते हुए भी विभिन्न सूत्रों के रूप में अवस्थित है। ग्रभिष्णु और प्रभविष्णु उस ब्रह्म को भूत-भर्त्ता समझना चाहिए।' यह भी प्रकृत चार्वाकीय विचारधारा से अत्यन्त संलग्न प्रतीत होता है। इसी अध्याय के २८वें श्लोक २६६ की

---

(२६२) अहक्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्॥ १६॥ — *भगवद्गीता, अध्याय ९।*

(२६३) अद्वेष्टा सर्वभूतानां मंत्रः करुण एव च॥ १३॥ — *भगवद्गीता, अध्याय १२।*

(२६४) सर्वतः पाणिपादं तत यर्वतोऽक्षिशिरो मुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥ १३॥ — *भगवद्गीता, अध्याय १३।*

(२६५) अविभक्तं विभक्तेषु समवस्थितमीश्वरम्॥ १६॥ — *भगवद्गीता, अध्याय १३।*

व्याख्या करते हुए भाष्यकार शंकर [२६६] किस प्रकार चार्वाकीय शरीरात्मवाद के प्रभाव में आ गये हैं अज्ञात रूप से, इसका, उनकी 'धर्माधमौ कृत्वा उपात्तमात्मनं हत्वा अन्यं आत्मानं उपादत्तेनवम्' इस पंक्ति से अनायास पता चलता है। वे इस पंक्ति के द्वारा ये कहते हैं कि अज्ञ जनता इसलिए 'आत्महा' कि निजी धर्माधर्म के कारण पूर्ववर्ती आत्मा को अर्थात् शरीर को छोड़ता है और अन्य आत्मा अर्थात् शरीर को ग्रहण करता है। यहाँ वे शरीर को ही तो आत्मा कह बैठते हैं। इसे चार्वाक प्रभाव के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है?

१३वें अध्याय के ही ३०वें श्लोक के द्वारा जो यह कहा गया है कि 'जब विवेचक भूतों के पृथक [२६६अ] भावों को अर्थात् पृथग्भूत भूतों को एकस्थ देखता है तब वह विस्तार-प्राप्त एक ब्रह्म को देखता है।' यह कथन भी चार्वाकीय महासमवायात्मक उक्त भूताद्वैत से प्रभावित प्रतीत होता है। आगे चलकर १४वें अध्याय के तीसरे श्लोक के द्वारा जो यह कहा गया है कि 'मेरा महद्ब्रह्मात्मक रूप [२६६ब] समग्र संसार का कारण है उसी में मेरे गर्भवास-प्रयुक्त सारे भूतों की अर्थात् भौतिकों की उत्पत्ति होती है।' यह कथन भी चार्वाकीय महासमवाय से कम प्रभावित नहीं प्रतीत होता है। क्योंकि भूतचैतन्य के अभ्युपगम-प्रयुक्त कथित ज्ञान-गर्भता चार्वाक सिद्धान्त में ही सहजतः संगत होती है। पन्द्रह अध्याय के १६वें श्लोक में जो क्षर और अक्षर दोनों को 'पुरुष' कहा गया है वहाँ भी चार्वाक सिद्धान्त का प्रभाव स्पष्ट रूप से पड़ता हुआ दिखाई देता है। क्योंकि 'पुरुष' शब्द का प्रयोग प्रायः अधिकतर चेतन अर्थ में ही शास्त्र में होता हुआ पाया जाता है। और वहाँ भूतात्मक क्षर को भी पुरुष स्पष्ट रूप से कहा गया है। जो लोग चार्वाक सिद्धान्त को असुरों का सिद्धान्त मानते हैं उनके मत में गीता का सारा सोलहवाँ अध्याय जिसके अन्दर विस्तृत रूप में 'दैवी' और 'आसुरी' सम्पत् का विवेचन पाया जाता है, चार्वाकीय-आचरण का स्थापक कहा जाता है किन्तु चार्वाक-सिद्धान्त को एक स्वतंत्र-वर्गमूलक आसुर-सिद्धान्त इसलिए नहीं कहा जा सकता कि ईशोपनिषत् के 'असुर्या नाम ते लोकाः' इसकी व्याख्या [२६६स] करते हुए भाष्यकार शंकर ने भी यह कहा है कि 'अद्वैत की तथ्यता के अनुसार उसके

(२६६अ) यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥ ३०॥ — *भगवद्गीता, अध्याय १३।*

(२६६ब) मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भंदधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां यतो भवति भारत॥ ३॥ — *भगवद्गीता, अध्याय १४।*

(२६६स) असुर्याः परमात्मभावमद्वयमपेक्ष्य देवादयोप्यसुराः।
तेषां च स्वभूता लोका असुर्याः। — *ईशवास्योपनिषत्, श्लोक ३, शांकरभाष्य।*

(२६६) समंपश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरन्।
न हिनस्त्यात्मनाऽत्मान् ततो याति परां गतिम्॥ २८॥
— *भगवद्गीता, अध्याय १३, शांकरभाष्य।*

ज्ञान से वर्जित होने वाले देवता भी असुर कहलाने के पात्र होते हैं।' इससे यह स्पष्ट हो उठता है कि असुर नामक एक वांशिक वर्ग की कल्पना और उस वर्ग का नियमित रूप से दुराचरण आदि की कल्पना उचित नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि एक भी व्यक्ति कालभेद से अच्छे और बुरे आचरण के कारण 'देव' और 'असुर' कहलाने का अधिकारी हो सकता है। अत: वांशिक आसुर-वर्ग और उसका सिद्धान्त, इसकी मान्यता के आधार पर कोई बात नहीं की जा सकती। आगे चलकर १८वें अध्याय में ४८ श्लोक में जो यह कहा गया है कि 'हे कुन्तीपुत्र [२६६द] अर्जुन! कोई भी कर्म यदि सहज हो अर्थात् बराबर से किया जाता आता हो तो सदोष होने पर भी अर्थात् किसी कारणवश कुछ लोगों की दृष्टि में अनुचित माने जाने पर भी हठात् उसे नहीं छोड़ना चाहिए।' यहाँ चार्वाकीय राजनीतिक विचारधारा का प्रवाह स्पष्ट दिखाई पड़ता है। इस प्रकार गीता शास्त्र पर भी जगह-जगह अति प्राचीन लौकायतिक विचारधारा का प्रभाव मिलता ही है, यदि गम्भीरतापूर्वक देखा जाय।

विष्णु पुराण और चार्वाक मत -

पुराणों की भी गणना 'स्मृतियों' के ही अन्दर है जो कि 'पुराण' इस नाम के ऊपर गहराई के साथ दृक्पात करने पर भी उचित प्रतीत होती है। यों तो आज 'पुराण' शब्द का 'पुराना' यही अर्थ प्रचलित है। तदनुसार प्राचीनतर सांस्कृतिक साहित्य ही प्रकृत 'पुराण' शब्द का अर्थ समझा जाता है। किन्तु गम्भीरतापूर्वक इस 'पुराण' शब्द पर दृष्टिपात करने पर कुछ और अर्थ निकलता-सा ध्वनित होता है। इस शब्द को विवेचकीय दृष्टि से देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि अति प्राचीनकाल में 'पुरा न' यह एक वाक्य था। जिसका अर्थ होता था 'प्राचीन काल में नहीं होने वाला।' कहने का तात्पर्य यह कि वेद को लोग युग-युगान्तर से आने वाले अनादि-साहित्य मानते थे किन्तु अन्य साहित्य को वेद के समान वैसा नहीं मानते थे। इसी अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए उन वेदेतर साहित्य को लोग 'पुरा, न' इस वाक्य से कहते थे। धीरे-धीरे 'पुरा' और 'न' इन दोनों के बीच होने वाले उच्चारणगत व्यवधान हटते-हटते परिस्थिति यहाँ आ पहुँची कि लोग 'पुरान' इस प्रकार एक पद समझने लगे। अत: व्याकरण के नियमानुसार 'न' के स्थान में 'ण' का उच्चारण होने लगा। फलत: 'पुराण' यह एक पद बन गया। इस शाब्दिक परिस्थिति की नवीनता के होते हुए भी इसकी आर्थिक परिस्थिति पूर्ववत् सुस्थिर रही। तदनुसार आज भी वेदेतर व्यास निर्मित रूप में प्रथित विशाल साहित्य 'पुराण' शब्द से कहा जाता है। इस विशाल पुराण साहित्य के अन्दर यहाँ केवल विष्णु पुराण को ही प्रकृत विवेचन के लिए इसलिए लिया जा रहा है कि सर्व-दर्शन-संग्रहकार आचार्य माधव ने अपने उक्त संग्रह ग्रन्थ के अन्दर सर्वप्रथम चार्वाकदर्शन लिखते हुए इस पुराण के अनेक

(२६६द) सहजं कर्म कौन्तेय! सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेताग्निरिवावृता:॥ ४८॥ – *भगवद्गीता, अध्याय १८।*

वाक्यों को यथावत् ग्रहण किया है। विष्णु पुराण के तृतीय अंश के सत्रहवें अध्याय में माया-मोह के प्राकट्य का वर्णन किया गया है और इस अध्याय के अन्त में यह कथा आयी है कि भगवान् विष्णु ने अपने शरीर से माया-मोह को उत्पन्न करके दैत्यों से उपद्रुत देवताओं को सम्बोधित करते हुए उनसे यह कहा कि यह माया-मोह सारे दैत्यों को मोहित कर डालेगा तब ये वेदमार्ग-बहिष्कृत होकर मारे जायेंगे। अब कोई डरने की बात नहीं। क्योंकि यह माया-मोह तुम लोगों के साथ आगे-आगे चलेगा। देवगण विष्णु को प्रणाम करके माया-मोह को आगे करके वहाँ से चल पड़े। इसके अनन्तर १८वें अध्याय में इस प्रकार वर्णन उपलब्ध है कि उस माया-मोह ने नर्मदा के किनारे तपस्यारत असुरों को देखा और उनसे यह पूछा कि आप लोग ऐहिक-फल के लिए तपस्या कर रहे हैं या पारलौकिक फल के लिए? जब उन लोगों ने यह बतलाया कि [२६७] 'पारलौकिक फल चाहते हैं' तब माया-मोह ने उन लोगों से यह कहा कि जो मैं कहता हूँ वैसा करो तो तुम लोग मुक्त हो जाओगे। [२६८] इस प्रकार कहकर माया-मोह ने इस प्रकार वेद-विरुद्ध आचरणों का उन्हें उपदेश दिया कि कुछ ही दिनों में वे सारे के सारे सर्वथा वैदिक आचरणों से बहिर्मुख हो चले। पारस्परिक उपदेश से उनकी संख्या बढ़ चली। रक्ताम्बर-धारी उस माया-मोह ने उन अन्य असुरों से भी जाकर इस प्रकार समझाया कि यदि आप लोग स्वर्ग या अपवर्ग चाहते हैं तो सर्वथा पशुवध अदि घटित वैदिक धर्मों का त्याग करें। इस प्रकार माया-मोह से उपदिष्ट होने वाले उन लोगों के अन्दर कोई वेदनिन्दक बना तो कोई देवनिन्दक। कुछ यागयज्ञ की निन्दा करते थे तो कुछ लोग ब्राह्मणों की निन्दा। वे आपस में इस प्रकार उपदेश देने लगे कि 'यह कथन [२६९] उचित नहीं कहा जा सकता कि हिंसा अर्थात् यज्ञगत पशुवध धार्मिक है। आग में व्यर्थ जलाये गये हव्य पदार्थ फलप्रद होते हैं' यह कथन बच्चों का ही हो सकता है। अनेक [२७०] यज्ञों को करके इन्द्र आदि बने हुए देवता भी यदि शमी आदि काठ खाएँ तो उनसे अच्छे तो पत्रभोजी पशु ही कहे जायेंगे। [२७१] यज्ञ में मारे गये पशु आदि यदि स्वर्ग प्राप्त करें तो यजमान अपने पिता को ही यज्ञ पशु बनाकर क्यों न उसे मारता?

---

(२६७) पारत्र्यफललाभाय तपश्चर्या महामते।
अस्माभिरियमारब्धा किंवा तेऽत्र विवक्षितम्॥ – *विष्णुपुराण, अंश ३, अध्याय १८।*

(२६८) एवं प्रकारैर्बहुर्भियुक्ति दर्शन – चर्चितैः।
महामोहेन ते दैत्याः वेदमार्गादपाकृताः॥
अल्परहोभिः सन्त्यक्ता तैर्दैत्यैं.....शस्त्रयी। – *विष्णुपुराण, अंश ३, अध्याय १८।*

(२६९) नैतद्युक्तिसहं वाक्यं हिंसा धर्माय चेष्यते।
हर्वीष्यनलदग्धानि फलायेत्यर्भकोदितम्॥

(२७०) यज्ञैरनैकरिन्द्रत्वमवाप्येन्द्रण भुज्यते।
शम्यादि यदि चेत्काष्ठं तद्वरं पत्रभक पशुः॥

(२७१) निहतस्य पशोर्यज्ञे स्वर्गप्राप्तिर्यदीप्यते।
स्वपिता यजमानेन किं नु तस्मःन्न हन्यते॥ – *विष्णुपुराण, अंश ३, अध्याय १८।*

दूसरों के खाने से यदि दूसरे तृप्त हों तो प्रवासी यात्री पाथेय का भार क्यों ढोयें? उसके घर वाले उसका श्राद्ध कर डालें? श्राद्ध यागयज्ञ आदि के प्रचलन का आधार केवल श्रद्धा ही है अत: उनमें कोई तात्त्विकता नहीं। इसलिए उन याग आदि के प्रति उपेक्षा ही उचित है। आप्त वाक्य यों ही कहीं आकाश से नहीं टपक पड़ते अत: मुझे एवं आपको तथा औरों को भी यही चाहिए कि वे युक्तियुक्त वाक्यों का ही आदर किया करें। माया-मोह से प्रबोधित होकर जब वे लोग इस प्रकार की विचारधारा में बह चले तब उन्हें बुद्धिभ्रष्ट देखकर देवताओं ने उन पर युद्धात्मक आक्रमण कर डाला। प्राक्तन धर्म-कवच नष्ट हो जाने के कारण अधिकतर वे दैत्य लोग मारे गये और जो कुछ इधर-उधर खिसक कर बच गये वे त्रयी-संवरणरहित हो जाने के कारण दिगम्बर बन गये। इस उपाख्यान को आधार करके ही माधव ने चार्वाक दर्शन का स्वरूप निर्णय किया है जिसका विशेष स्पष्टीकरण आगे होगा। यदि विचार के साथ इस उपाख्यान को देखा जाय तो यहाँ चार्वाक या लोकायत किंवा लौकायतिक की चर्चा बिल्कुल नहीं आयी है। नग्न अर्हत आदि शब्दों के प्रयोग से जैनों की, तथा 'विज्ञान ही सत्त्व है' इस प्रकार उपदेश की, मध्य में चर्चा के कारण क्षणिक-विज्ञान को ही तत्त्व मानने वाले योगाचार साम्प्रदायिक बौद्धों की भी चर्चा आयी है। हाँ, यह एक बात आयी है कि - अन्य दैत्यों को भी माया-मोह ने पथभ्रष्ट कर उपदेश दिया एवं उन्होंने आपस में भी उपदेश देकर वेद-विरोधी विचारधारा को फैलाया। क्या इतने से ही इस उपाख्यान को चार्वाक मत का भी उद्‌गमक मानना उचित कहा जायेगा?

सर्व-दर्शन-संग्रह और चार्वाक मत

मान्यता एवं अमान्यता की बात को अलग रखकर केवल यदि यह विचार किया जाय कि सुश्रृंखल रूप में चार्वाक मत का प्रतिपादन, ग्रन्थरूप में कहां प्राप्य है तो सर्वसम्मत उत्तर यही होगा कि सायण माधव रचित 'सर्व-दर्शन-संग्रह' का प्रथम अंश 'चार्वा-दर्शन' में ही। सायण माधव के चार्वाक दर्शन को देखते हुए यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये महाभारत की पूर्ववर्णित चार्वाक-कथा एवं और विष्णुपुराण के मायामोह-सम्बन्धी उपाख्यान से पूर्ण प्रभावित थे। मालूम ऐसा पड़ता है कि सर्व-दर्शन-संग्रहकार माधव वाल्मीकीय-रामायण-घटक उस राम-जाबालि कथा से जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है, परिचित नहीं थे। उन्हें यह अवश्य मालूम नहीं था कि राम ने चार्वाक मत को 'आन्वीक्षिकी' कहा है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि यदि उनकी दृष्टि उस ओर गयी होती और साथ ही आचार्य कौटिल्य तथा वात्स्यायन के द्वारा की जाने वाली आन्वीक्षिकी की प्रशंसा की ओर उनका ध्यान आकृष्ट हुआ तो वे अपने 'चार्वाक दर्शन' को अवश्य और रूप देते। साथ ही उनकी दृष्टि इधर भी संभवत: नहीं गयी कि इस प्रकार के अति पिछली, लौकिक दृष्टि से भी घृणास्पद मतवाद को 'दर्शन' जैसे पवित्र शब्द से कैसे कहा

(२७२) बृहस्पति-मतानुसारिणा नास्तिक-शिरोमणिना चार्वाकेण ....

- सर्व-दर्शन-संग्रह, चार्वाक-दर्शन।

जा सकता? उन्होंने अपने चार्वाक-दर्शन के अन्दर विष्णुपुराणगत उक्त माया-मोह सम्बन्धी उपाख्यान से कुछ श्लोकों को लेते हुए ज्ञान पुरस्सर कुछ शब्द मात्र का परिवर्तन किया है ऐसा दोनों जगहों के श्लोक-पाठों को मिलाकर देखने पर स्पष्ट प्रतीत होता है। सम्भवत: उन्होंने ऐसा इसलिए किया कि वे श्लोक चार्वाक दर्शन के आचार्य रूप से प्रसिद्ध वृहस्पति के माने जा सकें। उन्होंने उन श्लोकों को वृहस्पति का ही बतलाया है। यह भी एक ध्यान देने योग्य बात है कि चार्वाक को [२७२] उन्होंने नास्तिक शिरोमणि कहा है परन्तु विष्णु-पुराण की जिस उक्त कथा को उन्होंने मूल भित्ति रूप से ग्रहण करके निजी रंजना के द्वारा एक अवांछनीय दार्शनिक रूप दिया है, वहाँ चार्वाक या लोकायत अथवा लौकायतिक के नाम तक का उल्लेख नहीं पाया जाता है। नग्न की चर्चा वहाँ मुख्य रूप से पायी जाती है जिससे दिगम्बर जैन अभिप्रेत प्रतीत हैं एवं बीच में एक जगह क्षणिक-विज्ञान की भी चर्चा आयी है जिससे एक बौद्ध-सम्प्रदाय भी अभिप्रेत प्रतीत होता है। यदि वहाँ आये हुए 'अन्य दैत्य असुर लोग भी वेदमार्ग से च्युत होकर नष्ट हुए।' एतदिभिप्रायिक कथन के अनुसार उन्होंने 'अन्य' के अन्दर चार्वाक को लिया, तो उन्हें चार्वाक को नास्तिक-शिरोमणि नहीं कहना चाहिए था। क्योंकि अमुख्य रूप से गृहीत होने वाले व्यक्ति को 'शिरोमणि' कह कर मुख्य कहना कैसे संगत कहा जा सकता?

इनके चार्वाक दर्शन में यह भी परिस्थिति देखी जाती है कि जिसको इन्होंने चार्वाक पक्ष की ओर से प्रमाण रूप में उपस्थित किया गया है उस पक्ष से.ही उसे 'आभाणक' कह कर प्रामाण्यच्युत कर डाला है। कहने का तात्पर्य यह कि ये इस ओर नहीं ध्यान देते पाये जाते हैं कि जिससे मैं अनुमान आदि को सर्वथा अप्रमाण मानने वाला बतला रहा हूँ उसकी ओर से लोकोक्ति रूप आभाणक को कैसे प्रमाण बतलाया जा सकता? माधव ने जो कुछ अपनी ओर से विवेचन किया है वह है मुख्यत: प्रमाण-विवेचन। उसके अन्दर आपने व्याप्ति को दुर्बोध [२७३] बताकर अनुमान का खण्डन किया है। ऐसा उन्होंने इसलिए किया है कि तादात्म्य एवं कार्यकारण-भावमूलक व्याप्ति के निर्णय को बौद्धपक्ष से सुलभ बतलाकर अव्यवहित उत्तर द्वितीय-दर्शन रूप में वर्णनीय बौद्धदर्शन के द्वारा इस चार्वाक दर्शन का खण्डन किया जा सके। कहने का तात्पर्य यह कि वे अन्तिम शांकर-दर्शन को छोड़ कर किसी भी दर्शन को लिखते समय उस दर्शन की ओर से उतना ही लिखना चाहते हैं जिससे अव्यवहित परवर्ती रूप में उपन्यसनीय दर्शन के अभ्युदय में किसी प्रकार की बाधा नहीं उदित होकर साहाय्य प्राप्त हो। ऐसी परिस्थिति में ऐसे लेखक को पूर्व दर्शनों का सच्चा लेखक कहा जाय या नहीं? यह संभवत: अवश्य विचाराधीन माना जायेगा। अदृष्ट को न मानने पर जागतिक प्रत्यक्ष-सिद्ध विचित्रता के सम्बन्ध में प्रश्न

---

(२७३) धूमधूमध्वजयोरविनाभावोऽस्तीतिवचनमात्र मन्वादिवद्विश्वासाभावात्।

- सर्वदर्शनसंग्रह, चार्वाकदर्शन।

(२७४) हैतुकान्वकवृर्ताश्व वांगमात्रेणापि नार्चयेत्। *- मनुस्मृति।*

उठाकर जो उन्होंने चार्वाक की ओर से स्वभाववाद का आश्रय करते हुए उत्तर दिया है वह भी 'कहीं का ईंट कहीं का रोड़ा' इस लोकोक्ति को ही चरितार्थ करता हुआ प्रतीत होता है। चार्वाक-सिद्धान्त को तार्किक सिद्धान्त मानना आवश्यक है अन्यथा प्रदर्शित वाल्मीकीय रामायणगत राम-भरत संवाद एवं राम-जाबालि संवाद अनुत्पन्न हो उठेगा। क्योंकि राम ने स्पष्ट रूप में लोकायत-बुद्धि को आन्वीक्षिकी कहा है। मनु ने भी [२७४] 'हेतुक' कहकर चार्वाक पर आक्षेप किया है उससे यही सिद्ध होता कि चार्वाक सिद्धान्त स्वभाववादी नहीं है। क्योंकि स्वयं [२७५] स्वभाववादी व्यक्ति औरों से भी किसी विषय के सम्बन्ध में ऐसा प्रश्न नहीं उठा सकता कि 'ऐसा क्यों'। इसके अतिरिक्त यह भी एक ध्यान देने की बात है कि अपने द्वारा निर्धारित चार्वाक-दर्शन के स्वरूप को प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए उपस्थापित साढ़े ग्यारह श्लोकों के उल्लेख के अव्यवहित पूर्व जो माधव ने सिद्धवत् रूप में यह कहा है कि 'तदेतत्सर्व वृहस्पतिनाप्युक्तम्' 'ये सारी बातें वृहस्पति ने भी कही हैं।' इसे तब तक कैसे सत्य माना जाय जब तक ठीक इन्हीं आनुपूर्वियों में ये श्लोक वृहस्पति द्वारा उक्त रूप में अन्वेषकों को उपलब्ध न हो जायँ? इन श्लोकों के अन्दर चार श्लोक यहाँ बिल्कुल मिलते-जुलते अति अल्प शाब्दिक-मात्र परिवर्तनयुक्त रूप में विष्णुपुराण में उपलब्ध हैं यह बात पहले भी बतलायी जा चुकी है। अन्य भी श्लोक उनके स्वकल्पित अथवा उक्त 'कहीं का ईंट कहीं का रोड़ा' को ही चरितार्थ करने वाले-से प्रतीत होते हैं। यह बात पहले भी बतलायी जा चुकी है। जिन श्लोकों के सम्बन्ध में ये बातें की जा रही हैं उनका सरल अर्थ इस प्रकार है -

'न स्वर्ग है और नपवर्ग, साथ ही परलोक तक से सम्पर्कशील कोई आत्मा भी नहीं है। इसलिए वर्ण आश्रम सम्बन्ध क्रियाएँ भी फलप्रद नहीं हैं। १। [२७६] अग्निहोत्र, तीन वेद, त्रिदण्डधारण और भस्मलेपन, ये सभी प्रजापति ब्रह्मा के द्वारा बुद्धि पौरुषहीन निरुपाय जनों के लिए एक प्रकार जीविका के रूप में प्रवर्तित है। २। ज्योतिष्टोम यज्ञ में मारा गया पशु यदि स्वर्ग जायेगा तो यजमान के द्वारा यजमान का पिता ही क्यों न यज्ञ में, पशुस्थानापन्न रूप में मारा जाता है?। ३। श्राद्ध यदि मरे हुए व्यक्तियों को भी तृप्ति पहुँचाये, तो तेल, बुते हुए दीप की शिखा को क्यों न बढ़ा दे?। ४। दूर के यात्रियों को व्यर्थ पाथेय नहीं ढोना चाहिए। क्योंकि घर वाले उसके नाम श्राद्ध दे देंगे जिससे उसे अनिवार्य रूप से तृप्ति प्राप्त हो जायेगी। ५। यहाँ दिये गये दान से यदि स्वर्गस्थ व्यक्ति को तृप्ति मिले तो

---

(२७५) अग्निरुष्णो जलं शीतं समस्पर्शस्तथाऽनिलः।
केनेदं चित्रितं? तस्मात्स्वभावात्तद्व्यवस्थितिः॥ - *सर्वदर्शनसंग्रह, चार्वाकदर्शन।*

(२७६) अग्निहोत्रं त्रयो वेदाः त्रिदण्ड भस्मगुण्ठनम्।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति वृहस्पतिः॥

(२७७) यावज्जीवेत्सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः?॥

मकान के नीचे महल में दिया गया देय, मकान के छत पर बैठे हुए व्यक्ति को क्यों नहीं मिलता?।६। मनुष्य को चाहिए कि [२७७] जब तक जीवित रहे सुख से जीवित रहे। ऋण भी करके घी पीये। क्योंकि भस्मीभूत देह का पुन: कैसे आगमन हो सकता?।७। देह से विनिर्गत जीव यदि स्वर्ग आदि परलोक जाता है तो बन्धु-बान्धव के स्नेह के कारण लौटकर चला क्यों न आता है?।८। इसलिए ये सारी बातें ब्राह्मणों के द्वारा अपनी जीविका चलाने के लिए गढ़ ली गयी हैं कि मरे व्यक्ति के लिए श्राद्ध करना चाहिए। ९। भाण धूर्त्त और राक्षस ये तीन ही वेद के रचयिता हैं। जर्फरी तुर्फरी इत्यादि पण्डितों की निरर्थक वाणी है। १०। भाणों ने ही वेद के अन्दर ऐसा कहा है कि अश्वमेधीय अश्व-शिश्न यजमान पत्नी द्वारा ग्राह्य है। ऐसे भाणों के द्वारा ही ऐसी अन्य बातें भी बहुत-सी कही गयी हैं। ११। मांस का भक्षण तो राक्षसों का ही काम कहा जा सकता है।' इन श्लोकार्थों का उल्लेख इसलिए यहाँ किया जा रहा है कि इसके सम्बन्ध में थोड़ी आलोचना की जाय। क्योंकि वृहस्पति उक्त के रूप में इसे ही माधव ने चार्वाक-मत-निर्धारण की आधारशिला माना है। इन कथनों के अन्दर एक दो बातें बहुत ध्यान देने योग्य हैं। क्योंकि इसके प्रकाश में माधव के द्वारा निर्धारित चार्वाक मत को देखा जा सकता है। देखिए - जब विपक्षी की ओर से स्वयं माधव ने प्रश्न उठाया है कि अदृष्ट न मानने पर विचित्र जगत् की सृष्टि कैसे उत्पन्न होती है, तब उन्होंने चार्वाकीय पक्ष से यह उत्तर दिया है कि स्वभाव ही उसका नियामक है। किन्तु आधार-शिलात्मक-श्लोक-वाक्यों के अन्दर द्वितीय-श्लोक में कहा गया है कि धाता ब्रह्मा के द्वारा बुद्धि-पौरुषहीन व्यक्तियों के लिए जीवनोपाय रूप में ही अग्निहोत्र आदि चलाये जाते हैं। बतलाइये एक ही चार्वाक-पक्ष से एक जगह विचित्र जगत को स्वाभाविक कह कर जगत्निर्माता ब्रह्मा का अस्वीकार, और अपरत्र उस ब्रह्मा का अस्तित्व-कथन क्या व्याहत नहीं प्रतीत होता है? सातवें श्लोक के द्वारा यह कहा गया है कि जब तक जियो सुख से जियो, ऋण करके भी घी पियो, इत्यादि। इस श्लोक का उल्लेख सम्भवत: माधव ने चार्वाक-सिद्धान्त से प्राप्त होने वाली सामाजिक उच्छृंखलता के द्योतनार्थ किया है। और उस उक्ति को प्राय: चार्वाक की चर्चा करते हुए लोग बोल पड़ते हैं। परन्तु विचार करके देखने पर क्या इस वाक्य से उच्छृंखलता व्यक्त होती है? कभी नहीं। यदि इसे चार्वाक-पक्षीय उक्ति थोड़ी देर के लिए मान भी लिया जाय तो इससे उसकी अनुपादेयता नहीं सिद्ध की जा सकती। लोग न मालूम कैसे इस वाक्य से अर्थ निकालते हैं कि इस वाक्य के द्वारा ऋण लेकर उसे न चुकाने के लिए कहा गया है। क्योंकि ब्याज के साथ पुनर्देय धन ही कहलाता है वस्तुत: ऋण। अत: जभी सुख के लिए ऋण आदान का उपदेश दिया जाता है, तभी ब्याज सहित उसकी परावर्तनीयता भी व्यक्त हो उठती ही है। भस्मीभूत देह का पुनरागमन संभव नहीं, यह कथन भी पुनर्जन्म के अभाव-द्योतनार्थ नहीं कहा जाता है किन्तु वर्त्तमान शरीर के रक्षार्थ, यह बात सही माननी ही होगी।

---

(२७८) पंचम्यामाहुतावाप: पुरुषवचसो भवन्ति। - *छान्दोग्योपनिषत्, खण्ड ९।*

भस्मीभूत दृश्य स्थूल शरीर तो फिर नहीं मिलता, यह सही है, किन्तु इससे पंचाग्नि विद्या [२७८] के आधार पर स्थिरीकृत पुनर्जन्म के स्वीकार में एवं स्थूल-शरीरान्तर की प्राप्ति में बाधा, इस वाक्य के द्वारा वस्तुतः नहीं प्रतिपादित होती है। एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि पहले चार्वाक मत वर्णन के प्रसंग में एक जगह उस पक्ष से यह कहा गया है कि मत्स्यभोजी व्यक्ति काँटेयुक्त मछलियाँ लाता ही है, तद्वत् दुःखयुक्त सुख भी उपादेय ही है। यहाँ के दृष्टान्त से यह स्पष्ट व्यक्त होता है कि सुख मात्र के इच्छुक चार्वाक के लिए मत्स्य-मांस भोजन वर्जित नहीं है। परन्तु उक्त आधार शिलात्मक साढ़े ग्यारह श्लोकों के अन्दर अन्तिम श्लोकार्द्ध के द्वारा उन्होंने चार्वाकीय मत के रूप में यह व्यक्त किया है कि 'मांसभक्षण राक्षसी कृत्य है।' क्या एक ही पक्ष से इस प्रकार विरुद्ध बातों को उपस्थित करना माधव जैसे महा-विद्वान् के लिए उचित प्रतीत होता है? एक और बात यहाँ ध्यान देने की यह है कि यहाँ चार्वाकीय पक्ष में मांसभोजियों को चार्वाक की ओर से राक्षस कहा जा रहा है। किन्तु माधव ने जिस महाभारतीय एवं विष्णुपुराणीय उपाख्यान के आधार पर चार्वाकीय मत का स्वरूप निर्धारण किया है उन दोनों स्थानों में चार्वाक को ही राक्षस एवं दैत्य कहा गया है यह मानना होगा। संभव है कुछ लोग इस सम्बन्ध में यह कहें कि दो परस्पर विरोधी व्यक्ति आपस में एक दूसरे को राक्षस कह सकते हैं। ऐसा कहा ही करते हैं, तो इस पर वक्तव्य यह है कि राक्षस लोग अपने को राक्षस समझने में गर्व किया करते थे। रामायण में रावण को राक्षसेश्वर कहते हुए उनके प्रति आदर व्यक्त किया गया बहुशः प्रतीत होता है। तदनुसार महाभारतीय आख्यायिका के आधार पर राक्षस होने वाले चार्वाक साम्प्रदायिक कैसे यह कह सकते हैं कि 'मांस खाना राक्षसों का कृत्य है, अनुचित है?' अतः यह स्पष्ट जैसा ही प्रतीत होता है कि सर्व-दर्शनसंग्रहीय चार्वाक मत सच्चा चार्वाक मत नहीं। एक बात और यहाँ ध्यान देने की यह है कि माधव ने चार्वाकीय अन्तिम वक्तव्य रूप में यह कहा है कि 'इसलिए बहुत प्राणियों के अनुग्रहार्थ चार्वाक मत का आश्रय करना चाहिए।' इस कथन से तो ऐसा प्रतीत होता है कि चार्वाक सम्प्रदाय अपने को अत्यन्त सभ्य तथा धार्मिक एवं व्यवस्थित होने का पूर्ण अभिमान रखता था। प्रतीत ऐसा होता है कि जैसे वह अपने को उच्छृंखल बिल्कुल न मानता हो। परन्तु उक्त महाभारतीय उपाख्यान एवं विष्णुपुराणीय उपाख्यान इस धारणा के प्रति अनुकूल होता हुआ नहीं पाया जाता। क्योंकि वहाँ एक जगह राक्षस और दूसरी जगह दैत्य व असुर कह कर उसके प्रति उच्छृंखलता की ही धारणा व्यक्त की गयी है। उक्त महाभारतीय कथा को देखकर कथंचित् यह भी कहा जा सकता है कि वहाँ चार्वाक ने अपनी करुणाशीलता का प्रदर्शन बनावटी किया है। परन्तु माधव के चार्वाक दर्शन के अन्त में तो वह मिथ्या-प्रदर्शन नहीं कर सकता, एवं उसकी ओर से माधव उसकी बनावटी करुणाशीलता का अभिव्यंजन सूचित नहीं कर सकते?

---

(२७९) विज्ञान धन एवैभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्ययि।
न प्रोत्य संज्ञास्ति। - वृहदारण्यक २/४/१२/

इसलिए इतने विवेचन के अनन्तर माधवीय चार्वाक दर्शन पर कुछ न कुछ अविश्वास का प्रस्ताव प्राय: प्रत्येक व्यक्ति को हो जायेगा।

फिर भी माधव के चार्वाक दर्शन से होने वाला बहुत बड़ा लाभ यह मानना होगा कि इन्होंने इसे एक स्वतंत्र दर्शन का स्थान तो दिया? जिससे अनेक लोगों के हृदय में आज चार्वाक-दर्शन के सम्बन्ध में प्रबल जिज्ञासा उठ खड़ी हुई है? दूसरी बात यह कि माधव ने [२७९] 'विज्ञान धन एवैभ्यो भूतेभ्य: समुत्थाय' इत्यादि श्रुति का उल्लेख करते हुए जो चार्वाकीय भूतचैतन्य की वैदिकता की ओर सर्वप्रथम इंगित किया इसे भी कम मूल्यवान नहीं कहा जा सकता। यद्यपि यह उनकी इंगिति भी अवश्य अन्तिम भागीय ग्यारहवें श्लोक के द्वारा कथित से विरुद्ध होती है फिर भी वेदानुमोदन का ध्वनन तो उनके द्वारा हुआ?

जैन और चार्वाक मत

विष्णु-पुराण के उक्त माया-मोह उपाख्यान को एवं माधव के चार्वाक-दर्शन में चार्वाक सम्प्रदाय प्रवर्त्तक रूप में वृहस्पति के द्वारा किये गये वेद एवं वैदिक हिंसागत अनौचित्य प्रकाशन को देखते हुए तो प्रतीत ऐसा होता है कि जैनमत और चार्वाकमत इन दोनों को आपस में निकटवर्ती होना चाहिए। परन्तु जैन साहित्य को टटोलने पर परिस्थिति इसके विपरीत प्राप्त होती है। उदाहरण के लिए जैन हरिभद्र सूरि रचित षड्दर्शन समुच्चय को उपस्थित किया जा सकता है। यहाँ चार्वाक मत का स्वरूप इस प्रकार बतलाया गया है [२८०] लोकायतों का कहना यह है कि न देवों का अस्तित्व है और न निवृत्ति अर्थात् स्वर्ग या अपवर्ग है। धर्म और अधर्म भी नहीं है और इसलिए उनके फल भी नहीं हैं। चार्वाकीय दल के लोग किसी स्त्री से यह कहते हैं कि हे भद्रे [२८१] जितना तुम देखती हो उन्हें ही प्रामाणिक समझो। शास्त्र के आधार पर जो लोग स्वर्ग-अपवर्ग, पाप-पुण्य आदि का बहुत उपदेश देते हैं उसे तुम भयानक जंगली शेर आदि के पाँव के समान समझो। हे रमणी! खाओ, पीओ, मौज मारो, जो बीत जायेगा वह तेरा न होगा। गया समय फिर लौटता नहीं। जब तक यह शरीर समुदय अर्थात् वर्द्धिष्णु है, फलत: युवावस्थायुक्त है, तभी तक वास्तविक है और पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु ये चार भूत ही हम चार्वाकियों के मत में तत्त्व हैं। ये स्वयं चैतन्य के आश्रय हैं। इन्हें समझने के लिए प्रमाण अर्थात् प्रमाज्ञान हम चार्वाकियों के मत में केवल इन्द्रियजन्य अर्थात् प्रत्यक्ष ही मान्य हैं। पृथ्वी आदि भृतों का

(२८०) लोकायता वदन्त्येवं नास्ति देवो न निवृति:।
धर्माधर्मौ न विद्येते न फलं पुण्यपापयो:॥ १॥ – *षड्दर्शन समुच्चय, चार्वाक मत।*

(२८१) एतावानेव लोकोऽयं यावानिन्द्रियगोचर:।
भद्रे! वृकपदं पम्य यद्वदन्ति बहुश्रुता:॥ २॥ – *षड्दर्शन समुच्चय, चार्वाक मत।*

(२८२) साध्यवृत्तिनिवृत्तिभ्यां या प्रीतिर्जायते जने।
निरर्था सा मता तेषां सा चाकाशात् परा नहि॥ – *षड्दर्शन समुच्चय, चार्वाक मत।*

संघात होने पर देहादि का संभव होता है। मद्य के अंग भूत भात आदि सड़ने से मद-शक्ति के समान भौतिक देहों में अत्मिता होती है, अर्थात् चैतन्य होता है। इसलिये दृष्ट ऐहिक फलों को छोड़कर जो लोग अदृष्ट पारलौकिक फलों के लिए प्रवृत्त होते हैं यह उनकी अत्यन्त विमूढ़ता है अर्थात् अज्ञान है, ऐसा चार्वाकों ने माना है। साधनीय देवपूज़न आदि आचरण [२८२] और निवृत्ति अर्थात् त्याग से जो कुछ लोगों को प्रसन्नता होती है वह शून्य के अतिरिक्त कुछ नहीं अत: वह निरर्थक है। ग्रन्थकर्त्ता हरिभद्र सूरि कहते हैं कि लोकायत मत का भी मैंने संक्षिप्त परिचय दे दिया। अब इसका विस्तृत तात्पर्यार्थ बुद्धिमान लोग स्वयं पर्यालोचना के सहारे निकाल डालेंगे। इसके टीकाकार मणिभद्र ने हरिभद्र सूरि के द्वारा प्रयुक्त लोकायत शब्द का अर्थ किया है [२८३] 'नास्तिक'। इससे स्पष्ट हो सकता है कि जैन लोग अपने को नास्तिक नहीं मानते। उनके मत में चार्वाक नास्तिक है। यहाँ एक बात और भी ध्यान देने की यह है कि हरिभद्र के मतानुसार आस्तिक एवं नास्तिक दोनों दर्शनों की संख्या, मिलाकर छ: मात्र है। उनके अन्दर न्याय और वैशेषिक इन दोनों को अलग-अलग दर्शन माना जाय तब चार्वाक को दर्शन माने बिना ही दर्शन में षट्त्व सम्पन्न हो उठता है। अत: तब चार्वाक कोई दर्शन नहीं मानना चाहिए और न्याय तथा वैशेषिक इन दोनों को एक ही दर्शन माना जाय तो दर्शन की संख्या तब तक छ: नहीं हो सकती जब तक चार्वाक को भी एक स्वतंत्र दर्शन न मान लिया जाय। अत: चार्वाक मत की दार्शनिकता, पाक्षिक है। मणिभद्र के समान हरिभद्र-रचित उक्त षड्दर्शन समुच्चय के एक दूसरे टीकाकार हैं गुणरत्न। इन्होंने चार्वाक मत के स्वरूप को अतिविकृत बतलाया है। मणिभद्र ने जहाँ लोकायत को नास्तिक मात्र कह कर सन्तोष किया है वहाँ गुणरत्न ने नास्तिक का स्वरूप परिचय किस प्रकार दिया है - देखिए - 'अब लोकायतमत कहा जाता है। पहले नास्तिकों का स्वरूप बतलाता हूँ। नास्तिक लोग कापालिक होते हैं। शरीर में भस्म लगाते हैं। योगी हुआ करते हैं। इनकी एक ही कोई स्वतंत्र जाति नियत होती। ये ब्राह्मण से लेकर अन्त्यज जाति तक के कोई भी होते हैं। वे जीवात्मा, पुण्य, पाप आदि मानते नहीं। इस समग्र जगत को वे पृथ्वी, जल, तेज और वायुस्वरूप भूत चतुष्टयात्मक ही मानते हैं। नास्तिकों का एक दल ऐसा भी है जो कि जगत् को चतुर्भूतात्मक न मानता है। क्योंकि भूतों की संख्या पृथिवी, जल, तेज और वायु, इस प्रकार चार न मानकर वह पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश इन पाँच भूतों को मानता है। उसके मत में मदशक्ति के समान चैतन्य भी भूतों से ही उत्पन्न होता है। जीव भी जल-बुद्बुद् के समान भौतिक ही हैं। चैतन्य-विशिष्टकाय अर्थात् शरीर है पुरुष। वे नास्तिक लोग मद्य एवं मांस का उपभोग करते हैं। माता आदि अगम्य स्त्रियों के साथ भी सम्भोग करते हैं। प्रतिवर्ष किसी भी दिन आपस में मिलकर नामनिर्गम के अनुसार स्त्री सम्भोग करते हैं। धर्म को काम से अलग मानते नहीं। उन नास्तिकों के नाम हैं 'चार्वाक' 'लोकायत' इत्यादि। जो चर्वण करें

---

(२८३) 'लोकायता: नास्तिका:' - *षड्दर्शन समुच्चय टीका, चार्वाक मत।*

अर्थात् मनमाना खाय, तत्त्वत: पुण्य पाप आदि माने नहीं वे कहलाते हैं – चार्वाक। लोक का अर्थ विचारशून्य साधारणजन, उसके समान आचरण करने वाले, उनके समान आचरण करने वाले कहलाते हैं लोकायत एवं लौकायतिक भी। इन लोगों का मत यत: वृहस्पति के द्वारा प्रवर्त्तित है अत: ये 'वार्हस्पत्य' भी कहलाते हैं।'

यों तो उक्त जैन विद्वानों द्वारा इस प्रकार किये जाने वाले हृदयोद्‌गार से स्पष्ट रूप में केवल यही देखने को मिलता है कि इन लोगों के द्वारा चार्वाकों की बड़ी निन्दा की गयी है। यदि वे सचमुच ऐसे ही थे तो इन विद्वानों ने उचित ही इस प्रकार निन्दा की है और नहीं तो इसका कारण धार्मिक असहिष्णुत्व भी हो सकता है जैसा कि प्राय: देखा ही जाता है। किन्तु गम्भीरतापूर्वक इन जैन-विद्वानों की इन बातों को देखने पर अनेक अपेक्षिक बातें प्रकाश में आती हुई दिखाई देती हैं। एक यह कि ये जैन विद्वान चार्वाक की दर्शनता के सम्बन्ध में ही प्रथमत: एक मत नहीं हैं। क्योंकि मणिभद्र ने कहा है कि न्याय और वैशेषिक इन दोनों की एक दर्शनता की मान्यता पक्ष में ही चार्वाक को दर्शनता है। परन्तु द्वितीय व्याख्याकार गुणरत्न इसके विपरीत निश्चयशील दीख पड़ते हैं। क्योंकि चार्वाक और लोकायत शब्दों की जो उन्होंने व्याख्या की है उसके अन्दर चार्वाक सिद्धान्तियों को जनसाधारण न मानकर आचरणत: जनसाधारणतुल्य कहा गया है। इससे गुणरत्न का अभिप्राय स्पष्ट रूप से यह प्रतीत होता है कि लोकायतिक [२८४] लोग निर्विचार जनसाधारण के अन्दर तो नहीं थे किन्तु उनका आचरण निर्विचार जनसाधारण के समान बुरा था। गुणरत्न के इस अभिप्राय को मान लेने पर यह मान्य हो उठता है कि उस समय भी चार्वाकियों की दार्शनिक विचारधारा तो उन्नत ही थी किन्तु उनके आचरण गिर गये थे। दूसरी बात यहाँ यह ध्यान देने योग्य प्राप्त होती है कि गुणरत्न ने जो यह कहा है कि ये [२८५] नास्तिक कापालिक होते हैं। इस कथन को विष्णुपुराणगत माया-मोह के उपाख्यान के साथ मिलाने पर कुछ सामंजस्य प्रतीत जैसा होता है। क्योंकि वहाँ विष्णु के द्वारा आविर्भावित उक्त माया-मोह को रक्ताम्बर अर्थात् लाल कपड़ा पहनने वाला कहा गया है। कापालिक लोग शक्तता के अभिव्यक्त्यर्थ लाल ही कपड़ा नियमत: पहनते हैं। तीसरी बात यहाँ यह ध्यान देने योग्य प्रकाश में आती है कि चार्वाक सिद्धान्त सचमुच दो विचारधाराओं से गुजर रहा था। कहने का तात्पर्य यह है कि 'वाल्मीकीय रामायण और चार्वाक सिद्धान्त' इस शीर्षक विवेचन के अवसर पर जो यह बतलाया गया है कि रामायण के अध्ययन से प्रतीत यह होता है कि चार्वाक विचारधारा दो प्रभेदों में विभक्त थी उसकी

---

(२८४) लोका:निर्विचारा:, सामान्या: तद्वदाचरन्तिस्मेति लोकायता:। लौकायतिका इत्यपि। वृहस्पतिप्रणीतमतत्वेन बार्हस्पत्याश्च।

– षड्. स., गुण. टीका।

(२८५) नास्तिका: कापालिका: भस्मोद्धूलनपरा: योगिन: ब्राह्मणाद्यन्तजाताश्च ताश्च केचन नास्तिका भवन्ति। *– षड्० स०, गुण० टीका।*

पुष्टि गुणरत्न के द्वारा भी की जाती हुई पायी जाती है। क्योंकि इन्होंने यह स्पष्ट कहा है कि 'कुछ चार्वाक आकाश को भी तत्त्व मानकर भूतों की संख्या पाँच मानते हैं।' आकाश को एक स्वतंत्र तत्त्व मानने का अर्थ होता है अनुमान को भी प्रमाण मानना। जैसा कि यहाँ विस्तारपूर्वक वर्णित हो चुका है। अनुमान की प्रमाणता दो प्रकार से मान्य हो सकती है। एक तो उस प्रकार जैसा कि प्रत्यक्षान्तर्गत रूप में ही अनुमान आदि को प्रमाण बतलाया जा चुका है। अतिरिक्त रूप से प्रमाणता के अभ्युपगम पक्ष में गौतमीय न्याय, कणादीय न्याय अर्थात् वैशेषिक और बाह्यास्तित्ववादी बौद्धों का न्याय भी चार्वाक धारा के अन्तर्गत हो जाता है, जिसकी पुष्टि राम कथित 'आन्वीक्षिकी' संज्ञा से भी होती है और ऐसा सोचने पर मणिभद्र का यह कथन भी अंशत: सत्य होता दिखाई देने लगता है कि चार्वाक कोई स्वतंत्र दर्शन नहीं। एक विस्तृत [२८६] पुस्तक सूची में 'तर्करहस्य दीपिका' नामक चार्वाक ग्रन्थ का उल्लेख मिला है किन्तु उसकी उपलब्धि नहीं हुई है। अत: यह भी निर्णय कठिन है कि उसके रचयिता जैन गुणरत्न हैं या अन्य। इसी प्रकार जयन्त रचित 'न्यायमंजरी' नामक चार्वाक ग्रन्थ का भी उल्लेख मिला है किन्तु उसके सम्बन्ध में भी और कोई जानकारी प्राप्त नहीं है।

आचार्य कौटिल्य और लोकायत-मत-

आचार्य कौटिल्य का अर्थशास्त्र अत्यन्त मान्य है। उसके अन्दर आचार्य ने अपने ठोस विचार उपस्थित किये हैं। अन्वेषकों को यहाँ अनायास ऐसी भी बातें मिल जाती हैं जो अन्यत्र मिलती नहीं, अत: यहाँ भी देख लिया जाय कि आचार्य कौटिल्य इस विवेच्य चार्वाक-दर्शन के सम्बन्ध में अपना क्या और कैसा दृष्टिकोण रखते हैं? तो विद्याओं का विवेचन उपस्थित करते हुए वे कहते हैं कि 'विद्यायें चार हैं जिनके नाम हैं [२८७] आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति।' इसके अनन्तर ही इसके सम्बन्ध में आप मनु के अनुयायियों का मत बतलाते हुए कहते हैं कि 'मानव लोग किन्तु वार्ता, त्रयी और दण्डनीति ये तीन ही विद्यायें मानते हैं, क्योंकि आन्वीक्षिकी भी त्रयी के ही अन्दर अन्तर्भक्त है।' इसके अव्यवहित उत्तर आपने इसके सम्बन्ध में वृहस्पति का मत उपस्थित करते हुए यह कहा है कि 'वार्ता और दण्डनीति ये दो ही विद्यायें है। क्योंकि

---

(२८६) पूना से प्रकाशित सटीक सर्वदर्शन संग्रह के साथ मुद्रित दार्शनिक पुस्तक सूची देखिए।

(२८७) आन्वीक्षिकी त्रयीवार्ता दण्डनीतिश्चेति विद्या:। वार्ता त्रयीदण्डनीति-श्चेति मानवा:। त्रयी विशेषाह्यान्वीक्षिकीति। वार्ता दण्डनीतिश्चेति बार्हस्पत्या:। सम्वरणमात्रं हि त्रयी लोकयात्राविद:। दण्डनीतिरेका विद्येत्योशनसा:। तचस्र एव विद्येति कौटिल्य:।
- कौटि० अ०शा० विद्योद्देश प्रकरण।

(२८८) सांख्ययोगौ लोकायतं चेप्यान्वीक्षिकी। ... बलाबले चैतासा हेतुभिरीक्ष-माणा लोकस्यपोकरोति। व्सने:ऽभ्युदये च बुद्धिमवस्थापय त। प्रज्ञा वाक्यवैशारद्यं च करोति।
- कौटि० अ०शा० विद्योद्देश प्रकरण।

त्रयी तो लोकयात्राविज्ञों के लिए संवरण अर्थात् आवरण मात्र है।' दैत्यगुरु शुक्र के मत का उल्लेख करते हुए आपका कहना यह है कि 'औशनस लोग केवल एकमात्र दण्डनीति को ही विद्या मानते हैं।' परन्तु अपना मत इस सम्बन्ध में बतलाते हुए कौटिल्य ने यह कहा है कि 'आन्वीक्षिकी आदि उक्त चारों विद्याएँ स्वतंत्र रूप से मान्य हैं।' इन विद्याओं के प्रयोजन एवं स्वरूप आदि बतलाते हुए आचार्य कहते हैं कि इन विद्याओं के द्वारा धर्म और अर्थ को पहचानना चाहिए यही विद्याओं का है विद्यात्व। सांख्य लोग और लोकायत ये हैं आन्वीक्षिकी।[२८८] धर्म और अधर्म का प्रतिपादन मुख्यत: त्रयी में है। अर्थ और अनर्थ का प्रतिपादन वार्ता शास्त्र के अन्दर होता है और नीति-अनीति का विचार दण्डनीति में। अब आन्वीक्षिकी का, जिसके अन्दर उन्होंने लोकायत की भी गणना की है, प्रयोजन बतलाते हुए आप क्या कहते हैं देखिए। वे कहते हैं कि धर्म-अधर्म, अर्थ-अनर्थ और नीति-अनीति अर्थात् न्याय-अन्याय को दृष्टि में रखते हुए उक्त त्रयी-वार्ता और दण्डनीति इनके स्थानानुसार होने वाले वलाबल भाव को हेतुकों अर्थात् तर्कों के द्वारा देखने वाली अर्थात् विषय करने वाली आन्वीक्षिकी लोकोपकारक है। आन्वीक्षिकी ही एक ऐसी वस्तु है जो कि क्या व्यसन और क्या अभ्युदय अर्थात् क्या आपत्ति और क्या समृद्धि दोनों समय बुद्धि को संतुलित रखती है, ठिकाने रखती है। ज्ञान के साथ-साथ वाणी को भी निर्मल बनाती है। कौटिल्य के इस कथन को राम के द्वारा लोकायत को दी गयी आन्वीक्षिकी संज्ञा के साथ मिलाकर देख लेने पर लोकायत का प्राचीन स्वरूप कैसा प्रतिष्ठित एवं यौक्तिक होगा? इस पर प्रकाश अवश्य पड़ता है। आन्वीक्षिकी की महत्ता का वर्णन करते हुए कौटिल्य ने और भी बहुत कुछ कहा है। वे कहते हैं कि यह आन्वीक्षिकी[२८९] सारी विद्याओं के लिए प्रदीप है अर्थात् उनके यथार्थ स्वरूप का प्रकाशक है और सारे कर्मों का उपाय है। अर्थात् आन्वीक्षिकी के द्वारा परिशुद्ध व्यक्ति यथार्थ उपाय का आश्रयण कर पाता है एवं यह आन्वीक्षिकी ही सारे धर्मों का आश्रय है अर्थात् उसकी आधारशिला है। गौतमीय न्यायदर्शन के भाष्यकार वात्स्यायन ने भी कौटिल्य की इस उक्ति को आश्रयण करके गौतमीय न्याय को आन्वीक्षिकी कहकर उसकी महत्ता का वर्णन किया है। आचार्य कौटिल्य ने दण्ड विवेचन के अवसर पर भी आन्वीक्षिकी का उल्लेख इस प्रकार किया है कि 'दण्ड, आन्वीक्षिकी, त्रयी और वार्ता इन सबके योग एवं क्षेम का साधन है।' योग कहा जाता है अप्राप्ति की प्राप्ति को और क्षेम प्राप्त के संरक्षण को। यहाँ दण्ड को आन्वीक्षिकी की भी प्राप्ति और संरक्षण का साधन बतलाकर दण्ड और आन्वीक्षिकी इन दो के बीच परस्परापेक्षा व्यक्त करते हुए कौटिल्य के द्वारा अति घनिष्ठ सम्बन्ध

---

(२८९) प्रदीप: सर्वविद्यानामुपाय: सर्वकर्मणाम्।
आश्रय: सर्वधर्माणां शस्वदान्वीक्षिकी मता॥

– कौटिल्य अर्थशास्त्र, विद्योद्देश प्रकरण।

बतलाता गया है। यहाँ गम्भीरतापूर्वक ऐसा कुछ आभास मिलता-सा प्रतीत होता है कि 'सांख्य लोग और लोकायत ये हैं आन्वीक्षिकी।' इस उक्त कौटिल्य-कथन के अनुसार त्रिविध आन्वीक्षिकी के अन्दर प्रत्येक को धर्म-अधर्म, अर्थ-अनर्थ और नीति-अनीति उनसे साधारणतया सम्बन्ध होने पर भी योगात्मक आन्वीक्षिकी का घनिष्ठ सम्बन्ध है धर्म-अधर्म से, सांख्यात्मक आन्वीक्षिकी का घनिष्ठ सम्बन्ध है अर्थ-अनर्थ से और लोकायतात्मक आन्वीक्षिकी का घनिष्ठ सम्बन्ध है नीति और अनीति से, इसलिए नीति प्रवर्तन और अनीति-निवर्तन के द्वारा लोकायत आन्वीक्षिकी दण्ड के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखने वाली है। धर्म की संकुचित व्याख्या करने वाला धार्मिक पक्ष, दण्ड एवं दण्डाश्रित राजनीति की निन्दा करता हुआ पाया ही जाता है। प्राय: शुष्क धार्मिकता का अभिमान रखने वाले लोग अपराधियों को दण्ड देने में हिचकते पाये ही जाते हैं। अत: दण्ड से घनिष्ठ सम्बन्ध रखने वाली लोकायत आन्वीक्षिकी की निन्दा धार्मिक पक्ष से आरम्भ हुई हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। हमने जो लोकायत को बहुश: दण्डनीति-दर्शन, फलत: राजदर्शन कहा है इसका मुख्य कारण यही है।[२६०] दण्ड के सम्बन्ध में कौटिल्य ने अन्य मतों के उल्लेख के साथ अपना यह स्थिर मत व्यक्त किया है कि 'तीक्ष्ण दण्ड से प्राणी उद्विग्ध हो उठते हैं। मृदु दण्ड परिभवप्रद होता है। उचित दण्ड की पूजा होती है। समझदारी के साथ विहित दण्ड प्रजाओं को धर्म, अर्थ और काम तीनों से युक्त बनाता है। अविचारित और इसीलिए दुष्प्रणीत अर्थात् अनुचित दण्ड त्यागी, वानप्रस्थ एवं संन्यासियों को भी उद्विग्न कर डालता है। गृहस्थों की तो बात क्या? बिल्कुल दण्ड के अभाव में जनता 'मात्स्यान्यायग्रस्त' हो जाती है। दण्डधर शासक के अभाव में बलवान् दुर्बलों को सताता है। दण्ड से सभी सुरक्षित होते हैं।'

वार्हस्पत्य-सूत्र और लोकायत

चार्वाक-दर्शन कहें या लोकायत दर्शन कहें, उसके प्रथम प्रवर्तक आचार्य हो गये हैं वृहस्पति, यह बात प्राय: विख्यात है। यहाँ भी पहले इस पर कुछ प्रकाश डाला जा चुका है। वृहस्पतिरचित साहित्य के अन्वेषण करने पर वृहस्पति-स्मृति और वार्हस्पत्य-सूत्र ये दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इन दोनों के अन्दर वृहस्पति-स्मृति में ऐसी कोई विलक्षणता अन्य स्मृतियों से नहीं पायी जाती है जिसके आधार पर उसे लोकायत सम्पृक्त कहा जा सके। परन्तु यदि वृहस्पति को लोकायत मत का आदि माना जाय और इस वृहस्पति-स्मृति के आधार पर भी यह दावा किया जा सकता है कि लोकायत सिद्धान्त कोई अवैदिक तथा नास्तिक सिद्धान्त नहीं था। वह भी उक्त पद्धति के अनुसार वैदिक एवं आस्तिक ही मत

---

(२६०) यथार्थदण्ड: पूज्य:। ... कप्रणीतो हि मात्स्यन्यायमुद्भावयति। बलीयानबलं हि ग्रसते दण्डधराभावे। ... तस्माद्दण्डमूलास्तिस्रोविद्या:।

(२६१) सर्वथा लौकायतिकमेव शास्त्रमर्थज्ञानकाले॥ ५॥ *- बार्हस्पत्य सूत्र, अध्याय २।*

(२६२) लौकायतिकमसेनार्थं क्षिप्रं नश्यति तत्॥ ८॥ *- बार्ह० सू०, अध्याय २।*

था। पीछे बौद्ध आदि सिद्धान्त की तरह तदनुयायियों के आचरणगत विकार-प्राप्ति के अनन्तर उसके विरोधियों के द्वारा उसकी निन्दा प्रसारित की गयी। द्वितीय, वार्हस्पत्य सूत्र में जिसे अन्य शब्द में 'वार्हस्पत्य-अर्थशास्त्र' भी कहा जाता है लोकायत एवं लोकायतिक के सम्बन्ध में निजी मत व्यक्त किया गया है। द्वितीय अध्याय के पंचम सूत्र के द्वारा यह कहा गया है कि 'अर्थसाधन के समय सर्वथा लौकायतिक शास्त्र ही वस्तुतः शास्त्र है।' [२६१] अनन्तर उसी अध्याय के आठवें सूत्र के द्वारा यह कहा गया है कि [२६२] 'वह लौकायतिक शास्त्र असेन के लिए अर्थात् सेनारहित के लिए फलतः राजा से भिन्न व्यक्तियों के लिए आश्रित होने पर शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।' इसके अनन्तर [२६३] बारहवें सूत्र के द्वारा यह कहा गया है कि 'कोई भी व्यक्ति अपनी अविद्या के अर्थात् अज्ञान के कारण यदि धार्मिक व्यक्ति से पुरुषार्थ की अर्थात् अभिप्रेत अर्थ की सिद्धि चाहता है तब वह व्यक्ति लौकायतिक पाखण्डी कहलाता है।' सोलहवें सूत्र के द्वारा यह कहा गया है कि [२६४] 'लौकायतिक, धर्म को भी अर्थ का ही साधन, व्यर्थ कहता है। वह पिण्ड के अर्थात् शरीर के लिए ही उपभोग करने वाला चोर होता है। अर्थात् चोर दण्ड से दण्डनीय है।' सत्रहवें सूत्र के द्वारा यह कहा गया है कि लोकायत [२६५] साम्प्रदायिक लोग अग्निहोत्र सन्ध्याजप आदि भी व्यर्थ के लिए ही किया करते हैं! उन्नीसवें सूत्र के द्वारा यह कहा गया है कि [२६६] लौकायतिक व्यक्ति मरने पर अर्थ, धर्म और काम इन तीनों से विहीन होता है एवं नरक का भोगी होता है। तृतीय अध्याय के पन्द्रहवें सूत्र के द्वारा यह कहा गया है कि [२६७] लोकायतिक जैन और बौद्ध इन तीनों के अन्दर प्रथम लौकायतिक को बहुसंख्यक शेर आदि दुष्ट जन्तुओं से भरे जंगल तुल्य, जैनों को शून्य-वन तुल्य और बौद्धों को पर्वत कन्दरा के मार्ग तुल्य समझना चाहिए। वार्हस्पत्य-सूत्रगत इन कथनों के द्वारा भी लोकायत सिद्धान्त की मान्यता पर प्रकाश अवश्य पड़ता है। द्वितीय अध्याय के पंचम सूत्र से यह स्पष्ट होता हुआ प्रतीत होता है कि ऐहिक वस्तुओं की सिद्धि के लिए लोकायत-शास्त्र ही समाश्रयणीय है। उसी से अर्जित ज्ञान द्वारा ऐहिक जीवन को सुखी रखा जा सकता है। यहाँ एक महत्त्वपूर्ण बात यह ध्यान देने की है कि 'अर्थ' इस शब्द की उचित व्याख्या की ओर ध्यान देने पर मानवीय इच्छा के विषय सारी वस्तुओं को अर्थ रूप से लिया जा सकता

---

(२६३) अविद्यायुक्तः पुरुषार्थं साधयितुं धर्मयुक्ते यदेच्छति, तदा लौकायतिका भिधानपाषण्डी॥ १२॥ — *बार्ह. सू., अध्याय २।*

(२६४) वृथा धर्मं वदत्यर्थ-साधनं लौकायतिकः, पिण्डादश्चोर इति च॥ १६॥ — *बार्ह. सू., अध्याय २।*

(२६५) एवमर्थार्थं करोत्यग्निहोत्र-सन्ध्याजपादीन्॥ १७॥ — *बा. अ. २।*

(२६६) लौकायतिको मृतो भवत्यर्थधर्म काम विहिनो नारकी च॥ २६॥ — *बार्ह. सू., अध्याय २।*

(२६७) लौकायतिक-क्षपणक-बौद्धादि बहुशार्दूल-दुष्टमृगाकीर्ण-शून्याटवी-गुहामार्गवत्॥ १५॥ — *बार्ह. सू., अध्याय २।*

है। तदनुसार अति प्राचीन युग में जब कि उक्त लौकायतिक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त के अनुरूप लौकायतिक आचरण भी शुद्ध था, प्रशस्त था तब लोकायत-शास्त्र ही समग्र अर्थों के साधनार्थ आश्रयणीय होता था, अनुकूल ज्ञानार्जन के लिए। परन्तु आचरण में दोष का सम्पर्क आ जाने पर वह केवल ऐहिक वस्तुओं के लिए अपेक्षित माना जाने लगा। उक्त आठवें सूत्र के द्वारा यह स्पष्ट होता हुआ दीख पड़ता है कि पीछे आकर यह सिद्धान्त 'ससेन' राजाओं के लिए ही मुख्य रूप में आश्रयणीय माना जाने लगा। इससे इसकी राजनीति दर्शनता व्यक्त होती है, जिसका निर्णय किया जा चुका है। उक्त बारहवें सूत्र से यह व्यक्त होता है कि लौकायतिक यदि मोहवश धार्मिक व्यक्ति से अपना लाभ उठाना चाहता है तो लौकायतिक पाखण्डी कहलाता है। लौकायतिक लोग यदि कहीं भ्रमवश विशुद्ध केवल पारलौकिक फलेच्छुक व्यक्ति के समक्ष अपना विचार व्यक्त करते थे या तदनुरूप आचरण कर बैठते थे तो वे केवल धर्मार्थी उन्हें लौकायतिक-पाखण्डी कहते थे। सारांश यह कि लौकायतिक तर्क के आगे जब वे केवल धार्मिक लोग और कुछ नहीं कह पाते थे तो लौकायतिक पाखण्डी कहकर उनकी निन्दा करते थे। वे यह कहते थे कि ये शरीर मात्र के लिए जीने वाले चोर हैं अर्थात् चोर-दण्ड के भागी हैं। क्योंकि वे मिथ्या यह कहते हैं कि लोग धर्माचरण भी अर्थ के लिए ही किया करते हैं। यहाँ तक कि अग्निहोत्र, सन्ध्यावन्दन आदि भी लोग अर्थ के लिए ही करते हैं। अपने को धार्मिक मानने वाले लोग लौकायतिकों के सम्बन्ध में यहाँ तक कहते थे कि ये लोग नरक भोगेंगे। तृतीय अध्यायगत पन्द्रहवें सूत्र के द्वारा यह कहा गया है कि उन धर्माभिमानियों के द्वारा यह कहा जाता था कि लौकायतिक-आचरण भयानक है अर्थात् उससे खतरा सम्भावित है। बार्हस्पत्य सूत्रगत इन कथनों के अन्दर सामंजस्य उपस्थित करने के लिए यह आवश्यक है कि बौद्धों की तरह लौकायतिक आचरणों के अन्दर क्रमिक दोष-विकास के कारण एवं अनधिकारी व्यक्ति से सम्पर्क स्थापन के कारण लोकायत-सिद्धान्त को निन्दा का पात्र बनना पड़ा। जो भी कुछ हो, किन्तु वार्हस्पत्य अर्थशास्त्र के द्वारा यह बात अवश्य स्पष्ट होती है कि इस सूत्र के निर्माण काल में लौकायतिक आचरणों में बुराई आ गयी थी। अतः विशुद्ध लोकायत-दर्शन का निजी स्वरूप उससे कहीं अधिक प्राचीनकालिक था और यह भी पता चलता है कि इसका मुख्य सम्बन्ध राजनय से ही रहा है।

शंकराचार्य और लौकायतिक-पक्ष

यों तो कुछ लोग इससे सहमत नहीं भी हो सकते हैं कि 'सर्वसिद्धान्त-संग्रह' आद्य शंकराचार्य रचित है, किन्तु जब तक प्रबल कोई बाधक दृष्टिपथ पर अवतरित न हो, तब तक उसे शंकराचार्य रचित ही मानना उचित होगा। इसीलिए अहैक विवेचन ने ऐसा ही माना है। बंगला के प्रसिद्ध दार्शनिक लेखक श्री राजेन्द्रनाथ घोष ने भी 'सर्वसिद्धान्त-संग्रह' की गणना शंकराचार्य रचित ग्रन्थों में ही की है। शंकराचार्य ने उक्त ग्रन्थ में द्वितीय

प्रकरण को 'लौकायतिक [२६८] पक्ष प्रकरण' यह नाम दिया है। उस प्रकरण में लौकायतिक विचारधारा का स्वरूप वर्णन उन्होंने इस प्रकार किया है कि – 'लौकायतिक पक्ष में तो पृथ्वी, जल, तेज और वायु ये चार ही तत्त्व हैं, और नहीं। प्रत्यक्षगम्य ही वस्तुएँ मान्य हैं, अदृष्ट्य मान्य नहीं हैं, क्योंकि यहाँ देखा जाता नहीं। जो लोग अदृष्ट मानते हैं वे भी उसे दृष्ट अर्थात् देखी जाने वाली वस्तु कहाँ कहते हैं? यदि किसी ने उस अदृष्ट को देखा है तो फिर वे लोग उसे 'अदृष्ट' क्यों कहते हैं? जिसे कभी कोई भी देख न पाये वह शशश्रृंग आदि तुल्य होने के कारण 'सत्' कैसे हो सकता? सुख और दुःख के सहारे भी धर्म और अधर्म की कल्पना नहीं की जा सकती। क्योंकि लोग सुखी और दुःखी स्वभावतः भी हो सकते हैं। अतः स्वभाव से अतिरिक्त और कोई सुख-दुःख का कारण नहीं। मयूर के पंखों को भला कौन चित्रित करता है? कोकिलों को भला कौन मधुरकूजन सिखलाता है? मैं मोटा हूँ, मैं तरुण हूँ, मैं तो वृद्ध हो गया, नहीं जी मैं तो अभी युवक हूँ इस प्रकार प्रतीतियाँ आत्मा के सम्बन्ध में होता हैं, अतः उक्त विशेषणों से युक्त शरीर ही है आत्मा। उससे अन्य और कोई नहीं। भौतिक जड़ वस्तुओं में जो चेतना देखी जाती है उसे पान, सुपारी, चूना और खैर आदि के संयोग से होने वाले लाल रूप के समान संयोगिक समझना चाहिए। इस लोक से अन्य कोई स्वर्ग या नरक नहीं है। शिव लोक आदि की बातें वंचकों एवं अज्ञों की कल्पनामात्र हैं। युवती-संगमज सुख के अतिरिक्त कोई स्वर्गीय अनुभव नहीं है। महीन कपड़े, सुगन्धित मालाएँ एवं चन्दन लेपन इत्यादि जनित सुखों को भी स्वर्गीय सुख कहा जा सकता है। शत्रुओं के अस्त्र एवं व्याधि से प्राप्त होने वाले उपद्रव के अतिरिक्त और कोई नारकीय अनुभव नहीं है। मोक्ष मरण ही है, और वह भी शरीर से होने वाले प्राण निर्गमन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इसलिए बुद्धिमान व्यक्ति को किसी प्रकार का अनायास नहीं करना चाहिए। तप उपवास आदि के द्वारा अपने को सुखाना अज्ञान का ही काम है। पातिव्रत्य, सुवर्णदान, भूमिदान, मंत्रपूर्वक परिमार्जित भोजन आदि के औचित्य की कल्पना उन दुर्बलों के द्वारा की गयी जो कि बुद्धिमान थे और दारिद्र्य के कारण अपना पेट भरना चाहते थे। देव मन्दिर जलपान-व्यवस्था, यज्ञ, कूप, उद्यान आदि की प्रशंसा भला पथिकों को छोड़कर और कौन करता? इसीलिए वृहस्पति ने अग्निहोत्र, वेदपारायण, त्रिदण्डधारण, भस्मलेपन आदि को बुद्धि एवं सामर्थ्यहीन व्यक्तियों की जीविका बतलाया है। इसलिए बुद्धिमानों को चाहिए कि खेती, पशुपालन, वाणिज्य एवं दण्डनीति आदि दृष्ट उपायों द्वारा सांसारिक भोगों का अनुभव करें।'

यह तो निश्चित है कि शंकराचार्य ने इस प्रकार लोकायतिक मत का स्वरूप-वर्णन उसके खण्डन के लिए ही किया है, मान्यता देने के लिए नहीं। परन्तु उनके इस मत वर्णन में कुछ ऐसी बातें उनके द्वारा अवश्य कही गयी हैं जिससे उसके प्रति प्राचीन स्वरूप

---

(२६८) लौकायतिक पक्षेतु तत्त्वं भूतचतुष्टयन्।
पृथिव्यापस्तथातेजो वायुरित्येव नाऽपरम्॥ – *सर्वसिद्धान्त-संग्रह*

का एवं मान्यता का आभास पाया जाता है। प्रथम यह कि आचार्य ने 'लोकायत पक्ष' न कह कर जो लौकायतिक पक्ष कहा है उससे एक सुव्यवस्थित एवं दीर्घकालिक लोकादृत विचारधारा का आभास मिलता है। जिससे इसकी दर्शनता स्फुट होती है। द्वितीय यह कि वृहस्पति का नाम लेते हुए जो यह कहा गया है कि 'अग्निहोत्र आदि कुछ असमर्थों के जीविकार्थ प्रवर्तित है।' इससे भी अग्निहोत्र आदि की अकरणीयता नहीं बतलायी गयी प्रतीत होती है। क्योंकि राजनीतिक दृष्टिकोण से जीवनोपाय तो सबको मिलना ही चाहिए। क्योंकि जो आज समर्थ है वही कल असमर्थ हो जाता है। तीसरा गम्भीरतापूर्वक ध्यान देने योग्य है उनका यह उपसंहार वाक्य कि 'बुद्धिमानों को चाहिए कि खेती, पशुपालन, वाणिज्य व्यापार आदि को अपनाकर सुखी बनें।' इसे देखते हुए यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि लोकायत विचारधारा अति प्राचीन काल से उच्छृंखल नहीं, पूर्ण संयत एवं पूर्ण सुशृंखल थी। क्योंकि इन कामों को करने वाले आज भी कुव्यसनी नहीं पाये जाते। उनमें अन्य वर्ग के लोगों से अपेक्षाकृत संयमपूर्ण जीवन ही पाया जाता है। क्योंकि इन व्यापारों को अपनाने वाले नियमतः सामाजिक ही हो सकते हैं और समाज के अन्दर उच्छृंखलता कभी चल नहीं सकती, क्योंकि वहाँ सह अस्तित्व का प्रश्न जागरूक रहता है। अतः लोकायत-मतवाद के ऊपर किया जाने वाला आपेक्ष समुदाय कुछ तो उसके अनुयायियों की परवर्ती विकृति पर आधारित है, और कुछ आलोचकों की अतिवादिता पर। आचार्य शंकर ने दण्डनीति का स्पष्ट उल्लेख करके इस दर्शन की राजनीतिकता पर महान् प्रकाश डाला है अव्यक्त रूप से।

सर्वमत-संग्रह और चार्वाक-मत

'सर्वमत संग्रह' भी हरिभद्रसूरिकृत षड्दर्शन समुच्चय की तरह संक्षिप्त रूप से आस्तिक और नास्तिक दर्शनों का परिचय देने वाला एक लघु ग्रन्थ है। षड्दर्शन समुच्चय से इसकी एक विशेषता यह है कि यह ग्रन्थ गद्यात्मक है, पद्यात्मक नहीं। इसके कर्ता का नाम उपलब्ध न होने के कारण यह भी एक प्राचीन ग्रन्थ प्रतीत होता है। सर्व दर्शन संग्रह में संग्रहीत परवर्ती अनेक दर्शनों का समावेश इसके अन्दर दृष्टिगोचर न होने के कारण भी इसकी प्राचीनता व्यक्त होती-सी दीख पड़ती है। इस ग्रन्थ में लिखित चार्वाकीय मत को और कृष्ण मिश्र रचित प्रबोध-चन्द्रोदय नामक दार्शनिक नाटक में वर्णित चार्वाकीय विचारधारा को मिलाकर देखने पर यह अति स्पष्ट रूप में प्रतीत होता है कि प्रबोध-चन्द्रोदय के रचयिता कृष्णमिश्र को यह ग्रन्थ अवश्य उपलब्ध था। क्योंकि दो उद्धरण श्लोक ऐसे मिलते पाये जाते हैं जो कि सर्वदर्शन संग्रह आदि से बिल्कुल मिलते नहीं। इस सर्वमत संग्रह के अन्दर जो अति संक्षिप्त रूप में चार्वाक का मत वर्णित हुआ है वह अधिक मूल्यवान्-सा दिखाई देता है। अति संक्षिप्त रूप में यहाँ चार्वाक मत इस रूप में

---

(२६६) कृषिगौरक्ष्यवाणिज्य-दण्डनीत्यादिभिर्वुधः।
दृष्टैरेब सदोपायै र्भोगाननुभवेद्भुवि॥ - *सर्वसिद्धान्त-संग्रह*

वर्णित हुआ है यथा – 'दार्शनिकों के अन्दर [३००] प्रत्यक्ष मात्र को प्रमाण मानने वाले लोकायत शास्त्र के प्रवर्तक चार्वाक के मत में 'मैं मनुष्य हूँ', 'मैं स्थूल हूँ', 'मैं कृश हूँ' इत्यादि रूप में प्रत्यक्ष सिद्ध, चैतन्यात्मक ज्ञानयुक्त देह ही है 'प्रमाता', अर्थात् जीवात्मा। उत्कृष्ट और निकृष्ट देहरूप में उत्पन्न होने के ही कारण परस्पर संहत एवं विकृत होते रहने वाले पृथ्वी, जल, तेज और वायु ये चार भूत ही हैं प्रमेय तत्त्व। अर्थ और काम ये दो ही हैं पुरुषार्थ, धर्म पुरुषार्थ नहीं है। इसलिए अर्थ और काम के प्रतिपादक अथर्व और गान्धर्व ये दो वेद ही हैं वेद। धर्म के न होने के कारण अधर्म भी कुछ नहीं है। इसलिए उनके फल के रूप में स्वर्ग और नरक भी मान्य नहीं हैं। जब स्वर्ग और नरक नहीं हैं तो उनका देने वाला परमेश्वर भी कोई मान्य नहीं है। मरण ही है मोक्ष। अर्थशास्त्र [३०१] और कामशास्त्र ये दोनों ही शास्त्र रूप से मान्य हैं। लोकायत शास्त्र भी प्रत्यक्षमूलक होने के कारण उन्हीं में अन्तर्भूत है। 'सारे अन्न भूख के निवर्तक हैं क्योंकि भुक्त अन्न के समान सारे ही अन्न हैं।' यह अनुमान भी प्रत्यक्ष के अन्दर इसलिए अन्तर्भूत है कि प्रत्यक्षमूलता समान है। अभ्युदय-निःश्रेसफलक एवं धर्म तथा ब्रह्म के प्रतिपादक वेद इसलिए प्रमाण नहीं अप्रमाण हैं कि अतीन्द्रिय अर्थ के प्रतिपादक हैं। जैसा कि कहा गया है –

अग्निहोत्र, तीनों वेद, त्रिदण्ड और भस्मलेपन।
ये बुद्धि पौरुषहीन व्यक्तियों के लिए जीविका हैं॥ १॥
भाण, धूर्त्त और राक्षस ये तीनों वेद के कर्ता हैं।

कर्ता क्रिया और हव्य आदि द्रव्य इन तीनों के नष्ट हो जाने पर भी यदि यजमान को स्वर्ग मिले तो, वनाग्नि से नष्ट वृक्षों में भी फल लटक जायें। प्रत्यक्षादि प्रमा के विषय रूप में सिद्ध वस्तुओं के विरुद्ध अर्थों का प्रतिपादक वेदान्त भी यदि शास्त्र माना जाय, तो फिर बौद्धों का ही भला क्या अपराध है?। ३। सर्वमत संग्रह के अन्दर वर्णित इस अल्पकाय चार्वाक मत वर्णन में सर्वप्रथम एक ध्यान देने योग्य बात यह है कि चार्वाक को 'लोकायत शास्त्र' का प्रवर्तक कहा गया है। इससे कुछ लोगों का यह कथन खण्डित हो जाता है कि चार्वाक दर्शन नामक कोई वास्तविक दर्शन-शास्त्र नहीं था। दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि यहाँ प्रमेय तत्त्व रूप से मान्य पृथ्वी, जल, तेज और वायु इनके बीच जो संघात और विघात बतलाया गया है इससे यहाँ पूर्व वर्णित महासमवाय की पुष्टि प्राप्त होती है और शरीर को उच्चावच बतलाने से यह बात व्यक्त होती है प्रत्येक स्थूल शरीर कोटि-कोटि उच्चावच शरीरों का एक समवाय ही होता है, जिसका वर्णन पहले भी किया

---

(३००) तत्रैक प्रमाणवादिनो लोकायत शास्त्र प्रवर्त्तकस्य चार्वाकस्य मनुष्योहं स्थूलोहमिति प्रत्यक्षसिद्ध चैतन्य गुणाश्रयोदेह एव प्रमाता। – *सर्वमतसंग्रह, चार्वाकमत, आरम्भ।*

(३०१) अर्थकाम-शास्त्रं लोकायत-शास्त्रं च प्रत्यक्ष-मूलत्वात् तत्रैवान्तर्भूतम्। इदमन्नं क्षुन्निवर्तकम्। अन्नत्वात् ह्यस्तनान्नवत् इत्याद्यनुमानं च तत्रै-वान्तर्भवन्ति, प्रत्यक्ष-मूलत्वा-विशेषात्। – *सर्वमत-संग्रह।*

जा चुका है। शारीरिक भौतिक कणों के संघात-विघातगत, वैकृत्य-स्थल में यों भी प्रत्यक्षत: देखा जाता है कि एक स्थूल शरीर से अनेक क्षुद्र शरीर बाहर निकल पड़ते हैं और शारीरिक भूतों के अवैकृत्य-स्थलों में भी सूक्ष्मवीक्ष्मक यन्त्रों के द्वारा शारीरिक कोटि-कोटि क्षुद्राणु जीवाणु देखे जाते हैं। एक अन्य बात और यह ध्यान देने योग्य प्राप्त होती है कि [३०२] अर्थ-काम-प्रतिपादक अथर्व और गान्धर्व ही वेद हैं, यह कहकर् अन्तत: यह तो स्पष्ट रूप से कहा गया है कि चार्वाक दर्शन भी वैदिक है अवैदिक नहीं। धर्म और अधर्म का खण्डन भी पराभिमत अभौतिक-आत्मगत पुण्यापुण्य-खण्डनपरक रूप में ही प्रतिपादित हुआ प्रतीत होता है। क्योंकि चार्वाक दर्शन को वैदिक मान लेने पर क्रियात्मक धर्म को मान्यता देनी ही होगी। सबसे बड़ी बात जो यहाँ उपलब्ध हुई है वह है कि 'अनुमान आगम आदि प्रमाण भी प्रत्यक्ष प्रमाण के ही अन्दर अन्तर्मक्त रूप में मान्य हैं।' इसके सम्बन्ध में अन्तर यहाँ इतना पाया जाता है कि अनुमान आदि प्रत्यक्षमूलक होने के कारण प्रत्यक्षान्तर्गत हैं जैसा कि इसकी प्राप्ति से अनेक पूर्व मैंने अपने मुद्रित 'चार्वाक दर्शन रहस्यम्' नामक संस्कृत निबन्ध में लिखा था। अत: इस 'मत संग्रह' के द्वारा उसकी पुष्टि देख कर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है। यहाँ इस ग्रन्थ में जो मैंने गम्भीर चिंतन के फलस्वरूप अन्य मार्ग को अपनाया है, मन को ही एकमात्र इन्द्रिय मानकर अनुमान आदि का प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव बतलाया है, उसका कारण है कल्पनागत सरसता। जिसका स्पष्टीकरण हो चुका है।

प्रबोधचन्द्रोदय और चार्वाक-मत

अव्यवहित पूर्व विवेचन में यह बात बतलायी जा चुकी है कि श्री कृष्ण मिश्र रचित प्रबोधचन्द्रोदय में भी चार्वाक मत का संक्षिप्त वर्णन पाया जाता है। उक्त संस्कृत नाटक ग्रन्थ के द्वितीय अंक में प्रतिनायक महामोह के द्वारा यह विचार व्यक्त किया गया है कि 'वह चार्वाक का शास्त्र ही वस्तुत: शास्त्र है, जहाँ केवल प्रत्यक्ष ही प्रमाण रूप में मान्य है। पृथ्वी, जल, तेज और वायु ये ही चार तत्त्व माने गये हैं। अर्थ और काम ये दो ही पुरुषार्थ स्वीकृत हैं। शरीर में ज्ञानोत्पत्ति के लिए पृथ्वी आदि भूत चतुष्टय के अतिरिक्त और कुछ भी अपेक्षित नहीं माना गया है और जबकि परलोक मान्य नहीं है तब भी मोक्ष भी मृत्यु के अतिरिक्त और कुछ नहीं, इत्यादि बातें युक्ति पुरस्सर पूर्ण रूप से वर्णित है। इस शास्त्र को वृहस्पति ने हम लोगों के अभिप्रायानुकूल रचकर चार्वाक को दिया था और चार्वाक ने अपने शिष्यों एवं प्रशिष्यों द्वारा इस शास्त्र का प्रचार संसार में किया।' प्रतिनायक सम्राट महामोह के इस कथन से अव्यवहित उत्तर ही उक्त नाटक में शिष्य सहित आचार्य चार्वाक का प्रवेश दिखलाया गया है। प्रवेश करके चार्वाक अपने शिष्य से यह कहते हैं कि 'वत्स! तुम जानते हो? दण्डनीति ही केवल अर्थात् एकमात्र विद्या है। क्योंकि वार्ताशास्त्र

---

(३०२) अर्थकामावेव पुरुषार्थौ, न धर्म:। तन्निष्ठाथर्व-गान्धर्व-वेदावेव च वेदौ।

-सर्वमत-संग्रह।

भी उसी के अन्दर अन्तर्भुक्त है। परलोकादि प्रतिपादक त्रयी धूर्तों का व्यर्थ बकवास मात्र है। देखो, [३०३] होता, हवन और हव्य इनके नष्ट होने पर भी यदि स्वर्ग प्राप्त हो तो वनाग्निदग्ध वृक्षों में भी मीठे फल लटक आयें और [३०४] श्राद्ध आदि यदि मरे व्यक्ति के लिए भी सुखद हो तो बुते दीप की शिखा भी तेल से बर उठे।' आचार्य चार्वाक के इस उपदेश पर जबकि शिष्य ने यह पूछा कि सांसारिक सुख मात्र ही पुरुषार्थ रूप से मान्य होने पर लोग कष्टकर व्रााताचरण से अपने को क्यों दुःखी बनाते हैं? तो युक्तिप्रदर्श पूर्वक चार्वाक ने उत्तर में यह कहा कि धूर्तों के द्वारा निर्मित शास्त्रों से प्रतारित जन की, आशा-मोदक-प्रयुक्त तृप्ति की दुराशा-मात्र-प्रयुक्त। जब फिर शिष्य ने यह कहा कि आचार्य! उन लोगों का कहना यह है कि सांसारिक सुख नियमतः दुःखमिश्रित ही होता है। अतः दुःख हटाने के इच्छुकों को सुख भी छोड़ना ही चाहिए, तब हँसते हुए चार्वाक ने यह उत्तर दिया कि 'यह उन लोगों का कथन भला कितना मूर्खतापूर्ण है? चावल चाहने वाला व्यक्ति क्या तुषवेष्ठित होने के कारण धान का त्याग करता है? कभी नहीं।' इसको उक्त सर्वमत संग्रह वर्णित चार्वाक मत के साथ-साथ मिलाकर देखने पर बहुत अंशों में साम्य प्रतीत होता है जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है। परन्तु इन दोनों के बीच उपजीव्य-उपजीवक भाव के सम्बन्ध में खोजने पर भी निर्णय इसलिए नहीं हो पाता है कि दोनों ही ग्रन्थों में कुछ बातें ऐसी भी पायी जाती हैं जो कि सर्वथा निरपेक्ष प्रतीत होती हैं। जैसे सर्वमत संग्रह में जहाँ चार्वाक-मत को वैदिक कहा गया है वहाँ प्रबोधचन्द्रोदय में इसे वैसा नहीं कहा गया है। साथ ही सर्वमत संग्रह में अनुमान आदि प्रमाणों का जिस प्रकार युक्ति प्रदर्शन पूर्वक प्रत्यक्ष में अन्तर्भाव बतलाया गया है प्रबोध चन्द्रोदय वहाँ केवल इतना ही कहकर मौन धारण करता हुआ पाया जाता है कि प्रमाण केवल प्रत्यक्ष ही मान्य है। इसी प्रकार प्रबोधचन्द्रोदय में भी कुछ ऐसी बातें पायी जाती हैं। जैसे यहाँ स्पष्ट कहा गया है कि दण्डनीति मात्र ही विद्या है वार्ता आदि विद्याएँ उसी में अन्तर्भूत। सर्वमत संग्रह में इस प्रकार स्पष्ट रूप से नहीं कहा गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि आचार्य कौटिल्य ने शुक्रमत के रूप में जो अपने अर्थशास्त्र में उपन्यस्त किया है। उसे प्रबोध-चन्द्रोदय में बार्हस्पत्य मत रूप में स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है किन्तु सर्वमत-संग्रह में इसका उल्लेख नहीं पाया जाता है। हाँ, यह बात दोनों जगह समान रूप से बतलायी गयी है कि चार्वाक शास्त्र ही सचमुच शास्त्र है। इसके अतिरिक्त और भी बहुत-सी बातें प्रायः समान रूप से दोनों जगह बतलायी गयी हैं। इस विवेचन के अनुसार पूर्वापरीभाव के अनिश्चय

---

(३०३) स्वर्गःकर्त्तृक्रिया द्रव्यनाशेऽपि यदि यज्वनान्।
ततो दावाग्नि-दग्धानां फल स्याद्भूरि भूरुहाम्॥ - *प्रबोधचन्द्रोदय-नाटक, अंक २।*

(३०४) मृतानामपपि जन्तूनां श्राद्धं चेत्तृप्तिकारकम्।
निर्वाणस्य प्रदीपस्य स्नेहः सम्बर्द्धवेच्छिखाम्॥
- *प्रबोधचन्द्रोदय नाटक, अंक २।*

प्रयुक्त कौन किसका उपजीव्य है और कौन किसका उपजीवक है इसका निर्णय न होने पर भी यह तो अवश्य मान्य है कि इन दोनों के अन्दर उपजीव्यपजीवक भाव अवश्य है चाहे जो जिसका उपजीवक या जो जिसका उपजीव्य क्यों न हो।

वेणीसंहार और चार्वाक

संस्कृत-नाट्य साहित्य के अन्दर प्रबोध चन्द्रोदय के समान दार्शनिक मतवाद के रूप में तो नहीं किन्तु अन्य रूप में चार्वाक का चरित्र-चित्रण भट्टनारायण रचित वेणीसंहार में पाया जाता है। वेणीसंहार महाभारत का ही आंशिक रूपक है। अतः इसके रचयिता ने महाभारत वर्णित चार्वाक वृत्तान्त को स्वकीय कविगत अधिकार के अनुरूप निजी कलमकुची का अन्यथा उपयोग करते हुए इस प्रकार चार्वाकीय चरित्र का चित्रण किया है कि - महाभारतीय घोर संग्राम के अन्तिम समय में एकत्र विश्राम करते हुए द्रौपदी और युधिष्ठिर इन दोनों के बीच जब भीम और दुर्योधन के महायुद्ध के फलाफल पर कथनोपकथन चल रहा है। तब इसी समय नेपथ्य से यह शब्द उन दोनों को सुनने को मिलता है कि 'मैं अत्यन्त भूखा और प्यासा हूँ। कोई मुझे जल एवं छाया प्रदान कर मेरा साहाय्य करे।' [३०५]

इसे सुनते ही युधिष्ठिर कंचुकी को उस अतिथि के पास भेजकर उसे अपने निकट बुलाते हैं। वह अतिथि उनके निकट आकर भी फिर उसी अपनी पुरानी बात को दुहराता है। जब युधिष्ठिर के आदेशानुसार उस अतिथि को आसन और शीतल जल दिया जाता है तब वह अतिथि मुनिवेषधारी चार्वाक, जो कि महाभारतीय वर्णन के अनुसार भट्ट नारायण के शब्द में भी चार्वाक नामक राक्षस है, जल से पाँव धोता हुआ युधिष्ठिर से कहता है कि मालूम होता है कि तुम लोग क्षत्रिय हो? युद्धिष्ठिर के स्वीकारात्मक उत्तर के अनन्तर वह अतिथि उनसे यह कहते हुए पानी पीना अस्वीकार कर बैठता है कि तब तो तुम लोगों का दिया हुआ पानी, पीने के लिए ग्राह्य नहीं है। क्योंकि तुम लोग इस महासमर में अपने बन्धु-बान्धवों को ही मार कर पापाचरण में निरत हो। हाँ, इस पानी से पाँव धो लिया जा सकता है। युधिष्ठिर के द्वारा परिश्रम का कारण जिज्ञासित होने पर मौका पाकर मुनि-वेषधारी राक्षस चार्वाक उनसे यह कहता है कि धूप बड़ी कड़ी होने के कारण अर्जुन और दुर्योधन के बीच चलने वाले घोर महायुद्ध को असमाप्त देख कर चला आया हूँ। इस बात को सुनकर युधिष्ठिर द्रौपदी एवं उपस्थित अन्य लोग भी अति चिन्तित इसलिए हो उठते हैं कि इससे भीम का वध व्यक्त होता है। क्योंकि गदायुद्ध-प्रवीण भीम के जीते जी, अर्जुन को गदाधारण का प्रयोजन दीख नहीं पड़ता। उद्विग्न युधिष्ठिर जब स्पष्ट रूप से मुनि-वेषधारी राक्षस चार्वाक से यह

---

(३०५) (ततः प्रविशति मुनिवेषधारी चार्वाको नाम राक्षसः)
राक्षस :- (आत्मगतम्) एषोऽस्मि चार्वाको नाम राक्षसः दुर्योधस्यमित्रं पाण्डवान् वंचयितुं भ्रमामि। (प्रकाशम्) तृषितोऽस्मि, तृषितोऽस्मि। सम्भावयतु मां कश्चिज्जलच्छाया-प्रदानेन। *- वेणीसंहार नाटक, अंक ६।*

पूँछते हैं कि 'क्यों भीम और दुर्योधन के बीच नहीं गदा-युद्ध हुआ?' तो राक्षस चार्वाक ने कहा कि भीम और दुर्योधन के बीच होने वाला गदायुद्ध तो पहले ही समाप्त हो चुका था। जब इस अपने कपटपूर्ण मिथ्या कथन के प्रभाव से वहाँ सभी को उसने अत्यन्त दुःखी देखा तब पहचानते हुए भी बनावटी ढंग से कंचुकी से राक्षस चार्वाक यह पूँछता है कि ये दोनों कौन हैं? कंचुकी के द्वारा द्रौपदी और युधिष्ठिर का परिचय पाकर राक्षस मुनि चार्वाक इस प्रकार बहुत पश्चाताप करता है कि 'हाय मैं कितना निर्दय हूँ? मैंने इन दोनों को इसका संवाद देकर बहुत कष्ट पहुँचाया है।' इसके अनन्तर विलाप करते हुए द्रौपदी और युधिष्ठिर दोनों को कपटवेषी राक्षस चार्वाक ने यह सुनाया कि भीम और दुर्योधन के बीच घनघोर गदायुद्ध अनेक काल तक चलता रहा। इसी समय बलराम जी भी वहाँ पहुँच गये। उनके समक्ष भी दोनों वीरों के बीच गदायुद्ध निरन्तर चल रहा था। बलराम जी ने जब यह देखा कि भीम दुर्योधन से गदायुद्ध में पराजित होने वाले नहीं हैं, तब अपने प्रिय शिष्य दुर्योधन की ओर स्वाभाविक पक्षपात के कारण कुछ ऐसा इंगित, रहस्य रूप में किया कि तदनुसार किये गये घोर गदाप्रहार से दुर्योधन ने भीम से दुःशासन वध का बदला ले लिया। उक्त मुनिवेषी चार्वाक ने कहा 'कथा यहाँ ही समाप्त नहीं होती है - भीम की वीरगति को देखकर क्रुद्ध अर्जुन ने भीम की गदा उठाकर दुर्योधन से जूझ पड़े। अब बलराम जी निश्चिन्त थे। क्योंकि वे जानते थे कि अर्जुन गदायुद्ध में कुशल नहीं हैं। घटना भी ठीक तदनुरूप ही घटी। बलराम जी ने जब दुर्योधन के दृढ़ गदाघात से अर्जुन को मरा समझा तब अपने भाई कृष्ण को बहुत समझा बुझाकर रथ पर बैठाकर द्वारका ले गये।' राक्षस मुनि चार्वाक के इस स्पष्ट कथन से अति दुःखी द्रौपदी और युधिष्ठिर अनेक करुण विलाप के अनन्तर अग्निप्रवेश के लिए चिता बनाकर जब उसमें प्रवेश की बात सोचते हैं तो युधिष्ठिर के मन में यह वीरोचित भाव आता है कि मैं भी अर्जुन की तरह गदायुद्ध करके ही क्यों न वीरगति लाभ करूँ? मुझे अब विजय नहीं चाहिए और तदनुसार रणभूमि की ओर जाने को प्रस्तुत हो उठते हैं। तब बात खुलने के भय से विचलित मन होकर कपटवेषी-मुनि युधिष्ठिर से यह कहता है कि [३०६] 'जबकि आप विजय नहीं चाहते, तब प्राणत्याग तो आप कहीं भी कर सकते हैं? वहाँ जाना व्यर्थ है।' मुनि वचन के अनुसार द्रोपदी और युधिष्ठिर दोनों चिता की व्यवस्था चाहते हैं परन्तु कंचुकी आदि युधिष्ठिर के परिजन चार्वाक पर कपटी होने का संदेह करते हुए चिता व्यवस्था में साहाय्य नहीं करते, वह उसके प्रतिकूल युधिष्ठिर को समझाना चाहते हैं। युधिष्ठिर इससे अति दुःखी होकर कपट-मुनि चार्वाक से कहते हैं कि ये तो इस प्राणत्याग में साहाय्य नहीं पहुँचा रहे हैं आप ही कृपा करके कुछ साहाय्य करें। इसके उत्तर में वह कपटी-मुनि कहता है, महाराज! बात तो मुनिजन के लिए यह विरुद्ध है फिर भी छिपकर लकड़ी एवं आग की व्यवस्था मैंने कर दी है। अब मैं जाता हूँ, अब मैं यहाँ रह नहीं सकता। इस प्रकार उन दोनों के मरण की व्यवस्था

---

(३०६) **राक्षस :** (सविषादमात्मगतम्) कथं गच्छति? भवत्वेवं तावत् (प्रकाशम्) राजन्! रिपुजय-विमुखं ते यदि चेयस्तदा यत्र तत्र वा वा प्राणत्यागं कुरु। वृथातत्र गमनम्।

- वेणीसंहार नाटक, अंक ६।

करके वह कपटवेषी राक्षस चार्वाक वहाँ से चला जाता है।

यद्यपि अपने नाटक के अन्दर इस चार्वाकीय कथा के सन्निवेशक भट्ट नारायण ने अपने को, महाभारतीय उक्त चार्वाकीय विकृत विचारधारा से स्पष्ट रूप से प्रभावित दिखलाया है, जो उनके लिए उचित ही है। क्योंकि उनके नाटक का उपजीव्य महाभारत ही तो है? फिर भी भट्ट नारायण ने जो रूप महाभारतीय चार्वाक कथा को दिया है उससे प्रकृत चार्वाकीय विवेचन में कुछ लाभ अवश्य प्राप्त होता है। एक तो यह कि वर्णित इस घटना से चार्वाकीय विचारधारा की राजनीतिकता और भी निखरती हुई दीख पड़ती है और दूसरा यह कि इसके द्वारा महाभारतीय कथानक पर भी तथ्यता का विश्वास कुछ ढीला हो उठता है। क्योंकि कविगत आधार के औचित्य की ओट में यदि भट्टनारायण स्पष्ट रूप से प्राप्त होने वाली चार्वाक कथा को अन्य रूप में निःसंकोच उपस्थित कर सकते हैं तो उनसे कहीं अधिक कवित्व को अपने वश में रखने वाले व्यास देव ने चार्वाक की ऐतिहासिक तथ्य कथा को रोचकता आदि के अनुकूल रूपान्तर नहीं दिया होगा, यह निर्णय कैसे दिया जाय? और यह निर्णय विचलित हो उठने पर महाभारत के द्वारा फैलायी गयी घृणा से प्रभावित परवर्ती लेखकों द्वारा चार्वाकीय विचारधारा को प्रदत्त रूप पर पूर्ण तथ्यता का विश्वास करने का अवकाश कम पड़ जाता है।

अमृतोदय और लोकायत

संस्कृत-नाटक-साहित्य के अनन्तर तीसरा ऐसा नाटक है महामहोपाध्याय गोकुलनाथ रचित अमृतोदय, जिसमें लोकायत की चर्चा दार्शनिक रूप में हुई पायी जाती है। नाटक की प्रस्तावना में ही जहाँ सभी अवैदिक दार्शनिकों से यह नेपथ्य से कहा गया है कि तुम लोग क्षेत्रज्ञनगर पर अर्थात् प्राणि-शरीरों पर अपना-अपना आधिपत्य स्थापित करो, वहाँ लोकायतिक व्यवहारियों अर्थात् चार्वाक-सिद्धान्तियों से यह कहा गया है कि 'आप लोग परोक्ष रूप से स्वीकृत वस्तुओं का खण्डन उसी प्रकार कर डालें जिस प्रकार तेजस्वी सूर्य अन्धकार का खण्डन कर डालता है।' तेजस्वी सूर्य की तुलना देकर नाटककार उपाध्याय ने चार्वाकियों को प्रचण्ड तार्किक बतलाया है परन्तु आपकी दृष्टि में चार्वाक दर्शन, आन्वीक्षिकी नहीं है। क्योंकि परवर्ती अक्षपाद गौतमीय न्याय को ही आपने 'आन्वीक्षिकी' कहा है और उसे श्रुति का सहायक कहा है। मालूम ऐसा पड़ता है कि रामायण और कौटिल्य के अर्थशास्त्र द्वारा जो चार्वाक दर्शन को आन्वीक्षिकी कहा गया है उसका परिचय उपाध्याय को प्राप्त नहीं था और यदि उसका परिचय उन्हें प्राप्त था तो उक्त अक्षपादीय न्याय को वे भी यहाँ पूर्व-वर्णितानुसार गौतमीय कणादीय आदि और न्यायों को वे भी चार्वाक दर्शन का ही उत्तराधिकारी मानते थे, जिसके आधार पर उन्होंने [३०७] अक्षपादीय न्याय को आन्वीक्षिकी कहा है। अमृतोदयकार उपाध्याय गोकुलनाथ के

(३०७) मिलती नयनमपादपाद-प्रणिपतनेन ललाटसीम्नि यस्य।
विधिरपि पुरुषस्य तस्य भाले लिखितु मदृष्टलिपिकुतः क्षमेत॥ - *अमृतोदय नाटक।*

लिए दोनों ही बातें पूर्ण सम्भावित इसलिए हैं कि वे अति प्राचीन नहीं हैं। अमृतोदय के टीकाकार महामहोपाध्याय वक्सी मुकुन्द झा ने जो चार्वाक दर्शन का स्वरूप निर्धारण उक्त नाटक की अपनी संस्कृत टीका में किया है उसका आधार माधव का चार्वाक दर्शन ही प्रतीत होता है। क्योंकि चार्वाक मत की प्रामाणिकता के लिए उन्होंने अधिकतर सर्वदर्शन संग्रहीत पद्यों को ही उद्धृत किया है। नाटक में आये हुए 'लोकायत व्यवहारी' इस शब्द की व्याख्या जो महामहोपाध्याय वक्सी झा ने 'प्रत्यक्ष-प्रमाण-मात्र-निष्ठ देहात्मावादी' इस प्रकार की है वह यथार्थ होने पर भी अति निरूढ़ प्रतीत होती है। हाँ, यहाँ पक्षान्तर का आश्रयण करते हुए जो चार्वाकियों को 'इन्द्रियात्मवादी' भी कहा गया है टिप्पणी में, वह अति नवीन नहीं तो नवीन-सा अवश्य है। ऐसा कहने का कारण यह है कि आत्मविचार के अवसर पर बौद्धों के क्षणिक-विज्ञान वाद से पूर्व चार्वाक से अतिरिक्त किसी अन्य दार्शनिक के आत्मवाद का उल्लेख पाया जाता नहीं। परन्तु इन्द्रियात्मवाद आदि की भी शंका एवं उसका खण्डन ये दोनों ही जगह-जगह पर किये गये पाये जाते हैं। सुतरां इन्द्रियात्मवाद को भी चार्वाकीयवाद ही मानना पड़ता है। सांख्य को छोड़कर इन्द्रियों की भौतिकता प्राय: सर्व-दार्शनिक मतसिद्ध ही है, अत: इन्द्रियों को आत्मा मानने पर भी चार्वाकीय-भूत-चैतन्य सिद्धान्त सुरक्षित रह जाता है। परन्तु यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि प्रकृत इन्द्रिय पद से दृश्यमान अक्षिगोलक आदि स्थूल भूतों को लिया जाय तो इन्द्रियात्मवादी का शरीरात्मवाद से कोई विशेष पार्थक्य नहीं रह जाता। और यदि रश्मि आदि सूक्ष्म भौतिक कण स्वरूप माना जाय तो वह अवश्य अनुमेय ही होगा। अत: उक्त पद्धति से अनुमान आदि प्रमाणों को भी प्रत्यक्ष में गतार्थ मान करके ही प्रत्यक्षमात्र-प्रमाणता के साथ इन्द्रियात्मवाद की मान्यता सम्भव हो सकती है।

चार्वाक मत और महाकवि श्रीहर्ष

महाकवि श्रीहर्ष अपने महाकाव्य नैषधीय-चरित के सत्रहवें सर्ग में ३७ श्लोक से लेकर ८३ श्लोक तक एक मनोरंजक उच्छृंखल मत का काल्पनिक वर्णन किया है। आपने उपक्रम इस प्रकार बाँधा है कि दमयन्ती [३०८] जबकि प्रार्थी देवताओं को भी न मिली, नल को ही उसके मिलने का सौभाग्य निश्चित रूप से प्राप्त हो गया, तब कुछ न कुछ सात्त्विक भावापन्न होने के कारण देवगण, दमयन्ती और नल के उचित सम्बन्ध स्थापन से संतुष्ट रूप में ही स्वर्ग लौट चले। मार्ग में उन्हें एक बड़ी सेना आती हुई दिखाई दी। उस सेना के अन्दर कुछ लोग उनके परिचित भी विद्यमान थे। सेना के अन्दर से एक

(३०८) तत्रोद्गूर्ण इवाणौघः सैन्येऽभ्यर्णमुपेयुषि।
कस्माष्याकर्णयामासुः ते वर्णान् कर्णकर्कशान्॥ ३६ ॥
ग्रावोन्मज्जनवद्यज्ञफलैऽपि श्रुतिसत्यता।
का श्रद्धा तत्र धीवद्धाः! कामाध्वा यत् खिलीकृतः॥ ३७॥

– नैषधीय-चरित, सर्ग १०।

व्यक्ति ने अति कर्णकटु बातें उन्हें सुनाना प्रारम्भ कर दिया। वह कहने लगा कि यज्ञ एवं उसके फल का प्रतिपादक वेद उसी प्रकार सत्य कहा जा सकता है, जिस प्रकार पत्थर तैरने की बात। अतः ऐसे वेद पर भला क्या श्रद्धा की जा सकती है? अपने को ज्ञानवृद्ध मानने वालों! फिर, काममार्ग को अर्थात् यथेच्छाचार को क्यों तुम लोग छोड़ रहे हो? इस वेद के मर्मभेदन के लिए बोधिसत्त्व उत्पन्न हुए जिन्होंने जगत् को अस्थिर कहा। वृहस्पति का कहना है कि अग्निहोत्र [३०६] त्रयी, त्रिदण्ड भस्मोन्द्धूलन आदि बुद्धि पौरुषहीन निर्धनों की जीविका है। कुलों की अनादिता के कारण मातृपितृगत-शुद्धि, निर्णय के परे है। अतः ब्राह्मण क्षत्रिय आदि जाति भला क्या कही जा सकतीं? काम वेग बढ़ जाने पर स्त्री-सम्पर्क-प्रयुक्त दोषों से भला कौन बच पाता है? जो लोग स्वयं स्मरान्ध होते हुए भी स्त्रियों को घर में परदे के अन्दर ही रखकर जाति-शुद्धि का अभिमान रखते हैं वे सर्वथा निन्दनीय हैं। परस्त्री-निवृत्ति का त्याग तो स्वयं इन्द्र ने अहल्या-गमन करके किया। द्विजराज कहलाने वाला चन्द्रमा केवल गुरुतल्पग ही नहीं बना, उससे उत्पन्न बुध के ऊपर भी दावा किया, यह किसे नहीं मालूम है? पुण्य से सुख और पाप से ताप होता है यह श्रुति का कहना है परन्तु यह कथन प्रत्यक्ष-विरुद्ध है, इसे कोई भी आजमाकर देख सकता है। हे वैदिकों! यदि जन्मान्तर के संदेह से तुम पाप नहीं करना चाहते तो हिंसा-दोष के संदेह-प्रयुक्त यज्ञ भी तुझे छोड़ देना चाहिए। तुम्हारे वंदनीय व्यास ने भी तो यह कहा है कि सकामा रामा का हाथ पकड़ना चाहिए। वही कर्म तो करना चाहिए जिससे सुख मिले? फिर जन्मान्तर में सुखद कर्म करने वालों को प्रत्यक्ष सुखद कर्म क्यों नहीं करना चाहिए? बलात्कृत पापों को 'अकृत' तो मनु ने भी कहा है, फिर बलपूर्वक पाप कर अपने मनुजी की बातों को एवं 'आत्माराम होना चाहिए' 'आत्मक्रीड़ होना चाहिए' इत्यादि अपने श्रुतिवाक्यों को तो कम से कम मानों।

यह बात तो विदित है ही कि अति बुद्धिमान के निकट श्रुति और स्मृति के अर्थबोध में एकमत्य कठिन है। क्योंकि व्याख्या बुद्धि बल के अनुसार ही होती है। फिर, बुद्धि सुखोन्मुख ही आदरणीय है। जब देह स्थायी नहीं है जिसे लोग 'मैं' आदि शब्दों से कहा करते हैं, तो उसे कैसे फल होगा? और यदि अन्य देह को भी फल हो तो उसे ही क्यों न बुरा फल मिले जो उसे नहीं करने के लिए कहता है? जन्मान्तर में स्मृति और फल-प्राप्ति की बातें एवं दूसरे को खिलाने से दूसरे को तृप्ति आदि धूर्त-कल्पित हैं। श्रुति की धूर्तता कहाँ तक बतलायी जाय? वह यह उपदेश देती है कि तुम शरीर नहीं हो नित्य शुद्ध ज्ञान हो। वैदिक विद लोग वैदिक मंत्रों की महत्ता बतलाते हुए लोगों को इस प्रकार ठगा करते हैं कि मेरे मान्त्रिक पुरश्चरण से ही तुम्हें पुत्र मिला है। यह सोचने की बात है कि जब पुत्र और पुत्री इन दो के अन्दर ही कोई गर्भ से निकलता है तब पुत्र का होना क्या

---

(३०६) अग्निहोत्रं त्रयीतन्त्रं त्रिदण्डं भस्म-पुण्ड्रकम्।
प्रज्ञा-पौरुष-निःस्वानां जीवो जल्पति, जीविका॥ ३६॥ - *नैषधीय-चरित, सर्ग १७।*

यों ही नहीं हो सकता? यदि तेरे श्रुति सिद्ध जन्मान्तरवाद को मान लिया जाय तो श्रौत एकात्मवाद के आधार पर सबसे किये गये पाप तेरे ही सिर पर क्या नहीं आ धमकेंगे? पत्थर की पूजा के लिए क्षुप लता आदि से फूलों का तोड़ना उचित नहीं कहा जा सकता। क्योंकि वृक्षस्थ पुष्प फलद होता है, पत्थर पर गिरा पुष्प फलद कभी होता नहीं। विरक्तों! स्त्री सम्बन्धी घृणावाद को तृण के समान छोड़ो। क्योंकि जब तुम स्वयं ही वैसे ही हो, तब यह चिरकालिक जन-वंचना क्यों? हे अज्ञों! काम-निन्दा भला तुम क्यों करते हो? तुम्हारी श्रुति स्मृतियाँ भी तो तुम्हारे ब्रह्मा विष्णु आदि देवताओं की आज्ञाएँ हैं जो स्वयं कामदेव की आज्ञा का उल्लंघन करते नहीं? यदि कुछ वैदिक वाक्यों को, जो कि मंत्र नाम ध्येय एवं अर्थवाद कहे जाते हैं प्रामाणिक मानते नहीं, तो विधि वाक्यों को भी वैसा ही क्यों नहीं मानते? सचमुच तुम-मीमांसकों की बुद्धि बहुत मोटी हो गयी है। तभी तो एक ओर श्रुति के प्रत्येक अक्षर को सार्थक मानते हो और दूसरी ओर 'यूपहस्तीदान' आदि वाक्यों को लोभमूलक कहकर निरर्थक भी मानते। तुम्हारी श्रुति ही तो यह कहती है कि 'यह कौन जानता है कि परलोक में सुख मिलता है?' फिर उसी के आधार पर जनता क्यों न उसके बारे में संदेह करे? मनु ने धर्म और अधर्म का उपदेश तो वस्तुतः किसी प्रकार अर्थ-ग्रहण के लिए दण्ड विधानार्थ किया जिसे कुछ बुद्धिमानों ने ही समझ पाया। उस व्यभिचार-जात एवं व्यभिचारी व्यास की थोथी कल्पना पर ही यदि तुम लोग विश्वास करते हो, तो अच्छे शास्त्रज्ञ हो? मछली भी कहीं उपदेश देती है? परन्तु तुम्हारे मनु ने तो मछली से भी उपदेश लिया। ऐसे तुम लोगों से भला क्या बात की जाय? [३१०] व्यास पाण्डवों के ही पण्डित नहीं, चाटुकार कवि भी थे। इसीलिए तो पाण्डव प्रशंसित वस्तु की प्रशंसा और पाण्डव-निन्दित वस्तु की निन्दा करके उनकी हाँ में हाँ मिलाया।

वे अपने भाई विचित्रवीर्य की स्त्री में ही केवल आसक्त नहीं हुए किन्तु 'दासीरत' भी हुए। क्या उनके लिए उन्हें माता की ही आज्ञा थी? तुम्हारे जैसे अपने अनुयायियों के लिए ही देवताओं और ब्राह्मणों ने वेद एवं तदनुयायी शास्त्र रच डाले। तभी तो तुम लोगों ने गाय आदि पशुओं तक को नमस्कार करते हुए अपने को बिल्कुल गिरा डाला है। अपने को शान्त हृदय कहने वाले इन यज्ञोन्मुखों द्वारा अपनी कामुकता का त्याग तो अच्छा दिखलाया गया है, जो कि मरकर भी स्वर्गीय अप्सराओं से विहार की लिप्सा रखते हैं। हे अपने को प्रबुद्ध मानने वालों! शम-धारण से क्या लाभ उठाओगे? अपनी प्रेयसी के सुखोदपादनार्थ प्रयत्न करो। भस्मीभूत देह का पुनरागमन कैसे हो सकता? 'अपवर्गे तृतीया' इस सूत्र के द्वारा पाणिनि ने भी तो यही अपना मत व्यक्त किया है कि स्त्री और पुरुष तो आपस में मिलकर उत्पादन करें और तृतीय अर्थात् नपुंसक लोग असमर्थता-प्रयुक्त मोक्ष-लाभार्थ प्रयत्न करें? ऊपर स्वर्ग जाने के इच्छुक लोग जो स्नान करते समय गोता लगाते हुए नीचे

---

(३१०) पण्डितः पाण्डवानां सव्यासश्चाटुपटुः कविः।
निनिन्द तेषु निन्दत्सु स्तुवत्सु स्तुतवान्न किम्॥ ६५॥ – *नैषधीय-चरित, सर्ग १७।*

की ओर जाते हैं उसे लड़ने वाले दो भेड़ों के पीछे हटने के अतिरिक्त भला और क्या कहा जा सकता? इस पाप के करने से अमुक क्षुद्र योनि प्राप्त होगी यह डर दिखलाना व्यर्थ है। क्षुद्र जन्तु भी तो अपने सुख के अनुरूप साधनों से सुखी पाये ही जाते हैं। युद्ध में मरने वाले यदि स्वर्ग जायँ, तो विष्णु के द्वारा हत दैत्य लोग स्वर्ग में भी उनसे लड़ते ही रहेंगे। क्योंकि मुमूर्षु के भावानुसार ही तो लोकान्तरीय परिस्थिति मानी जाती है। संसारकाल में मुमुक्षु जीव स्वयं भी रहता है और ब्रह्म भी। मोक्ष हो जाने पर केवल ब्रह्म ही रह जाता, ऐसी परिस्थिति की मान्यता में वेदवादियों ने अपनी अच्छी विदग्धता दिखलायी? क्योंकि फलतः अपने उच्छेद को ही उन्होंने मोक्ष माना। चेतनों को पत्थर की तरह अचेतना-स्वरूप मुक्ति के लिए जिस गौतम ने शास्त्र का प्रणयन किया उन्हें सचमुच गौतम ही समझना चाहिए। हरि आदि की स्त्रियाँ अर्थात् लक्ष्मी पार्वती आदि स्त्रियाँ उनमें आसक्त होती हुई क्यों काम-बंधन में जकड़ी हुई हैं? कारुणिक अमोघादेश सर्वज्ञ परमेश्वर यदि सचमुच है तो वे हम लोगों को अपनी अमोघ वाणी से ही सर्वथा सुखी क्यों नहीं बना डालते हैं? यदि यह माना जाय कि परमेश्वर प्राणियों को अपने कर्मों के अनुसार फल देते हैं तो वे अकारण वैरी होने के कारण उन अन्य दुश्मनों से भी अधिक दुश्मन मान्य होंगे, जो किसी कारणवश दुश्मनी रखते हैं। तर्क अप्रतिष्ठित अर्थात् अनन्त होने के कारण परस्पर खण्डित होने वाले सारे मत क्यों सत्प्रति-पक्षस्थल के समान अप्रमाण नहीं हो उठेंगे? ये अपने को तपस्वी कहने वाले स्वयं अतिक्रोधी होते हुए दूसरों को अक्रोध की शिक्षा देते हैं और स्वयं निर्धन होते हुए दूसरों को यह कहकर बहकाते हैं कि तुम्हें धनी बना दूँगा। लक्ष्मी न देने वालों पर ही संतुष्ट रहती है, फिर तुम किसी को कुछ देना चाहते? धन-दान का परिणाम क्या होता है सो दानी बलि के बन्धन से मालूम किया जा सकता है। धन देने के लायक भला कौन है? जिससे जो लेता है उससे ही वह द्रोह करता है। लोभ का सचमुच त्यागी उदासीन तो विरल ही होते हैं। चोरी न करना अपनी दीनता को बढ़ाना है। किसी भी वस्तु को अभक्ष्य मानना अपने पेट की वंचना है। इसलिए सुख प्ररोह की मूलभूत स्वच्छन्दता अर्थात् उच्छृंखलता को अपनाते जाओ। महाकवि श्रीहर्ष ने इस प्रकार एक उच्छृंखल मतवाद का वर्णन महामोहीय सेनान्तर्गत एक वीर भट के मुख से कराकर उक्त उच्छृंखल मतवाद को सुनकर अतिक्रुद्ध होने वाली इन्द्रादि देवों के द्वारा इस मतवाद का यथासम्भव खण्डन कराया है जो कि उक्त सर्ग के १०७ श्लोक तक चला है और तदनन्तर सम्बोध्य उस सैनिक के मुख से यह कहलाया है कि उक्त मतवाद के लिए मैं दोषी नहीं हूँ। क्योंकि हम सभी राजा [३११] कलियुग के स्तुति पाठक बन्दी हैं। बन्दियों का तो यह कर्त्तव्य ही है कि वह अपने प्रभु की इच्छा के अनुरूप ही बोले।

महाकवि श्रीहर्ष ने इस प्रकार जिस उच्छृंखल मतवाद का वर्णन किया है वह उनकी

---

(३११) नापराधी पराधीनो जनोऽयं नाकनायकाः।
कालस्याहं कलेवन्दी तच्चाटु-चटुलाननः॥ १०८॥ *- नैषधीय चरित, सर्ग १७।*

निरुपम कल्पना-कुची का एक मनोरंजक चित्रण मात्र है ऐतिहासिक तथ्य नहीं, यह प्रत्येक तथ्यान्वेषी असंदिग्ध भाव से कहेगा, जो कि उनके काल्पनिक उड़ान का थोड़ा भी परिचय रखता होगा। अत: उक्त उच्छृंखल मतवाद के आधार पर चार्वाक सिद्धान्त का जिसे वस्तुत: पूर्व विहित विचार के अनुसार 'चारवाक सिद्धान्त' कहना उचित होगा, स्वरूप निर्णय नहीं किया जा सकता एवं तदनुरूप चार्वाक सिद्धान्त के प्रति घृणा नहीं फैलायी जा सकती। ५६वें श्लोक के द्वारा जो एकात्मवादी वेदान्तियों से यह कहा है कि 'एकात्मवादी होने के कारण तुम्हारे ऊपर सबके किये पाप आ गिरेंगे।' यह कथन श्रुतिगत प्रामाण्य एवं पुण्य पाप का अस्तित्व मान्य होने पर ही संगत होता है। अत: उक्त उच्छृंखल मतवाद को चार्वाकीय मानने पर भी क्या यह भी बात नहीं व्यक्त हो उठती कि वे चार्वाकी भी वह प्रमाण्य और पापपुण्य आदि मानते थे? इसी प्रकार उनसठवें श्लोक के द्वारा जो यह कहा गया है कि 'स्वयं व्यभिचारी पुरुषों को व्यभिचारिणी स्त्री के प्रति घृणा करना जनवंचना है।' इससे क्या यह व्यक्त नहीं हो उठता है कि वंचना उचित नहीं, वह कर्त्तव्य नहीं है? फलत: इससे यह व्यक्त अवश्य हो उठता है कि वास्तविक चार्वाक-सिद्धान्त भी कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विचार रखता था? इसके अनन्तर ६३वें श्लोक के द्वारा जो यह कहा गया है कि 'मनु ने धर्म और अधर्म की व्यवस्था दण्डार्थ की थी जिसे कुछ ही बुद्धिमानों ने समझा।' इससे क्या यह नहीं व्यक्त हो उठता है कि अविकृत चार्वाक सिद्धान्ती धर्मशास्त्र को भी दण्डशास्त्र अर्थात् राजनीति के अन्तर्गत मानते थे? जैसा कि इस ग्रन्थ में पहले वर्णित हो चुका है। अनन्तर ७४वें श्लोक के सहारे जो यह कहा गया है कि संसार अवस्था में नित्य ब्रह्म के साथ संसारी जीव स्वयं भी रहता है। मुक्ति में केवल ब्रह्म ही रहने के कारण उसका आत्मोच्छेद मान्य हो उठता है। आत्मोच्छेद को मोक्ष मानना भला वेदवादियों की कैसी बुद्धिमत्ता है? इस उपहास कथन से क्या यह नहीं व्यक्त हो उठता है कि कहने वाला आत्मोच्छेद को मोक्ष नहीं मानता? जैसा कि बतलाया जा चुका है कि वास्तविक चार्वाक-सिद्धान्ती भी परलोक जन्मान्तर आदि मानते थे इसलिए वे मरण को ही मोक्ष नहीं मानते थे। इसके बाद ७९ श्लोक के द्वारा जो यह बतलाया गया है कि 'तर्क के अप्रतिष्ठितत्त्व प्रयुक्त सारे वाद परस्पर खण्डित होने के कारण अप्रमाण हो उठेंगे, जिसका फल यह होगा कि सत्प्रतिपक्ष-स्थल के समान किसी भी तथ्य का निर्णय नहीं हो पायेगा।' इस कथन से क्या यह नहीं व्यक्त हो उठता है कि कहने वाला तर्क को प्रतिष्ठित मानता है? फलत: इससे क्या यह भी प्रतीत नहीं हो उठता है कि लोकायतिक लोग अपने दर्शन को तर्क-प्रतिष्ठ आन्वीक्षिकी मानते थे, जैसा कि रामायण और कौटिल्य-अर्थशास्त्र के आधार पर इस ग्रन्थ में निर्णय किया जा चुका है? अनन्तर ८१ श्लोक के द्वारा जो यह कहा जा चुका है कि 'यों ही क्यों धन बाँटते फिरते हो, हरिप्रिया लक्ष्मी देवी न देने वाले पर ही प्रसन्न होती हैं। देने का फल क्या होता है? सो बलि-वृत्तान्त से मालूम ही है।' इस कथन से क्या यह नहीं व्यक्त हो उठता है कि कहने वाला विष्णु और लक्ष्मी देवी आदि को भी मान्यता देता है? यदि हाँ, तो इससे पूर्ववर्णित इस बात की पुष्टि अवश्य होती है कि प्राचीन चार्वाक-सिद्धान्त पूर्ण सनातन-धार्मिक सिद्धान्त था। इस विस्तृत विवेचन का सरल तात्पर्य यह कि

विवेचकों के लिए यह मान्य होगा कि श्रीहर्ष-वर्णित उक्त उच्छृंखलमतवाद प्राचीनतम चार्वाकीय मतवाद नहीं था। अत: विवेचन की उक्त प्रकार गहराई में पैठकर उसका वास्तविक प्राचीनतम मतवाद के स्वरूप का निर्धारण करना होगा, जैसा कि इस ग्रन्थ में यथासम्भव किया गया है।

महाकवि बाण और लोकायत शास्त्र

चार्वाक दर्शन का भी स्वरूप अप्रतिष्ठित छिछला नहीं था जैसा कि परवर्ती लोगों ने चित्रण किया है एवं तदनुसार आजकल के लोग समझते हैं, इस बात का आभास महाकवि बाण के हर्ष-चरित से भी अच्छी तरह मिलता है। हर्ष चरित के अष्टम उच्छ्वास में यह कथा आयी है कि राजा जब शवर-सेनापति भूकम्प से जंगल के स्थानों की जानकारी के सम्बन्ध में पूछा है तब उसने उत्तर में विनीत भाव से यह कहा कि महाराज! मुझे तो उतनी जानकारी जांगलिक स्थानों के सम्बन्ध में नहीं है परन्तु निर्घात जो कि मेरी स्वसा का लड़का होने के नाते सम्बन्ध में भाई ही लगता है बहुत जानकारी रखता है। तदनुसार जब राजा ने निर्घात से भी पूछा तब उसने कहा महाराज! मैं इस जंगल के तिनके-तिनके को जानता हूँ। पत्ते-पत्ते को पहचानता हूँ। ऐसा भला इस जंगल में कौन-सा स्थान होगा जो मुझसे अपरिचित होगा। इसी सिलसिले में निर्घात ने पराशरी दिवाकर मिश्र नामक तपस्वी के आश्रम का भी रोचक परिचय दिया कि – 'दूर से ही सुन्दर आश्रम स्थित तापस दिवाकर मिश्र का परिचय इसलिये मुझे प्राप्त हो रहा था कि विभिन्न देशों से आये हुए शिष्यों से वह आश्रम व्याप्त था। जिन शिष्यों के अन्दर कुछ शिष्यगण जगह-जगह विद्यमान सुन्दर वृक्षों के नीचे बैठे थे तो कुछ शिष्यगण जगह-जगह पर शोभायमान शिलाखण्ड पर आसीन थे। कुछ लोग तो लताभवन में वास कर रहे थे अन्य कुछ लोग निकुंज में छिपे थे। कुछ लोग वृक्षशाखा की छाया में बैठे थे तो अन्य कुछ अध्येता लोग वृक्षों के मूल देश में सटकर बैठे हुए थे, उन विभिन्न स्थानों में विद्यमान शिष्य-मण्डली के अन्दर [३१२] कुछ वीतराग जैन साधु थे तो कुछ श्वेताम्बर पाण्डुर वर्ण भिक्षुक थे। कुछ भागमत ब्रह्मचारी भी वहाँ अध्येता के रूप में उपस्थित थे। उन विभिन्न साम्प्रदायिक शिष्यों के अन्दर कुछ केशोल्लुंचक भी देखे जा रहे थे। सारांश यह कि कापिल-जैन-लौकायतिक-काणाद्-औपविषद्-नैयायिक-कारन्धर्मी-धर्मशास्त्री-पौराणिक-सापृतन्तव-वैयाकरण-पांचरात्रिक एवं अन्य प्रकार के शिष्य भी वहाँ आश्रम की शोभा बढ़ा रहे थे। जिनके अन्दर कुछ लोग अपने सिद्धान्तों को सुनने में मस्त थे, कुछ आप्तजनों से प्रश्न पूछ रहे थे। कुछ लोग पाठ का उच्चारण कर रहे थे तो कुछ अन्य लोग अपना संदेह उपस्थित कर रहे थे। कुछ लोग उपदेश सुनकर निश्चयात्मक निष्कर्ष पर पहुँच रहे थे तो अन्य कुछ लोग औरों को समझा रहे थे। अन्य कुछ लोग परस्पर शास्त्रार्थ कर रहे थे तो अन्य कुछ

(३१२) विटपच्छायासु निषण्णै: तरुमूलानि निषेवमाणै: वीतरागै रार्हतेर्मस्करिभि: श्वेतपटै: पाण्डुरिभिक्षुभि: भागवतैर्वर्णिभि: केशोल्लुंचनै: कापिलैर्जैनैर्लैकायतिकै: काणादैरोपनिषदै: ईश्वरकाणिभि:। – *हर्षचरित, उच्छ्वास ८।*

शिष्य लोग व्याख्यान दे रहे थे।' इस प्रकार वर्णन करने वाले बाण ने लौकायतिकों को भी वही स्थान दिया है जो कापिक काणादि अन्य दार्शनिकों को। यदि बाण की दृष्टि में भी लोकायत दर्शन का वही स्थान होता जैसा कि उसे विकृत रूप देने वालों की दृष्टि में अति जघन्य स्थान प्राप्त है तो वे कापिल काणाद आदि के समान उसे भी उक्त प्रकार की मान्यता कभी नहीं देते। अत: यह मानना ही होगा कि जो रूप परवर्ती काल में वर्णित हुआ है वह उसका वास्तविक रूप नहीं है। यह बारम्बार पहले कहा जा चुका है कि इस प्रकार छिछली रूपरेखा वाली विचारधारा दर्शन कहलाने का अधिकार नहीं प्राप्त कर सकती है। महाकवि बाण ने [३१३] जो अपनी कादम्बरी में महाश्वेता-कर्तृक स्वपरिस्थिति-वर्णन के अवसर पर महाश्वेता द्वारा चन्द्रापीड को यह कहलाया है कि 'मुनिकुमार पुण्डरीक के संदेश रूप में उनके सहचर मुनिकुमार कापिञ्जल के द्वारा उपस्थापित आर्या-पद्य को पढ़कर मेरे स्मरानुरक्त मन में उसी प्रकार विकारात्मक दोष उपस्थित हो उठा, जिस प्रकार अधर्म में रुचि रखने वाले व्यक्तियों में लोकायतिक विद्या से विकारात्मक दोष उपस्थित होते हैं।' उसे हर्षचरित के उक्त प्रसंग के साथ अध्ययन करने पर यह निर्णय प्राप्त होता है कि या तो उक्त वाल्मीकिय-रामायणीय निर्णय के अनुसार महाकवि बाण भी लोकायतिक विद्या को धार्मिक एवं अधार्मिक दो धाराओं में विभक्त मानते थे या कादम्बरी में लोकायतिक-विद्या इस पद को उन्होंने [३१४] एक प्रकार यौगिक अर्थ के आधार पर सामान्यत: नास्तिक विद्याभ्यास अर्थ में प्रयोग किया है जैसा कि व्याख्या एवं टिप्पणीकारों के द्वारा व्यक्त किया गया है।

मैत्री उपनिषद् और वृहस्पति का उपदेश

चार्वाक दर्शन के आचार्य वृहस्पति हुए हैं, यह बात प्रसिद्ध भी है और इस ग्रन्थ में भी पहले चर्चित हो चुकी है। यह भी युक्तिपूर्वक बतलाया जा चुका है कि ये वृहस्पति देवगुरु वृहस्पति नहीं किन्तु अन्य दर्शन-प्रवर्तकों की तरह कोई अन्य वृहस्पति नामक आचार्य हुए हैं। परन्तु यदि आग्रहवश उस देवगुरु वृहस्पति को ही चार्वाक दर्शन का आचार्य माना जाय, तो इस विवेच्य दर्शन का मध्यकालिक स्वरूप पर मैत्री उपनिषद् से कुछ प्रकाश पड़ता हुआ-सा दीख पड़ता है। मैत्री उपनिषद् के ७वें प्रपाठक में यह कहा गया है कि 'अब यहाँ ज्ञान-विघ्न बतलाये जाते हैं। अस्वर्ग्य अर्थात् स्वर्गानर्ह व्यक्तियों के

---

(३१३) दूरं मुक्तालतया विससितया विप्रलोभ्यमानो मे।
हंस इव दर्शिताशो मानसजन्मा त्वथा नीत:॥
अनया च मेत्रदृष्ट्या ... दुष्टनिद्रयेव विषविह्वलस्य लोकायतिक विद्ययेवा धर्मरुचे ... दोषविकारोपचय: सुतरामक्रियत स्मरानुरक्तस्य मे मनस:।
- कादम्बरी, महाश्वेता-चन्द्रापीड संवाद।

(३१४) लोकेति। लोकानां यति: संयम: इन्द्रियचापल्यनिग्रह:, स नास्ति यस्यां, तथा भूताया विद्या शास्त्रज्ञानं, नास्तिकनविद्येतियावत्। *- जीवानन्द-विद्यासागर टिप्पणी।*

साथ, स्वर्ग्यो अर्थात् स्वर्गार्ह वैदिक जनों का सम्बन्ध, स्वर्ग्यजनों के लिए मोहजाल का ही कारण हो जाता है। जो लोग इस संसार में ही नित्यभाव से प्रमुदित होते हैं, ऐहिक सुख के लिए सदा इस देश से अन्य देश और वहाँ से फिर अन्य देश भटकना पसन्द करते हैं, ऐहिक सुखार्थी होने के कारण एक से दूसरे के और फिर तीसरे के पास याचना किया करते हैं, और जो लोग शिल्पोपजीवी होते हैं तथा जो अन्य लोग ग्राम की याचना करते हैं, अयाज्यों को भी याजन करते हैं शूद्रों की शिष्यता स्वीकार करते हैं एवं जो कुछ लोग ऐसे होते हैं जो कि शास्त्रज्ञ होते हुए भी शूद्र जाति के होते हैं तथा ऐसे जो अन्य लोग हैं जो कि चुगलखोरी कराते हैं या बोलते समय नियन्त्रणहीन हो जाते हैं, जो ऐसे लोग लड़ाकू हैं और जो लोग बनावटी संन्यासी हैं एवं जो लोग राजकार्य में पतित अर्थात् भ्रष्टाचारी होते हैं, और जो लोग ऐसे हैं, जो कि लोगों को यह कहकर धन माँगते हैं कि इतना दो तो तेरी यक्ष, राक्षस, भूत, पिशाच आदि प्रत्युक्त विघ्न-बाधा हम शान्त कर देंगे। इनके अतिरिक्त वे जो कि पीले पड़ने वाले अस्थि, कुण्डल को धारण किये रहते हैं, तथा ऐसे भी जो लोग होते हैं जो कि वृथा तर्क दृष्टान्ध वंचना एवं इन्द्रजाल का आश्रयण करते हुए वैदिकों के बीच अपने को भी परिगणित रखना चाहते हैं, इन लोगों के साथ संवास नहीं करना चाहिए क्योंकि वे प्रकट-चोर अर्थात् पश्यतोहर होते हैं, अस्वर्ग्य होते हैं' -

[३१६] नैरात्म्यवाद की वंचना में पड़कर मिथ्या दृष्टान्त एवं हेतुओं का आश्रयण करने वाला यह लोक अर्थात् साधारण जनता येदविद्यागत अनन्तर को, रहस्य को समझने में असमर्थ हैं। वृहस्पति शुक्र बनकर इन्द्र के अभव एवं असुरों के क्षय के निमित्त इस नैरात्म्य विद्या को उत्पन्न किया। इसी विद्या के सहारे अकल्याण को कल्याण और कल्याण को अकल्याण रूप से शुक्ररूपधारी [३१७] वृहस्पति ने असुरों को उपदेश दिया 'वेद आदि शास्त्र हिंसक धर्म तात्पर्यक है।' यह कहते हुए। अतः इस नैरात्म्य विद्या को नहीं पढ़ना चाहिए। ज्ञानप्रद न होने के कारण यह वन्ध्या ही है। आचारविहीन व्यक्ति के लिए यह केवल सांसारिक अनुराग को ही देने वाली है। इसलिए इस विद्या का आरम्भ उचित नहीं, इत्यादि। इस औपनिषद् आख्यायिका के अन्दर अनेक बातें ध्यान देने योग्य प्रतीत होती हैं। सर्वप्रथम एक यह कि यहाँ जो ज्ञान-विघ्नों की बड़ी लिस्ट दी गयी है जिसे नैरात्म्यवादियों की लिस्ट कहा जा सकता है, उसके अन्दर मोक्षार्थ अद्वैत ज्ञानमात्र के इच्छुक व्यक्ति को छोड़कर उन अन्य सभी लोगों का तत्त्वतः परिगणन स्पष्ट दीख पड़ता है जो कि त्रिवर्ग के इच्छुक होते हैं। ऐसी परिस्थिति में अद्वैत

---

(३१५) अथयेत्रान्येह वृथा तर्क दृष्टान्तकुहकेन्द्रजालै वैदिकेषु परिस्थातुमिच्छन्ति। तैस्सह न सम्वसेत्। प्राकाश्यभूता वै ते तस्करा अस्वर्ग्याः।
- मैत्र्युपनिषत्, प्रपाठक ७।

(३१६) नैरात्म्यवाद - कुहकैर्मिथ्यादृष्टान्त हेतुभिः।
भ्राम्यन् लोको न जानाति वेद विद्यान्तरं तु यत्॥ *- मैत्र्युपनिषत्, प्रपाठक ७।*

(३१७) वृहस्पतिवै शुक्रोभूत्वा इन्द्रस्याभयायासुरेभ्यः क्षयायेमामविद्यामसृजत्।
- मैत्र्युपनिषत्, प्रपाठक ७।

वेदान्तियों को छोड़कर अन्य सभी दार्शनिक निरात्मवादी कपटशुक्र वृहस्पति के शिष्योपशिष्य रम्परा में आ जाते हैं अत: मूलत: चार्वाक और अचार्वाक ये दोनों ही दर्शन वास्तविक रूप ं त्याज्य रूप से प्राप्त होते हैं और सो भी औपनिषद काल के बाद के लिए। उसके पूर्व तो अवान्तर प्रभेद भले ही हों परन्तु तत्त्वत: एक ही चार्वाक दर्शन ही अस्तित्व-युक्त रूप में स्थिर हो पाता है जैसा कि 'भागवत और चार्वाक-दर्शन' इस शीर्षक विहित विचार के अन्दर बतलाया जा चुका है। दूसरी एक बात यह यहाँ अनायास निकल आती है कि दैत्य और असुर भी मूलत: अवैदिक नहीं वैदिक ही थे। क्योंकि उनके वास्तविक गुरु वास्तविक शुक्र ने उन्हें पथभ्रष्ट नहीं किया। वृहस्पति ने कपटपूर्ण शुक्र का रूप धारणकर वंचना की, इसलिए उक्त लिस्ट के अन्दर आ पड़े। अत: अनात्मवादी दर्शन के आचार्य कहलाये। यह जो कहा गया है कि 'स्वर्ग्यो का अस्वर्ग्य' साथ होने वाला सम्बन्ध मोह का ही कारण होता है। इससे भी प्राचीन चार्वाकियों की वैदिकता सिद्ध होती है। जो लोग ग्राम याचना करते हैं अयाज्यों को भी याजन कराते हैं इत्यादि उक्त वाक्य तो और भी खुलकर इस बात को सिद्ध करते देखे जाते हैं कि उपनिषत् भाग से सूचित होने वाले सभी चार्वाक वैदिक थे अपने को वेदानुयायी मानते थे और तदनुरूप आचरण रखते थे। अन्य एक बात यह भी यहाँ सर्वथा ध्यान देने योग्य है कि उक्त लिस्ट के अन्दर यह भी कहा गया है कि 'जो राज्यकार्य से पतित हैं अर्थात् भ्रष्टाचारी हैं।' इससे यह भी सूचित होता है कि प्राचीन काल में यह दर्शन 'चार्वाक दर्शन' नहीं किन्तु 'चारवाक्क दर्शन' था अर्थात् राजदर्शन था, जिसका वर्णन पहले किया जा चुका है। पीछे महाभारतीय चार्वाक राक्षस के साथ उसे जोड़ डाला गया। तब से वह चार्वाक दर्शन'कहलाने लगा और फिर उसी के आधार पर मनगढ़न्त उसका विकृत रूप भी स्थिर किया जाने लगा। 'लोकायत' इस नाम का बीज भी इस औपनिषद आख्यायिका के अन्दर मिलता हुआ दीख पड़ता है। क्योंकि नैरात्म्यवाद की वंचना में पड़कर मिथ्या दृष्टान्त एवं हेतुओं का आश्रयण करने वाला यह 'लोक' इस कथन में लोक शब्द कथित हुआ है और मुमुक्ष मात्र को छोड़कर अन्य सारी जनता को वर्णित लिस्ट में लपेट लिया गया है। इससे व्याप्तिस्वरूप 'आयति' भी बतलायी गयी है। यदि कुछ लोग यह कहें कि औपनिषद् आख्यायिकाएँ इतिहास नहीं है अत: इसके सहारे ऐतिहासिक चार्वाक का निर्णय नहीं किया जा सकता, तो मुझे भी इस पर कोई आग्रह इसलिए नहीं है कि इससे पूर्व सारी बातें अन्य प्रमाणों से सिद्ध की जा चुकी हैं।

रसेश्वर दर्शन भी चार्वाक-दर्शन का ही नवीन संस्करण

सर्वदर्शन संग्रह के अन्दर ९वें दर्शन के रूप में जो रसेश्वर दर्शन दिखलाया गया है, उसे यदि गम्भीर भाव से देखा जाय तो वह दर्शन भी वस्तुत: चार्वाक दर्शन का ही एक नवीन संस्करण प्रतीत होगा। क्योंकि वहाँ हरगौरी-सृष्टिज शरीर को अनिश्वर तक माना

(३१८) षड्दर्शनेऽपि क्लिस्तु दर्शितापिण्डपातने।
करोमलकवत्तर्म ताऽपि प्रत्यक्षानोपपद्यते॥
तस्मात्ति रक्षत्पिण्डं रसैश्चैव रसायनैः॥ ३॥ – *हेसाणव।*

गया है। शरीर की नित्यता मान लेने के बाद चार्वाकीय शरीरात्मवाद या भूतात्मवाद की मान्यता में भला क्या अनुपपत्ति बतलायी जा सकती? सारी समस्याएँ अनायास हल हो जाती हैं। सर्वदर्शन संग्रह के रसेश्वर दर्शन में जो रसार्णवीय वाक्य के उद्धरण द्वारा यह कहा गया है कि 'छः दर्शनों के [३१८] अन्दर मुक्ति बतलायी गयी है सही परन्तु शरीरपात के अर्थात् मरण के अनन्तर। इसलिए अन्य-दर्शनीय मुक्ति हस्तगत आमलक के समान प्रत्यक्षतः उपलब्ध नहीं हो पाती। इसलिए रसायनात्मक रस अर्थात् शुद्ध पारद के द्वारा शरीर की [३१९] रक्षा करनी चाहिए अर्थात् शरीर को नित्य बना डालना चाहिए।' वहाँ 'अन्य दर्शनीय मुक्ति प्रत्यक्षतः उपलब्ध नहीं होती।' इस कथन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि रसेश्वर-दर्शन भी प्रत्यक्ष मात्र को उसी प्रकार प्रमाण मानता है जिस प्रकार चार्वाक दर्शन। इससे भी यह व्यक्त होता है कि रसेश्वर-दर्शन एक प्रकार चार्वाक दर्शन का ही नवीन संस्करण है। शरीर को नित्य मान लेने पर भूतात्मवाद, फलतः भूत चैतन्य स्वतः प्राप्त हो जाता है और प्रत्यक्षमात्र प्रमाणता भी बतलायी ही जा चुकी है। ये ही दो बातें चार्वाक-सिद्धान्त के लिए मुख्य रूप से मान्य हैं। सो जबकि रसेश्वर दर्शन में भी मान्य हैं तब भला इसमें क्या संदेह रह जाता है कि रसेश्वर दर्शन भी चार्वाक दर्शन का ही एक नवीन संस्करण है। रसेश्वर दर्शन को जो परमेश्वर-तादात्म्यवादी कहा गया है, सो भी महासमवायात्मक भूताद्वैत की तत्वता की मान्यता के अनुसार संगत हो ही जाती है। अब रही बात नास्तिकता और आस्तिकता की, तो यह भी निर्णय किया ही जा चुका है कि चार्वाक-दर्शन वस्तुतः नास्तिक दर्शन नहीं था। न्याय दर्शन के भाष्य में उसके रचयिता वात्स्यायन ने जो दृष्टान्त की महत्ता बतलाते समय यह कहा है कि 'नास्तिक यदि दृष्टान्त को मानेगा तो वह नास्तिक नहीं रह पायेगा और यदि वह दृष्टान्त को नहीं मानेगा तो किसके सहारे अपने विरोधी पक्ष का खण्डन करेगा?' इस कथन से यही सिद्ध होता है कि नास्तिक वही कहलाता था प्राचीन काल में, जो कि दृष्टान्त नहीं मानता था। दृष्टान्त को न मानने का अर्थ होता है प्रत्यक्ष को न मानना। किन्तु चार्वाक तो प्रत्यक्ष को अमान्य नहीं कहता? अतः उसे नास्तिक कैसे कहा जा सकता? वेद की अमान्यता प्रयुक्त भी उसे नास्तिक नहीं ठहराया जा सकता। क्योंकि उसकी वैदिकता सिद्ध की जा चुकी है।

---

(३१९) षाट्कैशिकस्यशरीरस्या नित्यत्वेऽपिरसाभ्रकपदाभिलप्य हरगौरीसृष्टि जातस्यः - नित्यत्वोपपत्तेः। नक्षत्र रसहृदये -
ये चात्यक्त शरीरा हरगौरी सृष्टिजां टनुं प्राप्ताः।
मुक्तास्ते रससिद्धा मन्त्रगणः किंकरो येषाम्॥
- रसहृदय १/७। सर्वदर्शन संग्रह, रसेश्वर दर्शन।

(३२०) नास्तिकश्च दृष्टान्तमभ्युपगच्छन्नारितकत्व जहाति। अनभ्युपगच्छन् किंसाधनः परमुपालभेत? *- न्याय-दर्शन, वात्स्यायन भाष्य।*

एकादश प्रकरण

चार्वाक-दर्शन और उसका खण्डन

चार्वाक दर्शन को जिस मात्रा में विकृत रूप दिया गया है उस अनुपात से उसके खण्डन की मात्रा अल्प है। कहने का तात्पर्य यह है कि खण्डन तो प्रायः सभी अन्य दार्शनिकों ने इस दर्शन का किया है परन्तु वह खण्डन प्रायः भूत-चैतन्य और प्रत्यक्ष-मात्र-प्रामाण्य तक ही सीमित रह गया है। अर्थात् चार्वाकीय-मान्यता प्राप्त इन्हीं बातों की आलोचना प्रायः की गयी है। अभिप्राय यह कि दर्शन और आचरण ये दो विभिन्न वस्तुएँ हैं। क्योंकि आचरण होता है धर्म, मूलवक्ता का दृष्टिकोणात्मक दर्शन धर्म नहीं, इन बातों को देखते हुए अन्य दार्शनिकों ने जो इन उक्त दो दार्शनिक वस्तुओं का ही खण्डन किया है। वह उनकी दार्शनिकता का ज्ञापक है। परन्तु वह खण्डन भी प्रकृत में निर्णीत चार्वाकीय दार्शनिक-स्वरूप के आगे बिल्कुल निरवकाश सिद्ध होता है। उदाहरण के लिए दार्शनिक मूर्धन्य रूप से विख्यात मिश्र वाचस्पतिकृत खण्डन को उपस्थित किया जा सकता है। उन्होने चार्वाक सम्मत प्रत्यक्ष मात्र प्रमाणता की आलोचना करते हुए यह कहा है कि 'अनुमान प्रमाण नहीं है' यह कहने वाले लौकायतिकों द्वारा, उनका वादी अप्रतिपन्न है कि संदिग्ध है या विपर्यस्त है यह कैसे समझा जा सकेगा? अन्य व्यक्तिगत अज्ञान संदेह या विपर्यास ब्राह्य-दृष्टि रखने वालों के द्वारा प्रत्यक्ष तो प्रतिपन्न हो नहीं सकता? प्रमाणान्तर से वे समझे जा सकेंगे यह बात तो चार्वाक-पक्षी जन कह नहीं सकते। क्योंकि प्रमाणान्तर तो उनके सिद्धान्त में मान्य नहीं है। अपने वादी की हार्दिक परिस्थिति से अपरिचित होते हुए भी यदि उसे समझाने के लिए चार्वाक-सिद्धान्ती प्रवृत्त हों, तो जिस किसी व्यक्ति को भी वे समझाने में प्रवृत्त हो बैठेंगे। जिसका परिणाम यह होगा कि प्रेक्षावानों की दृष्टि में वे अश्रद्धेय-वचन हो बैठेंगे। अर्थात् पागल के वाक्य की तरह उनका भी वाक्य श्रद्धेय नहीं हो पायेगा, उपेक्षित हो बैठेगा। इसलिए वे मन से भले ही अनुमान के अस्तित्व को पसन्द करते हों, फिर भी अनुमान को उन्हें प्रमाण मानना ही होगा। मिश्र वाचस्पति की यह खण्डन शैली यों तो अति आकर्षक-सी प्रतीत होती है परन्तु यहाँ जो चार्वाक दर्शन के स्वरूप का वर्णन किया गया है उसे देखते हुए यह मिश्रकृत खण्डन इसलिए निरवकाश

---

(३२१) नानुमानं प्रमाणमिति वदता लौकायतिकेनाप्रतिपन्नः संदिग्धो विपर्यस्तो वा पुरुषः कथं प्रतिपद्येत? नच पुरुषान्तरगता अज्ञानसंदेह-विपर्यासाः शक्या अर्वाग्दृशा प्रत्क्षेण प्रतिपप्तुम्। *- सांख्यतत्त्व कौमुदी।*

सिद्ध होता है कि यहाँ तो प्रत्यक्षान्तर्गत रूप में अनुमान को भी प्रमाण माना गया ही बतलाया गया है। अत: विचार करने पर वह उनका खण्डन पत्थर पर किये गये धारदार अस्त्र के प्रहार के समान स्वयं क्षत हो जाता है।

जयन्त भट्ट और चार्वाक वराक

अपरिचित जयंत रचित अपरिचित न्याय मञ्जरी नामक चार्वाक ग्रन्थ का केवल नाम ही सुना है वह देखने को मिला है नहीं। दार्शनिकों के परम परिचित एवं परम उदार दार्शनिक तथा काश्मीर-नृपति शंकर वर्मा के महामंत्री महानैयायिक भट्ट जयन्त उक्त अपने शासक के द्वारा किसी कारणवश होने के समय जिस परम उपादेय न्याय मंजरी नामक गौतमीय न्याय-ग्रन्थ का प्रणयन कर गये हैं उसके अन्दर भी चार्वाक सिद्धान्त की कुछ आलोचना पायी जाती है। सर्वप्रथम उन्होंने चार्वाक की चर्चा वहाँ की है जहाँ पर उन्होंने यह बतलाने का प्रयत्न किया है कि गौतमीय न्याय ही सचमुच न्याय है। वे कहते हैं कि न्याय है तर्क अर्थात् अनुमान, उसका प्रतिपादन इस गौतमीय न्याय दर्शन में ही है।[३२१] क्योंकि सांख्य जैन एवं बौद्ध इनको भला अनुमानोपदेश की क्या कुशलता है? और तर्क के सहारे वे वेदगत प्रामाण्य की रक्षा ही कितनी करते हैं? इसलिए न्याय की चर्चा के समय उनकी गणना उचित नहीं। बौद्ध लोग यद्यपि यह सोचते हुए गर्वोन्नत होते देखे जाते हैं कि अनुमान मार्ग पर आरूढ़ होने की निपुणता हममें ही है, तथापि उनका तर्क वेद विरोधी होने के कारण, वैदिक विद्यास्थानों में उनका संग्रह कैसे किया जा सकता? और अनुमान कौशल भी बौद्धों को कितना है, यह बात भी जगह-जगह पर बतलायी जायेगी। चार्वाक बेचारे तो खण्डनीय ही हैं इसलिए क्षुद्र तर्कयुक्त चार्वाक की गणना का स्थान नहीं है। यहाँ इस अन्तिम कथन की ओर यह ध्यान देना चाहिए कि जयन्त भट्ट ने चार्वाक को खण्डनीय कहकर विचार को टाला है किन्तु यह नहीं कहा कि चार्वाक निस्तर्क हैं। अर्थात् वे अनुमान मानते ही नहीं, किन्तु वरं यह कहते हैं कि उनका तर्क क्षुद्र है, महत्त्वपूर्ण नहीं है। बिल्कुल निस्तर्क होना और अल्प तर्कयुक्त होना, इन दोनों में महान् अन्तर है। कहने का तात्पर्य यह कि इस ग्रन्थ में जो यह निर्णय किया गया है कि चार्वाक सम्प्रदाय भी अनुमान प्रमाण मानता था, इसका आभास यहाँ कुछ दिखाई-सा दे रहा है। आगे चलकर भट्ट जब यह कहने के लिए प्रस्तुत हुए हैं कि वेदमूलक होने के कारण बौद्ध जैन आदि शास्त्र भी प्रामाणिक हैं तब फिर चार्वाक का विचार उपस्थित करते हुए उन्होंने यह कहा है कि – 'तब तो लोकायत शास्त्र भी प्रमाण रूप से मान्य होंगे। क्योंकि उनके

(३२१) न्यायस्तर्कोऽनुमानम्। सोऽस्मिन्नेव व्युत्पाद्यते यत: सांख्यार्हतानां तावत् क्षपणकानां कोदृशमनुमानोपदेश-कौशलम्? ... चार्वाकास्तु वराका: प्रतिक्षेप्तव्या एवेति क: क्षुद्रतर्कस्य तदीयस्येह गणनावसर:?

– न्यायमंजरी, प्रमाण प्रकरण, पृ० ४, चौखम्भा मुद्रण।

मूलभूत वैदिक वाक्य भी पाये जाते हैं और [३२२] लोकायत दर्शन यदि प्रामाणिक हो चुका तो गये फूलने खटाई में अन्य सारे शास्त्र।' इस प्रकार स्वयं प्रश्न उठाकर इसके उत्तर में भट्ट जी ने यह कहा है कि 'इसका उत्तर यह है कि [३२३] लोकायत शास्त्र में कुछ भी कर्त्तव्य रूप में उपदिष्ट नहीं हुआ है वह केवल वैतण्डिक की वितण्डा कथा है कोई आगन अर्थात् शास्त्र नहीं है। जब तक जीओ सुख से जीओ इत्यादि उपदेशों को प्रमाण इसलिए नहीं माना जा सकता कि वह तो प्रत्येक प्राणी की स्वाभाविक ही प्रवृत्ति है। सभी सुखी जीवन बिताना चाहते हैं। धर्म कर्त्तव्य सही हैं इत्यादि उपदेश वाक्य पूर्वपक्ष मात्र के उपस्थापब हैं। क्योंकि उत्तर वाक्य से उनका खण्डन हो जाता है। इसलिए लोकायत शास्त्र आदरणीय नहीं है। किन्तु अन्य सारे आगम प्रमाण हैं। क्योंकि [३२४] मनुवाक्य को जहाँ महत्ता दी गयी है वहाँ 'मनु' का अर्थ केवल मनु ही नहीं ज्ञातव्य है, किन्तु गौतम आपस्तम्ब से लेकर जिन, कपिल एवं बुद्ध तक सभी ग्राह्य हैं।' सूक्ष्मभाव से देखने पर यहाँ आलोचना की प्रचुर सामग्री पड़ी है। यथा क्रहाँ तो यह भट्ट जी एक ओर यह कहते हैं कि 'लोकायत दर्शन को यदि कहीं प्रमाण माना गया।' यहाँ प्रामाणिकता में संदेह उपस्थित करने पर भी दर्शनता फलतः शास्त्रता तो मानी गयी है, और कहाँ फिर यह कहते हैं कि 'लोकायत कोई शास्त्र नहीं है, वह तो वितण्डा कथा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।' इनके इस कथन के अनुसार तो चार्वाक की गति अबाध रूप से सर्वदर्शन के घर में हो पड़ती है। क्योंकि स्थान विशेष में सभी दार्शनिक वितण्डा कथा करते पाये जाते हैं? वेदान्त का प्रसिद्ध खण्डन-खण्ड-खाद्य ग्रन्थ वितण्डा रूप माना जाता है तो उस ग्रन्थ के आधार पर श्रीहर्ष को चार्वाक-सिद्धान्ती कहा जा सकेगा? वेदमूलक होने के कारण यदि जैन बौद्ध शास्त्रों तक को प्रामाणिक भट्टजयंत मानते हैं, तो फिर लोकायत का ही क्या अपराध है? खण्डन पाये जाने की जो बात की गयी है सो वह खण्डन उक्त महासमवायात्मक अद्वैत-भूत को लेकर अविनाश कथन भी संगत हो सकता है। अतः उत्तर वाक्य से यहाँ वर्णित चारवाक्कीय दार्शनिक मतवाद का खण्डक होता हुआ नहीं देखा जाता है।

---

(३२२) ननु च लोकायताद्यागमोऽपि प्रामाण्यं प्राप्नोति। विज्ञान घन एवैभ्यो भूते भ्यस्समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति ... ततश्चेह लोकायत दशने प्रमाण भूते सति स्वस्ति सर्वागमेभ्यः।

(३२३) उच्वते। नहिं लोकायते किंचित्कर्त्तव्य मुपदिश्यते।
वैतण्डिक-कथैवासो न पुनः कश्चिदागमः॥
- न्यायमंजरी, प्रमाण-प्रकरण, चौखम्भा-मुद्रण, पृ० १४६।

(३२४) यः कश्चित् कस्यचिद्धर्मो मनुना परकीर्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः॥
इत्यत्र यथा मनुग्रहणं गौतमापस्तम्ब-सम्वर्त-काठकादि-स्मृत्यन्तरो-लक्षणम् एवमर्हकपिल सूगताद्यपलक्षणमपि व्याख्येयम्।
- न्यायमंजरी, प्रमाण प्रकरण, चौखम्भा मुद्रण, पृ० १४६।

चार्वाकीय विचारधारा की निन्दा क्यों?

अब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि तब चार्वाक दर्शन की निन्दा क्यों? तो इसका उत्तर यह है कि धर्म और दर्शन इन दोनों में एक प्रकार का घनिष्ठ सम्बन्ध विद्यमान है। अभिप्राय यह कि 'हेतु-फल-भाव' को 'ज्ञाप्य-ज्ञापक-भाव' और 'कार्य-कारक-भाव' इन दो प्रभेदों में विभक्त समझना चाहिए। धर्म और दर्शन इन दोनों के बीच दर्शन है कारक और धर्म कार्य। किन्तु ज्ञाप्य-ज्ञापक-भाव ठीक इसका उल्टा होता है। धर्म होता है ज्ञापक और दर्शन होता है ज्ञाप्य। सारांश यह कि किसी के आचरण को देखकर ही दृष्टा उसकी आन्तरिक परिस्थिति का अनुमान करता है यह निर्विवाद है। इसके अनुसार जब जनता किसी दार्शनिक साम्प्रदायिकों के आचरण में बुराई देखती है तो तदनुसार ही उस अपरिचित दर्शन के स्वरूप के सम्बन्ध में भी तदनुरूप निर्णय करने लगती है जिसका परिणाम यह होता है कि उस दर्शन का ह्रास आरम्भ हो उठता है। यह परिस्थिति किसी एक दर्शन के लिए नहीं, सभी दर्शनों के लिए अनिवार्य रूप से लागू होने वाली है। अनेक बौद्ध विवेचकों ने बौद्धदर्शन के सम्बन्ध में अपना यह निश्चित मत व्यक्त किया है कि जब बौद्ध-दर्शनानुयायियों के अन्दर आचरणगत बुराई आयी तो बौद्ध-विरोधी भाव लोगों के हृदय के अन्दर बढ़ने लगे। जिसका परिणाम यह हुआ कि बहुत दिनों के लिए बौद्ध-दार्शनिक-विकास अवरुद्ध ही नहीं हुआ प्रत्युत बौद्ध-धर्म भारत में मध्यवर्ती काल में लुप्तप्राय हो गया। मेरी दृष्टि में चार्वाकीय-विचारधारा के प्रति लोगों की उदासीनता एवं उसकी निन्दा में प्रवृत्ति भी इसी कारण वर्द्धिष्णु हो उठी। यह बात बारम्बार बतलाई जा चुकी है कि चार्वाक-दर्शन चारवाक्क-दर्शन अर्थात् राजदर्शन था। राजधर्म के अन्दर ऐसी भी बहुत-सी बातें कर्तव्य रूप में आती रहती हैं जिन्हें शुद्ध धार्मिक दृष्टिकोण से कुछ अन्तर, कुछ विरोध हो आया करता है। इसलिए विशुद्ध धार्मिकों द्वारा समय-समय पर राजनयिक, राज-धार्मिक दृष्टिकोण के प्रति विरोध उपस्थित किया जाता है, उसकी निन्दा की जाती है। साथ ही राजनैतिक मार्ग के अधिकार सम्पन्न होने के कारण आधिकारिक राजनयिकों में भ्रष्टाचार का श्रीगणेश हो उठता है। जो, यदि समय के अवरुद्ध नहीं हो सका तो फैलता जाता है फिर जन निन्दा एवं जन विरोध। अन्ततः हार्दिक औदास्य जन साधारण का उसके प्रति अवश्य हो उठता है, यह युक्तिसिद्ध ही नहीं प्रत्यक्षसिद्ध भी है। तदनुसार प्राचीन चारवाक्कीय दृष्टिकोण के प्रति, जिसे कि परवर्ती शाब्दिक प्रयोग के अनुसार चार्वाकीय दृष्टिकोण या चार्वाक दर्शन कहा जा सकता है, राजनयिक अधिकार प्राप्त लोगों के आचरणगत दोष प्रयुक्त घृणा उत्पन्न हुई होगी। और उसकी बाढ़ में चार्वाक सिद्धान्त का वास्तविक महत्त्व तिरोभूत हो जाने के कारण अन्य विवेचकों को उसे छिछला रूप तक दे देने का सुअवसर प्राप्त हुआ होगा। क्योंकि जिसे सभी प्राचीन भारतीय विवेचकों ने एक स्वर में एक स्वतंत्र दर्शन माना है उसका वह छिछला रूप कभी वास्तविक नहीं हो सकता, जो कि परवर्ती अनेक विवेचकों द्वारा उसे दिया गया।

आधुनिक कुछ विवेचक जो यह कहते हैं कि प्राचीन भारतीय विवेचकों द्वारा किया जाने वाला चार्वाक-मत-खण्डन एक काल्पनिक मत का ही खण्डन है अतः चार्वाक दर्शन कोई ऐतिहासिक दर्शन नहीं, यह उनका कथन इसलिए भी मान्य नहीं ठहराया जा सकता कि आज भी ऐसे कुछ शब्द प्रचलित हैं जिनका प्रचलन चार्वाक-दर्शन की मान्यता के बिना किसी भी प्रकार समर्थित नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए 'आत्महत्या' शब्द को लिया जा सकता है। इस शब्द का सर्ववादि सम्मत अर्थ है स्वयं अपने को नष्ट कर डालना। विचार करके देखने पर इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग चार्वाक सिद्धान्त को छोड़कर अन्य किसी भी सिद्धान्त में सम्भव नहीं है। क्योंकि शरीरातिरिक्त आत्मवादी सभी भारतीय दार्शनिकों के अन्दर क्षणिक विद्या को आत्मा मानने वाले त्रिविध बौद्धों को छोड़कर अन्य किसी भी दार्शनिक के मत में आत्मा का नाश सम्भव नहीं है। उक्त त्रिविध बौद्ध दार्शनिकों के मत में विज्ञान की क्षणिकता के कारण आत्मा का नाश तो होता रहता है सही, किन्तु वह स्वाभाविक रूप से यों ही होते रहने के कारण, अपने द्वारा किये जाने वाले नहीं हो पाते अतः भूत चैतन्यवादी चारवाक्क-सिद्धान्त को छोड़कर अन्य किसी भी सिद्धान्त में यह शब्द सार्थक नहीं हो सकता। यह शब्द आधुनिक भी नहीं है क्योंकि वेद तक में भी 'आत्महा' 'आत्महन' आदि आदि शब्द पाये ही जाते हैं। इसी प्रकार दूसरा शब्द है 'कायस्थ' शब्द। विचार करके देखने पर यह भी शब्द शुद्ध चार्वाक-सिद्धान्त का ही शब्द मालूम होता है। इस शब्द का अर्थ है काय में अर्थात् शरीर में ही स्थिर। फलतः शरीर को ही आत्मा रूप से मानने वाला। भारतीय दार्शनिकों के अन्दर चारवाक्क-सिद्धान्त को छोड़कर अन्य कोई भी सिद्धान्त शरीरात्मवादी नहीं है। अतः यह मानना ही होगा कि 'कायस्थ' यह शब्द चार्वाक सिद्धान्त के आरम्भ काल से ही प्रचलित हुआ। चार्वाकियों का ही बोधक प्राचीनकाल में था।[३२५] इस कायस्थ शब्द की अति प्राचीनता, इस शब्द से कहे जाने वाले लोगों की राजनयिकता एवं इनके द्वारा परपीड़नात्मक उनके आचरण-ह्रास का भी अति प्राचीनता पूर्ण रूप से प्राप्त होता है। क्योंकि वैदिक ऋषि याज्ञवल्क्य ने स्पष्ट रूप से अपनी स्मृति में शासक राजाओं को सलाह देते हुए कहा है कि कायस्थों के उत्पीड़न से प्रजाओं की रक्षा विशेष रूप से करनी चाहिए। इन बातों पर ध्यान देने से मालूम यह होता है कि प्राचीन काल में 'कायस्थ' कोई जाति नहीं थी किन्तु राजनयिक साधिकार समाज था और चारवाक्क दर्शन उसी का महत्त्वपूर्ण राजनयिक भौतिक-दर्शन, जिनके विशुद्ध स्वरूप का यहाँ यौक्तिक विवेचन किया गया है। चार्वाक-दर्शन की अति

---

(३२५) चाटुतस्कर दुर्वृत्त महासाहसिकादिभिः।
पीड्यमानाः प्रजा रक्षेत् कायस्थैश्च विशेषतः॥ ३२६॥

– याज्ञवल्क्य-स्मृति, राजधर्म-प्रकरण।

कायस्था लेखका गणकाश्च, तैः पीड्यमाना विशेषतो रक्षेत्। तेषां राज-वल्लभतयाऽतिमाया वित्वात्, च दुर्निवारत्वात्। *– मिताक्षरा टीका।*

प्राचीनता विभिन्न शीर्षक विचारों से पूर्ण रूप से व्यक्त होने के कारण पूर्व प्रतिज्ञात होने पर भी ग्रन्थ-गौरव-भय से पृथक् शीर्षकयुक्त रूप से नहीं विवेचित हुई।

सामञ्जस्य

चार्वाक दर्शन का सुश्रृंखल महत्त्वास्पद रूप वर्णित हो चुका है। विचार करके देखने पर इससे किसी भी दर्शन को विरोध भी नहीं होना चाहिए। क्योंकि यहाँ का मौलिक तत्त्व रूप से स्वीकृत महासमवायात्मक अद्वैत भूततत्त्व पाश्चात्य भूत दार्शनिकों के समान ज्ञानरहित नहीं किन्तु ज्ञानगर्भ माना गया है। जिसकी पुष्टि भी भागवत आदि से बतलायी जा चुकी है। तदनुसार परिस्थिति यही प्राप्त होती है कि कुछ दार्शनिकों ने ज्ञानांश को महत्त्व देते हुए अलग दर्शन उपस्थित किया और अन्य कुछ दार्शनिकों ने ज्ञानांश और अतिरिक्त अंश दोनों को समान महत्त्व देकर तदनुरूप दर्शनों का स्वरूप निर्धारित किया और यह चार्वाक-दर्शन ज्ञान को भूतकुक्षिगत बतला कर अतिरिक्तांश को महत्त्व देता है। इसलिए तत्त्व के सम्बन्ध में दार्शनिकों के बीच मतभेद केवल गौड़-मुख्य भावगत ही दीख पड़ता है जो कि महत्त्वास्पद नहीं। क्योंकि गौड़-मुख्यभाव विवक्षाधीन हुआ करता है अतः तत्त्वतः कोई विरोध है नहीं। इस अविरोध मार्ग को अन्य दार्शनिकों ने भी जगह-जगह अपनाया है। न्याय-भाष्यकार वात्स्यायन ने कहा 'अभ्युपगम्यमान वस्तु है सिद्धान्त' 'वस्तु का अभ्युपम है सिद्धान्त, किन्तु उसके वार्तिककार भारद्वाज उद्योतकर और तात्पर्य-टीकाकार मिश्र वाचस्पति ने कहा कि जब 'परिशुद्धि' लिखते समय आचार्य उदयन के समक्ष यह आपात-विरोध उपस्थित हुआ तो उन्होने उस विरोध का परिहार यही कहकर कर दिया कि वस्तु और उसके निश्चयात्मक अभ्युपगम दोनों का ग्रहण तो भाष्यकार एवं वार्तिक तात्पर्य-टीकाकार दोनों ही करते ही हैं, रही बात गौड़-मुख्य-भाव की, तो वह तो वक्ता की इच्छा के अधीन है। इसलिए वस्तुतः कोई विरोधी नहीं है। बड़े भारतीय दार्शनिकों के इस प्रशस्त मार्ग पर यहाँ का भी अविरोध अनायास स्थापित किया जा सकता है। यदि कुछ लोग अद्वैत से आकृष्ट न हों, भूत चतुष्टय को ही तत्त्व मानकर चार्वाक दर्शन को द्वैतवादी दर्शन ही मानें तो उनके लिए अविरोध सम्पादन का मार्ग यह प्रशस्त है कि ब्रह्माद्वैत सिद्धान्त में जिस प्रकार तात्त्विक सत्ता एकमात्र होने पर भी व्यावहारिक और प्रातिभासिक इन दो अतिरिक्त सत्ताओं को मानकर सामंजस्य उपस्थित किया जाता है। उसी प्रकार चार्वाक दर्शन के युक्त युक्तियों के अनुसार राजनयिक होने के कारण राजनीतिक परिधि के अन्दर एक राजनीतिक-सत्ता मान्य हो सकती है। जिसको मान्यता दिये बिना राजनयिक व्यवहार चल नहीं सकता। ऐसी परिस्थिति में परिधि घट जाने के कारण भी विरोध हटाया जा सकता है। अतः इस चार्वाक दर्शन को अन्य किसी भी दर्शन से तत्त्वतः विरोध नहीं उपस्थित किया जा सकता।

॥ इति शुभम्॥

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान

दर्शनशास्त्र विषय की प्रकाशित पुस्तकें

निगंठ ज्ञातपुत्त	ज्ञानचन्द्र जैन	८.००
समकालीन पाश्चात्य दर्शन	डॉ. लक्ष्मी सक्सेना	५२.००
भारतीय दर्शन	डॉ. नन्दकिशोर देवराज	१२०.००
ललित विस्तार	अनु. प्रो. शान्तिभिक्षु शास्त्री	१३५.००
कांट का दर्शन	डॉ. सभाजीत मिश्र	६४.००
ब्रेडले का दर्शन	डॉ. लक्ष्मी सक्सेना	२७.००
समकालीन भारतीय दर्शन	डॉ. लक्ष्मी सक्सेना	१४४.००
सौंदर्यशास्त्र : एक तत्त्वमीमांसीय अध्ययन	डॉ. लक्ष्मी सक्सेना	१००.००
पाश्चात्य दर्शन	डॉ. ब्रह्मस्वरूप अग्रवाल	७०.००
भारतीय दर्शन	उमेश मिश्र	१००.००

सम्पर्क सूत्र

निदेशक

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान

राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन हिन्दी भवन

६, महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ – २२६००१